श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्या

श्रीकृष्ण-सन्देश

तृतीय खण्ड

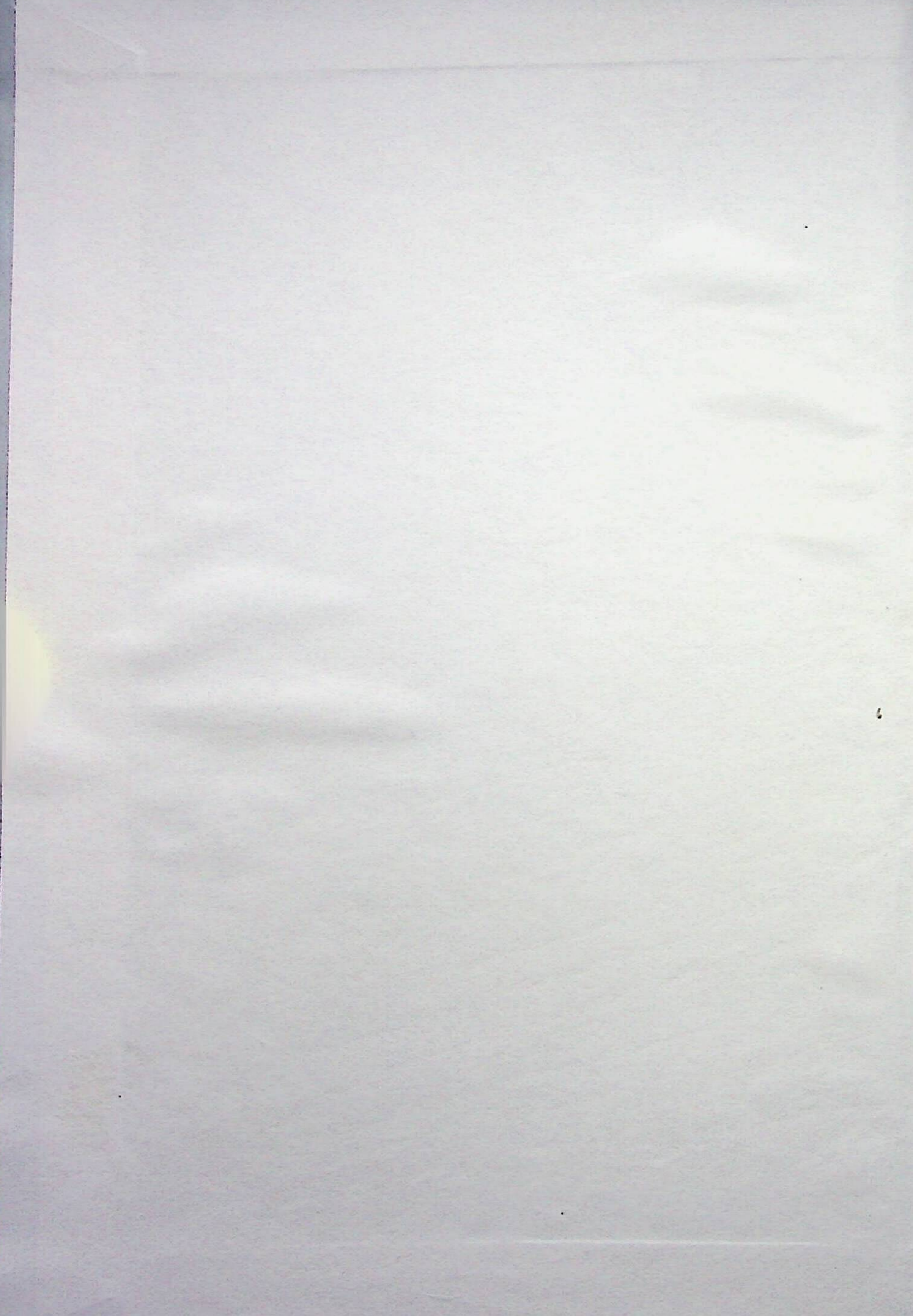
व्याख्याता

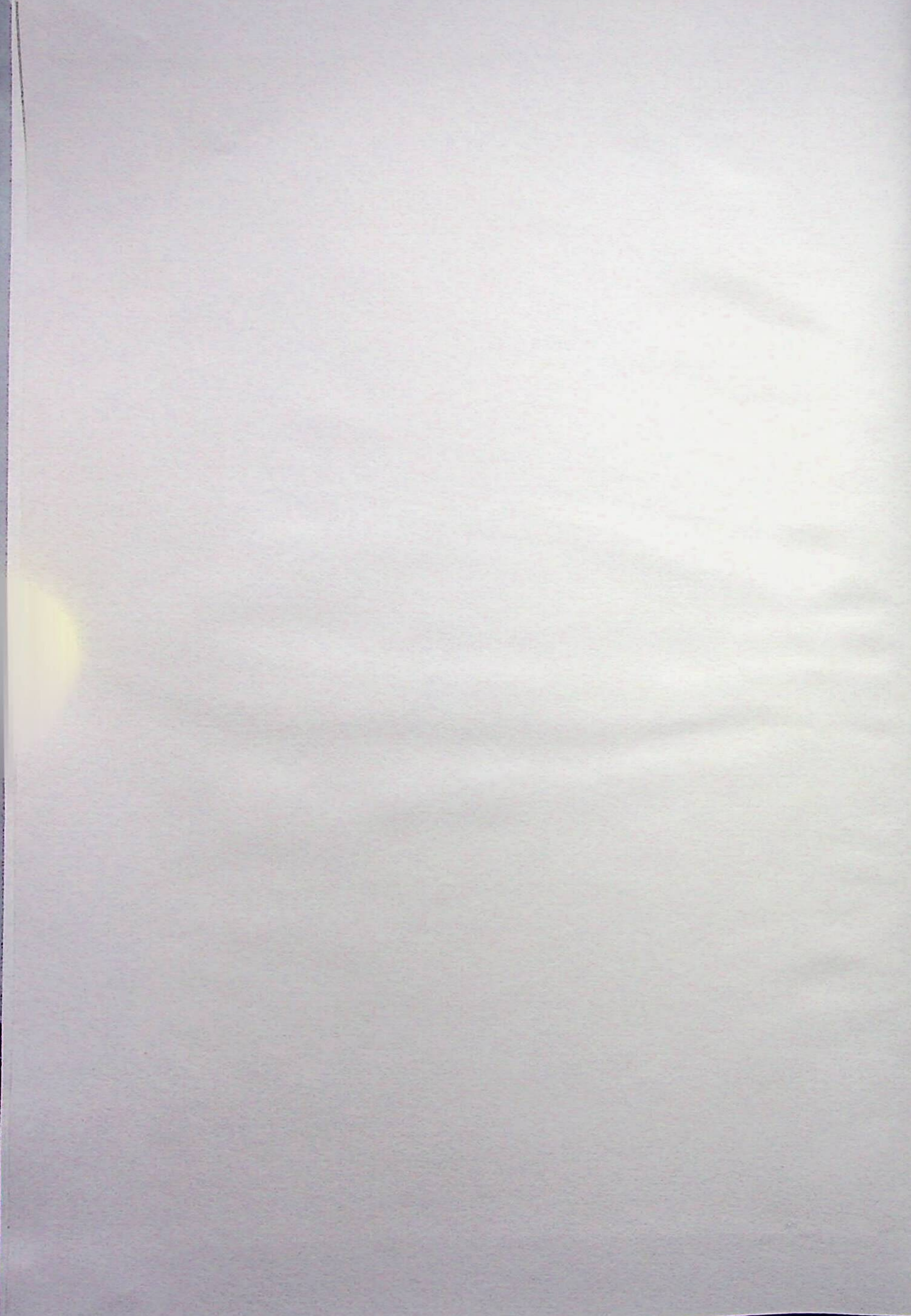
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर







श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-५८



श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्या

श्रीकृष्ण-सन्देश

तृतीय खण्ड : अध्याय १३-१८

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन,

डी ४६/६ मिश्र पोखरा

वाराणसी - २२१०१०

प्रथम संस्करण : संवत् २०६६

सन् २००६

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ६००.०० रुपये मात्र (तीनों खण्डों का)

आवरण चित्र

विश्व शान्ति आश्रम ट्रस्ट

विश्व शान्ति नगर, २४वाँ के एम नीलामंगला तालुक, बंगलोर-५६२१२३

अक्षर टंकण

मानस टाइपसैटर

नयी दिल्ली

मुद्रक एवं अक्षर टंकण

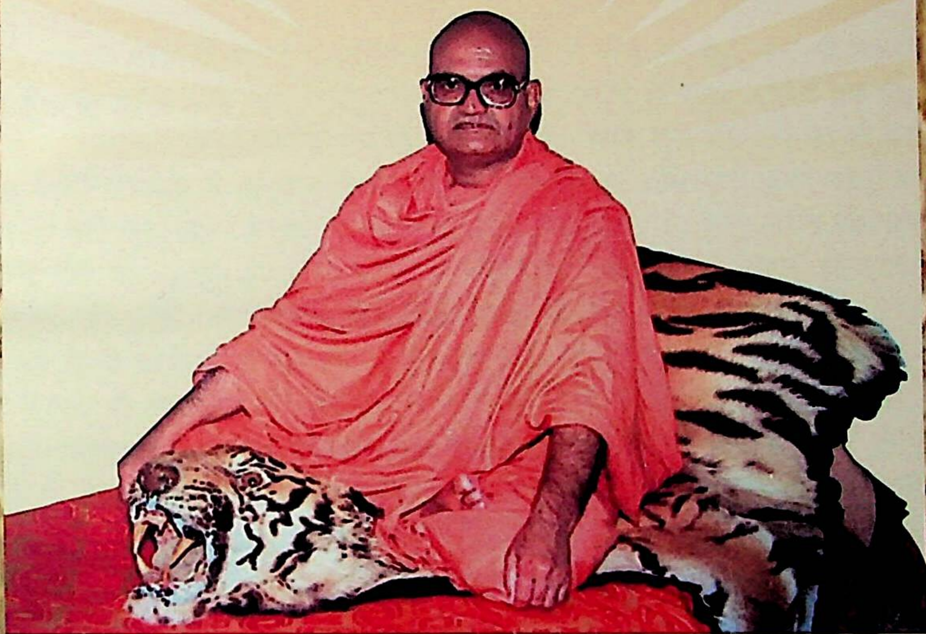
सौरभ प्रिन्टर्स प्रा0 लि0,

बी-२८०, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया,

फेस प्रथम, दिल्ली - ११००२०

ॐ

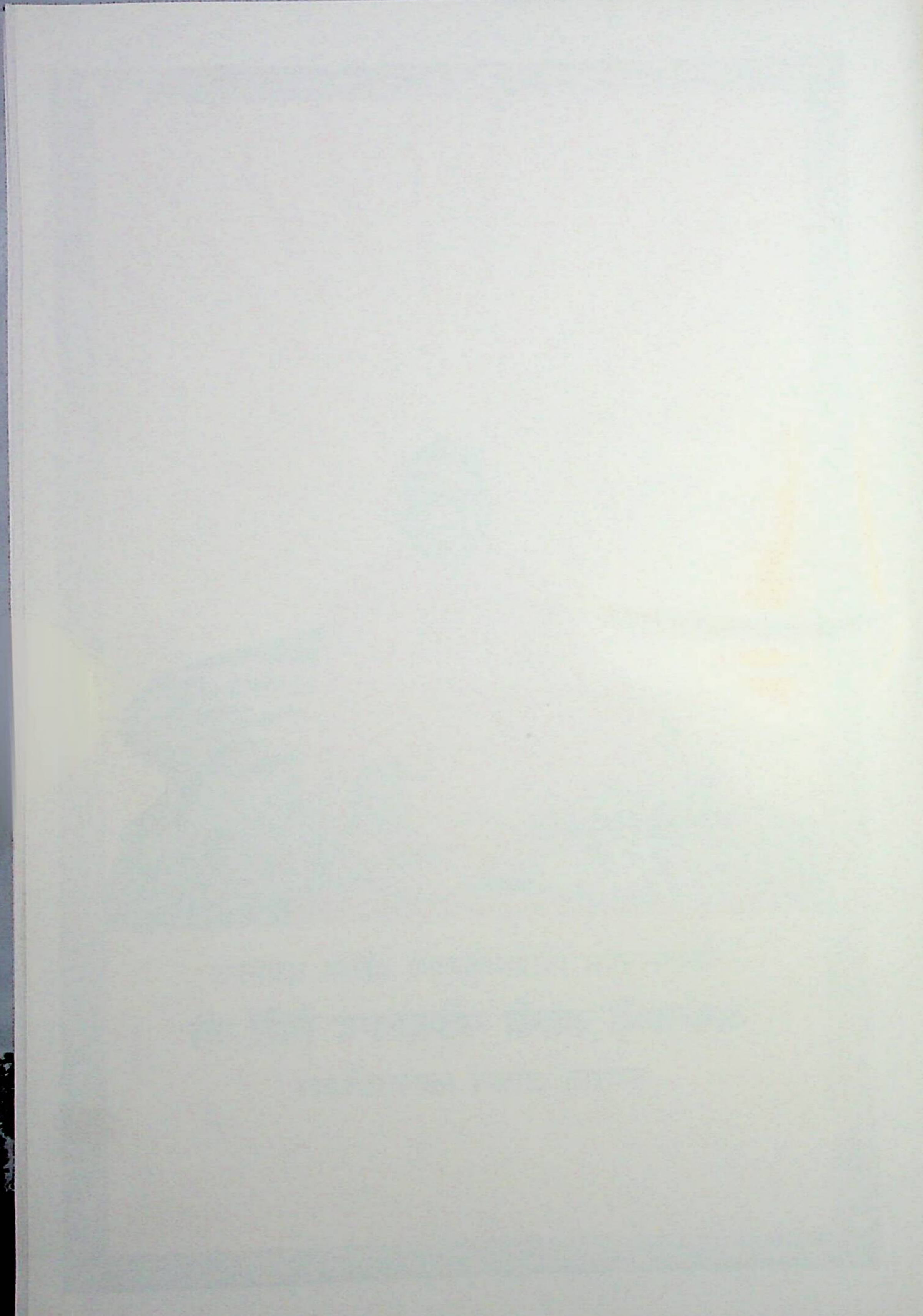
अध्यायक्रम



श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर



ॐ

तेरहवाँ अध्याय : क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग

भगवान् ने गीता के प्रारंभ में, प्रथम छह अध्यायों में जीव का शुद्ध रूप भी बतलाया और जीव का अविद्याग्रस्त रूप भी बतलाया। उसके बाद सातवें से लेकर बारहवें तक ईश्वर का स्वरूप बतलाया; उसका उपास्य रूप भी बतलाया और उसके शुद्ध ज्ञेय-रूप का भी वर्णन किया। सातवें अध्याय में भगवान् ने प्रारम्भ में ही ईश्वर की तीन गुणों वाली और आठ प्रकार से बँटी हुई अपरा प्रकृति बतलाई जो संसार का कारण है, जन्म-मरण का कारण है, राग-द्वेष का कारण है, शोक मोह का कारण है। और उससे भिन्न ईश्वरस्वरूप जीवात्मक परा प्रकृति का निर्देश किया जिसे क्षेत्रज्ञ के रूप में समझा जाता है। इन दो प्रकृतियों से ही परमेश्वर संसार की उत्पत्ति करता है, स्थिति करता है, लय भी करता है। अतः ईश्वर की यथार्थता के निर्धारण के लिये क्षेत्रज्ञरूप व क्षेत्ररूप दोनों प्रकृतियों का निरूपण भगवान् ने आवश्यक समझकर यह तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ किया है। गीता की कुछ प्रतियों में; वैष्णव व्याख्याताओं के अनुसार, यहाँ अर्जुन का एक जिज्ञासाबोधक श्लोक पहले आकर उसके जवाब में भगवान् का उपदेश है। वह श्लोक है

अर्जुन उवाच
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद् वेदितुम् इच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।

अर्थात् 'हे केशव! प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय - यह सब मैं जानना चाहता हूँ।' उसका भाव है कि भगवान् ने पूर्व में इन बिन्दुओं पर संकेत किया था अतः विस्तार से बतायें यह ज़रूरी है। अर्जुन का यहाँ इन शब्दों में यह प्रश्न, अर्थात् गीता में यह श्लोक, आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ - चारों भाष्यकारों ने नहीं माना है, सारी महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने भी नहीं माना है।

अर्जुन के यह पूछने पर, अथवा अर्जुन का भाव समझ कर भगवान् ने अपनी तरफ से इस अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-लक्षण प्रकृति का निरूपण करते हुए उस प्रकृति वाले ईश्वर

का तत्त्व-निर्धारण कर दिया। क्षेत्र है अपरा प्रकृति, क्षेत्रज्ञ है परा प्रकृति। इनके विचार से जीव और ईश्वर का अभेद स्पष्ट हो जायेगा। त्वम्-पदार्थ का निरूपण करते हुए प्रथम षट्क(छः अध्यायों) के अन्दर भगवान् ने जीव के शुद्ध रूप का और उसकी उपाधियों का वर्णन किया। उसी प्रकार मध्य षट्क में तत् पदार्थ का निरूपण करते हुए ईश्वरस्वरूप को भी बतलाया और उसकी उपाधियों को भी बतलाया। त्वम्-पदार्थ के शुद्ध रूप के निरूपण में जो बातें कही हैं वही तत् पदार्थ के शुद्ध रूप के बारे में कही हैं। अतः दोनों का भेद औपाधिक है, वास्तविक नहीं, वस्तुतः दोनों एक ही हैं। यही महावाक्यार्थ है, इसका प्रधान रूप से निरूपण इस अध्याय में और आगे के सारे छह अध्यायों में आना है। भाष्यकार ने यहाँ 'क्षेत्राध्याय आरभ्यते' इस प्रकार अध्याय का नाम संकेतित किया है। प्रायः इस अध्याय को 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' कहते हैं। हो सकता है प्राचीन नाम 'क्षेत्राध्याय' ही रहा हो।

बारहवें अध्याय के अन्त में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि के द्वारा तत्त्वज्ञानी संन्यासी की निष्ठा का रूप बतलाया , जो उसका आचार, चरित्र होता है वह बताया। प्रश्न उठता है कि किस तत्त्वज्ञान से युक्त होकर उन धर्मों का आचरण करता है और भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है? किस तत्त्वज्ञान को अपने जीवन में लाकर धर्म से अनपेत वह अमृत आचरण करते हुए भगवान् के अत्यन्त प्रिय भक्त देखे जाते हैं। इसके उत्तर में अन्तिम षट्क और खासकर यह अध्याय प्रारम्भ हो रहा है।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

कौन्तेय! क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के जानकार इस शरीर को क्षेत्र तथा इसका अनुभव करने वाले को क्षेत्रज्ञ - ऐसा कहते हैं।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने तमोगुण से सारे जड जगत् के रूप में परिणत होती है और सत्त्व और रज के परिणाम से इन्द्रियाँ अन्तःकरण प्राण आदि भोग करने के साधनों के रूप से परिणत होती है। तमोगुण से वह सब बनता है जिसका भोग किया जाता है और सत्त्वगुण रजोगुण से वह बनता है जिसके द्वारा भोग करते हो। आँख रूप का भोग करती है; रूप तमोगुण से बना और आँख सत्त्वगुण से बनी। इसी प्रकार सब चीज़ों में समझ लेना। सारा ही जड और चेतन जगत् मिल कर क्या करता है ? पुरुष के भोग और मोक्ष का कारण बनता है। बाह्य जगत् जीव को भोग भी देता है और मोक्ष भी देता है। इसी प्रकार से जो हम लोगों के भोग करने के साधन इन्द्रिय-मन-बुद्धि-प्राण इत्यादि हैं वे भी हमें भोग देते हैं और मोक्ष भी देते हैं। पुरुष को भोग और अपवर्ग देने के लिए ही शरीर इन्द्रिय आदि संघात पैदा होता है। संघात कहते हैं जहाँ किसी प्रयोजन से बहुत-सी चीजें

व्यवस्थानुसार इकट्ठी हों। कहने को तो अपना शरीर एक है परन्तु विचार करके देखते हैं तो यहाँ हज़ारों फैक्ट्रियाँ चल रही हैं! तुम दूध पीते हो और उससे लाल रंग का खून बनता है। तुम्हारा यकृत्, उदर आदि पाचक संस्थान काम करके ऐसा करता है। इसी प्रकार बाह्य जगत् से तुम जड हवा लेते हो और अन्दर ले जा कर उसको चेतन के द्वारा चलाए जाने वाले रूप का बना देते हो। इसी प्रकार शरीर अनेक चीजों का संघात है। लगता है शरीर एक है परन्तु एक नहीं, इसमें अनेक तंत्र हैं। सब मिल कर एक संघात है, एक उद्देश्य के लिए प्रवृत्त है। हज़ार आदमी खडे हों और पचास पुलीस वाले आ जाएँ तो वे हज़ार भागते नज़र आते हैं! कारण क्या है? पचास पुलीस वाले तो एक तरफ मार करेंगे, एक-साथ चलेंगे, सब एक उद्देश्य से प्रवृत्त हो रहे हैं, अतः उनका एक संघात है, और जो हज़ार लोग हैं वे सब भीड़ हैं, सब एक उद्देश्य से प्रवृत्त नहीं हैं अतः कोई भागने की सोचेगा, कोई लड़ने की सोचेगा, कोई अनशन करने की सोचेगा; सब अलग-अलग हैं। पुलीस वाले आए भी एक उद्देश्य से हैं और दीर्घ काल तक उन्होंने किस प्रकार से मिल कर कार्य करें इसका अभ्यास किया। ठीक इसी प्रकार से हमारे शरीर के सारे अंग एक-दूसरे के साथ ताल-मेल बैठाकर भोग और अपवर्ग के लिए प्रवृत्त हैं, एक उद्देश्य से प्रवृत्त हैं। इसलिये सब एक-दूसरे की मदद करते हैं। ये भीड़ की तरह इकट्ठे नहीं हो गए हैं! तुमने सामने से आता भालू देखा। आँख ने देखा, उससे दिमाग में भय हुआ, उससे तुम्हारे गुर्दों के ऊपर स्थित ग्रन्थियों से तुरन्त स्राव शुरू हो गया, तुम्हारे खून के अन्दर चीनी बढ़ गयी क्योंकि या तुम भागोगे, तो उसके लिए तुमको खून में चीनी की ज़रूरत पड़ेगी, अथवा उससे लड़ोगे, तब भी चीनी की ज़रूरत पड़ेगी। ये सब काम क्षणभर में अपने आप होते हैं। कोई भारी वज़न उठाते हो तो अपने आप तुम्हारी साँस रुक जाती है, कुम्भक हो जाता है। भोग और अपवर्ग करने के लिए यह संघात है। कभी-कभी इसमें गड़बड़ी हो जाती है जैसे कैन्सर का रोग। शरीर के कुछ अंग निर्णय करते हैं कि 'हम परवाह नहीं करेंगे संघ की, हम तो जैसे मर्ज़ी वैसे बढेंगे'। बस इसी का नाम कैन्सर है। ठीक इसी प्रकार से समाज यदि एक उद्देश्य से चलता है तब संघात है और जहाँ कुछ लोगों ने सोचना शुरू किया कि 'हम केवल अपने लिए करें', तब वे समाज के कैन्सर बन जाते हैं। इसीलिए भगवान् ने वेद में समाज का वर्णन पुरुष-रुप से किया, यह बतलाने के लिए कि समाज को संघात बनाना, भीड़ मत बना देना।

शरीर बडी विचित्र चीज़ है! शरीर को हम 'मैं' रूप से भी जानते हैं और 'मेरा'-रूप से भी जानते हैं। शरीर के बाहर जितनी चीज़ें हैं उन सबको तो हम अपने से भिन्न ही जानते हैं। मकान, हीरा आदि को हम अपने शरीर से भिन्न ही जानते हैं। भिन्न मायने अलग। इसलिए वे चीज़ें मेरी भी हो सकती हैं, मेरी नहीं भी हो सकती हैं। हर हालत में वे मैं नहीं हूँ। इससे विपरीत, मन-बुद्धि को हमेशा मैं रूप से ही जानते हैं। विचार करने के बाद चाहे तुम मन बुद्धि अहंकार को मेरा-रूप से जानो, लेकिन सामान्य व्यक्ति, जिसने

विचार नहीं किया है, उसको तो 'मै दुःखी' और 'मेरा मन दुःखी' – इन दोनों में कोई फ़र्क नहीं महसूस होता। भोग के साधनों के साथ हमारा हमेशा एकता का अध्यास है। बाह्य चीज़ों के साथ हमेशा भिन्नता का ही अध्यास है। शरीर एक ऐसी चीज़ है जिसमें ये दोनों अध्यास हैं। 'मैं गोरा हूँ' यह अनुभव होता है। और यह भी अनुभव होता है कि 'पता नहीं आजकल क्या हो गया, मेरे शरीर में काले दाग आ रहे हैं'। शरीर में दोनों ही प्रकार के अध्यास हैं। यहाँ भगवान् शरीर को 'इदं' कहते हैं।

इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। क्षेत्र शब्द का एक अर्थ होता है, 'क्षतत्राणात्' क्षत से, काट से, बचाने वाला। शरीर की विशेषता है कि कोई घाव तुमको लगे तो शरीर अपने आप उसको भर देता है, ठीक कर देता है। कोई दवाई घाव को नहीं भर सकती! तुम्हारा शरीर ही घाव को भरता है। दवाई तो केवल यह कर सकती है कि भरने में जो विघ्न देने वाले कीटाणु वगैरह हैं, वे प्रवेश न करें। इसलिए अगर किसी को मधुमेह हो जाता है, शक्कर की बीमारी हो जाती है, तो डाक्टर कहते हैं 'तुम्हारा घाव देरी से भरेगा।' पूछो, 'क्यों डाक्टर साहब; आपके पास बड़ी-बड़ी दवाईयाँ हैं, जल्दी क्यों नहीं भर सकता?' डाक्टर कहेगा 'कोई दवाई घाव भर नहीं सकती। तुम्हारे शरीर की अपनी ही सामर्थ्य है जो घाव को भरे।' जो भी नुकसान शरीर में होवे उससे अपने-आप बचाने की सामर्थ्य शरीर में है। बढ़िया घेवर बन गया, अट्ठाईस घेवर खा लिए, पेट खराब हो गया। दवाई लो या न लो, पानी पीकर चुपचाप तीन दिन रहो, ठीक हो जाएगा। शरीर अपने आप का त्राण करने में समर्थ है इसलिए इसको क्षेत्र कहते हैं।

'क्षयात्', जो क्षय होता है उसको भी क्षेत्र कहते हैं। शरीर हमेशा क्षय ही होता रहता है। हम लोग जितना भोजन करते हैं उससे जितनी ऊष्मा पैदा होती है, शक्ति पैदा होती है, ऊर्जा पैदा होती है, उसको करीब-करीब हम रोज़ खत्म कर देते हैं। जो खाया है उसको नहीं खत्म करते हैं! खाए हुए को तो हम शरीर के नए हिस्सों में परिणत कर लेते हैं और जो पुराने हिस्से हैं उनको हम बाहर फैंक देते हैं। करीब-करीब जितना खाया, उतना ही बाहर फैंकते हैं। अगर उससे ज़्यादा खाओगे तो शरीर फूलता जाएगा। यदि उससे कम खाओगे तो शरीर क्षीण होता जाएगा। यह ख्याल रखना कि शरीर पुरानी चीज़ों को हटाता है और नई चीज़ें बना लेता है। जो तुमने अन्न खाया उससे नया हिस्सा बना लेगा, पुराना हटा देगा। इसलिए जानकार हमेशा कहते हैं कि खाओ, परन्तु व्यायाम आदि करके उतने को खर्च कर दो। आजकल के लोग ज़रा बेवकूफ ज़्यादा ही होते हैं, कहते हैं 'कम खाएँगे। खाएँ और फिर व्यायाम करके उसको खत्म करें, इसकी अपेक्षा खावें ही कम।' खाओगे कम तो जो पुराना माल है उसकी जगह तुम नया बना नहीं पाओगे। इसलिए ऐसों की कमज़ोरी बढ़ती जाएगी। क्षय होता रहता है, इसका पुराना माल हटता रहता है।

'क्षरणात्' – अथवा यह झरता रहता है। जैसे मटके में पानी भर कर रख दो, महीने भर के बाद उस मटके में देखो तो उसका सारा पानी खाली मिलेगा। एक बार में सारा नहीं

गया है, धीरे-धीरे झरता रहा है। अगर आज भर कर कल देखो तो लगेगा भरा ही हुआ है। दो दिनों बाद कुछ कम पानी दीखेगा, दस दिनों बाद और कम हुआ लगेगा। इसी प्रकार से शरीर की ऊर्जा भी हमेशा क्षरण होती है। रोज़ देखते हैं तो नहीं पता चलता लेकिन दस-बीस सालों के बाद देखो तो हर एक शरीर का क्षरण हुआ ही मिलता है। क्षरण होता है इसलिए शरीर को क्षेत्र कहते हैं।

अथवा 'क्षेत्रवद् वाऽस्मिन् कर्मफलनिर्वृत्तेः' क्षेत्र का मतलब खेत भी होता है। इस शरीर में हम खेती करते हैं। कर्म करते हैं और जो कर्मरूप हमने बीज बोया है वह फलरूप से आता है, उसका भोग करते हैं। खेत में तुम जैसा बीज डालोगे वैसा ही तुमको फल मिलेगा। आम को बोओगे तो आम का फल मिलेगा। बबूल को बोओगे तो आम का फल कहाँ से मिलेगा! इस शरीर को हमेशा खेत समझो। जैसा हम बोएँगे वैसा मिलेगा। कठिनाई हम लोगों की क्या है? भगवान् वेद व्यास कहते हैं

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।'

मनुष्य की विचित्रता है कि पुण्य के फल को तो चाहता है परन्तु पुण्य करना नहीं चाहता और पाप के फल की इच्छा तो नहीं है पर प्रयत्न कर-कर के नए तरीके निकालता है कि पाप कैसे करें! यह इसलिये कि शरीर को क्षेत्र नहीं समझता है।शरीर तो क्षेत्र है, इसमें जो तुम बोओगे वही तुमको आगे मिलेगा। खेत की तरह कर्म-फल को निर्वृत्त करने वाला होने से यह क्षेत्र है।

'इति' अर्थात् 'इस प्रकार'; शरीर 'क्षेत्र'-यों कहा जाता है। 'अभिधीयते' अर्थात् कहा जाता है। भगवान् ने यहाँ यह नहीं कहा कि यह क्षेत्र है, वरन् कहा कि 'ऐसा कहा जाता है'। यहीं से भगवान् विवेक का प्रारम्भ कर देते हैं। शरीर क्षेत्र कहा जाता है, क्षेत्र है नहीं। इसमें बोने वाले तुम नहीं और इसका फल भोगने वाले भी तुम नहीं! इसलिए कर्तापना और भोक्तापना भी *कहा जाता है।* जैसा करोगे वैसा भोगोगे- ऐसा भी *कहा जाता है।* सच्ची बात क्या है? न तुम इसमें कर्म करते हो और न तुम कर्मों का फल भोगते हो। चूँकि आगे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक ही प्रधान है इसलिए शुरू में ही भगवान् ने कह दिया कि 'ऐसा कहा जाता है' अर्थात् यह बात सच्ची नहीं है।

'एतद्' इस शरीर को 'यो वेत्ति' जो जानता है, पैर के तलवे से लेकर मस्तक पर्यन्त इसको जानता है, कार्य-करण-संघात को जानता है, ज्ञान से विषय करता है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। ज्ञान से विषय दो प्रकार से किया जाता है। एक तो स्वभाव से और दूसरा उपदेश से। जीव स्वभाव से भी शरीर को विषय करता है -'मेरी आँख ग़लत देख रही है' इत्यादि; और वेदादि शास्त्र के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है उससे भी विषय करता है। जितनी बातें कहीं 'क्षतत्राण, क्षरण, क्षेत्रवत्' ये सब पता लगती हैं उपदेश से। वेदादि शास्त्र जब हमें

बताते हैं तभी पता लगती हैं। अपने आप इसमें से कोई बात पता नहीं लगती। शरीर को स्वाभाविक रूप से भी जानते हैं और वेदादि शास्त्रों के द्वारा भी जानते हैं। इस प्रकार जो जानने वाला है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। कौन कहते हैं? 'तद्विदः'– जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को जानने वाले हैं। जो, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को जानने वाले हैं वे कहते हैं।।१।।

पूर्व श्लोक में जो भगवान् ने कहा वह करीब-करीब कपिल मुनि की बात हो गई! क्षेत्रज्ञ पुरुष हो गया और क्षेत्र प्रकृति हो गई। करीब-करीब यह कपिल मुनि अर्थात् सांख्य दर्शन मानता है। उनके अनुसार पुरुष और प्रकृति इन्हीं को अलग-अलग जानना है। अतः भगवान् स्पष्ट करते हैं कि वेदान्त सांख्य नहीं है। केवल दो को पृथक् जानने से मोक्ष नहीं होगा, उसके लिये जो खास बात जाननी पड़ेगी उसे दूसरे श्लोक से बताते हैं–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

ज्ञान में रत अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ को (न केवल क्षेत्रों से पृथक् जानो वरन् उसे) मैं (ईश्वर) भी जानो। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के बारे में सही जानकारी ही ज्ञान है ऐसा मेरा मानना है।

क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र को विषय करने वाले रूप से जानना पर्याप्त नहीं है, 'क्षेत्रज्ञं मां विद्धि' जो क्षेत्र को जानने वाला है, स्वाभाविक रूप से भी जानता है और उपदेश से भी जानता है, वह 'सर्वक्षेत्रेषु', सारे खेतों में, अनन्त शरीरों में, छोटे-से-छोटे कीटाणु से लेकर ब्रह्मा तक सारे शरीरों में जानने वाला मैं परमेश्वर हूँ! एक शरीर को जानने वाला क्षेत्रज्ञ तो सब लोग जानते हैं, उसको जानने से काम नहीं होता! सारे क्षेत्रों में रहने वाला क्षेत्रज्ञ एक परमेश्वर ही है, यह बात कपिल मुनि नहीं कहते! उनके यहाँ हर-एक क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ अलग-अलग है। वेदान्त में सारे क्षेत्रों में रहने वाला, उन्हें जानने वाला क्षेत्रज्ञ एक है। इन सारी उपाधियों में वह एक है, इससे अपने आप सिद्ध हो जाता है कि उपाधियाँ वास्तविक नहीं हैं। जैसे जब तुम कहते हो 'कड़ा, हार, बाजूबन्द, तेड़िया, बोर - सबमें होने वाला सोना एक ही है', तब पता लग जाता है कि ये सारे रूप सोने के नहीं हैं। सारे रूपों में सोना एक है अर्थात् सोना इनमें से किसी एक रूप वाला नहीं है। इसी प्रकार, ब्रह्मा से लेकर के छोटे कीटाणु तक सारे क्षेत्रों में एक ही क्षेत्रज्ञ है - यह कहने से पता चल जाता है कि ब्रह्मा की उपाधि हो या कीटाणु की उपाधि हो, दोनों उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। अर्थात् वह निरस्त-सर्व-उपाधि है। क्षेत्रज्ञ सारी उपाधियों से रहित है और इसीलिए न उसको 'है' शब्द से कह सकते हैं और न उसको 'नहीं है' शब्द से कह सकते हैं। उसकी प्रतीति 'है' रूप से भी नहीं हो सकती, 'नहीं है' रूप से भी नहीं हो सकती! वह न सत्-असत् शब्दों का गोचर है और न सत्-असत् प्रत्ययों का गोचर है। क्योंकि सारी उपाधियों को जानने वाला है इसलिए सब उपाधियों से रहित है। हम उपाधियों को तो जानते हैं, जान सकते हैं, उन्हें जानने वाले को कैसे जान सकते हैं? जान ही नहीं सकते। यह

विरोधाभास अन्त तक रहेगा; बार-बार कहेंगे 'परमात्मा को जानो' और साथ ही बतायेंगे – परमात्मा कौन है? जो जाना नहीं जा सकता! जो जाना नहीं जा सकता उसको जानना है। जो जाना जा सकता है उसको तो 'है' या 'नहीं है' रूप देख सकते हो, शब्द से भी कह सकते हो। परन्तु जो जाना जा ही नहीं सकता उसको न तुम 'है' रूप से कहते हो न 'नहीं है' रूप से कहते हो। जो निरस्त-सर्वोपाधि है उसको जानना है। ऐसे समझ लो : तुम्हारी आँख सबको देखती है, अपनी आँख से ही सबको देखते हो। आगे उस आँख को कैसे देखोगे? है आँख को देखने का कोई तरीका? आँख सबको देखती है, उसमें देखने की शक्ति है, परन्तु उसी आँख को देखने की शक्ति है क्या? आँख, आँख को नहीं देख सकती। इसी प्रकार जो सबको जानने वाला है उसको जाने कौन! यदि आँख को देखना ही होवे; आँख में कुछ पड़ गया, देखना ज़रूरी है, दूसरा कोई साथ है नहीं जो निकाल देवे; तो काँच के द्वारा देखना पड़ेगा। आँख को देखना तो सम्भव है ही नहीं। क्या देख सकते हो? काँच में आँख का प्रतिबिम्ब देख सकते हो। परन्तु प्रतिबिम्ब देख कर आँख में जो पड़ गया है वह निकाल सकते हो। देखा प्रतिबिम्ब को और पता लग गया आँख का। आँख को देखा तब भी नहीं, देखा तो प्रतिबिम्ब को, लेकिन प्रतिबिम्ब को देख कर पता लग गया आँख का। इसी प्रकार से समाधि में अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तो उस शुद्ध काँच के अन्दर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जो दीखता है उसी का नाम ब्रह्मज्ञान है। जिसका ज्ञान हुआ वह तो प्रतिबिम्ब है, परन्तु उससे जिसको तुमने सचमुच जाना वह तुम खुद ब्रह्म हो। इसलिए कहा कि सारे क्षेत्रों के अन्दर रहने वाला क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ।

क्षेत्रज्ञों का संघात परमेश्वर है– यह मत समझना। सारे जीव मिलकर परमेश्वर हैं– ऐसा कुछ नहीं है! परमेश्वर ही सारे अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होता हुआ जीव कहा जाता है। ठीक जैसे मुँह के सामने पच्चीस काँच रख दो तो पच्चीस मुँह सामने दीखेंगे, छब्बीसवाँ तुम्हारा मुख है ही। उन पच्चीस काँचों में *जो* मुँह दीख रहा है वह अलग-अलग नहीं है। दीखेगा तो अलग-अलग। एक काँच में पीला रंग किया हुआ है, एक काँच में नीला रंग किया हुआ है, एक काँच में धब्बे पड़े हुए हैं। नीले काँच में नीले रंग का मुँह दीखेगा, पीले में पीला दीखेगा, लाल में लाल दीखेगा, धब्बे वाले में धब्बे वाला मुँह दीखेगा। परन्तु जो दीख रहा है वह अलग-अलग है क्या? उपाधि के कारण भेद की प्रतीति हो रही है, चीज़ तो एक ही है। इसी प्रकार एक ही परमात्मा कीटाणु से लेकर के ब्रह्मा पर्यन्त दीख रहा है। ब्रह्मा विष्णु में अत्यन्त साफ मुख दीखता है, कीटाणु में अत्यंत गन्दा मुख दीखता है, जिससे यह भ्रम हो जाता है कि अलग-अलग हैं। पच्चीस काँचों में पच्चीस अलग-अलग ढंग के मुँह दीखते हैं इसलिए लोग समझते हैं कि हर काँच में अलग *मुँह* हैं। पर जानने वाला समझता है कि मुख तो एक ही है, उसके पच्चीस *प्रतिबिम्ब* हैं। इसी प्रकार एक ही परमेश्वर को समझो जो उपाधियों के भेद से अनेक प्रकार का दीखता है पर अनेक प्रकार का बनता नहीं। इसलिए कहा 'क्षेत्रज्ञं मां विद्धि'।

'भारत!' यहाँ भगवान् का अर्जुन को सम्बोधन बड़ा अर्थ वाला है। भा नाम प्रकाश का है। हिन्दी में भी प्रसिद्ध है 'प्रभा', रोशनी को प्रभा कहते हैं। शब्द भा ही है, प्र तो उपसर्ग है। भा अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश, उसी में जो रत है वह है भारत।

भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ईश्वर की यथार्थता को छोड़ कर कुछ भी ऐसा नहीं है जो जानने के योग्य है। कुछ भी बच नहीं जाता है जानने को अगर इन्हें जान लेते हो। क्षेत्र को तुमने जान लिया तो सारे संसार को जान लिया। क्षेत्रज्ञ को जान लिया तो सारे जीवों को एवं परमेश्वर को जान लिया। अतः यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, 'मम मतं' मेरा मत यही है कि 'तज्ज्ञानं' वही ज्ञान है। इन दो को जानने के बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता। उपनिषदों में इस रूप से ही कहा : पिता ने पूछा 'क्या तुमने उसको जान लिया जिसके जानने से सब जान लिया जाता है?' जिसके जानने से सब जान लिया जाता है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं। इनको जानने के बाद कुछ भी जानने लायक बच नहीं जाता। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जिस ज्ञान से विषय होते हैं वही सम्यक् ज्ञान है। 'मम' यह मुझ ईश्वर का मत है अर्थात् तात्पर्य, अभिप्राय है।

यदि सारे क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ एक ईश्वर ही है तो ईश्वर को छोड़ कर कोई भोगने वाला नहीं बचा और ईश्वर को छोड़ करके कोई करने वाला नहीं बचा! तो क्या ईश्वर रोगी दुःखी आदि होता है? और जब कोई संसारी जीव रहा नहीं, तो संसार का अभाव होना चाहिये। ईश्वर को यदि हम जीव मानते हैं तो दुःखी होने वाला हो जाएगा, जो कोई मानने को तैयार नहीं; और यदि जीव नहीं है तो जन्म-मरण भोगने वाला कोई नहीं रहेगा। दोनों तरफ से अनिष्ट की प्राप्ति होती है। बन्ध-मोक्ष बतलाने वाला सारा शास्त्र भी अनर्थक हो जाता है। जब भगवान् ही सब कुछ करता है तो *हमें* दुःख क्यों? बड़ा वाज़िब प्रश्न है। भगवान् कहते हैं 'सब शरीरों में मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ'; तो वे ही दुःखी होवें, *मैं* क्यों दुःखी होता हूँ? इसी तरह किसको उपदेश दिया जा रहा है कि ऐसा करो और ऐसा नहीं करो, सच बोलो, झूठ नहीं बोलो, यह किसे कहा जा रहा है? ईश्वर को कह रहे हो– यह भी नहीं बनता। जीव को तो तुम कहते हो कि जीव ईश्वर से अलग है ही नहीं; अतः उसे कहने की संभावना नहीं।' ये प्रश्न हमेशा तंग करते रहते हैं। करने-कराने वाला ईश्वर है तो भोगने वाले हम क्यों? और करने-कराने वाले हम हैं तो भगवान् सर्वकर्ता कैसे?

जवाब बड़ा सीधा है : अज्ञान से मैं कर्ता और भोक्ता हूँ तथा ज्ञान से मैं न कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ! ठीक जैसे कर्ण अपने को सूतपुत्र समझता था, क्षत्रिय नहीं समझता था। इससे बहुत उसने दुःख पाया, जगह-जगह उसका अपमान हुआ। जब उसको सूर्य ने बताया कि 'वस्तुतः तो तू कुन्ती का पुत्र, क्षत्रिय है, उसको पता लग गया, पर ऐसा नहीं कि वह तब क्षत्रिय *बन गया।* उसे यह नहीं लगा कि 'मुझे उपदेश मिला तो कुछ नया हो गया'। यही समझा कि 'मैं नहीं जानता था कि क्षत्रिय हूँ, अपने को सूत का बेटा समझता था, अब पता चला कि मैं क्षत्रिय हूँ'। इसी प्रकार, नहीं जानने के कारण हम अपने को कर्ता-भोक्ता

समझते हैं और जो मैं कर्ता-भोक्ता अपने को समझ रहा हूँ, उस मुझे ही पता लगता है कि मैं अकर्ता अभोक्ता हूँ! प्रश्न करने वाले को यह तो समझ में आता है कि सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर रहता है, वह जैसे नचाता है सब नाचते हैं, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जैसे करने की हमें प्रतीति है पर हम करने वाले नहीं, वैसे ही भोगने की हमें प्रतीति है, हम भोगने वाले भी नहीं! वह परमात्मा ही सब रूपों के अन्दर अलग-अलग खेल कर रहा है। दृष्टान्त से समझो : तुम्हारे शरीर में दो छिद्र हैं, एक छिद्र से तुम खाते हो, दूसरे छिद्र से निकालते हो। निकलने वाली चीज़ के प्रति तुम्हारी हेय बुद्धि है और खाने वाली चीज़ के प्रति तुम्हारी उपादेय बुद्धि है। बहुत अच्छा मानते हो कि बढ़िया घेवर खाया। जो सवेरे निकला उसको देखना भी नहीं चाहते हो! वही निकला है, और कुछ नहीं निकला है, पर देखना भी नही चाहते। किन्तु क्या किसी एक छिद्र में *तुम* कम हो, दूसरे छिद्र में *तुम* ज़्यादा हो? दोनों जगह एक जैसे हो। फिर यह भेद क्यों? इसी प्रकार से रावण में भी वह है। वह नीचे से निकालने वाले छिद्र की तरह है। राम में भी वह है, वह अन्दर डालने वाले छिद्र की जगह है। दोनों ही परमेश्वर के क्षेत्र हैं लेकिन उपाधि अलग-अलग हैं इसलिए रावण और उसके चरित्र को हेय मानोगे, राम और उसके चरित्र को उपादेय मानोगे। परन्तु जैसे दोनों छिद्रों में *तुम* एक हो, उसी प्रकार से परमात्मा एक है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जिस संसार को हम जानते हैं उससे भी विरोध आता है। प्रत्यक्ष से हमें दीखता है कि सुख दुःख होते हैं और सुख दुःख का कारण संसार है। किंच एक-साथ सबको सुख होता नहीं और न एक-साथ सबको दुःख होता है इसलिए इस भेद का कारण धर्माधर्म मानना ही पड़ता है। यदि ईश्वर और जीव एक हैं तब ये धर्माधर्म करने वाला कौन है इस का परिहार है कि ईश्वर अज्ञान से जीव और ज्ञान से ब्रह्म है। विद्या और अविद्या का यह भेद, ज्ञान और अज्ञान का भेद बार-बार उपनिषदों के अन्दर बतलाया है। यमराज कहते हैं कि एक रास्ता अविद्या का है, दूसरा रास्ता विद्या का है। अविद्या से अनेक जीवों की प्रतीति एक ईश्वर के बारे में हो जाती है। विद्या के रास्ते को श्रेयस् का रास्ता कहते हैं, अविद्या के रास्ते को प्रेयस् का रास्ता कहते हैं। अविद्या का रास्ता सबको प्रिय लगता है। विद्या का रास्ता प्रिय तो नहीं है परन्तु श्रेयस्कर है, कल्याणकर है। महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है कि विद्या और अविद्या ये दो अलग रास्ते हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश करना चाहिए, यही श्रुति स्मृति में बार-बार कहा गया है। श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि अगर यहाँ तुमने ज्ञान प्राप्त कर लिया तब तो तुम्हारा यहाँ आना सफल हो गया और यदि यहाँ आकर तुमने परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो तुमने अपना बड़ा भारी नुकसान कर लिया! इस प्रकार से शास्त्र विद्या और अविद्या का भेद दो रास्तों के प्रकार से बतलाता है।

गीता में भी भगवान् कहते हैं 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' अज्ञान से तुम्हारा ज्ञान ढका हुआ है, जैसे बादल से सूर्य ढक जाता है। बादल यहाँ से ज़्यादा-से-ज़्यादा

पाँच मील तक मिल जाएँगे। उसके ऊपर तो बादल नहीं हैं। उसके ऊपर सूर्य वैसा ही चमक रहा है जैसा जेठ में तपता है। परन्तु बादल के कारण 'सूर्य नहीं है' ऐसा हमें लगता है। विचार करने वाला कहता है– हमें जो बाहर रास्ता दीख रहा है वह किस प्रकाश से दीख रहा है? सूर्य का ही प्रकाश है; इसका मतलब है कि सूर्य विद्यमान है। बादल के कारण उसका बिम्ब ढका हुआ है। उसी प्रकार यदि ज्ञानस्वरूप परमात्मा हृदय में विद्यमान न हो तो हमें घट पट आदि का ज्ञान कैसे हो रहा है? होता अपने मन में ही है ज्ञान। इसलिए वहाँ परमेश्वर ज़रूर है। ज्ञान और अज्ञान का फल युक्ति से ही देखने में आता है। साँप है; अंधेरे में साँप नहीं दीखा, उसके ऊपर पैर पड़ा, उसने डसा, तुमको दुःख हुआ। कुशों की झाड़ी है, तुमको नहीं दिखाई देती है, उस पर पैर पड़ता है, पैर कटता है। गड्ढे में पानी है, अँधेरे में तुमको नहीं दीखता है, उसमें पैर पड़ता है, तुम्हारे पैर में मोच आती है। अगर तुमको वहाँ प्रकाश की उपलब्धि होती है अर्थात् तुमको ज्ञान हो जाता है कि यहाँ सर्प आदि है, तो उनसे अपने को बचा लेते हो। इस तरह अज्ञान से गिरना और ज्ञान से बचना– यह युक्ति से भी समझ में आता है। ठीक इसी प्रकार से शरीर मेरा रूप नहीं है– इस बात को जो जानता है वह राग और द्वेष से बचता है। सारे दुःखों का मूल कारण राग द्वेष हैं शरीर आदि में जो आत्मबुद्धि है उसी के कारण जीव राग द्वेष आदि से प्रयुक्त होकर धर्म और अधर्म करता है और फिर उसका फल भोगने के लिए मरता और जन्मता है। जिसने जान लिया कि 'शरीर आदि से मैं भिन्न हूँ' वह बच जाता है। राग-द्वेष शरीर को मैं माने बिना हो नहीं सकते। दोनों शरीरों को जो अनुकूल पड़ता है उसी में राग होता है। शरीरों को जो प्रतिकूल पड़ता है उसी में द्वेष होता है। जब तक समझते हो 'शरीर मैं हूँ' तब तक उससे प्रयुक्त रागद्वेष करते हो और जब पता लग गया कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' तब शरीर के अनुकूल चीज़ में राग कैसे करोगे? जब राग-द्वेष नहीं होंगे तब धर्माधर्म भी नहीं होंगे, क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति कारण 'ऐसा हो, ऐसा न हो' यह आग्रह है। जब तक यह आग्रह रहता है कि 'ऐसा हो, ऐसा न हो', तभी तक सारी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति कभी शास्त्रानुकूल होती है, कभी शास्त्रविरुद्ध होती हैं, इससे धर्म-अधर्म चलते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान से जब व्यवस्था बन जाती है तब शास्त्र को अनर्थक नहीं कह सकते।

शास्त्र का काम है तुमको ज्ञान करा देना। ईश्वर होते हुए ही क्षेत्रज्ञ अज्ञान के कारण संसारिभाव को प्राप्त है। सभी प्राणियों में देखा जाता है कि अविद्यावश शरीर आदि अनात्मा को अपना आत्मा समझते हैं। ठीक जिस प्रकार से सच्चाई न जानने पर ठूंठ में भूत का निश्चय होता है तो तुम भय और शोक को प्राप्त करते हो। तुम्हारे भूत समझने से वह भूत हो नहीं जाता! वह तो ठूंठ ही रहता है। इसी प्रकार ईश्वर को शरीर आदि से एक समझने से ईश्वर शरीर आदि रूप हो नहीं जाता, वह शरीर आदि से रहित ही रहता है। क्षेत्रज्ञ का धर्म है चैतन्य और शरीर आदि का धर्म है जडता। यह याद रखना कि जो जाना जाए

वो जड होता है। जिसको भी तुम जान सकते हो वह जड है। जैसे, कोई भी चीज़ देखते हो तो रोशनी में देखते हो। रोशनी जिस चीज़ पर पड़ती है उसको भी प्रकाशित कर देती है। इसी प्रकार ज्ञान स्वयं ज्ञान ही रहते हुए जिस जड चीज़ का उससे सम्बन्ध होता है उसका ज्ञान करा देता है, वह चीज़ जान ली जाती है। शरीर आदि जितने हैं सब जाने जाते हैं अतः सभी जड हैं। उन सबसे ज्ञानस्वरूप आत्मा भिन्न है। ये जो ज्ञेय शरीर आदि हैं इन्हीं के धर्म हैं सुख, दुःख, मोह, इच्छा इत्यादि। अगर ये ज्ञाता के धर्म होते, जानने वाले क्षेत्रज्ञ के यदि सुख, दुःख, मोह, इच्छा इत्यादि होते, तो ये जाने नहीं जाते! ये जाने जाते हैं इसलिए ही ये क्षेत्र के ही धर्म हैं। जब सुख, दुःख, मोह, इच्छा इत्यादि सारे जड शरीर आदि के धर्म हैं तब कर्तापना-भोक्तापना रूप सारा संसार ज्ञेय में आ गया, जो जाना जाता है उसमें आ गया। उसमें होते हुए अज्ञान के कारण कूटस्थ ज्ञाता में अध्यस्त हो जाता है। है ज्ञेय में, मान ज्ञाता में लेते हैं। जैसे लोक में देखने में आता हैः दुकान जल गई तो उसका मालिक सिर कूट कर कहता है 'मैं मर गया।' उसको तो किसी ने कुछ नहीं किया है! लेकिन दुकान के नाश को अपने ऊपर थोप लेता है तभी कहता है 'मैं मर गया, मैं मारा गया।' सचमुच तो वह मारा नहीं गया। इसी प्रकार से सुख-दुःख मोह इच्छादि जो धर्म जड ज्ञेय में हैं उन्हें अपने ऊपर थोप लेता है और कहता है 'मैं सुखी, मैं दुःखी'। सारे क्षेत्रों में रहते हुए भी जो क्षेत्रज्ञ परमेश्वर है उसके अन्दर संसारिता की गन्ध भी नहीं है। वह हमेशा वैसा ही शुद्ध रहता है। सारे क्षेत्रों में रहते हुए भी वह शुद्ध ही है क्योंकि ज्ञान-स्वरूप है। अज्ञान से किसी चीज़ को अपने ऊपर मान लेने से वह तुम्हारे में परिवर्तन नहीं लाती। इसलिये शास्त्र समझाता है कि सारे क्षेत्रों में रहते हुए क्षेत्रज्ञ इन सब चीज़ों से सर्वथा अस्पृष्ट है। अज्ञान के कारण ही क्षेत्रज्ञ में संसारिता की प्रतीति होती है।

अविद्या अन्धकार की तरह है, ढाँकने वाली चीज़ है। जब कोई चीज़ ढक जाती है तब या संशय या विपरीत निश्चय हो जाता है। विपरीत निश्चय जैसे, ठूंठ को देखकर 'यह भूत है'। है तो ठूंठ, निश्चय हो जाता है कि भूत है। अथवा संशय हो जाता है- 'भूत दिखाई नहीं पड़ता जबकि मुझे यह दीख रहा है इसलिए भूत नहीं होना चाहिये, लेकिन हो सकता है कि भूत ही हो'- इस प्रकार से संशय उपस्थित हो जाता है। अज्ञान से ढकी हुई चीज़ के बारे में विपरीत निश्चय भी हो जाता है, संशय भी हो जाता है। अथवा गहरा अज्ञान हो तो पता ही नहीं लगता। जैसे अन्धेरे में साँप का पता ही नहीं लगता, उसके ऊपर पैर रख देते हैं। इससे विपरीत ज्ञान, विवेक प्रकाश की तरह है। विवेकरूप प्रकाश से पता लगता है कि वस्तुतः क्या है। विवेक के द्वारा ही मनुष्य को यथार्थबोध मिलता है, नहीं तो नहीं मिलता। अविद्या के कारण एक प्रतीति तो है- 'मैं जन्मने-मरने वाला जीव ही हूँ' अर्थात् यह विपरीत निश्चय है। दूसरा बोध है 'शरीर मर जाता है, परन्तु शरीर के मरने से मैं तो मर नहीं जाता। अन्यथा अगला जन्म कैसे हो?' अर्थात् यह समझ है कि शरीर के मरने से मैं नहीं मरता इसलिए शरीर से मैं अलग हूँ। परन्तु शरीर को कोई मुक्का मारता है

तो अनुभव है कि चोट तो मुझे लगती है! इसलिए लगता है कि शरीर से मैं अभिन्न ही होना चाहिए। मैं शरीर ही हूँ – यह एक निश्चय है। 'मैं शरीर नहीं हूँ' यह दूसरी तरफ से पता लगता है; तब संशय हो जाता है कि 'वास्तव में शरीर हूँ या अलग हूँ?' किन्तु संशय के लिये भी 'शरीर नहीं हूँ' वाला पक्ष उपस्थित होना चाहिये। संसार में अधिकतर लोग ऐसे हैं जिनको पता ही नहीं है कि मैं क्या हूँ! और कभी विचार भी नहीं करते। सवेरे उठे, बासी चावल खाए, हल लेकर चल दिए खेत जोतने के लिए। बारह बजे वापिस आए, तब नहाए-धोए, भोजन किया, सो गए। फिर पाँच बजे उठे, निराई करने चले गए। रात में आये, खाये, सो गये। मैं क्या हूँ, क्या नहीं हूँ- कुछ भी उन्हें पता नहीं है। शरीर हूँ, शरीररूप नहीं हूँ, मेरा क्या रूप है- कुछ पता ही नहीं है। अज्ञान के अन्धेरे में ये तीनों बातें सम्भव हैं - सर्वथा कुछ न जानना, ग़लत निश्चय और संशय।

बहुत से लोग कहते हैं कि अविद्या जीव में ही रहती है और जीव को ही ये तीनों संशय होते हैं। अतः जीव में अविद्या स्वाभाविक क्यों न मानी जाये? इसके उत्तर में समझोः बढ़ई, बढ़ई कब होता है? जब वसूला, छैनी लेकर आवे। चाहे जितना बढ़िया बढ़ई होवे, उसके पास न हथौड़ी हो, न छैनी हो, न वसूला हो तो क्या वह लकड़ी से कोई चीज़ बना सकेगा! इसी प्रकार कुछ भी तुम करते हो तो तुमको उसके लिए औजार चाहिए। बिना औजार के नहीं कर सकते। तुम जानते हो तो किसी-न-किसी औजार से। देखते हो तो आँख से, सुनते हो तो कान से। आँख नहीं हो तो क्या देख सकते हो? कान नहीं हो तो क्या सुन सकते हो? मन है तो विचार कर सकते हो। मन नहीं तो विचार नहीं कर सकते हो। जानने वाले तुम तब बनते हो जब कोई-न-कोई औजार होता है। औजारों से रहित तुम गहरी नींद में हो तो वहाँ तुम ज्ञाता भी नहीं हो, कर्ता भी नहीं हो। गहरी नींद में आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि, कोई औजार तुम्हारे पास नहीं हैं तो तुम ज्ञाता या कर्ता नहीं बन सकते। अतः विषयों को जानना अर्थात् ज्ञाता बनना *तुम्हारा* धर्म नहीं है। तुम तो ज्ञानमात्र हो, औजारों का प्रयोग करके ज्ञाता बनते हो, अतः आँख में मोतिया बिन्द आ गया तो तुमको कुछ नहीं दीखता, द्रष्टृत्व धर्म तुम्हारा नहीं रहा। डाक्टर तुम्हारी आँख से मोतिया निकाल देता है और तुम्हें दीखने लग जाता है! देखने की क्रिया तो आँख में रहेगी पर ज्ञान-स्वरूप तुम्हारे बिना वह क्रिया नहीं हो सकती जैसे बढ़ई के बिना सारे औजार रख दो तो कुर्सी-मेज नहीं बन सकते। ज्ञान-स्वरूप तुम होगे तब तो आँख देखेगी, कान सुनेगा, नाक सूँघेगी। करने वाले तो ये ही हैं पर जब चलाने वाला वहाँ ज्ञान होगा तब करेंगे। आँख के इलाज से 'देखने वाला' 'नहीं देखने वाले' से पुनः 'देखने वाला' हो जाता है। अतः देखने का काम तो आँख का रहा, ज्ञान-स्वरूप कूटस्थ का नहीं। परन्तु ज्ञान-स्वरूप कूटस्थ के न होने पर आँख कुछ भी नहीं देख सकती। क्षेत्रज्ञ का अपना धर्म ज्ञानमात्र है, विषयों को जानना नहीं। अर्थात् वह ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञातृस्वरूप नहीं। औजारों का सम्बन्ध होने से वह ज्ञाता बनता है। इस विचार से निश्चय होता है कि जीव अविद्या स्वभाव वाला नहीं है। वरन्

ज्ञान-स्वभाव वाला है, अविद्या तो उसकी एक उपाधि है जो निवृत्त भी हो जाती है। फलतः, क्षेत्रज्ञ का ईश्वररूप होना बिलकुल ठीक ही है। जब तक इस यथार्थ का ज्ञान नहीं होता, तब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति कराने वाला शास्त्र भी सार्थक हो जाता है। जब तक आत्मा के बारे में घोर अज्ञान है तब तक धर्माधर्म के ज्ञान से तुम अधर्म से बच सकोगे और धर्म में प्रवृत्त हो सकोगे। इतना याद रखना कि शास्त्र ज्ञापक है। शास्त्र बतला देता है। शास्त्र किसी का कान पकड़ कर उससे कुछ करवाता नहीं है! 'यह करने से यह लाभ है, यह करने से यह नुकसान है'- बस इतना बतला देता है शास्त्र। उसका *तात्पर्य* इसमें नहीं है कि तुम करो। प्रवृत्ति शास्त्र से यह सिद्ध नहीं होता है कि क्षेत्रज्ञ कर्ता है। शास्त्र तो केवल बताता है कि कोई अमुक चीज़ की प्राप्ति करना चाहे तो अमुक उपाय है। अतः क्षेत्रज्ञ को कर्ता भोक्ता मानने में कोई प्रमाण नहीं, उसे अकर्ता-अभोक्ता मानना ही शास्त्र प्रमाण से संगत है।

विद्या-अविद्या दशाओं के आधार पर ही शास्त्रादि व्यवस्था सारे ही आत्मवादियों को स्वीकार करनी पड़ती है, चाहे द्वैतवादी हों या अद्वैतवादी हों। मुक्त होने के बाद संसार-संसारी व्यवहार नहीं रहता है- यह सभी आत्मवादी मानते हैं। और यह भी मानते हैं कि जब तक मुक्त नहीं होते तब तक सारा व्यवहार रहता है। दोनों बातें सभी आत्मवादियों को माननी पड़ती हैं। अतः यह भेद अविद्या और विद्या कृत है, यह सबको मानना पड़ता है। जो भी आत्मवादी हैं, सब इस बात को स्वीकार करते हैं। आचार्य ने स्पष्ट कहा है 'यथाप्रसिद्धाऽविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छास्त्रस्य' कि सारा शास्त्र अविद्या वाले के लिए सार्थक है। 'सत्य बोलने से पुण्य होता है'- यह शास्त्र सार्थक है जब तुमने इस बात को जान लिया कि सत्य बोलने से पुण्य होता है। इसी प्रकार से 'देहादि संघात मैं नहीं हूँ'- यह शास्त्र ने ज्ञापन कर दिया और यह बात तुमने जान ली। सारा ही प्रवृत्ति-निवृत्ति शास्त्र, देहादि को लेकर ही है। ये तुम नहीं, - तो तुम्हारे लिए शास्त्र की कोई ज़रूरत भी नहीं। इसलिए क्षेत्रज्ञ को जब हमने ईश्वररूप समझ लिया तब शास्त्र हमारे लिए ज़रूरी नहीं रह गया। जब तक हमने नहीं जाना तब तक वह ज़रूरी है ही।

फिर द्वैतवादियों में और हम में क्या फ़र्क है? वे आत्मा की दो अवस्थाएँ मानते हैं- एक बद्ध अवस्था और दूसरी मुक्त अवस्था। अद्वैत के अनुसार तो आत्मा की दो अवस्थाएँ नहीं हैं। आत्मा हमेशा ज्ञानमात्र ही है। जैसे रस्सी की दो अवस्थाएँ नहीं हैं कि अंधेरे में साँप है और उजाले में रस्सी है! ऐसी रस्सी की दो अवस्थाएँ नहीं हैं। साफ न दीखने पर साँप है और साफ दीखने पर रस्सी है। अतः जब तुमको साँप दीख रहा है तब भी रस्सी ही है। इसी प्रकार अविद्या अवस्था में हम अपने को कर्ता-भोक्ता देख रहे हैं, ज्ञानावस्था में हम अपने को ईश्वर देखते हैं और निश्चय होता है कि 'जब हम अविद्या काल में, अज्ञान काल में खुद को जीव समझ रहे थे तब भी थे तो ईश्वर ही' अतः ईश्वर की दो अवस्थाएँ नहीं हो गई। ईश्वर ही बना रहा, अज्ञान के कारण तुमको उस ईश्वर में जीव दीख गया। यदि ऐसा नहीं मानेंगे, यह मानेंगे कि सचमुच में आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं,

तो प्रश्न होगा कि बन्धन और मुक्ति क्रम से होते हैं या एक-साथ होते हैं? एक-साथ बन्धन और मुक्ति नहीं होते यह तो स्पष्ट ही है। गाड़ी इकट्ठे ही चले भी और खड़ी भी रहे यह नहीं हो सकता। क्रमशः ही दोनों बातें संभव है। एक साथ नहीं हो सकते तो बंध-मोक्ष को क्या क्रम से मान लेवें? पहले बन्धन है फिर मोक्ष हो जाये। इस पर विचारणीय है कि बन्धन का कारण क्या? यदि कहते हो कि जीव का बन्धन निर्निमित्त है तो मोक्ष असम्भव है। अतः बन्धन का कोई कारण बतलाना पड़ेगा, किन्तु तब समस्या है कि जब तक निमित्त नहीं आया था तब तक उसको बद्ध कैसे मानेंगे? इस तरह हर हालत में कभी बद्ध, कभी मुक्त यह भी नहीं बनेगा। कभी बद्ध की *प्रतीति* कभी मोक्ष की *प्रतीति* – यह तो बन जाएगा। लेकिन कभी बद्ध और कभी मुक्त – यह नहीं बनेगा। इतना ही नहीं, बन्ध और मुक्तावस्था में एक को पहले मानोगे, दूसरे को बाद में मानोगे; किन्तु मुक्ति के बाद बन्धन नहीं होता यह भी मानोगे! इसका मतलब हुआ कि बन्धन करने वाला जो निमित्त है वह अनादि तो है, परन्तु आगे हमेशा के लिए नष्ट हो जाता है क्योंकि मुक्ति के बाद फिर बन्धन नहीं होता है। और दूसरी तरफ मुक्ति को आदि वाला मानोगे और आगे अनन्त मानोगे। एक अनादि होते हुए सान्त है और दूसरा सादि होते हुए अनन्त है – ये लोकविरुद्ध बातें माननी पड़ेंगी। इसलिए बन्धन और मोक्ष दो अवस्थाएँ आत्मा की मानना बन नहीं सकता। किंच, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना तो परिवर्तन है और यदि ऐसे परिवर्तन वाला आत्मा है तो जो परिवर्तित होता है वह एक दिन नष्ट भी होता है। आत्मा नष्ट होने वाला है यह किसी भी आत्मवादी को स्वीकार नहीं है।

इस विचार का अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि 'शास्त्र अनर्थक होगा' इस समस्या का समाधान केवल वेदान्ती को ही नहीं, सभी आस्तिकों को करना पड़ेगा। हमारे यहाँ तो फिर सीधी-सी बात है कि अज्ञानी को जो फल की इच्छा है, वह प्रवृत्ति का कारण बन जाती है। फल किसको मिलेगा? अधिकतर तो शरीर को मिलेगा। जो भी तुम फल चाहते हो वह शरीर को ही मिलता है। शरीर से यहाँ दोनों शरीर समझ लेना – स्थूल और सूक्ष्म शरीर। इनके सिवाय और तो किसी को फल होना नहीं है! और शरीर आत्मा है यह कोई आस्तिक नहीं मानता। अतः अनात्मा में आत्मदर्शन किए बिना कोई इच्छा पैदा ही नहीं हो सकती। विद्वान् जानता है कि फल और फल का जो कारण है कर्म, उसका मुझ से कोई सम्बन्ध नहीं, इनका क्षेत्र से ही सम्बन्ध है, क्षेत्रज्ञ से नहीं, अतः उसके अन्दर कामना नहीं होती अत एव उसकी प्रवृत्ति असम्भव है। इसलिए जो विधि-निषेध शास्त्र है वह आत्मा को अनात्मा से एक करने वाले के लिए फल कैसे प्राप्त होगा- यह बता कर कृतार्थ हो जाता है।

यदि कोई कहता है 'देवदत्त! तुम एक गिलास पानी ले आओ।' तो वहीं शिवदत्त भी है, वह भी इस वाक्य को सुनता है, परन्तु जानता है कि देवदत्त को कह रहे हैं इसलिए सुन कर भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। सुना तो उसने भी कि 'तुम एक गिलास पानी ले आओ', किन्तु सुनने पर भी उसको यह नहीं लगता कि 'मैं जाकर एक गिलास पानी ले आऊँ'। इसी

प्रकार शास्त्र कहता है- ब्राह्मण यह करे, ब्रह्मचारी यह करे। जिसको ब्राह्मण या ब्रह्मचारी के अन्दर बुद्धि है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ', उसकी तो प्रवृत्ति हो सकती है। पर जो जानता है मैं ब्राह्मण नहीं, मैं ब्रह्मचारी नहीं, उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी! इसलिए जब ज्ञान हो गया इस बात का कि आत्मा कूटस्थ ईश्वर ही है, तब अनात्म-धर्मों के कारण मैं ब्राह्मण, मैं ब्रह्मचारी इत्यादि सब भाव ख़त्म हो जाते हैं। अतः शास्त्र उसको प्रवृत्त कर नहीं सकते। ईश्वर को क्षेत्रज्ञ समझने वाला जो ब्रह्मवित् है उसकी प्रवृत्ति इसीलिए सम्भव नहीं। ऐसे समझ लो कि जो आत्मा को नहीं मानता, परलोक को नहीं मानता, उसको तुम परलोक का फल देने वाले कर्मों में प्रवृत्त कैसे कर सकते हो? इसीलिए आज के युग में कहने वाले लाख कहें 'झूठ मत बोलो, झूठ का फल बुरा होता है!' पर सुनने वाला जानता है कि 'झूठ बोलने से ही मुकदमा जीतते हैं, झूठ बोलने से ही इनकम टैक्स बचता है। बाबाजी को क्या पता कि झूठ बोलने से क्या-क्या फायदे होते हैं!' कहने पर भी प्रवृत्ति नहीं होगी। 'प्रातःकाल चार बजे उठ करके नहाओगे, सन्ध्या-वन्दन करोगे तो तुमको बड़े भारी दान का पुण्य होगा।' चाहे जितनी बार सुना दो, फिर भी उठना तो आठ बजे ही है। निरात्मवादी को जैसे शास्त्र प्रवृत्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार से आत्मवादी भी जो जानता है कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर है, वह शास्त्र के वचनों को सुन कर भी प्रवृत्त नहीं हो सकता।

यह भय नहीं करना चाहिए कि ज्ञानी प्रवृत्ति नहीं करेगा तो उसको देख कर दूसरे अप्रवृत्त हो जाएँगे! यह शंका इसलिए नहीं होती कि यह विवेक उत्पन्न ही बहुत कम लोगों को होता है। ठीक जैसे अभी हमने कहा, हम चाहे जितना सत्य बोलें, चाहे जितना दूसरे को पीडा देने से रुकें, क्या हमें देख कर कोई झूठ बोलना छोड़ेगा या दूसरे को पीडा देना छोड़ेगा? इसी प्रकार से प्रवृत्ति शास्त्र ब्रह्मवेत्ता को प्रवृत्त नहीं करता- इतने मात्र से दूसरे क्यों छोड़ेंगे प्रवृत्ति को? सारे शास्त्र बार-बार कहते हैं कि कामना बुरी चीज़ है, कामना नहीं करनी चाहिए, परन्तु क्या किसी को डर लगता है कि कामना की हम बुराई करेंगे तो लोग कामना छोड़ देगें? कई बार बातचीत में प्रश्न करते हैं 'महाराज! सब लोग ऐसा करें तो क्या होगा!' प्रश्न इसलिए ग़लत है कि सब लोग ऐसा करेंगे ही नहीं! जिसको जिस चीज़ की इच्छा है वह उसके लिए प्रवृत्ति करेगा। 'दूसरा नहीं करता तो मैं भी नहीं करूँ'- ऐसा कामनावान् के लिये संभव नहीं। अनेक प्राणियों में कोई एक ही विवेकी होता है और राग आदि दोष के अधीन होने के कारण जो मूढ लोग हैं वे उसका अनुवर्त्तन करेंगे ही नहीं। उनकी प्रकृति उनको प्रवृत्त कराती है, भगवान् ने खुद ही कहा है 'स्वभावस्तु प्रवर्त्तते', जो जिसका स्वभाव है उसके अनुसार वह प्रवृत्ति करेगा ही।

संसार अविद्या के कारण ही है। क्षेत्रज्ञ उससे सर्वथा भिन्न ही है। मिथ्या ज्ञान किसी चीज़ की वास्तविकता को बदलता नहीं। जब तुम अपने को जीव समझ रहे हो तब भी आत्मा ईश्वर ही है इसलिए भगवान् ने कहा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'। क्षेत्र के अन्दर आत्म-दर्शन - यही मूढता है। जब क्षेत्रज्ञ की अविकारिता को समझ लेते हैं तब न इस

शरीर के किसी भोग के लिए प्रवृत्ति होती है और न कर्म के लिए प्रवृत्ति होती है। फल के लिए ही अज्ञानी दौड़ता है। फल की इच्छा से रहित होने के कारण ज्ञानी कुछ नहीं करता। आत्मा की इस सत्यता की समझ को ही भगवान् ज्ञान कहते हैं, इसके सिवाय जितने भी ज्ञान कहलाते हैं वे सब अज्ञान के ही कार्य हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति हमेशा शास्त्रार्थ के सम्प्रदाय से ही होती है। जैसा शास्त्र का अर्थ सम्प्रदाय से प्राप्त होता है वैसा ही उसको स्वीकार करना पड़ता है। यहाँ भगवान् ने क्षेत्रज्ञ को अपना स्वरूप बताया तो इस बात को यथावत् ही स्वीकारकर समझना चाहिये। समझने में जो प्रश्न उठते हैं उनका आचार्य ने इस प्रसंग में अत्यन्त विस्तार से उत्तर दिया है।

क्षेत्र का मतलब याद रखना– जिसमें बोया और काटा जाए वह क्षेत्र है। बोया जाए– यह कर्म है और काटा जाए– यह भोग है। ये दोनों ही क्षेत्र के धर्म हैं। क्षेत्रज्ञ न करता है, न भोगता है। जब तुम समझ रहे हो कि वह करता है, तब भी कर तो क्षेत्र ही रहा है और भोग भी क्षेत्र ही रहा है। जब शरीर आदि में तुम क्रिया देखते हो तब क्षेत्रज्ञ कर्ता हो नहीं जाता है, ईश्वर ही रहता है। और जब तुम उसको भोक्ता समझते हो तब भी वह भोक्ता हो नहीं जाता हे, वैसा–का–वैसा कूटस्थ ही रहता है। अतः जहाँ कहीं तुमको क्रिया और भोग दीख रहा है वह सब क्षेत्र है। हम देखते हैं शरीरों को और उससे अनुमान करते हैं कि 'यह ऐसा ज्ञान कर रहा है'। क्षेत्र करेगा अपने स्वभाव से, भोगेगा अपने स्वभाव से। निर्विकार जो क्षेत्रज्ञ है वह तो वहाँ केवल रह रहा है, उसको सत्ता दे रहा है। उसके न होने पर ये सब कुछ नहीं कर सकते, यह बात बिलकुल ठीक है। करने और भोगने के लिये उसको किस रूप में रहना पड़ेगा? अहंकार से एक हो कर। अहंकारात्मिका वृत्ति जब होगी तब वह ज्ञानस्वरूप क्षेत्रज्ञ उसके द्वारा सब करने और भोगने का काम करेगा। तत्त्वज्ञान होने पर वह अहंकारात्मिका वृत्ति क्षेत्र से हट कर क्षेत्रज्ञ की तरफ जाती है। उसी को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। जब मैं ब्रह्म हूँ तब कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्भव ही नहीं है।

अब एक प्रश्न होता है कि ईश्वर क्षेत्रज्ञ हो गया, बाकि सब क्षेत्र हुआ, तो यह अज्ञान *किसका* है? अज्ञान किसको हुआ? अविद्या का आश्रय कौन है? ईश्वर को अविद्या का आश्रय मानें तो भी दोष आता है और अविद्या का आश्रय बने बिना वह क्षेत्रज्ञ हो नहीं सकता। सचमुच में यदि कोई चीज़ होती, तब तो सचमुच में उसका आश्रय होता! व्यवहार भूमि में, जिसको अविद्या की प्रतीति है उसी की अविद्या है। अगर मैं अनुभव करता हूँ कि 'मैं ब्रह्मदत्त को नहीं जानता' तो मुझे ही ब्रह्मदत्त का अज्ञान है। 'नहीं जानना' विचार करके तो होता नहीं है; अज्ञान से जो चीज़ होती है वह विचार करके नहीं होती। ठीक जिस प्रकार से राधेय अविचार करने से राधेय था, उपदेश से उसने जाना 'मैं कौन्तेय हूँ'। कौन्तेय रहते हुए उसने कैसे जाना 'मैं राधेय हूँ'? किसने जाना 'मैं राधेय हूँ?' जो कौन्तेय है उसी ने अज्ञान से अपने को सूतपुत्र समझा। इसी प्रकार से जिसको अनुभव हो रहा है अविद्या का, वह अविद्या को देखता है इसलिए उसकी ही अविद्या है। अतः जब तक तुमको अनुभव

है 'अविद्या है' तभी तक अविद्या है। अविद्या का अनुभव तुमको ही होगा क्योंकि तुम्हारे पर ही आश्रित हो कर अविद्या रहती है। तुम कौन हुए? जब तक तुमने इस बात को नहीं जाना कि 'ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है' तभी तक तुम हो। इसलिए अविद्या को हटाना भी उसका काम है जिसे अविद्या है। तुममें अविद्या की सिद्धि शास्त्रकार नहीं करते हैं। तुम खुद कहते हो 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता।' इसलिए ब्रह्म को जानने का प्रयत्न तुम करोगे तब पता लगेगा कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। जो अविद्या को जानता है वही अविद्या का आश्रय है। अविद्या से जानता है 'मैं जन्म-मरण वाला हूँ' परन्तु जब जान रहा है तब भी है तो ईश्वर ही। इसलिए अविद्या का आश्रय-विषय ही अविद्या को दूर करेगा। कहा जाता है कि 'आग गर्मी देती है'। अग्नि गर्मी देती नहीं है, अग्नि तो स्वभाव से गर्म है। तुम उसके पास बैठे हो इसलिए तुमको गर्मी लगती है। केवल कहा जाता है कि अग्नि गर्मी दे रही है, अग्नि तो स्वरूप से गर्म है। इसी प्रकार अविद्या ढाँकती है ज्ञान-स्वरूप ईश्वर को। जिस-जिस स्थल के अन्दर अविद्या का थोड़ा आवरण हटता है उस-उस चीज़ में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसीलिए आत्मा में ही अविद्या के कारण हमको क्रिया-कारक-फलरूपता की प्रतीति हो जाती है। हम ही फिर उस प्रतीति को दुःखरूप होने के कारण हटाते हैं। शरीर के अन्दर हमें 'मैं' ऐसी प्रतीति है, बस, इसी का नाम अविद्या है। जब तक देह को तुम अपना स्वरूप मानते हो तब तक कर्मत्याग असम्भव है। एक कर्म को छोड़ कर दूसरा कर्म करो, यह तो हो सकता है, पर कर्ममात्र का त्याग नहीं हो सकता। जब अपने स्वरूप को जान लिया, देहादि से अतिरिक्त अपने को जान लिया, तब फिर लाख कोशिश करके भी कर्म कर नहीं सकते! शरीरादि को अपना स्वरूप मानने पर ही इसमें होने वाले ज्ञान-इच्छा-क्रिया किये जा सकते हैं। इच्छा मन में हो रही है, क्रिया कर्मेन्द्रियों में, प्राणों में हो रही है; जब तुम्हारा उनमें अध्यास नहीं रहा तब तुम करो किससे? इस प्रकार जब तक अविद्या का किंचित् भी सम्बन्ध हो कर देहादि में अहंकारादि की प्रतीति होती है, तभी तक अहंकारादि कार्य करते हैं। परन्तु अहंकारादि के कार्य करने पर भी जो इस बात को जानता है कि 'मैं अहंकारादि नहीं हूँ' वह उनके क्रियाशील होने पर भी कर्ता बनता नहीं। इस क्षेत्रज्ञता में प्रतिष्ठित रहना ही मोक्ष है, इसकी प्राप्ति कराने वाली विद्या को ही भगवान् ने यहाँ 'ज्ञान' माना है।।२।।

अब भगवान् उक्त विषय को विस्तार से समझाने के लिये पहले क्षेत्र का तात्पर्य स्पष्ट करेंगे। यहाँ पुनः भाष्यकार ने इसे 'क्षेत्राध्याय' कहा है। आगे जिसे विस्तार से बताना है उसे संक्षेप में तीसरे श्लोक में उपस्थित करते हैं –

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।३।।

वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारों (कार्यों) वाला है, और (उसमें) जिससे जो कार्य उत्पन्न होता है- यह संक्षेप में मुझसे सुनो। तथा वह क्षेत्रज्ञ जो है, जिन प्रभावों वाला है,

वह भी संक्षेप में सुनो।

'तत्' शब्द से उसी को कह रहे हैं जिसको पहले 'इदं शरीरं' कह आए हैं। वह क्षेत्र जैसा है अर्थात् उसके अपने गुणादि क्या हैं। जैसे आग अपने आप में गर्मी है उसी प्रकार क्षेत्र का अपना धर्म क्या है? 'यद्विकारि', इससे जो विकृतियाँ होती हैं, इसमें जो परिवर्तन आते हैं वे क्या हैं? और इससे जो कार्य उत्पन्न होते हैं वे क्या हैं? इसी प्रकार जो क्षेत्रज्ञ निर्दिष्ट है उसका क्या प्रभाव है? प्रभाव अर्थात् उपाधि के कारण आई हुई शक्ति। ज्ञान-स्वरूप परमात्मा में आँखरूप उपाधि के आने पर देखनेवालापना आ जाता है, प्रतीत होता है, सचमुच में नहीं आता है! कानरूप उपाधि होने से सुनने वाला रूप प्रतीत होता है। उपाधि के द्वारा जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं वे प्रभाव हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की जो यथार्थता है उसको 'समासेन मे शृणु', संक्षेप में बतलाता हूँ, सुनो।

उपनिषद्-ज्ञान को छोड़ कर, संसार के जितने ज्ञान हैं वे सारे क्षेत्र और उसके कार्यों के बारे में ही सिमटे रहते हैं। अतः उन ज्ञानों ने क्षेत्र के बारे में इतना कुछ पता लगाया है कि पूरी तरह से वर्णन करना तो असम्भव है। इसलिए भगवान् ने कहा, संक्षेप से मेरी बात को ध्यान देकर के सुनो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की यथार्थता को जानना बहुत ही ज़रूरी है। अन्यथा हम लोग हमेशा क्षेत्र का ही सारा वर्णन करते रहते हैं, क्षेत्र की ही बातों को समझने का प्रयत्न करते हैं, क्षेत्रज्ञ की तरफ कभी ध्यान ही नहीं देते। बन्धन का मूल कारण यही है कि हमने कभी विचार नहीं किया कि जो सुखी-दुःखी होने वाला मैं, रागद्वेष वाला मैं, वह मैं हूँ कौन? अतः जब इसकी तरफ ध्यान दिलाया जाता है तभी मनुष्य इधर समझने में प्रवृत्त होता है। अन्यथा, निरन्तर क्षेत्र का ही विचार करता रहता है। अधिकतर लोग जब तक कोई सत्संग न मिले तब तक या तो निश्चित रहते हैं कि शरीर ही क्षेत्रज्ञ है, शरीर ही जानता है। कुछ थोड़ा विचार करते हैं तो मान लेते हैं कि मन ही जानता है। इसके सिवाय कोई जानने वाला है, ज्ञान स्वरूप है- इस बात को बिना उपदेश के समझा ही नहीं जा सकता। अतः क्षेत्रज्ञ को शास्त्र स्पष्ट कर बताता है, वही उसका प्रधान विषय है। क्षेत्रज्ञ का स्वरूप समझने के लिए क्षेत्र को भी समझना जरूरी है अतः उसे भी बताया जाता है।।३।।

श्रोता की, अर्जुन की इसमें रुचि बढ़े इसकेलिये भगवान् इस यथार्थता की प्रशंसा करते हैं–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

ऋषियों द्वारा एवं छन्दों (मन्त्रों) द्वारा विवेकपूर्वक बहुत प्रकार से इस यथार्थ का गान किया गया है। निश्चयजनक व युक्तियुक्त उन वाक्यों द्वारा भी इसे समझाया गया है जो ब्रह्म के सूचक एवं ब्रह्मज्ञान के उत्पादक हैं।

वसिष्ठ आदि ऋषियों ने 'बहुधा' बहुत प्रकार से इसका गान किया है। दो ग्रन्थ मिलते हैं वसिष्ठ जी के। बहुत बड़ा ग्रन्थ तो उनका है जिसको 'योग वासिष्ठ' कहते हैं,

'महारामायण' भी कहते हैं। और दूसरा उनका ग्रन्थ है 'वसिष्ठ स्मृति'। इन दोनों में ही क्षेत्रज्ञ के स्वरूप पर विचार किया है। जिस प्रकार से मनु स्मृति में सारे कर्मों का प्रतिपादन करने के बाद अन्त में जाकर शुद्ध जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा है उसके बारे में बताया है, जैसे वेदों ने भी पहले सारे कर्म बातये फिर जाकर आत्मस्वरूप को बताया, इसी प्रकार वसिष्ठ स्मृति में है। योग वासिष्ठ में तो शुरू से ही आत्मा का वर्णन है। जैसे वसिष्ठ ने, वैसे ही अन्य ऋषियों ने भी इसका प्रतिपादन किया है। केवल ऋषियों ने ही कहा हो ऐसा नहीं है, 'विविधैः छन्दोभिः पृथक् गीतम्'। तरह-तरह से 'पृथक्' अर्थात् विवेक करके वेदों ने इसका प्रतिपादन किया है। उपनिषदों में अनेक प्रकार से इसका प्रतिपादन किया है। 'विविधैः' इसलिए कहा कि एक-एक वेद की अनेक शाखाएँ हैं- जैसे शुक्लयजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन शाखायें हैं। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठकाठक, श्वेताश्वतर आदि शाखाएँ हैं। सामवेद की कौथुमी, राणायनीय आदि, ऋग्वेद की शाकल व शांख्यायन तथा अथर्ववेदकी शौनक व पैप्पलाद शाखायें आज भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार से सभी वेदों की अनेक शाखाएँ हैं। उन सबके अन्दर परमात्मा का स्वरूप बतलाया है।

'ब्रह्मसूत्रपदैः' इसके दो अर्थ हो सकते हैं- आचार्य तो इसका अर्थ लेते हैं ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले जो सूत्र वाक्य उपनिषदों में आए हैं। ब्रह्म के सूचक होने से वे सूत्र हैं और उनसे ब्रह्म 'पद्यते' जाना जाता है इसलिये वे पद भी हैं। ऐसे असंख्य वेदवाक्यों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की यथार्थता का प्रतिपादन है जैसे 'आत्मेत्येवोपासीत', आत्मा की ही उपासना करो, इत्यादि। कई हेतु बतलाए कि क्यों आत्मा की उपासना की जाये। ऐसे ब्रह्मसूत्रों के द्वारा आत्मा जाना जाता है। 'विनिश्चितैः हेतुमद्भिः', वहाँ पर निश्चित कारण बतलाया है अर्थात् संशय आदि उत्पन्न न होवें इस प्रकार से प्रतिपादित किया है। इसलिए निश्चय-ज्ञान ही उनसे उत्पन्न होगा। उपनिषदों में आए हुए ब्रह्मप्रतिपादक सूत्र वाक्यों के द्वारा ब्रह्मविषयक यथार्थ ज्ञान ही पैदा होगा। कुछ अन्य आचार्यों ने यहाँ ब्रह्मसूत्र से वेदव्यास के शारीरक सूत्रों को समझा है। वेदान्तों के अन्दर केवल ब्रह्म का ही वर्णन है- शारीरक सूत्रों का पूरा पहला अध्याय यही बतलाने के लिए है। वेदान्तों में भिन्न-भिन्न चीज़ें जगत्कारण के रूप में हमारी समझ में आती हैं जिसको कोई प्रकृति कह देता है, कोई कुछ कह देता है। कहीं प्राण नाम से कह दिया, कहीं मन नाम से कह दिया। अनेक नामों से कहा है इसलिए भ्रम होता है कि अलग-अलग उपासनाएँ होंगी, या अलग-अलग चीज़ें कारण बताई गई होंगी। सर्वत्र ब्रह्मसूत्र के अन्दर हेतु बतला करके यही निर्णय किया है कि दूसरा कुछ भी नहीं, ब्रह्म को ही उस-उस नाम से कहा है। ठीक जिस प्रकार से परमेश्वर को विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, देवी, सूर्य इत्यादि अनेक नामों से सुन कर साधारण आदमी को शंका होती है कि क्या ये सब अलग-अलग भगवान् हैं? कई लोग पूछ भी लेते हैं : 'आप किस भगवान् को मानते हैं?' भगवान् एक है- इस बात का निश्चय भली प्रकार से समझकर करना पड़ता है। अन्यथा, अन्य-अन्य पुराणों को

बाँच कर ऐसा लगने लगता है कि अनेक भगवानों का वर्णन है! युक्ति पूर्वक विचार करते हैं, तब पता लगता है कि तत्त्व एक ही है। नाम और रूप का भेद होने से तत्त्व नहीं बदलता। इसी तरह ब्रह्मसूत्रों में निर्णय बताया कि कहीं प्राण, कहीं, आकाश, कहीं मन – इस प्रकार से बतलाने पर भी प्रतिपादन वेद में केवल ब्रह्म का ही है। इसी प्रकार से पुराणों के अन्दर भिन्न-भिन्न नामों के द्वारा बताया जाने पर भी जिसको बताया जा रहा है वह ब्रह्म ही है। ब्रह्मसूत्र का बहुत बड़ा हिस्सा यही बतलाने में गतार्थ होता है कि उपनिषदों में जहाँ कहीं बतलाया है वहाँ ब्रह्म का ही भिन्न-भिन्न नाम-रूपों के द्वारा प्रतिपादन किया है। ऋषियों ने, वेदों ने, ब्रह्मसूत्रों ने, बताया – यह इस तत्त्व की प्रशंसा है। ये अत्यन्त प्रसिद्ध विचार वाले लोग या ग्रंथ हैं, इनके प्रामाण्य के बारे में कभी शंका नहीं होती। इन सबने इसको बतलाया है यही इसकी प्रशंसा हो जाती है।

हम लोग वेदान्त का प्रतिपादन करने वाली प्रस्थानत्रयी को मानते हैं। उसका भगवान् ने ही संकेत कर दिया है– 'छन्दोभिः' से श्रौत प्रस्थान, उपनिषदों को कह दिया; 'ऋषिभिः' से स्मार्त प्रस्थान गीता को कह दिया तथा 'ब्रह्मसूत्रपदैः' से तर्क प्रस्थान शारीरक मीमांसा को कह दिया। इस तरह यह वह तत्त्व है जो वेद कहे, जो ऋषि लोग कहें, और जो युक्ति से सिद्ध हो सके। युक्ति से सिद्ध हो सके, कह रहे हैं, युक्ति से इसका *पता* नहीं लगता। पता तो या वेद-वाक्य से लगेगा अथवा स्मार्त-वाक्य से लगेगा। जो वेद को साक्षात् नहीं देख सकते हैं वे पुराण आदि, महाभारत आदि के द्वारा भी उसको जान लेते हैं। परन्तु जो जाना वह युक्ति से विरुद्ध नहीं है– यही है युक्तियों से निश्चय करना। अन्य प्रमाणों से जितने विरोध प्राप्त होते हैं उन सब विरोधों को हटाना पड़ेगा।।४।।

इस प्रकार स्तुति करके अब उस क्षेत्र को भगवान् बतलाते हैं :-

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त– (यह) ही (आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है। ये इनके कार्य हैं–) दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के विषय। (ये प्रकृति के विकार हैं–) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, देह-इन्द्रियों का व्यवस्थित संघरूप शरीर, चेतना (होश) और धैर्य। संक्षेप में यह विकारों समेत क्षेत्र बता दिया।

भगवान् कहते हैं कि सारा क्षेत्र मैं बतला देता हूँ : सबसे पहले 'महाभूतानि', जो कुछ भी अविद्या के द्वारा हमें प्रतीत होता है वह पाँच इन्द्रियों के द्वारा ही होता है, इसके सिवाय और कुछ भी हमारे पास जानने का साधन नहीं है। हम लोग कहते हैं कि संसार में पंचमहाभूत हैं। हम क्या कह रहें हैं इसको नहीं समझ कर कई लोग कहते हैं 'आज विज्ञान

में अट्ठानबे या एक सौ आठ तत्त्व मानते हैं'। विज्ञान के तत्त्वों से हमारे तत्त्वों में विरोध देखने वाले हमारी बात को समझ नहीं रहे! पाँच तत्त्व अर्थात् आँख से जो दीखता है- रूप। कान से जो सुनाई देता है- शब्द। नाक से जो प्रतीत होता है- गन्ध। जीभ से जो प्रतीत होता है- स्वाद। त्वक् से जो प्रतीत होता है- स्पर्श। एक-एक इन्द्रिय से जिस-जिस की प्रतीति होती है उसी को हमने तत्त्व कहा है। इन पाँच से अतिरिक्त तुम्हारे एक सौ आठ में कुछ नहीं मिलेगा। जो कुछ है वह सब पंच महाभूतों का ही विस्तार है, सृष्टि पांचभौतिक है। क्योंकि पांचभौतिक सृष्टि है इसलिए उससे हुई जितनी चीज़ें हैं उन सबके अन्दर ये पंचभूत ही रहेंगे। जो स्थूल प्रतीति होती है वह सारी स्थूल, पंचीकृत पंचमहाभूतों को विषय करती है। जो स्थूल रूप से प्रतीत नहीं होता है परन्तु हमें प्रतीत होता है, समझ में आता है, वह सब सूक्ष्म महाभूतों का कार्य है। 'महाभूतानि', पंचीकृत पंचमहाभूत और अपंचीकृत पंचमहाभूत, सब महाभूत ही हैं।

'अहंकारः', महाभूत कब प्रतीत होते हैं? महाभूतों का कारण कौन? कौन है तब महाभूतों की प्रतीति होती है? अहंकार। अहं प्रतीति होने पर ही आगे पंचमहाभूतों की प्रतीति होगी। बिना अहं-प्रतीति के कोई भी चीज़ प्रतीत नहीं होती। जो चीज़ जिससे पहले होगी वह उसका कारण होगी। इसलिए महाभूतों का कारण अहंकार है। अहंकार का कारण क्या है? बुद्धि। 'मैंने घड़े को देखा' अर्थात् घड़े को देखने वाला मैं। घड़े को देखना- यह बुद्धि होगी तब मैं की प्रतीति होगी। कोई-न-कोई प्रतीति (बुद्धि) होती है तब अहंकार होता है। गहरी नींद में कोई प्रतीति नहीं है तो अहंकार भी नहीं है। इसलिए अहंकार के पहले होने वाली होने से बुद्धि अहंकार का कारण है। इस प्रकार- पंचमहाभूत, उनसे पहले अहम्, उसके पहले बुद्धि।

निश्चय भी कब होता है? 'अव्यक्तमेव च' जो परमेश्वर की माया शक्ति, अज्ञान, अविद्या है वह बुद्धि पहले है बिना अविद्या के न बुद्धि होगी, न अहंकार होगा, न पंचमहाभूत होंगे। अव्यक्त अर्थात् जो कभी व्यक्त नहीं होता परन्तु कार्य को देखने से पता लगता है। पहले अविद्या थी तब बुद्धि आदि हो सके, बिना अविद्या के हो नहीं सकते। क्योंकि ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है, यदि उसमें अज्ञान नहीं हो तो ये सब चीज़ें बनेंगी नहीं। अव्यक्त अर्थात् परमेश्वर की मायाशक्ति, जिसको अविद्या भी कहते हैं, अज्ञान भी कहते हैं। इसका अनुभव सुषुप्ति में देख लो- सुषुप्ति में अविद्या है परन्तु क्या पता लगता है कि अविद्या है? क्योंकि वह अविद्या अभी अहंकार रूप से प्रकट नहीं हुई है, बुद्धिरूप से प्रकट नहीं हुई है, इसलिए सुषुप्ति के अन्दर कुछ भी नहीं प्रतीत होता है। अविद्या हमेशा कैसी रहेगी? कभी भी प्रकट होकर नहीं रहेगी। अविद्या कार्यों में प्रकट होगी, उनसे अविद्या को *समझना* पड़ता है। ठीक जिस प्रकार से सोना तुमको हमेशा किसी-न-किसी रूप में मिलेगा – कड़ा, पायजेब, गिन्नी, पासा। गिन्नी, पासा भी सोने का *रूप* है। जब सोने की उपलब्धि होती है तब किसी-न-किसी रूप में ही होती है। बिना किसी आकार के तो सोने की प्रतीति

होती नहीं। पर भिन्न-भिन्न गहनों को देख कर मानना पड़ता है कि इन सब शक्लों को लेने वाला कोई सोना पदार्थ है। प्रतीति हमेशा होगी किसी-न-किसी आकार में, और समझा जायेगा सोना जो इन किन्हीं भी आकारों में बँधा नहीं है। इसी प्रकार से बुद्धि, अहंकार, महाभूत – इनकी प्रतीति होने से समझ में आता है कि इन सबका कारण अव्यक्त है, इसीलिए इसको अव्यक्त कहा। भगवान् ने इसे पहले 'मम माया दुरत्यया' में माया शब्द से कह दिया, 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' में अज्ञान शब्द से कह दिया है।

आगे कहते हैं, 'एव च', 'एव' मायने ही। इतनी ही सचमुच में प्रकृति है। पंचमहाभूत, छठा अहंकार, सातवीं बुद्धि, आठवाँ अव्यक्त। आठ प्रकार से भिन्न हुई प्रकृति यहाँ तक है, इसलिए कह दिया 'एव'।

अब सूक्ष्म महाभूतों का कार्य बताते हैं– 'इन्द्रियाणि दश', दस इन्द्रियाँ। आँख, कान, नाक, इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ और बोलना पकड़ना चलना इत्यादि करने वाली कर्मेन्द्रियाँ। पाँच इन्द्रियों से तुम जानते हो और पाँच इन्द्रियों से तुम करते हो। 'एकं च' और एक मन। पंचमहाभूतों को सूक्ष्म अवस्था में अर्थात् बिना पंचीकृत किए हुए मिलाते हैं तब मन बन जाता है। मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी काम करता है और पाँचों कर्मेन्द्रियों के साथ भी काम करता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को इच्छा के द्वारा जोड़ने वाला मन हो जाता है। जो तुम जानते हो वह अगर तुम्हें अच्छा लगा तो उसकी प्राप्ति के लिए करने लगते हो, बुरा लगा तो उससे दूर होने के लिए करने लगते हो। दस इन्द्रियों के द्वारा करते हो पर दसों इन्द्रियों के साथ करने को जोड़ने वाला मन है। बस, तुम्हारी सारी शक्तियाँ आ गईं– ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति। विचार करके देखो, इन तीन के सिवाय कुछ भी तुम्हारी शक्ति है क्या? जानोगे, चाहोगे, करोगे – बस! ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और संकल्परूप मन।

'पञ्च च इन्द्रियगोचराः' और पाँच इन्द्रियों के विषय। यदि गुण-प्रक्रिया में समझना चाहो तो रजोगुण से कर्मेन्द्रियाँ और प्राण बनेंगे, सत्त्वगुण से मन और ज्ञानेन्द्रियाँ बनेंगी और तमोगुण से पाँचों महाभूतों को मिला कर, पंचीकृत करके मिलाने का एक खास ढंग है, पंचीकरण/स्थूल भूत हो जाते हैं जो इन्द्रिय-गोचर अर्थात् इन्द्रियों के विषय हैं। सांख्य लोग इन्हीं को चौबीस तत्त्व कहते हैं। सांख्यों के चौबीस तत्त्व हैं– प्रकृति, महान्, अहंकार, तन्मात्राएँ अर्थात् सूक्ष्म महाभूत, दस इंद्रियाँ, मन और पाँच महाभूत अर्थात् इंद्रियगोचर। इस प्रकार अपरा प्रकृति का वर्णन भगवान् ने किया। जो वह क्षेत्र है और जैसा है यह बताया।

क्षेत्र के विकार छठे श्लोक में कहे। वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद महर्षि ने अनेक गुण आत्मा के माने हैं क्योंकि हमें लगता है कि हम ये सब करने वाले हैं। किन्तु असल में वे भी क्षेत्र के ही धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ के नहीं, यह बतलाने के लिए भगवान् ने इच्छादि को क्षेत्रधर्म के रूप में बताया। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख संघात, चेतना, धृति – ये भी सब क्षेत्रविकार होने से क्षेत्र ही हैं। इच्छा, जो चीज़ हमारे सुख का कारण हुई उसके जैसी दूसरी चीज़ प्राप्त करने के लिए कामना। आज रसगुल्ला खाया, रसगुल्ला अच्छा लगा तो कामना

होती है 'कल फिर रसगुल्ला बनाओ'। यह जो इच्छा है सुख के हेतु की, यह भी अन्तःकरण का धर्म है क्योंकि अन्तःकरण रहता है तभी यह रहती है, बिना अन्तःकरण के रह नहीं सकती और जब अन्तःकरण क्षेत्र है तो क्षेत्र के अन्दर ही यह रहेगी। यह बात है तो बड़ी सीधी और अनुभवसिद्ध है। जाग्रत् व स्वप्न में अन्तःकरण रहता है तो सारी प्रतीतियाँ होती हैं, ज्ञानेन्द्रियों की, कर्मेन्द्रियों की, सबकी। स्वप्न में भी हाथ से ही सामान उठाते हो। स्वप्न में भी नाक से ही सूँघते हो। और जहाँ अन्तःकरण नहीं रहता, जैसे सुषुप्ति में, वहाँ तुम्हारी इच्छा भी नहीं रहती। जहाँ अन्तःकरण रहता है वहाँ इच्छा रहती है, जहाँ अन्तःकरण नहीं रहता वहाँ इच्छा नहीं रहती; और तुम इच्छा के साथ भी रहते हो और इच्छा के बिना भी रहते हो, गहरी नींद में। इसलिए विचार करने पर यह सीधा ही अन्तःकरण का धर्म प्रतीत होता है। परन्तु लोग समझते हैं 'इच्छा तो ज़रूर *मेरा* धर्म है' अर्थात् क्षेत्रज्ञ का धर्म है!

जैसे राग, काम, इच्छा, वैसे ही जिस चीज़ से हमें दुःख हुआ उस चीज़ की जाति की वस्तु कभी न हो – यह कामना द्वेष है। अतः उस जाति की चीज़ आते ही हमारे अन्दर जो उसके प्रति विरोध की भावना होती है वह द्वेष है। द्वेष तो तभी पैदा हो गया, जब हमें पदार्थ अच्छा नहीं लगा, हमारे प्रतिकूल हुआ, लेकिन द्वेष प्रकट होता है उस या वैसी चीज़ के आने पर। आना दोनों तरह से समझना – सचमुच में आ जाए तब भी उसके प्रति द्वेष होता है। और मन से उसकी बात याद आवे तो भी द्वेष प्रकट हो जाएगा। परन्तु जब तक उसकी बात याद न आवे या वह वस्तु अथवा वैसी वस्तु प्रतीत न होवे तब तक द्वेष भी प्रकट नहीं होता, रहता ज़रूर है। जैसा कामना के बारे में कहा था वैसा द्वेष के बारे में भी समझ लेना : जब अन्तःकरण होता है तब तो द्वेष रहता है और जहाँ सुषुप्ति में अन्तःकरण नहीं वहाँ द्वेष भी नहीं। जहाँ–जहाँ अन्तःकरण है वहीं द्वेष रहता है, जहाँ अन्तःकरण नहीं वहाँ द्वेष नहीं रहता, अतः स्पष्ट है कि अन्तःकरण का धर्म है।

सुख; चीज़ हमें अनुकूल प्रतीत होती है, उससे हमें प्रसन्नता होती है, वह सुख है। वह भी जाना जा रहा है इसलिए अन्तःकरण होने पर ही प्रतीत होता है, अन्तःकरण नहीं होने पर प्रतीत नहीं होता, जैसे सुषुप्ति में। इसलिए सुख भी अन्तःकरण का धर्म है, हमारा धर्म नहीं है। परन्तु अन्तःकरण से अज्ञान के कारण एक होकर 'मैं इच्छा वाला', 'मैं द्वेष वाला', 'मैं सुख वाला'–ये प्रतीतियाँ होती हैं। और इसीलिए कणाद महर्षि ने इन्हें आत्मा का धर्म बतला दिया। लेकिन विचार करके देखो, जैसे 'मैं इच्छावाला' प्रतीत होता हूँ वैसे ही 'मैं गोरा हूँ' यह प्रतीति भी होती है। अगर इच्छादि को आत्मधर्म मानते हो तो गौरतादि को आत्मधर्म क्यों नहीं मानते? यदि पूछो कि वैशेषिकोंने ऐसा क्यों माना है? तो समझ लो : शरीर के बारे में 'यह शरीर' की प्रतीति भी है और 'मैं शरीर' की प्रतीति भी है। इसलिए 'मैं गोरा नहीं' यह जल्दी समझ में आता है। लेकिन इस प्रकार 'मैं रागी नहीं, द्वेषी नहीं' यह समझ में जल्दी नहीं आता है। इसलिए इन चीज़ों को देखने पर यही प्रतीति बनी रहती है कि 'ये तो मैं हूँ'। क्योंकि ये इच्छा द्वेष सुख दुःख जितने कह रहे हैं वे सर्वथा अपने

से अलग जैसे प्रतीत नहीं होते। 'शरीर गोरा है' अनुभव है ऐसे 'मन रागी है' यह अनुभव नहीं, बहुत विवेक करने पर समझ आ भी जाये पर अनुभव 'मैं रागी' ही होता है। शरीर की तो इदन्ता से भी प्रतीति हो जाती है और अहंता से भी प्रतीति हो जाती है, परन्तु राग द्वेष आदि की प्रतीति ऐसे नहीं होती, हमेशा ही उनकी मैं के साथ ही प्रतीति होती है। इसलिए यह भ्रम हमारे अन्दर ज़्यादा दृढ हो जाता है।

संघात; शरीर और इन्द्रियों का जो इकट्ठा होना है; उसके अन्दर ही हमको आत्म–चैतन्य का भान होता है। आत्मा की प्रतीति इस संघात में ही होती है। शरीर और इन्द्रियों का जो इकट्ठा होना है वह संघात है, उसमें अभिव्यक्त हुई अन्तःकरण की वृत्ति चेतना का भान कराती है, वही आत्म–चैतन्य के आभास से युक्त होती है। जैसे लोहा जब खूब गरम कर दिया जात है तब लोहे को अंगुलि लगाओ तो लोहा गरम लगता है। विचारशील जानता है कि लोहा कभी गरम नहीं होता! लोहे के साथ गरमी मौजूद है। सूर्य में तो जैसे गरमी हमेशा रहेगी ऐसे लोहे में गरमी नहीं रहेगी। कहीं–न–कहीं से उसमें गरमी आएगी और जब वह चीज़ दूर हो जाएगी तब वह गरमी भी हट जाएगी। लोहे को ठण्डा करने के लिए कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। जिससे वह गरम हो रहा है वह आग अलग कर दें तो लोहा ठण्डा अपने–आप होता है। इसी प्रकार से आत्म–चैतन्य का आभास इस देह–इन्द्रिय–संघात में पड़ता है। जब तक वह आभास रहेगा तब तक उसमें चैतन्य की प्रतीति है। कोई पीठ में मुक्का मारता है तो 'मुझे मारा' – इस प्रकार प्रतीति हो जाती है। आत्म–चैतन्य का जो इसमें आभास पड़ता है उससे सारे संघात के अन्दर चेतना रहती है। आत्म–चैतन्य का आभास पड़ते हुए सारे शरीर में जो होशका अनुभव होता है वह चेतना है। इसलिए शरीर भी वैसा ही चेतन लगता है जैसा इन्द्रियाँ और मन चेतन लगते हैं। उस आभास से शरीर भी सारा व्यवहार कर लेता है।

धृति; जब थक जाता है तब भी जो देह इन्द्रियों को धारण करने वाला है वह धृति, धैर्य है। वह भी आत्मा का धर्म नहीं है, शरीर इन्द्रियों का ही धर्म है। बिलकुल थक जाओ तब भी जो एक शक्ति रहती है वह धृति है। एक पिट्रिम सोरोकिन नाम का समाज विज्ञान का वेत्ता हुआ है। जब रूस में क्रान्ति हुई थी लेनिन की, उस समय वह वहाँ मंत्री था। लेनिन की क्रान्ति सफल हुई। जो भी तब मन्त्री थे सब भागे, यह भी भागा।भाग कर जंगलों में छिप गया। उस जमाने में मोटरें तो थी नहीं! वह अपनी जीवनी में लिखता है- जब कम्यूनिस्ट सिपाही हमें पकडने आते थे, हम भागते थे, और क्या कर सकते थे! सत्ता उनके हाथ में आ गई थी। कई बार ऐसा होता था कि भागते–भागते एक दम थक कर चूर हो कर गिर जाते थे। सोचते थे 'अब पकड़ो तो पकड़ो, अपने से तो और नहीं दौड़ा जाता'। पर जैसे ही घोड़ों की टाप नज़दीक आती थी, पता नहीं कौन–सी शक्ति आकर फिर हमको दौड़ा देती थी!' अन्त में वह बच कर निकल भागा। इसको धृति कहते हैं। 'हो ही नहीं सकता' ऐसी अनुभूति आने पर भी जिससे तुम कार्य कर लेते हो वह धृति है। लेकिन है

वह भी क्षेत्र का ही धर्म क्योंकि उसका पता लगता है, ज्ञेय है। और भी जितनी मन के अन्दर होने वाली भावनाएँ हैं वे सब क्षेत्र में समझ लेना। मोह,भय, शोक,सारे यहाँ नहीं गिनाये हैं, लेकिन सब समझ लेना। वे सब क्षेत्र के ही धर्म हैं। इसलिए कहते हैं 'एतत् समासेन क्षेत्रम्'। संक्षेप में अर्थात् अन्तःकरण के अनेक धर्मों में से थोड़े से धर्म बताए हैं।'समासेन'मायने संक्षेप से। 'सविकारम्', ये सारे उसी अविद्या के विकार हैं और इनके द्वारा ही फिर आगे सारे विकार पैदा होते हैं। इस प्रकार भगवान् ने स्पष्ट किया कि 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' से केवल अपना स्थूल शरीर ही नहीं समझ सकते, यहाँ जो क्षेत्रका विस्तार बताया उस सबको समझना पड़ेगा।।।५–६।।

भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करते हुए, चूंकि इस षट्क में जीव और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन प्रधान रूप से करना है इसलिए, साथ ही कह दिया कि क्षेत्रज्ञ तो मैं ही हूँ अर्थात् मनुष्य के अन्दर जो ज्ञान प्रकट होता है अन्तःकरण में, वह ज्ञान मैं हूँ। क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र को जानने वाला। 'जानने वाला मैं हूँ' कह कर आगे जिस अभेदका प्रतिपादन करना है उसकी प्रतिज्ञा कर दी। भाष्यकार ने यहाँ विस्तृत विचार करके बतलाया कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही हो सकता है। जो लोग कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ और ईश्वर को अलग मानना चाहिए वे द्वैतवादी अद्वैतमें जिन दोषों को बतलाते हैं वे प्राप्त ही नहीं होते। ज्ञेय के रूप में क्षेत्रज्ञ को भली प्रकार से बतलाना है। जिन विशेषणों का निराकरण करने से क्षेत्रज्ञ के ईश्वरभाव की प्राप्ति होती है वे सारी उपाधियाँ उसी का प्रभाव है। वह स्वयं निर्विशेष होने पर भी अपनी माया शक्ति के द्वारा सविशेष हुआ सारी विभूतियों का आधार है, सारे प्रभावों का आधार है। क्षेत्रज्ञ के इस रूप को जानने से मोक्ष की प्राप्ति भी भगवान् ने बतलाई। इसका आगे विस्तार करना है।

विस्तार करने के पहले उस ज्ञान के साधन क्या हैं इसका निरूपण करना भगवान् आवश्यक समझते हैं। दो प्रकार की चीज़ों को वेद में बतलाया है - एक, जिनको जानकर करना है अर्थात् साधन। साधन जाननेमात्र से लाभ नहीं, जानकर करने से ही लाभ होगा। करने,नहीं करने में तुम स्वतन्त्र हो। इसलिए बतलाने के बाद भी तुम करो या न करो। इतना ही बता दिया जाता है कि किस लिये, क्या, और कैसे करना है। दूसरा वेद का उपदेश उस बारे में है जिसे जानना ही सफल है, जानकर कुछ करना नहीं है। क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता ऐसी है जिसमें करना कुछ भी नहीं है! ज्ञान में तुम स्वतन्त्र नहीं हो। ज्ञान *किया* नहीं जाता, ज्ञान तो *हो* जाता है। जैसे तुम रास्ते में चल रहे हो और कहीं गधे की लाश सड़ रही है तो तुमको बदबू आ जाती है। तुमने कोई कोशिश बदबू लेने की तो नहीं की। ज्ञान में तो चीज़ जैसी है वैसा उसका पता लगता है। उसमें *करने* के लिए कुछ नहीं है। परन्तु तुमको बदबू तब आई जब तुम चल कर वहाँ गए। बदबू सूघने में तुम स्वतन्त्र नहीं हो पर वहाँ पहुँचोगे तो बदबू आएगी, नहीं पहुँचोगे तो बदबू नहीं आएगी। ज्ञान के लिए जो साधन करने के हैं वे ज्ञान होने से पहले करने पड़ते हैं। जब साधन पूरे होंगे तब ज्ञान

अपने आप ही हो जाता है। परमात्मज्ञान महावाक्य के उपदेश से होगा परन्तु उस 'तत्त्वमसि' को समझने के लिए जो योग्यता चाहिए वह साधनों से सम्पन्न करनी पड़ती है। योग्यता में तत् पदार्थ का शोधन भी है, त्वम् पदार्थ का शोधन भी है, शम–दम–उपरति–तितिक्षा भी हैं, वैराग्य भी है। ये सब चीज़ें पहले जब तैयार होंगी तब उपदेश सुनते ही ब्रह्म का ज्ञान अपने आप ही होता है। जैसा ब्रह्म है वैसा ही ज्ञान होगा उसमें तुम कुछ नहीं कर सकते। ब्रह्म–दर्शन करने के लिए सारी तैयारी करनी है। अतः ज्ञान के साधनों का पहले प्रतिपादन करते हैं कि ये सब करोगे तब ज्ञान होगा, नहीं तो ज्ञान नहीं होगा। ज्ञान के बाद तुमको कुछ करना नहीं है। ज्ञान के साधनों को यहाँ 'ज्ञान' कहा है। भगवान् अन्त में (१३.११) कहेंगे 'यह ज्ञान है।' वहाँ ज्ञान का मतलब है ज्ञान के साधन हैं। आत्मा के अकर्तृत्व बोध के लिए ज़रूरत पड़ती है कि जहाँ तक हो सके, कर्तृत्व तुम्हारे सामने उपस्थित न हो। अगर तुमको कर्तृत्व–बोध रखना है कि "यह मुझे करना है" तो अकर्तृत्व–बोध पैदा होना करीब–करीब असम्भव है। सनातन धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और स्मार्त संन्यासी - इन सबके कर्त्तव्य बतलाये हैं अतः इस वर्णाश्रम के बन्धन में रहते हुए कर्त्तव्य–बोध का हटना प्रायः असम्भव होता है। इसलिए शास्त्र ने संन्यास का विधान किया। क्योंकि संन्यासी वर्णाश्रमव्यवस्था से बहिर्भूत हो जाता है। उसका ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही कर्म है कि किसी तरह से शरीर–यात्रा के लिए भिक्षाटन आदि कर ले क्योंकि शरीर नहीं रहेगा तो आगे कुछ भी नहीं हो सकेगा। इससे अतिरिक्त उसका कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतः उसको मोक्षोपयोगी ज्ञान में मुख्य अधिकारी कहा है, जिसको इस जन्म में ही ज्ञान हो कर मोक्ष की प्राप्ति की पूरी सम्भावना रहती है। मुख्य अधिकारी कहने का मतलब है कि गौण अधिकारी दूसरे भी हैं। अर्थात् दूसरे लोग भी ब्रह्म के विषय में विचार करते हुए, श्रवण मनन करते हुए, यथासम्भव शम दम आदि का अभ्यास करते हुए ज्ञानमार्ग में चल सकते हैं। उन्हें कर्त्तव्य–बोध बीच–बीच में आएगा ही। अगर समय लम्बा है याज्ञवल्क्य आदि की तरह, तो बाद में ज्ञान–निष्ठा के लिए सब कर्मों को छोड़ भी सकते हैं। सामान्य रूप से गृहस्थ के जब कर्त्तव्य खत्म हो जायें तब वह मुमुक्षु है तो वैराग्य–पूर्वक कर्म त्यागकर ब्रह्मसंस्थता के अभ्यास में लग सकता है। किंतु 'कर्त्तव्य' याद रखना; काम कभी खत्म नहीं होते। काम में प्रवृत्ति तो तुम अपने मन की इच्छाओं से करते हो। 'कर्त्तव्य' में अपने मन की इच्छा से प्रवृत्त नहीं होते। कर्त्तव्य में तो शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्त होते हो। इसलिए काम तो कभी खत्म नहीं होंगे पर कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं। कर्त्तव्यों की समाप्ति के बाद गृहस्थ भी याज्ञवल्क्य आदि की तरह कर्म छोड़कर ज्ञान–निष्ठा प्राप्त कर सकता है। अगर किसी कारण से उसके पहले ही शरीर की निवृत्ति हो जाये तो यहाँ किया हुआ श्रवण–मनन व्यर्थ नहीं जाएगा। भगवान् पहले कह आए हैं (६.४१-२)- वह ऐसे घर में उत्पन्न होगा जहाँ बचपन से ही उसको ये साधन मिलेंगे और उसको ज्ञान हो जाएगा। इस तरह ये जो धर्म बतला रहे हैं ये सारे सभी के लिए कर्त्तव्य हैं। जो मुख्य अधिकारी

है उसको तो ये ही करने हैं; इनके अन्दर *करने* का बोध नहीं है, करना छोड़ने का बोध है। जो मुख्य अधिकारी नहीं हैं गृहस्थ आदि, वे इनका जितना अभ्यास कर सकें उतना अच्छा है।

ज्ञानसाधनों का विधान करते हुए भगवान् बतलाते हैं –

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

आत्मश्लाघा न करना, अपनी धार्मिकता का ख्यापन न करना, प्राणियों को पीडा न पहुँचाना, अपने प्रति किये अपराध से क्रोधादि विकार न आने देना, मन-वचन-आचार में एकरूपता रखना, आचार्य की सेवा करना, बाहरी-भीतरी पवित्रता रखना, देहेन्द्रियादि को सन्मार्ग से भटकने न देना, देहादि संघात को नियंत्रण में रखना – (ये सब ज्ञान हैं)।

सबसे पहला साधन बतलाते हैं 'अमानित्वम्'। आजकल जिसे सबसे बड़ी चीज़ लोग मानते हैं, उसको सबसे पहले छोड़ने को कह रहे हैं! आजकल हर व्यक्ति कहता है कि आत्मसम्मान तो होना ही चाहिए अर्थात् मान तो होना ही चाहिए। आजकल के लोग इसको गुण मानते हैं। भगवान् कहते हैं कि सबसे पहले इसको छोड़ो। आज के नेताओं के लिए तो यह फाँसी की-सी बात है क्योंकि सब जगह अपनी श्लाघा ही करते हैं, अपनी प्रशंसा ही करते हैं, 'मैने यह किया मैंने वह किया'। आज के लोग मानिता को अच्छी बात मानते हैं परन्तु यह भूल जाते हैं कि आत्मा है कौन? आत्मा को गलत समझने से वे शरीर और मन के सम्मान को आत्मसम्मान मानते हैं। शरीर और मन की प्रशंसा हुई तो समझते हैं 'मेरी प्रशंसा हुई'। वेदान्त के अन्दर पहली चीज़ समझने की है कि तुम इन सबको जानने वाले कूटस्थ हो, क्षेत्रज्ञ हो। ये सब तुम नहीं हो। जितना 'ये सब मैं हूँ'- इसको लादने का प्रयत्न करोगे उतना इनसे अलग नहीं हो सकोगे। इसलिए भगवान् ने इसको इतना महत्त्व दिया, सबसे पहले गिनाया है 'अमानित्वम्'।

अगला कहते हैं 'अदम्भित्वम्'। दम्भ का मतलब होता है- मेरे धर्म को सब जने जानें, सबको पता चले कि मैं कितना धर्म करने वाला हूँ। दंभी का ज़ोर धर्म करने पर नहीं रहता है, लोगों को पता चले मैं धार्मिक हूँ, इस पर रहता है। लोग देवमन्दिरों में संगमरमर लगवाते हैं किंतु कई लोग एक ही शिला लगवाते हैं और उस पर अपना नाम खुदवा देते हैं ताकि लोगों को पता चले कि मैंने यह पत्थर लगवाया। इसी प्रकार से गंगा जी के घाट पर जाकर सन्ध्या करते हैं, पर कितनी देर? अगर देखने वाले लोग हैं तो आधा घण्टा और यदि कोई देखने वाला नहीं है तो दो मिनट! ये सब दम्भ के प्रकार हैं। धर्म करना चाहिए, परन्तु धर्म प्रकट होवे, यह भावना नहीं होनी चहिए। पुराने ज़माने में इसलिए अगर कोई कहता भी था 'आपने अमुक धर्म का कार्य किया', तो आदमी कम-से-कम मुँह से कहता था 'अरे भाई! भगवान् ने करा दिया, मैं करने वाला कौन हूँ!' एक भगवान् कृष्ण के भक्त

थे रहीम। वे काफी दान आदि करते थे, लेकिन हमेशा उनकी नज़र नीची रहती थी। जिसको दान देते थे उससे आँखें नहीं मिलाते थे। किसी ने उनसे पूछा कि 'आप इतना दान करते हैं' पर हमेशा नीची नज़र रखते हैं, क्या बात है?' उन्होंने कहा 'देने वाला तो परमात्मा है, वह मुझे दे रहा है तभी मैं आगे दे रहा हूँ। मैं तो केवल माध्यम हूँ। पर लोग समझते हैं कि देने वाला मैं हूँ, इसलिये मुझे शर्म आती है।' तुम्हारे घर पर नल तो लगा ही रहता है लेकिन जिस दिन किसी कारण से वाटर वर्क्स पानी की सप्लाई नहीं करता उस दिन उस नल से कुछ मिलने वाला नहीं। गैरसमझदार सोचता है कि नल पानी देता है जबकि पानी तो वाटर वर्क्स वाले देते हैं। ऐसे ही लोग समझते हैं 'रहीम ने दिया' जब कि देने वाले भगवान् हैं। धर्म का प्रकटीकरण दम्भ है। दम्भ का न होना ज्ञान-साधक में अनिवार्यतः चाहिए। 'मैं धर्म कर रहा हूँ, लोग इस बात को जानें'-इस भाव से धर्म नहीं करना, कत्तर्व्य है इसलिए करना है। अमानित्व और अदम्भित्व दोनों साधनों में *करने* को कुछ नहीं है, नहीं करने को ही कहा है- मान नहीं करना है, दम्भ नहीं करना है। निवृत्ति मार्ग के अन्दर प्रवृत्ति मार्ग से ठीक उलटा व्यवहार चलेगा। इसलिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जैसे पटना का निवासी, एक-साथ गंगोत्री और गंगा-सागर नहीं जा सकता; जितना-जितना गंगा-सागर की तरफ जाएगा उतना-उतना गंगोत्री से दूर होता जाएगा और जितना-जितना गंगोत्री की तरफ जाएगा उतना-उतना गंगा-सागर से दूर होता जाएगा; इसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग हैं, जितना-जितना प्रवृत्ति में बढ़ोगे उतना-उतना निवृत्ति से दूर होते जाओगे और जितना निवृत्त होते चले जाओगे उतना प्रवृत्ति मार्ग से दूर होते जाओगे। अन्त में, जैसा महाभारत कहता है, 'सर्वत्यागे समापना' निवृत्ति मार्ग समाप्त इसमें होता है कि तुम्हारा सब कुछ छूट जाता है।

अहिंसा - किसी प्राणी को मेरी तरफ से पीडा न होवे। गीता शास्त्र में जगह-जगह भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि तुझे अभी प्रवृत्ति करनी है, तू युद्ध कर, तू अभी निवृत्ति के योग्य नहीं है। हम लोग 'योग्य नहीं है' कम कहते हैं! किसी से कह दें कि 'तुम इसके योग्य नहीं हो', तो उसको अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए बार-बार यह तो कहते हैं कि'तुम प्रवृत्ति के योग्य हो', इस तरह से नहीं कहते कि निवृत्ति के योग्य नहीं हो हिंसा का मतलब प्रायः करके प्रसिद्ध है कि किसी को न मारना यही अहिंसा है, मारना ही हिंसा है। पर हम लोग खाली मारने को हिंसा नहीं कहते, दूसरे को किसी प्रकार की पीडा देना हिंसा है। प्रवृत्ति मार्गियों का प्रश्न रहता है- 'लड़का नहीं पढ़े तो क्या करें? थप्पड़ मारना पड़ता है।''क्या करें?' इस प्रश्न का जवाब तो यही है कि मारो थप्पड़। यह है प्रवृत्ति मार्ग। इसी प्रकार, नौकर काम नहीं करें तो क्या करें? डाँटो, निकाल दो नौकरी से। निकालोगे तो उसको बड़ी पीडा होगी। उसके खाने-पीने का साधन ही खत्म हो जायेगा। परन्तु जो आत्मज्ञान के रास्ते वाला है उसका तो यह प्रश्न नहीं है कि 'क्या करें?' उसका प्रश्न है 'कैसे जानें?' सब प्राणियों को पीडा पहुँचाना तुम छोड़ोगे तभी ज्ञान होगा। इसलिए अंहिसा निवृत्ति धर्म ही है।

किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्राणी को पीडा नहीं देनी है।

कोई अपराध करता है तभी उसे नियंत्रित करने के लिये हिंसा का उपाय करना पड़ता है। दूसरे का किसी भी तरह का अपराध हो तो भी अहिंसा तभी होगी जब 'क्षान्तिः' क्षमा करोगे। अपना विचार करो : परमेश्वर ने आज्ञा दी है – आत्मज्ञान प्राप्त करो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'। और अनन्त जन्म हमने बिता दिए, उन अनन्त जन्मों में हमने परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं किया! जन्म हुआ है इसलिए पता है कि पहले कभी आत्म-दर्शन किया नहीं, आत्म-दर्शन तो एक बार ही होता है, होने के साथ ही माया निवृत्त हो जाती है। ऐसा अपराध परमेश्वर के प्रति करते हुए भी वे हमको क्षमा ही करते हैं। हम उनसे प्रार्थना करते हैं तो हमें वे क्षमा कर देते हैं। यहाँ तक भगवान् शंकर कहते हैं कि 'एक बार कोई मेरा नाम ले लेता है तो उसके सारे पाप क्षय हो जाते हैं। दूसरी बार लेता है तो मोक्ष दे देता हूँ और तीसरी बार नाम ले लेवे तो मैं कर्जदार रह जाता हूँ क्योंकि मेरे पास इन दो चीज़ों के सिवाय, भोग और मोक्ष देने के सिवाय, और तो कुछ है नहीं! तीसरी बार नाम लिया तो मैं क्या दूँ!' परमेश्वर ने हमारे इतने अनन्त अपराधों को क्षमा कर दिया तो हम थोड़े से अपराध क्यों न क्षमा करें? क्षमाशील हो वही सकता है जो निवृत्तिमार्गी है। प्रवृत्तिमार्गी के मन में कर्तृत्त्व बोध है, कर्तृत्व-अभिमान है अतः उसे लगता है 'मैंने क्षमा किया तो यह बिगड़ जायेगा, व्यवस्था बिगड़ जाएगी' अतः वह क्षमा पर स्थिर नहीं रह सकता। अहिंसा के बाद तुरन्त क्षान्ति इसलिए बतलायी कि क्षमा करोगे तभी अहिंसक बन सकते हो।

'आर्जवम्'। किसी भी प्रकार की अपने अन्दर कुटिलता न होना वरन्, सरलता ही होना। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्'। प्रवृत्ति का काम जो करने वाले हैं उनके मन में कुछ और होता है, वाणी से कुछ और बोलते हैं, काम कोई तीसरा ही करते हैं! कोई आदमी मिलने आ गया अकस्मात्। हम कुछ पढ़ रहे हैं। मन में आता है 'अरे! मेरा तो पढ़ना बाकी रह जाएगा। मन में विक्षेप है, दुःख है और वाणी से कहते हैं 'आइए-आइए! आप बहुत दिनों से नहीं आए, आप से मिल कर प्रसन्नता हुई, बहुत इच्छा थी आपसे मिलने की।' कर्त्तृत्व बुद्धि वाले कहते हैं कि ऐसा तो करना ही पड़ता है। प्रवृत्ति-मार्गियों के लिए यह स्वाभाविक हो जाता है। 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।' जो महात्मा लोग हैं वे जो बात मन में होगी उसी को वाणी से कहेंगे और जो वाणी से कहेंगे उसी को करेंगे। भयंकर से भयंकर परिस्थिति आने पर भी वाणी से कही हुई बात को हम अन्यथा कैसे करें- ऐसा बड़ा भारी बोझ उनके मन पर रहता है। 'जो मैंने कह दिया उसको तो करना ही है, चाहे जितना कष्ट भोगना पड़े' यह हुआ सरलता का व्यवहार; और कुटिलता का व्यवहार है- कहो कुछ, करो कुछ,सोचो कुछ।

'आचार्योपासनं', आचार्य अर्थात् ज्ञान का उपदेश करने वाला, तत्त्वज्ञान का उपदेश करने वाला, उसकी सेवा करना। सेवा करने के लिए संस्कृत में शब्द है शुश्रूषा। शुश्रूषा का शाब्दिक अर्थ होता है 'सुनने की इच्छा'। जो सेवा करेगा वह रात-दिन साथ होगा इसलिए

उसको निरन्तर उपदेश दिया जा सकता है। जब मौका होगा तब उपदेश हो जाएगा। जो शुश्रूषु नहीं है वह चाहता है कि 'सेवा खत्म होवे, फिर हम दूसरा काम करें'। शिष्य में गुरु की शुश्रूषा होनी चाहिये। यह इसलिए कहते हैं कि उसकी इच्छा तो केवल सुनने की, समझने की होनी चाहिये, उपदेश ग्रहण करने की ही उसको इच्छा रखनी है,और कोई दूसरी इच्छा नहीं पालनी है। हर व्यवहार के अन्दर वह गुरु से सीखे। वे टोक कर जो मना करेंगे, जो करने को कहेंगे, वह सब तत्त्वज्ञान के मार्ग की ही बातें होंगी। इसलिए लोक में कहते हैं कि सेवा करने वाला ही मेवा पाता है। मेवा उसको कहते हैं जो तुम्हें पुष्टि दे। तत्त्वज्ञान ही मेवा है, उसकी प्राप्ति शुश्रूषा से होगी। भगवान् ने इसका नाम 'शुश्रूषा' नहीं कहा, आचार्य की *उपासना* कहा। उपासना का मतलब होता है ध्यान; आचार्य का ध्यान करना। जिस ब्रह्म तत्त्व का हमको उपदेश चाहिए वह निरन्तर आचार्य के हृदय में, उसके अन्तःकरण में रहता है। उसकी बुद्धि में एक क्षण भी ऐसा नहीं है जब ब्रह्म नहीं है। अतः जब हम उसका ध्यान करते हैं तब उसके अन्दर स्थित जो आत्म-तत्त्व हमारे अन्तःकरण में अभी नहीं आया है उससे हमारा संपर्क हो जाता है, उसी से पुष्टि होती है। यद्यपि और भी उपासनाएँ शास्त्रों में बताई हैं पर निवृत्ति-परायण के लिए यहाँ भगवान् ने आचार्योपासन ही कहा है। केवल सेवा तो और भी प्रयोजनों से हो जाती है। प्रसिद्ध है कि आचार्य शंकर की एक कापालिक ने बहुत सेवा की थी ताकि वह उन्हें मार सके! धन आदि के लिये भी लोग आत्मज्ञानी की सेवा कर सकते हैं। पर उपासना में प्रेम निहित है। जिसकी उपासना करोगे उससे प्रेम रखोगे ही तो उसके आदर्शों को अपने जीवन में अवश्य लाने का प्रयास करोगे। आचार्य का एक ही आदर्श है – मोक्षप्राप्ति। अतः आचार्योपासक गुरुसेवा से मोक्षलाभ का ही उपाय सीखकर उसका जीवन में अनुष्ठान करेगा।

'शौचं', पहले (१२.१६) भी शुचि आया था। शरीर के मलों को मिट्टी और जल के द्वारा साफ रखना बाह्य शौच हैं। मलमूत्र के त्याग के बाद भी सफाई रखनी चाहिये। शरीर से प्रस्वेद आदि, पसीना वगैरह निकलता है, उसकी शुद्धि के लिए ठीक तरह से स्नान करना चाहिये। वस्त्र इत्यादि भी गन्दे हो जाते हैं, उनको शुद्ध रखना चाहिए। जैसे बाह्य पदार्थों को साफ रखना है वैसे ही मन को भी साफ रखना है। शौच का मतलब दोनों ही हैं– बाह्य शौच और अन्तर शौच। मन के अन्दर जो रागादि मल हैं, प्रतिपक्ष-भावना, वैराग्य आदि के द्वारा उन मलों को दूर करना है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वर्त्तमान काल में बाह्य शौच पर तो बहुत ज़ोर है, बाहर की सफाईयों पर बहुत ज़ोर देते हैं और ठीक भी है, देना ही चाहिए, पर अन्दर की सफाई की तरफ दृष्टि करते ही नहीं। किन्तु ज्ञानसाधक को जैसे बाहर की सफाई रखनी है वैसे ही मन की भी सफाई रखनी है। मन के मैल राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य आदि दोष हैं। इन सबको विचार आदि के सहारे छोड़ना आन्तर शौच है।'ज़रूरी है' इस तरह ही ये दुर्भावनाएँ मन में आती हैं। लगता है 'ये नहीं करेंगे तो कैसे काम होगा?' उसकी प्रतिपक्ष भावना करनी चाहिये कि'ये ज़रूरी नहीं हैं।

प्रवृत्ति मार्ग के लिए ज़रूरी होने पर भी निवृत्ति मार्ग के लिए इन्हें हटाना ही ज़रूरी है।' ज्ञानार्थी ज्ञान के सिवाय और कोई कार्य ज़रूरी नहीं समझता। इन दुर्गुणों को, मलों को साफ करने के लिये इनके विरोधी भाव ही मनमें लगातार लाते रहने पड़ेंगे। काम क्रोध आदि में कोई-न-कोई अच्छाई भी बतायी जा सकती है किंतु उस ओर दृष्टि डालोगे तो कामादि को छोड़ नहीं पाओगे। अतः आन्तर शौच रखना चाहने वाले को उनकी खराबी ही देखनी पड़ेगी, उसी के बल पर वे मनसे दूर होंगे। सांसारिक पदार्थों के प्रति आकर्षण भी निवृत्तिमार्गीके लिये मनका मैल है अतः उनमें भी उसे बुराई ही देखने का अभ्यास करना पड़ेगा। पदार्थों में अगर किंचित् भी अच्छाई देखोगे तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकोगे। अच्छाई है नहीं - यह नहीं कह रहे। सब से अच्छा जो परमात्मा वह स्वयं 'अस्ति भाति प्रिय' रूप से संसार की हर चीज़ में उपस्थित है। किन्तु साधक अभी नाम-रूप तक ही देख पाता है और नाम-रूप बंधनकारी ही हैं अतः उसे तो सांसारिक वस्तुओं से दूर ही होना पड़ेगा। मन में सांसारिक चीज़ों के बारे में चिंतन चलता रहा तो परमात्मचिंतन के लिये मन में जगह ही नहीं रहेगी। अतः साधक को तो संसार में दोषदर्शन ही कर्तव्य है। तभी वह मनसे रागादि मल धो सकेगा। दोनों प्रकार के शौच कर्तव्य हैं - राग आदि मलों को प्रतिपक्ष-भावना से हटाना और मिट्टी जल इत्यादि के द्वारा बाह्य मलों को हटाना। शरीर और मन का ऐसा सम्बन्ध है आपस में कि जब तक तुमको ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक शरीर के मल के कारण तुम में तमोगुण बढ़ेगा, तमोगुण बढ़ने से अन्तःकरण भी प्रभावित होगा। इसलिए बाह्य शौच की तरफ ध्यान न देना भी गलती है परन्तु बाह्य शौच के साथ आन्तर शौच की तरफ भी ध्यान देना अत्यावश्यक है।

'स्थैर्यम्' अर्थात् स्थिरता। एक न्याय है कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'; मोक्ष के मार्ग में मनुष्य चलता है तो बहुत विघ्न आते हैं। उपनिषदों में आता है कि देवता भी इसमें विघ्न करते हैं। देवता भी नहीं चाहते कि मनुष्य आत्मज्ञान को प्राप्त करें। देवता भी नहीं चाहते तो दूसरे मनुष्य आदि साथी कभी चाहें कि'यह मोक्ष प्राप्त कर ले', यह तो सम्भव ही नहीं है। इसका निदर्शन आत्मज्ञान की परंपरा किस प्रकार से शुरू हुई, इससे ही हो जाता हैः ब्रह्मा जी ने जब सृष्टि की, तब ब्रह्माजी सत्त्वगुणप्रधान थे अतः निवृत्ति-परायण सनक, सनंदन, सनत् कुमार, और सनत् सुजात पहले पैदा हुए। ब्रह्माजी ने इनसे कहा 'सृष्टि का काम चलाओ'। इन्होंने कहा 'महाराज!' सृष्टि चलेगी, लोग दुःखी होंगे, तरह-तरह के विघ्न आएँगे, इस सृष्टि से क्या लाभ है? क्यों बनावें?' ब्रह्माजी को गुस्सा आया। ब्रह्मा जी ने कहा 'चले जाओ मेरे यहाँ से। मैं सृष्टि का देवता और तुम कहते हो मैं सृष्टि नहीं करूँ!' ब्रह्माजी ने भगा दिया। इसलिए आज तक भी पुत्र मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है तो पिता इसी प्रकार से उसको प्रलोभन से, अन्य उपायों से किसी तरह से मोक्ष मार्ग से रोकना चाहता है। सनकादि ने विचार किया 'अब हम क्या करें! इस मार्ग में कैसे चलें?' उन्होंने सोचा कि विष्णु भगवान् भी सृष्टि की स्थिरता ही चाहते हैं इसलिए उनके पास जाने से तो काम बनेगा

नहीं। शिव ही हमारे एकमात्र सहायक हैं। वे लोग भगवान् शंकर के पास पहुँचे। शंकर जी ने देखा 'अरे! इस समय पार्वती हमारे साथ है, इसको देख कर ये गलत समझेंगे' अतः भगवान् शंकर ने दक्षिणा मूर्ति रूप लिया और ज्ञान मुद्रा दिखाते हुए (अपने अंगुष्ठ और तर्जनी को बाँध कर) समाधि में बैठ गए। सनक सनन्दन आदि आए। उन्होंने भगवान् शंकर को समाधि में देखा। उनका ध्यान करने लगे तो उनके हाथ में जो चिन्मुद्रा थी उससे उनको पूर्व संस्कारों के कारण तत्त्वज्ञान हो गया।

जीव का प्रतीक तर्जनी है, इसीलिए तर्जनी तर्जन करने के लिए प्रयोग में आती है। जब किसी को कहते हैं 'तुमको ठीक कर दूगाँ', तब यही अंगुली उठाते हैं। जब कभी जीव को अपना अहं प्रकट करना होता है तब इस अंगुलि को काम में लेता है। इसके बिलकुल पास में सबसे बड़ी अंगुली है, मध्यमा, यह तमोगुण को बतलाती है। संसार में सारी सृष्टि तमोगुण से ही बनी है। जितनी जड सृष्टि है वह सब तमोगुण से बनी है। अतः यह अंगुली सब से बड़ी है क्योंकि तमोगुण की प्रधानता है। तमोगुण रूपी जो माया है, अविद्या है, अज्ञान है, वही आत्मा को आवृत करके रखता है तो जीवभाव स्फुट होता है। तमोगुण से घटकर रजोगुण है। अतः मध्यमा के पास की अंगुली अनामिका रजोगुण का प्रतीक है। इसीलिए इसी अंगुली के अन्दर अँगूठी पहनी जाती है अपना रजोगुण प्रकट करने के लिए। रजोगुण से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं। सारी क्रियाएँ करने वाला रजोगुण ही है। बिना रजोगुण के कोई काम नहीं हो सकता। सबसे कमज़ोर है कनिष्ठिका, जो सत्त्वगुण का प्रतीक है क्योंकि संसार में सत्त्वगुण सबसे कमज़ोर है। इस प्रकार सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से सम्बन्धित ये तीन अंगुलियाँ हैं। तर्जनी अर्थात् जीव को यदि तीनों गुणों से अलग कर दें, अविद्या और अविद्या के कार्यों से दूर कर दें, तथा अँगूठे से जोड़ दें अर्थात् ब्रह्म से एक कर दें तो मोक्ष हो जाये। जब कहना चाहते हैं 'कुछ नहीं' तब अँगूठा दिखलाते हैं। अँगूठा निष्क्रिय है, परन्तु सारी क्रियाओं का आधार है! सत्त्वगुण का भी यह आधार है, रजोगुण का भी और तमोगुण का भी यह आधार है। मनुष्य को पशुओं से पृथक् बनाने वाला अन्य चीज़ों के साथ शरीर के अन्दर अंगूठा प्रधान है। मनुष्य जाति को छोड़ कर और जितनी योनियाँ हैं उनका अंगूठा अंगुलियों के साथ रहता है। इसलिए वे चीज़ों को एक ही ओर से पकड़ सकते हैं। अंगुलियों का सामना करने वाला, अंगुलियों के सर्वथा सामने आकर पदार्थ पकड़ने देने वाला अंगूठा केवल मनुष्य जाति में ही है। इसकी विशेषता यह है कि हम पदार्थों को हर कोण से पकड़ सकते हैं, उन्हें घुमा-फिरा कर उनका परीक्षण कर सकते हैं। भगवान् ने मनुष्य जाति का जो अंगूठा बनाया है वह साक्षात् ब्रह्म का प्रतीक है! इसलिए संन्यासी के पास यदि शिवलिंग नहीं है और उसे शिवपूजन करना है तो शास्त्र में कहा है कि अंगूठे का ही पूजन कर सकता है! अंगूठा निष्क्रिय ब्रह्म का प्रतीक है और बाकी संसार को धारण भी करता है। तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुण ये तीनों तो हो गए परमेश्वर की अपरा प्रकृति, और तर्जनीबोधित जीव हो गया परा प्रकृति। परा और अपरा प्रकृति,

सबको धारण करने वाला अधिष्ठान ब्रह्म है। जीव इसके नज़दीक है इसलिये जीव का और ब्रह्म का मुख्य सामानाधिकरण्य है। जीव ब्रह्मरूप ही है। अपरा प्रकृति का बाध-सामानाधिकरण्य होता है अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् नहीं है, ब्रह्म है। परा-अपरा में यह फ़र्क हमेशा याद रखना चाहिये। जीव तो ब्रह्मस्वरूप है। वह अविद्या से ढका होने से रजोगुण और सत्त्वगुण के कार्यों अर्थात् ज्ञान और क्रिया के साथ एक होकर बन्धन में आता है। इसका मुख्य सामानाधिकरण्य है अर्थात् जीव जब इनसे अलग हो जाता है तब वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार ज्ञान-मुद्रा, चिन्मुद्रा के द्वारा भगवान् दक्षिणामूर्ति ने उपदेश दिया समाधि में बैठ करके। क्योंकि सनकादि अत्यन्त सत्त्वगुणी थे, पहले के ऐसे संस्कार थे इसलिए वे समझ गये। यदि बोल कर भगवान् उपदेश देते तो सनकादि तुरन्त पूछ सकते थे कि 'आप काहे से बोल रहे हैं?' बिना अविद्या के तो गुरु-शिष्य-भाव आदि कुछ नहीं रहेगा, बोलना भी नहीं रहेगा। इसलिए समाधि में बैठ कर तत्त्व मुद्रा से उपदेश दे दिया। इस प्रकार सनकादि को ज्ञान हुआ। वहीं से ज्ञान की परम्परा चली। सनकादिक ने नारद को उपदेश दिया, नारद ने व्यास को दिया। इस प्रकार परम्परा चली।

अस्तु, देवता भी नहीं चाहते, ब्रह्मा जैसा बाप भी नहीं चाहता कि मनुष्य श्रेयो मार्ग में चले, मोक्ष मार्ग में चले, तो बाकि सब इसको उससे भ्रष्ट करने में लगेंगे ही।'इन सबका विरोध सह कर भी मुझे तो ब्रह्मप्राप्ति ही करनी है' ऐसी दृढता होगी तब तो इन सब विरोधों को अपने स्थिर भाव से दूर कर दोगे, अन्यथा साधना अटकती रहेगी। देवता इन्द्रियों को वशमें रखते हैं इसलिए इन्द्रियाँ संसार की तरफ जाती ही रहती हैं। बार-बार वृत्ति बनती है कि संसार के नाम-रूपों में कुछ तो ज़रूर है! आँख रूप देखती है तो साथ में वृत्ति भी बनती है कि 'अधिष्ठान ब्रह्म तो है लेकिन रूप भी तो कुछ है ही'! इसी प्रकार से जब किसी चीज़ को बदलने की इच्छा होती है, परिवर्तन करना चाहते हो, तब रजोगुण बढ़ाना पड़ता है। ऐसे ही जब कुछ जानना चाहो तब सत्त्वगुण बढ़ाना पड़ता है। इस तरह जीव गुणों को महत्त्व देता रहकर निरन्तर फँसता रहता है। कभी शरीर दुःख देगा। जहाँ देखोगे कि ध्यान लगाने की अच्छी जगह है, वहाँ पेट ठीक नहीं रहेगा। ये सब विघ्न हैं जो आते हैं। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने स्थैर्यका अर्थ कहा कि 'मोक्षमार्ग एव कृताध्यवसायत्वम्'। मोक्ष-मार्ग में ही निश्चय पूर्वक रहना, इसका ही अध्यवसाय करना कि इसी को प्राप्त करना, धृति है। गौरव, प्रतिष्ठा, आदि सब तुमको इस रास्ते से दूसरी तरफ ले जायेंगे। यदि एकमात्र मोक्षमार्ग ही तुम्हारे सामने रहेगा, तभी ज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति हो सकेगी। इसलिए भगवान् ने कहा कि इस मार्ग में स्थिर रहना आवश्यक साधन है।

'आत्मविनिग्रहः', आत्मा का नियन्त्रण। आत्मा शब्द के कई अर्थ हैं। आत्मा शब्द का अर्थ मन भी होता है, शरीर भी होता है, ब्रह्म भी होता है। ब्रह्मरूप जो निष्क्रिय आत्मा है, उसका तो विनिग्रह प्राप्त ही नहीं है। जो कार्य-करण-संघात है इसी का विनिग्रह हो सकता है। व्यष्टि के भी कार्य-करण-संघात और समष्टि के भी कार्य-करण-संघात का विनिग्रह कर

सकते हैं। हमारे स्थूल-सूक्ष्म शरीर स्वभाव से सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं, वहाँ से हटा कर उन्हें मोक्ष मार्ग में ही स्थिर करना है। समष्टि भाव से भी बंधन होता है; जैसे मन में आता है कि हम दूसरों का उपकार करें। जब तक स्वयं दृढ ब्रह्मनिष्ठा नहीं हो गयी तब तक परोपकार के नाम पर खुद को व दूसरों को ठगते रहोगे। सर्वभूतात्मभूतात्म-दृष्टि आ जाने पर ही वास्तविक उपकार कर सकते हो। तुम भोजन करते हो तो यह नहीं सोचते कि तुम उपकार कर रहे हो क्योंकि उसे खुद के लिए आवश्यक मानते हो। उपकार करने में भाव है कि दूसरे को अपने से अलग जान कर उसके लिये कुछ करते हो। दूसरे को अलग जान कर जब तक उपकार करोगे तब तक परमात्मा का वञ्चन होगा। सर्वभूतात्मभूतात्म-दृष्टि का मतलब है, 'सभी शरीरों के अन्दर एक ही अखण्ड आत्मा है' इस बात को समझना, इस बात को ही प्रकट करना। किसी कार्य-करण-संघात का उपकार तो द्वितीय-दृष्टि से होता है, द्वैत-दृष्टि से होता है। जब तुम किसी को आत्मतत्त्व की बात बतलाते हो तब *उसका,* आत्मा का उपकार करते हो। उसका आत्मा तुम्हारे आत्मा से एक है। कार्य-करण-संघात के साथ तादात्म्यवश वह अनुभव करता है कि 'मैं दूसरा हूँ'। उसके इस भेदानुभव को तुम हटाते हो तभी उसका वास्तविक उपकार है। चाहे अपने लिये,चाहे दूसरों के लिये, जब भी देहादिसंघात अनात्मप्रवृत्ति की ओर जाये तब उसको रोक कर परमात्म मार्ग में लगाना, वहीं निरोध करना - यह है आत्मविनिग्रह। आत्मा में ही सारे ज्ञान और क्रिया को अवरुद्ध करना है।।७।।

ज्ञानांगभूत साधनान्तर गिनाते हैं-

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

इन्द्रियों के विषयों के राग को काटने वाली अस्पृहा, मन में गर्व नहीं ही रखना, जन्म-मृत्य-वार्धक्य-बीमारी में दुःखादि दोषों का अनुसन्धान करते रहना (ये ज्ञान हैं)।

इन्द्रियों के जो अर्थ हैं, विषय हैं इनके प्रति वैराग्य उपजाना आवश्यक है। आँख का विषय रूप, कान का विषय शब्द, जीभ का विषय स्वाद, त्वचा का विषय स्पर्श, नाक का विषय गंध - ये सब इन्द्रियार्थ हैं। ये दृष्ट भी होते हैं, अदृष्ट भी होते हैं। दृष्ट - जो अपने अनुभव में आते हैं; सुन्दर रूप, स्वादिष्ट रस, आकर्षक गन्ध - ये सब दृष्ट विषय हैं। इसी प्रकार स्वर्ग से लेकर वैकुण्ठ पर्यन्त विषय अदृष्ट हैं क्योंकि तुम्हारे देखने में आते नहीं, शास्त्र के द्वारा प्रतीत होते हैं। दृष्ट हों या अदृष्ट, उनके प्रति विराग का भाव रखना है। 'मुझे प्राप्त होवें' इस प्रकार के राग का आभाव होना चाहिये। न इस संसार के भोगों के प्रति राग होवे और न दिव्य भोगों के प्रति राग होवे। जिस विषय का ध्यान करोगे उसी के प्रति तुमको संग हो जाएगा। जिस विषय का चिन्तन करोगे उसके प्रति ही तुम्हारा संग हो जाएगा। अगर तुम परमात्मा के विषय में चिन्तन करते रहोगे तब तो परमात्मा में ही तुम्हारा संग होगा।

नाम–रूप को हटा कर यदि तुम अधिष्ठान की तरफ दृष्टि ले जाते हो तो अधिष्ठान के प्रति ही तुम्हारा संग होगा। यदि दृष्ट या अदृष्ट विषयों के अन्दर तुम मन को ले जाओगे तो उनके साथ ही संग होगा। इसलिए शास्त्र बार–बार असत्–संग छोड़ने को और सत्संग करने को कहते हैं। सत् अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म। असत् अर्थात् सारा नाम–रूप। नाम–रूप को अनिवार्यतः देखते हुए भी सच्चिदानन्द की तरफ दृष्टि को रखना है। गुरु इत्यादि की दृष्टि सच्चिदानन्द पर ही एकाग्र है इसलिए उनकी तरफ हमारी वृत्ति जाती है तो सच्चिदानन्द ब्रह्म ही याद आता है। इसी प्रकार ईश्वर की या उसके अवतारों की मूर्तियाँ देखोगे तो तुमको उनका जो सच्चिदानन्द रूप है वह सरलता से ध्यान में आएगा। अन्य चीज़ों के अन्दर भी अधिष्ठान रूप से है तो वह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही, परन्तु प्रकट रूप से उसका भान न होने से वहाँ नाम–रूप की प्रधानता हो जाती है। परमेश्वर के विग्रहों में सच्चिदानन्द–भाव की प्रधानता हो सकती है। जिसका संग करोगे उसके भाव अपने में आएँगे ही। बाह्य संग होने से फिर चिन्तन में प्रवृत्ति होती है। इसलिए आगे स्वयं बतलाएँगे कि प्राकृत पुरुषों का तो सब प्रकार से संग छोड़े और विरक्तों का सब प्रकार से संग करे। अतः वैराग्य के लिये आत्मसंग, आत्मध्यान, अनात्मचिन्तनका त्याग और सत्संग आवश्यक है। इसलिए इन्द्रिय के अर्थों में अर्थात् जो जागतिक नाम–रूप हैं, संसार के नाम–रूप हैं, उनमें जो भोग्य–दृष्टि है उससे प्रवृत्त होने वाले भाव की निवृत्ति करे।

'अहंकार एव च'। पहले कह आए हैं 'अमानित्वम्' अपनी श्लाघा करना मानिता है। मानी समझता और व्यक्त करता है कि सद्गुणों के कारण वह अन्यों से श्रेष्ठ है। अतः वह चाहता है उसका सम्मान हो। मान के योग्य खुद को मानता है और व्यवहार भी ऐसा करता है कि उसकी सन्मानयोग्यता प्रकट हो। अमानिता से पृथक् है अनहंकार। यहाँ अहंकार का मतलब है यह भावना कि मैं उत्कृष्ट हूँ। अहंकार को व्यक्त करने की इच्छा तो मान हो जायेगी, केवल स्वयं में श्रेष्ठता का भाव होना अहंकार है। साधना में प्रवृत्त होते हुए अपने में एक स्वाभाविक श्रेष्ठता की बुद्धि आती है कि 'मैं ठीक रास्ते पर हूँ, बाकी सब गलत रास्ते पर हैं।' इससे जो अपने में एक श्रेष्ठता की बुद्धि आती है उससे दूर रहना अनहंकार है। यदि अहंकार करोगे तो आत्मैक्य का भाव नहीं दृढ होगा। याद रखना है कि दूसरों से मैं अच्छा *नहीं* हूँ क्योंकि मैं सारे प्राणियों का एक जैसा आत्मा हूँ। जो श्रेष्ठता शरीर के आचरण से या मन–बुद्धि से है, वह *मेरी* श्रेष्ठता तो है नहीं। मैं ब्रह्मरूप हूँ। अतः कार्य–करण–संघात की श्रेष्ठता से अपने में श्रेष्ठता को मान रहा हूँ यह घोर अपराध है। परमात्म मार्ग में चलने वाला या इन साधनों में प्रवृत्त कौन है? कार्य–करण–संघात से सम्बद्ध जो मेरा रूप है वह। उसकी श्रेष्ठता मुझ ब्रह्म रूप की श्रेष्ठता तो नहीं है क्योंकि अपनी श्रेष्ठता का अहंकार साधक को साधना में अवरोध डालता ही है इसलिए अमानित्व कहने के बाद भी अनहंकार कहना ज़रूरी हो गया। सूक्ष्म दृष्टि से देखोः अहंकारात्मिका वृत्ति अन्तःकरण की वृत्ति है और वृत्तिरूप मैं नहीं हूँ। अहंकारात्मिका वृत्ति का विषय मैं हूँ। 'अहं

करोतीति अहंकारः', अहं को जो कर रहा है वह अन्तःकरण मैं नहीं हूँ। इसलिए अहंकार को अमानित्व से अलग गिनना ज़रूरी हुआ। किंच,अन्य सब दोष अहंकार के माध्यम से ही आत्मा से जुड़ते हैं अतः इसे दूर करना ज़्यादा ज़रूरी होने से इसके साथ 'एव च' लगा दिया। और दोष प्रकट हो जाते हैं तो साधक सावधान हो जाता है, अहंकार बाहर प्रकट होता नहीं, मन में ही रहता है इसलिये इसके प्रति जागरूकता भी अधिक चाहिये इसलिये भी 'एव च' कहा है। अर्थात् अनहंकार का अभ्यास अत्यंत आवश्यक है।

वैराग्य को सम्पन्न और पुष्ट करने के लिये साधन बताया जन्मादि में हमेशा दोष का अनुदर्शन करो। 'अनु' मायने पश्चात् अर्थात् दोषों का पहले तो दर्शन करना पड़ेगा, गुरु के उपदेश से हो या शास्त्र ज्ञान से हो, दोषों का दर्शन करना पड़ेगा, लेकिन दर्शन करने मात्र से संस्कार दृढ नहीं हो जाते। संस्कार दृढ करने के लिए बार-बार उन दोषों का दर्शन करना पड़ता है। बार-बार उन दोषों को सुनना पड़ता है। संसार के विषयों की वास्तविकता का भाव हमारे अन्दर अनादि काल से संस्कार रूप में मौजूद है। विरोधी संस्कार इतने ही दृढ जब बनेंगे तभी वैराग्य स्थिर हो सकेगा। इसलिए भगवान् ने अनुदर्शन कहा, बार-बार उसका विचार करो। प्रायः साधक सोच लेता है 'यह तो हमको पता ही है'। पता होने से काम नहीं चलता जैसे गलत हिज्जे (वर्णन्यास) याद हो जायें तो सही हिज्जे जान लेना पर्याप्त नहीं, सौ-पाँचसौ बार लिखकर सही हिज्जे के संस्कार बनाने पड़ते हैं तभी भविष्य में गलती से बच सकते हैं। इसी प्रकार संसार के पदार्थ रमणीय हैं, भोगने लायक हैं -यह हम लोगों को गलत संस्कार पड़ गया है। शास्त्रादि से सही बात जान भी ली कि संसार में सुख की गंध का लेश भी नहीं है - भाष्यकार ने कहा है 'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रम् अपि अस्ति' (गीताभा.५.२२) - पर जब तक यह संस्कार अतिदृढ नहीं बना लेंगे तब तक व्यवहार में पुनः संसार अच्छा लगने लगेगा और राग का ही बंधन दृढतर हो जायेगा। अत एव संसार में अच्छाई हो तो भी साधक उस ओर बिलकुल दृष्टि न करे, संसार के दोष ही देखे, उन्हीं को याद करे। यहाँ भगवान् ने दोषदर्शन के स्थलों का प्रारंभ किया 'जन्म' से। अनेक जगह शास्त्र में मिलता है कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है, प्रशंसनीय है। अतः शास्त्रानुसन्धान से हमें लगता है कि जन्म कोई अच्छी चीज़ है! अतः भगवान् ने पहले इसी में दोष देखने को कहा। विचार करो, जन्म लेने के लिये हमें कहाँ आना पड़ता है? गर्भ में आना पड़ता है। उलटा लटक कर रहना पड़ता है गर्भ में, सिर नीचे होता है और पैर ऊपर होते हैं। घण्टा आधा घण्टा नहीं, नौ महीने तक उलटा लटके रहना पड़ता है। वहाँ चारों तरफ गर्मी ही गर्मी है, उसी में रहना पड़ता है। फिर जब सब लोग प्रसन्नता से थाली बजा रहे होते हैं, उस समय हमें अत्यन्त संकीर्ण द्वार से निकलना पड़ता है। भयंकर कष्ट माता को भी होता है। माता तो फिर बीस-बाइस साल की होगी, जब उसको इतना कष्ट होता है तो निकलने में अत्यंत सुकुमार बालक को कितना कष्ट होता होगा इसका विचार करके ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार के दर्शन का बार-बार आलोचन करना चाहिये ताकि निश्चय रहे

कि जन्म कोई अच्छी चीज़ नहीं है जिसके लिए हम प्रयत्न करें।

भगवान् ने नियम कर दिया है कि, जो पैदा होगा उसको मरना ही पड़ेगा। मृत्यु के अन्दर भी भयंकर कष्ट होता है। जो कुछ हमसे सम्बन्ध वाला है वह एक झटके में छूट जाता है। अन्य आपत्तियों में तो कभी धन हाथ से निकल गया कभी पत्नी हाथ से निकल गई, कभी पुत्र हाथ से निकल गया, कभी व्यापार हाथ से निकल गया, कभी प्रतिष्ठा हाथ से निकल गई। एक-एक चीज़ निकलती है कभी-कभी। मृत्यु के समय तो पत्नी, पुत्र, धन, जायदाद, सम्मान - सब एक-साथ निकल जाता है! किसी चीज़ के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। जब एक चीज़ के वियुक्त होने से इतना दुःख होता है तब सब चीज़ों का एक झटके में निकल जाना कितना दुःख देगा! मरना ज़रूर पड़ेगा क्योंकि भगवान् ने नियम कर दिया है। यदि मृत्यु के समय तक हम इस कार्य-करण संघात से बँधे रहे तो आगे भी भगवान् ने कहा कि मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। अगर तुम कार्य-करण संघात के साथ रहते हुए मरे तो फिर कार्य-करण-संघात की प्राप्ति होगी ही। अगर कार्य-करण-संघात में रहते हुए ही तुम इससे निकल गए तभी इस चक्र से छूटोगे। मरने के बाद कुछ होगा - इस भरोसे रह गए तो कुछ नहीं होगा! इसलिए अतिधन्य वेद कहता है कि शरीर छूटे इसके पहले अगर तुम उस तत्त्व को जानने में समर्थ हो गए तब तो काम हो गया और यदि शरीर छूटने से पहले यह ज्ञान नहीं हुआ तो पुनः जन्म का दुःख भोगना ही पड़ेगा। मृत्यु के और जन्म के दुःखों को बार-बार सोच करके ही मोक्ष मार्ग में रति बढ़ती है। जब तक इन चीज़ों के अन्दर दोषों के अनुदर्शन के संस्कार दृढ नहीं हो जाते तब तक तीव्र गति से साधना नहीं हो पाती।

जरा, बुढ़ापा। बुढ़ापे के अन्दर मनुष्य की प्रज्ञा क्षीण हो जाती है। पहले एक श्लोक को देख कर दस अर्थ उपस्थित हो जाते हैं, जब वृद्धावस्था आती है तब उसी का विचार करते हो तो दो अर्थ ही याद आते हैं। अपने ही हाथ से लिखी हुई अपनी बात का ही अर्थबोध नहीं होता! पढ़ते समय जो तुमने टिप्पण लिखा उस टिप्पण को भी बाँचकर 'किसलिए लिखा, क्यों लिखा' - कुछ याद नहीं आता है। प्रज्ञा का मतलब है छिपे अर्थ, गंभीर, गहन अर्थ समझ पाना। प्रज्ञावान् को ही वे गूढार्थ प्रकाशित होते हैं। क्या कारण है कि गीता की ही पच्चीस टीकाएँ बाँच लो तो प्रत्येक टीका में कोई-न-कोई नवीन अर्थ मिलता है? ऐसा नहीं है कि लिखने वालों ने अपने मन से जोड़ा है। गीता में से ही अर्थ निकलते हैं। अलग-अलग स्तर के विचार करने से अलग-अलग अर्थ निकलते हैं। इसीलिए मनु ने कहा है कि प्रज्ञा-रहित आदमी का शास्त्र से कोई मतलब सिद्ध होता नहीं। बाँचता वह भी उसी शास्त्र को है लेकिन प्रज्ञा के अभाव में उसके आन्तरिक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। शास्त्र उसके सामने है लेकिन प्रज्ञा नहीं होने से उसके अन्दर के अर्थ स्पष्ट होते नहीं। गीता की ही तरह आचार्य शंकर का भाष्य 'प्रसन्न-गम्भीर' माना गया है। प्रसन्न है, साधारण दृष्टि वाला भी उसे समझ पाता है। साथ ही गंभीर है - प्रज्ञादृष्टि वाले उसी के गहनतर अर्थ का दर्शन करते रहते हैं। किंतु प्रज्ञा भी जरा अवस्था में क्षीण होती जाती है।

इसी प्रकार सारी शक्ति क्षीण होती जाती है। पहले दौड़ करके पहाड़ पर चढ़ जाते हो और फिर एक तल्ला चढ़ने में ही सांस फूलने लगती है। शक्ति के क्षीण होने से तरह-तरह के कष्ट होना स्वाभाविक है। तेज भी क्षीण होता जाता है। तेज का मतलब है कि जिस कार्य के लिए तुम किसी को प्रवृत्त करना चाहो, तुरन्त प्रवृत्त कर सको। जिसमें उस तेज का अभाव है वह दस बार भी बात कहे तो कुछ उसका असर नहीं होता। तेज भी क्षीण होता जाता है। इस प्रकार सभी चीजों की क्षीणता बुढापेकी अवस्था में हो जाती है। इस जरा अवस्था के ऊपर भी बार-बार चिन्तन करना वैराग्योत्पादक है। अपराधक्षमापनस्तोत्र के अन्दर जीवन के दुःखों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

व्याधि, अर्थात् रोग। रोग और जरा अलग गिने हैं। शरीर की जीर्णता व्याधि नहीं है। प्रायः इन दोनों चीजों को आदमी भूल जाता है, जरा को भी व्याधि समझ लेता है! सबसे बड़ा फ़र्क समझ लो कि व्याधि वह है जो आती है और निकल जाती है। पर जीर्णता आती ही है, जाती नहीं! कष्ट तो दोनों में एक-जैसा होता है परन्तु व्याधिका कष्ट कुछ समय में छूट जाता है परन्तु जरा का जो दुःख है वह कभी दूर होता नहीं। चाहे जितना सारस्वत घृत पीते रहो, ब्राह्मी का सेवन करते रहो, जीर्णता आने के बाद, पर होगा कुछ नहीं। बड़ी भारी तरीफें लिखी हैं इन सबकी शास्त्रों में, पर बुढ़ापे में इनसे भी क्या होना है! किंतु जरासे भिन्न है व्याधि, सिर में दर्द है, पेट खराब है - ये सब व्याधियाँ हैं, रोग हैं जो दूर हो जाते हैं।

दुःख; तीन प्रकार के दुःख होते हैं। एक तो अध्यात्म अर्थात् शरीर और मन से होने वाला दुःख। मन से होने वाले और शरीर से होने वाले दुःखों के अन्दर बहुत कुछ सामञ्जस्य है। जब तक मन में कोई रोग नहीं आता तब तक शरीर में प्रकट नहीं होता। इसलिए पूछते हैं 'आधि-व्याधी तो नहीं है?' आधि मन का रोग है और जब मन का रोग स्थूल होता है तब विशेष आधि अर्थात् व्याधि हो जाती है। मन में दोष आते ही यदि तुम उसका समाधान कर देते हो, (समाधि का मतलब है सम्+आधि, आधि को विशेष नहीं बनने दिया) तब तो उसके अन्दर कमी आएगी और अगर तुमने आधि को विशेष बनने दिया तब (वि+आधि) व्याधि हो जाती है। दूसरा है आधिभौतिक दुःख।तुम जा रहे हो, पीछे से मोटर ने तुमको धक्का मार दिया। यहाँ आधि के कारण तुमको धक्का नहीं लगा। तुम्हारा मन तो उसमें कोई साझेदार नहीं है। इसलिए उसको अलग गिनना पड़ता है। ऊपर से बिजली गिर गई। कई तरह के ऐसे दुःख होते हैं। महाभूतों से होने वाली अथवा दूसरे प्राणियों से होने वाली परेशानियाँ भी आधिभौतिक हैं। शेर ने झपट्टा मार दिया तुम्हारे ऊपर। भालू ने पकड़ कर रगड़ दिया, काट लिया; कुत्ते ने काट लिया। होगा तो सब दुःख मन और शरीर में ही। टक्कर शरीर को मोटर ने मारी और जब गिरे तो मन में दुःख हुआ। लेकिन फिर भी वह आध्यात्मिक इसलिए नहीं है कि मन और शरीर के द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ है, दूसरे महाभूतों से या दूसरे प्राणियों से उत्पन्न हुआ है। जब तक जीवन रहेगा तब तक

आधिभौतिक कष्टों को भी बचाया नहीं जा सकता। ये सारे आध्यात्मिक कष्ट और आधिभौतिक कष्ट कब शुरू हुए? जब तुमने शरीर को अपना आत्मा समझा। तो मोटर ने टक्कर मारी इसलिए तुमको दुःख नहीं हुआ; अज्ञान से तुमने शरीर को अपना स्वरूप समझ रखा है इसलिये तुमको दुःख हुआ, अन्यथा, शरीर को दुःख होता, मन को दुःख होता, तुमको तो दुःख नहीं होता! सबसे बड़ी गलती तुमने की कि तुम शरीर को अपना मैं समझ रहे हो। तभी कष्ट तुम्हें हो रहा है। जैसे आध्यात्मिक आधिभौतिक दुःख हैं वैसे ही आधिदैविक दुःख हैं; देवताओं द्वारा दुःख होता है – अतिवृष्टि हो गई, अनावृष्टि हो गई। किसी प्राणी ने तुम्हारे ऊपर यह दुःख नहीं डाला, मन के द्वारा भी प्रकट नहीं हुआ। ऐसे दुःख देवताओं के कोप से होते हैं। इन्हीं देवताओं के कोपों का सम्बन्ध ग्रह नक्षत्रों के साथ लगा देते हैं लोग, वह सब आधिदैविक दुःख में ही आएगा। आधिदैविक दुःख भी आएगा तो शरीर और मन के मार्फत; अनावृष्टि हो गई, भिक्षा नहीं मिली, शरीर को भोजन नहीं मिला इसीलिए शरीर को दुःख होगा। दुःख का केन्द्र तो हमेशा शरीर–मन ही हैं। जब तक जीवन है तब तक ये सभी तरह के कष्ट होने ही हैं, इनसे बचना सम्भव नहीं है। बार–बार दुःखों का दोष देखने से उन भोगों में प्रवृत्ति नहीं होगी जो संसार चक्र को चलाने में सहायक हैं। भोग बिना कार्य–करण–संघात के नहीं हो सकता। बिना स्थूल शरीर के भोग नहीं हो सकता। केवल सूक्ष्म शरीर से भोग नहीं हो सकता। भोगायतन स्थूल शरीर है। शरीर में बैठ कर के ही भोग कर सकते हैं। भोग करने के लिये शरीर और मन में तुम हो इसीलिए दूसरे प्राणी और देवता लोग दुःख भी दे सकते हैं। अतः शरीर के इन सब दोषों को देखने से वैराग्य हो सकता है। 'दोषानुदर्शन' का सम्बन्ध इनमें से प्रत्येक पद के साथ है – जन्मदोषानुदर्शनम्, मृत्युदोषानुदर्शनम्, जरादोषानुदर्शनम्–व्याधिदोषानुदर्शनम् और दुःखदोषानुदर्शनम्

अथवा यह भी समझ सकते हैं कि दुःखरूपी दोष का अनुदर्शन करना है।

'जन्मदुःखं जरादुःखं मृत्युदुःखं पुनः पुनः।
संसारसागरं दुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि।।'

आचार्य कहते हैं कि जन्म भी दुःख ही है, जरा भी दुःख ही है। एक तो अर्थ हुआ जन्म में दुःख है, दूसरा अर्थ हुआ कि जन्म स्वयं ही दुःखरूप है। मृत्यु स्वयं ही दुःखरूप है। ये सभी दुःख हैं। अतः प्रयास करना चाहिये कि इन सबकी पुनः प्राप्ति न होवे क्योंकि ये स्वरूप से ही दुःख हैं। जन्मादि में आकर सुख हो सकता है – इस आशा मात्र को सर्वथा छोड़ देना है। जैसे यहाँ वैसे ही देवलोक और वैकुण्ठ लोक में भी शरीरों की प्राप्ति है तो दुःख है ही। यह निश्चय होने पर ही अदृष्ट में भी सुख दृष्टि हटती है।

दोषानुदर्शन वैराग्य–उत्पत्ति के लिए बहुत ज़रूरी है, इसके बिना वैराग्य नहीं हो पाता क्योंकि इन चीज़ों की अच्छाईयाँ ही हमने सुन रखी हैं। वैराग्य होने पर ही प्रत्यगात्मा के प्रति सारी इन्द्रियों की प्रवृत्ति होगी। अर्थात् आँख से देखेंगे तो हमेशा रूप का बाध करके

सच्चिदानन्द को ही देखेंगे। कोई भी बात सुनेंगे तो शब्दमात्र ही सच्चिदानन्दरूप है इस दृष्टि से। नाम-रूपात्मक जगत् तो दुःखरूप है। जिस चीज़ में हम को दुःख की प्रतीति होती है उधर प्रवृत्ति रुकती है। संसार की ओर प्रवृत्ति तब तक रुक ही नहीं सकती जब तक उसको हम दुःख रूप नहीं समझते। दुःख रूप नहीं समझने के कारण ही नाम-रूप में प्रवृत्ति होती है, अधिष्ठान की तरफ वृत्ति नहीं जाती। वैराग्य होगा तो मन से संकल्प करेंगे तो परमात्मा का, बुद्धि से निश्चय करेंगे तब भी उसी का। जब सब तरह का प्रयास परमात्माभिमुखी होगा तभी परमात्मदर्शन संभव है।।८।।

अन्य भी ज्ञानके अन्तरंग साधनों का विधान करते हैं-

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।६।।

पुत्र, पत्नी, घर आदि में प्रेम तथा घनिष्टता (तादात्म्य) न रखना, इष्ट-अनिष्ट प्राप्तियाँ होने पर हमेशा चित्त सन्तुलित रखना (-ये ज्ञान हैं)।

ज्ञान साधना में और क्या आवश्यक है यह बताते हुए कहा 'असक्तिः'। सक्ति का मतलब संग।कुछ विषय तुम्हारे अन्तःकरण में चिपकते हैं। सब विषय सब लोगों के संग का हेतु नहीं होते। किसी को भोजन से तो दूसरे को कपड़ों से तो तीसरे को मित्रों से संग होता है। इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न रुचियों वालों को भिन्न-भिन्न विषयों से संग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के विषयों में जो प्रीति है उसको कहते हैं सक्ति और उन विषयों से प्रीति को हटाना होगा असक्ति। असक्ति और अनभिष्वंग करीब-करीब एक अर्थ वाले ही हैं फिर भी अंतर है:

'मेरा है' इतने मात्र से जो प्रेम हो जाता है वह सक्ति है जबकि इतना गहरा प्रेम कि उससे अपना भेद ही धूमिल हो जाये, वह अपने से अनन्य लगने लगे अभिष्वंग है। जिससे अभिष्वंग होता है वह मैं ही प्रतीत होने लगता है, उसके सुख-दुःख अपने ही सुख-दुःख लगते हैं। मेरा पुत्र बीमार है - यह सक्ति रहते अनुभव होगा जबकि अभिष्वंग होने पर पुत्र की बीमारी अपनी ही प्रतीत होगी। सक्ति का ही पुष्ट रूप अभिष्वंग है। सक्ति न करना असक्ति और अभिष्वंग न करना अनभिष्वंग है। इनके प्रधान विषय हैं पुत्र, पत्नी, घर आदि। घर में भी कइयों को अभिष्वंग हो जाता है। कोई दीवाल में कील ठोके तो उन्हें लगता है उनकी छाती में ही कील ठोक रहा है! बाल्टी ज़ोर से फर्श पर रखी जाये तो संगमरमर पर खरौंच लगे-न लगे, उन्हें लगता है उन्हें खरौंच लग गयी! किसानों को खेत से, व्यापारी को व्यापार से ऐसा ही अभिष्वंग हो जाता है। इसीलिये इनकी हानियों को भी ज्योतिषी मारकेशों का फल ही गिन लेते हैं क्योंकि इनके नुकसान से व्यक्ति को लगता है 'मैं ही नष्ट हो गया'। भाष्यकार तो यहाँ लिखते हैं कि अत्यंत प्रिय नौकर में भी व्यक्ति को आत्मबुद्धि अर्थात् अभिष्वंग हो जाता है। साधक को कहीं भी प्रीति, सक्ति और अभिष्वंग - ये नहीं

ही करने चाहिये।

'नित्यं च समचित्तत्वम् इष्टाऽनिष्टोपपत्तिषु'। इष्ट पदार्थ की उपपत्ति अर्थात् प्राप्ति होने पर हर्ष होता है। अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर शोक होता है। इन दोनों के अन्दर एक जैसा रहना समचित्तता है। हर्ष की चीज़ मिलने पर हर्षित न होना, दुःख की चीज़ मिलने पर क्रोध न करना, शोकग्रस्त न होना। समचित्तता लाने के लिए जब हर्ष का काल आवे तब हमेशा जानो कि सुख आया है तो चला जाएगा। आया है तो रहने वाला है नहीं, और जाने पर दुःख देगा। हर्ष का विषय आने पर सुख देता है जाने पर दुःख देता है, अनिष्ट पदार्थ आने पर दुःख देता है पर जाने पर सुख देता ही है! बुखार हुआ, उतर गया तो सुख होता है। एक चीज़ आकर सुख देती है जाकर दुःख देती है। दूसरी आकर दुःख देती है, जाकर सुख देती है। यदि विचार की दृष्टि से देखो तो जो जाकर दुःख देती है, वह तो अब हमेशा के लिए चली गई अतः उसके दिये दुःख का परिमाण बहुत बड़ा है, हमेशा आगे उसका दुःख रहेगा। दूसरी तरफ, दुःख आएगा तो थोड़ी देर के लिए रहेगा फिर चला जाएगा; उसके जाने का सुख हमेशा बना रहेगा! प्रायः आदमी इस प्रकार से विचार करता नहीं। सुख आता है तो उसके जाने की बात नहीं सोचता, सोचता है कि यह तो बना ही रहे। इसलिए हर्षित होता है। विचारशील सुख की प्राप्ति पर उसके जाने की तरफ ध्यान रखता है। ऐसा नहीं है कि वह समझता नहीं है कि इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हुई है। इष्ट पदार्थ की प्राप्ति तो हुई, लेकिन समचित्तता इसलिए रख पाता है कि ख्याल रखता है कि यह जायेगा। इसी प्रकार से जब अनिष्ट पदार्थ आता है तब वह यह ख्याल रखता है कि अनिष्ट पदार्थ भी जाएगा ही। अनिष्ट पदार्थ तो जाकर सुख देगा और जाने के बाद का समय ही अधिक होगा अतः उसके निमित्त सुख भी अधिक ही होगा। ऐसा विचार करने से उसकी समचित्तता बनी रहती है। हर्ष ने आकर सुख दिया, जाकर दुःख दिया। अनिष्ट ने आकर दुःख दिया, जाकर सुख दिया। दोनों ही सुख-दुःख दोनों देने वाले हैं, इसलिए समचित्तता संभव है। दुःख को दुःख समझता है, सुख को सुख समझता है पर उनके आने-जाने को याद रखता है इसलिए समचित्तता होती है। 'नित्यं' हमेशा ऐसी समचित्तता बनी रहे यह साधक का प्रयास है।

एक प्रश्न उठता है 'अनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु' कहा जबकि इस प्रकरण के प्रारम्भ में भाष्यकार ने कहा था कि यह संन्यासी का प्रकरण है। संन्यासी को तो पुत्र दार गृह आदि में सक्ति और अनभिष्वंग प्राप्त ही नहीं हैं क्योंकि उसके पुत्र दार गृह हैं ही नहीं, उसने छोड़ दिये हैं। फिर यहाँ ऐसा क्यों कहा? सक्ति और अभिष्वंग दोनों ही मन के संस्कारों से आते हैं। विषय के संग से तो आते ही हैं लेकिन विषय की स्मृति के संग से ही ज्यादा आते हैं। पुत्र दार गृह उसके हैं तो नहीं परन्तु पहले जो पुत्र दार गृह रहे हैं उनके संस्कारों से उत्पन्न सक्ति और अभिष्वंग दोनों ही संभव हो सकते हैं। संन्यासी को किसी ने आकर कहा 'तुम्हारा पुत्र मर गया' तो उसे दुःख की प्राप्ति हो सकती है या 'जो मेरा घर था वह जल गया' इससे दुःख हो सकता है। भूतपूर्व सम्बन्ध भी सक्ति और अभिष्वंग का कारण हो जाता

है। इसलिए यहाँ तात्पर्य है कि संन्यासी होने पर भी पुत्र दार गृह आदि में इस प्रकार की प्रतीति का तुरन्त अवरोध करे।, ये होने न पाएँ ऐसे दृढ संस्कारों का आपादन करके पहले से तैयार रखे। उसके लिए विचार करे, पूर्व जन्मों में न जाने कितने पुत्र दार गृह थे, उन सबसे सम्बन्ध-रहितता हो गई तो मेरा क्या बिगड़ा! पुत्रादि का सम्बन्ध तो होता ही छूटने के लिये है। वर्त्तमान के पुत्र गृह दार आदि के संस्कार ऐसे दृढ हो जाते हैं कि पूर्व वाले याद नहीं रहते। उनके संस्कार तो रहेंगे परन्तु कार्यकारी नहीं रहते। और अच्छा ही है, अन्यथा जीवन दूभर हो जायेगा! आगरे के अन्दर एक छोटा बच्चा कहता था 'मै उस गाँव में जाऊँगा उस गाँव का रहने वाला हूँ।' जब तक दो-चार साल का हुआ, किसी ने ध्यान नहीं दिया। उसके बाद घरवालों ने सोचा कि रोज़-रोज़ कहता है तो एक बार उस गाँव ले चलो थोडी़ देर के लिए। वहाँ ले गए उसको। जाते ही उसने कहा 'यह घर मेरा है।' अन्दर गया, कहा 'यहाँ अमुक चीज़ रखी हुई थी वह यहाँ है ही नहीं, क्या बात है?' तब तक कोई तीस-पैंतीस साल की औरत आई तो बच्चा बोला, 'अरे! मैं तेरा पति आया हूँ तू घूँघट नहीं निकाल रही?' सबको बडा़ आश्चर्य कि चार-पाँच साल का बच्चा कह रहा है 'तू मेरी पत्नी है'! वहाँ पर करीब-करीब सबको उसने पहचाना, सब चीज़ें कौन कहाँ कैसे थी, सब बतलाया। सब को जँच गया कि बात ठीक ही कह रहा है, पहले कभी नहीं आया पर सब जानता है। एक-दो दिन वहाँ रहा। उसके बाद हाथ जोड़ करके उन लोगों ने उस बच्चे के माँ बाप से कहा 'अब आप इसको ले जाइए। यहाँ व्यवहार तो चल ही नहीं सकता। तीस साल की औरत को कौन कहेगा कि चार साल के बच्चे की घरवाली है? ठीक है, आप लोग आ गए, बडा़ अच्छा है, होगा पूर्वजन्म का हमारा भाई, लेकिन अब तो यहाँ रखना व्यावहारिक नहीं है।'

पुराणों में तो और ज़बरदस्त कथाएँ आई हैं : नारद जा रहे थे, उनके साथ उनके मामा पर्वत भी थे। एक बकरे को दुकानदार ने बड़े ज़ोर से पीटा। नारद जी को हँसी आ गई। हँसी इसलिए आई कि वह बकरा उस दुकानदार का बाप था! उसी ने दुकान बनाई थी। अब बकरा बन गया था, कर्मफलों के कारण। दुकान से और पुत्र से अभिष्वंग था, पूर्व के संस्कार ज़ोर लगाते थे इसलिए बार-बार वहीं मुँह मारने जाता था। गेहूँ वगैरह जो रखा हुआ हो झट उस में मुँह मारता था। पुराने संस्कार उसको उधर ले जाते थे। लड़का तो इस बात को जानता नहीं था, बकरे को मार रहा था। कर्मफलों का विचित्र खेल देख कर नारदजी को हँसी आ गई। जिस दुकान को इसने बनाया, जमाया उसी दुकान पर आज एक मुँह भर कर गेहूँ ले तो दण्डा पड़ता है! यह संसार का व्यवहार है।

अतः संन्यासी को चाहिये कि विचार करे पूर्व जन्मों में कितने पुत्रों से हमने लाड-प्यार नहीं कर लिया। सब कहाँ चले गए? ऐसे ही यह भी पूर्व जन्म का ही पुत्र था क्योंकि संन्यास को शास्त्र नया जन्म बताते हैं। इस तरह विचार से निरन्तर उन संस्कारों को कमज़ोर बनाये ताकि वे कार्यकारी न हो सकें। अतः संन्यासी के प्रकरण में भी पुत्रादि के प्रति असक्ति कहना संगत है।।९।।

इन सबसे सक्ति और अभिष्वंग हटा लिया तो कहाँ लगाये? तब भगवान् कहते हैः-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।१०।।

वासुदेव से अन्य कुछ नहीं है, वही मेरी गति है इस निश्चय से मुझसे ही एकनिष्ठ प्रेम, शुद्ध स्थान में रहना तथा सांसारिक लोगों की गोष्ठियों में रुचि न होना (ये ज्ञान हैं)।

'मयि' मैं जो परमेश्वर हूँ, उसके अन्दर 'अनन्ययोगेन' अन्य अर्थात् दूसरा। 'मैं परमेश्वर से अन्य नहीं हूँ' इस तरह परमेश्वर के साथ ही एकमात्र अभिष्वंग अर्थात् भक्ति, प्रेम रखना है। आत्मबुद्धि केवल परमेश्वर में ही करनी है। यह निश्चय बनाना है कि परमेश्वर से अन्य कोई है ही नहीं। इतना ही नहीं, परमेश्वर से परे भी कोई नहीं है। अनन्य दोनों तरह से – मैं भी परमेश्वर से भिन्न नहीं, और जो यह संसार प्रतीत हो रहा है इसमें कोई भी चीज़ परमेश्वर से भिन्न नहीं। जैसे पंचकोषों की उपाधियों को दूर करने पर केवल ज्ञानमात्र हमारे में रह जाता है इसी प्रकार से संसार के अन्दर जो भी हमको दृश्य दीख रहा है उसमें दृश्यता, स्पृश्यता इत्यादि जितने इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान हैं अथवा मन-बुद्धि से होने वाले ज्ञान हैं उन सबको हटाने पर केवल सच्चिदानन्द मात्र ही रह जाता है। वह जो चिन्मूर्त्ति है उसके कारण ही हमें संसार-ज्ञान होता है। वेदान्त शास्त्र में जहाँ ज्ञान की प्रक्रिया बतलाते हैं वहाँ कहते हैं कि घट का अधिष्ठान जो चेतन, अन्तःकरण की वृत्ति का जब वही अधिष्ठान बन जाता है तब घटज्ञान होता है। चेतन की एकता को हम नहीं समझते, हम समझते हैं घड़ा दूसरा है जो ज्ञेय है, मैं दूसरा हूँ जो ज्ञाता हूँ। परन्तु वेदान्त शास्त्र समझाता है कि वह परमात्मा ही ज्ञेय रूप से उपस्थित है और ज्ञाता रूप से उपस्थित है, दोनों का अधिष्ठान एक ही है। इसको समझाने के लिए ही हर उपनिषत् सृष्टि-प्रक्रिया से प्रारम्भ करती है। संसार में केवल आत्मा ही था, सत् ही था, ब्रह्म ही था। यहीं से उपदेश प्रारम्भ करते हैं। फिर बताते हैं- उसने अपनी माया शक्ति के द्वारा सूक्ष्म महाभूतों से सूक्ष्म उपकरणों की सृष्टि की, फिर उन महाभूतों को मिला कर स्थूल सृष्टि की। स्थूल सृष्टि जानी जाती है, सूक्ष्म सृष्टि के द्वारा जाना जाता है। तमोगुण के द्वारा आच्छादित वही आत्मतत्त्व ज्ञेय बन गया और सूक्ष्म भूतों से बने इन्द्रिय-मन-बुद्धि उपाधियों से ज्ञाता बन गया। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों केवल परमात्मरूप ही हैं। इस तरह समझ आ जाता है कि मैं भी अनन्य हूँ और जो कुछ दीख रहा है वह भी अनन्य है। अर्थात् परमात्मा से भिन्न कहीं कुछ नहीं है। वही सबसे परे है और वही हमारा एकमात्र प्राप्तव्य है। वही परमधाम है वही अन्तिम गति है।

यह निश्चय करने से अव्यभिचारिणी भक्ति होती है। अन्यथा भक्ति व्यभिचरणशीला है। भूख लगी तो रोटी प्रिय हो गई, प्यास लगी तो पानी प्रिय हो गया। फिर ध्यान करने बैठे तो परमात्मा प्रिय हो गया। इसका नाम है व्यभिचारिणी भक्ति। और चीज़ों में भी हमारी स्नेह

की वृत्ति है और परमात्मा में भी है। प्रायः संसार में व्यभिचारिणी भक्ति ही रहती है। अव्यभिचारिणी भक्ति तब जब अगर भूख लगी है तो मालूम रहे कि परमात्मा ही अन्न रूप से विद्यमान है। अन्न को ब्रह्म रूप से जानो। वस्तुतः नाम-रूप का बाध करके अन्न को ब्रह्म जानो परंतु व्यवहार काल में नाम-रूप की उपाधि वाला ब्रह्म है, इस रूप से जानो। इस तरह हर दशा में प्रेम ब्रह्म से रहेगा, उस नाम-रूप से नहीं होगा। नाम-रूप वाला जो ब्रह्म है उसी से प्रेम होगा। इसी प्रकार जल नाम-रूप वाला जो ब्रह्म है उसी से प्रेम होगा। तब होगी अव्यभिचारिणी भक्ति अर्थात् हमेशा ब्रह्म को ही चाहते रहोगे। इसी को भगवान् ने कहा कि अनन्य योग के द्वारा मुझ परमेश्वर में ही एक जैसा प्रेम रखो। भक्ति अर्थात् प्रेम। इसीलिए भगवान् ने अपनी विभूतियाँ गिनाईं। विभूतियाँ भगवान् की हैं। अब उन विभूतियों से व्यवहार करते हुए सदा भगवान् से ही व्यवहार का अनुभव कर सकते हो। वहीं कहा था कि मेरे एकांश के अन्दर सारा जगत् स्थित है। एक अंश से मैं इसमें स्थित हूँ, बाकी अंशों से तो मैं अतीत हूँ। पुरुषसूक्त में भी यही कहा 'पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। एक पाद, एक छोटा-सा हिस्सा यहाँ है और बाकी सब इससे परे है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो, आधारांश से जगत् में स्थित हूँ और अधिष्ठानांश हमेशा अस्पृष्ट है। अतः वस्तुतः वही मोक्ष प्राप्त करने वालों का भाग है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने वालों का फिर यह जो एकांश है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परमात्मा एक है तो 'कोई सम्बन्ध नहीं रहता' मतलब क्या? सम्बन्ध जिस अविद्या के द्वारा था वह अविद्या निवृत्त हो गई इसलिए सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार, व्यवहार में और मोक्ष में, दोनों हालतों में भक्ति, प्रेम एकमात्र भगवान् से रखना अत्यावश्यक साधन है।

फिर तो, जहाँ हैं वहाँ भगवान् अधिष्ठान रूप से हैं ही तो क्या जहाँ-कहीं शहरों में, बाजारों में, साधक रहें? अतः भगवान् ने कहा कि भक्ति होने पर भी ज्ञान-निष्ठा के लिए आवश्यक है 'विविक्तदेशसेवित्वम्'। विविक्त अर्थात् पवित्र गंगा का किनारा, गुफाएँ, तीर्थ, आदि स्वभाव से ही शुद्ध स्थान होते हैं, और कुछ संस्कार से भी शुद्ध स्थान होते हैं। गोबर लीपी ज़मीन, गंगाजल छिड़की जगह, ये सब संस्कारों से शुद्ध स्थान हैं। सर्प व्याघ्र आदि जहाँ होंगे वहाँ भी भय इत्यादि की सम्भावना के कारण अशुचि आ जाएगी, पवित्रता नहीं रहेगी और जहाँ पर अशुचि के पदार्थ होवें वहाँ तो स्पष्टतः अशुचि है ही। ऐसे स्थानों का भी अधिष्ठान तो परमात्मा ही है पर अधिष्ठान होने पर भी ज्ञाननिष्ठा के पहले ये स्थान विक्षेप का कारण बन जाते हैं। स्वभाव या संस्कार से शुद्ध किया हुआ, सर्प व्याघ्र से रहित देश का ही सेवन करने का जिसका स्वभाव है शील है, स्वभाव से ही जिसकी उधर प्रवृत्ति होती है वही ज्ञान मार्ग का साधक है।

इसी प्रकार यदि परमात्मा सबके अन्दर विद्यमान है, तो दुष्ट पुरुषों के अन्दर भी वही परमात्मा है, संस्कृत पुरुषों के अन्दर भी वही परमात्मा है तो क्या सत्संग-कुसंग में भेदभाव छोड दें? इस पर भगवान् ने कहा कि जैसे अशुचि देश इत्यादि से विघ्न होता है वैसे ही

कुसंगियों के साथ रहने से विघ्न होता है। 'जनसंसदि अरतिः' जन का मतलब होता है प्राकृत लोग। हिन्दी भाषा में भी प्राकृत लोगों को जन जातियाँ कहते हैं। जैसे पैदा हुए हैं वैसे ही रहते हैं। संस्कार को प्राप्त करके तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बनेंगे पर जो संस्कार-हीन होंगे वे जन जाति ही रह जाते हैं। अतः ब्राह्मण के घर में पैदा होकर के भी जो संस्कार-रहित होगा उसको जन ही समझना चाहिए। इसलिए महाराजा मनु ने स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण तीन दिन तक भी यदि सन्ध्या-वन्दन नहीं करता है तो उसको शूद्र के समान समझो। इसी प्रकार जो वेदाध्ययन में श्रम नहीं करता है उसको शूद्रवत् समझो। संस्कार से तो व्यक्ति संस्कृत होगा अन्यथा जैसा पैदा हुआ है वैसा वह प्राकृत रहेगा, प्रकृति के द्वारा ही चलेगा। आजकल प्राकृत जन का ही बोलबाला है, नाम ही इसका जनतन्त्र है! संस्कृत लोगों का तो यह तन्त्र है नहीं, जनतन्त्र है। इसलिए इनके जो मुख्य पुरुष हैं वे भी संसद् में पहुँच कर वैसे ही एक-दूसरे की गर्दन पकड़ कर गाली गलौज करते हैं जैसे गलियों और सड़कों के ऊपर गुण्डे और बदमाश करते हैं। उनका दोष नहीं है, व्यवस्था ही बनायी है 'जनतन्त्र' की। भले आदमियों का तन्त्र तो स्थापित किया नहीं है। संस्कार शून्य लोग अविनीत होते हैं। संस्कार से मनुष्य विनय वाला होता है। इसलिए कहा है 'विद्या ददाति विनयं' विद्या वह है जो विनय दे। आजकल जिसको पढ़ाई कहते हैं वह अविद्या है। वह तो लोगों को उद्दण्ड बनाती है, विनीत नहीं बनाती। ऐसे लोग जहाँ एकत्रित होते हैं वह जनसंसद है, साधक का कर्तव्य है कि उसमें अरति रखे, उसके अन्दर उनके साथ रहने में कभी भी सुख का अनुभव न करे। क्योंकि ऐसे लोगों का संग करने से वैसे ही भाव अपने में आएँगे। जैसे अशुद्ध जगह से दूर रहना चाहिए वैसे ही भीड़भाड़ से भी दूर रहना चाहिए। सत्संग में भी इसकी कोशिश मत रखो कि भीड़ इकट्ठी हो वरन् संस्कारी लोग ही बैठकर सुनें-समझें यही प्रयास करो अन्यथा, लोग बैठते हैं चाहे कुछ भी बातें करते हैं, नाम सत्संग होता है पर चर्चाएँ सांसारिक होती हैं। पंजाब में इसका एक नाम रखा गया है 'रौनक'। मतलब क्या है? जनसंसद्, भीड़भड़क्का। इसके प्रति अरति रखनी चाहिये। जो संस्कृत व्यक्ति आएँगे वे शास्त्रीय बात करेंगे, शास्त्रीय बात पूछेंगे, उसका शास्त्रीय जवाब होगा। तब तो ज्ञान का परिपाक होगा। उनकी बातों के ऊपर सोच करके जब जवाब दिया जाएगा तब मनन होगा। इसलिए प्राकृत लोगों की भीड़भाड़ से दूर रहना चाहिए, संस्कृत पुरुषों की भीड़भाड़ से नहीं। संस्कृत पुरुषों की भीड़भाड़ ही नहीं होती है, यह बात दूसरी है! दो-चार भी होंगे तो लाभकारी रहेंगे।।१०।।

ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों का उपसंहार करते हैः-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

आत्माऽनात्म विषयक विवेक में निष्ठा और तत्त्वज्ञान के फल का चिन्तन- यह 'ज्ञान'

इस शब्द से कहा गया है। जो इससे विपरीत है उसे अज्ञान समझना चाहिये।

ज्ञान निष्ठा के लिए 'अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं' चाहिये। अध्यात्म, अर्थात् आत्म-विषयक जो ज्ञान वह अध्यात्म ज्ञान अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विवेक। जब तक आत्मा और अनात्मा का विवेक नहीं किया जाएगा कि अनात्मा क्या है और आत्मा क्या है तब तक आत्मा को समझना सम्भव ही नहीं है। सामान्यतः भी संसार में नियम है कि किसी भी वाक्य को जानने के लिए ज़रूरी होता है उस वाक्य में आए हुए हर पद का, हर शब्द का पहले अर्थ स्पष्ट हो जाए। जब तक पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा तब तक उनका वाक्यार्थ में विनियोग ठीक से नहीं हो पाएगा। पदार्थ-ज्ञान वाक्यार्थ-ज्ञान के प्रति कारण है। आत्मतत्त्व वाक्यार्थ है, पदार्थ नहीं। कोई पद उस तत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता। क्यों नहीं कर सकता? शब्द से हमको ज्ञान चार सम्बन्धों से होता है। जैसे अगर हम कहते हैं 'देवदत्त रसोईया है' तो हमें देवदत्त का ज्ञान क्रिया के साथ हुआ। हम यज्ञदत्त, भानुदत्त, इन्द्रदत्त को जानते हैं, जो रसोईए हैं, रसोई का काम करते हैं, इसलिए जैसे ही कहा जाता है 'देवदत्त रसोईया है', हम समझ लेते हैं कि जिस प्रकार की क्रिया यज्ञदत्त भानुदत्त इन्द्रदत्त करते हैं वैसी ही क्रिया करने वाला है। ज़ोर किस पर है? *वैसी* ही क्रिया। क्रिया हमने देखी भानुदत्त में, इन्द्रदत्त में और वैसी ही क्रिया का हमने देवदत्त में होना समझ लिया। जब कहा गया 'देवदत्त रसोईया है' तो हमको उसकी क्रियारूप विशेष बात का पता लगा। इसी प्रकार यदि कोई कहे 'देवदत्त ब्राह्मण है' तो यज्ञदत्त भानुदत्त इन्द्रदत्त ब्राह्मणों को जानते हैं, कि वे वेदादि पढ़ने वाले हैं, पवित्रता से रहने वाले हैं। वे गुण तो हमने देखे यज्ञदत्त भानुदत्त में, पर 'देवदत्त ब्रह्मण है' सुनने से हमें देवदत्त के विषय में पता चल गया कि वह वेदज्ञ है। एक जगह गुण देखे हैं, वैसे ही गुण उसमें समझ लिये। ऐसे ही 'देवदत्त शंख है' सुनकर क्योंकि हमने अनेक शंख देख रखे हैं इसलिये हम समझ लेते हैं कि शंखत्व जाति वाली वस्तु-विशेष का नाम देवदत्त है। संबंध से भी ज्ञान होता है। 'देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है।' हम यज्ञदत्त को और पितृपुत्र संबंध को जानते हैं तो हमको देवदत्त के बारे में पता लगा कि वह यज्ञदत्त से किस तरह सम्बन्धित है। जाति, गुण, क्रिया, सम्बंध, इन्हें एक जगह जानते हैं तो शब्द द्वारा दूसरी जगह जान सकते हैं। जितना भी विचार कर लो, शब्द से ये चार चीज़ें ही ज्ञात होती हैं। आत्मा अकेला होने से इसकी जाति नहीं। निर्गुण होने से इसमें गुण नहीं। निष्क्रिय होने से इसमें क्रिया नहीं। और इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं होने से इसमें सम्बन्ध भी नहीं। अतः किसी पद के द्वारा, किसी शब्द के द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उसके ज्ञान के लिए वाक्य ही अपेक्षित है।

वाक्य के द्वारा जो पता लगता है वह जाति गुण क्रिया सम्बन्ध से अतिरिक्त हो सकता है। 'इषे त्वा' बोल कर शाखा को काटो। इस वाक्य से एक नई बात का पता लगा; और कहीं भी ऐसा बोल कर शाखा नहीं काटी जाती देखी है। अतः इस वाक्य से हमको एक नया ज्ञान हुआ। इसी प्रकार से जीव हमेशा प्रत्यक् रूप से अपरोक्ष है। जीवात्मा प्रत्यक् रूप से

अर्थात् अन्दर से प्रकाशमान होते हुए, हमेशा अपरोक्ष है। 'मैं' इस रूप से हमेशा जानते हैं उसको। प्रत्यक् तत्त्व हमेशा अपरोक्ष ही है। इस सारी सृष्टि को चलाने वाला, बनाने वाला, इसकी स्थिति रखने वाला, इस सारी सृष्टि का एकमात्र कारण जो परमेश्वर, सारी सृष्टि का कारण होने से वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ है। हमेशा परोक्ष ही है। उसका कभी भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। उसका ज्ञान तो परोक्ष रूप से ही होता है। सृष्टि को देखकर इस अनन्त सृष्टि का बनाने वाला वह है यों उसे समझा जाता है। अतः उसका हमेशा परोक्ष ज्ञान है। महावाक्य बतलाता है कि जिसका तुम अपरोक्ष कर रहे हो वही ब्रह्म है। तुमने सारी सृष्टि के बनाने वाले परमेश्वर को परोक्ष रूप से समझा। अपने आप को तुमने अपरोक्ष रूप से समझा। महावाक्य तुमको इस बात को बतलाता है कि जिसको तुम सारी सृष्टि बनाने वाला समझ रहे हो वही तुम्हारा अपरोक्ष आत्म-तत्त्व है। जिस मैं को हम लोग जानते हैं उस मैं में एक तो प्रत्यक् तत्त्व है 'जानना', और दूसरा हिस्सा है जानने के सारे साधन, अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त, जो सब हमारे जानने में सहयोग करते हैं। हमको हमेशा यह मिला हुआ रूप अपरोक्ष *प्रतीत* होता है। 'मैं हूँ' अनुभव में 'मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ' ये ही सब प्रतीतियाँ होती हैं। आत्मा-अनात्मा का विवेक करने से पता लगता है कि जानने वाला तत्त्व और ये सारी उपाधियाँ बिलकुल अलग-अलग हैं। इसी का नाम है पदार्थ-शोधन। त्वम् पद का अर्थ उपाधियाँ और आत्मा मिल करके है। उसमें से जो ज्ञानस्वरूप नहीं है उन अनात्माओं को, उपाधियों को हटा देंगे तब आत्मा शेष रहेगा। इसी प्रकार से सृष्टि-स्थिति-लय-तिरोधान-कर्मफलप्रदान - ये सब परमात्मा की शक्तियाँ हैं, मायांश हैं। परमात्मा का चिदंश इन सबसे अलग है। जब इस बात को जानते हैं तब तत्-पदार्थ का लक्ष्य अर्थ पता लगता है। अन्यथा तत् और त्वम् की एकता किसी तरह से समझ में नहीं आती। मुझे अपनी पीठ पर चलने वाली चींटी का पता नहीं और चींटी की पाँयजेब की आवाज़ भी परमात्मा को पता लगती है! ऐसे अल्पज्ञ और सर्वज्ञ कैसे एक हो सकते हैं? यह समझ में ही नहीं आ सकता जब तक आत्मा- अनात्मा का विवेक करके पदार्थ न समझ लिये जायें। आत्मा और अनात्मा मिले हुए ईश्वर में भी हैं, जीव में भी हैं। माया और चेतन ईश्वर में मिले हुए हैं। जीव में अन्तःकरण और चेतन मिले हुए हैं। मिली हुई चीज़ें ही हमको उपलब्ध होती हैं। परन्तु जब दोनों में आत्मांश से अनात्मांश को दूर कर देते हैं तब जो शेष रहता है वह शुद्ध है। जैसे बहुत बड़े सोने के तेड़िए में और छोटी सी सोने की अँगूठी में समानता दीखती नहीं। पर जब तेड़िए का तेड़ियापना गला देते हैं, अँगूठी का अंगूठीपना गला देते हैं, तब जो बच जाता है वह एक ही है। इसलिये, आत्मविषयक ज्ञान अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विवेक यह नित्य मायने निरन्तर करते रहना है। निरन्तर इसलिए करते रहना है कि हमेशा हमारे सामने दोनों मिले हुए ही आएँगे। *'सामने'* पर ख्याल रखना; हमारे प्रत्यगात्मभाव में तो मिले हुए नहीं आएँगे लेकिन अन्तःकरण में अर्थात् मन में सामने आवें या आँखों के सामन आवें, जो भी सामने

आएगा उसके अन्दर उपाधि मिली हुई ही रहेगी। हर बार जब उपाधि से मिला हुआ आता है तब उपाधि को अलग करते रहना है। 'एक बार मैंने अलग कर दिया तो अलग हो गया' ऐसा नहीं समझना है, जब आए तब पृथक् कर समझते रहना है। ठीक जिस प्रकार, सोना जब आएगा तब किसी-न-किसी आकार में आएगा। हर बार उस आकार को भूलकर सुनार को सोने की अखण्डता देखनी पड़ती है। इसलिये कहा कि हमेशा आत्मा-अनात्मा के विवेक में लगे रहना पड़ेगा।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'। तत्त्वज्ञान - परमात्मा का ज्ञान, उसका अर्थ मतलब प्रयोजन; तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है बन्धन-निवृत्ति, मोक्ष की प्राप्ति। जब हम तत्त्वज्ञान के इस प्रयोजन की तरफ ध्यान लगाते हैं तभी उसके साधन के अनुष्ठान में लग सकते हैं क्योंकि नियम है कि बिना किसी प्रयोजन के मूर्ख भी कोई काम नहीं करता। कोई-न-कोई प्रयोजन सामने रहता है तभी काम करेगा। तत्त्वज्ञान का प्रयोजन जो मोक्ष उसका जब हम बार-बार विचार करेंगे तभी इन अमानित्व आदि साधनों में लगे रहेंगे। साधन सारे कठिन हैं। बिना साधनों के साध्य की सिद्धि मिलती नहीं। अतः साध्य से हमको क्या फायदा होगा - जब इसकी तरफ नज़र रखेंगे तब बड़े कठिन साधन को भी कर सकेंगे। अगर वह सामने नहीं रहेगा तो साधन में प्रवृत्ति नहीं होगी। सच्चिदानन्द परमात्मा ही हमारा स्वरूप है, उसके अन्दर कभी बन्धन का स्पर्श ही नहीं हो सकता है - इस स्थिति को प्राप्त करना ही तत्त्वज्ञान का उद्देश्य है।

तत्त्वज्ञानार्थदर्शन कैसे होगा? ये अमानित्व आदि जो ज्ञान-साधन बतलाए इनके अनुष्ठान से होगा। यहाँ भगवान् कह रहे हैं 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्', ये जो बीस धर्म हमने गिनाये हैं, ये ज्ञान हैं। प्रश्न होगा कि ये तो सब करने के धर्म हैं। ज्ञान में कुछ किया नहीं जाता और यहाँ जितनी बातें कही हैं, सब क्रिया की विषय हैं। फिर इन्हें ज्ञान कैसे कह दिया? उत्तर है कि ज्ञानोपाय होने से ज्ञान कहे गये हैं। ज्ञान की साधना में अमानित्वादि भावना का जब परिपाक होगा तभी ज्ञान-निष्ठा, जो मोक्ष को देने वाली है वह हो पाएगी। इनकी भावना के परिपाक का मतलब है कि हमेशा अन्तःकरण का व्यवहार इनके अनुसार ही होवे। अन्तःकरण का व्यवहार इनसे सम्बन्धित रहेगा तो अपने आप इन्द्रियाँ शरीर इत्यादि सब इसी प्रकार की प्रवृत्ति वाले रहेंगे। ज्ञान-साधनों की भावना का परिपाक पूरा होने पर ही मोक्षदायक तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान-निष्ठा उत्पन्न होती है और तभी संसार का उपरम होता है। जब हम मोक्षरूप फल को सामने रखते हैं तब इन सब साधनों में प्रवृत्ति होती है। अतः उसको सामने रखना भी ज्ञान-निष्ठा के लिए आवश्यक है। कई बार लोग कह देते हैं कि जो फल होना होगा, हो जाएगा, उसको क्यों सोचें? भगवान् स्पष्ट करना चाहते हैं कि कठिन साधना तब तक नहीं कर सकते जब तक उसके फल की तरफ दृष्टि न रहे। संसार के उपरम-रूपी फल की तरफ दृष्टि करेंगे तो साधनाओं के सारे कष्टों को सहन कर लेंगे, अन्यथा कर नहीं पाएँगे।

'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्', भगवान् कहते हैं ये सारे ज्ञान-साधना के परिपाक के लिए हैं

इसलिए इन्हें ज्ञान कहते हैं। ज्ञान के लिए होने से ज्ञान कहते हैं। अमानित्वादि ज्ञान नहीं हैं, लेकिन ज्ञान के लिए होने से ज्ञान कहे जाते हैं। ठीक जैसे कोई कठिन विषय आता है तो कहते हैं 'ध्यान दो, तब समझ में आएगा'। समझ में आना – ज्ञान है। ध्यान देना – क्रिया है। ध्यान देने से समझ में कैसे आएगा? अतः कहने वाले का भाव है कि ध्यान देने से ज्ञान सम्भव होगा। जैसे, हीरे को देखने में आँख टिकाओ तब हीरे की परीक्षा होती है। हीरे की परीक्षा आँख टिकाने से नहीं हुई, वह तो आँख के द्वारा जो तुमने *देखा* उससे हुई। वह ज्ञानस्वरूप है। पर अगर आँख को तुम टिकाओगे नहीं, चंचल रखोगे, तो उससे ज्ञान नहीं होगा, हीरे का पता नहीं लगेगा। इसलिए कह दिया जाता है 'आँख टिकाओ तो हीरे का पता चलेगा'। तात्पर्य है कि आँख टिकाओगे तब आँख से हीरे का ज्ञान होगा। इसी प्रकार अमानित्वादि साधन करने पर 'तत्त्वमसि' वाक्य का जो अर्थ है वह निष्ठा में परिणत होगा, इसलिए इन धर्मों को ज्ञान कहा।

'यद् अतः अन्यथा', जो इससे भिन्न है अर्थात् मानिता, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कुटिलता आदि हैं, जो बीस चीज़ें गिनाई इनसे जो भिन्न हैं; वे सब अज्ञान हैं अर्थात् अज्ञान के कार्य संसार को बढ़ाने वाला है। जैसे अमानित्वादि ज्ञान-निष्ठा के साधन हैं वैसे ही मान, दम्भ इत्यादि होने से ही तुम्हारा संसार दृढ होता जाएगा। यह भी हमेशा याद रखना चाहिए। जब प्रवृत्ति-मार्गी संसारी से बात होगी, जो संसार को बढ़ाना चाहता है, वह कहेगा 'अरे! अपनी इज़्ज़त अपने हाथ होनी ही चाहिए।' जो अज्ञान को बढ़ाना चाहते हैं अर्थात् अज्ञान के कार्य संसार को चलते रहने देना चाहते हैं वे इन बीस धर्मों से जो उलटी बातें हैं उन्हीं को कर्तव्य बतलाएँगे। अज्ञान अर्थात् अज्ञान का जो कार्य संसार है वह मान, दंभ आदि के द्वारा ही पुष्ट होता है। अतः इनकी अज्ञानरूपता याद रखकर ही साधक इनसे बचा रह सकता है। इस प्रकार भगवान् ने ज्ञान-निष्ठा के साधनों को प्रतिपादित किया।।११।।

ज्ञाननिष्ठा के साधनों को बतलाने के बाद इस ज्ञाननिष्ठा से जो जाना जाएगा अर्थात् ज्ञान का जो विषय ज्ञेय है उसे सत्रहवें श्लोक तक बतायेंगे। ये सब गुण तो रहेंगे ज्ञान के आश्रय में। जिस अन्तःकरण के अन्दर ब्रह्माकार वृत्ति बननी है उस अन्तःकरण के अन्दर ये अमानित्वादि सब रहेंगे। जिसका ज्ञान होगा वह कौन है? यह भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक बतलाते हैं–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

जो (मुमुक्षु द्वारा) जानने योग्य है, जिसे जानकर (वह) अमरता पाता है, वह बताऊँगा : जो प्रारंभ वाला नहीं है वह निरतिशय चैतन्य ज्ञेय है। उसे 'है' और 'नहीं है' नहीं कहा जाता।

'यत् ज्ञेयं', जो अमानित्वादि साधनों के द्वारा जाना जाएगा; जाना तो जाएगा 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य से, परन्तु इन साधनों का परिपाक होने पर। अर्थात् इन साधनों से हीन होने पर महावाक्य से मोक्षफलक ज्ञान नहीं हो सकता; 'तत् प्रवक्ष्यामि', उस ज्ञेय के

बारे में अब मैं 'प्रकर्षेण वक्ष्यामि' प्रवचन करता हूँ। एक, वचन होता है दूसरा, प्रवचन होता है। वचन है किसी बात को बतला देना और प्रवचन है उसके बारे में जितनी भी जानकारी आवश्यक होवे उसको खोल कर कह देना। भगवान् कहते हैं, मैं यहाँ ज्ञेय को केवल कहूँगा नहीं, प्रकर्ष से कहूँगा। शब्द के द्वारा जिसको नहीं बताया जा सकता उसको शब्द के द्वारा बताना है! परमात्मा किसी शब्द के द्वारा बताया नहीं जा सकता और फिर शब्दों के द्वारा ही उसका प्रतिपादन करना है। अतः जब तब प्रकर्ष नहीं किया जाएगा तत्त्व के बारे में बताने में, तब तक उसको बतला नहीं सकते। श्रोता की सुनने में प्रवृत्ति होवे इसलिए उसका फल बतला देते हैं–'यज्ज्ञात्वा अमृतमश्नुते' उसको जान लेने पर अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसको जानने के बाद फिर मृत्यु की प्राप्ति नहीं होती। कई तरह की मृत्यु हैं – धनहानि, जन-हानि, इनको भी मृत्यु कहा है। इनमें से किसी भी प्रकार की मृत्यु प्राप्त नहीं होती, उसको जानने के बाद कभी कोई हानि हो ही नहीं सकती। क्योंकि हानियाँ जितनी हैं, नुकसान जितने हैं सारे-के-सारे उपाधियों में हैं। उपहित का कभी नुकसान होता नहीं। अनादि काल से न जाने कितनी उपाधियाँ इसके ऊपर आती रहीं और जाती रहीं, परन्तु जैसे हज़ार साल तक भी बालू में पानी दीखता रहे फिर भी बालू के एक कण को भी गीला करता नहीं इसी प्रकार अनादि काल से सारी उपाधियों की प्रतीति प्रत्यगात्मा के ऊपर होती रही है पर प्रत्यगात्मा वैसा का वैसा शुद्ध है, उसमें कहीं कोई अशुद्धि कभी आई नहीं। अतः उपाधियों के आने और जाने से उसकी मृत्यु नहीं है। उसका कुछ भी नष्ट नहीं होता है। मृत्यु रहने वाली है अनात्म तत्त्वो में, उनसे अलग करके आत्मा को जान लेता है इसलिए फिर कभी मरता नहीं, फिर कभी किसी चीज़ का वियोग होता नहीं। क्यों नहीं होता? तो 'संयोगा विप्रयोगान्ताः'। जिसका संयोग होता है, कोई चीज़ मिलती है, उसीका वियोग होता है। आत्मतत्त्व अकेला अखण्ड होने से इसका कभी किसी से संयोग हो ही नहीं सकता क्योंकि उसके सिवाय कोई दूसरा है ही नहीं। संयोग नहीं होगा तो वियोग कहाँ से होगा! इसलिए कह दिया 'अमृतत्वमश्नुते'। यहाँ 'अश्नुते' का अर्थ है 'प्राप्त कर लेता है'; परन्तु यहाँ प्राप्त कर लेने का मतलब किसी नवीन अमृतत्व को प्राप्त करता है – ऐसा नहीं। केवल प्रकट हो जाने को ही प्राप्ति कहते हैं। जैसे अल्मारी के अन्दर हमने घड़ी रखी, अगले दिन ढूँढी, नहीं मिली। दो दिन के बाद कपड़े झटक रहे थे तो उसमें से घड़ी खट करके गिर गई। घड़ी अल्मारी में ही थी, परन्तु आदमी क्या कहता है? 'अरे! वह खोई हुई घड़ी मिल गई।' न वह खोई, न वह मिली, वह तो जहाँ थी वहाँ की वहाँ रही। परन्तु चूंकि उसको खोई हुई समझ लिया था इसलिए 'मिल गई' ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार से प्रत्यगात्मा हमेशा ही अमृत रूप है परन्तु अज्ञान के कारण हमने उसमें मृत्यु की कल्पना कर ली थी, वह कल्पना हट गई इसलिए कह दिया कि अमरता पा जाता है।

उस ज्ञेय तत्त्व के बारे में सबसे पहले कहा 'अनादिमत्', जिसका आदि होवे उसको आदिमत् कहेंगे और जिसका आदि न होवे उसको अनादिमत् – कहेंगे। आदिमत् अर्थात्

आदि वाला। अनादिमत् - जो आदि वाला न होवे। यह शब्द ज़रा खटकता है क्योंकि संस्कृत भाषा के अन्दर सामान्य नियम है कि जहाँ बहुव्रीहिसमास से काम चल जाता है वहाँ मतुप् प्रत्यय नहीं लगाते। 'अनादि' का ही मतलब है 'जिसका आदि नहीं', तो मतुप् लगाकर अनादिमत् क्यों कहा? इसलिए कुछ लोगों का कहना है कि इसको ऐसे समझना चाहिए 'अनादि, मत्परं ब्रह्म' मत् हो गया वासुदेवरूप। वासुदेव नाम की पराशक्ति जिसकी है वह हुआ मत्पर, वह ब्रह्म अनादि है। इस प्रकार से अर्थ बताते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि इस तरह शब्दों की व्यवस्था तभी ठीक होती जब 'अर्थश्चेत् सम्भवति' इसका कोई संगत अर्थ निकलता। जो बात इससे निकलेगी उसका भी तो कोई मतलब होना चाहिए। पर इस पदविभग से संगत अर्थ प्रकट होता नहीं है। क्यों? परमात्मा का उपदेश सारे विशेषों के प्रतिषेध से होता है। सारे विशेषों को नकारने से ही उस तत्त्व का उपदेश होता है। यदि उसको ही हम विशेषण के द्वारा बतलाएँगे, शक्ति के द्वारा बतलाएँगे तो अर्थ ही गड़बड़ा जाएगा, वह विवक्षित ज्ञेय नहीं रहेगा। शक्ति के साथ, गुण के साथ जो होगा वह उपास्य हो सकेगा, ज्ञेय नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो ज्ञेय है उसको आगे खुद कह रहे हैं 'न सत्तन्नासदुच्यते' उसको 'ऐसा है' इस प्रकार से या 'ऐसा नहीं है' इस प्रकार से नहीं कहा जा सकता। एक ही वाक्य में विशिष्ट वासुदेव रूप शक्ति वाला भी दिखावें, और फिर न 'सत्तन्नासदुच्यते' से विशेष का प्रतिषेध भी करें यह उचित नहीं। इसलिये बहुव्रीहि से काम चलने पर भी भगवान् ने मतुप् जोड़कर कह दिया ताकि श्लोक के लिये आवश्यक अक्षर पूरे हो जायें। कह सकते थे 'अनादि परं ब्रह्म' पर तब छन्दोभंग हो जाता इसलिए अनादिमत् कह दिया है। अतः 'मत्परं' यों अलग शब्द मानना ठीक नहीं है। बच्चा झा ने माना है कि यहाँ अतिशय या नित्ययोग मतुप् का अभिप्राय होने से सार्थकता है।

आदि अर्थात् कारण; जो पहले होता है वह कारण होता है। जो सबका कारण है, उसका कोई कारण कैसे हो सकता है! सबके कारण का कारण मानोगे तो अनवस्था दोष हो जायेगा। अर्थात् उसका फिर कारण मानना पड़ेगा, उसका फिर कारण मानना पड़ेगा, इस प्रकार कारण-परंपरा समाप्त ही नहीं होगी। अतः सब का जो कारण है वह कारण-रहित है, उसका कोई कारण नहीं है। वह है कैसा? 'न सत् उच्यते' ज्ञेय को है-रूप से नहीं कह सकते। जो प्रमाणों से जाना जाता है उसको 'है' शब्द से कहते हैं। रोटी है। रोटी को आँख से देखते हैं, मुँह से खाते हैं। जो प्रमाणों से अर्थात् ज्ञान के साधनों से, इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से, 'है' करके जाना जाएगा उसी को सत् कहेंगे। स्वयं 'है' को तो है नहीं कह सकते! ब्रह्म सत् है- यह नहीं कह सकते। ब्रह्म है- यह कहना वैसा ही है जैसे कोई कहे 'है है'। जिसमें सत्ता होवे उसे सत् या है कहते हैं। है का अर्थ सत्ता, वह जिस घड़े, कपड़े में हो उसे 'घडा है, कपडा है' यों है कहते हैं। स्वयं है मैं तो सत्ता नहीं होती, अतः उसे है भी कैसे कहा जाये! घड़े में हैपना है इसलिए घड़े को है कह सकते हैं। ऐसे ब्रह्म में कोई हैपना होवे तब उसको है कह सकते हैं। ब्रह्म में हैपना है नहीं। इसलिए कहा 'न तत् सत्'।

जो सत् नहीं हुआ करता है वह असत् होता है। या चीज़ है, या नहीं है। दो ही बातें लोक में प्रसिद्ध हैं। तब भगवान् कहते हैं 'न असत् तद् उच्यते' 'वह नहीं है' यह भी नहीं कह सकते! 'है' भी नहीं कह सकते और 'नहीं है' भी नहीं कह सकते। नहीं है नहीं कह सकते क्योंकि नहीं हैपना किसी चीज़ में होवे तब उसको 'नहीं है' कहेंगे। 'है' के अन्दर 'नहीं–हैपना' होता ही नहीं है। 'है' में न 'हैपना' है, न 'नहीं–हैपना' है इसलिए उसको न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं। सत्–असत् से कहीं व्यक्त–अव्यक्त भी समझते हैं, कहीं कार्य–कारण भी समझते हैं। वे सब भी यहाँ समझे जा सकते हैं परन्तु केवल वह अर्थ मानने से काम नहीं चलेगा। यहाँ तो 'हैपना' और 'नहीं–हैपना' ही लेना पड़ेगा, इनके द्वारा ब्रह्म को कहना नहीं बनता।

आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि खूब ज़ोर से कमर कस कर कण्ठरव से इस बात का उद्‌घोष किया कि 'मैं ज्ञेय को अच्छी तरह से कहूँगा' और कह रहे हैं कि 'न है न नहीं है कह सकते हैं'! तो क्या कहा उसके बारे में? कुछ नहीं कहा! उत्तर देते हैं 'अनुरूपम् एव उक्तम्' ब्रह्म को बताने का यही तरीका है, और कोई तरीका नहीं है। इसलिए उपनिषदों के अन्दर ज्ञेय ब्रह्म को बतलाते हैं तो 'नेति नेति' यह नहीं वह नहीं; 'अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम्', स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है; इस प्रकार सारे विशेषों का प्रतिषेध करके ही उसका निर्देश किया जा सकता है। क्यों? क्योंकि हमेशा वाणी का अगोचर है, वाणी का विषय है नहीं। अतः जो–जो वाणी का विषय है उस सबको जब मना करते हैं तब जो बच जाता है, जिसका निषेध नहीं किया जा सकता, वह अधिष्ठान ही ब्रह्म है। बड़ी उलटी बात लगती है कि ज्ञेय को 'अस्ति' शब्द से न कहा जाए। वह है, तभी उसे ज्ञेय बताया। अगर उसका निषेध ही करना है तो वह नहीं है इस रूप से ही कहा जाएगा। न 'है रूप' से कहो, न 'नहीं है' रूप से कहो तो वह ज्ञेय काहे का रहा! प्रश्न इसलिए उठता है कि हमारी बुद्धि ऐसी बनी हुई है कि अस्ति–नास्ति बुद्धियों से अनुगत होकर ही हमें सब चीज़ों का पता लगता है। इसलिए हमें लगता है कि जो ज्ञेय है वह या अस्ति–बुद्धि का विषय होना चाहिए, या नास्ति–बुद्धि का विषय होना चाहिए। परन्तु विचार करो- अस्ति–नास्ति बुद्धियों से अनुगत रह कर ही ज्ञान होता किसका है? जो इन्द्रिय–गोचर हो सके। जो तुम इन्द्रियों से जानते हो, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानते हो, उसे या है या नहीं है - इन रूपों में जानते हो। किन्तु परमेश्वर अतीन्द्रिय है इसलिए न 'है'- बुद्धि के द्वारा वह जाना जाएगा, न 'नहीं है' - बुद्धि के द्वारा जाना जाएगा। 'है' और 'नहीं है'- इन दोनों से अनुगत प्रतीति का वह विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय–गोचर नहीं है। जो इन्द्रिय का विषय होता है वही अस्ति–नास्ति बुद्धियों से अनुगत होता है। ब्रह्म वैसा नहीं है इसलिए 'न सत्तन्नासदुच्यते' यही उसके बारे में कह सकते हैं।

इन्द्रियों का विषय नहीं है इसीलिए ज्ञेय शब्द–प्रमाण से ही गम्य है। परमात्मा के विषय में जानने के लिये शब्द से अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं है, 'न सत्तन्नासदुच्यते'

कह कर यही बतला रहे हैं कि वह केवल शब्द-प्रमाण से गम्य है, अतीन्द्रिय विषय है। इसीलिए श्रुतियों ने भी 'जिसे तुम जानते हो उससे भी वह अलग है और जिसको तुम नहीं जानते उससे भी वह ऊपर है' -इस विलक्षण प्रकार से समझाया है। जैसे सूर्य का प्रकाश न प्रकाशित होता है, न प्रकाशित नहीं होता है, बस प्रकाशमात्र ही है। प्रकाशक उसको भ्रम से कहा जाता है। प्रकाश रूप से स्थित है इसलिए घट पट आदि का प्रकाश हो जाता है, अतः हम उसको प्रकाशक कह देते हैं परन्तु सूर्य उन्हें प्रकाश करने के लिए कुछ करता नहीं है। अथवा हम कब चलते हैं? जब खाली जगह हो; खाली जगह नहीं हो तब तो चल नहीं सकते! अतः कह दिया जाता है कि खाली जगह ने हमको चलाया। अकस्मात् बेध्याने अगर किसी गड्ढे में पैर चला जाये तो धड़ाम से गिरते हैं। क्यों गिर गए? खड्ढे ने गिराया अर्थात् खड्ढे में जो आकाश, खाली जगह है उसने गिराया। आकाश कुछ करता नहीं है, लेकिन आकाश है इतने मात्र से चलना-गिरना हो जाता है। जैसे सूर्य प्रकाशक नहीं है ऐसे ही सूर्य के ऊपर चाहे तुम दस हज़ार वॉट के लट्टू की रोशनी डाल दो तो भी सूर्य प्रकाशित नहीं होगा! वह न प्रकाशित है न प्रकाशक है, प्रकाशमात्र ही है। जो प्रकाशित नहीं है और जो प्रकाशक नहीं है उसको लोक में तो अन्धेरे का रूप मानते हैं। परन्तु सूर्य अन्धेरा भी नहीं है, प्रकाशरूप है। इसी प्रकार संसार के अन्दर कोई चीज़ 'है' या 'नहीं है' इन दो भागों में ही बँटती है। ब्रह्म सद्रूप है इसलिए दोनों भागों में बँटता नहीं है। इसलिए भगवान् जो कह रहे हैं वह श्रुति के अनुकूल ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'प्रवक्ष्यामि' कह कर फिर 'न है, न नहीं है कहा जाता है' यह कहना तो वैसा ही है जैसे यज्ञ के लिए तुमने वेदी तैयार कर दी, फिर कहा कि 'इसके आगे कोई परलोक है या नहीं, कौन जानता है!' जैसे यह वाक्य है ऐसे ही भगवान् का वाक्य लग रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है क्योंकि श्रुति उसको विदित से और अविदित से अन्य बतलाती है फिर भी अवश्य विज्ञेय बतलाती है। 'परलोक है या नहीं कौन जानता है' इस तरह का जो वेद वाक्य है वह भी प्रसंगानुसार उचित अर्थवाला ही है, विरुद्धार्थक नहीं है वरन् विधि के लिये अपेक्षित अर्थवाद है। किंच परमात्मा को सत्-असत् शब्दों से कहना नहीं बनता यह युक्ति-संगत भी है। सारे ही शब्द अर्थ के प्रकाशन के लिए ही प्रयुक्त हैं और सुनने वाला भी शब्द से अर्थ को ही समझना चाहता है। चूंकि जिन चार चीज़ों से शब्द का अर्थ जान सकते हैं वे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध ब्रह्म में हैं नहीं इसलिए कहा कि 'इसको न है कह सकते हैं, न नहीं है कह सकते हैं।' इसलिए भगवान् ने प्रतिज्ञापूर्वक ब्रह्म का उचित ही प्रतिपादन किया है। जिसको ज्ञेय कह रहे हैं वह वाणी का विषय भी नहीं है और मन का विषय भी नहीं है। न मन उसको जान सकता है, न वाणी उसको बता सकती है। इसलिए उसको सत् और असत् दोनों से भिन्न बतलाना ही ठीक है। जो चीज़ दृश्य होती है, सामने होती है, उसी के बारे में है या नहीं है ये बुद्धियाँ होती हैं। सामने चाहे मन के हो, चाहे इन्द्रियों के हो; 'स्वर्ग है' आदि मन के विषय हैं, इन्द्रियों के विषय

तो हैं नहीं, स्वर्ग दीखता तो है नहीं, लेकिन मन से स्वर्ग का ज्ञान है। परमात्मा तो जानने वाला है इसलिए वह कभी भी जानने का विषय नहीं बनता। जानने का विषय नहीं बनता इसलिए सत्–असत् पदों से वाच्य नहीं है। प्रत्यक् स्वरूप अर्थात् जानने वाला है, उसको जान नहीं सकते। फिर उसको ज्ञेय क्यों कहते हैं? उसके बारे में अज्ञान दूर करना ज़रूरी है इसलिये उसे ज्ञेय कहते हैं। जानने वाला – इस रूप से ही उसको जाना जाता है। 'जानने वाला' हमें हमेशा 'मैं' इस प्रतीति में प्रकट होता है। 'मैं' की जब प्रतीति होती है तब जानने वाले की ही प्रतीति है। अतः वह सत् और असत् बुद्धियों का विषय नहीं है, वरन् प्रत्यगात्मरूप से ही उसको जाना जाता है, अन्य रूप से नहीं। पहले जानने वाला होगा तब आगे जानना इत्यादि सब कार्य होंगे, जानने वाला नहीं होगा तो न जानने का कार्य हो सकता है और न जानने का विषय बन सकता है। इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयो निश्चितिस्तथा।
यत्सान्निध्यात् प्रसिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते।।

चाहे प्रमाण हो, चाहे प्रमाता हो, चाहे प्रमेय हो, चाहे 'निश्चितिः' अर्थात् प्रमिति हो– ये सब उस परमात्मा का प्रकाश होने पर ही प्रकाशित होते हैं अर्थात् प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा पर ही निर्भर रहते हुए प्रवृत्त होते हैं। इसलिए प्रमाण प्रमेय इत्यादि की तो आदिमत्ता हो जाती है। हमने जब आँख से देखा तब आँख प्रमाण हुई। हमने देखा तब हम प्रमाता हुए। घड़े को देखा तब घड़ा प्रमेय हुआ। ये सब तो आदि वाले हैं। परन्तु जिसके प्रकाश से, जिसके होने से ये सब हुए, उसका आदि कोई हो ही नहीं सकता! इसलिए कहा कि जो सत् और असत् दोनों से परे है वह 'अनादिमत्' है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं है, वह हमेशा विद्यमान ही है। जो किसी कारण से उत्पन्न होगा, वही आदि वाला होगा। जो हमेशा है ही, न कभी 'था' होता है, न कभी 'होगा' होता है, वह आदि वाला कैसे माना जाये! बुद्धि से वह अगम्य है और हमेशा है ही। कारण की अपेक्षा उसको नहीं, उसकी अपेक्षा सबको है। वही परम ब्रह्म है। इस प्रकार से भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की थी वह संक्षेप में पूरी कर दी।।१२।।

जब परब्रह्म को उक्त ढंग से कहते हैं तब प्रायः लोग उसे शून्य मानने को तैयार हो जाते हैं! अनेक विद्वान् भी इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि बौद्धों के शून्यवाद का ही वैदिक संस्करण अद्वैतवाद है! किन्तु परमात्मा शून्य नहीं है। एक तो वह प्रत्यगात्मा है, प्रत्यक्स्वरूप से स्फुरता रहता है, उसका निषेध संभव ही नहीं है। दूसरा, वह इन्द्रियों का व मनका प्रवर्तक है, उसी से शक्ति पाकर ये व्यवहार करते हैं अतः शून्य नहीं है। तीसरी बात, संसार को सत्ता और ज्ञान उसी से मिलते हैं। यदि वह शून्य हो तो सारा संसार 'है' न लगकर शून्य लगे और संसार का ज्ञान भी न हो। चौथी बात, वही संसार का शासक है, यदि उसका प्रशासन न हो तो संसार व्यवस्थित मर्यादाओं में अनवरत नहीं चल सकता।

इन कारणों से परमात्मा शून्य होना सम्भव नहीं। यह प्रसंग प्रारंभ करते हुए भगवान् पहले समझाते हैं कि सब प्राणियों की इन्द्रियों के और मनके द्वारा वह परब्रह्म ही समझा जाता है। उपाधियों से युक्त होकर उसकी प्रतीति होने के कारण यह नहीं कह सकते कि वह नहीं है। अर्थात् सत्-असत् रूप से कहा न जा सकने पर भी उसे जानने का तरीका है: उपाधि-समेत उसकी उपस्थिति सबके लिये सुलभ है। इस तरह मिलने से वह शून्य है यह शंका मिट जाती है। उसका उपाधि-रहित रूप समझ आनेसे वह अमृतत्व देता है अतः केवल उसे उपाधियुक्त जानना पर्याप्त नहीं किन्तु सोपाधि समझने से उसके शून्यत्व की संभावना भी मिट जाती है और विवेकपूर्वक उसे जानने का स्थल भी मिल जाता है। इस दृष्टि से उसकी उपाधि का कथन करते हैं–

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

वह परब्रह्म सब ओर हाथ-पैरों वाला, सब ओर आँख-सिर-मुखों वाला, सब ओर कानों वाला है तथा प्राणिदेहों में जो है उस सबको भली भाँति व्याप्त कर रहता है।

'सर्वतः' अर्थात् सर्वत्र जहाँ-कहीं भी 'पाणि' अर्थात् हाथ, 'पाद' अर्थात् पैर हैं, सब उसी के हैं। चाहे पशु-पक्षी हों, कीट-पतंग हों, उनके अन्दर क्रिया और ज्ञान परमेश्वर से ही होते हैं। पाणि-पाद से क्रियाशक्ति और अक्षि-श्रुति से ज्ञानशक्ति का संग्रह है। जो भी प्राणी है उसको कुछ-न-कुछ ज्ञान होता है, उसमें कुछ-न-कुछ क्रिया ज़रूर होती है। बिना ज्ञान व क्रिया का कोई भी प्राणी नहीं हो सकता। सारे पाणि-पादों वाला है वह कूटस्थ ही। सारे प्राणियों के इन्द्रियों और मन की उपाधि के द्वारा क्षेत्रज्ञ के अस्तित्व का निर्णय होता है। सब इन्द्रियों से जाना वह जा रहा है जो जानने वाला क्षेत्रज्ञ वहाँ है। क्षेत्रज्ञ एक है, क्षेत्रज्ञ अलग-अलग नहीं हैं। पहले ही कह आए हैं भगवान् 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', एकमात्र मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। सारे प्राणियों के इन्द्रियों व मनों के द्वारा, उन उपाधियों के द्वारा जो, व्यवहार हो रहा है उससे क्षेत्रज्ञ के अस्तित्व का पता लगता है। वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है क्षेत्र की उपाधि से। क्षेत्र हाथ-पैर इत्यादि अनेक प्रकार से भिन्न है। क्षेत्र तो भिन्न-भिन्न हैं और क्षेत्रज्ञ एक है। उपाधियों की एकता नहीं कह रहे हैं, उपाधियाँ तो अलग-अलग हैं, पर उपाधि के द्वारा ज्ञान-इच्छा-क्रिया करने वाला क्षेत्रज्ञ एक ही है। उपाधि से जो भेद हुआ करता है वह उपहित के अन्दर वास्तविक भेद को लाता नहीं। अपने में देख लोः आँखें अलग हैं, हाथ अलग हैं, इसलिए हाथों से ग्रहण करने वाला मैं अलग हूँ और आँखों से देखने वाला मैं अलग हूँ, परन्तु क्या सचमुच में हमारे अन्दर फर्क है? मैं वस्तुतः एक होते हुए भी देखने वाला, पकड़ने वाला, चलने वाला, सुनने वाला- इन शब्द और प्रतीतियों का विषय हो जाता हूँ परन्तु इन उपाधियों के द्वारा मेरी अद्वितीयता खण्डित नहीं होती। इसलिए क्षेत्र रूपी उपाधि के भेद से जो क्षेत्रज्ञ में विशेषताएँ मिल रही हैं वे सारी मिथ्या ही हैं,

वास्तविक नहीं हैं। इन सब विशेषों को हटाने से ही जो तत्त्व प्रकाशित होता है उसे भगवान् ने यहाँ ज्ञेय कहा है। किन्हीं खास हाथ-पैर आदि वाला तत्त्व भगवान् ने ज्ञेय नहीं कहा वरन् जहाँ-कहीं हाथ पैर से क्रिया हो रही है, आँख-नाक से देखना-सूँघना हो रहा है वहाँ सर्वत्र जो तत्त्व है उसी को ज्ञेय, जानने लायक बताया। सब तरफ उसी की आँखें हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, सिर हैं, मुख हैं। कान भी उसके सर्वत्र हैं।

उपाधि के द्वारा उसके मिथ्या रूप को बतलाया जा रहा है ताकि उसके न होने की शंका निवृत्त हो जाये। अगर वह न होता तो इन उपाधियों के द्वारा क्षेत्रज्ञ न बनता। जैसे यदि मैं न होता तो आँख के द्वारा देखने वाला नहीं बनता। उसी प्रकार यदि क्षेत्रज्ञ नहीं होता तो आँख-कान के द्वारा द्रष्टा-श्रोता कैसे बनता? इसलिए उपाधि के द्वारा जो प्रतीत होने वाला मिथ्या रूप है वह क्षेत्रज्ञ की वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए आवश्यक है। इसीलिये उसे क्षेत्रज्ञ कहा। है तो वह क्षेत्र के बिना भी सच्चिदानन्द, पर उसका परिचय कराने के लिये उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित हो जाता है। जैसे देवदत्त रसोईये का काम कर रहा है। कोई पूछे 'देवदत्त कौन है?' तुम कहते हो 'वह रसोईया देवदत्त है।' ऐसा नहीं कि रसोई बनाना छोड़ दे तो वह देवदत्त नहीं रह जायेगा! रसोई बनाना उसमें आगन्तुक है, वास्तव में उसके स्वरूप का वह भाग नहीं है, किन्तु क्योंकि अभी वह रसोई बना रहा है इसलिये अभी उसका यही परिचय ठीक है। इसी प्रकार से क्षेत्र के बिना भी क्षेत्रज्ञ तो वैसा का वैसा है पर क्षेत्र की उपाधि से उसको बतलाते हैं। वह क्षेत्र को जानने वाला है, क्षेत्र से क्रिया करने वाला है – इस प्रकार उसका औपाधिक रूप बतलाते हैं। वस्तुतः तो वह उससे अलग ही है। इसीलिए साम्प्रदायिकों ने कहा है 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' प्रपंचरूप उपाधि से विलक्षण वस्तु का प्रतिपादन पहले उपाधि के आरोप फिर उसके अपवाद द्वारा ही किया जा सकता है। जैसे परिचय जिसका करा रहे हो वह तो केवल आदमी है, बाकी सब तो उसकी उपाधियाँ हैं। पर उपाधि के मार्फत ही परिचय कराया जाता है। आदमी सामने खड़ा है, दीख ही रहा है, फिर भी कहते हैं 'ज़रा इसका परिचय करा दीजिए'। इसलिए परिचय का मतलब है, उसके बारे में कुछ बताईए। 'बारे में' जो बतलाओगे वह तो उसके ऊपर आरोपित किया हुआ है, आदमी तो आदमी है, रसोईया थोड़े ही हो जाता है! रसोई बना लेता है इसलिए रसोईया कह देते हो। वह कुछ *बना* तो नहीं, वैसा का वैसा रहता है। रसोईया बनने से उसके सींग तो निकल नहीं आयेंगे! आदमी ही बना रहता है, रसोई बनाने से उसके ऊपर रसोईयापने का अध्यारोप हो जाता है। आरोप है इसलिए मिथ्या है, चाहे जब वह रूप उतर जाएगा। रसोईया, वेदपाठी आदि रूप तो कभी-भी उतर जाएगा, व्यक्ति बना रहेगा। परन्तु फिर भी परिचय किससे कराओगे? मिथ्या उपाधि के द्वारा ही करा सकते हो। इसलिए साम्प्रदायिकों ने कहा कि परमात्मा के ऊपर सारी उपाधियों का पहले आरोप करते हैं ताकि परिचय होवे। इसके बिना परिचय नहीं हो सकता। जैसे सामने दीखने मात्र को परिचय नहीं मानते वैसे प्रत्यग्रूप-स्फुरण परमात्मा का परिचय नहीं है, परिचय के लिये उपाधि-आरोप चाहिये। जब अध्यारोप करके उसका परिचय

हो गया तब अध्यारोपित हिस्सा मिथ्या होने से हटा दो, उसका अपवाद कर दो क्योंकि परिचय तो अब हो चुका, वह क्या है यह तुमको पता लग चुका। अध्यारोप हटा देने पर जो प्रपंच-रहित है उसका बोध हो जाता है।

इसलिए उस तत्त्व का परिचय कराने के लिए भगवान् कह रहे हैं कि सर्वत्र जिसके हाथ, पैर, कान, नाक, अन्तःकरण हैं अर्थात् इन सबके द्वारा जो जानता-करता है वह ज्ञेय है। सारे शरीरों के अवयवों के द्वारा ज्ञेय का सद्भाव निश्चित होता है। ये ही सब ज्ञेय-सद्भाव के लिंग हैं। आदमी ज़िन्दा है या मर गया, यह कैसे देखते हो? हाथ की अंगुलियों को पकड़ते हो। अगर उसकी हाथ की इन्द्रिय प्रतिक्रिया करती है तो कहते हो कि अभी ज़िन्दा है। नाक के सामने हाथ रख कर देखते हो। आँख को खोल कर उसमें रोशनी डाल कर देखते हो। यदि इनमें से किसी में भी तुमको प्रतिक्रिया मिलती है तो तुमको निश्चय हो जाता है अभी ज़िन्दा है। ज्ञेय जो क्षेत्रज्ञ, उसके सद्भाव में लोक में भी ये ही सब लिंग माने जाते हैं। कार्य तो ये अपने-अपने करते हैं। हाथ तुम्हारी अंगुलियों के प्रति प्रतिक्रिया करेगा, आँखें तुम्हारी रोशनी के प्रति प्रतिक्रिया करेंगी। प्रतिक्रिया करने वाला ज्ञेय नहीं है, परन्तु वे प्रतिक्रिया करेंगे कब? जब ज्ञेय वहाँ होवे, क्षेत्रज्ञ होवे। अन्यथा प्रतिक्रिया नहीं होगी। दृष्टान्त से समझ लो- बिजली आ रही है या नहीं? लट्टू का खटका दबाते हो, लट्टू जल जाता है तो कहते हो बिजली है, अथवा पंखे का खटका दबाते हो, पंखा चल जाता है तो कहते हो बिजली है, इन क्रियाओं से तुम बिजली का अनुमान करते हो, बिजली है, परन्तु बिजली को साक्षात् तो नहीं जान रहे हो। इन लिंगों के द्वारा उसका दृढ निश्चय हो जाता है, सन्देहात्मक नहीं, निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि बिजली है क्योंकि बिजली नहीं होती तो ये अपने-अपने काम कैसे करते। इसी प्रकार ज्ञेय जिसको परम ब्रह्म कहा है, यदि वह न होता तो कहीं भी हाथ-पैर-आँख-कान काम नहीं करते। करते हैं, इसलिए क्षेत्रज्ञ है।

'लोके' अर्थात् प्राणियों के शरीरों में 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर इन सबको व्याप्त करके रहता है। जैसे खटके से लेकर लट्टू पंखा इत्यादि तक तुमको बिजली की कोई क्रिया नहीं दीखती परन्तु फिर भी जानते हो कि खटके से लेकर पंखे तक बिजली है, व्याप्त करके रह रही है। ऐसा नहीं कि खटके में बिजली, और लट्टू में बिजली, बीच में तार में नहीं है! इसी प्रकार से मनुष्य की चक्षु इन्द्रिय के अन्दर बत्ती डाल कर प्रतिक्रिया दीखी तो यह नहीं समझते हैं कि इसी आँख में ज्ञेय है, परब्रह्म है, वरन् सारे शरीर में है-ऐसा ही बोध होता है। सारा ज़िन्दा है- यह बोध होता है। खाली आँख ज़िन्दा है ऐसा बोध तो नहीं होता! ठीक इसी प्रकार से दो आँखों के बीच में तुमको कुछ नहीं दीखता है अतः यह नहीं समझ लेना कि इस आँख और उस आँख में ही क्षेत्रज्ञ है, 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' बीच का जो हिस्सा है उसमें भी क्षेत्रज्ञ है ही! बहुत-से लोगों के मन में शंका रहती है कि जीवित लोगों के शरीरों में तो क्षेत्रज्ञ होगा, क्योंकि वहाँ जानना और करना होता है, परन्तु अन्यत्र तो नहीं रहता होगा? तो इस सन्देह को हटाने के लिए भगवान् ने कहा

'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। सबको समव्याप्त करके वह रहता है।।१३।।

वेदान्त तत्त्व का उपदेश करने वाले की हमेशा यह कठिनाई रहती है; कैसे बतलाएँगे? उपाधि के द्वारा बताएँगे। जब उपाधि के द्वारा बतलाएँगे तब सामने वाले को झट लग जाता है कि उपाधि वाला ज्ञेय तत्त्व है। उपाधि के बिना बतला नहीं सकते और उपाधि से बतलाने पर उपाधि वाले तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। इसलिए अध्यारोप के बाद तुरन्त अपवाद करना ज़रूरी हो जाता है। भगवान् ने कहा कि वह सब जगह हाथ-पैर वाला है इसलिये अब कहते हैं:-

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

(बाह्य-आन्तर) सब इन्द्रियों के व्यापारों द्वारा आभासित होने वाला (वह ज्ञेय तत्त्व वस्तुतः) सब इन्द्रियों से रहित है। सब सम्बन्धों से व गुणों से रहित रहते हुए ही सबको धारण करता है और गुणों को जानता है।

'सर्वेन्द्रियगुणाभासं', आँख-कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ, और बुद्धि मन आदि अन्तःकरण इन सबमें ज्ञेय की उपाधि होना एक जैसा है, ये सभी ज्ञेय की उपाधियाँ हैं। अन्तःकरण की उपाधि के दरवाज़े से ही श्रोत्रादि उपाधि होते हैं। पहले अहंकारात्मिका उपाधि आएगी, फिर मन की उपाधि आएगी और तब आँख कान की उपाधि आएगी। उपाधिरूप जो सारी इन्द्रियाँ, उनके गुण - निश्चय करना, संकल्प करना, सुनना, बोलना इत्यादि; कर्मेन्द्रियों का व्यवहार, ज्ञानेन्द्रियों का व्यवहार, बुद्धि से निश्चय का व्यवहार और मन से संकल्प का व्यवहार, इन सबके द्वारा 'अवभासते' उसका परिचय होता है, अवभास होता है अर्थात् सारी इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा वह ज्ञेय व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। इन्द्रियों के सभी गुणों से वह प्रकाशित होता है। आँख देखती है तो पता लगता है कि ज्ञेय है तब देखती है। हाथ पकड़ता है तो पता लगता है कि ज्ञेय है तो हाथ पकड़ता है। जैसे पूर्व श्लोक से विश्वरूप की प्रतीति बतलाई थी वैसे ही जब हमारी आँख देखती है तब तुरन्त पता लगना चाहिए कि परमात्मा है तब आँख देख रही है। अभी तो हम सोचते हैं कि हमारी आँख देख रही है या हम देख रहे हैं। हम अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति; पर वह भी देखती कब है? जब उसमें ज्ञेय है। साधना की दृष्टि से, पहले श्लोक के द्वारा सर्वत्र विश्वरूप को देखना है और जब अपनी आँख देखे, कान सुने, तब तुरन्त यह पता लगाना है कि वह ज्ञेय को सिद्ध कर रहा है, ज्ञेय है तब ये व्यापार हो रहे हैं। इसलिए कहा 'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'।

'अवभास' कह कर भगवान् जो ध्वनित कर रहे हैं उसको भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट करते हुए कहा 'सर्वेन्द्रियव्यापारैः व्यापृतम् इव' व्यापृत *की तरह* है, व्यापृत नहीं है अर्थात् व्यापार वाला बनता नहीं है, प्रतीत होने पर भी नहीं बनता है। इसके लिए भगवान् गौडपादाचार्य ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया है : जैसे मशालची मशाल का खेल दिखलाता है

तो मशाल को नचाता है, उससे आठ संख्या, शून्य संख्या आदि संख्याएँ बनती हैं। मशाल इन संख्याओं को बनाता हुआ भी, दीखते हुए भी, क्या संख्याओं को बनाता है? वहाँ संख्या तो बनती नहीं है। केवल तुम्हारी आँख के परदे को उतनी जल्दी विवेक करने की अशक्ति के कारण संख्या प्रतीत होती है। या आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखो : एक चक्र के ऊपर अमुक परिमाण में सातों रंग लगा दिए जाते हैं, फिर उसको जब तेज़ी से घुमाया जाता है तब तुमको सफेद रंग दीखता है। कोई दूसरा रंग नहीं दीखता, सफेद रंग दीखता है। उस समय दीखता है कि 'यह चक्र सफेद है।' जैसे ही उसको चलाना बन्द करो, फिर सात रंग का दीखता है, वहाँ सफेद रंग कहीं नहीं दीखता! वहाँ चलते समय भी सात रंग ही थे, सफेद रंग बना नहीं है, तुम्हारी आँख के परदे में इतने शीघ्र चलने वाले का विवेक करना सम्भव नहीं है इसलिए तुमको सफेद का भ्रम हो गया। सिनेमा में ऐसा भ्रम निरन्तर है : अगर फिल्म को खोल कर देखो तो कुछ नहीं चलता दीखता पैरों की दस छापें आती हैं, बस। अलग-अलग ऊँचाई पर पैरों के दस चित्र हैं पर जब तेज़ी से रील चलाई जाती है तब तुमको लगता है कि पैर चल रहा है क्योंकि तुम्हारा आँख का परदा विवेक नहीं कर पाता। इनमें से किसी भी दृष्टान्त से समझो; इसी प्रकार ज्ञेय आँख से देखता हुआ प्रतीत होता है, वास्तव में देखता नहीं है, देखने वाला नहीं बनता। इसीलिए श्रुति ने कहा 'ध्यायतीव'। कभी ध्यान करने वाला प्रतीत होता है। 'लेलायतीव' कभी चंचल प्रतीत होता है, परन्तु न वह ध्यान करता है, न चंचल बनता है।

कोई कहे कि ऐसा ही क्यों न मान लेवें कि वह करता है, करने वाला है? इस सन्देह को हटाने के लिए भगवान् ने कह दिया 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' सारी इन्द्रियों के द्वारा क्रिया करते हुए, प्रकाशित होते हुए भी सारी इन्द्रियों से सर्वथा रहित है। इसलिए इन्द्रियों के व्यापार से वह ज्ञेय व्यापार वाला नहीं है। इसीलिए श्रुति कहती है 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' बिना हाथ पैर के ही वह भागता है, पकड़ता है। 'पश्यति अचक्षुः' बिना आँख के ही वह देखता है, बिना कान के ही सुनता है। सारी इन्द्रियों के, उपाधियों के गुणों का उसके ऊपर आरोप केवल उसके परिचय के लिए है, वस्तुतः उसके अन्दर किसी प्रकार के विकार को लाने के लिए नहीं है। सचमुच में वह चलने या पकड़ने वाला नहीं है। चलने या पकड़ने से केवल उसका परिचय हो जाता है। सारी इन्द्रियों के द्वारा उसका अवभास भी होता है फिर भी सारी इन्द्रियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसीलिए 'असक्तं', किसी से इसका कोई संश्लेष नहीं है, कोई संग नहीं है। बिना संग किए हुए ही 'सर्वभृत्', सबको धारण करने वाला है! बिना सम्बन्ध के ही धारण करता है। साँप को रस्सी किस सम्बन्ध से धारण करती है? कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन साँप किस पर है? रस्सी पर ही है। रस्सी है, तभी साँप है, रस्सी को हटा दो तो वहाँ साँप भी नहीं रहेगा। सर्वभृत् है यह कैसे पता लगता है? सब चीज़ों में सद्बुद्धि अनुगत है। जिस-जिस चीज़ का भान होता है, उस चीज़ का 'है' के साथ ही भान होता है। यहाँ तक कि जहाँ

बालू में जल दीखता है, वह जल भी 'है' होकर ही दीखता है। निश्चय है कि बालू में जल नहीं है, पर दीखता कैसे है? 'जल है' इसी रूप में दीखता है। सचमुच में बालू में जल हो तब 'जल है' दीखे, ऐसा नियम नहीं है। हो या न हो, दीखेगा है के साथ ही। इसलिए असंग रहकर ही सबका धारण करने वाला है। 'निर्गुणं', सारे गुणों से रहित है और फिर 'गुणभोक्तृ' शब्दादि के द्वारा, सुख दुःख मोह के द्वारा इन सबका भोक्ता है अर्थात् जानने वाला है, प्रकाशक है। किसी गुण के साथ सम्बन्ध नहीं, फिर भी गुणों का प्रकाशक होने से गुणों का भोक्ता है। इस प्रकार से उसका परिचय कराने के लिए सारा संसार है। अतः यह सारा संसार व्यर्थ नहीं है! सारा संसार यदि न होता तो न हमारा परमात्मा से परिचय होता और न हमें अमृतत्व की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति होती। बहुत-से लोग पूछते हैं 'महाराज, भगवान् ने संसार क्यों बनाया? नहीं बनाते तो क्या हर्ज़ा था?' उत्तर है कि यदि संसार नहीं बनता तो तुम्हारा परमात्मविषयक अज्ञान कैसे मिटता? यह सारा अध्यारोप होने से ही तो अपवाद करके तुम निष्प्रपंच को समझोगे। अतः संसार का उद्देश्य संसार बनाना नहीं है, संसार का एकमात्र उद्देश्य इसके द्वारा उस ज्ञेय तत्त्व का उपदेश देना ही है। जैसे शब्दों से निष्प्रपंच का प्रपंचन किया जाता है, शब्दों के द्वारा बतलाते हैं, वैसे ही अर्थों के द्वारा भी उसी का प्रकाशन है। अर्थात् संसार में जितने पदार्थ हैं सब उस तत्त्व के ज्ञान के लिए ही हैं, और संसार का कोई प्रयोजन नहीं है।।१४।।

ज्ञेय का ही स्वरूप समझाते हैं–

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

भूतों के बाहर तथा भीतर, एवं बाहर-भीतर के विभाजक चर-अचर शरीर – सब वह ही है। अतीन्द्रिय होने से वह अनुभवका विषय नहीं है तथा दूर भी है, पास भी है।

'बाहर' कहने पर प्रश्न होता है– कहाँ से बाहर? बाहर किसी चीज़ को कहते नहीं जब तक पहले 'किससे बाहर' इसका पता न लगे। यहाँ प्राणियों के शरीर को अवधि मानकर कहा है। शरीर का जो चर्म है वहाँ तक देह है। अज्ञान से देह पर्यन्त आत्मा की प्रतीति होती है; मैं की प्रतीति कहाँ तक होती है? शरीर के बाहरी ओर जो त्वक् है वहाँ तक मैं की प्रतीति होती है। इसलिए कोई बाहर से भी शरीर को छूता है तो 'मुझे छुआ' ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए त्वक्-पर्यन्त तो आत्मा की प्रतीति है, मैं की प्रतीति है। उससे जो बाहर है उसको यहाँ 'बाहर' कहा। आत्मरूप से जहाँ तक प्रतीति है वह शरीर तक प्रतीति है, – शरीर के बाहर 'मैं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। जहाँ पत्नी, पुत्र आदि में होती भी है, वहाँ गौण है, क्योंकि कहने वाला भी जानता है कि वह मैं नहीं हूँ। लड़का मरने पर बाप कहता है 'मैं मर गया' किन्तु तब उसे चिता पर रखो तो झट चिल्लाएगा 'मैं सचमुच में थोड़े ही मरा हूँ!' शरीर से बाहर जो मैं की प्रतीति है वह गौण है। अविद्या से जो प्रतीति है वह

मिथ्या है अर्थात् ब्रह्मज्ञान से पहले रहेगी ही। उसकी निवृत्ति बिना ब्रह्म–साक्षात्कार के नहीं होती। अतः चाहे जितना कह लेवे 'शरीर तो जड है' पर एक जलती हुई लकड़ी उसकी पीठ पर मारो तो उसको क्या प्रतीति होगी, 'मुझे मारा' यही प्रतीति होगी। शरीर को मैं देखने वाला हूँ, शरीर को मैं जानने वाला हूँ। जानने वाला जिसको जानता है उससे अलग होता है– इस विचारमात्र से शरीर में मैं–बुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे जिसे रस्सी में साँप दीख रहा हो, उसे चाहे जितना समझायें कि 'यहाँ पर पहले साँप नहीं था, दरवाज़ा बन्द था, साँप नहीं आ सकता है' पर यह सब विचार होने के बाद भी उसका साँप का डर जाता नहीं। केवल इतना होता है 'नहीं होगा' परन्तु साथ ही रहता है 'शायद हो भी'। परन्तु जब प्रकाश में जहाँ सर्प दीख रहा है वहीं रस्सी दीख जाती है, अधिष्ठान का ज्ञान हो जाता है, फिर सर्प का भय नहीं रहता। समझाने के लिए बाद में भी कह देते हैं 'यह देखो, यहाँ पर साँप का सिर दीख रहा था। यहाँ साँप की पूँछ दीख रही थी', परन्तु कहते हुए भी उसको पता है कि साँप नहीं था। ठीक जैसे बिना अधिष्ठान–ज्ञान के वहाँ भ्रम निवृत्त होता नहीं क्योंकि भ्रम मिथ्या है, इसी प्रकार से 'मैं वस्तुतः अधिष्ठान ब्रह्म–स्वरूप हूँ' जब तक इसका साक्षात्कार नहीं होता तब तक चाहे जितना विवेक कर लेवें, भ्रम मिटता नहीं, शरीर–पर्यन्त मैं ही लगता है। इसलिए शरीर को ही अवधि करके बाहर कहा और शरीर के अन्दर जो है उसको अन्दर कहा। भगवान् ने कहा 'बहिः अन्तश्च भूतानाम्' प्राणियों के बाहर और प्राणियों के अन्दर, दोनों तरफ मैं हूँ। शरीर के बाहर समष्टि रूप है परमेश्वर का। शरीर के अन्दर उसी का व्यष्टि रूप है।

बाहर और अन्दर कह दिया तो शंका होगी कि परमात्मा बाहर–अन्दर है परन्तु बीच में नहीं होगा? शरीर को ही बीच मानकर बाहर–भीतर का विभाग किया अतः शरीर परमात्मा नहीं होगा? इसलिए कहा 'अचरं चरमेव च'। चर अर्थात् चलने वाला आदमी, पक्षी, मछली, कुत्ता, गधा– ये सब चलनेवाले प्राणी हैं। अचर अर्थात् नहीं चलने वाले पेड़, पौधे, घास इत्यादि। चलने वाले और नहीं चलने वाले जो शरीर हैं वे भी मैं हूँ। अर्थात् शरीर के अन्दर, शरीर के बाहर, और बीच में भी शरीररूप से मैं ही हूँ। प्रत्यगात्मा से शरीर–पर्यन्त अन्दर हुआ, शरीर से बाहर 'बहिः' हुआ और शरीर 'चरम् अचरम्' से कहे। यहाँ सूक्ष्म शरीर भी समझ लेना चाहिये। देहों से ज्ञेय का आभास मिल जाता है इसलिये उसे 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' की तरह देहाभास भी कह सकते हैं। अथवा देहों के रूपमें भासने वाला चराचर ही देहाभास है जो ज्ञेय ही है। जैसे आभासभूत सर्प रज्जुरूप ही होता है ऐसे बहिः अन्तः और देह – सब ज्ञेय ही हैं। अतः यहाँ भाष्यकारने लिखा है 'यच्चराचरं देहाभासमपि तदेव ज्ञेयं, यथा रज्जुसर्पाभासः'।

'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं', स्थूल देह तो दीख जाता है परन्तु स्थूल देह के अन्दर अहंकार पर्यन्त जितना है सब सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने के कारण स्वरूप से वह अविज्ञेय है। जो विवेक वाले हैं उनके लिए तो ज्ञेय है परन्तु अविवेकियों के लिए, अज्ञानियों के लिए अविज्ञेय है।

इसलिए मन क्या है, बुद्धि क्या है, इन्द्रियाँ क्या हैं - यह अविद्वान् लोग नहीं जानते, नहीं समझते। जब इस सापेक्ष सूक्ष्म को ही नहीं समझते, तो निरपेक्ष सूक्ष्म उस ज्ञेय को क्या समझेंगे! अतः भगवान् ने परब्रह्म की अविज्ञेयता में सूक्ष्मता, अतीन्द्रियता को हेतुरूप से कहा। प्रश्न होगा कि वह अविज्ञेय है कहने का मतलब हुआ कि ये उपाधियाँ ज्ञेय हैं। किंतु भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी 'ज्ञेयं प्रवक्ष्यामि', ज्ञेय मैं बताऊँगा। भगवान् उपाधियों का प्रतिपादन कर रहे हैं यह भी संगत नहीं क्योंकि उन्होंने यह भी कहा था 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' कि ज्ञेय वह है जिसे जानकर मोक्ष होता है और उपाधियाँ तो सब जान ही रहे हैं फिर भी किसी को मोक्ष हुआ नहीं! तो भगवान् का क्या अभिप्राय है? अपना अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने सूक्ष्मताहेतु का कथन किया : आत्मवस्तु अपने मिथ्या रूपों में तो ज्ञेय है पर उसका जो वास्तविक स्वरूप है वह क्योंकि सूक्ष्म है इसलिये शास्त्रदृष्टि के बिना अविज्ञेय ही रहता है। सब वस्तुओं के रूप में वही ज्ञेय है किंतु जैसे सर्वत्र उपस्थित, सब व्यवहार संभव कराने वाला आकाश सूक्ष्म होने से लौकिक बुद्धि से समझ नहीं आता वैसे आत्मतत्त्व भी समझ नहीं आता। पहले ज्ञेय बताने की प्रतिज्ञा की, अब उसे अविज्ञेय कहा- इसमें विरोध नहीं क्योंकि अविज्ञेयता में सूक्ष्मता हेतु देकर स्पष्ट किया कि शास्त्रनिरपेक्ष दृष्टि से वह अविज्ञेय है। जो उसे ज्ञेय कहा वह शास्त्र द्वारा समझने योग्य होने से कहा। जो विद्वान् हैं उनको तो पता ही है कि 'आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्'। अन्दर-बाहर और देहाभास रूप में, सब रूपों में एकमात्र आत्मा ही, ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। अविद्या से प्रकाशित हो रहा है, पर वस्तुतः प्रतीति तो उसी की हो रही है। जैसे रस्सी में साँप दीख रहा है तो साँपरूप से रस्सी ही दीख रही है। साँप उसीका मिथ्या रूप है। दीख सचमुच में क्या रहा है? रस्सी ही दीख रही है। ठीक इसी प्रकार से बहिः, अन्तः, चर, अचर - ये सब आत्मरूप ही हैं। सचमुच में जो आत्मा - उसी के कल्पित रूप हैं। यह बात विद्वानों को ज्ञेय है, और जिनको ज्ञेय है वे 'अमृतमश्नुते'। जो अविद्वान् हैं उनके लिए अविज्ञेय है।

अविज्ञात होने से ही 'दूरस्थं' ब्रह्म अतिदूर है। इसलिये कल्पना करते हैं यहाँ से इतने योजन पर स्वर्ग है, इतने योजन पर महर्लोक है, उससे ऊपर जनलोक है उससे ऊपर तपोलोक है, उससे ऊपर सत्यलोक है, उससे ऊपर वैकुण्ठ लोक है, उससे ऊपर गोलोक है - इस प्रकार दूर-दूर की कल्पना करते हैं। और फिर कहते हैं कि उसके भी आगे परमेश्वर, परब्रह्म परमात्मा है। है तो वह सर्वत्र विद्यमान, लेकिन अज्ञानियों की ऐसी कल्पना होती है, उनके लिये वह दूरस्थ है। आचार्य कहते हैं कि अरबों सालों में भी अविद्वान् उसकी प्राप्ति नहीं कर सकते। इसलिए दूर कहना ठीक ही है, अर्थात् अज्ञानी उसको प्राप्त कर ले यह किसी तरह सम्भव नहीं है। करोड़ों कल्प भी बीत जाएँ, जब तक अविद्वान् रहेंगे, अविद्या वाले रहेंगे तब तक कभी भी उसका पता नहीं लग सकता, वह दूर ही रहेगा। और ज्ञान होने पर वह अपना स्वरूप होने से 'तत् अन्तिके च' समीप से समीप है, क्योंकि अपने आपे से ज़्यादा समीप और कोई चीज़ हो नहीं सकती है। अज्ञानियों के लिए तो कभी भी प्राप्त होने वाला नहीं है और

ज्ञानियों को स्वरूप होने से नित्य प्राप्त ही है।।१५।।

परमात्मतत्त्व के अस्तित्व में हेतु सूचित करते हुए उसका वर्णन करते हैं–

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

बिना बँटे हुए ही सब प्राणियों में वह बँटा हुआ-सा मौजूद है। वही ज्ञेय तत्त्व (स्थिति काल में) भूतों को धारण करता है, (प्रलयकाल में) उन्हें निगलने के स्वभाव वाला है और (सृष्टि काल में) उन्हें उत्पन्न करने के स्वभाव वाला है।

'अविभक्तम्'। घड़ा, सिकोरा इत्यादि आकाश के टुकड़े नहीं करते। घड़े में आकाश आ गया तो आकाश का टुकड़ा नहीं गया, आकाश कोई कट कर उसमें नहीं आया। आकाश तो अखण्ड ही रहा। इसी प्रकार से प्रत्येक शरीर के अन्दर वह आत्मतत्त्व रहते हुए भी उसके टुकड़े नहीं हो जाते। दूसरे सब दार्शनिक मानते हैं कि हर एक शरीर में अलग-अलग जीवात्मा है। कुछ दार्शनिकों को लगता है कि अन्तःकरण की उपाधि हो, अविद्या की उपाधि हो, किसी-न-किसी उपाधि से परमात्मा के अलग-अलग टुकड़े हैं। किन्तु परमात्मा अविभक्त है इसलिए उसका टुकड़ा होना सम्भव ही नहीं, आकाश की तरह। इसलिए जैसे आकाश एक होते हुए घड़े सिकोरे इत्यादि के अन्दर अलग प्रतीत होते हुए भी अलग होता नहीं, इसी प्रकार अलग-अलग अन्तःकरणों के अन्दर अलग-अलग प्रतीत होते हुए भी आत्मतत्त्व अलग होता नहीं। इसलिए कहा 'अविभक्तम्'। अविभक्त होते हुए ही 'भूतेषू विभक्तम् इव च स्थितम्'। सभी प्राणियों के अन्दर अन्तःकरण, शरीर आदि के अन्दर ऐसा लगता है कि वह अलग है। ठीक जिस प्रकार से घड़े के अन्दर आकाश, सिकोरे के आकाश से सर्वथा अलग लगता है पर होता नहीं है, इसी प्रकार रावण के शरीर में, राम के शरीर वाले से वह परमात्मा अलग दीखता है। जो रावण के शरीर में है वही राम के शरीर में है – ऐसी अविद्वानों को प्रतीति सर्वथा नहीं होती। उनको तो ऐसा लगता है कि रावण में कोई राक्षसात्मा है, राम में कोई देवात्मा है। परन्तु देव और राक्षस अन्तःकरण आदि हैं, आत्मा तो वैसा-का-वैसा है, उसमें कोई फ़र्क नहीं है। शरीरों के अन्दर उसकी प्रतीति अलग की तरह होते हुए भी वह अलग होता नहीं है। शरीरों के भेद हो जाने से उसमें भेद होता नहीं है।

'तद् भूतभर्तृ ज्ञेयं च।' जो ज्ञेय है, वही स्थिति काल के अन्दर सारे प्राणियों को धारण करता है। स्थिति काल अर्थात् मिथ्या जगत् की प्रतीति का काल, यही स्थिति काल है। मिथ्या जगत् की प्रतीति होने पर ही उसके आदि और अन्त की कल्पना होती है। प्रतीति न मिथ्या जगत् की उत्पत्ति की होती है, न मिथ्या जगत् के नाश की होती है! जैसे रस्सी में साँप स्थित दीखता है; न पैदा होते हुए दीखता है और न नष्ट होते हुए दीखता है। इसी प्रकार जगत् हमेशा जब प्रतीत होता है तब स्थितरूप में ही प्रतीत होता है। इसीलिए वैदिक कर्म-काण्डी लोग कहते हैं, जगत् हमेशा ऐसा ही है! वे लोग न सृष्टि स्वीकार करते हैं, न प्रलय स्वीकार

करते हैं। लगता है कि जैसे वे कोई उलटी बात कर रहे हैं परन्तु जगत् के सृष्टि और संहार की बात एक कल्पित विचार ही है। अनुभव तो हमेशा स्थिति काल का ही होगा। सारा व्यवहार स्थिति काल को लेकर ही है। कर्म, उपासना- ये सारी व्यवहार काल की चीज़ें हैं इसलिए स्थिति काल में ही सम्भव हैं। स्थिति काल में 'तद् ज्ञेयं' वह जो ज्ञेय है वह 'भूतभर्तृ' भूतों को धारण करने वाला है। और धारण करने के साथ भरण करने वाला भी है अर्थात् पोषण करने वाला भी है। जगत् के सब पदार्थ सत्रूप परमात्मा में ही धृत हैं, बिना सत् के संसार की कोई चीज़ कहीं नहीं है। इसलिए धारण भी करता है और इस संसार की अभिवृद्धि का कारण, पोषण का कारण भी है। जगत् की प्रतीतिनिर्भरता ही इसका बल भी है, कमज़ोरी भी है। यदि आत्मा-अनात्मा के विवेक से जगत् सचमुच में सच्चा नहीं है- ऐसी प्रतीति हो जाये तो फिर निवृत्तिपरायणता ही सम्भव है। जब तक इसके हैपने का तुमको निश्चय है तभी तक प्रवृत्ति मार्ग है है नहीं। का निश्चय तो दूर, नहीं है की सम्भावना आते ही निवृत्तिपरायणता शुरू हो जाती है। लोक में भी देखने में आता है- जिस चीज़ के बारे में ऐसी कल्पना भी हो जाए कि 'पता नहीं यह है कि नहीं है', तो उसके लिए फिर दृढ प्रवृत्ति नहीं होती। न केवल भूतों को, जगत् को धारण करने के लिए सद्रूपताका उपयोग है, उसके लिए प्रवृत्ति करके पोषण करने का काम भी वह सद्रूपता ही करती है। इसलिए भगवान् ने कहा 'तज्ज्ञेयं भूतभर्तृ च'।

ज्ञेय ही ग्रसिष्णु भी है। जैसे ही सन्मात्ररूपता का ज्ञान होता है वैसे ही यह सारा नाम-रूपात्मक जगत् ग्रस्त हो जाता है, उसके कौर (कवल) में चला जाता है। अथवा यदि सृष्टि और प्रलय की दृष्टि से देखते हैं, तो प्रलय काल में सब कुछ परमात्मा में लीन हो जाता है इसलिए वह ग्रसिष्णु है। ज्ञान-काल में प्रत्यक्ष ही सब ग्रस्त हो जाता है और ज्ञान के बिना भी प्रलयकाल में ग्रस्त हो जाता है। संसार की चीज़ें नष्ट होती ही हैं। सारा संसार भले ही उत्पन्न होता व नष्ट होता न दीखे पर अनुभवकी प्रायः चीज़ें तो उत्पत्ति-नाश वाली हैं। सृष्टि का पैदा होना भी कोई नहीं देखता और सृष्टि का प्रलय भी किसी के ज्ञान का विषय नहीं है। परन्तु अगर हमको मकान दीखता है तो हम समझ लेते हैं कि यह बना भी है। दीख तो हमें मकान रहा है, हमने इसको बनते देखा नहीं, लेकिन मकान है, ईंटों को जोड़ कर बना है तो कभी-न-कभी ज़रूर बनाया गया है। बना है तो ज़रूर बनाया गया है- ऐसा मनुष्य को प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार से यदि बना है तो एक दिन खण्डहर भी होगा ही- यह भी प्रतीत हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से सृष्टि की न कभी उत्पत्ति देख सकते हैं और न कभी प्रलय देख सकते हैं, फिर भी सृष्टि और प्रलय की प्रतीति हो तो उसको भी करने वाला वह ज्ञेय तत्त्व ही है। और यदि ग्रसिष्णु से ज्ञान काल लिया जाए तो उसमें 'यह सारा ग्रस्त हो गया' ऐसी प्रतीति हो ही जाती है।

जैसे ग्रसिष्णु वैसे 'प्रभविष्णु च'। उत्पत्ति काल में प्रभवन होता है, उत्पत्ति होती है। आचार्य स्पष्ट करते हैं 'यथा रज्ज्वादिः सर्पादेः मिथ्याकल्पितस्य'। ये उत्पत्ति, विनाश और

स्थिति जो तीनों यहाँ हैं, ये तीनों रस्सी में साँप की तरह केवल मिथ्या कल्पना मात्र हैं। भूतभर्तृत्व, ग्रसिष्णुत्व और प्रभविष्णुत्व– ये तीनों ही एक जैसे मिथ्या कल्पित हैं। क्योंकि स्थिति काल में प्रतीति होती है इसलिए उसको भूतभर्ता भी कह दिया जाता है और उसके आदि-अन्त की कल्पना करके प्रभविष्णु व ग्रसिष्णु भी कह दिया जाता है। रस्सी में मोटा साँप देखते हैं तो कहते हैं 'बुड्ढा साँप लगता है' और छोटा-सा दीखे है तो कहते हैं 'बच्चा साँप है'। बच्चा मायने अभी थोड़े दिन पहले पैदा हुआ है। वह तो कभी पैदा नहीं हुआ है! जैसे मोटा दीखता कल्पित साँप बुड्ढा नहीं वैसे ही छोटा दीखता कल्पित साँप बच्चा नहीं। फिर भी सर्प देखते समय उसके जन्म की कल्पना हो जाती है। ऐसे ही संसार देखते समय इसके जन्म-नाश को मानकर ब्रह्म को ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु समझा जाता है। जो सूक्ष्म विवेक करने वाले हैं वे तो संसार को दृष्टि मात्र ही कहते हैं कि दृष्टि के अतिरिक्त सृष्टि है नहीं। खूब हिसाब लगाते रहते हैं पौराणिक लोग– इतने कल्प बीत गए, इतने मन्वन्तर बीत गए, वे सब एक जैसी ही व्यर्थ कल्पनाएँ हैं जैसे यह समझना कि यह साँप बच्चा है या बुड्ढा! जब तक स्थिति काल में आग्रह है कि जगत् है, तब तक इन सब गणनाओं का महत्त्व रहेगा। तब तक भूतभर्तृ, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु– इन रूपों में उस ज्ञेय तत्त्व को समझकर उसके वास्तविक स्वरूप के अवगम का प्रयास करते रहना होगा।।१६।।

भगवान् ने कहा कि सूक्ष्म होने से वह नहीं जाना जा सकता है। किसी को भ्रम हो सकता है कि फिर वह अन्धकार की तरह है। जैसे अन्धकार सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी उसको जान नहीं सकते, ऐसा ही वह होगा। क्योंकि किसी भी चीज़ को जाना जाता है प्रकाश के द्वारा। ऐसे अन्धकार को तुम कभी देख नहीं सकते क्योंकि उसके ऊपर रोशनी डालो तो वह वहाँ रहता ही नहीं है! इसलिए अन्धकार नज़र नहीं आता। अन्धकार का अनुभव नहीं होता है– यह नहीं कह रहे हैं; काला-काला दीखता है, अतः अनुभव नहीं होता है– यह कैसे कहें! परन्तु वस्तु प्रकाश युक्त होने पर ही आँख से देखी जाती है और अन्धकार कभी प्रकाश युक्त होकर नहीं दीखता। अतः अंधेरा नज़र नहीं आता यह कहना बन जाता है। क्या ऐसे वह परब्रह्म भी अंधकार की तरह ही है? इस शंका के निराकरण में भगवान् कहते हैं–

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

वह तत्त्व प्रकाशों का भी प्रकाशक है, उसे अंधेरे से अछूता कहा जाता है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञात– ये सब प्राणियों की बुद्धि में विशेषतः स्थित हैं, वहीं इन्हें समझा जाता है।

ब्रह्म अंधेरा या अंधेरे जैसा नहीं है। लोक में सूर्यादि जो प्रकाश प्रसिद्ध हैं वे प्रकाश जिससे बन पाते हैं वह ब्रह्म है, प्रकाशों को प्रकाश बनाने वाला है अतः उसे ज्योतियों का ज्योति कहते हैं। उसकी प्रकाशरूपता स्थूल चाक्षुष प्रकाश से नहीं वरन् ज्ञानरूप प्रकाश से

है। क्योंकि वह स्वयं ज्ञानरूप है इसीलिये वह ज्ञान से अविज्ञेय है। हमें होने वाले ज्ञान से उसमें कोई अतिशय नहीं आता। ज्ञान से ज्ञात नहीं होता, बस यह कठिनाई है। कैसे नहीं होता? जैसे प्रकाश से प्रकाश प्रकाशित नहीं होता। सूर्य के ऊपर तुम चाहे जितनी बड़ी रोशनी डालो, उससे सूर्य प्रकाशित नहीं होगा। सूर्य प्रकाशित नहीं होता- इतने-मात्र से सूर्य अन्धेरारूप है ऐसी बात नहीं है वह प्रकाशित इसलिए नहीं होता कि कभी अप्रकाशित नहीं है। कोई चीज़ पहले प्रकाश वाली न होवे तब तो उसके ऊपर जब तुम प्रकाश डालो तब वह प्रकाशित होगी। पर जो खुद प्रकाश है वह प्रकाश डालने पर प्रकाशित होगा ऐसी बात है नहीं। सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, अन्धेरा भी प्रकाशित नहीं होता। अन्धेरा प्रकाशित इसलिए नहीं होता कि उसके ऊपर प्रकाश जाता है तो अंधेरा ख़त्म हो जाता है। सूर्य प्रकाशित इसलिए नहीं होता कि सूर्य प्रकाशरूप है इसलिए तुम्हारे प्रकाश से उसमें कोई अतिशय नहीं आता। इसी प्रकार से वह ज्ञेय जो परमात्मा है वह ज्ञान से ज्ञात नहीं होता क्योंकि ज्ञान-स्वरूप है अतः उसको ज्ञान की अपेक्षा नहीं। इसलिए कहते हैं 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः', जो प्रसिद्ध प्रकाश है सूर्य आदि, उनका प्रकाश जिस ज्ञान से होता है वही वह ज्ञेय है। 'तद् ज्योतिः' अर्थात् वह ज्ञेय लौकिक प्रकाशों का भी प्रकाश है। सूर्य भी उस आत्मा के प्रकाश से ही ज्ञात होता है। सूर्य को बाह्य ज्योति की तो ज़रूरत नहीं है परन्तु, जैसे मनु कहते हैं, जिसकी दोनों आँखें नहीं हैं उसे प्रकाश से क्या प्रयोजन! जो दोनों आँखों से अन्धा है उसको तो सूर्य भी नहीं दीख सकता। इसका मतलब यह नहीं है कि सूर्य में प्रकाश नहीं है। लेकिन सूर्य का प्रकाश उसी के काम आ सकता है जिसमें अपनी आँख है। अतः ज्ञान ही सूर्य के प्रकाश का भी प्रकाश है। अर्थात् सूर्य के प्रकाश को भी प्रकाशित करने वाला, ज्ञात करने वाला, वह आत्मतत्त्व ही है। अन्यथा सूर्य का प्रकाश भी अन्धकार रूप ही रह जाएगा। इसलिए आत्मचैतन्य की जो ज्योति है, ज्ञान ज्योति, उसके द्वारा ही देदीप्यमान होकर आदित्य आदि जो ज्योतियाँ हैं ये दीप्त होती हैं। इसीलिए श्रुतियों ने कहा है 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' परमात्म तेज से इद्ध होकर ही सूर्य तपता है, उसकी ज्योति के बिना सूर्य तप नहीं सकता। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस ज्ञेय परमात्मा के भास से, प्रकाश से, चमक से, ये सूर्य चन्द्र आदि सब भात होते हैं। यहाँ भी भगवान् कहेंगे 'यदादित्यगतं तेजः', सूर्य में जो तेज है उसको मेरा तेज समझो।

ज्योतियों की ज्योति ज्ञान हुआ इसलिए उस ज्योति के लिए 'तमः' अर्थात् अन्धकार अज्ञान हुआ। जिस प्रकार भौतिक प्रकाश के लिए अन्धकार है उसी प्रकार ज्ञानरूपी प्रकाश के लिए अज्ञान है। जैसे तुम प्रकाश से अन्धकार को देख नहीं सकते क्योंकि प्रकाश आते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान कभी समझ में नहीं आता क्योंकि ज्ञान आते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। इसीलिए अज्ञान को अनिर्वचनीय कहते हैं। ज्ञान से अज्ञान समझ में आ जाए- ऐसी बात नहीं है। बहुत-से लोग समझते हैं कि ज्ञान होने पर अज्ञान और उसके कार्य संसार का ज्ञान हो जाता होगा! मोटी भाषा में हम कई बार

कहते हैं कि गाँव में जाओ तो पूछते हैं 'आप बड़े ज्ञानी हैं तो मेरी भैंस खो गई है, कहाँ गई यह बताईए।' सब जानते हैं तो भैंस कहाँ गई यह भी जानते होंगे! भैंस हो या संसार की अन्य कोई चीज़ हो; लोग समझते हैं कि ज्ञान का मतलब अज्ञान के कार्य को समझ लेना है। अज्ञान का कार्य तो अज्ञान में ही है। ज्ञान होने पर वह रह ही नहीं जाता। इसलिए भगवान् ने कहा 'तमसः परमुच्यते'। अज्ञानरूपी जो अन्धकार है उससे यह ज्ञान हमेशा अछूता ही रहता है, वह ज्ञान इसको कभी छू नहीं सकता। जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश को छू नहीं सकता, प्रकाश के आते ही नष्ट हो जाता है, छूएगा कैसे! इसी प्रकार ज्ञान के आते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। अतः अज्ञान के द्वारा वह अस्पृष्ट ही है।

इस प्रकार भगवान् ने 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं' से प्रारंभ कर यहाँ तक बतलाया कि वह अविज्ञेय है। अर्थात् उसकी प्राप्ति करना बड़ा कठिन है। यह सुनने पर अर्जुन ज़रा ढीला पड़ गया, अवसन्न हो गया, कि 'यदि ऐसा है तो फिर हम तो कैसे समझ सकेंगे, समझ ही नहीं सकेंगे'। तब भगवान् उसको दिलासा देने के लिए कहते हैं कि दुःसम्पाद तो है लेकिन हमने तुमको अमानित्वादि जो साधन बतलाए उनकी सहायता से प्राप्त हो जाता है। ज्ञान के जो साधन बतलाए अमानित्वादि उन्हें ज्ञान कहा था। उन साधनों से ज्ञान होने पर ही आत्मलाभ होता है, उन साधनों के बिना नहीं होता। भगवान् का संकेत है कि उन साधनों को अर्जुन अपना सकता है। प्रायः ज्ञानमार्ग में कठिनाई यह होती है कि लोग सोचते हैं- जैसे दूसरे विषय सोचने-मात्र से, विचार करने-मात्र से पता लग जाते हैं, ऐसे परमात्मा का सोचने से ही पता लगता होगा! विचार आदि के द्वारा तब उसका पता लग सकता है जब अमानित्वादि से साधक सम्पन्न हो चुका है। इसलिए भगवान् ने कहा 'ज्ञानं' अर्थात् जो अमानित्वादि साधन कहे हैं, वे सारे इसकी प्राप्ति के साधन हैं। 'ज्ञेयम्', ज्ञेय भी बतला दिया 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' से। और प्रकारों से तो अविज्ञेय है, पर अमानित्वादि के द्वारा ही उसका ज्ञान होता है इसलिए कहा 'ज्ञानगम्यं'। ज्ञान के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसको भी भगवान् ने कह दिया था 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते', उससे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान का फल मोक्ष ही है। आचार्य ने स्पष्ट किया 'ज्ञेयमेव ज्ञातं सज्ज्ञानफलम् इति ज्ञानगम्यम् उच्यते, ज्ञायमानं तु ज्ञेयम्'- जब तक जाना जा रहा है तब तक जो ज्ञेय है वही जब जान लिया गया तब ज्ञानगम्य कहा जाता है। यही फलावस्था, अमृतत्व है। भगवान् कहते हैं- ये जो तीनों चीज़ें मैंने बतलाई हैं- अमानित्वादि साधन, 'अविभक्तं च भूतेषु' इत्यादि के द्वारा ज्ञेय और 'अमृतमश्नुते' ये ज्ञानगम्य- ये तीनों ही 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' सबके हृदय अर्थात् बुद्धि में स्थित हैं अर्थात् निश्चय रूप ही हैं। इनका रूप निश्चयात्मक ही है। 'यह ऐसा ही है' ऐसा निश्चय होने पर ये 'विष्ठितम्', विशेष करके स्थित हैं। इन तीनों का भान बुद्धि में ही होता है। जब तक इनका बुद्धि में नहीं मन में अनुभव होता है, अर्थात् जब तक ये निश्चयरूप नहीं होते वरन् संकल्प-विकल्परूप में रहते हैं, तब तक ये विशेष करके स्थित नहीं हैं, विष्ठित नहीं हैं। अथवा 'धिष्ठितम्' भी किसी का पाठ है, अतः

अधिष्ठित नहीं हैं। जब ये तीनों निश्चयरूप में स्थित होते हैं तभी इन्हें बुद्धि में विशेष रूप से स्थित कहते हैं। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य- ये सब बुद्धि के अन्दर ही स्थित करने चाहिये। बुद्धि के अन्दर ही ये तीनों प्रकाशित होते हैं तभी सफलता है। इसके द्वारा भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि ये चीज़ें अपने से बाहर प्रतीत होने वाली नहीं हैं। बुद्धि के अन्दर जब ब्रह्माकारवृत्ति स्थिर होगी तभी ब्रह्मज्ञान है। अन्यथा व्यापक परब्रह्म तो है ही, उससे तुम्हें क्या फल मिलेगा! तुम्हें तभी फल होगा जब तुम उसे जानो। वृत्ति से वह जाना नहीं जायेगा यह तो बिलकुल ठीक है लेकिन तुम्हारे हृदय में ज्ञेयरूप से विष्ठित तभी होगा जब तुम अमानित्वादि द्वारा तैयारी करके स्थिर अखण्डाकार वृत्ति बनाओ। इसी के लिये वृत्ति का जो सर्वथा अविषय है उसी को कहना पड़ता है वृत्ति का विषय है। वृत्ति जब उसको विषय करने जाती है तब वृत्ति उससे प्रकाशित हो जाती है, उसको प्रकाशित नहीं कर पाती। इसी बात को बतलाने के लिए कहा था 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'। अनात्म चीज़ों को जानने के लिए बुद्धिवृत्ति और तदारूढ चेतन की अपेक्षा रहती है पर आत्मा को जानने के लिये नहीं। ऐसे समझ लोः किसी भी चीज़ को गरम करने के लिए तुमको अग्नि की अपेक्षा होती है पर आग को गरम करने के लिए तुमको क्या किसी की अपेक्षा रहती है? आग कैसे गरम होगी? आग तो स्वरूप से गरम है! इसी प्रकार वह ज्ञेय तत्त्व तो स्वरूप से ही ज्ञान है इसलिए उसको बुद्धि-वृत्ति की *अपेक्षा* नहीं। परन्तु बुद्धिवृत्ति उसको विषय करने कब जाएगी? जब अमानित्वादि गुण होंगे अन्यथा वह उधर जाएगी ही नहीं। ठीक जिस प्रकार कह सकते हैं कि 'लकड़ी गीली होगी तो नहीं जलेगी। लकड़ी को सूखी करने से जलेगी, उसमें अग्नि प्रकट होगी।' अग्नि तो लकड़ी में मौजूद ही है, सूखने से अग्नि *आ* जाएगी ऐसी बात तो नहीं है, लेकिन लकड़ी सूखे बिना अग्नि प्रकट नहीं होगी। इसी प्रकार से ज्ञान विद्यमान तो बुद्धि में है ही, क्योंकि न होता तो बुद्धि कुछ भी नहीं जान सकती थी, ज्ञानरूप से बुद्धि में मौजूद होते हुए भी अमानित्वादि के द्वारा जब तक बुद्धि सूख न जाए, तैयार न हो जाये, तब तक प्रकट नहीं होता। इसलिए भगवान् ने कह दिया 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। सभी प्राणियों के हृदय में ये तीनों स्थित हैं। ज्ञान ऐसी चीज़ नहीं है कि जो केवल मनुष्य के हृदय में ही रहती है! इसलिए ज्ञान के अन्दर तो सबका स्वाभाविक अधिकार है ही। परन्तु प्रकट होगा, जैसा बतलाया, अमानित्वादि गुणों से।।१७।।

भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की थी उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं :-

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान व ज्ञेय संक्षेप में बता दिये। मेरा भक्त यह सम्यग् दर्शन पाकर परमात्मरूपता पा जाता है।

'इति' अर्थात् इस प्रकार से क्षेत्र को मैंने बतलायाः महाभूतों को बतलाया,

ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों को बतलाया, अन्तःकरण को बतलाया और अन्तःकरण के धर्म धृति पर्यन्त बताए। यह सारा क्षेत्र है। महाभूत, उनके स्थूल होकर शरीर आदि परिणाम, सूक्ष्म महाभूतों के इन्द्रिय-अन्तःकरण-प्राणादि परिणाम और फिर अन्तःकरण में होने वाली भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ; यह सारा क्षेत्र है। 'तथा ज्ञानं' जैसे क्षेत्र बतलाया वैसे ही अमानित्व अदम्भित्वादि ज्ञान के साधन बतलाए। अमानित्वादि का समापन कहा 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' से। तत्त्वज्ञान का जो अर्थ है, प्रयोजन है अर्थात् मोक्ष, उसकी प्राप्ति के लिये, उसके साक्षात्कार के लिये साधना में तल्लीनता के उद्देश्य से मोक्षस्वरूप का विचार भी ज्ञान के अन्तर्गत कर्तव्य बताया। 'ज्ञेयं', ज्ञेय भी बतलाया 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' से लेकर के 'तमसः परमुच्यते' तक। 'समासतः उक्तं', ये सब संक्षेप से बतलाया, बहुत थोड़े में बतला दिया है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान के साधन और ज्ञेय तत्त्व- ये सारा ही वेदार्थ हैं, वेद का तात्पर्य यही बताने में है। बाकि जो लम्बा-चौड़ा वेद है वह इन्हीं चीज़ों को समझने के लिए है। वेदार्थ तो बस इतना ही है- क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान, ज्ञेय। इतने में ही सारा वेदार्थ आ गया। इन चीज़ों को समझ लेना ही वेदार्थ को जान लेना है। अन्यथा चाहे जितने वेद के शब्दों को जानो, उससे वास्तविक लाभ नहीं है। जैसा यास्क कहते हैं, जैसे गधा चन्दन ढोता है तो उसे वज़न तो पता चलता है परन्तु चन्दन की कीमत का पता नहीं। इसी प्रकार इन चीज़ों को बिना जाने हुए वेद की शब्दराशि को याद रखने वाला यह तो जानता है कि 'हमने इतना परिश्रम किया' पर उस परिश्रम के फल के बारे में कुछ नहीं जानता। जो वेद में कहा वही गीता में कहा, इसलिए यही, इतना ही बताने में गीता का तात्पर्य है।

इसको ठीक-ठीक प्रकार से साक्षात्कार करने के लिए, ठीक-ठीक प्रकार से समझने के लिए कौन व्यक्ति अधिकारी है अर्थात् कौन इसको ठीक से समझ सकता है? 'मद्भक्तः'। जो मुझ ईश्वर सर्वज्ञ परम गुरु के अन्दर ही समर्पित-सर्वात्म-भाव है। विश्वरूप के द्वारा ईश्वररूप प्रकट कर ही दिया था और इन सारे तत्त्वों का उपदेश देने वाला होने से मैं ही परम गुरु हूँ; 'परम' इसलिये कि इससे परे, इससे अधिक महत्त्वका कोई विषय उपदेश के योग्य, किसी गुरु द्वारा बताने योग्य नहीं है। मैं जो ईश्वर परम गुरु, उस मुझ में भक्ति वाला अधिकारी है। भक्त अर्थात् समर्पित-सर्वात्म-भाव - मेरे में ही जिसने अपने सारे आत्मभावों को समर्पित कर दिया है। आत्मभाव अर्थात् जिस-जिस को तुम अपना 'मैं स्वरूप' समझते हो- शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण- इन सारों को, यहाँ तक कि अहंकार को भी मुझे ही अर्पित करना भक्ति है। इस प्रकार का भक्त जानता है कि जिसको देख रहा हूँ वह भगवान् ही है, जिसको सुन रहा हूँ वह भी वही है, जिसको छू रहा हूँ वह भी वही है। इस प्रकार इन्द्रियों से, मन से, जिस चीज़ को भी जानता है, और कर्मेन्द्रियों से जो भी करता है, वह सब एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही है, वही एकमात्र अधिष्ठान है जो इन सब रूपों में दीख रहा है, यह उसका बोध रहता है। भाष्यकार कहते हैं 'एवं ग्रहाविष्टबुद्धिर्मद्भक्तः' इस प्रकार का जो ग्रहण है, समझ है, ज्ञान है कि 'जो कुछ भी मैं छूता हूँ, चखता हूँ चलता हूँ, खाता हूँ, सब एकमात्र वह अधिष्ठान सच्चिदानन्दरूप परमात्मा परम गुरु

ही है’ वह जिसमें प्रतिष्ठित हो गया वह भक्त ही मोक्षाधिकारी है। जिसके निश्चय में यह आविष्ट हो गया है, प्रविष्ट हो गया है, हमेशा जिसे ऐसा ही लगता है- वह भक्त है। भक्त का मतलब यहाँ घण्टी बजाने वाला नहीं है! भगवान् फल सूचित करते हैं कि जो ऐसा मेरा भक्त है वह ‘एतद्’ जो यह सम्यक् दर्शन बतलाया, इसे ‘विज्ञाय’ अर्थात् इसका उसको साक्षात्कार हो जाता है। अधिष्ठान तत्त्व के प्रति जो समर्पितसर्वात्मभाव है उसको ही अधिष्ठान-साक्षात्कार होता है। जो अधिष्ठान से कुछ भी भिन्नता रखता है उसको कभी अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं होता। वह ‘मद्भावाय’ मद्भाव के लिए उपपन्न हो जाता है, योग्य हो जाता है।

मद्भाव मायने मेरा जो भाव अर्थात् परम गुरु सर्वज्ञ का ही भाव, उसकी ही वास्तविकता; उस भाव के लिए उपपन्न हो जाता है, योग्य हो जाता है। मद्भाव की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है। ईश्वर ही गुरु-रूप में है। गुरु और ईश्वर के अन्दर जैसा अभेद है वैसा ही साधक को अपने में प्रकट करना है कि मैं भी अपने गुरु से, ईश्वर से अभिन्न हूँ, मेरी भी उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं है। ईश्वर, गुरु और साधक- ये तीन मूर्तियाँ हैं एक परतत्त्वकी ही। जैसे एक विष्णु की मूर्ति श्री रंगम में सोई हुई है, एक विष्णु की मूर्ति तिरुपति में खड़ी हुई है, एक विष्णु की मूर्ति बदरीनाथ में बैठी हुई है, लेकिन इन तीन रूपों में दीखने वाले विष्णु एक ही हैं, तीन नहीं हैं। इसी प्रकार से नियमनादि करने वाला ईश्वर, उपदेश देने वाला गुरु और उस उपदेश के साथ तादात्म्य भाव प्राप्त करने वाला आत्मा- ये तीन नहीं हैं। जैसे स्वप्न में तुम्हारा मन ही सड़क बन जाता है, तुम्हारा मन ही उस पर चलने वाला रथ बन जाता है, तुम्हारा मन ही उसे चलाने वाला सारथि बन जाता है; इन सब रूपों में मन बनता है क्योंकि तुम वहाँ पर अधिष्ठान रूप से मौजूद हो। इसी प्रकार से परमेश्वर की जो शक्ति है वही ईश्वर रूप में, गुरुरूप में और उपदेश का श्रवण करने वाले रूप में अर्थात् शिष्यरूप में प्रकट होती है क्योंकि तीनों अधिष्ठान सच्चिदानन्द ही प्रतीत होते हैं। जैसे रस्सी के अन्दर दीखने वाले साँप, जलधारा, दण्ड अलग-अलग नहीं हैं, एक ही अज्ञान के कारण अधिष्ठान में प्रतीत हो रहे हैं, इसी प्रकार जो अधिष्ठान स्वरूप है वही मद्भाव, मेरा भाव है, मेरी वास्तविकता है। मेरा भक्त उसको ‘उपपद्यते’, प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भगवान् ने जो क्षेत्रादि बतलाना शुरू किया था उसका यहाँ आकर उपसंहार कर दिया और उपसंहार के बहाने सारे वेदार्थ को कह दिया।।१८।।

सातवें अध्याय में भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियाँ बतलाईं ‘भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयम्’ और ‘इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूतां’ (७.४-५) अपरा प्रकृति और परा प्रकृति। तेरहवें अध्याय के प्रारम्भ में अपरा प्रकृति को क्षेत्र कहा है और परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ कहा है। वहाँ जिसको परा और अपरा प्रकृति कहा है उसी को यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा है। वहाँ बतलाया था ‘एतद्योनीनि भूतानि’, ये जो मैंने दो प्रकृतियाँ बताईं ये ही दो योनियाँ हैं जिनसे सारा जड-चेतन जगत् प्रकट हुआ है अर्थात् इन दो को छोड़ कर, परमेश्वर की परा प्रकृति और अपरा प्रकृति को छोड़ कर, और यहाँ कुछ भी नहीं है, उसी

से यह सब प्रकट हुआ है। वहाँ जो प्रतिज्ञा की थी कि प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सारे संार का कारण है, उसी को अब बतलाते हैं। वहाँ केवल प्रतिज्ञा की थी कि इन दो से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ, यहाँ बताते हैं कि कैसे उत्पन्न हुआ। प्रकृति-पुरुष का विचार इस अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ शब्दों से हुआ है अतः प्रकृति-पुरुष के संदर्भ में पहले बची हुई बात को कहने का यही उत्तम स्थल है। पहले अपरा प्रकृति के बारे में फिर परा अर्थात् पुरुष के बारे में बताना प्रारम्भ करते हैं-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१६।।

(अपरा) प्रकृति और पुरुष, दोनों का कोई कारण नहीं है यह समझ लो। विकारों और गुणों को प्रकृति का परिणाम जानो।

प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति और पुरुष अर्थात् परा प्रकृति 'उभौ अपि' - ये दोनों ही अनादि हैं ऐसा निश्चय करो। दोनों ही नित्य हैं। कारण बड़ा सीधा है। देवदत्त गोरा है; कब से गोरा है? जब से पैदा हुआ। अगर देवदत्त बीस साल का है तो उसका गोरापना भी बीस साल का है। इसी प्रकार चूंकि दोनों परमेश्वर की प्रकृतियाँ हैं, इसलिए जैसे परमेश्वर नित्य है वैसे ही दोनों प्रकृतियाँ भी नित्य ही हैं। यदि ये दोनों प्रकृतियाँ नहीं होवें तो ईश्वर ही सिद्ध नहीं होगा! ईश्वर की ईश्वरता क्या है? परा प्रकृति और अपरा प्रकृति- ये ही ईश्वरता है। इन दो प्रकृतियों के द्वारा ही परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति भी करेगा, स्थिति भी करेगा, लय भी करेगा। परमेश्वर नित्य इसलिए परमेश्वर की प्रकृतियाँ नित्य, इसलिए ये प्रकृतियाँ संसार का कारण बनती हैं।

कुछ लोग कहते हैं 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि में परमेश्वर को जगत् का कारण बताया। अगर ये दो प्रकृतियाँ संसार का कारण हैं तो फिर परमेश्वर संसार का कारण कैसे? ईश्वर की कारणता तभी बन सकती है जब दोनों प्रकृतियों को भी वह पैदा करने वाला होवे। इसलिये 'जो आदिवाले नहीं हैं' ऐसा बहुव्रीहि समास नहीं मानकर यहाँ तत्पुरुष समास मानना चाहिये कि ये दोनों आदि अर्थात् कारण नहीं हैं। ये आदि नहीं हैं अर्थात् अन्तिम कारण नहीं हैं, नित्य कारण नहीं हैं, बीच के कारण भले ही हैं। कपड़े के प्रति कारण कौन है? धागा है। पर धागा *आदि* कारण नहीं है क्योंकि धागा खुद रुई से आया है। रुई भी आदि कारण नहीं है क्योंकि रुई पौधे से आई है। जैसे धागा कारण है पर आदि नहीं है अर्थात् अन्तिम कारण, नित्य कारण नहीं है इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष जगत् के प्रति कारण तो हैं परन्तु आदि कारण नहीं हैं। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। उनका भाव है कि परमेश्वर की सृष्टि-स्थिति-लय-कर्तृता बनाए रखने के लिए पुरुष और प्रकृति को अन्तिम कारण नहीं कह सकते।

परन्तु ऐसी व्याख्या सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। विचार करोः ईश्वर अर्थात् शासन करने

वाला। जब कुछ होगा तभी उस पर शासन करेगा! जैसे कोई कहे 'मेरे घर में मेरा शासन है', उससे पूछो 'तुम्हारे घर में लोग कितने हैं?' तो बताये 'ब्याह नहीं किया, बच्चे नहीं है, नौकर रखे नहीं है।' जब घर में कोई है ही नहीं तो तुम शासक काहे के रहे! इसी प्रकार से यदि प्रकृति और पुरुष नहीं हैं तो ईश्वर का ईश्वरत्व ही सिद्ध नहीं होता। प्रकृति और पुरुष का शासन करता है इसलिए ईश्वर है। प्रकृति और पुरुष के बिना तो उसका ईश्वरपना ही सिद्ध नहीं होगा। इतना ही नहीं, यदि परमेश्वर बिना किसी प्रकृति पुरुषरूप उपाधि के स्वतन्त्र कारण है, तो उसके करने में निमित्त क्या होगा? सृष्टि किस निमित्त से करेगा? अगर कहो कि वह सर्वथा स्वतन्त्र है, बिना निमित्त के ही करता है, तो कभी किसी का मोक्ष नहीं होगा! क्योंकि किसी का मोक्ष होने के बाद भी ईश्वर तो स्वतन्त्र है, फिर सृष्टि कर देगा। इसलिए अगर उस प्रकार का स्वातन्त्र्य परमेश्वर का मानोगे तो निर्निमित्त सृष्टि होने से मोक्ष ही सम्भव नहीं होगा। जब तो परमेश्वर की परा प्रकृति व अपरा प्रकृति अनादि हैं तब परा प्रकृति को पूर्व कर्मों के फल भोगने हैं, फल देने वाली अपरा प्रकृति भी है। अतः परमेश्वर कर्मों के निमित्त से सृष्टि कर लेगा। कर्मफलों का भोग होवे इसलिए सृष्टि करेगा। परन्तु यदि इस निमित्त के बिना ही सृष्टि मानोगे तो मोक्ष असम्भव हो जाएगा। आर्य समाजी दयानन्द वगैरह मोक्ष को नहीं मानते, पर मोक्ष को नहीं मानोगे तो उपनिषत् शास्त्र व्यर्थ हैं, शास्त्र का क्या प्रयोजन है! जिसको मोक्ष नहीं चाहिए वह शास्त्र काहे को मानेगा? संसार के अन्दर अधिकतर लोग ऐसे ही हैं जिनके लिए शास्त्र व्यर्थ है क्योंकि शास्त्र जिस चीज़ को देना चाहता है वह चीज़ उनको चाहिए ही नहीं। यदि मोक्ष असम्भव होगा तो शास्त्र भी व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि बन्ध और मोक्ष का सर्वथा अभाव हो जाएगा। जैसा है वैसा ही रहना है। किसी को बद्ध भी कह सकते हो जब मुक्ति की सम्भावना होवे। जेल में बन्द होते हो तो तुमको कहते हैं 'तुम बन्दी बने'। जेल से छूट गए तब जेल के नियम नहीं लगेंगे इसीलिए उसको जेल से मोक्ष कहते हो। यदि निर्निमित्त सृष्टि मानोगे तो मोक्ष नहीं होगा, तथा मोक्ष नहीं होने से वर्तमान स्थिति बंधन नहीं रहेगी जिससे शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा। इससे विपरीत, यदि ईश्वर की ये दोनों प्रकृतियाँ नित्य मानते हो, अनादि का सीधा अर्थ करते हो कि ये हमेशा से हैं, तो फिर सृष्टि निर्निमित्त नहीं रहेगी, इसलिए मोक्ष की भी सम्भावना हो जाएगी और उपनिषत् शास्त्र भी मोक्ष का रास्ता बतलाने वाला हो जाएगा। जो-जो शास्त्रोक्त ज्ञान को प्राप्त करेगा वह मुक्त होगा, जिस-जिस ने ज्ञान प्राप्त नहीं किया वह बद्ध रहेगा। इस तरह सारी व्यवस्थाएँ बन जाती हैं। इसलिए 'विद्ध्यनादी उभावपि' इसका एक यही अर्थ सम्भव है कि ये अनादि हैं, कारणरहित हैं। नित्य ईश्वर की ये दोनों उपाधियाँ नित्य हैं। नित्य अर्थात् कारणरहित, इनकी उत्पत्ति नहीं है, ज्ञान से बाध होगा पर न इनका प्रारंभ है और बाध से अतिरिक्त इनका समापन भी नहीं है।

'प्रकृतिसम्भवान्' प्रकृति से होने वाले विकार और गुणों को जानो। अगले श्लोक में भगवान् बतलाएँगे कि अहंकारात्मिका वृत्ति से लेकर अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ,

पंचीकृत भूतों से बना शरीर- ये सारे अपरा प्रकृति के विकार हैं। इनमें ही परिवर्तन होता है। और इनके अन्दर जो सुख, दुःख और मोह- ये सारे अनुभवों के आकार होते हैं, प्रत्ययों के आकार होते हैं ये गुण हैं। सुख होता है तो सत्त्वगुण है, दुःख होता है तो रजोगुण है, मोह होता है तो तमोगुण है। सारे जो अहंकार से लेकर के शरीर पर्यन्त विकार, इनमें होने वाले सुख, दुःख और मोह रूप जो गुण हैं, इन सबको 'प्रकृतिसम्भवान् विद्धि'- प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो। अपरा और परा जो दो प्रकृतियाँ बतलाईं- प्रकृति और पुरुष, उनके द्वारा ही ये सब हुए हैं। परमेश्वर की जो विकार करने वाली शक्ति है, परिवर्तन के आकार की शक्ति है, वह सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, तीनों से संवलित है, त्रिगुणात्मिका है, उसी को माया कहते हैं। उससे ही सम्भव अर्थात् उत्पन्न होते हैं विकार। इसलिए इन्हें प्रकृतिसम्भव कहा। प्रकृति के, माया के जो तीन गुण उनसे ये सारे विकार पैदा होते हैं। रजोगुण से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ हो जाएँगी सत्त्वगुण से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ हो जाएँगी तमोगुण से देह हो जाएगा। इन सारे विकारों की जो कारणशक्ति है, विकार करने वाली, वह प्रकृतिरूप माया शक्ति है। उक्त सब विकार तथा सुख-दुःख-मोह रूप गुण इन दोनों को प्रकृतिजन्य समझना है। सुख-दुःख-मोह जिन्हें चिदाभास प्रकाशित करता है उन्हें यहाँ गुण कहा है।।१९।।

प्रकृति से होने वाले विकार और गुण कौन से हैं यह बड़े संक्षेप में बतलाते हैं-

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

(महाभूत, विषय और स्थूल शरीर - इन) कार्यों के तथा (मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियाँ और तीनों गुण - इन) करणों के उत्पादकरूप से इनका कारण प्रकृति कही जाती है और सुख-दुःखरूप भोग्यों के भोक्तारूप से इन्हीं का कारण पुरुष कहा जाता है।

कार्य अर्थात् शरीर। पंचमहाभूतों का जो अन्तिम परिणाम हमारे सामने है वह अपना शरीर ही है। यही कार्य है। करण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार ये सारे करण हैं। करण अर्थात् साधन, जिनके द्वारा ज्ञान या क्रिया करते हैं। अहंकार के द्वारा हम प्रवर्तक बनते हैं, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानना करते हैं, कर्मेन्द्रियों के द्वारा करना करते हैं। चूंकि ये हमारे औजार हैं, साधन हैं, इसलिए इनको करण कहा। कार्य और करणों का जो कर्तृत्त्व अर्थात् उत्पादकत्व, उत्पन्न करना, उसमें हेतु अर्थात् कारण प्रकृति है, प्रकृति से ही ये सब पैदा होते हैं। शरीर आदि जितने हैं सारे भगवान् की इस अपरा प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, कार्यकरणकर्तृत्व के अन्दर प्रकृति की संसार-कारणता स्पष्ट हो जाती है। संसार क्या है? शरीर के अन्दर जो तुम्हारी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण हैं उनके द्वारा करना- बस यही तो संसार है। और इन सबका कारण प्रकृति है। कान है तो सुनते हो, कान नहीं होगा तो नहीं सुनोगे। हाथ है तो पकड़ते हो, हाथ नहीं होगा तो नहीं

पकड़ोगे। इसलिए कार्यकरणकर्तृत्व में प्रकृति हेतु कही जाती है। शरीर को आरम्भ करने वाले पंचमहाभूत विषयरूप भी हैं। तुम भूतों को जानते भी हो और उनके साथ आत्म-भाव करके व्यवहार भी करते हो। हाथ उठाते हो तो खाली इन्द्रिय तो नहीं उठाते, इन्द्रिय के द्वारा स्थूल हाथ को उठाते हो और उस स्थूल को जानते हो। शरीर को आरम्भ करने वाले जो पंच महाभूत, वे ही विषय भी हैं। इसलिये जब कभी हम लोग शरीर की बात करते हैं तब शरीर से अपने-आप सारे विषयों का संग्रह हो जाता है। इसी प्रकार, अन्तःकरण के आश्रय में ही सुख-दुःख-मोह रहेंगे। अंतःकरण कहने से इनका भी संग्रह हो गया। यहाँ भगवान् ने सिर्फ करण कहा अतः बाह्य इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सबका कथन मानना पड़ेगा। सुख-दुःख-मोह अन्तःकरण में तो रहते ही हैं, बाह्य करणों में भी इन्हें देखा जाता है। अन्तःकरणों के आश्रय में रहने वाले जो सुख-दुःख-मोह हैं उनको भी करने में प्रकृति ही हेतु है। सत्त्वगुण बन कर प्रकृति ही अन्तःकरण में सुखात्मक वृत्ति बनाएगी, रजोगुण बनकर दुःखात्मक वृत्ति बनाएगी, तमोगुण बनकर मोहात्मक वृत्ति बनाएगी। इस तरह से संसार का कारण भगवान् ने प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति को बतला दिया।

'कार्यकारणकर्तृत्वे' भी पाठ मिलता है। जो कुछ भी कार्य और कारण, विकार और विकारी है उसे करने में प्रकृति हेतु बनती है– यह उस पाठ में अर्थ है जो तात्पर्यतः भिन्न नहीं है। 'पुरुषः हेतुरुच्यते'; सब कुछ अपरा प्रकृति से हो रहा है तो भगवान् की परा प्रकृति की क्या ज़रूरत है? कार्यकरणकर्तृत्व में सब आ ही गया, तो परा प्रकृति अर्थात् जीव क्यों हैं? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं 'पुरुषः हेतुरुच्यते'। पुरुष भी कारण है अर्थात् आरम्भ करता है। कैसे? 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'। जीव भोक्तापने में कारण है। भोग किसका? सुख-दुःख का। इन्हीं का भोग होता है। भोक्तृत्व अर्थात् इनकी उपलब्धि होना, इनका ज्ञान होना। सुखाकर वृत्ति तो अपरा प्रकृति बनेगी पर 'यह सुख है' अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' यह पुरुष जानेगा। जानने का जो काम है, भोक्तापने का जो काम है, यह अपरा प्रकृति नहीं कर सकती। यदि सुख-दुःखों की भोक्तृता न होवे तो संसार चल नहीं सकता। संसार के चलने में कारण यही है– भोक्तापना। इसलिए पुरुष का ही संसार कहा जाता है। पंचमहाभूतों *से* सारा संसार बना लेकिन संसार पंचमहाभूतों *का* नहीं है। संसार तो जीव का है क्योंकि जब वह भोग करता है तभी संसार होता है। इसलिए भगवान् ने कहा 'सुखदुःखानां भोक्तृत्वे'। सुख-दुःख को भगवान् ने मुखतः कहा लेकिन सुख-दुःख की सारी परम्परा समझ लेना; सुख की वृत्ति का कारण जो रसगुल्ला, वह रसगुल्ला भी तब खाया गया, चखा गया जब पुरुष है। रसगुल्ला बनाने के लिए जो तुमने गाय का दूध खरीदा, छैने के पानी से उसे फाड़ा, उन सब के भी भोक्ता तुम ही हुए। यद्यपि सुख-दुःख अन्तिम परिणाम हैं तथापि सारी जो कारण-परम्परा है उस सबका भोक्तापना तुम्हारे में ही है।

कार्य-करण-कर्तृत्व और सुख-दुःख-भोक्तृत्व - ये हो गए प्रकृति और पुरुष। कार्य-करण-कर्ता होने से प्रकृति और सुख-दुःख का भोग करने से पुरुष संसारहेतु हैं। ये संसार

का कारण कैसे हैं? कार्य-करणरूप से हेतु और सुख-दुःखरूप से फल हो जाते हैं। हमें रसगुल्ले का सुख हुआ तो जीभ हेतु हो गई और सुख फल हो गया। सुख का कारण जीभ के साथ रसगुल्ला, उसका कारण गोली बना कर उबालना। इस प्रकार से कार्य-करण और सुख-दुःख रूप से, हेतु और फल रूप से ये एक-दूसरे के कारण होते चले जाते हैं। प्रकृति का यदि परिणाम न हो और पुरुष चेतन न हो तो संसार की उपलब्धि नहीं होगी। दोनों मिल कर ही कारण होते हैं। अगर प्रकृति परिणत न होवे, कार्यकरणकर्तृत्व न होवे, तो केवल उपलब्धिरूप चेतन क्या करेगा! कुछ नहीं करेगा। ऐसे ही सुख-दुःख गुणों का भोग न होवे तो प्रकृति क्या करेगी! कुछ नहीं करेगी। संसार के लिए दोनों ही एक जैसे ज़रूरी हैं। जब कार्य-करणरूप से और सुख-दुःखात्मक फलरूप से परिणत होकर प्रकृति भोग्य हो जाती है और पुरुष उसका भोक्ता हो जाता है तब संसार है।

कार्यकरणकर्तृत्व और भोक्तृत्व का आपस में सम्बन्ध क्या है? अविद्यारूप सम्बन्ध है, और कुछ नहीं। दोनों का सम्बन्ध अविद्या का खेल है, अज्ञान का खेल है। अविद्या से आत्मा प्रकृति को अपने में मानता है और अपने धर्मों को उसमें मानता है। शरीर इन्द्रियादि को चेतन मानता है और अपने को शरीर रूप समझता है। यह जो अज्ञान है, यही सम्बन्ध है, उसी से ये सारा संसार होता है। अगर अविद्यारूप सम्बन्ध न होवे तो प्रकृति भी क्यों परिणाम करेगी, विकार करेगी, और भोक्ता भी क्यों उपलब्धि करेगा, उनका ज्ञान करेगा! अविद्या के कारण ही यह सब हो रहा है। अतः भगवान् ने कहा कि ये ही दोनों संसार के प्रति कारण हैं- कर्तृत्व और भोक्तृत्व। कर्तृत्व रहेगा प्रधानरूप से अपरा प्रकृति में, भोक्तृत्व रहेगा प्रधान रूप से, पुरुष के अन्दर। कर्तृत्व एक में है, भोक्तृत्व दूसरे में है, दोनों अलग होने पर भी एक हो जाते हैं अविद्या से, अज्ञान से। जैसे मोटी भाषा में समझ सकते होः जो तुमको रस्सी में साँप दीखा, वह साँप कहाँ पर है? यही कहोगे 'हमारे मन में है।' और तो साँप कहाँ है! मन में है। मन में जो साँप है उसका रस्सी से क्या सम्बन्ध? मन के प्रत्यय का या मन की स्मृति का कोई सम्बन्ध उससे बनता तो है नहीं, पर अविद्या के सम्बन्ध के कारण मन का साँप रस्सी में दीख जाता है। यह मोटा दृष्टान्त है। दोनों का बिना सम्बन्ध हुए रस्सी के अज्ञान से ऐसा हो जाता है। इसी प्रकार भोक्तापना परा प्रकृति में, कर्तापना अपरा प्रकृति में, दोनों का कोई सम्बन्ध बनता नहीं; और बिना सम्बन्ध बने हुए, अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व आए बिना, संसार की प्रवृत्ति नहीं। जब तक कार्यकरणकर्तृत्व में भोक्तृत्व का अध्यास न हो जाए और जब तक भोक्ता में कर्तृत्व का अध्यास न हो जाए तब तक यह संसार चलेगा नहीं; और यह होने के लिए सिवाय अविद्या के और कोई कारण नहीं है। क्योंकि संसार का मतलब क्या? सुख-दुःख का भोग - यही संसार है। सुख दुःख की भोक्तृता होना- यही संसारीपना है। जीव संसारी है मायने क्या? सुख-दुःख का भोग करता है, बस, यही तो संसार है। भोग करने के लिए इसको कुछ चाहिए जिसका भोग करे सम्बन्ध उससे हो नहीं सकता और सम्बन्ध के बिना भोग कैसे करे! भोग तभी हो जब भोग्य

के साथ सम्बन्ध होवे। भोग्य के साथ सम्बन्ध बनता नहीं। केवल अज्ञान ही इनका संबंध कहा जा सकता है। इस प्रकार से भगवान् ने सारे संसार की कारणता बड़े संक्षेप में कार्यकरणकर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दो के द्वारा बता दी, सारी सृष्टि का चक्र कैसे चलता है इसे स्पष्ट कर दिया। इसी को पंचदशीकार ने (पंचद. १.२६) कहा है- जीव कर्म क्यों करता है? भोग के लिए। सारी अपरा प्रकृति क्यों चलती है? भोग के लिए। और भोग क्यों करता है? भोग करने से संस्कार बनकर फिर कर्म करने के लिए! कर्म करता है भोग के लिए, भोग करता है संस्कारों के द्वारा फिर कर्म करने के लिए। बस, यह चक्र चलता रहता है। कर्म करोगे, फल भोगोगे, फिर कर्म करोगे, फिर फल भोगोगे – इस प्रकार भगवान् ने यह सृष्टि चक्र बतला दिया।।२०।।

शरीर और करणों को बनाने वाली अपरा प्रकृति है पर इनके चलने का जो कार्य होता है वह अपरा प्रकृति और परा प्रकृति का आविद्यिक सम्बन्ध होने पर ही होता है। अपरा प्रकृति तो केवल स्थूल महाभूत, शरीर, और सूक्ष्म महाभूत तथा भोग के साधन- इनको बनाती है। उसके बाद जो शरीर इत्यादि चलेगा वह तो आध्यासिक सम्बन्ध होकर ही प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार, सुख, दुःख और मोह के भोग में कारण पुरुष है अर्थात् परा प्रकृति है। सुख, दुःख और मोह का भोग ही संसार कहा जाता है। संसार का मतलब सुख, दुःख मोह का भोग। क्योंकि हम सुख–दुःख–मोह में पराधीन हैं इसलिये संसार को बन्धन कहा जाता है। ज्ञान होने पर सुख–दुःख–भोग सम्भव नहीं रहता क्योंकि जिस आध्यासिक सम्बन्ध से भोग होता है वह ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, वह मुक्ति कही जाती है। इस प्रकार सुख–दुःख का भोक्तापना ही संसारीपना है अर्थात् 'मैं इनका भोक्ता हूँ' – इसी अभिमान का नाम है संसारी बन जाना। यह संसारिता किस निमित्त से है- इसको स्पष्ट करेंगे। अब तक तो बतलाया कि अपरा प्रकृति क्या बनाती है और परा प्रकृति किसमें निमित्त है। बनने के बाद यह सब चलता कैसे है, इसको बतलाते हैं –

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

क्योंकि प्रकृति में 'यही मैं हूँ' इस तरह स्थित है इसलिये पुरुष प्रकृति से उत्पन्न सुखादि गुण भोगता है। अच्छी–बुरी योनियों में जन्म के प्रति कारण है पुरुष का गुणों में आत्मभाव।

प्रकृति अर्थात् अविद्या जो कार्य–करण रूपों में परिणत है। अविद्या के कारण स्थूल शरीर और उसके अन्दर इन्द्रियादि सूक्ष्म शरीर- ये दोनों कार्य व करण अविद्या के ही परिणाम हैं। जिस प्रकार रस्सी के अन्दर जो साँप है वह रस्सी के अज्ञान का ही परिणाम है, अन्धकार से रस्सी नहीं दीखी अतः वहाँ पर सर्पादि की प्रतीति है। इसी प्रकार से परा प्रकृति और अपरा प्रकृति दोनों जिस ईश्वर की हैं उस ईश्वर का साक्षात्कार न होने से ये सारे कार्य–करण हैं। अतः प्रकृतिस्थ का मतलब है अविद्या के जो ये परिणाम हैं- कार्य

और करण, इन्हें अपना स्वरूप समझ लेना। शरीर और मन हैं तो प्रकृति के कार्य, लेकिन पुरुष इनमें आत्मभाव को प्राप्त कर गया है– 'यह मैं हूँ'– 'शरीर मैं हूँ, मन मैं हूँ' – ऐसा समझे हुए है। मन से सारा सूक्ष्म शरीर समझ लेना। प्रकृति को अपना स्वरूप समझ लिया है यही प्रकृति में स्थित होना है। अतः 'प्रकृतिजान्गुणान्', प्रकृति के द्वारा उत्पन्न जो सुख-दुःख-मोह हैं उन्हें भोगता है। सुख-दुःख- मोहाकारों से प्रकृति के सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण अभिव्यक्त होते हैं, स्वयं को प्रकृति के साथ एक समझने से पुरुष प्रकृति के सुख-दुःख-मोह रूप गुणों को भी अपना आत्मा समझता है, इसलिए 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मोही', ऐसा अनुभव करता है। शरीर और मन को जब मैं मानेगा तब शरीर और मन के अन्दर उत्पन्न होने वालों को भी अपना मानेगा। सत्त्वगुण की अधिकता पर सुख, रजोगुण की अधिकता पर दुःख, तमोगुण की अधिकता पर मोह पैदा होता है और तब पुरुष खुद को सुखी, दुःखी, मोही समझता है। बस इसी का नाम भोग है। प्रकृति के अन्दर आत्मभाव हो जाना- यही भोग है। प्रकृतिस्थ होने पर ही पुरुष भोग करेगा। सुख-दुःख और मोह रूपी गुण अविद्या के अन्दर हैं पर उनके साथ आत्मबुद्धि होकर 'मैं सुखी, दुःखी, मोही' इसके प्रकार से पुरुष को उनसे संग हो जाता है, 'सुखादि मेरे हैं' ऐसा अभिमान हो जाता है, यह जो संग हो जाना है वही संसार का प्रधान कारण है। पुरुष का सुखी, दुःखी, मोही रूप से अपने को अनुभव करना – यह उन गुणों के साथ संग है। संग है अर्थात् आत्मभाव है, उनके साथ एक हो जाना है। यह सुख, यह दुःख, यह मोह – ऐसा इनका अनुभव नहीं होता है, 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मोही' ऐसा अनुभव होता है। यही संसार का प्रधान कारण है।

भिन्न-भिन्न शरीरादि संघातों की जो प्राप्ति है वही संसरण है अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना। इसका कारण यह संग ही है। श्रुति कहती है कि 'यह जैसा संकल्प करता है वैसा ही हो जाता है' (बृ. ४.४.५)। संकल्प अर्थात् सुख-दुःख- मोह के साथ संग, आत्मभाव; उसके कारण ही आगे जन्म होता है जब हमको जन्म मिलता है तब कौन-सी योनि मिलती है इसमें गुणसंग प्रधान है और वहाँ जाकर हम क्या सुख-दुःख भोगेंगे – इसके अन्दर कर्म प्रधान हैं। जो कर्म तुमने किया है उसके अनुसार तुमको वहाँ सुख-दुःख-मोह का भोग होगा और उस योनि की प्राप्ति कराने वाली चीज़ गुणसंग है। इसलिए भगवान् ने 'सदसद्योनिजन्मसु' कहा, केवल 'सद्-असद्-जन्मसु' नहीं कहा। सद्-असद् जो योनियाँ, उनकी प्राप्ति में गुण-संग ही प्रधान कारण है। सद् और असत् को योनि का विशेषण समझना चाहिये। कुछ आचार्यों ने सद् योनि, असद् योनि और सदसद् योनियाँ देवादि, पशु आदि और मानव- इन सब योनियों का संग्रह किया है। सदसद् योनियाँ हैं तो विषयभूत क्योंकि योनि से तुम्हारा शरीर और सूक्ष्म शरीर प्रकट होगा, पर उनके साथ आत्मभाव गुणसंग से है। सदसद् योनियों में जो जन्म है वही संसार है। एक योनि से दूसरी योनि में जाओ, दूसरी से तीसरी योनि में जाओ- इसी का नाम संसरण या संसार है।

इसलिए 'सदसद्-योनि-जन्मों में कारण है' इसका तात्पर्य हो गया- संसार में कारण है। सद् योनियाँ हो गईं मनुष्य से ऊपर की; देव योनि से लेकर ऊपर जितना चले जाओ ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, गोलोक सब आ जाएँगे। वहाँ सर्वत्र होने वाली सद्योनियाँ हो गईं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग- ये सब असद् योनियाँ हो गईं। जो सत् और असत् दोनों योनि है अर्थात् मध्य वाली- वह हो गई मनुष्य योनि। मनुष्य हो गया मध्य की योनि। मनुष्य धर्म और ज्ञान का अधिकारी है इसलिए सद् योनि है। इसीलिए श्रुति (छा.५.१०.७) ने कहा 'रमणीय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा'। चूँकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य - ये धर्म-ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हैं, अतः ये हो गये रमणीय योनि, सद् योनि। परन्तु मनुष्य धर्म का अधिकारी भी है और अधर्म भी कर सकता है। इसलिए अधर्म का अधिकारी होने से इसको असद् योनि भी कह सकते हैं। अतः मध्य का होने से सदसद् योनि है। इसके ऊपर की देव योनियाँ आदि सारी सद् योनियाँ हैं और इसके नीचे की पशु पक्षी आदि सब असद् योनियाँ हैं। कहाँ जन्म होता है, किस योनि में जन्म होता है, इसका निर्णय कौन करता है? भगवान् कहते हैं कि प्रकृति के अन्दर स्थित होना रूप जो गुणसंग है अर्थात् प्रकृति से आत्मभाव करके सुख-दुःख-मोह अपने में मानना है, वही कारण है। गुणसंग के कारण ही गुणों के प्रति पुरुष की कामना है; श्रुति में इसलिये 'स यथाकामो भवति तदभिसम्पद्यते' (बृ. ४.४.५) से काम को ही संसार का बीज बतलाया है। कामना कब होगी? जब प्रकृति को आत्मरूप मानेगा। प्रकृति को जो आत्मरूप नहीं मानेगा उसके लिए अविद्या का संसार है ही नहीं। लोक में भी यही बात है; जिसको तुम प्राप्ति के योग्य समझते हो उसी की कामना होती है और पता लग जाए कि यह चीज़ तुम प्राप्त कर नहीं सकते, तो उसकी कामना नहीं रह जाती। अव्यक्त रूप से चाहे रहे, लेकिन व्यक्त नहीं हो सकती। जैसे हम लोगों में कभी भी पेड़ बनने की इच्छा नहीं आती कि 'हम पेड़ बन जाएँ'। यथाकथंचित् किसी में हो जाए तो उसका वह गुणसंग मान लेना पड़ेगा। श्रुति ने जो संसार का कारण काम बतलाया है, उसी को भगवान् ने यहाँ गुणसंग शब्द से कहा है।

संसार के कारण को बतलाने में भगवान् का तात्पर्य क्या है? संसार का यही कारण है इसलिए इसका परिवर्जन करना चाहिए, इसको छोड़ देना चाहिए। इस गुणसंग की निवृत्ति का कारण है परमात्म-विषयक ज्ञान। वास्तव में सम्भव ही नहीं है कि प्रकृति के साथ हमारी एकता हो सके! आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही एकता का भ्रम है। परमात्म तत्त्व के विषय का ज्ञान उस अज्ञान को मिटा देता है। इसके लिये ज़रूरी है संसार के प्रति होने वाली जो कामना है वह हटकर उसके प्रति वैराग्य होना। भोग असम्भव है अतः जिन चीज़ों को हम भोग्य समझते हैं वे हमारे राग के लायक हैं ही नहीं। इसलिए पदार्थमात्र में दोषदर्शन करना चाहिये। योगवासिष्ठादि में इसीलिए सबसे पहले वैराग्योत्पादक कई प्रकरण हैं- स्त्री, धन इत्यादि के दोषों को अलग-अलग प्रकरणों में विस्तार से बताया, जिससे उनसे वैराग्य हो

जाए। भगवान् ने जो कहा कि 'गुणसंग संसरण का कारण है' वह यह कहने के लिए कि चूंकि यही संसार का कारण है अतः इससे बचो। बचने का उपाय ज्ञान और वैराग्य है।

ज्ञान-वैराग्य किससे पुष्ट होता है? संन्यास से ही पुष्ट होता है, संन्यास के बिना पुष्ट नहीं हो पाता। थोड़ा-बहुत हो तो जाता है, लेकिन पुष्ट नहीं होता। गृहस्थ को गृहस्थ आश्रम की चीज़ों को चलाना ही है। वानप्रस्थ में रहोगे तो वानप्रस्थ की चीज़ों को चलाना ही है। संन्यास वह है जहाँ कुछ चलाना नहीं है। भूख-प्यास मिटाना ही एक सांसारिक काम रह जाता है। उसके लिए जो न्यूनतम भिक्षाटन आदि है वह भी नियम से कर्त्तव्य नहीं है। परमहंस के लिए भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि भिक्षा करे यह नियम नहीं है। भूख लगे, न रहा जाए तो माँग लेवे – बस इतनी ही अनुमति है। ज़रूर भिक्षाटन करे – ऐसा नियम, भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं, परमहंस के लिये नहीं है। उसके लिए 'यह करना है' ऐसा कुछ प्राप्त नहीं है। जब किसी तरह से प्राप्त नहीं है तो केवल कामना होगी तभी प्रवृत्ति करेगा। अन्य आश्रमों में तो बिना कामना के भी उस आश्रम के नियमों के अनुसार कुछ करना पड़ता है। संन्यासी को ऐसा कुछ भी कर्त्तव्य प्राप्त नहीं है। अतः वह बार-बार कामना का त्याग कर सकता है। इसलिए संन्यास के बिना वैराग्य और ज्ञान पुष्ट होते नहीं। यह बात गीता शास्त्र में भगवान् ने बार-बार ज़ोर देकर कही है। चूंकि ऐसा ज्ञान-वैराग्य अर्जुन में नहीं है इसलिए कई बार अर्जुन को कहा 'तेरे को तो युद्ध ही करना पड़ेगा। तू अभी संन्यास के लायक नहीं है।' हर हालत में, यह जो भगवान् ने यहाँ कहा है कि 'सदसद्योनिजन्मसु अस्य गुणसंगः कारणं' यह कामना को समूल निवृत्त करने के लिए कहा है।।२१।।

अब भगवान् कहते हैं कि वह पुरुष कई रूपों में प्रतीत होता है–

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

(अव्यक्त से भी) परे जो पुरुष है वह इस शरीर में (रहता हुआ इन नामें से) कहा जाता है : उपद्रष्टा (समीप रहकर देखने वाला), अनुमन्ता (अनुमोदन करने वाला), भर्ता (भरण करने वाला), भोक्ता (भोग करने वाला), महेश्वर (स्वतंत्र सर्वात्मा) और परमात्मा (सर्वोत्तम प्रत्यक्चैतन्य)।

'अस्मिन् देहे' यह जो तुम्हारा स्थूल और सूक्ष्म शरीर है, इसमें 'परः पुरुषः' वह जो सबका अधिष्ठान परम पुरुष है, वह कभी तो उपद्रष्टा की तरह प्रतीत होता है। उपद्रष्टा का मतलब होता है किसी चीज़ के पास में तो रहना, उसको स्वयं देखना, परन्तु खुद उसमें व्यापृत न होना, व्यापार वाला न होना। देखते हो कि हो रहा है पर देखते हुए भी उसमें करने वाले नहीं बनते। अपने को उसके साथ मिलाते नहीं, केवल देखते ही हो। उपद्रष्टा शब्द यज्ञ के प्रसंग से लिया है। यज्ञ में उपद्रष्टा होता है। ऋत्विक् और यजमान मिल कर यज्ञ कर्म करते हैं। यज्ञ को देखने भी लोग आए हुए होते हैं। न वे ऋत्विक् का काम कर

रहे हैं, न वे यजमान का काम कर रहे हैं। आधुनिक भाषा में ऐसों को तमाशबीन कहते हैं। परन्तु उपद्रष्टा कैसा तमाशबीन होता है? यज्ञविद्या में कुशल होता है, यज्ञविद्या को जानने वाला होता है। इसलिए देखते हुए उसको पता रहता है कि क्या ठीक हो रहा है, क्या गलत हो रहा है। करेगा कुछ नहीं। न किसी को रोकेगा, न किसी को कहेगा ठीक कर रहे हो। कुछ नहीं करेगा। जैसे तमाशा देखने वाले तमाशा देखते हैं ऐसे देखता रहेगा। दो जने आपस में गाली देने लगें तो दस आदमी चारों ओर खड़े हो जाते हैं। उनको रोकेंगे भी नहीं, उनकों कहेंगे भी नहीं कि 'मारो, मारो', पर खड़े-खड़े देखेंगे, ऐसे को यज्ञस्थल में उपद्रष्टा कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से तुम्हारा कार्य-करण-व्यापार हो रहा है, शरीर-इन्द्रियाँ सब अपना-अपना काम कर रहे हैं। आँख देख रही है, पैर चल रहा है, शरीर हिल रहा है, सब हो रहा है। इनके व्यापार करते हुए भी पुरुष वास्तव में व्यापार करने वाला नहीं बनता है। अज्ञान से तो मानता है कि पैर चला तो मैं चला, आँख ने देखा तो मैंने देखा। किन्तु वास्तव में कार्यकरण- व्यापारों को देखता है परन्तु स्वयं व्यापारी नहीं बनता। वस्तुतः अपने को उनसे सर्वथा विलक्षण देखता है। मैं प्रकाशरूप हूँ तो ये सब अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। पुरुष कुछ करता नहीं, उनको समीप से देखता है। इसी शरीर मन के व्यापारों को क्यों देखता है? इसके समीप में है इसलिये। इसीलिय इसको उपद्रष्टा कहते हैं।

अथवा उपद्रष्टा का अर्थ हैः क्या-क्या चीज़ें चेतन की तरह व्यवहार करती हैं अर्थात् द्रष्टा हैं? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि - ये सब चेतन की तरह व्यवहार करते हैं। क्योंकि इन सबके अन्दर आत्माध्यास है इसलिये इन सबके अन्दर चेतनता है। शरीर में भी चेतनता है। इसलिए जैसे ही कोई घूँसा मारता है, खट पता चलता है। ऐसा तो नहीं कि पता नहीं चलता है! इन्द्रियों में भी चेतनता है। उधर से आवाज़ आई तो खट आँख उधर को जाती है देखने के लिए। जेब से आवाज़ आई तो खट हाथ जाता है टेलीफोन को निकालने के लिए। कान ने सुना तो कान में भी चेतनता है। मन में और बुद्धि में चेतनता तो हर एक को लगती ही है। बुद्धि अर्थात् 'मैं चेतन' यह सबको लगता है। और मन संकल्प करता है तो चेतन है। ये सब द्रष्टा हैं, चेतन हैं। इनमें सबसे बाहर का चेतन तो शरीर है, बाकी सब तो शरीर के अन्दर हैं। शरीर से बाहर तो हमें कभी चेतनता का अनुभव होता नहीं। शरीर की अपेक्षा बुद्धि, अहम् नज़दीक है। बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ ये सब एक-दूसरे की अपेक्षा बाहर होती चली जाती हैं। बाहर से अन्दर की तरफ जाओगे तो शरीर के अन्दर इन्द्रियाँ पड़ेंगी, इन्द्रियों के अन्दर मन पड़ेगा, मन के अन्दर अहंकार पड़ेगा, एक-दूसरे की अपेक्षा ये बाहर-भीतर पड़ते हैं। अहम् के अन्दर जो द्रष्टा है वह प्रत्यक् अर्थात् अत्यन्त समीप में होने से उसको उपद्रष्टा कहते हैं। अतः प्रत्यगात्मा ही सबसे समीप होकर द्रष्टा है इसलिए उसको उपद्रष्टा कह दिया। आगे उस प्रत्यगात्मा के अन्दर कोई उसको देखने वाला नहीं है। अहम् के अन्दर तो प्रत्यगात्मा है पर आगे प्रत्यगात्मा के अन्दर प्रत्यगात्मा को देखने वाला कोई नहीं है। वही सबको देखने वाला है। इसलिए 'उप' अर्थात् अतिशय

समीप, सर्वाधिक समीपता से वह द्रष्टा है इसलिए उसको उपद्रष्टा कह दिया। यज्ञ के दृष्टान्त में जैसे उपद्रष्टा सब को विषय करता है वैसे आत्मा सबको जानता है। यज्ञ का जो उपद्रष्टा है वह सारे ही ऋत्विकों को देखता है, यजमान को देखता है, सामग्री को देखता है। वहाँ की सब चीज़ों को देखता है इसलिए उपद्रष्टा है। इसी प्रकार बुद्धि के विकारों को, मन के विकारों को, इन्द्रियों के विकारों को, शरीर के विकारों को- सबको आत्मा प्रकाशित करता है। है तो सबसे अन्दर लेकिन विषय तो बाह्य तक सब को कर लेता है। इसलिए उसको उपद्रष्टा कह दिया। जो परमात्मा है वही प्रत्यगात्मरूप से उपद्रष्टा है।

अनुमन्ता। अनुमति देने वाले को अनुमन्ता कहते हैं। अर्थात् जो कुछ हो रहा है उस सभी के अन्दर जो परितोष का अनुभव कर रहा है, 'ठीक हो रहा है' ऐसा समझता है वह अनुमन्ता है। उपद्रष्टा ने तो केवल प्रकाशित किया, केवल जाना और अनुमन्ता को उसके अन्दर परितोष का भी अनुभव है। यह भी उसी परमात्मा का रूप है! जितना भी व्यवहार है उस व्यवहार को तो शरीर इन्द्रियाँ करते हैं, अनुमंता उसमें प्रवृत्त तो नहीं होता, अपने को करने वाला तो नहीं समझता, पर उस सब व्यवहार के अनुकूल रहता है। अनुमोदन करता है कि ठीक है। इसलिए उसको अनुमन्ता कहते हैं। यह भी उस परमात्मा का रूप है अनुमन्ता इसलिए है कि जो उसके शरीर मन आदि की प्रवृत्ति है, व्यापार है, उसका वह अपने को साक्षी जानता है और उनका निवारण नहीं करता। वे अपने-आप हो रहे हैं; उनका प्रवर्त्तन तो नहीं करता, लेकिन अनुमन्ता होने से उनका निवर्त्तन भी नहीं करता। इसलिए उसको अनुमन्ता कहते हैं। यह अनुमन्ता-भाव साधक में काफी देर में आने वाली विशेषता है। शरीर गिरेगा, माथा फूटेगा खून बहेगा; उस समय भी 'ठीक हो रहा है'- यों तमाशा देखना- जो अनुमन्ताभाव, वह तभी आता है जब कार्यकरण- व्यापारों के अन्दर मिथ्या-बुद्धि दृढ होती है। ऐसे समझ लोः सामान्य भक्त भगवान् की फोटो को देख रहा है, उसके ऊपर चींटी चढ़ रही है तो खट जाकर चींटी को हटाता है कि भगवान् पर चींटी न चढ़ जाए; परन्तु जब पता लग जाता है कि यह तो भगवान् नहीं कागज़ का टुकड़ा है, तब फिर चाहे दीमक खाये, भगवान् को थोड़े ही खाएगी! जब तक उसके अन्दर भगवत्त्व का आरोप है तब तक तो प्रवृत्ति करता है और जब वह आरोप हट जाता है तब कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं रह जाती। जितना-जितना संसार के कार्य करण-संघातों में मिथ्यात्वबोध दृढ होता जाता है उतना अनुमन्ता-भाव दृढ होता जाएगा। किसी भी परिस्थिति में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होगी।

भर्ता - शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि का जो संघात है, वह सारा-का-सारा संघात ज्ञान के लिए ही है। सारा संघात जो कुछ करता है वह अन्ततः ज्ञान के लिए ही करता है। इसीलिए चैतन्य उनके रूपों में अवभासित होता है अर्थात् वे सारे ज्ञान वाले होकर ही अपना कार्य करेंगे। यह जो चैतन्य का उनमें आभास है यही उनका भरण करना है। दीवाल के अन्दर तो हम चैतन्य का आभास नहीं करते! शरीर-पर्यन्त ही करते हैं। इसका भरण करने वाला

जो चैतन्य स्वरूप है वह भर्ता कहा जाता है।

भोक्ता के स्तर में जैसे आग लोहे में प्रविष्ट होती है ऐसे सुखादि से एकमेक हो जाया जाता है। आग लोहे में बिना प्रविष्ट हुए प्रविष्ट हुई–सी प्रतीत होती है। उसी प्रकार बुद्धि के जो सुख–दुःख–मोहात्मक प्रत्यय हैं, और भी सर्वविषयक अनुभव हैं, वे सारे चैतन्य आत्मा से ग्रस्त हुए प्रतीत होते हैं। जैसे आग और लोहे को अलग जानने वाला भी गर्म लोहे को अंगुली से छूने का प्रयत्न नहीं करेगा, जानता है कि आग लोहे से अलग है परन्तु यह भी पता है कि जहाँ अंगुली रखूँगा वहाँ लोहा और आग दोनों ही हैं, इसी प्रकार शरीर से लेकर बुद्धि- प्रत्ययों तक, सब चीज़ों से चैतन्य अलग है- यह तो वह जानता है लेकिन अलग होने पर भी इन सबके अन्दर चैतन्य–आत्मभाव का अनुभव होता है, प्रतीति होती है, तब भोक्ता–भाव है। उस परमेश्वर का इन चार प्रकारों से हम लोग अनुभव करते हैं।

स्वरूप से क्योंकि वह सर्वात्मा है, सर्वभूतात्मभूतात्मा है और सर्वथा स्वतन्त्र है, व्यापक है, इसलिए उसको 'महेश्वर' कहते हैं। यदि दूसरा आत्मा होता तो परतन्त्रता का सवाल आता। जब वह अकेला ही सर्वत्र है तो स्वतन्त्र ही है। सर्वभूतात्मभूतात्मा होने से व्यापक है। इसलिए सबका शासन करने वाला- यह उस महेश्वर का रूप है।

पहले जो भाव कहे थे उनके अन्दर तो इस शरीर इन्द्रिय का अनुगमन था। महेश्वर के अन्दर इस शरीर का अनुगमन तो नहीं है, परन्तु सर्व का है। आत्मा एक है लेकिन इसके देह–इन्द्रियादि बहुत हैं, इसीलिए महेश्वर कहते हैं। जब यह भी न रहे तब 'परमात्मा' है। अर्थात् शरीरों से लेकर बुद्धि–पर्यन्त, हिरण्यगर्भ–पर्यन्त सबका ही प्रत्यगात्मा है। शरीरादिकी कल्पना अविद्या से है। अविद्या–तत्कार्य से निवृत्त जो शुद्ध है वह परमात्मा है।

इन सब नामों से परम पुरुष ही कहा गया है। कहाँ कहा गया है? श्रुतियों में और स्मृतियों में कहा गया है। 'अस्मिन् देहे परः पुरुषः' इस शरीर के अन्दर परं पुरुष ही भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को लेकर भिन्न–भिन्न नामों से कहा जाता है।

उपद्रष्टा आदि भावों को विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों से भी समझना चाहिये। वह पुरुष ही भिन्न–भिन्न उपाधियों से भिन्न–भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। जब उपाधि की प्रधानता हो जाती है तब वह भोक्ता है, जब उपाधि कुछ मन्द हो जाती है तब भर्ता है, जब उपाधि नाममात्र को रह जाती है तब अनुमन्ता और जब उपाधि केवल प्रतीतिमात्र कराती है तब उपद्रष्टा है। सारे ब्रह्माण्ड के शासक की उपाधि से वही महेश्वर है। इस दृष्टि से आत्मा ही उपाधियों की क्षीणता या महत्ता के कारण इन प्रकारों का प्रतीत होता है।

कुछ लोग प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के सिवाय पुरुष नहीं है ऐसा मानते हैं। प्रकृति की प्रधानता में भोक्तापना हम लोगों ने कहा लेकिन वे लोग प्रकृति की प्रधानता को इतना ज़्यादा मानते हैं कि पुरुष माने बिना ही काम चला लेते हैं! चार्वाक, लोकायत और इनके सब अवान्तर भेद वाले मानते हैं कि प्रकृति और गुणों का खास ढंग का संघात चेतन की तरह प्रतीत होता है, चैतन्य कोई वस्तु है नहीं। कुछ लोग मानते हैं कि महाभूतों के उस

परिमाण में इकट्ठे होने पर चैतन्य रूपी गुण प्रकट हो जाता है। चैतन्य को गुण मानने वाले तो कणाद और गौतम के अनुयायी भी हैं परन्तु वे उसको आत्मा का गुण मानते हैं जबकि चार्वाक का कहना है कि चैतन्य आत्मा का नहीं, अनात्मा का गुण है। उनका दृष्टान्त होता है कि जैसे पान भी लाल नहीं, कत्था भी लाल नहीं, चूना भी लाल नहीं, सुपारी भी लाल नहीं परन्तु इन सबके मिलने पर एक नया लाल गुण प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार से शरीर में महाभूतों के विशिष्ट परिमाण में मिलने से चैतन्य पैदा हो जाता है। वे लोग आत्मा को भोक्ता ही मानते हैं कि अनात्मा ही आत्मा जैसा है, इसके सिवाय भूतों से भिन्न पदार्थ नहीं है। जब देहादि संघात के रूप में भूत एकत्र हो जाते हैं तब उसमें आत्मगुण प्रकट हो जाता है और जब संघात के परिमाण में कोई फ़र्क आ जाता है तब वह गुण नहीं रह जाता है। तब लोग कहते हैं कि 'यह मर गया'। मरना और कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि में भोक्ता ही आत्मा है, और आत्मा से मतलब देहादि संघात। ये प्राचीन चार्वाक तो थे ही लेकिन वर्त्तमान में भी अधिकतर पाश्चात्य वैज्ञानिक और उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय भी यही मानते हैं कि जो दिमाग के अन्दर प्रकृति के कार्य अनात्म पदार्थ हैं उन्हीं में चेतनता रूपी गुण प्रकट हो जाता है। वे उसको 'गुण' नहीं कहते अनुघटना, उपोत्पाद कहते हैं। प्राकृतिक द्रव्यों का उपोत्पाद मन या ज्ञान को मानते हैं। हम लोगों की भाषा में गुण ही कहेंगे।

उनसे कुछ आगे चले नैयायिक। नैयायिक कहते हैं कि यह बात तो ठीक है कि चैतन्य गुण है परन्तु आत्मा एक चीज़ है जिसमें शरीरादि संघात के सम्बन्ध से खासकर मनके सम्बन्ध से चैतन्य गुण प्रकट होता है। अर्थात् आत्मा भी चैतन्य नहीं है और अनात्मा भी चैतन्य नहीं है, परन्तु चैतन्य आत्मा में मनःसंयोग से पैदा होने वाला गुण है। इसलिए इनके यहाँ वास्तविक कर्तृता और भोक्तृता स्वीकार है। आस्तिक होने से मानते हैं कि भोग कर्मफलों का होता है। कर्मफल कब होवे? जब कर्म किया जाए। इस प्रकार अनात्मा जो मन उसके संयोग से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व है; वह कर्ता होने से कर्मफल को उत्पन्न करता है और तब भोक्ता बन जाता है। कर्मफलों के द्वारा ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भरण होता है इसलिए आत्मा भर्ता है, कर्मफलों को उत्पन्न करने वाला है। कर्म करके कर्मफल को उत्पन्न करता है और कर्मफल ही फिर आत्मा और मन का संयोग कराते हैं। कर्मफल भोगने के लिए आत्ममनःसंयोग होता है और क्योंकि उसके अन्दर कर्तृत्व है इसलिए फिर कर्म कर लेता है। इस तरह से ये आत्मा को मानते तो हैं लेकिन आत्मा को चेतनरूप नहीं मानते। अतः इनके मत में आत्मा भर्ता है अर्थात् कर्म करके, फल को उत्पन्न करके इस सारे संसार का भरण करता है, उसको पुष्ट करता है।

कुछ लोगों का कहना है कि ऐसा नहीं है कि आत्मा के अन्दर स्वाभाविक चेतनपना नहीं है। चार्वाकों के पक्ष में तो चेतन आत्मा है ही नहीं। नैयायिकों के पक्ष में आत्मा है परन्तु अनात्मा के सम्बन्ध से चेतन होता है, स्वरूप से आत्मा चेतन नहीं है। उसको इसीलिए चेतन कहा जाता है कि अनात्मा (मन) से सम्बन्ध होकर उसमें चैतन्य प्रकट होता है। तीसरों का कहना है कि जो मन का संयोग अथवा सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण का संयोग है,

उसके कारण भोक्तृता है यह तो ठीक है, परन्तु आत्मा उस भोग से लिप्त नहीं होता, असंग रहता है। भोक्ता है पर भोक्तापने से असंग है। अतः आत्मा तीनों गुणों के खेल को स्वीकृति देता है इसीलिए बन्धन में है। ठीक जिस प्रकार से मकान बनवाने वाला खुद कुछ नहीं बनाता परन्तु मज़दूरों को, कारीगरों को पैसा देता है और पैसे के लिए वे मकान बनाते हैं। यदि उनको पैसा नहीं मिले तो मकान नहीं बनाएँगे। इसी प्रकार सत्त्वादि गुण करते हैं परन्तु पुरुष भोक्ता बनते हुए उसकी अनुमति देता है, अर्थात् उसको देखता रहता है इसलिए आत्मा अनुमन्ता है। करने वाले तो सब गुण हैं परन्तु करते किसके लिए हैं? जैसे मज़दूर, मिस्त्री सब मिलकर करते किसके लिए हैं? मालिक के लिए। मालिक उनको पैसा देता है, उसकी अनुमति है। इसी प्रकार से आत्मा की अनुमति से ये सारे गुण करते हैं, आत्मा उसका अनुमन्ता है। ऐसा कपिल और पतञ्जलि के अनुयायी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा में अनुमन्ता-भाव है।

वेदान्ती का, हम लोगों का कहना है कि गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा खुद चेतन है, उसको गुणों की कोई अपेक्षा नहीं है, गुणों का सम्बन्ध आत्मा में सर्वथा नहीं है। इसलिए वह सर्वथा इनके प्रति उदासीन है। सांख्य पक्ष के अन्दर तो अनुमति देता है और इस पक्ष में अनुमति भी नहीं देता है। केवल उदासीन रूप से रहता है। गुणों के प्रचार का दर्शनमात्र करता है, अनुमति वगैरह कुछ नहीं देता क्योंकि वास्तविक सम्बन्ध है ही नहीं। इस साक्षिभाव को ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप मानने के कारण उपद्रष्टा-भाव को ही प्रधान मानते हैं। कर्तृत्व भोक्तृत्व की प्रतीति भी अज्ञान से है, सचमुच में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है। आत्मा कोई उपकार गुणों का करता हो ऐसा नहीं। वह केवल विद्यमान है और ये सब अपनी क्रियाएँ करते हैं। उनके साथ इसका कोई सत्य सम्बन्ध नहीं। अतः वेदान्ती साक्षी को, उपद्रष्टा भाव को ही आत्मा का स्वरूप समझता है।

इस प्रकार से भोक्ता भर्ता अनुमन्ता और उपद्रष्टा- भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की दृष्टि से आत्मा को स्वीकार किया जाता है। यहाँ भगवान् ने आत्मविषयक इन सिद्धांतों को इन शब्दों में एकत्र कर दिया है- वेदान्ती के अनुसार उपद्रष्टा, सांख्य के अनुसार अनुमन्ता, नैयायिक के अनुसार भर्ता और चार्वाक के अनुसार भोक्ता।

जैसे उक्त चार शब्द जीव के बारे में बताते हैं वैसे महेश्वर और परमात्मा ईश्वर के बारे में बताते हैं। चार्वाक की दृष्टि में तो सचमुच में कोई महेश्वर नहीं है। शरीरादियों को नियमन करने के लिए जो राजा होता है वही महेश्वर है क्योंकि उसकी आज्ञा के अनुसार शरीरादियों को चलना पड़ता है। इससे अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं। द्वितीय, न्याय पक्ष के अन्दर ईश्वर किसी चीज़ का व्यावहारिक नियन्त्रण नहीं करता, उसको सबका सदा ज्ञान है और जो हो रहा है उस सबकी उसे नित्य इच्छा है, इतने मात्र से उसको ईश्वर कहते हैं। तीसरे सांख्य पक्ष वाले या तो ईश्वर को मानते ही नहीं, कपिल तो स्वीकार ही नहीं करते कि ईश्वर है; पतञ्जलि स्वीकार तो करते हैं, लेकिन उसको

'पुरुषविशेष' ही कहते हैं। सृष्टि आदि कार्य उसके होवें ऐसा नहीं मानते। और जो अन्तिम, वेदान्त पक्ष है उसके अन्दर माया उपाधि से ईश्वर वैसे ही सब चीज़ों का मालिक है जैसे अन्तःकरण की उपाधि से जीव उनका दास है। अतः उनके यहाँ महेश्वर सचमुच में, अपनी उपाधि की समान सत्ता में सबका शासन करने वाला है, सबको चलाने वाला है। करता माया की उपाधि से है, स्वरूप से नहीं। जिस प्रकार से उदासीन रहता हुआ साक्षी ही अनुमन्ता आदि भावों को अज्ञान से देखता है इसी प्रकार से महेश्वर समष्टि अज्ञानरूप माया की उपाधि से सब चीजों का नियन्त्रण करता है वस्तुतः स्वरूपतः नहीं करता है। ये ईश्वरविषयक विचार भी सूचित समझ सकते हैं। चार्वाक और सांख्य मतों में ईक्ष्वर है नहीं, न्याय और योग मतों में है पर अकिंचित्कर है, वेदान्त में उपाधि से आत्मा में ईश्वरत्व है।।२२।।

आत्मज्ञानका फल बताते हैं-

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

जो 'यही मैं हूँ' यों परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है और (उस अनुभव के बल पर) विकारों समेत प्रकृति को 'यह है ही नहीं' ऐसा जान लेता है, वह हर तरह से रहता हुआ भी (इस शरीर के नष्ट होने के बाद) फिर पैदा नहीं होता।

भगवान् बतलाते हैं कि 'एवम्'- मैंने जैसा बतलाया वैसा प्रकृति व पुरुष को जो समझता है वह मुक्त हो जाता है। पुरुष की दो शक्तियाँ, प्रकृतियाँ कहीं - परा और अपरा। परा जीव- रूप है और अपरा सारा संसार है। इन दोनों प्रकृतियों द्वारा भगवान् जगत् का नियन्त्रण करने वाले हैं। 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (७.६)। अतः भगवान् के बताये ढंग से वास्तविक एक भगवान् ही हैं, जीव उनसे पृथक् नहीं और जगत् की भी उनसे स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं। इस प्रकार से जानने का ही यहाँ फल बताया है। प्रकृति और प्रकृति के तीन गुण- सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण सुख, दुःख, मोह का अनुभव कराते हैं। इन गुणों के साथ और सभी कार्यों के साथ प्रकृति को और पुरुष को जो जानता है वह फल पाता है। 'वेत्ति' 'जानता है' मायने क्या? जो प्रकार भगवान् ने बतलाया है उसके अनुसार साक्षात्कार करता है। भगवान् के बताए प्रकार में वह पुरुष साक्षात् मैं हूँ। पुरुष ही अपरोक्ष रूप से 'मैं' इस अनुभूति के अन्दर प्रकाशमान है। प्रकृति अविद्या-स्वरूप ही है, अज्ञान-स्वरूप ही है। उसको जानना अर्थात् सारे गुणों के साथ प्रकृति को 'यह नहीं है' इस प्रकार से जानना! '*प्रतीत* नहीं होती है'- ऐसा नहीं, वरन् है नहीं। जिस प्रकार से मृगीका जल दीखता है पर है नहीं, इसी प्रकार प्रकृति और उसके सारे गुणों को देखते हुए भी विद्या के बल से 'यह नहीं है' इस प्रकार उसका अभाव समझना है। प्रतीत हो रहा है इसलिए 'असत्' नहीं कहना चाहते परन्तु प्रतीत

होते हुए 'नहीं है' का निश्चय चाहिये। जिस प्रकार सामने रामचन्द्र की मूर्त्ति है, मूर्त्ति देखते हुए ही कारीगर जानता है कि यह राम नहीं है। इसीलिए मूर्त्ति के अन्दर कोई चीज़ ठीक नहीं है तो छेनी-हथौड़ी लेकर बनाता है। यदि उसे साक्षात् राम समझे तब तो उसको ठीक ही नहीं कर सकता! दीखती तो उसको भी मूर्ति है पर जानता है कि पत्थर है। इसी प्रकार प्रकृति के सारे विकारों को, सारे गुणों को देखते हुए पुरुषयाथात्म्यवेत्ता जानता है कि यह नहीं है। जब ऐसी विद्या प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा प्रकृति को 'नहीं है' समझ लिया जाता है, तब फिर 'सर्वथा वर्तमानोऽपि', सब प्रकार से व्यवहार करते हुए, वर्तन करते हुए भी वह मुक्त ही होता है। बर्ताव गुणों के साथ करता है। इसलिए सुखाकार वृत्ति को सुखाकार जानता है, दुःखाकार वृत्ति को दुःखाकार जानता है, मोहाकार वृत्ति को मोहाकार जानता है, परन्तु जानते हुए उसका निश्चय है कि 'ये नहीं हैं'। सारी इन्द्रियों से, अन्तःकरण आदि से व्यवहार करता है, शरीर से भी व्यवहार करता है, और इसलिए ऐसा प्रतीत होगा कि 'यह इसमें व्यवहार कर रहा है', किंतु उक्त ज्ञान के बल से 'स भूयः न अभिजायते', इस शरीर के गिर जाने पर फिर पैदा नहीं होता। क्योंकि श्रुति कहती है 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा.६.१४.२) कि वर्तमान देह रहने तक की देर है, फिर तो उसका विदेह कैवल्य सिद्ध ही है। अतः इस शरीर के गिरने पर दूसरा शरीर, उसको प्राप्त नहीं करना पड़ता अर्थात् जन्मान्तर की प्राप्ति नहीं होती। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि', सब तरह से बर्ताव करते हुए भी; इसका तात्पर्य हुआ कि जो निरन्तर उस आत्मभाव में स्थित रहते हुए सर्वकर्मसंन्यास करता है उसका जन्म नहीं होगा इसमें तो कहना ही क्या है! अगर प्रारब्धातिशय से जीवन्मुक्त के देहादि क्रिया करते रहते हैं तो भी आगे जन्म नहीं लेता तो जो सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वक निरन्तर उसी निष्ठा के अन्दर स्थित है वह मुक्त हो जाएगा इसमें तो कहना ही क्या है!

जो भगवान् ने बात कही वह कर्मकाण्डियों के मधुमक्खी के छत्ते को छेड़ने की तरह है! जो कर्म को प्रधान मानते हैं वे मोक्ष से बड़े सशंकित रहते हैं। उनका कहना है कि भगवान् ने कहा कि ज्ञान होने के बाद जो वह करता है यह उसको जन्मान्तर नहीं देता; बस, इतना ही भगवान् का तात्पर्य मानना चाहिए। यह नहीं मान सकते कि अनेक जन्मों से जो तुम कर्म करते रहे हो वे सब तुम्हारे ज्ञान के बल से ख़त्म हो जाएँगे! और यहाँ भी, ज्ञान होने के पहले जो तुमने कर्म किए हैं वे ज्ञान से ख़त्म नहीं हो सकते। भगवान् के वाक्य से केवल इतना ही आता है कि ज्ञान के बाद जो तुमने कर्म किए हैं उनका फल नहीं भोगना पड़ेगा। ज्ञान की उत्पत्ति से कृत कर्मों का नाश मानना गलत है क्योंकि अनेक वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' जो कर्म कर लिया वह करोड़ों कल्प बीत जाएँ लेकिन बिना भोगे समाप्त हो नहीं सकता। कर्मकाण्डी बस इतना मान लेंगे कि अनन्त जन्मों में जो तुमने पुण्य- पाप किए हैं वे सब जब भोग लोगे तब वे ख़त्म होंगे और तुम्हारा यह ज्ञान ऐसा अखण्ड बना रहा तो ज्ञान

के बाद के कर्म निष्फल रह जायेंगे अतः उसके बाद तुम्हारा जन्म नहीं होगा। इतना ही भगवान् का तात्पर्य हो सकता है। अन्यथा कृत- विप्रणाश दोष आ जाता है। तुमने कर्म किया और फल के बिना वह किया हुआ कर्म बेकार चला गया तो यह आस्तिकों की दृष्टि में बड़ा भारी दोष है। अतः कर्मों से जन्म का आरम्भ तो मानना ही पड़ेगा। यह शंका कर्मकाण्डियों की तरफ से प्राप्त होती है। अगर कृत- विप्रणाश स्वीकार कर लें तो शास्त्र में ही आस्था नहीं रह जाएगी क्योंकि शास्त्र ने बड़े विस्तार से कर्म और कर्म के फलों का प्रतिपादन किया है। यदि तुम्हारे ज्ञान से सब कर्म नष्ट हो जाने हैं तो सारा जो शास्त्र है कर्मफल- विषयक, वह अनर्थक हो जाएगा, व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए 'न स भूयोऽभिजायते' इसका अर्थ जैसा सिद्धांती करना चाहता है वैसा नहीं बनेगा।

जवाब देते हुए आचार्य कहते हैं कि कर्मों को बतलाने वाला शास्त्र जो वेद, उसी ने कहा है 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुं.२.२.८) परमात्मभाव को अपने से एक समझ लेने पर सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः शास्त्रानर्थक्य नहीं है। शास्त्र के अन्दर ही यह बात भी कही गई है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु.३.२.९) ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है। अतः जैसे ब्रह्म में किसी कर्म का स्पर्श नहीं वैसे उसमें भी नहीं। 'तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते (छा.५.२४.३) जैसे सरकन्डे का जो बीच का हिस्सा होता है वह खट से जल जाता है, इसी प्रकार ज्ञान होने पर सारे कर्म दग्ध हो जाते हैं। अतः ज्ञान होने पर सर्वकर्मदाह यहाँ भगवान् ने ही कहा हो ऐसा नहीं, कर्मप्रतिपादक शास्त्र जिसको तुम मानते हो वेद, वही इन बातों को कहता है। भगवान् ने इसको स्पष्ट भी किया है कि जैसे तेज़ आग जल करके सारे ईधन को खत्म कर देती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को खत्म कर देती है (गी.४.३७)। इस प्रकार ज्ञान से मोक्ष मानने से शास्त्र अनर्थक नहीं हो जाता।

युक्ति से विचार करो तब भी ऐसा ही है। कर्म जन्मान्तर को प्रारम्भ करते हैं, किस प्रकार से? अविद्या, कामादि क्लेशरूप बीज को निमित्त बना करके ही कर्म करना और कर्म का फल भोगनां बनता है। मनुष्य कर्म करने में बड़ा क्लेश उठाता है। डेढ़ सौ रुपया किलो का घी है; पहले तो डेढ़ सौ रुपया कमाओ, उसमें क्लेश। फिर उसके बाद उसका हवन करो। गर्मी के मौसम में हवन करो तो उधर लपट लगती है, इधर धुआँ आँख में घुसता है। इतना सारा वह क्लेश क्यों करता है? उसको कामना है कि 'हम सम्राट् पद को प्राप्त कर लेवें, हम देवराज इन्द्र बन जाएँ' –यह कामना है तभी ये सारे क्लेश उठाएगा, नहीं तो काहे के लिए क्लेश उठाएगा! जैसे वर्त्तमान काल में लोगों को इन्द्रपद की प्राप्ति की इच्छा नहीं; देवपद की प्राप्ति की इच्छा नहीं, चन्द्रलोक जाने की भी इच्छा नहीं, पर घी खाने की इच्छा है इसलिए घी खरीद लेते हैं फिर उसको खाते हैं। बहुत से लोग उपदेश भी यही करते हैं 'आग में घी मत झोंको, लोगों के मुँह में डालो।' उनको लगता है मुँह में डालने से उसका उपयोग होगा। आगे अगर उनसे पूछें कि 'आग में डालने से सुगन्धि आती है और मुँह

में डाल कर सबेरे बदबू आती है। तो घी का दुरुपयोग तुमने किया कि हमने किया?' तो कोई जवाब नहीं है! चूंकि उनको सूर्यलोक चन्द्रलोक किसी की इच्छा है नही, राजतंत्र खत्म हो गया इसलिए राजा बनने की भी इच्छा नहीं है अतः उनको यज्ञमें प्रयुक्त घी व्यर्थ लगता है। कामना है कि हृष्ट-पुष्ट होवें तो खा लेते हैं। और अगर किसी डाक्टर ने कह दिया 'अरे'! तुम्हारा कोलैस्ट्रोल बढ़ गया है, घी खाओगे तो दिल का दौरा पड़ जाएगा।' तो फिर डेढ़ सौ रुपए का घी भी नहीं खरीदता है। दूसरों को भी मना कर देता है। हमारे एक सज्जन थे, उनको मधुमेह हो गया तो घर में कोई भी मिठाई आनी उन्होंने बन्द कर दी, आलू का साग कभी नहीं बनने देते थे! कुछ लोग तो अपने तक सीमित रखते हैं, कुछ और आगे चलते हैं, दूसरों को भी उपदेश देते हैं- 'देखो, तुम भी मत खाया करो।' अविद्या कामादि क्लेशरूप बीज निमित्तक ही सारा कर्म और कर्मफल का भोग है। गीता शास्त्र में भी भगवान् ने बार-बार कहा है कि अहंकार को सामने रख करके जो कर्म किए जाते है वही फलारम्भक हैं। जो अहंकारपूर्वक नहीं किए जाते वे फल उत्पन्न नहीं करते। अतः खाली कर्म ही फल देता है ऐसा नहीं, उसमें अविद्या कामादि क्लेश व अहंकार आदि निमित्त हैं। अविद्या-सम्बन्ध से ही अहंकार होता है।

पुनः प्रश्न होता है कि जन्मान्तर में किए कर्मों का नाश कैसे होगा? वे तो सब अहंकारपूर्वक किए गए थे, अविद्या-काम-क्लेश निमित्त से किए गए थे। उनका क्या होगा? उत्तर है कि भगवान् तो यही कहते हैं कि 'सर्वकर्माणि' सारे कर्म जल जाते हैं। शंकावादी कहता है 'सर्वकर्मणां' का भी अर्थ कर दीजिए कि ज्ञानोत्तर भावी सर्व कर्म, क्योंकि वे अज्ञानआदिपूर्वक या अहंकारपूर्वक नहीं किए जाएँगे। सिद्धांती कहता है कि सर्व शब्द में ऐसे संकोच का कोई कारण नहीं है। प्रारब्ध का भोगमात्र से नाश सिद्धान्ती भी मानता है अतः उसने भी 'सर्व' का प्रारब्धभिन्न में संकोच किया, ऐसे ही सर्व का संकोच कर्मकाण्डी मानना चाहता है कि ज्ञान से पूर्व किये कर्मों से भिन्न अर्थात् ज्ञान के पश्चाद्भावी कर्मों को ही सर्वकर्म कहा है। इसका सिद्धान्ती की तरफ से उत्तर है कि प्रारब्ध का भोग से नाश मानने में कारण है कि जिसने अपना कार्य करना शुरू कर दिया वह ज्ञान से नहीं रुकता। जैसे किसी व्यक्ति ने दूसरे के ऊपर बाण छोड़ा, फिर उसके मन में आ गया 'हम किसी को नहीं मारेंगे' तो भी जो बाण छूट गया वह तो अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा ही। 'अब हम नहीं मारेंगे', इस संकल्प के पाँच मिनट बाद उसे बाण लगता है, वह घायल हो जाता है या मर भी जाता है। जिस समय वह मरा उस समय में तो उसको मारने की हमारी इच्छा खत्म हो चुकी थी परन्तु उसके पहले बाण छोड़ दिया था जो अपने लक्ष्य पर पहुँचा। इसी प्रकार से प्रारब्ध कर्म वह है जिसने इस शरीर में फल देना शुरू कर दिया है इसलिए उसका तो दाह ज्ञान से सम्भव नहीं है, परन्तु अतीत जन्मों के कर्म अथवा ज्ञानपूर्वक किए कर्म तो दग्ध हो जाएँगे। जिस प्रकार छूटे हुए बाण से बच नहीं सकते इसी प्रकार जिन कर्मों ने फल देना शुरू कर दिया उस प्रारब्ध कर्म को खत्म नहीं कर सकते। जैसे वहाँ बाण में

वेग है वैसे ही यहाँ शरीर और मन के अन्दर संस्कार हैं। वे संस्कार समाप्त नहीं होते। परन्तु संस्कार रहेंगे शरीर मन आदि में और जैसे ही शरीर मन आदि का वियोग होगा प्रारब्ध- समाप्ति में, वैसे ही फिर संस्कार रह नहीं जाएँगे! इसलिए भगवान् ने कहा कि फिर वह जन्म नहीं ले सकता। भत्थे के अन्दर सौ बाण भरे हुए हैं, उन्हें तो आगे नहीं चलाएगा उस संकल्प को करने के बाद, जो छूट गया उसका कुछ भले ही न कर सके। इसी प्रकार से परमात्मा ने जिस कर्म के फल का 'यह होवे' ऐसा संकल्प कर लिया वह तो हो जाएगा किंतु अनन्त जन्मों के जो कर्म हैं उनका फल देने के लिए वह आगे संकल्प नहीं करेगा। इसलिए भगवान् ने जो बात कही है कि इस शरीर के गिर जाने पर फिर उसका जन्म नहीं होता, यह बात ठीक ही है। जीवन् मुक्ति के दौरान भी प्रतीति को वह हमेशा असत्-रूप जानता है। भगवान् ने हमें सूचक दे दिया ज्ञान की दृढता का : ज्ञानी को क्षणमात्र को भी संसार के अन्दर सत्य-बुद्धि नहीं होती। जब तक क्षणमात्र भी इसमें सत्य-बुद्धि होवे तब तक तो 'सर्वथा वर्तमानोपि' नहीं लगेगा। तब तक शम-दम-आदि-पूर्वक श्रवण मनन में ही लगे रहना पड़ेगा। परन्तु जब क्षणमात्र को भी उसको सत्यत्व प्रतीति नहीं होती, तब श्रवण मनन की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार में सत्यत्व बुद्धि ही पुनर्जन्म का कारण है। जैसे ही संसार में सत्यत्व बुद्धि की प्रतीति क्षणमात्र को भी होवे वैसे ही शास्त्र का बार-बार श्रवण करो, युक्ति से उसको उपपन्न करो और पुनः जैसे ही सत्य-बुद्धि निवृत्त हो जाये वैसे ही उसी रूप में स्थित बने रहो। जब सत्यता की प्रतीति नहीं होती है तब उसको हटाने के लिए श्रवण मनन की जरूरत भी नहीं है। तब उसका शरीर-आदि-संघात 'सर्वथा' प्रारब्ध के अधीन हो जाता है।।२३।।

भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को बताना शुरू किया, क्षेत्रज्ञ को अपना स्वरूप बतलाया फिर विस्तार से क्षेत्र का वर्णन किया। क्षेत्र का वर्णन करना त्वम् पदार्थ के शोधन के लिए आवश्यक है। पदार्थ-शोधन के साधन क्या हैं? अमानित्वादि से युक्त होकर ही त्वम् पदार्थ का शोधन सम्भव है। अतः ज्ञान के साधनों को बतला करके फिर ज्ञेय को बताना शुरू किया। ज्ञेय का शुद्ध रूप भी बतलाया और सोपाधिक रूप भी बतलाया। फिर अधिकारी बताया कि जो मेरी भक्ति करता है उसी को इसका साक्षात् अनुभव होता है अर्थात् त्वम् पदार्थ का शोधन हो करके तत् पदार्थ से एकता की प्रतीति होती है। फिर साँतवें अध्याय में जो प्रकृति-पुरुष कहे थे, उनमें जगत्कारणता कैसी है इसका विस्तार से प्रतिपादन किया। और अंत में बताया कि जो इस विज्ञान को कर लेता है वह फिर जन्म नहीं लेता। अब, जो इस साधना को पूरी तरह से करने में असमर्थ हैं उनके लिए साधनान्तरों का विधान करते हैं:-

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

कुछ साधक ध्यान के द्वारा (सुसंस्कृत) अन्तःकरण से बुद्धि में प्रत्यक्चेतन को देख पाते हैं। अन्य साधक 'गुणों का साक्षी आत्मा उनसे अलग है' इस चिंतनरूप योग से

आत्मा को समझ लेते हैं। इनसे भी अलग कल्याणेच्छुक लोग ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करना रूप योग से (क्रमशः) आत्मदर्शन पा जाते हैं।

तीन प्रकार के साधकों के लिये इस श्लोक में साधन कह रहे हैं। कुछ साधक अर्थात् परमात्मज्ञान में प्रवृत्त योगी लोग 'ध्यानेन आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्यन्ति'। आत्म-शब्द का प्रयोग यहाँ एक साथ भगवान् ने भिन्न अर्थों में किया है! ध्यान ही उनके लिए आत्मज्ञान का उपाय है जो विचार करने में असमर्थ हैं अथवा जिनको विचार की सुविधा नहीं मिलती है। असमर्थ हैं अर्थात् विचार करने में स्वयं अयोग्य हैं, प्रज्ञा नहीं है; अथवा स्वयं में सामर्थ्य होने पर भी उपदेशक गुरु के अभाव में भी विचार करना सम्भव नहीं होता। ऐसे लोग ध्यान कर सकते हैं। ध्यान मायने क्या? रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द - इन विषयों से इन्द्रियों को हटा कर मन में ही एकाग्र करना पहला कदम है। उपनिषद् में (कठ.३.१३) भी इसीलिए कहा है कि 'इन्द्रियों को मन में लीन करें मन को बुद्धि में लीन करें'। इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयों की तरफ जाती हैं। इन्द्रियों को विषयों की तरफ जाने से जब रोकते हैं तब इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। तब उसका जो कारण अन्तःकरण, मन, उस के अन्दर वह लीन हो जाएगी। इन्द्रियों को कार्यकारी न होने देना, विषयों की तरफ जाने से रोकना पहला काम है। उसके बाद मन की जो वृत्तियाँ हैं, अन्तःकरण की जो वृत्तियाँ हैं, उनको उठने से रोकना है। जब मन की वृत्तियों को रोकोगे तब वह मन अपने कारण बुद्धि में लीन हो जाएगा। तब अहंकार ही एकमात्र रह जाएगा। पहले तो इन्द्रियों को प्रवृत्ति से रोकना है। इसी को पातञ्जल योग में प्रत्याहार कहते हैं। उसके बाद मन की वृत्तियों को रोकना है, जिसे वे लोग धारणा कहते हैं। किसी एक स्थान में चित्त को स्थिर करना धारणा है। चाहे स्थान अपने शरीर में हो हृदय, भ्रूमध्य, नाभि चक्र आदि हो या बाहर हो। उपनिषदों के अन्दर सबसे ज़्यादा ज़ोर हृदय में धारणा करने पर है। इसलिए भगवान् भाष्यकार भी अधिकतर हृदय में धारणा की बात करते हैं। अन्तःकरण जो वृत्तियाँ बनाता है उसे रोक कर जब केवल अहम् रह जाये तब उस अहम् को फिर प्रत्यगात्मा में लीन करे अर्थात् 'अहम् का साक्षी चिन्मात्र जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, अहम् का जो प्रकाश होता है, ज्ञान होता है, वही मैं हूँ' इस प्रकार अहम् को जानने वाले प्रत्यक् चेतन पर स्थिर रहना है। स्थिर रह करके जो स्थिति है उसी को यहाँ भगवान् ने ध्यान शब्द से कहा है। श्रुति के (छा.७.६) अन्दर बगुले की तरह, पृथ्वी आदि की तरह ध्यान बताया। दृष्टांत दिए कि कैसे ध्यान करना है? जैसे पृथ्वी स्थिर है, जैसे पर्वत स्थिर है, उनमें कुछ भी हिलना-डुलना नहीं, जैसे बगुला बिलकुल एकाग्र होकर मछली को देखता है, हिलता-डुलता नहीं है, वैसे ही ध्यान करना है। पृथ्वी, पर्वत प्रत्यक्ष-सिद्ध स्थिर पदार्थ बताए। यदि केवल पृथ्वी कहते तो लोग जड़ता इष्ट समझ लेते, इसलिए साथ में श्रुति ने बगुला कह दिया। पृथ्वी कोई मन रोक कर खड़ी हो ऐसी प्रतीति नहीं होती परन्तु बगुला तो अपने आप को रोक कर स्थित रहता है। इसी प्रकार अपने आप को रोक कर उस प्रत्यक् चेतन में ही

स्थित होना है। इन दृष्टान्तों से अविच्छिन्न प्रत्ययप्रवाह बतला दिया। प्रत्ययप्रवाह एक जैसा चलता है, बीच में कोई दूसरी प्रतीति नहीं आती, तब ध्यान है।

इस प्रकार के ध्यान से 'आत्मनि', जो अहंकार-वृत्ति है उसमें देखना है। जैसे दीया जल रहा है कि नहीं यह जानने के लिये सामने हाथ करो तो दीख जाए। कई बार दीपक दिखाई नहीं देता है पर चीज़ें दीखती हैं तो समझ लेते हैं कि किसी तरफ दीपक जल रहा है। इसी प्रकार, अहंकार में प्रत्यगात्मा का ज्ञान प्रकाश पड़ रहा है इसीलिए उसको ज्ञान हो रहा है, है तो वह प्रत्यगात्मा का प्रकाश। स्वप्रकाश आत्मा सीधे दीखेगा नहीं, अतः उसको अहंकार वृत्ति में देखते हैं। कैसे? 'अहंकार-वृत्ति उससे प्रकाश पा रही है' इस रूप में। किसको देखते हैं? 'आत्मानम्', प्रत्यगात्मा को देखते हैं। जैसे हाथ आदि पर पड़ी रोशनी देख कर तुमको ज्ञान होता है उस दीपक का जो वहाँ दिखाई नहीं दे रहा, इसी प्रकार यहाँ अहम् का ज्ञान हो रहा है इसलिए ज्ञानस्वरूप प्रत्यक् चैतन्य प्रकाशित है। इस तरह 'आत्मनि' अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति में, 'आत्मानम्' अर्थात् प्रत्यक् आत्मा को, 'आत्मना' ध्यान के द्वारा जिस अन्तःकरण का संस्कार हो गया है उससे। 'संस्कार हो गया है' अर्थात् इन्द्रिय-व्यापार से रहित और मनोव्यापार से रहित जो कर दिया गया है ऐसा अन्तःकरण। असंस्कृत अन्तःकरण मन का व्यवहार करेगा या इन्द्रियों का व्यवहार करेगा। जो अन्तःकरण ध्यान के द्वारा संस्कृत कर दिया गया है, उससे 'पश्यन्ति' अर्थात् देखते हैं, उसका अनुभव करते हैं। जो श्रवण मनन करने में असमर्थ हैं अथवा जिनको उसकी सुलभता नहीं है, वे इस प्रकार से इस तत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

यहाँ भगवान् ने 'पश्यन्ति' कहा है। कुछ लोग स्वीकार कर लेते हैं कि 'पश्यन्ति' अर्थात् 'साक्षात् कुर्वन्ति' इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता है। दृष्टान्त देते हैं: कहीं दूर में खिड़की के अन्दर एक हीरा रखा हुआ है। दूर से व्यक्ति को हीरा तो नहीं दीखता है पर हीरे की चमक दीखती है। वह उस चमक को हीरा समझ लेता है और उस हीरे को लेने जाता है। क्या देख कर जाता है? चमक देख कर, क्योंकि उस चमक को उसने हीरा समझा था। उसका वह ज्ञान भ्रम था। परन्तु जब खिड़की के पास पहुँच जाता है तब वहाँ पास ही उसको हीरा मिल जाता है। भ्रम से भी कई बार सही फल हो जाता है। चमक हीरा नहीं है, पर चमक देख कर अगर गए और वहाँ हीरा है तो हीरा मिल ही जाता है। इसी प्रकार अहंकार के ऊपर पड़ रहा प्रकाश प्रत्यक् चेतन नहीं है लेकिन उस अहंकार के पास में प्रत्यक् चेतन है अतः अहंकार के साक्षी रूप में तुमने ध्यान किया तो उस ध्यान से उस प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति हो जाती है। अतः 'पश्यन्ति' मायने 'साक्षात् कुर्वन्ति'। जो लोग ऐसा स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं 'पश्यन्ति' अर्थात् ध्यान से शुद्ध होकर, ब्रह्मलोक जाकर, वहाँ ब्रह्मा जी के उपदेश से ज्ञान पा जाते हैं। दोनों ही अर्थ सम्भव हैं।

'अन्ये', दूसरे लोग 'सांख्येन योगेन'। सांख्य अर्थात् यह चिन्तन कि ये सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण मेरे द्वारा जाने जाते हैं। सुख होता है तो भी मैं जानता हूँ कि सुख हो

रहा है। दुःख होता है तब भी मैं जानता हूँ कि दुःख हो रहा है। ये सांख्य वृत्तियाँ हैं। कापिल सांख्य योग यहाँ विवक्षित नहीं समझना। 'सम्यक् ख्यायते' जिससे चीज़ का ठीक ज्ञान होता है उसको सांख्य कहते हैं। सुख-दुख-मोह *का* ज्ञान होता है यह पहली समझ है। साधारण आदमी को इस प्रकार ज्ञान नहीं होता, उसको तो हमेशा यही प्रतीति होती है- 'मैं सुखी, दुःखी, मैं मुग्ध'। *ये* सुख दुःख मुझ से अलग हैं- ऐसा जिन्होंने अच्छी तरह से सांख्य रूपी विवेक कर लिया है वे ही समझ पाते हैं। उन्हें मालूम रहता है कि सुख-दुःख-मोह का मैं जानने वाला हूँ। जानने वाला होने से मैं सुखी हूँ। क्योंकि 'यह मेरा सुख है' इस प्रकार से जान रहा हूँ इसलिये 'मैं सुखी'- यह भ्रम हो जाता है। जिस तरह से, जिसके पास एक अरब रूपया होता है उसे प्रतीति होती है 'मैं धनी'। धन तो अलग है। जानता भी है कि धन अलग है, परन्तु 'धन मेरा है इसलिए मैं धनी'। बैंक में एक अरब रुपया पड़ा है उससे तो 'मैं धनी' नहीं हो जाता! लेकिन 'मेरा धन है' इसलिए मैं धनी - यह प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार सुख-दुःख-मोह - ये तो सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण का अन्तःकरण के अन्दर प्रस्फुटन होना है। पर क्योंकि अन्तःकरण मेरा है इसलिए मुझे मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मुग्ध ये प्रतीतियाँ हो जाती हैं। ये सारे जो गुण हैं इन्हें तो मैं देखता हूँ, जानता हूँ, परन्तु मैं उनसे अलग हूँ। उनके व्यापार का केवल साक्षी हूँ। सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण सुख-दुःख-मोह आदि सब व्यापार कर रहे हैं, परन्तु मैं उनको जानने वाला, उनका साक्षी हूँ। ये गुण बदलते रहते हैं अतः अनित्य हैं, और मैं साक्षी जानने वाला वैसा-का-वैसा बना रहता हूँ। सुख आया, दुःख आया, सुख और दुःख दोनों हुए तो मुझे ही, पर मैं बदला नहीं कि मैं पहले देवदत्त था, अब यज्ञदत्त हो गया! इसलिए मैं नित्य हूँ। सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण आने-जाने वाले हैं। अतः मैं नित्य होने के कारण और वे अनित्य होने के कारण मैं सर्वथा उनसे विलक्षण हूँ। इस प्रकार का जो चिन्तन है, ध्यान है वह सांख्य है और क्योंकि ध्यान है इसलिए 'योगेन' उसे योग भी कहते हैं। यह सांख्य योग है। उस सांख्य योग से 'आत्मना आत्मानम् पश्यन्ति' अंतःकरण को संस्कृत कर उसी के बलपर उससे पृथक् उसके साक्षी के रूप में आत्मा को, स्वयं को समझते हैं। जैसे पहले विकल्प में अहंकार के ऊपर पड़ने वाला प्रकाश प्रत्यगात्मा नहीं था परन्तु प्रत्यगात्मा के नज़दीक था, उसी प्रकार इन सबका साक्षी प्रत्यगात्मा नहीं है क्योंकि प्रत्यगात्मा सारे परिच्छेदों से रहित है। आत्मा तो 'अयमात्मा ब्रह्म' व्यापक, अपरिच्छिन्न है। और साक्षी को भेदज्ञान है इसलिए अपरिच्छिन्नता का ज्ञान भी नहीं है और गुणों के कार्यो में मिथ्याबुद्धि भी नहीं है। फिर भी, क्योंकि जिस साक्षी को जानते हैं उसका शुद्ध रूप ही प्रत्यगात्मा है, ब्रह्म है, इसलिए 'पश्यन्ति' कहा। इस योग द्वारा शुद्ध अन्तःकरण में 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य कभी मिल जाएँ तो तुरन्त स्थिति हो जाएगी। इसलिए क्रम से इन्हें भी आत्मदर्शन हो जाता है।

इन दोनों विकल्पों के अन्दर चिन्तन प्रधान है। चिन्तन के प्रकार का भेद है लेकिन दोनों चिन्तन ही कर रहे हैं, मन के द्वारा ही साधन कर रहे हैं।

कुछ लोग खाली मन के द्वारा साधन नहीं कर सकते! उनको जब तक शरीर से कुछ किया न जाए तब तक साधना होती नहीं लगती। उनको हाथ में माला दो तब तो जप कर लेगें। माला चलती रहे, हाथ चलता रहे तो जप कर लेंगे। उनसे कहो 'बिना माला के जप करो', तो उनको नींद आने लगती है। इसी तरह से भगवान् की पूजा तीन घण्टे तक भी कर लेंगे। चन्दन घिस लेंगे, अक्षत लगा देंगे, सब कुछ कर लेंगे। परन्तु उनसे कहो 'मानसिक पूजा करो' तो उनकी मानसिक पूजा एक मिनट में खत्म हो जाती है। ऐसे 'अपरे' दूसरे लोग जो हैं वे 'कर्मयोगेन', उनके लिए कर्म ही योग है, अर्थात् श्रुति और स्मृति के अन्दर जो कर्म प्रतिपादित किए हैं अथवा उनसे अविरुद्ध लैकिक कर्म भी हैं, उन सबका वे ईश्वरार्पण-बुद्धि से अनुष्ठान करते हैं। कर्म करते हैं, लेकिन करते हुए उनका हमेशा संकल्प है 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' भगवान् के अर्पण हैं। लौकिक कर्म भी करते हैं तो सांसारिक लाभ के लिए नहीं वरन् ईश्वरार्पण-बुद्धि से कि 'परमेश्वर ने मुझे यह औरत दी है इसलिए इस का पोषण करना मेरे ऊपर भगवान् ने छोड़ा है अतः भगवान् के लिए मैं उसका पोषण कर रहा हूँ। बच्चे भगवान् ने दिए हैं तो भगवान् के लिए ही उनका पालन कर रहा हूँ। बीबी-बच्चे मुझे क्या देगें इससे मुझें कोई मतलब नहीं है।' इसलिए उनके मन में कभी नहीं आता कि 'मैंने इस बच्चे की पढ़ाई के लिए इतनी मेहनत की और यह अब मुझ से बात भी नहीं करता।' प्रायः आजकल ऐसी शिकायत लोगों को होती है। इस प्रकार का रोग कर्मयोगी के मन में कभी नहीं आता क्योंकि उसने परमेश्वर के लिए किया, उसे यही लगता है कि 'परमेश्वर का ही मैंने काम किया। श्रुतियों में और स्मृतियों में जो कहा है उसका पालन करता हूँ क्योंकि परमेश्वर ने आज्ञा दी है। इसी प्रकार से लौकिक कर्मों में मैं जहाँ कहीं भी स्थित हूँ वहाँ परमेश्वर ने वह मेरे जिम्मे दिया है इसलिए मैं करता हूँ। लाभ-हानि की कोई दृष्टि नहीं है।' इसका मतलब यह नहीं समझना कि वह काम ठीक से नहीं करता! काम तो पूरे ठीक से करता है परन्तु 'इस काम का फल मुझे मिले' यह नहीं चाहता है। एक बार रमण महर्षि से किसी ने पूछा कि निष्काम कर्म किसको कहते हैं? उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। उनकी आदत थी, कभी जवाब देते थे तो बहुत देते थे, नहीं देते थे तो बिलकुल नहीं देते थे। शाम का समय था, थोड़ी देर बाद घूमने चले गए। घूमने गए तो वहाँ उन्होंने एक सीधी बढ़िया लकड़ी देखी जो कँटीली झाड़ी की थी। वह डण्डा उन्होंने तोड़ लिया। तोड़ कर उसके सब काँटे निकालने लगे। जो भक्त साथ थे सब बोले 'हम निकाल दें, हम निकाल दें।' उन्होंने कहा 'हम निकालेंगें।' सारे काँटे निकालने में घण्टा भर लग गया। उसके बाद पत्ते लेकर उसको अच्छी तरह से रगड़ कर चिकना-सा बना दिया। उसको लेकर घूमते हुए आश्रम की ओर चल दिये। सभी भक्तों के मन में था कि 'यह डण्डा किसको देंगे?' चलते-चलते थोड़ी दूर तक आए तो एक गाय चराने वाला बच्चा रो रहा था, उससे पूछा 'अरे! क्यों रो रहा है?' उसने कहा 'क्या बताऊँ, गायों को हाँकने की लकड़ी थी। गाय ज़रा दूर भाग रही थी तो मैने ऐसे फैंक दी कि गड्ढे में चली गई। अब घर

जाऊँगा तो माँ डाँटेगी, कहाँ फैंक आया।' महर्षि ने कहा 'यह ले। इससे तेरा काम हो जाएगा। घर जा, कोई तुझे डाँटेगा नहीं।' सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। लड़का चला गया। थोड़ी दूर आगे आ गए, तो जिसने सवाल पूछा था उसको उन्होंने कहा 'यह निष्काम कर्म है।' लकड़ी बनाने में तो पूरी सावधानी रखी, पत्ते लेकर के पालिश-वालिश सब कर दिया। काम तो पूरा किया। पर उसके फल के प्रति 'यह लकड़ी मेरे पास रहे या मैं अपने किसी भक्त को दूँ' ऐसा कोई भाव नहीं रखा। ईश्वरार्पण बुद्धि से ही जो कर्मका अनुष्ठान किया जाता है वही योग है। योग के लिए है इसलिए उसको योग कहते हैं। उसके द्वारा चित्त-शुद्धि होकर ज्ञानोत्पत्ति का द्वार खुल जाता है। जैसे ध्यान द्वार हो जाता है, जैसे विवेक, सांख्य योग, द्वार हो जाता है, वैसे ही इस प्रकार का जो कर्मयोग है वह भी परमात्मप्राप्ति का द्वार हो जाता है।।२४।।

ये तीन प्रकार के साधक ऐसे बतलाए जो श्रुति स्मृति को जानते हैं, परमात्मा के रूप का कुछ विवेक उन्होंने सीखा है अथवा ध्यान की प्रक्रिया उन्होंने की है। अब चौथा प्रकार उनका बतलाते हैं जो हम लोगों की तरह हैं!

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

प्राप्त उपदेश ही जिनके लिये प्रमाण है ऐसे अन्य (अविवेकी) लोग तो यथोक्त आत्मा के बारे में न जानते हुए भी दूसरों से सुनकर चिंतन करते रहते हैं तो वे भी मृत्युयुक्त संसार को लाँघ जाते हैं।

'अन्ये तु', 'तु' से व्यावृत्त करते हैं। प्रथम तीन प्रकार के साधक तो स्वतन्त्रप्रज्ञ थे अर्थात् उनमें स्वयं करने की सामर्थ्य थी और ये हैं जो स्वंय करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए जो तीन विकल्प बताये इनमें से किसी को भी ये नहीं कर पाते हैं। 'एवम्' अर्थात् जो तीन प्रकार ऊपर बतलाए हैं उन्हें 'अजानन्तः'। न उनको ध्यान-योग का पता है, न उनको सांख्य योग का पता है, न कर्मयोग ही जानते हैं। ये तीनों बातें नहीं जानते। खाली 'अन्येभ्यः श्रुत्वा', जो आचार्य हैं, बड़े लोग हैं, उनसे केवल उन्होंने श्रवण किया है। खुद उन्होंने विचार करके इन चीज़ों को समझ कर, जान कर कुछ नहीं किया, जैसा आचार्यों ने उनको बतला दिया, उसको सुन करके पूरी श्रद्धापूर्वक 'यह ऐसा ही है', इस निश्चय से जैसा आचार्यों ने कहा वैसा ही अनुष्ठान किया। आगे सत्रहवें में भगवान् से पूछेगा अर्जुन कि जो खुद जानने में असमर्थ हैं उनके लिये क्या उपाय है? भगवान् यही कहेंगे जो बात यहाँ कह रहे हैं कि सुनकर करना ही ऐसों के लिये उपाय है। यह भी उपासना है क्योंकि पूर्ण श्रद्धा रख करके जैसा कहा वैसा ही मानते व करते हैं। 'तेऽपि', ऐसे जो श्रद्धा वाले हैं वे भी 'अतितरन्ति मृत्युं', मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् मृत्यु रूपी संसार से परे चले जाते हैं। 'श्रुति- परायणाः' श्रुति अर्थात् श्रवण, बस श्रवण ही उनका अयन है

अर्थात् उनका एकमात्र रास्ता है। निरन्तर जो सत्संग में लग कर उन बातों को जैसा है वैसा ही श्रद्धापूर्वक मानते हैं, वे भी उसी परा गति को प्राप्त कर लेते हैं, मृत्यु से परे चले जाते हैं। उनके लिए मोक्ष मार्ग की जो प्रवृत्ति है उसमें केवल सुनना ही साधन है। भाष्यकार स्पष्ट करके कहते हैं 'श्रुतिपरायणाः केवलं परोपदेशप्रमाणाः'। 'आचार्यों ने ऐसा कहा है' बस यही उनके लिये प्रमाण है। प्रमाण का मतलब है जिससे तुमको यथार्थ ज्ञान होवे। जैसे तुम रास्ते पर चलते हो तो आँख से देखते हो। आँख से सड़क दीखे, गड्ढा नहीं दीखे तो तुम उसको सड़क ही मानते हो, गड्ढा तो नहीं मानते! नाक से तुमको गुलाब की सुगन्धि आती है तो उसको गुलाब की सुगन्धि ही मानते हो, सूअर की टट्टी की बदबू तो नहीं मानते! जैसे तुमको अपनी इन्द्रियों के ऊपर श्रद्धा है वैसे ही आचार्य- वाक्य पर इन लोगों की श्रद्धा होती है। उनमें अपना विवेक कुछ नहीं है। जो गुरु ने कहा बस उस उपदेश मात्र को ही प्रमाण लेकर के चलते हैं, उसके अनुसार साधना करते हैं। यों निष्ठासे करते हैं इसलिये उपासना है, इसीलिये सद्गति भी पा जाते हैं।

'अपि' के द्वारा भगवान् ने कहा कि जो ऐसे केवल सत्संग के श्रवणमात्र से ही साधन को करने वाला है जब वह भी पार हो जाता है तब फिर जो प्रमाण के प्रति स्वतन्त्र हैं विवेकी लोग अर्थात् स्वयं विवेक करने में समर्थ हैं, वे मृत्यु का अतिक्रमण कर जाएँगे इसमें कहना ही क्या है! अर्थात् प्रथम तीन के अतिक्रमण में तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं प्रज्ञा नहीं है तो जैसा कहा गया है बस वैसा ही मान सकते हैं लेकिन उसको पूरी श्रद्धा से मानें और तदनुसार जीवन बनायें तो वे भी पार कर जाते हैं। पहले तीन साधन बहुत कम लोगों के बूते के होते हैं, अधिकतर लोग इस चौथे स्तर के ही हैं परन्तु भगवान् ने जो यह साधन बतलाया यह भी इतना सरल नहीं है जितना लगता है! क्योंकि अपने मन में इतने कुतर्क भरे हुए हैं अनादि काल से, जो स्थिर श्रद्धा को होने नहीं देते, स्थिर श्रद्धा में रुकावट करते हैं। पुनः पुनः सत्संग के द्वारा धीरे-धीरे कुतर्क शान्त होते हैं। इसलिए इस साधन को निरन्तर करते रहना पड़ता है। एक बार सुन लिया - इतने मात्र से श्रद्धा स्थित होती नहीं। जब उसी बात को अनेक युक्तियों से, अनेक ढंग से समझाया जाता है तब मन में बैठ जाती है। परन्तु निश्चित है कि इस साधन में लगा हुआ भी जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं आता।।२५।।

इस प्रकार क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता विषयक जो ज्ञान है वही मोक्ष का साधन है यह भगवान् ने बतलाया। उस ज्ञान को ही मोक्ष का साधन क्यों कहते हैं? बार-बार श्रुति कहती है कि ज्ञान के बिना मुक्ति होती नहीं, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान से ही कैवल्य होता है। ज्ञान अर्थात् भगवान् ने पहले कह दिया, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता का निश्चय। ज्ञान के इस वैशिष्ट्य को बतलाने के लिए आगे कहते हैं-

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

भरतकुलभूषण! चर-अचर सभी वस्तुएँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होती हैं यह निश्चय रखो।

जितना कुछ भी है, चाहे पेड़-पौधे आदि स्थावर है, चाहे कीट पतंग मनुष्य देवता आदि जंगम है, जो भी स्थावर और जंगम 'सत्त्व' वस्तु है, वह 'सञ्जायते' उत्पन्न होती है। किससे उत्पन्न होती है? 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होती है। बिना इन दोनों के सम्बन्ध के कुछ भी पैदा नहीं होता। जितने भी विषय हैं सब हम लोगों के कर्मफल से ही पैदा होते हैं। रास्ते में चलते हुए तुमको कोई चट्टान दीख जाती है तो निश्चित समझो वह चट्टान तुम्हारे पहले किए हुए कर्मों के फल रूप से ही दीख रही है। कर्म तुमने किससे किया है? क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोग से क्योंकि कर्म करने के लिए तुमको इन्द्रियों के साथ, शरीर के साथ एक होना पड़ेगा तभी कर्म करोगे। शरीर इन्दियाँ तब तक कर्म नहीं करेंगी जब तक तुम वहाँ न हो। जो भी कर्म किया जाएगा वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से है और जो भी संसार है वह कर्मफल है। यदि दस हज़ार आदमी खड़े हैं तो दस हज़ार आदमियों का कर्मफल चट्टान रूप में है। कई बार लोग प्रश्न करते हैं 'महाराज! हवाई जहाज में नब्बे आदमी जा रहे थे, इकट्ठे ही कैसे मर गए?' वे सोचते हैं कि जो नया आजकल 'चांस' देवता है उसी से ये काम हो जाते होंगे। ऐसा वेदान्त स्वीकार नहीं करता। उस समय जलते हुए गिरने के कर्मफल वाले लोग वहाँ इकट्ठे हो गए थे इसीलिए उनके अपने-अपने कर्मफलों के कारण विमान का जलना हुआ। चांस नाम की चीज़ को हम लोग नहीं स्वीकार करते। एक कथा आती हैः एक जगह दस आदमी काम कर रहे थे। अकस्मात् बादल आ गए, बड़े ज़ोर से बिजली चमकने लगी तो वे लोग एक झोंपड़े में चले गए। बिजली बार-बार चमके, खूब कड़क कर चमके, परन्तु गिर नहीं रही थी। कुछ लोगों ने कहा 'अरे! यह बिजली चमक-चमक कर आती है, अपने में से किसी एक का ऐसा कर्मफल होगा। वह निकल जाए तो हम सब बच जाएँ।' ऐसी सामान्य बुद्धि होती है कि 'हम बच जाएँ।' उन्होंने एक को किसी तरह बाहर किया। फिर भी बिजली वैसी चमकती रही। होते-होते एक-एक करके नौ जाकर आ गए। अब दसवाँ बचा। उससे कहा 'तुम बाहर जाओ।' उसको तो निश्चय था कि 'बस, मेरे ही कारण हो रहा है। अगर मैं इनके साथ रहा तो शायद बच जाऊँ इनके प्रारब्ध के कारण।' अतः उसको बाहर करना असम्भव-सा हो रहा था। जबर्दस्ती उसको बाहर निकाल दिया। जब वह बाहर चला गया तब बिजली कड़की और उस झोंपड़े पर पड़ी, नौ जने मर गए! जिसको निकाला था वह एक ही बच गया। इसलिए, जो भी कर्मफल होता है वह अपने कर्म का ही है। भोगने वाले लोग इकट्ठे हो जाएँ यह बात दूसरी है, परन्तु भोग अपना-अपना ही हो रहा है। अतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से ही होता है इस बात को भगवान्

ने कहा 'विद्धि', तू निश्चय कर ले।

'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्'। क्षेत्र पहले बता आए हैं महाभूत से लेकर अन्तःकरण की वृत्तियों तक। वह सारा जडरूप है। क्षेत्रज्ञ को चेतनरूप कहा- ईश्वररूप बताया। किंतु जड और चेतन का संयोग कैसे होवे? भगवान् ने तो कह दिया 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्'। क्या मतलब है भगवान् का? एक तो संयोग होता है जैसे रस्सी से घड़े की गर्दन बाँध देते हो तो घड़े के कुछ अवयवों का रस्सी के कुछ अवयवों से संयोग हो जाता है। इस प्रकार से क्षेत्रज्ञ का कोई अवयव है नहीं जिससे क्षेत्र का संयोग होवे। क्षेत्रज्ञ निरवयव है इसलिए इस प्रकार का संयोग तो बनता नहीं। दूसरा होता है समवाय सम्बन्ध। कपड़ा धागों में रहता है। कपड़ा धागों से जिस सम्बन्ध वाला है वह समवाय सम्बन्ध है। यहाँ किसी अवयव का संयोग नहीं है। किन्तु यहाँ यह संबंध इसलिए नहीं हो सकता कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ एक-दूसरे के प्रति कारण- कार्यरूप नहीं है। धागा कारण है, कपड़ा कार्य है इसलिए कारण और कार्य का सम्बन्ध समवाय हो जाता है। ऐसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एक-दूसरे के कारण- कार्य नहीं हैं। फिर भगवान् ने कैसे कह दिया कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से होता है? विचार करने पर पता लगता है कि विषय और विषयी- ये दोनों सर्वथा भिन्न स्वभाव के होने के कारण अन्योन्याध्यास ही इनका सम्बन्ध है, संयोग है। क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ में अध्यास हो जाना, क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र में अध्यास हो जाना - यह अन्योन्याध्यास है। इसी से अन्योन्य अर्थात् एक दूसरे को बाँधते हैं। यह जो बाँधना है यह नैसर्गिक है, स्वभाव से है। 'मै शरीर हूँ' यह स्वभाव से अनुभव है। किसी ने तुमको उपदेश नहीं किया! बहुत से लोग कहते हैं 'महाराज! बच्चे को शुरू से ही सिखाओगे 'मैं शरीर नहीं हूँ' तो सब ज्ञानी हो जाएँगे।' वे सोचते हैं मैं शरीर हूँ- यह कुछ सिखाने से आया होगा! मैं शरीर हूँ - यह स्वाभाविक अनुभव है। उसको कितना ही पढ़ा दो कि 'मैं शरीर नहीं हूँ', परन्तु सब पढ़ाने के बाद भी अपने को शरीर समझना ही स्वभाव है। नैसर्गिक है अन्योन्याध्यास, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अध्यास। 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ- संयोगात्' में भगवान् का तात्पर्य है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अन्योन्याध्यास ही संयोग है। यह अध्यास होने से हमेशा मिथ्याज्ञान-स्वरूप है। अन्योन्याध्यास से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो संयोग है वह मिथ्याज्ञान है। जो मिथ्याज्ञान हुआ करता है वह जब सच्ची चीज़ का विवेक किया जाता है तब दूर होता है। और कोई उसको दूर करने का उपाय नहीं है। यदि और कोई सम्बन्ध होता तो किसी उपाय से दूर हो जाता। यह चूंकि मिथ्याज्ञान रूप है, अन्योन्याध्यास रूप है, इसलिए यथार्थ ज्ञान से ही जा सकता है, और कोई दूसरा इसको हटाने का उपाय नहीं है। परन्तु जैसा श्रुति ने कहा है, यह करना पड़ता है बड़े धैर्य से। इसलिए कहा है सरकन्डे के अन्दर की तीली को निकालने में जैसे बड़ी सावधानी करनी पड़ती है, थोड़ा-सा हाथ इधर-उधर हो जाए तो टूट जाती है और टूट जाए तो फिर उसको निकालना सम्भव ही नहीं रह जाता है, ठीक इसी प्रकार से बड़े धैर्य से धीरे-धीरे वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करना पड़ता है। इस विवेक को करने के लिए पहले लक्षण का ज्ञान ज़रूरी है। लक्षण जानोगे

तब दोनों चीज़ों को अलग करोगे। जैसे मूंग की दाल और छोटे हरे पत्थर मिले हों तो बीनना असम्भव हो जाता है। परन्तु जो लक्षण को जानता है वह मूंग को पकड़ कर जैसे ही देखता है वैसे ही नाखून से दबाता है। मूंग दब जाता है, पत्थर दबता नहीं। जिसको इस लक्षण का पता है वह तो उन दोनों को देख कर अलग कर लेगा। किंतु जो इस लक्षण को नहीं जानता वह उन्हें विविक्त नहीं कर सकता। लक्षण को ही श्रुति बतलाती है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए विवेक तो तुमको स्वयं करना पड़ेगा परन्तु लक्षण जाने बिना विवेक सम्भव नहीं है, अतः उसको शास्त्र के द्वारा ही जानना पड़ता है। इसलिए भगवान् ने जो कहा 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्', वह इसलिए जिससे यह निश्चय हो सके कि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान के बिना मोक्ष हो नहीं सकता।

अन्योन्याध्यास से ही सारा संसार बनता है- यह भगवान् ने बहुत गम्भीर बात कह दी है। अध्यास अर्थात् जो नहीं है वह है की तरह दीखता है। इसी का नाम अध्यास है। अतः भगवान् ने यहाँ कह दिया कि जो कुछ भी इस संसार में है वह सब नहीं है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होता है कहकर भगवान् ने और किसी भी कारण की व्यावृत्ति कर दी। कहा कि जो कुछ भी संसार में होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अध्यास से होता है। अध्यास वह होता है जो हुआ नहीं करता! रस्सी में सर्प का अध्यास है अर्थात् रस्सी में सर्प नहीं है। रस्सी में सर्प नहीं है तो वह सर्प कहाँ है। वास्तव में कहीं नहीं है! जैसे माया से हाथी बन जाता है। लम्बा-चौड़ा हाथी दीखता है पर पास में जाओ तो पता लगता है कि कुछ नहीं है। जादूगर पाँच-पाँच सौ के नोटों की गड्डियाँ दिखला देता है जबकि वहाँ होता कुछ नहीं है। तुम खुद भी स्वप्न में कितनी चीज़ों का निर्माण कर लेते हो परन्तु वहाँ होता कुछ नहीं है। राजस्थान के अन्दर गन्धर्व-नगर दीखता है। जैसे गन्धर्व नगर आदि सचमुच में नहीं होते हैं परन्तु सच की तरह अवभासित होते हैं, प्रतीत होते हैं, ऐसे ही संसार के विषय सचमुच में नहीं हैं और है की तरह दीखते हैं। जो होता नहीं है परन्तु है की तरह दीखता है, असल में तो वही मिथ्या है। उसी को मिथ्या कहते हैं। मिथ्या के लक्षण अनेक प्रकार से करते हैं। ज्ञान से जो हट जाए वह मिथ्या होता है। ज्ञान से अज्ञान ही हटता है। अज्ञान के हटने से अज्ञान का कार्य हट जाता है। सत् से भिन्न होना भी मिथ्या का लक्षण है। जो कभी भी है नहीं फिर भी है की तरह प्रतीत होता है। मिथ्या सत् और असत् दोनों है, यह हम लोग कह नहीं सकते क्योंकि ये अत्यन्त विरुद्ध चीज़ें हैं। जो सत् होता है वह असत् नहीं होता। अतः सत्-असत् दोनों से विलक्षण को मिथ्या कहते हैं। नष्ट वह चीज़ होती है जो किसी समय में हुआ करती है और फिर नहीं रहती। लेकिन जिस समय में प्रतीत हुई उस समय में थी, तब नष्ट होगी। उसी को अनित्य कहते हैं, वह कभी है, कभी नहीं है। मिथ्या वह नहीं है कि जो तुमको दीखते समय में है और बाद में नहीं है। मिथ्या का निश्चय होता है कि जिस समय देख रहे थे उस समय भी नहीं थी। इस प्रकार 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग' से भगवान् ने कहा कि जिस समय में संसार दीख रहा है उसी समय में नहीं है। दीखता है है-रूप में परन्तु उसी समय नहीं है। ऐसा जिसको सम्यक् दर्शन है उसका मिथ्या ज्ञान हट जाता है। मिथ्या ज्ञान क्या है? 'यह संसार है।' संसार

में अपने शरीर-मन भी आ गये। ये हैं ऐसा निश्चय तत्त्वज्ञान से चला जाता है। मिथ्या ज्ञान ही जन्म का कारण है। जन्म का कारण मिथ्या ज्ञान ही है। मिथ्या ज्ञान दूर हो जाने पर जन्म का कारण हट गया। इसलिए भगवान् ने कहा कि इस प्रकार से जो जानता है 'न स भूयोऽभिजायते', वह फिर पैदा नहीं होता। यदि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' यह यहाँ नहीं कह दिया गया होता तो यह बात सांख्यों की तरह लगती कि जो प्रकृति को जानता है और पुरुष को जानता है, उसका जन्म नहीं होता अर्थात् जो कपिल के अनुयायी हैं उनका जन्म नहीं होता! परन्तु आगे यह शब्द कहने से भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जिसका यह निश्चय है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से जगत् होता है वही मुक्त होता है। सांख्यों के मत में तो प्रकृति से सारा क्षेत्र उत्पन्न होता है, उसके लिए क्षेत्र- क्षेत्रज्ञ के संयोग की ज़रूरत नहीं है।

यहाँ सम्यक् दर्शन का फल मोक्ष भगवान् ने बतलाया क्योंकि अविद्या ही संसार का बीज है। अविद्या होने से ही कामना होती है। जब हम किसी चीज़ को 'है' करके जानते हैं तभी उसकी कामना होगी। जिसे 'नहीं है' जानेंगे उसकी कामना उत्पन्न नहीं होगी। कामना नहीं होगी तो कर्म नहीं होगा। इस प्रकार से अविद्या काम कर्म - ये ही सारे संसार के हेतु हैं। ज्ञान से अविद्यारूप बीज के निवृत्त हो जाने से ही भगवान् ने कह दिया कि तत्त्वज्ञका जन्म नहीं होता। 'संसार है' यही समझना अविद्या है, अज्ञान है, उसको निवृत्त करने वाला सम्यक् दर्शन बतलाया।।२६।।

यद्यपि सम्यग् दर्शन संक्षेप से पहले भी कह आए हैं लेकिन कठिन होने से फिर शब्दान्तर से कहते हैं। वेदान्त का विषय कठिन होने से इसको बार-बार कहना पड़ता है। अलग-अलग शब्दों से, अलग-अलग हेतुओं से समझाया जाये तब इसके संस्कार दृढ होते हैं। ज्ञान तो एक ही हेतु से हो जाता है लेकिन दृढता नहीं आ पाती। इसी प्रकार श्रुति ने एक बार कह दिया तो ही पता लग जाता है कि क्या है, परन्तु दृढता नहीं होती। लगता है 'शायद और कोई मतलब होगा।' अतः जब अनेक प्रकार से, अनेक युक्तियों से, अनेक शब्दों से कहते हैं तब निश्चय होता है। निश्चय फिर संस्कार में परिणत हो जाता है अर्थात् फिर वही उपस्थित होता है, उससे विपरीत बात उपस्थित ही नहीं होती। दृढता यही है कि जैसे ही ग़लत संस्कार उपस्थित होवे वैसे ही उसको तुरन्त श्रवण मनन आदि के द्वारा काट सकें। विपरीत संस्कारों को तो तुम अनन्त जन्मों में दृढ करते ही रहे हो। सम्यक्ज्ञान तो अभी शुरू हुआ है। और माया इतनी जबरी है कि अब भी संसार को उपस्थित करती है तो सद्-रूप से ही करती है। जिस चीज़ को देखते हो वह 'है'- ऐसी बुद्धि अपने आप उत्पन्न होती है। 'संसार है' के संस्कार अनादि काल से चले आ रहे हैं और इस समय में भी चीज़ें तुमको बार-बार है के रूप में ही प्रतीत होती हैं। इसलिए उस संस्कार को काटने के लिए बड़ी सावधानी पूर्वक जब लगे रहते हैं तब है की प्रतीति होते ही उसका 'नहीं होना' संस्कार से उपस्थित हो जाता है, बिना सोचे हुए ही स्फुट हो जाता है। इसलिए भगवान् शब्दान्तर से फिर कहते हैं, दूसरी तरह से कहते है-

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब विनष्ट होते प्राणियों में एक समान रहने वाले अविनाशी परमेश्वर का जो साक्षात्कार करता है वही सही जानकार है।

'सर्वेषु भूतेषू' ब्रह्मा विष्णु से लेकर घास के तिनके तक 'समं' अर्थात् एक जैसा, निर्विशेष, बिना किसी विशेष के रहने वाला परमेश्वर है। अर्थात् ब्रह्मा विष्णु के शरीर में वह तिनका भर भी ज़्यादा हो और घास में अणुमात्र भी कम हो, ऐसा नहीं है। दोनों जगह परमेश्वर एक जैसा ही है। समभाव से वह सारे भूतों में स्थित है, स्थिति करता है। ये सारे भूत क्यों स्थित हैं? परमेश्वर वहाँ है इसलिए स्थित हैं। मिट्टी के सब बर्त्तनों में मिट्टी एक जैसी स्थित है। किसी भी शक्ल के तुम मिट्टी के बर्तन बना दो, उन सब के अन्दर मिट्टी एकरूप से स्थित है और मिट्टी है तभी वे सब चीज़ें स्थित हैं। मिट्टी निकाल लो तो न घड़ा है, न सिकोरा है। मिट्टी है तो उसमें घड़ा सिकोरा सब प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार से परमेश्वर है इसलिए ब्रह्मा विष्णु भी प्रतीत होते हैं और घास का तिनका भी प्रतीत होता है। अविद्या के कारण ये आकार बनते हैं। मनुष्य का आकारों के प्रति बड़ा तीक्ष्ण आकर्षण अनादि काल से है इसलिए वह सत्य को नहीं देख पाता। सुन्दर से सुन्दर शरीर के अन्दर क्या है? सिवाय मज्जा अस्थि माँस रुधिर के कुछ नहीं है। शरीर को खोल कर देखो तो कहीं कोई चीज़ आकर्षण करने वाली नहीं मिलती। मूर्ख भी इसमें स्थित चीज़ों से आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उसके ऊपर एक खोल चढ़ गया, एक आकार बन गया, तो लगता है कि बड़ी सुन्दर स्त्री है। कई लोग उस सुन्दरता के पीछे- यदि विवाह नहीं होता तो- आत्महत्या कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार से कपड़ा, गहना, जो चीज़ खरीदते हैं उसका आकार इतना आकृष्ट करता है कि चीज़ को नहीं देखते कि माल क्या है। इसी प्रकार अनादि काल से संसार के आकारों को देख रहे हैं, उनकी इच्छा कर रहे हैं। वस्तुतः आकार सचमुच में कोई चीज़ नहीं हैं, केवल दीखने मात्र को हैं। सन्मात्र के अन्दर ये सब आकार दीखने मात्र को हैं, हैं नहीं! यदि वह सत् न हो तो ये कोई आकार नहीं दीख सकते। सत् है इसलिए सारे आकार दीखते हैं। जैसे मिट्टी न हो तो घड़ा सिकोरा कुछ नहीं दीख सकता ऐसे बिना परमेश्वर के संसार नहीं दीख सकता। परमेश्वर एक जैसा सर्वत्र स्थित है। उसको परमेश्वर कैसे कह रहे हैं जबकि कुछ ईशन करने का होवे तब उसको ईश कहा जाए, ईश्वर कहा जाए, परमेश्वर कहा जाए? परमेश्वर इस दृष्टि से कह दिया कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, इन सबका कारण अव्यक्त-इन सबकी अपेक्षा से वह परमेश्वर है। भूत हो गए शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि और अव्यक्त, ये सारे के सारे भूत हैं। इनकी अपेक्षा से उसको परमेश्वर कहते हैं।

वे कैसे हैं? भगवान् खुद ही अपने श्रीमुख से कहते हैं 'विनश्यत्सु'। सब प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं। यहाँ क्षण का मतलब वह नहीं लेना जो बौद्ध लोग लेते हैं कि पदार्थ हर क्षण नष्ट होता है। न्याय शास्त्र कहता है कि कोई चीज़ कम-से-कम तीन क्षण तो रहेगी ही।

एक क्षण पैदा होगी, तब दूसरे क्षण रहेगी, तब तीसरे क्षण में नष्ट होगी। वेदान्त कहता है कि कौन चीज़ कितनी देर रहती है इसका झगड़ा बेकार है। जितनी देर तुमको दीखती है, प्रतीत होती है, उतनी देर है। साबुन का बुलबुला है, वह क्षण भर में नष्ट हो जाता है। पानी की लहर पाँच-सात मिनट तक रह जाती है। आदमी हमको साठ-सत्तर सालों तक प्रतीत होता रहता है। जब तक हमको प्रतीति होती है कि चीज़ वही है तब तक उसे है मान लेना चाहिये। इसलिए 'क्षण' का मतलब यहाँ एक क्षण, तीन क्षण इत्यादि नहीं लेना। जो चीज़ जितनी देर तुमको प्रतीत हो वही क्षण है, उतनी देर तक वह रहती है। तुम्हारी प्रतीति से आगे-पीछे तो उसमें कोई प्रमाण है नहीं। परन्तु इतना निश्चय है कि ये सब चीज़ें नष्ट होने वाली हैं। क्यों नष्ट होने वाली हैं? क्योंकि पैदा हुई हैं। भाव पदार्थों का स्वभाव है कि पैदा होते हैं, रहते हैं, बढ़ते हैं, घटते हैं, अन्त में नष्ट हो जाते हैं। इसलिए यदि कोई चीज़ उत्पन्न होती है तो निश्चित है कि उसका नाश होना ही है। स्वप्न के अन्दर तुमको गाय दीखती है और बछड़ा दीखता है और दोनों ही एक साथ ही दीखते हैं। फिर भी क्या मानते हो? गाय चार साल की है और बछड़ा पाँच दिन का है। एक साथ प्रतीत होने पर भी उनके अन्दर जन्म की प्रतीति है। जन्म की प्रतीति होने से ही निश्चय हो जाता है कि ये सब नश्वर हैं। विनष्ट होने के बाद फिर कोई विकार नहीं हो सकता। ये सारे विकार किसमें रहेंगे? भाव पदार्थों में। अभाव में तो ये रह नहीं सकते। धर्मी हो तभी उसमें ये 'जायते अस्ति वर्धते परिणमते' इत्यादि सब विकार रह सकते हैं। जब धर्मी नष्ट हो गया, उसका अभाव हो गया तब फिर उसमें 'जायते' आदि कोई भी धर्म नहीं रह सकता। किंतु याद रखना कि जैसे नैयायिक जन्म से पहले और नाश के बाद वस्तु को सर्वथा न रहने वाला मानता है ऐसे परिणामवादी नहीं मानता। व्यवहार में वेदान्ती भी परिणामवाद को मानते हैं। अतः तत्त्वबोध के बिना संसार के सर्वथा नाश को हम मानते ही नही। पदार्थ का केवल परिणाम होता है, किसी-न-किसी दूसरी चीज़ में बदल जाता है। कपड़ा जलाया तो नष्ट हो गया पर सर्वथा नष्ट नहीं हुआ, राख के रूप में है। इसी प्रकार राख को पानी में घोल दो तो राख नष्ट नहीं हुई ,पानी में घोल के रूप में है। 'नश अदर्शने', उस रूप में नहीं दीखना, उस आकार में नही दीखना, इतने मात्र को विनाश कहते हैं। इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तो जितने भी परिणाम होंगे उन सब परिणामों में 'है' एक जैसा रहेगा। कपड़ा है। फिर उसके बाद राख 'है'। फिर उसके बाद पानी में घोल-'है'। अतः 'अविनश्यन्तं', सारी नष्ट होने वाली चीजों के अन्दर 'है' रूप से वह बिना नाश को प्राप्त किए हुए एक जैसा बना रहता है।

भगवान् ने यहाँ 'अविनश्यन्तं' से नाश का अर्थात् अन्तिम भाव विकार का निषेध किया। बाकी सबमें अन्तिम भाव विकार है, और अविनाशी परमात्मा में अन्तिम विकार नहीं है। तो इससे दो चीज़ें आईं- एक तो यह कि परमात्मा में छहों भाव विकार नहीं हैं और दूसरी, कि बाकी सब पदार्थों में ये छहों भाव विकार हैं। इसलिए सारे भूतों से आत्यन्तिक विलक्षणता

परमेश्वर की सिद्धि हो गई। पदार्थ जितने हैं वे छह भाव विकारों वाले हैं और परमेश्वर छहों भाव विकारों से रहित है। न वह उत्पन्न होता है, न घटता-बढ़ता है और न उसका कभी अदर्शन होता है। यह बात जब तुम 'है' (सत्) के बारे में सोचते हो तब सुस्पष्ट हो जाती है: 'है' को तुमने कभी पैदा होते नहीं देखा। बाकी सब चीज़ों को पैदा होते देखा पर 'है' को पैदा होते नहीं देखा। 'है' है ही रहेगा चाहे जितने सालों का हो जाए, बढ़ेगा नहीं, घटेगा नहीं और कभी भी नहीं है नहीं हो सकता। 'नहीं है' की बात आते ही दो प्रश्न आते हैं – कब कहाँ नहीं है? और कौन नहीं है? अतः नष्ट होने वाला 'है' से कुछ अलग है। अन्यथा नहीं है का झट ज्ञान हो जाए जैसे घड़े का होता है। इसी को नैयायिक लोग कहते हैं कि प्रतियोगी- अनुयोगी के ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। यों परमेश्वर की अत्यन्त विलक्षणता को बतला दिया कि वह निर्विशेष है और एक है।

इस प्रकार से परमेश्वर को जो 'पश्यति' अर्थात् सब पदार्थों में स्थित सत् ब्रह्म को देखता है। जैसे जो सुनार है वह गणेश जी की मूर्ति, चूहे की मूर्ति को देखते हुए भी सोने को ही देखता है। कितने टंच का सोना है- यही उसके देखने का विषय है। इसी प्रकार से जिसे परमेश्वर का निश्चय है, वह संसार के रूपों को देखते हुए भी उनमें जो सद्रूपता है, बस उसी को देखता है। दो बार भगवान् ने क्यों कह दिया 'यः पश्यति स पश्यति'? दो बार कहने का कारण है कि संसार के सभी लोग देखते तो हैं परन्तु विपरीत देखते हैं। जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा देखते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा कि जो ऐसा देखता है वही देखता है और दूसरे देखने वाले देखते नहीं हैं अर्थात् जो चीज़ जैसी है उसको वैसा नहीं जानते हैं। ठीक जिस प्रकार से आँख में मोतियाबिन्द हो जाए तो दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। सामने से दो आदमी आ रहे हों तो दीखता है कि चार आदमी आ रहे हैं। जब पास में पहुँचें तो दो ही मिलते हैं। चार आदमियों को जो देख रहा है उसका देखना नहीं कहा जाएगा। अपने मन में भी निश्चय होता है कि 'मुझे ठीक नहीं दीखता'। इसलिए मोतियाबिन्द से परेशान व्यक्ति को जो दीखता है वह 'नहीं दीखता' माना जाता है। डाक्टर के पास जाकर यही कहता है 'मेरी आँख ठीक नहीं देख रही।' ठीक इसी प्रकार से जो नष्ट होने वाले पदार्थों को 'है' करके देखता है वह नहीं देखता है। 'विनष्ट होने वाले पदार्थ 'है' में केवल अविद्या से प्रतीत हो रहे हैं, हैं नही', इस बात को जो देखता है वही देखता है। अतः भगवान् ने कह दिया 'यः पश्यति स पश्यति' बाकी जितने लोग अविद्या के अन्दर देख रहे हैं वे देख नहीं रहे, जान नहीं रहे।।२७।।

जो सम्यक् दर्शन भगवान् ने बताया इसकी अब स्तुति करते हैं, इसका फल बताते हैं-

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

सर्वत्र समवस्थित ईश्वर को सम देखता हुआ क्योंकि खुद से खुद की हिंसा नहीं करता

इसलिये इस अहिंसा से वह मोक्ष पा लेता है।

'हि' मायने यस्मात्; क्यों हमने कहा 'यः पश्यति स पश्यति'? इसका उत्तर दे रहे हैं: सर्वत्र सारे प्राणियों में ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक 'समं पश्यन्' एक जैसा जो उपलब्ध होता है उस को देखता है। आँख से तो सम नहीं दीखता परन्तु उसकी उपलब्धि होती है, ज्ञान होता है। घड़े को तुमने आँख से देखा, 'है' को आँख से तो नहीं देखा, लेकिन उपलब्धि है। सामने घड़े को देख करके किसी को सन्देह नहीं होता है कि घड़े को तो आँख से देखा, 'है' को किससे देख रहा हूँ? है की उपलब्धि है, ज्ञान है। इसलिए 'पश्यन्' अर्थात् ज्ञान करते हुए। सारे प्राणियों में 'समवस्थितम्', एक जैसा जो रहता है। कौन? 'ईश्वरम्'। जिसको पूर्व श्लोक में कह आए हैं वह निर्विशेष एक अद्वितीय परमेश्वर। जो इस प्रकार उपलब्धि करता है वह 'आत्मानम् आत्मना न हिनस्ति'। भगवान् ने पहले भी आत्म-शब्द का कई अर्थों में प्रयोग कर लिया था, यहाँ फिर कर लिया है। 'आत्मना', अपने से ही 'आत्मानम्' अपने आप को 'न हिनस्ति' हिंसा नहीं करता, मार नहीं डालता।

यह भगवान् ने बड़ी उलटी सी बात कही है 'अपने आपको अपने आप से नहीं मारता'। यह प्राप्त कहाँ हुआ जिसका निषेध कर रहे हैं? कोई कदाचित् दिमागफिरा अपने को मार डालता हो, खुदकुशी कर लेता हो, परन्तु अपने आपको अपने आप से कोई बुद्धिमान् नहीं मारता। अतः अपने आपको अपने आप से नहीं मारने से परम् गति की प्राप्ति होती है इसका क्या अभिप्राय? हिंस धातु का अर्थ नहीं समझने से यह समस्या हो रही है। कोई बड़ा आदमी आवे और तुम बैठे अखबार बाँचते रहो। वह कहे कि 'मैं यहाँ का गवर्नर हूँ, मिलने आया हूँ।' तुम कहो 'हूँ', अखबार हटावो ही नहीं अपने सामने से। तो गवर्नर साहब को क्या लगेगा? 'यह तिरस्कार तो मेरी हत्या है।' इसी प्रकार सब भूतों में एक जैसा जो परमेश्वर रह रहा है उसको तुम नहीं देखते हो, यही उसकी हिंसा है। ईशावास्य में कहते ही हैं 'ये के च आत्महनो जनाः'। आत्मा का तिरस्कार आत्मा का हनन है। जितने अज्ञानी हैं वे, अत्यन्त स्पष्ट साक्षात् अपरोक्ष जो आत्मा है उसका तो तिरस्कार करते हैं और जो चीज़ नहीं है उस अनात्मा को अपना स्वरूप मान कर परिग्रह करते हैं। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जितने अनात्म तत्त्व हैं उन सबको कितना आदर देते हैं कि 'ये मेरा आत्मा ही हैं।' इससे ज़्यादा क्या आदर देंगे! रास्ते में जाते हुए कोई शरीर को छू देता है। शरीर को छुआ, और तुमने शरीर को इतनी प्रतिष्ठा दी है कि शरीर को छू दिया तो मानते हो 'मुझे छू दिया'। इससे ज़्यादा और शरीर को क्या प्रतिष्ठा दोगे? अनात्मा को आत्मा मान कर उसकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा करते हो। और जो तुम्हारा आत्मस्वरूप है उसकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालते, उसको देखते ही नहीं। यह जो आत्मतिरस्कार है उसी को कहा आत्महत्या। सम ब्रह्म का दर्शन पा चुका फिर देहादि को इतना महत्त्व नहीं देता। उसकी जगह जो महत्ता की चीज़ है आत्मा, उसी की तरफ दृष्टि रखता है।

जब अज्ञानी शरीर आदि को आत्मरूप से ग्रहण करता है तब धर्माधर्म करता है। बिना शरीर को मैं माने हुए न धर्म होगा, न अधर्म होगा।। इसको बतलाने के लिए हर कर्म के

प्रारम्भ में संकल्प में क्या कहते हो– 'मैं यज्ञदत्त का बेटा देवदत्त, ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ यजुर्वेदी', तब आगे कर्म करोगे। अगर जब पंडित जी कहते हैं 'तुम कौन हो?' तब तुम कहो 'इसका निश्चय तो मैंने आज तक नहीं किया!' तो पंडित जी कहेंगे 'फिर रहने दो, तुमसे कर्म नहीं होगा।' इसलिए महाभारतकार कहते हैं कि जिसे आत्मदर्शन हो गया, 'नाऽसौ त्यजति कर्माणि कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ' उसे कर्म छोड़ना नहीं पड़ता, कर्म उसे छोड़ देते हैं! कौन– सा कर्म करें? ब्राह्मण हूँ तो वेदपाठ करूँ। शूद्र हूँ तो वेदपाठ न करूँ। ब्राह्मण और शूद्र दोनों कौन हैं? ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा होवे तब ब्राह्मण। पैदा कौन हुआ? शरीर। जिसको अपने शरीर के बारे में निश्चय है कि 'यह मैं नहीं हूँ' वह ब्राह्मण के कर्म भी नहीं कर सकता, शूद्र के कर्म भी नहीं कर सकता। अतः कर्माधिकार ही उसको छोड़ कर चला जाता है। ब्रह्मचारी कौन? गृहस्थ कौन? तुम जिसके लक्षण बतलाते हो वह शरीर ही है। शादी की है तो गृहस्थ हो। घर छोड़कर वनवास किया है तो वानप्रस्थ हो। गेरु कपड़ा पहन लिया है तो संन्यासी हो।– यों शरीरों से ही निरूपण करते हो। संस्कार आदि कहो तो वे सूक्ष्म शरीर के हैं। इसलिए जिसने देहात्मबुद्धि छोड़ दी, कर्म की उसको प्राप्ति ही नहीं रहती है। जब तक कोई आत्मा की यहाँ बताई हिंसा न करे तब तक कर्म कर ही नहीं सकता, कामना कर ही नहीं सकता। जब शरीर अपना मानता है तब शरीर के मरने से 'मैं मरा' यह भी मानता है। पुनः शरीर के जन्म लेने से 'मैं जन्मा' यह भी मानता है। इसलिए वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। जिसका निश्चय है कि 'शरीर मैं नही', उसके लिए यह जन्म–मरण का क्रम बनता ही नहीं। सारे अज्ञानी आत्महत्यारे हैं यह भगवान् ने कह दिया। अज्ञान के बल से ही बार–बार अपने शरीर की हत्या करते हैं, अपने शरीर को मारते हैं। यदि इन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया होता तो फिर आगे मरते नहीं। इसलिए भगवान् ने कहा कि जो परमार्थ रूप से अपने आत्मस्वरूप को जानता है वही आत्महत्या नहीं करता, बाकी तो सब आत्महत्या ही करते हैं। और इसीलिए आत्म–स्वरूप होते हुए भी अपने तिरस्कार से जन्म, सत्ता, बढ़ोतरी, घटोतरी, परिणाम, अपक्षय और नाश– ये सब अपने ही विकार करते रहते हैं। जो यथोक्त आत्मदर्शी है वह अपनी यह हत्या नहीं करता। इसलिए परम गति को, मोक्ष को प्राप्त करता है। जब कहा जाता है कि ज्ञानी या संन्यासी अहिंसक है तब अहिंसक का मतलब कभी भी आत्मा को अनात्मा से एकमेक करके नहीं देखना है। हमेशा आत्मा को अनात्मा से अलग करके रखना है। यही परम गति देने वाला होने से परम धर्म है। केवल जानवर न मारना या खेती न करना रूप अहिंसा परम धर्म नहीं है जैसा जैनी प्रचार करते हैं। आत्मज्ञान ही परम धर्म है। जब कहते हैं अहिंसा परम धर्म है तब उसका मतलब है कि आत्मज्ञान ही परम धर्म है। यह भगवान् ने यहाँ 'न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्' से स्पष्ट कर दिया।।२८।।

शंका होती है कि क्योंकि आत्मा में सजातीय विजातीय और स्वगत – तीन प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं इसलिये इन भेदों के रहते हुए सम दर्शन कैसे होगा? सजातीय भेद :

परमेश्वर भी चेतन है और जीव भी चेतन है। इसलिए दोनों एक जाति के ही हैं। और जीवों का भी परस्पर भेद है। सबके सुख दुःखादि गुण और पुण्यपापादि कर्म अलग-अलग हैं अतः जीव आपस में विभिन्न हैं। इसलिए चैतन्य एक ही है यह बनता नहीं। इसी प्रकार विजातीय भेद हैं: परमेश्वर चेतन है, संसार जड है। अतः चेतन से जडों का भेद है। और परमेश्वर में ही परा-अपरा प्रकृतिरूप दो शक्तियाँ हैं इसलिए स्वगत भेद भी है। समाधान में इन भेदों का भगवान् निराकरण करते हैं। पहले सजातीय भेद को मिटाते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

'कर्म सब तरह से माया द्वारा ही किये जा रहे हैं, सब उपाधियों से रहित मैं अकर्ता हूँ' ऐसा जो समझता है वही सही जानकार है।

ईश्वर का जीवों से भेद और जीवों का परस्पर भेद किस आधार से कह रहे हो? कहोगे 'देखने में आता है। एक अत्यन्त दुष्ट व्यक्ति है और एक सज्जन व्यक्ति है। एक अत्यन्त विद्वान् है, एक अत्यन्त मूर्ख है। मूर्ख और विद्वान् को एक कैसे मान लेवें, सदाचारी और दुराचारी को एक कैसे मान लेवें? इसलिए आत्माओं में भेद मानना ज़रूरी है।' यही कारण है कि आस्तिकों के अन्दर भी अधिकतर लोग आत्मा को व्यापक मानते हुए भी भेद वाला मानते हैं। किंतु भगवान् कहते हैं, जिन भेदों को तुम बतला रहे हो वह आचार आदि तो शरीर से होता है, शरीर पंच महाभूतों का बना हुआ है। जो भेद तुम मूर्ख और विद्वान् का कह रहे हो वह बुद्धि के कारण है। जीवों का कहाँ परस्पर भेद तुम बतला रहे हो? तुम तो बतला रहे हो उसकी उपाधियों का भेद। इसी प्रकार ईश्वर और जीव का भेद यही है कि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् है। सर्वज्ञता-अल्पज्ञता ये उपाधिभेद से प्रकट होने वाले धर्म हैं, इसके आधार पर ईश्वर और जीव में भेद कैसे कह रहे हो? ईश्वर और जीव में भी औपाधिक भेद ही है। जीवों का भी परस्पर औपाधिक भेद ही है। इसी प्रकार से एक ने सत् कर्म किया है इसलिए उसकी सद् योनि होगी। दूसरे जीव ने असत् कर्म किया इसलिए नरकयोनि होगी। सद् योनि व नरक योनि एक की तो हो नहीं रही हैं, इसके कारण जीवों में भेद कह देते हैं। किंतु यह सारी बात शरीरों के भेद ही सिद्ध करती है, आत्मभेद को नहीं। अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व चाहे ईश्वर का हो चाहे जीवों का हो, वह सारा प्रकृति में है। और प्रकृति को पहले ही कह आए हैं कि भगवान् की माया शक्ति है। उस माया में तीन गुण अलग-अलग हैं, वे घटते-बढ़ते रहते हैं। यहाँ 'प्रकृत्या एव च' एव के द्वारा किसको व्यावृत्त करते हैं? सिवाय भगवान् की इस माया शक्ति के और कोई कारण नहीं है। माया के अन्दर चाहे जितने भेद होवें लेकिन माया उन भेदों के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। जिन सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण की घटा-बढ़ी से भेद होता है वे माया का अपना ही स्वरूप हैं। वह माया ही भिन्न-भिन्न तत्त्वों के रूपों में

परिणत होकर वाणी बन गई, मन बन गया, शरीर बन गया; बनी वही माया बिना किसी दूसरे सहकारी कारण के। इसलिए एवकार दे दिया। इसके द्वारा ही ये क्रियमाण कर्म हैं। यही कर्म करती है। सर्वशः, सब प्रकार के कर्म यही करती है। और सब प्रकार का भोग यही करती है।

'तथा आत्मानम् अकर्तारं', आत्मा कुछ भी नहीं करता और कुछ भी नहीं भोगता। जो सब उपाधिवर्ग भोग करते हैं, कर्म करते हैं, उनके साथ तादात्म्य अध्यास होने से चेतन करता है, ऐसी प्रतीति होती है अपने को। लोगों को जब लगता है कि 'रावण कर रहा है और राम कर रहा है' तब वस्तुतः रावण का शरीर-मन कर रहे हैं। इसी प्रकार राम के शरीर-मन कर रहे हैं। आत्मा तो वैसा ही है। उपाधियों से ही कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व प्रतीत होता है। उपाधि को छोड़ कर तो तुम उसका कोई भी कर्म बतला नहीं सकते, न कोई भोग बतला सकते हो। इसलिए कोई भेद सिद्ध न होने से चेतन का सजातीय कोई दूसरा नहीं है। चेतन में सजातीय भेद नहीं है। भेद जितना दीखता है वह प्रकृति में ही दीखता है। प्रकृति ही इन आकारों में परिणत होकर सब कर रही है।

जो इन दोनों बातों को जान जाता है 'सः पश्यति', वही वस्तुतः देखता है अर्थात् परमार्थ दृष्टि वाला है। आत्मा को सारी उपाधियों से रहित देखता है। उपाधियों के साथ तो आत्मा हर-एक को दीख रहा है। उपाधियों से रहित उसका स्वरूप है इस बात को जो जानता है वह वास्तविकता जानता है। आत्मा के अन्दर सजातीय भेद बनता नहीं क्योंकि जितना तुम भेद आपादन करना चाहते हो सजातीयों का, वह सब भेद उपाधि के द्वारा ही आपादन करते हो।।२९।।

द्वितीय प्रश्न रहा कि आत्मा एक है अद्वितीय है, पर उससे भिन्न माया, अनात्मा तो है अर्थात् आत्मा में विजातीय भेद है? इसके उत्तर में कहते हैं–

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३०।।

जब शास्त्राचार्य के उपदेशानुसार भूतों का भेद एक आत्मा में स्थित देखता है और उस आत्मा से ही सारे संसार का विस्तार देखता है, तब (साधक;स्वयम्) ब्रह्म हो जाता है।

'यदा', जिस काल में, 'भूतपृथग्भावम्', ये जो उपाधियाँ हैं इनके पृथक्-भाव को; पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार- इन सबको भगवान् ने कहा था 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'; भिन्न या पृथक् ये सब पदार्थ एक भगवान की ही प्रकृति हैं। बुद्धियाँ अलग-अलग, अहंकार अलग-अलग, ऐसी जो प्रतीति हम लोगों को होती है, यह जो भूतों की पृथक्ता है, उसको 'एकस्थम्' एक आत्मा में ही स्थित, प्रतिष्ठित देखना है क्योंकि उसमें ही ये सब कल्पित हैं। इसको शास्त्र और गुरु के उपदेश से समझ कर फिर दृढता के साथ इसके संस्कार वाला होकर के देखा जाता है। इसी दृष्टि से शास्त्र में कहा 'आत्मैवेदं सर्वम्'

(छां.७.२५.२) आत्मा ही यह सब है। उस एक आत्मा में ही सब को अधिष्ठित देखते हैं अर्थात् उसके अन्दर केवल कल्पित है ऐसा समझ लेते हैं। जो कल्पित होता है वह वास्तविक के अन्दर भेद का आपादन नहीं करता। मिथ्या से सत्य में भेद नहीं आता। ये सारे कल्पित होने से वस्तुतः नहीं हैं। 'नहीं हैं' से 'है' में भेद नहीं आता। इस बात को पहले तो शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जानना पड़ेगा, फिर वह अपने अनुभव रूप में बन जायेगा, प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होगा। शास्त्र–आचार्य के उपदेश से ही यह प्रत्यक्ष होता है। जैसे प्रत्यक्ष का स्पष्ट भान होता है वैसे ही इसका स्पष्ट भान होता है।

और, जिस आत्मा में यह अधिष्ठित है 'तत एव च विस्तारं', उस आत्मा से ही सारा विस्तार होता है, सारा फैलाव होता है। इसलिए श्रुति कहती है कि प्राण, आशा, स्मर आदि सब आत्मा से ही होते हैं। विस्तार से सामवेद के अन्दर सब चीज़ें उस आत्मा के कारण ही प्रतीत होती हैं यह कहा। जैसे सर्प, जलधारा, माला भूछिद्र- ये सब किससे फैलने वाले कहने पड़ेंगे? रस्सी से, क्योंकि रस्सी के होने पर ही ये सब होते हैं। इसी प्रकार श्रुति बार–बार कहती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', परमात्मा के कारण ही ये सारे भूत प्रतीत होते हैं। अतः संसार का फैलाव उसी से मानना उचित है। ऐसा जब 'अनुपश्यति', शास्त्र–आचार्य उपदेश सुनने के बाद जब वह अपना प्रत्यक्ष हो जाता है, जब इस प्रकार से इन सारी चीज़ों को एक परमात्मा में ही अधिष्ठित देखता है तब समझ लेता है कि वे सब चीज़ें हैं ही नहीं। जैसे रस्सी को देखने वाले के लिए साँप, जलधारा आदि नहीं हैं उसी प्रकार से यहाँ हो जाता है। जब ऐसा होता है तब 'ब्रह्म सम्पद्यते तदा', उस काल में बस एक ब्रह्म ही रह जाता है, सम्पन्न हो जाता है, परिपूर्ण हो जाता है। पहले तो यह मानते थे कि एक उपाधि है, दूसरा उपहित है। उपाधि के भेद से उपहित में भेद नहीं है- यह तो पहले बतलाया। अब बतलाया कि उपाधि भी वास्तविक नहीं है, वह भी उसमें ही अधिष्ठित है, उसमें ही कल्पित है। इसलिए विजातीय भेद भी नहीं है। चेतन के सिवाय जड नाम की चीज़ है ही नहीं। इस प्रकार से सजातीय और विजातीय भेद को व्यावृत्त कर दिया।।३०।।

तृतीय प्रश्न रहा कि क्या स्वगत भेद रह सकता है? परमेश्वर और उसकी शक्तियाँ हैं, उनसे उसमें स्वगत भेद रह जाएगा। दूसरी एक शंका और होती है- उपाधि के सम्बन्ध से उपाधि के दोष भी उपहित में आते दीखते हैं। जैसे चिता के अन्दर जो अग्नि जल रही है वह अग्नि होने पर भी भोजन बनाने के काम में नहीं ली जाती। रसोई की अग्नि और चिता की अग्नि में अग्निरूप से कोई भेद तो है नहीं परन्तु उपाधि के कारण दोष को मानते हैं। इस प्रकार उपाधि के सम्बन्ध से दोष की प्राप्ति होती देखी जाती है। सारे देहों की उपाधि वाला जो चेतन है उसमें भी इस प्रकार से दोष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। इन दोनों प्रश्नों का जवाब देते है-

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

कौन्तेय! कारण और गुणों से रहित होने के कारण यह परमात्मा नष्ट नहीं होता। शरीर में स्थित प्रतीत होता हुआ भी यह न कुछ करता है न किसी भोगरूप फल से सम्बद्ध होता है।

'अनादित्वात्'; आदि अर्थात् कारण; इसका कोई कारण नहीं है, इसलिए परमात्मा अनादि है। कारण से जब कोई चीज़ कार्य रूप में परिणत होती है तब उसको उसका जन्म, उसका आदि कहते हैं। ऐसे उस चेतन का कोई कारण नहीं है जिससे चेतन प्रकट हुआ हो। कारण ही कार्य के अवयव होते हैं जैसे धागे कपड़े के अवयव होते हैं। अनादि होने से आत्मा निरवयव है। 'निर्गुणत्वात्' और यह निर्गुण है। जो चीज़ गुण वाली होती है उसके अन्दर गुण-गुणी का स्वगत भेद रहेगा। लाल-कपड़ा तो एक ही है परन्तु फिर भी गुण और गुणी का भेद रहेगा। जो निर्गुण पदार्थ है उसके अन्दर ऐसा भेद सम्भव नहीं। अनादि से बतला दिया कि कारण-कार्यरूप जो स्वगत भेद हो सकता है वह इसमें सम्भव नहीं। और निर्गुण के द्वारा बतला दिया कि गुण-गुणीभाव से होने वाला जो स्वगत भेद होता है वह भी इसमें सम्भव नहीं। निष्कारण अर्थात् निरवयव और गुणरहित होने का फल स्पष्ट करने के लिए कहते हैं 'अयं परमात्मा अव्ययः'। इसमें किसी तरह की घटोतरी-बढ़ोतरी नहीं। क्रिया से कुछ-न-कुछ बदला जाता है। गुण, क्रिया, कारण-कार्यभाव- ये सब इसके अन्दर नहीं, स्वगत भेद नहीं अतः इसका व्यय, खर्च हो जाना, कम हो जाना या नाश असंभव है। निर्गुण होने से ही अव्यय है। क्योंकि जो सगुण चीज़ होती है उसका गुण घटे-बढ़े, तब कहा जाता है कि यह कम हो गया। गुणों के घटने-बढने से चीज़ को घटी-बढ़ी वाला मान लेते हैं। यह निर्गुण होने से व्यय हो ही नहीं सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् हम लोग रोज़मर्रे का जो व्यवहार करते हैं उसमें आकाशका कोई कारण नहीं। चीज़ों को तो हम लोग बदलते हुए देखते हैं परन्तु आकाश में किसी प्रकार का वास्तविक परिवर्तन हम लोगों को नहीं दीखता। आकाश खुद भी परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है इसलिए यह नहीं कह रहे हैं कि आकाश उत्पन्न नहीं हुआ, अनादि है, परन्तु हमारे व्यावहारिक जगत् के अन्दर तो आकाश अनादि ही है। इसी प्रकार आकाश के अन्दर किसी गुण की प्रतीति नहीं। शास्त्र ज़रूर कहता है कि शब्द गुण वाला आकाश है, परन्तु शब्द गुण प्रकट हमेशा किसी-न-किसी वायु, जल,या पृथ्वी के आधार को लेकर ही होता है। वायु न होने से आकाश के अन्दर होने वाले गुण का हमको पता नहीं चलता। वायु ही एकमात्र चीज़ नहीं है जिसके माध्यम से आवाज़ आये। कभी अगर दूर से रेल आ रही है, रेल दीख नहीं रही, आवाज़ भी नहीं आ रही, परन्तु यदि तुम अपने कान को रेल की पटरी के साथ मिलाकर सुनने का प्रयत्न करो तो तुमको रेल की आवाज सुनाई देगी। उस लोहे की पटरी से आवाज आ जाती है। इसी प्रकार जल से भी आती है। ध्वनि को कोई वाहक

चाहिए। शब्द आकाश का गुण है लेकिन उसको कोई माध्यम चाहिए। विचार करके और शास्त्र के बल से पता लगता है कि आकाश का गुण शब्द है। किंतु आकाश व्यवहार में कारणरहित भी है, गुणरहित भी है और अव्यय भी है। आकाश कभी घटता-बढ़ता नहीं। किसी भी व्यवहार के अन्दर आकाश को तुम काट कर अलग नहीं कर सकते। व्यावहारिक दृष्टि से आकाश अनादि भी है, निर्गुण भी है, अव्यय भी है और आकाश में किसी तरह का लेप स्वीकार नहीं करते। गन्दे बर्तन का भोजन तो नहीं खाते लेकिन गंदे बर्तन के आकाश का तो कोई त्याग नहीं करता! अतः व्यावहारिक दृष्टि से आकाश उपाधि के साथ होने पर भी उसके अन्दर उपाधि के किसी दोष का कहीं पर भी लेप नहीं है।

इसी प्रकार से 'शरीरस्थोऽपि' शरीरों के अन्दर आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की प्रतीति होती है, इसलिए उसको 'शरीरस्थ' कहते हैं। किसी-न-किसी शरीर में ही आत्मा की उपलब्धि होती है। परन्तु शरीर में रहने पर भी 'न करोति', करता नहीं। जिस प्रकार से आकाश घड़े में रहते हुए भी, घड़ा जो करता है उससे आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं है, आकाश वैसा-का-वैसा बना रहता है, इसी प्रकार से शरीर मन इत्यादि के द्वारा जो किया जाता है उसको करने वाला आत्मा नहीं बनता, वहाँ मौजूद रहने पर भी। इसलिए ऐसा नहीं है कि शरीर नहीं रहेगा तब पता लगेगा 'मैं अकर्ता हो गया'। उपनिषद् भी कहती है कि शरीर छोड़ने के पहले यहीं पर उस तत्त्व को प्राप्त करना पड़ेगा। क्योंकि 'न करोति', कर्ता नहीं है, इसलिये उसके फल को कहाँ से प्राप्त करेगा, 'न लिप्यते'! जो करने वाला होता है वही कर्मफल से लिप्त होता है। वहाँ विद्यमान होने मात्र से कर्ता-भोक्ता नहीं बन जाता। ठीक जिस प्रकार कहीं पर कोई दूसरे को पीट रहा है, तुम वहाँ विद्यमान हो, गवाह हो, पर तुमको कोई जेल नहीं देता। तुम्हारे विद्यमान रहने पर भी तुम अकर्ता हो, साक्षी हो, देख लिया बस, इतना ही तुमने किया। इसी प्रकार से शरीर इन्द्रियाँ मन आदि करते हैं, तुम वहाँ विद्यमान हो; यह सब हो रहा है इतने मात्र से तुम उस कर्म से लिप्त कैसे होगे? तुम तो केवल साक्षी हो। अगला प्रश्न होता है कि शरीर तो जड़ है, करेगा-भोगेगा कैसे? जड कर नहीं सकता, चेतन आप कहते हैं करता नहीं है, तो करने वाला कौन है? भगवान् क्या कह आए हैं – जो कुछ होता है 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ- संयोगात् तद्विद्धि'। बिलकुल ठीक है कि जड नहीं कर सकता। यह भी बिल्कुल ठीक है कि चेतन नहीं कर सकता। ठीक जिस प्रकार बिजली हमें रोशनी नहीं दे सकती, लट्टू हमें रोशनी नहीं दे सकता। लट्टू और बिजली का संयोग ही रोशनी देगा। इसी प्रकार चेतन भी कुछ नहीं कर सकता, जड भी कुछ नहीं कर सकता। चेतन और जड का जो आपस में संयोग है, वही करने वाला है। शरीरों में कौन करता है और कौन लिप्त होता है? यह जो संयोग है – इससे कर्तृत्व व लेप होता है। परमात्मा से अलग शरीराभिमानी जीव है जो करता और लिप्त होता है- ऐसा भगवान् का तात्पर्य हो नहीं सकता क्योंकि भगवान् स्पष्ट प्रतिज्ञा कर आए हैं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' क्षेत्रज्ञ मैं हूँ, कोई दूसरा नहीं है।

आत्मा का वास्तविक अकर्तृभोक्तृत्व, भ्रम से कर्तृभोक्तृत्व इतना दुर्विज्ञेय है कि भगवान् ने कई बार कह दिया फिर भी उपनिषद् के इस सिद्धान्त को वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध सभी इसे न समझकर अपनी-अपनी अलग कल्पनाएँ ही करते हैं। भगवान् ने तो स्पष्ट कह दिया है 'स्वभावस्तु प्रवर्तते', अविद्यामात्र स्वभाव है। अविद्या, अज्ञान, बस इसके कारण हुआ तादात्म्य-अध्यास कर्ता और भोक्ता की प्रतीति कराता है। अज्ञान के सिवाय और कोई दूसरा कारण नहीं है। वास्तविक है एकमात्र परमात्मा। उस परमात्मा में अज्ञान से तुम देह इन्द्रियादियों की कल्पना कर लेते हो। फिर उस देह-इन्द्रियादियों से कर्म हो गया- यह कल्पना कर लेते हो, फिर देहइन्द्रयादियों के कर्म से फल उत्पन्न हो गया- यह कल्पना कर लेते हो। है एक परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं। भगवान् कह आए हैं कि एकमात्र अविद्या स्वभाव ही कारण है, और कोई नहीं।

परमात्मा तीनों भेदों से रहित है। कुछ लोग मान लेते हैं कि जीव और जगत् परमेश्वर का शरीर है, वह शरीरी है। यहाँ तक तो आए कि सजातीय व विजातीय भेद नहीं, लेकिन स्वगत भेद मानते हैं परमेश्वर के अन्दर। दूसरों ने कहा कि विजातीय भेद भी है। कुछ ने सजातीय भेद माना क्योंकि अलग-अलग जीवों को मानते हैं। ऐसी भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ प्राचीन काल में भी की गई और वर्त्तमानकाल में भी करते हैं। यह जो सीधा सादा उपनिषद्-दर्शन है कि एक परमात्मा ही है, बाकी सब अविद्या के कारण प्रतीत होता है, पारमार्थिक दृष्टि से एक परमात्मा में कुछ भी नहीं है, अविद्या दृष्टि से सब कुछ प्रतीत हो रहा है - इसे स्वीकार नहीं पाते।

इस परमार्थ दृष्टि के अन्दर जो स्थित ज्ञान-निष्ठ परमहंस परिव्राजक हैं वे अविद्या के सारे व्यवहारों का तिरस्कार करते हैं। अविद्या के व्यवहारों के अन्दर इन सारे भेदों की कल्पनाएँ करने की कोई आवश्यकता नहीं देखते। ठीक जिस प्रकार से स्वप्न से एक आदमी उठता है, बड़ा खुश होता है कि बड़ा बढ़िया सपना देखा। दूसरा आदमी बड़ा दुःखी उठता है कि बड़ा खराब सपना देखा। सपना देखा - यह दोनों मानते हैं। स्वप्न, मतलब सच्चा नहीं था, तभी उसको स्वप्न कह रहे हैं। और फिर आकर पूछते हैं 'महाराज! खराब सपना देखा, इसका क्या मतलब है? या अच्छा सपना देखा, इसका क्या मतलब?' और एक पूरा स्वप्न शास्त्र भी है उनके मतलबों को बतानेवाला! सपना खुद ही झूठा तो उसका मतलब क्या होना है! कुछ नहीं। लेकिन फिर भी व्यवहार चलते हैं। जो ज्ञाननिष्ठ हैं वे अविद्या के व्यवहारों का सर्वथा तिरस्कार करते हैं। स्वप्न अच्छा दीख गया तो क्या, स्वप्न बुरा दीख गया तो क्या! जब स्वप्न है ही नहीं, तो दीख जाने से उसका महत्त्व नहीं हो जाता। रस्सी में साँप दीख गया तो क्या और रस्सी में मोतियों की माला दीख गई तो क्या! न साँप तुम्हारा कुछ बिगाड़ सकता है और न वहाँ पर दीखी मोतियों की माला तुमको कोई फ़ायदा पहुँचा सकती है। इसी प्रकार से अविद्या से कल्पित शरीरादियों के व्यवहार न कुछ तुमको फायदा पहुँचा सकते हैं, न कुछ नुकसान पहुँचा सकते हैं। न कर्म हुए हैं और न उनका फल हो सकता है। इसलिए ऐसे ज्ञान-निष्ठों को कर्म का

अधिकार ही नहीं रहता। हर कर्म करने के लिए उपाधियों के द्वारा ही उस कर्म की तुमको प्राप्ति होती है। जो उस उपाधि को सर्वथा नहीं होकर प्रतीत होने वाली मानते हैं उनको कर्माधिकार नहीं है। सारे कर्मशास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि जिसको श्रद्धा नहीं है वह कर्म में अधिकारी नहीं है। जिसको यह श्रद्धा ही नहीं है कि मैं ब्राह्मण हो सकता हूँ वह ब्राह्मणोचित कर्मों में अधिकारी नहीं। ब्राह्मण वह होता है जो ब्राह्मणी से ब्राह्मण में पैदा होवे। शरीर पैदा होता है। शरीर के ब्राह्मण होने से मैं कैसे ब्राह्मण हो गया? अतः जिसको अभिमान है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ',उसको तो लगता है कि ब्राह्मणोचित कर्म मेरा कर्त्तव्य है पर जो ज्ञान-निष्ठा वाला है वह किस कर्म को करे! जब कभी कर्माधिकार बतलाते हैं तब किसी-न-किसी उपाधि का बतलाते हैं और उस उपाधि को वह जानता है कि यह तो सर्वथा है ही नहीं। भगवान् ने यहाँ 'न करोति न लिप्यते' ऐसे ज्ञान-निष्ठ परिव्राजकों के लिए कहा है जिन्होंने सारे कर्मों का तिरस्कार कर दिया है। जैसे शास्त्रीय कर्म, वैसे ही लौकिक कर्म हैं, यह याद रखना। कई बार लोग कह देते हैं कि शास्त्रीय कर्म का अधिकार तो शास्त्र ने बतलाया इसलिए ब्राह्मणत्वादि में श्रद्धा नहीं है तो उन कर्मों का त्याग हम मान लेंगे। खासकर लोकमान्य तिलक ने इसका बड़ा पोषण किया है। शास्त्रीय कर्मों को तो छोड़ना वे मान लेते हैं परन्तु लौकिक कर्मों को छोड़ना नहीं मानते! कहते हैं कि जिस देश में तुम पैदा हुए हो उस देश के लिए तो तुम्हारा कर्त्तव्य रह ही जाएगा। उनके ग्रन्थ को पढ़ते हैं तो बड़ी हँसी-सी आती है। देश में माता से कौन उत्पन्न हुआ? हम उत्पन्न हुए कि शरीर? ऐसे लोग आजकल हो गए हैं जो संन्यासियों को भी कहते हैं कि तुम्हारा भी देश के प्रति कोई कर्त्तव्य है! यदि देश के प्रति कर्त्तव्य मानते हो तो अपने को उत्पन्न होने वाला मानते हो, किसी एक देश में रहने वाला मानते हो; यह सब मानते हो तो फिर ब्राह्मण क्षत्रिय मानने में कौन-सा हर्जा है? इसलिए जिन्हें वास्तव में आत्मानुभव हुआ है, समस्त व्यवहारों को वे तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते हैं। उनके लिए कर्माधिकार नहीं है।।३१।।

उपाधि में रहते हुए भी न करना, न लिप्त होना, इसे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं :-

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

जैसे सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापक होते हुए भी आकाश सबसे असम्बद्ध रहता है वैसे सर्वव्यापक आत्मा शरीर में सम्बन्ध वाला नहीं होता।

आकाश सामान्य दृष्टि से सर्वव्यापक है ही और अतिसूक्ष्म है। इसलिए इसमें किसी प्रकार से लेप नहीं होता। खूब पानी बरसता है तो लगता है कि आकाश गीला ज़रूर हुआ होगा परन्तु जैसे ही पानी बरसना बन्द हुआ, धूप निकली, आकाश वैसा-का-वैसा है। ऐसा नहीं करना पड़ता कि आकाश को ज़रा धूप में दे दो, कई दिनों से पानी बरसता रहा है! और जेठ की भयंकर गर्मी पड़ती है तो आकाश सिकुड़ नहीं जाता। सूक्ष्म होने के कारण आकाश इस प्रकार से इन सबके द्वारा कोई भी सम्बन्ध वाला नहीं बनता। आत्मा तो

आकाश से भी सूक्ष्म है। इसलिए संसार के सारे शरीरों के अन्दर और हर शरीर में नखाग्र-पर्यन्त रहकर भी अलिप्त है। यदि शरीरों में अवस्थित न होवे तो शरीर प्राण-धारण नहीं कर सकता। आकाश जैसे सब जगह रहते हुए भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार से आत्मा भी सारे शरीरों में और पूरे शरीर में अवस्थित होकर भी लिप्त नहीं होता।।३२।।

आत्मा की निर्लेपता में सदृष्टान्त हेत्वन्तर देते हैं –

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

भारत! जैसे अकेला सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित करता है वैसे एक परमात्मा समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से जो चीज़ जैसी है उसको प्रकट करने वाले प्रकाश के समान हो जाता है। प्रकाश भी किसी चीज़ में कोई परिवर्तन नहीं करता, जो चीज़ जैसी है उसको वैसा ही प्रकट कर देता है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्मा भी किसी में कोई परिवर्तन नहीं करता, जैसा है वैसा प्रकट कर देता है। अतः कहा कि जिस प्रकार से रवि अर्थात् सूर्य इस सारे संसार को, सारे लोकों को प्रकाशित कर देता है अर्थात् जैसा है वैसा प्रकट कर देता है, वैसे आत्मा क्षेत्र को प्रकाशित करता है। अलग-अलग चीज़ों को प्रकट करने के लिए अलग-अलग सूर्य नहीं मानते! हिन्दुस्तान के लिए एक सूर्य होगा, पाकिस्तान के लिए दूसरा सूर्य होगा, अमेरिका के लिए तीसरा सूर्य होगा- ऐसा तो नहीं है। एक ही सूर्य इन सबको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार जो क्षेत्री आत्मा है वह क्षेत्र को प्रकाशित कर देता है। क्षेत्र- जो भगवान् अध्याय के आरम्भ में बतला आए हैं, महाभूतों से लेकर के बुद्धि और बुद्धि के विकारों तक। इच्छा द्वेष सब क्षेत्र में ही आ गए। 'तत् क्षेत्रं' (३) 'एतत् क्षेत्रं' (४) आदि में सारे को एक मानकर कहा ही था। वैसे ही यहाँ कहा 'कृत्स्नं क्षेत्रं' संसार में जहाँ-कहीं महाभूत से लेकर धृति-पर्यन्त पदार्थ हैं वहाँ सर्वत्र, वह एक ही क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रज्ञ उन्हें 'प्रकाशयति', प्रकाशित कर देता है। इस श्लोक में दोनों बातें बतला दी- सारे क्षेत्रों के अन्दर रहने वाला एक आत्मा ही उन सबका प्रकाशक है और सूर्य के ही दृष्टान्त से, प्रकाशक होते हुए भी प्रकाश्य से लिप्त नहीं होता। गन्दा पानी, मटमैला पानी आदि अनेक प्रकार के पानियों में सूर्य प्रतिबिम्बित होता हुआ दीखने पर भी सूर्य के ऊपर कोई दोष नहीं आता है। सब्जी मण्डी के नाले में प्रकाशित होने से सूर्य को कोई दोषी नहीं मानता कि 'आज तो सूर्य को अर्घ्य नहीं दे सकते हैं, आज हमने सूर्य को सब्जी मण्डी के नाले में देख लिया, अपवित्र अवस्था में है।' ऐसा नहीं होता है। जैसे सूर्य सब चीज़ों को प्रकाशित करते हुए, उनमें प्रतिबिम्बित होते हुए भी उनसे लिप्त नहीं है इसी प्रकार आत्मा सारे क्षेत्र को प्रकाशित करते हुए, उस क्षेत्र के अन्दर जो अन्तःकरण आदि हैं उनमें प्रतिबिम्बित होकर के जीवरूप से प्रतीत होते हुए भी किसी भी लेप वाला नहीं है।।३३।।

अब अध्याय का समापन करते हैं:-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।

शास्त्र-आचार्य के उपदेश से जनित आत्मबोधरूप दृष्टि द्वारा पूर्वोक्त ढंग से जो क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ के परस्पर विलक्षण स्वभावों को और भूतों की अविद्यारूप प्रकृति के मिथ्यात्वको अपरोक्ष जान लेते हैं वे परमार्थ तत्त्व प्राप्त कर लेते हैं।

इस अध्याय में जो बातें बतलाई हैं उन्हें संक्षेप में उपसंहार में कह दिया। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भगवान् ने भेद बतलाया। क्या भेद है? क्षेत्र वह है जो प्रतीत होता है, परिणामी है। क्षेत्रज्ञ वह है जो उन सब प्रतीतियों के अन्दर ज्ञान-स्वरूप से रहता है, कूटस्थ है। 'एवम्' अर्थात् जो यह भेद का स्वरूप बतलाया इस तरीके से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ से कैसे अलग है, यह जिसे मालूम है वह परमार्थदर्शी है। इस भेद को किससे जानोगे? 'ज्ञानचक्षुषा'। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद व्यवहार में कभी प्रतीत होता नहीं। व्यवहार के अन्दर क्षेत्र को ही देख कर हम क्षेत्रज्ञ के बारे में सोचते रहते हैं। भगवान् ने यहाँ जो इन्हें एक-दूसरे से विलक्षण बतलाया, यह शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ही ज्ञान होता है। जब तक शास्त्र और आचार्य के उपदेश से होता है तब तक तो यह ज्ञान परोक्ष है। उसका फल यहाँ नहीं बतला रहे हैं। जब शास्त्र और आचार्य से कही हुई जो उपदेश की बात है वह तुम्हारा आत्म-प्रत्यय हो गया है, अनुभव हो गया, तब यहाँ बताया फल होता है, होगा तो शास्त्रादि के संस्कार से लेकिन प्रत्यक्ष हो जायेगा। ठीक जिस प्रकार से देवदत्त के बाप ने बताया 'यह मेरा बेटा देवदत्त है'। उसके बेटे ने कहा 'ये मेरे पिता जी देवदत्त हैं'। उसकी पत्नी ने कहा 'ये मेरे पति देवदत्त हैं'। तभी पता लगा कि यह देवदत्त है। बाकी तो कोई तरीका नहीं है! परन्तु जब देवदत्त के साथ हमारा पाँच साल का व्यवहार हो गया तब प्रतीति यह नहीं रह जाती है कि 'यज्ञदत्त ने अपना लड़का देवदत्त कहा था इसलिए यह देवदत्त है', वरन् उसको देखते ही 'यह देवदत्त है' ऐसा प्रत्यक्ष होता है। हम बिलकुल जानते हैं कि यह देवदत्त है। तब वह अपना प्रत्यय हुआ। इसी प्रकार, शास्त्र और आचार्य के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के जिस अन्तर को समझा है, वह जब आत्मप्रत्यय अर्थात् अपना ज्ञान हो जाता है, तब उसे ज्ञानरूप चक्षु कहते हैं। वहीं आँख है जिसके द्वारा इसको देखा जाता है। उस ज्ञान से एक तो यह समझ लेना है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ कैसे सर्वथा पृथक् हैं। और क्या जानना है? 'भूतप्रकृति-मोक्षम्'। पंचमहाभूतों से शुरू करके जितना गिनाया सब 'भूत' हैं। उस सबकी प्रकृति अविद्या ही है। सारी प्रतीतियों का कारण एकमात्र अविद्या है। वह भूतप्रकृति कैसी है? अधिष्ठान से अतिरिक्त न होकर अतिरिक्त प्रतीत होती है। वास्तव में वह सर्वथा नहीं

है। इसलिए, भूतप्रकृति जो अविद्या जिसके कारण सब हो रहा था, उस अविद्या का मोक्ष अर्थात् उसका रह न जाना। भूतप्रकृति का मोक्ष अर्थात् कार्यों समेत अविद्या को अभाव पर्यन्त पहुँचा देना कि 'ये सब नहीं हैं'। 'ये विदुः' जिन्होंने इस चीज़ को भली प्रकार से आत्मसात् कर लिया है, जिनको इसका दृढ ज्ञान हो गया है, 'ते परम् यान्ति', वे उस पर ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् फिर उनका इस भूत-प्रकृति से होने वाली देह से कभी कोई सम्बन्ध होता नहीं। इस प्रकार भगवान् ने क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त किया।।३४।।

।। तेरहवाँ अध्याय।।

ॐ

चौदहवाँ अध्याय: गुणत्रयविभागयोग

तेरहवाँ अध्याय समाप्त करते हुए भगवान् ने अन्त में कहा ''भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्'', भूतों की त्रिगुणात्मका प्रकृति किस प्रकार से बन्धन में डालती है, और किस प्रकार से उसमें से जीव छूटता है यह भगवान् ने उस अध्याय में बताया था। चौदहवें अध्याय में उसका आगे विस्तार करने के लिये अर्जुन के बिना प्रश्न किये ही भगवान् प्रवृत्ति करते हैं। तेरहवें के अन्दर भगवान् ने यह भी कह दिया था कि जो कुछ स्थावर जंगम होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होता है। इससे शंका होती है कि यदि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही सब होता है तब फिर ईश्वर कहाँ रहा! उपनिषद् आदि तो ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय बतलाते हैं जबकि यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से अर्थात् अविद्या से ही सारे संसार को बतला दिया। इस विरोध का कैसे परिहार होगा? स्वयं गीता शास्त्र में भी भगवान् ने कहा 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (१०.८) सारे जगत् को उत्पन्न मैं करता हूँ। अतः, ईश्वर के वशमें होकर ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग होता है, ईश्वर ही कारण है- इस बात को स्पष्टतः कहना है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग है तो कारण परन्तु उस अविद्या को प्रवृत्त करने वाला कौन है? 'उत्पन्न करने वाला' नहीं कह रहे हैं, प्रवृत्त करने वाला कौन है? भगवान् पहले कह आये हैं, कि प्रकृति-द्वय अनादि है। अतः परमेश्वर इन को उत्पन्न करता है ऐसा नहीं, परन्तु उनकी प्रवृत्ति कराने वाला होने से, प्रवर्तक होने से, मायाधीश होने से, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग के द्वारा उत्पन्न होने वाले को भी परमेश्वर से ही उत्पन्न होने वाला कहते हैं। इस प्रकार से समझाने पर, जो बिना ईश्वर माने हुऐ प्रधान और पुरुष को लेकर ही सारी व्यवस्था बनाने वाले कापिल हैं, उनका भी खंडन हो जायेगा। इसलिये इस अध्याय में इस बात को भी बतलाना ज़रूरी है। इतना ही नहीं, भगवान् ने कहा था, 'कारणं गुणसंगोऽस्य' (१३.२१) नरकादि या स्वर्गादि योनियों में अथवा मनुष्ययोनि में जाने का कारण गुणों से संग होना है। जन्म का कारण गुण में संग को बतलाया। आगे यह नहीं बतलाया कि किस गुण से संग होने पर, किस योनि की प्राप्ति होती है। उत्कृष्ट योनि क़ी प्राप्ति किस गुणसंग से है, निकृष्ट योनि की प्राप्ति किस गुणसंग से है और मनुष्य योनि

की प्राप्ति किस गुणसंग से है। यह बताना रह गया। गुणों का स्वरूप और गुणों से संग कैसे होता है इसको पहले संकेतित किया परन्तु गुणों का विस्तार नहीं किया। और, गुणों से कैसे छूटता है यह बताना है। छूटने के क्या साधन हैं और छूटने पर मुक्त का कैसा आचारादि होता है, मुक्त का क्या लक्षण है, यह सब भी बतलाना बाकी है। इन सब बातों को भगवान् अपनी तरफ से कहते हैं।

श्रीभगवान् उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

भगवान् बोले – विभिन्न विषयक ज्ञानों में उत्तम और परमार्थ विषयक वह ज्ञान फिर से बताऊँगा जिसे पाकर सब मननशील साधक इस देहबन्धन से छूटकर मोक्षनामक परा सिद्धि पा चुके हैं।

भगवान् कहते हैं 'ज्ञानानाम् उत्तमं परं ज्ञानम्' ज्ञानों में जो परम है और उत्तम है, उस ज्ञान को 'प्रवक्ष्यामि' प्रवचन करके विस्तार से बताऊँगा। 'भूयः' फिर से, क्योंकि पूर्व अध्यायों के अन्दर इन चीज़ों का भगवान् संकेत कर आये हैं। भगवान् संक्षेप में बतलाते आये हैं, परन्तु आगे विस्तार से बतलाना है इसलिये कहा 'भूयः'। पहले कही हुई बात को ही 'प्रवक्ष्यामि', भलीप्रकार से विस्तार करके प्रवचन के द्वारा बताऊँगा। वह ज्ञान 'पर' क्यों है? पर वस्तु को विषय करने वाला होने से वह पर है। उसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, इसलिये उसके बाद और कुछ जानना शेष रहता नहीं। उपनिषदों के अन्दर यही परमात्मा का लक्षण किया है- जिसको जानकर सब जान लिया जाता है, कुछ भी बिना जाना हुआ नहीं रह जाता। इसलिये वह सबसे परे है, सबसे ऊर्ध्व है, सबसे उत्कृष्ट है। 'उत्तमम्' सबसे क्षेष्ठ फल देने वाला होने से वह उत्तम भी है। परब्रह्म-विषयक होने से पर है, और सबसे उत्कृष्ट मोक्षरूपी फल देने वाला होने से उत्तम है। तेरहवें अध्याय में साधनों को ज्ञान कहा था किन्तु यहाँ ज्ञान-शब्द से साधनों को नहीं लेना है। लोक में भी प्रायः साधनों को ज्ञान नहीं कहते। विषयों के अज्ञानको दूर करने वाले को ही ज्ञान कहते हैं। संसारी जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से तुमको पता लगता है, वह अत्यन्त स्थूल ज्ञान है। उसका फल व्यवहार-सिद्धि के सिवाय और कुछ नहीं है। उन ज्ञानों से सूक्ष्म वस्तुओं का पता नहीं चलता। चार्वाक आदि प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान तक ही अपने को सीमित मानते हैं। कट्टर चार्वाक सम्प्रदाय वाले तो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि अनुमान से केवल सम्भावना प्रकट होती है, अनुमान से ज्ञान, निश्चय नहीं होता। धुआँ देख कर वहाँ आग है, ऐसा अनुमान होता है, परन्तु जबतक वहाँ जाकर आग मिल न जाये तब तक आग का ज्ञान नहीं होता। इसलिये वहाँ जाकर के जब आग नहीं मिलती तब यह नहीं कहते हो कि अनुमान से जब हमको पता लग गया आग है, तो चाहे

हमें न दीखे, आग ज़रूर है! इसलिये चार्वाक कहते हैं कि ज्ञान का तो साधन एकमात्र प्रत्यक्ष ही है। अनुमान प्रवृत्ति का हेतु होता है परन्तु प्रवृत्त होने पर वहाँ न मिले तो अनुमान को किसी–न–किसी कारण से ग़लत मानना पड़ता है। कुछ अन्य चार्वाक जिनको सुशिक्षित चार्वाक कहते हैं, तो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को मान लेते हैं। क्योंकि अनेक स्थल ऐसे व्यवहार में आते हैं जहाँ प्रत्यक्ष से पता लगाना सम्भव ही नहीं होता। कट्टर चार्वाक तो कहते हैं कि ऐसे स्थलोंका कभी ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु जो उनका व्यवहार के लायक ज्ञान मानते हैं वे कहते हैं, कि अनुमान को भी ज्ञानोपाय मान लिया जाये। हर हालत में, चाहे केवल प्रत्यक्ष को मानें, चाहे तन्मूलक अनुमान को मानें, चार्वाक स्थूल विषयों तक ही सिमटे रह सकते हैं, अतीन्द्रिय पदार्थों का विचार कर ही नहीं सकते। कहते हैं 'ये तो सब तुम्हारी कपोल–कल्पनायें हैं'। परन्तु जो सूक्ष्म दृष्टि वाले हैं, वे इस बात को समझते हैं कि खाली प्रत्यक्ष से जीवनका समाधान होता नहीं। जितने सूक्ष्मभाव हैं उन सब का प्रत्यक्ष मिलना सम्भव नहीं। दया करो- इसका प्रत्यक्ष फल क्या मिलेगा? सत्य बोलो- इसका प्रत्यक्ष फल क्या मिलेगा? समझाने के लिये कहते हैं कि सत्य बोलने वाले की लोक में प्रतिष्ठा होती है, परन्तु वस्तुतः ऐसा कोई नियम मिलता नहीं कि सत्य बोलने वाले की प्रतिष्ठा हो ही। प्रत्यक्ष से दया, सत्य आदि सफल सिद्ध नहीं होते तो इन्हें कर्तव्य कैसे मानें? अतः इन चीज़ों का ज्ञान होनेके लिये एकमात्र हमारे पास साधन शब्द है। वेदादि शब्द कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप इत्यादि फल देते हैं अतः शब्द प्रमाण के अधीन होकर हम उसको सत्य मानते हैं। जिसमें ये संस्कार नहीं होंगे कि शास्त्र मान्य है, वह उधर प्रवृत्त भी नहीं होगा। व्यवहार के अन्दर इतना ज़रूर देखा जाता है कि जब खुद व्यक्ति कष्ट में होता है तब चाहे जैसे चार्वाक होवे, दया की भिक्षा दूसरे से माँगता है! यह जो अन्दर की भावना है इसमें ऐन्द्रिय प्रमाण न होने पर भी इसे नकारना असंभव है। चार्वाक के मनमें यह नहीं होता कि 'सामने वाला मेरे साथ अत्याचार करे'। इसका मतलब है कि कहीं–न–कहीं यह भाव छिपा हुआ है कि 'कमज़ोर पर दया होनी चाहिये'। इस भाव का कहाँ से उदय हुआ? प्रत्यक्ष व अनुमान से सम्भव नहीं है, इसलिये इसमें शब्द प्रमाण ही मानना पड़ता है।

इस तरह की यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो ज्ञेय वस्तु हैं, उन सब का शास्त्र से ज्ञान होता है। परन्तु इनसे जितने फल शास्त्र ने बतलाये हैं, सब विनाशी फल हैं। यज्ञ, दान आदि से जो फल बतलाये, सब विनाशी हैं। और उनकी नश्वरता में युक्ति भी है : सीमित साधनों से असीमित चीज़ कैसे पैदा होगी! यज्ञ आदि सब सीमित हैं इसलिये उनसे असीमित चीज़ पैदा नहीं हो सकती। इस युक्ति से अनुगृहीत श्रुति भी इनके विनाशी ही फल बतलाती है। वह शब्द प्रमाण केवल यज्ञ आदि का प्रतिपादन नहीं करता, इन सब के त्याग का भी प्रतिपादन करता है। और त्याग के साथ उस त्याग का जो आधार है, आत्मानात्मविवेक से लेकर के ब्रह्मज्ञान पर्यन्त, उस सबका प्रतिपादन करता है। चूंकि उससे संसार- बन्धन से सर्वथा मुक्ति हो जाती है, अतः वह उत्तम ज्ञान है।

भगवान् ने यहाँ ज्ञान को 'उत्तम' कहा, इसकी श्रेष्ठता को बताकर इसकी तरफ प्ररोचन करने के लिये। जबतक किसी चीज़ के गुण को समझोगे नहीं, जानोगे नहीं, तबतक उधर प्रवृत्ति होगी नहीं। प्ररोचक वचन दो तरह के होते हैं, एक तो जैसी चीज़ है वैसा बता कर प्रशंसा होती है और दूसरी होती है, जिसका जो फल नहीं है, फिर भी प्रवृत्त करने के लिये वह उसका फल कह दिया जाता है। जैसे कहा है 'अपाम सोमम् अमृता अभूम' हम सोमयज्ञ में सोमपान करके अमृत हो गये। सोमपान करके अमृत होना तो सम्भव नहीं है परन्तु ऐसा कह दिया, प्ररोचन करने के लिये, सोमयाग में प्रवृत्त होने के लिये। कहीं यथाभूत प्रशंसा होती है अर्थात् जैसी है वैसी चीज़ की बड़ाई की जाती है। और दूसरी, बढ़ा-चढ़ाकर बड़ाई की जाती है। जिस प्रकार से अगर कोई पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट आया, उसका परिचय कराने के लिये कहते हो 'ये यहाँ के एस० पी० हैं' तो उनकी प्रशंसा की, परन्तु यथार्थ में वह एस० पी० है। किन्तु कोई साधारण पुलिस का सिपाही है, उसको भी प्रशंसामें कह देते हैं 'अरे, ये तो यहाँ के दरोगा हैं', वह है नहीं दरोगा, फिर भी कह दिया जाता है। प्रशंसा या प्ररोचन के लिये दोनों तरह के वाक्य होते हैं। यहाँ जो भगवान् उत्तम और पर कह रहे हैं, वह यथाभूत प्रशंसा है। कहने का उद्देश्य प्ररोचन है।

'यत्' जिस ज्ञान को 'ज्ञात्वा' अर्थात् अपना आत्मप्रत्यक्ष बना कर; परोक्ष रूप से जान कर फल नहीं होगा, ज्ञान को प्राप्त करके, आत्मसात् करके फल अवश्य होता है। 'मुनयः' संन्यासी। कैसे संन्यासी? जो श्रवण कर चुके हैं और मनन में लगे हुऐ हैं, मनन करना जिनका शील हो गया है, स्वभाव हो गया है। श्रवण करके तो पता लगता है कि वह परमात्मतत्त्व कैसा है। परन्तु 'वह परमतत्त्व मैं हूँ', यही उसकी प्राप्ति का प्रकार है। परमतत्त्व ही एकमात्र ऐसा है जिसको वेद साक्षात् अपरोक्ष कहते हैं। बाकी सब चीज़ें जानने के लिये तुमको कोई माध्यम चाहिये। परन्तु जिस चीज़ को जानने के लिये कोई माध्यम नहीं चाहिये वह ज्ञान है, प्रत्यगात्मा का ज्ञान। 'मैं हूँ'- तुम इस बात को किसी भी दूसरे साधन से नहीं जानते, तुम खुद ही जानते हो 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ' यह ज्ञान तो हरएक मनुष्य को है पर क्या ज्ञान नहीं है? 'मैं क्या हूँ'- यह पता नहीं है। सामान्यज्ञान होने पर भी मैं विशेषेण ज्ञात नहीं हूँ। जिस प्रकार से 'कुछ पड़ा है', इस प्रकार 'कुछ' रूप से तो हमने रस्सी जान ली, लेकिन रस्सीरूप से रस्सी नहीं जानी इसलिये उसमें सर्प, जलधारा आदि की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'मैं हूँ' यह तो जान लिया लेकिन क्या हूँ, यह नहीं जाना। इसलिये मैं के बारेमें भ्रम होता है कि शरीर हूँ, प्राण हूँ, मन हूँ इत्यादि। अतएव मैं को सही जानने केलिये शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है। जिन संन्यासियों ने श्रवण करके 'वह ऐसा है'- यह जान लिया, परन्तु 'ऐसा हूँ' यों अपरोक्ष करने के लिये मनन करने में लगे रहते हैं, उन्हें मुनि कहा। जिस प्रकार रेखा गणित में कहते हैं- प्रमाणित करो कि एक त्रिकोण के तीनों कोणों का जोड़ एक सौ अस्सी अंश होता है। इसका तुम जवाब लिखो कि 'तीनों का जोड़ एक सौ अस्सी अंश होता है' तो तुम्हें अनुत्तीर्ण माना जायेगा। बात तो ठीक

लिखी है पर कैसे ठीक है यह तुमने तो समझा नहीं। इसी प्रकार याद कर लिया 'ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या'। सत्य कौन है? ब्रह्म है। गलत तो नहीं कह रहे, बिलकुल ठीक कह रहे हो। श्रवण तो किया हुआ है, जवाब तो याद है, लेकिन केवल इस जवाब को याद रखोगे तो जैसे परीक्षा में तमको शून्य अंक मिलता है वैसे यहाँ भी मोक्ष तुम्हारे लिये शून्य की ही तरह रहेगा! युक्तियों से मनन करके जब तुम ठीक प्रकार से बुद्धि में संस्कारों को बैठा लेते हो और अनुभव करते हो कि ऐसा ही है, तब उत्तीर्ण हो जाते हो। मनन करते-करते जब चित्त सर्वथा स्थिर हो जाता है तब अनुभव का स्फुरण होता है। ऐसे मनन का शील जिनका है, उन्हीं को मुनि कहा है । वे ही 'ज्ञात्वा' इस ज्ञान को पाते हैं और पाकर सभी मननशील संन्यासी 'परां सिद्धिम्' अन्तिम सिद्धि, जिसके बाद और कोई सिद्धि नहीं है अर्थात् मोक्ष, उसे पा लेते हैं।

'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान जब तुम्हारी बुद्धि में दृढ हो जाता है, उसमें कहीं संशय विपर्यय नहीं रह जाता है, तब उसी का नाम मोक्ष है। जगत् है- यह भी किसका निश्चय है? बुद्धि का। जगत् नहीं है- यह भी किसका निश्चय होगा? बुद्धि का। मैं बद्ध हूँ यह भी बुद्धि का ही निश्चय है कि 'जो चाहता हूँ कर नहीं सकता, जो चाहता हूँ वह जान नहीं सकता, इसलिये बद्ध हूँ।' 'जो चाहता हूँ सो कर सकता हूँ, जो चाहता हूँ सो जान सकता हूँ' यह निश्चय यदि हो जाता है तो हो गया बन्धन खत्म। ऐसी शंका नहीं करना कि जो चाहता हूँ सो कर सकता हूँ तो क्या आकाश को काट सकता हूँ? मनन करने वाला इस बात को जानता है कि आकाश कट नहीं सकता। इसलिये उसे आकाश काटने की इच्छा का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार जब निश्चय हो गया कि जगत् प्रतीतिमात्र है तब उसके अन्दर कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता! जबतक उसके अन्दर सत्यता का कुछ-न-कुछ संस्कार बाकी है तभी तक करना और जानना बचता है। जब पता लग जाता है कि वस्तुतः ये सब रज्जु में सर्प की तरह ही हैं तब नैष्कर्म्य ही निश्चित है। रज्जु में सर्प को जिसने समझ लिया वह उस सर्प को भगाने की कोशिश करता हो, ऐसा कहीं देखने में नहीं आयेगा। इसलिये मुनिजन मोक्षरूप 'परां सिद्धिम्', परम सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। 'इतः गताः' 'इतः' अर्थात् यह जो प्रारब्ध का देह-बन्धन है, इसके खत्म होते ही 'गताः' मुक्त हो जाते हैं। इससे आगे कुछ करना या जानना शेष नहीं है। इस शरीर से छूट करके फिर उनको शरीर के बन्धन की प्राप्ति हो, यह सम्भव ही नहीं है।।१।।

तत्त्वज्ञान अवश्य ही मोक्षफलक है और मोक्ष परम सिद्धि ही है इसे स्पष्ट करते हैं-

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इस ज्ञानका सहारा लेकर मेरा स्वरूप बने (वे मुनि) सृष्टिकाल में भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय में भी व्यथित नहीं होते।

'इदं ज्ञानम्', यह जो उत्तम ज्ञान हम बतलाने जा रहे हैं और जिसे पहले भी बतलाया है, उसको 'उपाश्रित्य' अर्थात् अमानित्वादि लक्षणों वाली जो ज्ञानसाधना हम बता आये हैं उसका आश्रयण अर्थात् अनुष्ठान करके ही मोक्ष मिलता है। ज्ञानसाधनों के अभ्यासपूर्वक श्रवणादि से ज्ञान को स्वयं में स्थिर कर लेना ही उस ज्ञान का सहारा लेना है। इसके द्वारा ही ज्ञान की दृढता सम्भव है, अन्यथा नहीं। अमानित्वादि जो गुण पहले बतला आये हैं और यहाँ बाइसवें श्लोक से प्रारंभ कर जो आगे भी बतलायेंगे, उन सब का जिन्होंने उपाश्रयण कर लिया, पूरी तरह से अपने में उतार लिया, वे 'मम' अर्थात् मैं जो परमेश्वर हूँ उसके 'साधर्म्यमागताः' समानधर्मा हो जाते हैं। साधर्म्य का मतलब समान-धर्मता। किन्तु क्योंकि शास्त्रों में परमेश्वर निरवयव और निर्गुण बतलाया है, इसलिये उसके अन्दर कोई धर्म है ही नहीं जो कोई उसके जैसा हो जाये! धर्म-धर्मिभाव परमेश्वर में नहीं है। अतः 'मम साधर्म्यम्' का मतलब है, मेरा स्वरूप हो जाता है, मुझ से एक हो जाता है। गीता शास्त्र के अन्दर 'मम' शब्द का, 'अहम्' शब्द का जगह-जगह प्रयोग है, उसका अर्थ परमेश्वर है, न कि कोई मूर्तिविशेष। अतः किसी मूर्ति से समानता हो जाती है ऐसा यहाँ अर्थ संगत नहीं है। इसलिये साधर्म्य का अर्थ पूर्णता की प्राप्ति है। पूर्ण परमात्मा में पूर्णत्व किसी धर्म की तरह नहीं रहता। पूर्णता परमात्मा *में* नहीं रहती, परमात्मा पूर्ण ही है। इसलिये तात्पर्य है कि धर्म-धर्मिभाव से रहित जो पूर्ण-रूपता है उसको प्राप्त कर लेते हैं। 'मम साधर्म्यमागताः', यहाँ गम् धातुका अर्थ ज्ञान ही करना चाहिये अर्थात् मेरी सधर्मता को जान लेते हैं। क्षेत्रज्ञ तो हमेशा ईश्वर ही है। क्षेत्र के कारण मिथ्या अध्यास से वह ईश्वर से अपने को अलग समझता है पर अलग हो नहीं जाता। क्षेत्रज्ञ और ईश्वर के अन्दर कोई भेद गीताशास्त्र में स्वीकार नहीं किया है। भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही है। इसलिये 'मम साधर्म्यमागताः' अर्थात् ईश्वर-भाव, पूर्ण-भाव प्रकट हो जाता है, ज्ञात हो जाता है।

जब इस पूर्ण भाव को प्राप्त कर जाते हैं तब 'सर्गेऽपि न उपजायन्ते' सृष्टि काल के अन्दर भी उत्पन्न नहीं होते। जय, विजय आदि के दृष्टांत से यह बात पुराणों में स्पष्ट की है कि चतुर्भुज आदि रूप प्राप्त करने पर भी फिर उत्पत्ति होती है। इसलिये उस प्रकार के साधर्म्य का स्वयं भगवान् ने निषेध कर दिया 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते' कहकर। जैसे ईश्वर की उत्पत्ति सम्भव नहीं वैसे ईश्वर के साधर्म्य को प्राप्त मुनियों की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं। सृष्टि-काल में भी ईश्वर उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार जो मुनि लोग हैं वे भी सृष्टि-काल में उत्पन्न नहीं होते। विचार करो, उत्पत्ति का तात्पर्य क्या है? क्षेत्र की प्रतीति होना उत्पत्ति है। उत्पन्न क्या होगा? शास्त्रों के अन्दर पृथ्वी से लेकर अहंकार पर्यन्त तक की उत्पत्ति बतलाई, कहीं पर भी जीव की उत्पत्ति नहीं बताई। क्षेत्र का प्रकट होना ही, उसके साथ अध्यास हो जाना ही उत्पत्ति है। जिसने पूर्णभाव को प्राप्त कर लिया, जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई, न तो क्षेत्र ही उसके सामने आ सकता है और न उसके साथ अविद्या के कारण होने वाला अध्यास ही हो सकता है। इसलिये उसके बाद वह अभी, इस कल्पमें उत्पन्न नहीं

होता इतना ही नहीं है, कभी किसी भी कल्पमें पैदा नहीं होगा। ऐसा नहीं कि फिर सृष्टि होगी तब तो पैदा हो जायेगा! पैदा हो ही नहीं सकता क्योंकि अनादि होने से अविद्या एक बार निवृत्त होने के बाद फिर पैदा हो नहीं सकती। इससे यह अर्थ निकालना उचित नहीं कि भगवान् कह रहे हैं कि सर्ग तो फिर भी होगा, केवल ये मुनि पैदा नहीं होंगे! इतनी बात इस श्लोक में भगवान् ने कही नहीं है। अतः 'सर्गेऽपि' का यही अर्थ है कि सर्ग होवे तो भी इन मुक्तों के जन्मकी सम्भावना नहीं। वास्तवमें तो यदि सर्ग कभी हुआ होता तो उसकी पुनः उत्पत्ति की बात कही जाती! सर्ग तो कभी उत्पन्न हुआ नहीं, अविद्यामात्र से प्रतीत होता है। इस प्रतीति का न होना ही 'न उपजायन्ते' के द्वारा मना कर रहे हैं।

'प्रलये न व्यथन्ति च'। प्रलय अर्थात् जिस समय ब्रह्माजी भी समाप्त होते हैं उसमें भी मुक्त को कोई व्यथा नहीं है। यहाँ भगवान् ने यह नहीं कहा कि प्रलय में लीन नहीं होते; यही कहा कि व्यथा को प्राप्त नहीं होते। सारी सृष्टि नष्ट होती है तो जो इनको वास्तविक समझते हैं, उनको व्यथा होती है। ऐसे समझ लो : तुम्हारे पास एक लाख रुपये के नकली नोटों की गड्डी है। यदि रात में चोरी हो जाय, तो तुमको कोई व्यथा होगी! क्योंकि नकली रुपयों को लोग रखते हैं ताश के दाव के लिये। 'ब्रिज' खेलते हैं, उसमें असली पैसों का लेना-देना होता नहीं, झूठे नोट लेते-देते हैं। ऐसे नोटों के चले जाने पर कोई तुमको व्यथा नहीं होती। इसी प्रकार से आकाश से लेकर अहंकार पर्यन्त जितना संसार है सारा केवल व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये है, इसमें वास्तविकता कुछ भी है नहीं। अतः इसके लीन होने से व्यथा का प्रश्न ही नहीं है! 'न व्यथन्ति च' के द्वारा भगवान् ने जगत्- मिथ्यात्व को बिलकुल स्पष्ट करके कह दिया। सब चीज़ों के लीन होने पर भी मुक्त को कोई व्यथा नहीं है क्योंकि वह जानता है कि ये मिथ्या हैं। वस्तुतस्तु तत्त्वज्ञान से ही सारे संसार का प्रलय हो जाता है, भगवान् ने स्वयं ज्ञानको अग्नि कहा है (४.३७)। जिसको दृश्यमें किंचित् भी सत्यता-बुद्धि होगी वह तत्त्वज्ञान को ही नहीं सह पायेगा क्योंकि उससे उसे शरीर-मन समेत सारा संसार हाथ से जाता लगेगा। जब दृढ विवेक के द्वारा तुमने अपने प्रत्यगात्मा को दृश्यों से भिन्न समझ लिया है, अपरोक्ष कर लिया है, तब इनके नष्ट होने से तुम को व्यथा की सम्भावना ही नहीं है। जब तक इनसे तुमने अपने स्वरूप को सर्वथा अलग करके जान नहीं लिया है, तब तक इनके नष्ट होने से व्यथा होती है। ऐसा नहीं कि सर्ग और प्रलय कुछ हैं जो चलते रहें! अविद्या के अध्यास से ही सर्ग है और अविद्या के अध्यास की निवृत्ति होते ही इसकी सर्वथा निवृत्ति होती है। चूंकि सर्ग के साथ मुनिका आत्म-सम्बन्ध है नहीं इसलिये उसे सर्गका बाध होने पर व्यथा की प्राप्ति नहीं है।

जिसको संसार में अध्यास मौजूद है वह परमार्थ की बात सुनकर बिलकुल घबरा जायेगा। उसको लगता है 'मैंने इतनी कठिनाई से अश्वमेध यज्ञ किया, लाखों रुपये खर्च किये, और यह ज्ञानाग्नि उसको जला देगी! नहीं चाहिये ऐसा ज्ञान, बेकार का है'। इसलिये एक जगह विवेकानन्द जी ने कहा है कि पुण्य करने वाले, पाप करने वालों से ज़्यादा संसार

से चिपके रहते हैं। क्योंकि पाप करने वाले तो सोचते हैं कि ज्ञान से हमारा पाप कट जायेगा तब दुःख नहीं मिलेगा और पुण्य करने वाले सोचते हैं कि इतने जो सुखों के साधन किये वे सब नष्ट हो जायेंगे! इसलिये पुण्यात्मा ज्ञानाग्नि से ज़्यादा बचना चाहते हैं। भगवान् की लीला बड़ी विचित्र है! भगवान् कहते हैं कि पाप कर्म करने वाले में तो ज्ञान के लिये इच्छा ही पैदा नहीं होती, जिज्ञासा ही पैदा नहीं होती। जिसने पुण्य किया वह ज्ञान से उसको जलाने में व्यथा का अनुभव करेगा और जिसने पुण्य नहीं किया है उसको जिज्ञासा ही नहीं होगी! इसलिये पहले भगवान् ने कहा था हज़ारों आदमियों में कोई एक इधर लगता है अर्थात् पुण्य कर्म करके जिज्ञासा को प्राप्त करता है। आत्मा-अनात्मा के विवेक से, पुण्यों को अनित्यफलक जानकर वह अत्यन्त सुख फल देने वाले कर्मों को भी जलाने को तैयार हो जाता है। इसीलिये बार-बार वैराग्य पर इतना ज़ोर देते हैं। तभी व्यथा से बचा जा सकता है। व्यथा का अर्थ करते हुये भाष्यकार ने कह दिया 'न च्यवन्ति' अर्थात् हमारे सारे पुण्य कर्म जल जायेंगे इससे भी वे च्युत नहीं होते अपने ब्रह्मस्वरूप से अर्थात् क्षणिक सुखलवों के प्रति उनका वैराग्य इतना तीक्ष्ण है कि उनके न होने को वे कोई महत्त्व नहीं देते। तभी भगवत्साधर्म्य की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।।२।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्यवस्था में सांख्यवाद से विलक्षणता समझाते हुए भगवान् कहते हैं-

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

महद् ब्रह्म कहलाने वाली जो मेरी निजी शक्ति माया वही योनिस्थानीय है जिसमें मैं गर्भ धारण कराता हूँ जिससे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

'महद् ब्रह्म', जो योनि है, प्रकृति है, माया है, यह महत् है क्योंकि सब में व्यापक है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसके साथ इसका सम्बन्ध न होवे। सब में व्यापक होने से महत् है। तीन प्रकार के नाप नैयायिक मानते हैं- अणु, मध्यम और महत्। जो देश काल आदि की तरह सर्वव्यापक होते हैं उनको महत् परिमाणी कहते हैं। इसी प्रकार से परमेश्वर की माया संसार के सब नामरूपों में हमेशा रहती है इसलिये उसको महत् कह दिया। बाकी सब कार्य हैं, वह कारण है। कार्यों में कारण की व्यापकता सर्वत्र प्रसिद्ध है। सोने के गहनों में सोना व्यापक होगा ही। मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी व्यापक होगी ही, इसी प्रकार से सारे जगत् की योनि, सारे जगत् का कारण होने से सारे विकारों के अन्दर यह मौजूद है। इतना ही नहीं, सबका पोषण, भरण करने वाली होने से ब्रह्म है। यहाँ माया को ब्रह्मशब्द से कहा है क्योंकि उपनिषदों में अनेक जगह माया रूपी जो प्रकृति है उसको ब्रह्म शब्द से कहा है। ब्रह्म का अर्थ होता है, सबका भरण करने वाला। माया ही सबका भरण और पोषण करती रहती है इसलिये उसको ब्रह्म कह दिया। यह जो कारण है, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, यह 'मम' अर्थात् ईश्वर की ही शक्ति है, हमेशा ईश्वर के ही अधीन रहती है। प्रकृति ईश्वर की है, स्वतन्त्र नहीं, इसलिये स्वातंत्र्य की निवृत्ति करने

के लिये स्पष्ट कह दिया ''मम योनिर्महद्ब्रह्म''।

इस प्रकृति में त्रिगुणात्मिका माया में गर्भ धारण कराता हूँ। जिस प्रकार से अनाज खाकर अनाज के द्वारा प्रविष्ट जो जीव वह जब चरम धातु के रूप में परिणत हो जाता है, तब उसको मातृयोनि में स्थापित किया जाता है। मातृयोनि में स्थापित होने के बाद, माता ही उस जीव का भरण–पोषण करती है। पहले वह पिता के शरीर में प्रविष्ट था, परन्तु जब माता की योनि में जाता है उसके बाद माता ही उसका भरण–पोषण करती है। उसी को गर्भ कहते हैं। वही पहले कलिल इत्यादि अवस्थाओं में होते हुये, अन्त में पूरे रूप को धारण करता है। इसी प्रकार महाप्रलय के अन्दर सारे जीव परमेश्वर में लीन हो जाते हैं। परमेश्वर के शरीर में लीन हुये जो जीव, उनके जब कर्मभोग का काल आता है, तब सृष्टि होती है। परमशिव के अन्दर लीन जो यह सारा संसार, जब इसके कर्मों का फल देने का समय आ जाता है, तब जीवों का माया और माया के कार्यों में प्रक्षेप किया जाता है। उसी का प्रथमरूप होता है हिरण्यगर्भ। हिरण्य सारे संसार को कहते हैं। हिरण्य का निरुक्त किया गया है कि जो हितकारी भी होवे और रमणीय भी होवे। सारा संसार सूक्ष्म रूप में हिरण्यगर्भ की उपाधि है। महाप्रलय में तो परमेश्वर कारणोपाधिक है, सब कुछ इसमें लीन हुआ रहता है। उसके बाद 'बहु स्याम् प्रजायेय', सह संकल्प होकर गर्भ का आधान होता है। उस हिरण्यगर्भ से ही फिर सारे संसार का निर्माण होता है। जैसे वहाँ गर्भ में कलिलादि अवस्थायें होती हैं वैसे यहाँ हिरण्यगर्भ के अन्दर केवल सूक्ष्म प्रपंच है, स्थूल प्रपंच नहीं। फिर जब वह विराट् रूप से प्रकट होता है, तब स्थूल हो जाता है। हिरण्यगर्भ के जन्म का बीज, सारे भूतों के जन्म का कारण परमेश्वर का 'बहु स्यां प्रजायेय' (छां.६.२.३) संकल्प ही है। सब कुछ उसी से प्रकट हुआ है।

'दधामि', अर्थात् उसके अन्दर स्थिर करता हूँ, धारण कराता हूँ। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ इन दोनों प्रकृतियों की शक्ति वाला जो परमेश्वर वह अपने आप को अनेक क्षेत्रों के अन्दर प्रकट कर देता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ–ये दोनों उसकी ही शक्तियाँ हैं। धारण कराने वाला ईश्वर है और अविद्या काम कर्म उपाधि के अनुसार क्षेत्रज्ञ है। हर क्षेत्रज्ञ के अन्दर कामनायें अलग हैं, कर्म अलग हैं। याद रखना, इस प्रकरण के अन्दर क्षेत्रज्ञ तो एक ईश्वर ही है। अनेक उपाधियों के अन्दर, प्रतित होने के कारण उसका क्षेत्रज्ञ रूप प्रकट हो जाता है। अर्थात् क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध अध्यासरूप ही है।

'ततः' परमेश्वर के द्वारा महत् योनि के अन्दर गर्भ धारण कराने से 'सर्वभूतानां' हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के द्वार से सारे प्राणियों की 'सम्भवः' उत्पत्ति 'भवति' होती है। सारे प्राणी उससे उत्पन्न होते हैं। भगवान् जो गर्भाधान करते हैं, उसी से प्रकृति इन सारी चीज़ों को प्रकट करने वाली बनती है।

इस प्रकार जो सांख्य मानते हैं कि पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व हैं, इसका भी निषेध हो गया और ये दोनों मेरे ही, परमेश्वर के ही अधीन हैं यह भी स्पष्ट हो गया।।३।।

सब भूतों का परमेश्वर से ही जन्म संगत करते हैं–

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

कौन्तेय! देव-दानव-मानव आदि सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उनका (माता-स्थानीय) कारण महद् ब्रह्म (माया) है, मैं (उसमें) बीज डालने वाला पिता हूँ।

'सर्वयोनिषु'– देवयोनि, पितृयोनि, मनुष्ययोनि, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मच्छर आदि सब योनियों में, 'याः मूर्तयः सम्भवन्ति', जो मूर्तियाँ पैदा होती हैं उनका पिता-स्थानीय परमेश्वर ही है। मूर्तियाँ अर्थात् देह-संस्थान, सबके अलग-अलग शरीर। मूर्ति शरीर को इसलिये कहते हैं, कि अनेक अवयव इकट्ठे होकर ही शरीर बनता है। जहाँ लगता है कि कोई अवयव नहीं है- जिसको एक कोषा वाले प्राणी कहते हैं जैसे अमीबा इत्यादि, उसके अन्दर भी जब ध्यान से देखते हैं तो एक मध्यभाग, केन्द्र होता है जिसको न्यूक्लिअस कहते हैं, बाकी बाहरी भाग होता है। जैसे ही भोजन की चीज़ पास आती है, वह अपने शरीर के ही दो हिस्सों को अलग-अलग लम्बा करके खाद्य पदार्थ को अपने अन्दर मिला लेता है। इसलिये वहाँ भी जब देखते हैं ध्यान देकर तो भिन्न-भिन्न अंग मिलते हैं। अतः अनेक अवयव मिले हुऐ हैं इसलिये शरीरों को यहाँ मूर्ति कहा है। इसीलिये शिवलिंग को मूर्ति नहीं माना गया है क्योंकि लिंग के अन्दर कोई अवयव-संस्थान स्फुट नहीं है। जब चतुर्भुजी, पंचमुखी इत्यादि मूर्तियाँ बनती हैं, तब तो उन्हें मूर्ति कहेंगे परन्तु जबतक इस प्रकार अंग न हों तब तक मूर्ति नहीं कह सकते। जितनी योनियाँ हैं- देवयोनि, पितृयोनि आदि, सबके अंग-संस्थानों में भेद होता है। उसी से ये भिन्न-भिन्न हैं। ये जो अनेक आकार वाले, अनेक अवयवों वाले देह हैं, ये 'सम्भवन्ति', सारे उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार से जो मूर्तियाँ होती हैं, 'ब्रह्म महद्योनिः', जिस सर्वव्यापक सर्वभरणकर्त्री प्रकृति को मैंने व्यापक योनिशब्द से कहा है, वही 'तासां' इन सब मूर्तियों का कारण है। और 'अहं बीजप्रदः पिता', मैं उस योनि में गर्भ धारण कराने वाला इस सारी सृष्टि का पिता हूँ। शुक्र के द्वारा गर्भाधान कराने वाला पिता होता है। इसकी जगह 'बहु स्याम्' यह ईश्वर का संकल्प है। उस संकल्प से ही ये अनेक चीज़ें उत्पन्न हो जाती हैं।।४।।

ईश्वराधीन हुई प्रकृति सबकी उत्पादक है यह बताया। वह किस तरह बन्धन करती है यह अब समझाते हैं–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

हे समर्थ भुजाओं वाले अर्जुन! भगवान्‌की प्रकृतिशब्दित माया से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम गुण उस शरीरधारी को शरीर में मानों बाँध लेते हैं जो स्वरूप से अव्यय है।

भगवान् कह आये हैं (१३.२१) कि अच्छी बुरी मध्यम योनियों में जो जन्म होता है वह गुणसंग से होता है। परन्तु वहाँ यह नहीं बतलाया था कि किन-किन गुणों से कैसा-कैसा जन्म होता है इसलिये यहाँ गुणों का वर्णन आवश्यक हो गया। प्रकृति के जो तीन गुण हैं उनका पहले तो नाम बतला देते हैं, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, 'इति गुणाः'- ये तीन ही गुण हैं। सत्त्वादि केलिये गुण शास्त्रप्रसिद्ध शब्द है। प्रायः तो पराश्रित को गुण कहते हैं, द्रव्य पर आश्रित रूपादि को गुण इसीलिये कहते हैं। किन्तु सत्त्वादि तो स्वयं आश्रय हैं, आश्रित नहीं इसलिये इस अर्थ में गुण नहीं हैं। अथवा रस्सी को भी गुण कहते हैं। रस्सी बाँधने का काम करती है। इसी प्रकार ये गुण हमें बाँधने का काम करते हैं। इनकी यह गुणरूपता प्रकट करते हुए कहा 'अव्ययं देहिनं देहे निबध्नन्ति'। इन गुणों के कारण ही हम बँधे हुऐ हैं। देही स्वरूप से कैसा है? अव्यय। किसी प्रकार के विकार से, परिणाम से इसका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। देही अव्यय है, इसमें किसी भी विकार की सम्भावना नहीं है। परन्तु ये गुण क्या करते हैं? 'देहे निबध्नन्ति'। शरीर के साथ बाँध देते हैं। इतना याद रखना कि इन गुणों वाली कोई अन्य चीज़ होवे- ऐसा नहीं है। कोई चीज़ होती होगी जिसमें सत्त्वगुण रहेगा ऐसा नहीं है। चाहे तुम द्रव्य कहो, चाहे गुण कहो, सत्त्वादि उन पदार्थों के नाम हैं जो बाँधने वाले हैं। इनको गुण इसलिये भी कहते हैं कि ये परतन्त्र हैं। हमेशा किसके परतन्त्र हैं? क्षेत्रज्ञ ईश्वर के। जैसे-जैसे जो-जो कर्म फल देने वाला है, तदनुरूप गुणों की प्रवृत्ति होती है और उन गुणों के अन्दर हम बँधते चले जाते हैं। है ऐसा क्षेत्रज्ञ की अविद्या के कारण ही, परन्तु जब कोई क्षेत्रज्ञ होगा तब उसको बाँधने के लिये ये गुण होंगे।

'प्रकृतिसम्भवाः'। गुण परमेश्वर की माया से ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् ऐसा नहीं समझ लेना कि सत्त्वगुण, रजोगुण तमोगुण कहीं पड़े हुऐ हैं और हमें बाँधते हैं! जब हमारे जिस कर्म फल को परमेश्वर देना चाहते हैं, तब उस भोग के लिये वह गुण हमारे अन्दर प्रकट कर देते हैं। यही ईश्वर की सारे संसार को बाँधने की प्रक्रिया है। कर्म के अनुरूप तुम्हें उन्होंने गुण दे दिया, आगे तुम अविद्या से उससे बँधते हो।

हे महाबाहो! जिसके हाथ की अंगुलियाँ सीधा खड़े होने पर घुटने को लग जायें उसी को महाबाहु कहते हैं, आजानुबाहु भी कहते हैं। जो महाबाहु होता है वह किसी को भी परास्त कर सकता है, बड़ा अच्छा योद्धा होता है; परन्तु उस महाबाहु को यदि बाँध दिया जाता है तो वह स्वयं अपनी हथकड़ी,बेड़ी भी नहीं खोल सकता! इसी प्रकार से जीव है तो महाबाहु, ब्रह्माकार वृत्ति से सब चीज़ों को नष्ट करने में समर्थ, परन्तु गुणों से संग के कारण वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। अपने लम्बे हाथ होने पर भी जैसे खुद अपने को छुड़ा नहीं सकता, इसी प्रकार से जीव भी, सर्वसमर्थ होने पर भी इस सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के बन्धन से अपने को छुड़ा नहीं पाता। जैसे दूसरा व्यक्ति ही उसको छुड़ा सकता है वैसे ईश्वर वेद के द्वारा और गुरुरूपमें उसके यथार्थ तात्पर्य को बतलाने वाला होकर हमें छुड़ाने वाला हो जाता है। इसीलिये बार-बार कहते हैं कि बिना ईश्वर और गुरु की कृपा

के जीव इससे छूट नहीं सकता क्योंकि वह खुद तो हमेशा ही तीनों में से किसी–न–किसी गुण में बन्धा रहेगा।

भगवान् ने तो कह दिया है 'अव्ययम् देहिनं निबध्नन्ति', ये गुण उसको बाँधते हैं। पर बाँधना कैसे सम्भव है? हाथ पैर होंगे तभी न किसी चीज़ को बाँधोगे। इसीलिये सर्वज्ञ भाष्यकार कहते हैं 'निबध्नन्ति इव' मानों बँध गया है। सचमुच में कोई बाँध नहीं रहा है। ठीक जिस प्रकार से लोक में देखा जाता है, हाथ पैर सब खुले हुऐ हैं– जो चाहे सो कर सकता है, परन्तु जैसे ही कहीं आने–जाने की बात होवे, तो कहता है 'मेरी भी बद्रीनारायण जाने की बहुत इच्छा है परन्तु क्या करूँ अभी बच्चे छोटे हैं।' बच्चों ने कोई उसको बाँध थोड़े ही रखा है! कहते हैं 'महराज! हम लोग तो बँधे हुऐ हैं। फँसे हुऐ हैं।' चारों तरफ देखो, कोई कीचड़ है जिसमें फँसे हुऐ हैं? कुछ नहीं। परन्तु बँधे हुऐ की तरह हैं। नहीं जा सकते– यह ठीक बात है। पत्नी और पुत्रों के कारण बँधे हुऐ की तरह हैं, सचमुच में तो बँधे हुऐ हैं नहीं। इसी प्रकार से क्षेत्रज्ञ सचमुच में नहीं बँधा हुआ है, परन्तु गुणसंग के कारण, परमात्मज्ञान प्राप्त करने में अपने को असहाय अनुभव करता है। बार–बार यही कहता है 'महाराज! चाहते तो बहुत हैं, लेकिन फँसे हुऐ हैं, बँधे हुऐ हैं।' इसलिये भगवान् ने यद्यपि 'निबध्नन्ति' कहा है तथापि इसका मतलब समझ लेना कि बँधे हुए की तरह हैं अतः गुण भी बाँधने वाले की तरह हैं! अर्थात् इनमें जो तुम्हारा अपना संग है– पत्नी, पुत्र इत्यादि में जो तुम्हारा अपना संग है– वही बाँध रहा है, कोई दूसरा नहीं बाँध रहा। गुण नहीं बाँधते हैं, गुण के अन्दर जो हमारा संग है, वह बाँधता है।।५।।

सामान्यरूप से कह दिया कि तीनों बाँधते हैं किसी–न–किसी देह रूपी उपाधि में। इसलिये क्षेत्रज्ञ हमेशा अपने को किसी–न–किसी देह में ही अनुभव करता है। अब किस–किस प्रकार से कौन–कौन–सा गुण बाँधता है इसको बतलाते हैं–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

हे अव्यसनी अर्जुन! इन तीन गुणों में से सत्त्वगुण क्योंकि स्वच्छ है इसलिये चैतन्य की अभिव्यक्ति करने वाला और निरुपद्रव है (सुख की अभिव्यक्ति करने वाला है)। यह सुखसे और ज्ञान से संग के द्वारा मानों बाँधता है।

'तत्र' अर्थात् इन तीन गुणों में 'सत्त्वं' सत्त्वगुण कैसा है? 'प्रकाशकम्' प्रकाशक है। ठीक जिस प्रकार से काँच यदि धूप में रख दो तो उस काँच के कारण आँखें चौंधिया जाती हैं। वहाँ प्रकाश तो चारों तरफ है, परन्तु वह प्रकाश तुमको चौंधियाता नहीं है। वहीं काँच के अन्दर प्रतिबिम्बित होकर चौंधिया देता है। इसी प्रकार सर्वत्र व्यापक जो चैतन्य है, वह तो प्रकाश की जगह ज्ञानरूप है, सब जगह एक जैसा फैला हुआ है और काँच की जगह सत्वगुण जहाँ होगा, वहाँ वह ज्ञान सब चीज़ों को चमका देता है। इसलिये सत्त्वगुण को

प्रकाशक कहा। ऐसा नहीं समझ लेना कि सत्त्वगुण खुद ही प्रकाशक है! प्रकाश को भली प्रकार से परावर्तित करने के कारण, चौंधिया देने वाला होने से, जैसे कह दिया जाता है कि काँच के कारण आँखें चौंधिया गईं जबकि काँच के कारण तो चौंधियाती नहीं हैं, इसी प्रकार सत्त्वगुण चेतन प्रकाश को ऐसा प्रत्यावर्तित कर देता है कि वस्तुओं का स्पष्ट प्रकाश हो जाता हैं। 'अनामयम्'। सत्त्वगुण किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करता, किसी प्रकार का दुःख नहीं देता। क्यों? तो निर्मलत्वात् निर्मल होने से वह प्रकाशक भी है और अनामय भी है।

लेकिन 'बध्नाति'। कैसै? 'सुखसंगेन' जब सत्त्वगुण होता है तब सुख होता है। सुख होता है तो 'मैं सुखी' यह वृत्ति अहंकार की होती है अतः विषयरूप है पर क्षेत्रज्ञ जीव 'मैं सुखी' ऐसा मान कर बँध जाता है। सुखी तो हुई अहंकारात्मिका वृत्ति, परन्तु जब अहंकारात्मिका वृत्ति सुखी हुई, तब हम अपने को सुखी मान लेते हैं। यही अविद्या है जो आत्मा में संश्लेष का, संबंधका आपादन कर देती है। चूंकि सुख के प्रति हमारा आकर्षण होता है इसलिये वह सचमुच में *मुझे* सुखी नहीं बनाता फिर भी सुखाकार वृत्ति को लेकर मुझे उसमें संग हो जाता है कि 'अच्छा हुआ मैं सुखी हुआ। बार-बार, मैं सुखी होता रहूँ'। सुखी कौन होगा? अन्तःकरण, अहंकार। परन्तु उसको अपना रूप समझ लिया इसलिये बार-बार 'मैं सुखी मैं सुखी' ऐसी वृत्ति बनाना चाहता है। तेरहवें अध्याय में, 'इच्छा द्वेषं सुखं दुःखम्' के बारे में कह आये हैं कि ये सब क्षेत्र के धर्म हैं। 'मैं सुखी' जो बोध हो रहा है वह अहंकारात्मिका वृत्ति का, क्षेत्र का धर्म है। यही सबसे कठिन हिस्सा है, विचार करके समझना पड़ता है। प्रायः विषय का अनुभव 'यह' के रूपमें होता है, अपने से अलग लगते हुए होता है। यह रसगुल्ला है, यह दाल मोठ है- इस प्रकार विषय अपने से अलग लगता है। इसलिये वहाँ जब कहते हैं कि विषय और विषयी अलग होते हैं, तो आदमी को समझ में आता है। समझ में आता है कि जिसको जानते हैं उससे जानने वाला अलग होता है। उस विवेक में एक कमी हमेशा रहती है : इदं-बोध्य को विषय माना और अहम्बोध्य को द्रष्टा माना, अपना स्वरूप माना। किन्तु सुख का अनुभव कभी 'यह सुख है' इस प्रकार नहीं होता, 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार ही होता है। मैं के साथ ही उसका बोध होता है। इसलिये मैं से अपने आप को अलग करना बहुत कठिन हो जाता है। मैं का प्रकाश जिसके प्रकाश से है वह ईश्वर मेरा वास्तविक रूप है। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट करके सुख-दुःख आदि को क्षेत्र का धर्म पहले ही बता दिया है। इस अविद्या के द्वारा ही, विषय और विषयी का अविवेक होकर जो मेरा स्वरूप नहीं है उस सुख के साथ आसक्ति हो जाती है। अतः वैसे ही सुख को प्राप्त करने के लिये फिर प्रयत्न करता है। प्राप्त करेगा अहम्, परन्तु मैं फिर उसी तरफ अपने को जाता हुआ देखता हूँ। यहाँ भी समझ लेना कि 'इव' है ही, मानो बाँधता है, वास्तवमें तो बाँध नहीं सकता। अविद्या के कारण ही बंधन करता है।

'बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ', यहाँ ज्ञान भी वृत्तिज्ञान समझना। जैसे सुख से सुखाकार वृत्ति समझी है, वैसे ही ज्ञान से ज्ञानाकार वृत्ति को समझना है। नित्य ज्ञान तो आत्मा का

स्वरूप है। अन्तःकरण की जो ज्ञानात्मिका वृत्ति बनती है वह सत्त्वकार्य और बंधकरी है। आत्मस्वरूप जो सुख और ज्ञान हैं, उनके साथ संग भी नहीं हो सकता और उनको बाँधने वाला भी नहीं कह सकते। जिसे प्रकाशक कहा था उसी वृत्ति को ज्ञान कहते हैं। वह आत्मा के चित्स्वभावका प्रतिबिम्ब विशेषतः ग्रहण करती है इसलिये उसको ज्ञान कह दिया, आनन्दरूप को ग्रहण करने वाली वृत्ति को सुख कह दिया। इस तरह सत्त्वगुण सुख के साथ संग करा देता है और ज्ञान के साथ संग करा देता है।

अर्जुन को प्रोत्साहन देते हैं– इस विवेक को करने में तू समर्थ है, क्योंकि अनघ! तू पापरहित है। क्योंकि पहले कह आया है 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते' इसलिये तुझमें पूरी तरह से वैराग्य है। 'त्रिलोकी का राज्य मुझे मिले तो भी मुझे नहीं चाहिये, मैं तो आत्मज्ञान ही चाहता हूँ'– ऐसी तेरी श्रद्धा है इसलिये तू इस संग से बचने के योग्य है। इस प्रकार से सत्त्वगुण को बतला दिया।।६।।

अब रजोगुण को बतलाते हैं–

रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तद् निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

कुन्तीसुत! रजोगुण का स्वरूप है रंग देना। इससे अप्राप्त विषयों की अभिलाषा और प्राप्त विषयों से प्रेम उत्पन्न होते हैं। रजोगुण देहधारीको कर्मों में तत्परता द्वारा मानों बाँध देता है।

'रजः' गुण का नाम ले दिया। वह कैसा है? 'रागात्मकं' है। जिस प्रकार से कपड़े को जब तुम रंग के घोल में डाल देते हो तो वह रंग कपड़े पर चढ़ जाता है, इसी प्रकार से रजोगुण रागरूप है। क्या उत्पन्न करता है? 'तृष्णासंगसमुद्भवम्' दो चीज़ों को पैदा करता है– तृष्णा और आसंग। तृष्णा– जो चीज़ अपने पास नहीं है उसको चाहना। किसी भी भोग के प्रति अलम्-बुद्धि (काफी हो गया, और नहीं चाहिये ऐसा निश्चय) नहीं होती है तृष्णा रहते। जो विषय प्राप्त है, उस के प्रति एक तरह का प्रेम कि यह विषय मेरे साथ हमेशा बना ही रहे, इसको आसंग कहते हैं। प्राप्त विषय के प्रति आसंग कि 'यह हमारा बना रहे' और अप्राप्त विषय के प्रति तृष्णा कि 'यह हमें प्राप्त हो जावे' इन तृष्णा और आसंग को उत्पन्न करता है रजोगुण। रजोगुण रागरूप है और तृष्णा और आसंग उत्पन्न करता है इसलिये 'तत्' अर्थात् रजोगुण 'देहिनम् कर्मसंगेन निबध्नाति'। दृष्ट विषय के प्रति तृष्णा होने से दृष्ट कारणों के द्वारा उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं। हम बी० ए० पास नहीं हैं, होना चाहते हैं तब हम बड़े शहर में जाकर कॉलेज में भर्ती होते हैं। तृष्णा के कारण ही हमने यह कर्म किया। कर्मसंग इसलिये कहते हैं कि तभी तत्परता पूर्वक मनुष्य कर्म में लगता है। तृष्णारहित सन्तुष्ट व्यक्ति को विषय इतने तुच्छ लगते हैं कि इनके लिये वह प्रयास ही नहीं करता। कर्म में आसक्ति तृष्णा से ही सम्भव है। तृष्णा कर्मसंग, कर्मतत्परता का हेतु बनती है और प्राप्त विषय का रक्षण भी आसंग से ही सम्भव है। हमारे पास हीरे की अंगूठी है उसको बचाने के लिये तत्परता पूर्वक

तभी लगेंगे जब उससे आसंग होगा। कोई दुश्मन आ जाये उसको लेने के लिये तो ऐसी लड़ाई लड़ते हैं कि मेरी अंगूठी बच जाय। कई बार लड़ाई के अन्दर अत्यधिक घायल हो जाते हैं पर गहना आदि बचाने के लिये सब सह जाते हैं दृष्ट पदार्थों के लिये इस प्रकार से दृढतापूर्वक व्यक्ति तृष्णा–आसंग से ही लगता है।

केवल दृष्ट पदार्थ ही नहीं, अदृष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिये भी ये ही प्रेरक हैं। स्वर्ग में जायेंगे, रम्भा, उर्वशी आदि का सुख प्राप्त होगा– इसके लिये दस साल परिश्रम किया हुआ सब धन खर्च करके ज्योतिष्टोमयाग कर लेता है। साल भर तक अश्वमेध चलता है। उसमें बड़े कठोर नियमों से रहना पड़ता है। उन सब को पूरी सावधानी से करता है, किस लिये? स्वर्ग की प्राप्ति होगी इसीलिये। अगर पास में धन नहीं है तो घोर तप करता है। पेड़ पर उल्टा लटक कर नीचे आग जला लेता है। केवल उस आग से निकलने वाला धुआँ पीकर के ही अपना समय निकालता है। इतना कष्ट क्यों सहन कर रहा है? आगे जनलोक, तपलोक की प्राप्ति होगी इसलिये। इस प्रकार दृढतापूर्वक कर्म में आसक्ति को उत्पन्न करने वाला कौन है? रजोगुण जो तृष्णा और आसंग को उत्पन्न करता है। रजोगण से बँधा व्यक्ति ही अप्राप्त की प्राप्ति के लिये भी कर्म करता है और प्राप्त के संरक्षण के लिये भी करता है।

लौकिक सूक्ष्म पदार्थों की भी प्राप्ति व सुरक्षा कर्म से, प्रयाससे ही होती है, वह भी तृष्णा–आसंग के कारण ही संभव है। विद्वान् लोग अधीत ग्रंथों का पुनरावर्तन करते रहते हैं, टीका–टिप्पण देखते रहते हैं, सहायक विषयों का अध्ययन करते रहते हैं– सब किसलिये? पढ़ा हुआ भूल न जायें, कोई कुछ भी पूछ ले तो जवाब दे पायें इसीलिये। जिसमें नये–नये विषय जानने की तृष्णा नहीं और पढ़े को दिमाग में बनाये रखने का आसंग नहीं वह कोई प्रयास नहीं करता पढ़ने या याद रखने का। अतः यह कर्मसंग भी रजोगुण का ही प्रभाव है। यदि तृष्णा और आसंग न होवें, तो न किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये तत्परता पूर्वक कर्म करोगे, न किसी चीज़ के रक्षण के लिये तत्परता पूर्वक प्रयत्न करोगे।

कर्मसंगेन कह कर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया, कि शरीर मन आदि अपने प्रारब्ध के अनुरूप कुछ क्रियायें तो करेंगे, परन्तु तुमको उन कर्मों में संग नहीं होगा, तत्परता पूर्वक नहीं करोगे, स्वाभाविक रूप से जो हो गया सो हो जायेगा, नहीं हुआ तो नहीं भी होगा। इसलिये भगवान् ने खाली कर्म नहीं कहा, 'कर्मसंगेन' कहा; कर्म से संग होगा तब लगेगा– तत्परता पूर्वक ठीक ही करूँ ताकि, फल उत्पन्न होवे। इस प्रकार कर्म के बन्धनका प्रकार समझाया।।७।।

तमोगुण का स्वभाव और वह कैसे बाँधता है यह बताते हैं–

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तद् निबध्नाति भारत।।८।।

भरतवंशी! जैसा अज्ञान आवरक है वैसा ही उससे उत्पन्न तमोगुण को समझो। सब

देहधारियों में वह अविवेक पैदा करता है। असावधानी, निरुत्साह और नींद द्वारा वह मानो देहियों को बाँधता है।

सत्त्वगुण, रजोगुण को बताने के बाद तमोगुण को बतलाते हैं। तमोगुण को कहा 'अज्ञानजं विद्धि'। अज्ञान से तो तीनों ही गुण उत्पन्न हैं, इसी को अज्ञानज क्यों कहा? सत्त्वगुण व रजोगुण अज्ञान के कार्यभूत अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषों में प्रकट होते हैं अतः सीधे ही अज्ञानसे नहीं, अज्ञान के कार्यविशेष के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति है। सुखाकार व ज्ञानाकार वृत्तियों में सत्त्वगुण एवं रागात्मक अर्थात् तृष्णाकार या आसंगाकार वृत्तियों में रजोगुण प्रकट होता है। तमोगुण अज्ञान के कार्यों से नहीं, साक्षात् अज्ञान से ही उत्पन्न है इसलिये इसको 'अज्ञानज' कहा कि अज्ञान से उत्पन्न होता है। तमोगुण अज्ञान को बढ़ाने वाला भी है इसलिए भी उसको अज्ञानज कहा।

'अज्ञानजं' कह कर भगवान् दो बातें बता रहे हैं। पहली जो चीज़ नहीं होती है उससे कोई चीज़ उत्पन्न नहीं हो सकती। अज्ञान से तम उत्पन्न होता है कह कर बता दिया कि अज्ञान भावरूप पदार्थ है। ज्ञान का अभाव नहीं, ज्ञान को ढाँकने वाली विशेष वस्तु है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं। आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति। आवरणशक्ति से तमोगुण हुआ तथा विक्षेपशक्ति से रजोगुण और सत्त्वगुण हुए। पहले आवरण होगा, तब आगे विक्षेप होगा। यहाँ भगवान् की आवरणशक्ति का भी संकेत कर दिया और अज्ञान, ज्ञान का अभावरूप नहीं, ढाँकने की सामर्थ्य वाली चीज़ है यह भी बता दिया।

क्योंकि ज्ञान को ढाँकता है, इसलिये 'सर्वदेहिनाम् मोहनं' देहमें अभिमान वाले सभी को मोह ग्रस्त कर देता है। मोह अर्थात् विवेक का न होना। विवेक करने की शक्ति को तमोगुण कुंठित कर देता है। अर्थात् तमोगुण की अधिकता में मनुष्य विवेक नहीं कर सकता अतः मूढ भाव को प्राप्त हो जाता है, मोहग्रस्त हो जाता है; जो चीज़ जैसी है, उसको वैसा जान नहीं पाता। इसीको ज़रा स्पष्ट करके कहते हैंः प्रमाद का मतलब होता है, जो कार्य करना चाहिये, उस कार्य को नहीं करना। कई बार तो जब समझाया जाता है, तब मान भी लेता है कि 'हाँ, यह काम करना है', पर परिस्थिति सामने आते ही फिर विवेक ढक जाता है और जो करने का कार्य है उसके प्रति ध्यान नहीं रहता। प्रमादी व्यक्ति लौकिक कर्मों को करने में भी असावधान होता है। जो करने का कार्य होता है उसको नहीं करता, उसके प्रति प्रमाद करता है। इसी प्रकार नित्यानित्य-वस्तु-विवेक इत्यादि में प्रवृत्त जो यति है, वह भी तमोगुण बढ़ने पर, विवेक न करके, अनित्य की तरफ मुग्ध हो जाता है। इसलिये प्रमाद अर्थात् असावधानी, जो करना चाहिये उसको न करके असावधान हो जाता है।

आलस्य अर्थात् कर्तव्य के प्रति- चाहे कर्तव्य ज्ञानस्वरूप हो, चाहे क्रियास्वरूप होवे- करने का उत्साह न होना। करना ही पड़ रहा है, इसलिये करते हैं, उत्साह कुछ नहीं है करने का। जब उत्साह नहीं होगा तब कार्य अपनी पूरी क्षमता से नहीं किया जायेगा। कर्तव्य चाहे क्रियारूप हो चाहे ज्ञानरूप हो। विवेक, वैराग्य के प्रति आलस्य हो जायेगा। आलसी उसे

भी टालता है कि 'कर लेंगे'। इसका विस्तार से वर्णन सांख्यों ने किया है। कई प्रकार का आलस्य होता है। कभी तो 'यह कार्य हम बाद में कर लेंगे'– ऐसा टालने वाला आलस्य होता है। 'धीरे-धीरे हो जायेगा, ऐसी जल्दबाजी क्या है!' यह भी एक तरह के आलस्य का रूप है। आलस्य में लस मायने चिपकना। (लस श्लेषणे (भ्वा.प.से.) धातु है। श्लेषण अर्थात् आलिंगन करना।) आलसी मनुष्य जो परिस्थिति है उससे चिपका रहना चाहता है। एक सज्जन कहा करते थे 'जो काम लेटे हुऐ हो सकता है उसको बैठ कर क्या करना! जो बैठ कर हो सकता है, उसके लिये खड़े क्यों होना! खड़े होकर जो हो सकता है उसके लिए चलना क्यों!' यह सब आलस्य का ही रूप है। इसमें मनोभाव होता है कि 'लेटा हूँ तो लेटा ही रहूँ, बैठूँ क्यों? बैठा हूँ तो खड़ा क्यों होऊँ?' आलसी में काम को हमेशा दूसरे पर टालने की प्रवृत्ति होती है क्योंकि करने में उत्साह तो है नहीं। आलसी पहले तो इन्तज़ार करता है कि कोई और कर दे, फिर यदि किसी को करते नहीं देखता और काम ज़रूरी समझता है तो कहकर या अन्य तरह से प्रेरित कर दूसरे से कराने की कोशिश करता है। यह सब आलस्य का ही रूप है, क्योंकि स्वयं करने में उत्साह नहीं है। जैसा क्रिया में आलस्य होता है, वैसा ही ज्ञान में आलस्य होता है। बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो रट लेंगे बिना समझे हुऐ। परीक्षा में रटा हुआ लिख दिया तो पास हो ही जायेंगे। उन्हें, समझने में आलस्य है क्योंकि उसके लिये ज़्यादा प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार, कोई चीज़ श्रवण कर ली, उसके बारे में युक्ति सोचने में, मनन करने में आलस्य करते हैं। आचार्य ने तो कहा ''श्रुतिमतः तर्कः अनुसन्धीयताम्'', श्रुति के अनुकूल तर्कों को ढूँढो। श्रुति से विरुद्ध कोई बात किसी ने कही, तो बजाय इसके कि उसने जो बात कही है, उसके दोष को ढूँढे, श्रुतिसंमत तर्क ढूँढे, आलसी कह देता है 'अरे! गीता को नहीं मानते!' तर्क के प्रश्न का तर्क से उत्तर देना यत्नसाध्य है। आलसी ऐसा यत्न नहीं करता। श्रद्धा आदि पर टालकर काम निकालता है। यह सब ज्ञान के प्रति आलस्य है। नतीजा यह होता है कि वह शंका अपने मन में भी संस्कार बना जाती है! इसलिये कई सम्प्रदाय तो कह देते हैं कि दूसरे की बात सुनो ही नहीं, नहीं तो तुम्हारा मन कुतर्की हो जायेगा! परन्तु सनातन परंपरा में तो मनन बड़ा साधन माना है जिसमें पता तो है कि क्या सिद्ध करना है पर तदनुकूल युक्तियों को सोचते रहना है। किन्तु अनेकों को जैसे क्रिया में आलस्य होता है, वैसे ही ज्ञान में भी आलस्य होता है अर्थात् विचार करने में उत्साह नहीं होता है।

निद्रा। इन्द्रिय और मन जब क्रिया नहीं करते हैं तब उसको निद्रा कहते हैं। अपने अन्तःकरण और अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ– इनको क्रिया-विमुख होने न देना जगना है। लौकिक और पारलौकिक दोनों में निद्रा समझना : बहुत-से लौकिक कार्यों में भी हम अपनी इन्द्रियों से पूरा कार्य नहीं करते। रोगी का पूरी तरह से परीक्षण करने का क्या प्रकार है, यह आयुर्वेद में भी बतलाया है, ऐलोपेथी में भी बतलाया है पर निद्रालु की प्रवृत्ति रहती है कि इस झंझट को कौन करे! मशीन से टेस्ट करा लो, बस उसी से काम हो जायेगा। स्वयं

परीक्षण करना नहीं चाहते। यंत्र का उपयोग तो था कि जो तुमने समझा है उसका सत्यापन कर लो, कि उसमें गलती तो कुछ नहीं है। इतना ही उसका उपयोग है। अब धीरे-धीरे चिकित्सक यह तो निर्णय करते ही नहीं हैं कि रोग क्या है, बस परीक्षण पर निर्भर रहते हैं। ये सब निद्रा के रूप हैं। जब करते नहीं तो बाद में चल करके ये क्रियायें उनसे हो ही नहीं पाती। पुराने डाक्टर आँखें, नाखून आदि देखकर हिमोग्लोबिन की मात्रा पता लगा लेते थे, बल्कि परीक्षण में गलती हो तो पकड़ लेते थे। धीरे-धीरे डाक्टरों ने वह यत्न करना छोड़ दिया तो आज बिना परीक्षण के पता नहीं चलता कि हिमोग्लोबिन कितना है! जानते हैं कि पता लग सकता है, लेकिन फिर भी निद्रा में रहते हैं, पता लगाने का यत्न नहीं करते।

प्रमाद में असावधानी है, आलस्य में उत्साह का न होना है, निद्रा में इन्द्रियों का ठीक प्रकार से प्रवृत्ति न करना है। 'तत्' अर्थात् तमोगुण प्रमाद, आलस्य, निद्रा के द्वारा बाँधता है। लौकिक पदार्थों का नुकसान-फायदा तो मनुष्य को प्रत्यक्ष जैसा दीखता है इसलिये इसके प्रति तो प्रमाद, आलस्य, निद्रा कम होते हैं। पर जो पारलौकिक फल हैं, अदृष्ट फल हैं, वे चूंकि सामने नहीं हैं, इसलिये उनका आकर्षण भी कम होता है। अतः उनके साधनों में प्रमाद, आलस्य, निद्रा ज़्यादा होते हैं। ठीक जैसे सवेरे साढ़े चार बजे रेल पकड़नी है तो एलार्म भी लगा लोगे, उठ भी जाओगे, तैयार भी होकर स्टेशन पहुँच जाओगे। उसमे असावधानी कम होती है। परन्तु सवेरे चार बजे उठकर नहा धोकर संध्या करनी है- उसके बारे में हमेशा प्रमाद रहता है! 'भगवान् कहीं जायेंगे थोड़ी। छः बजे उठेंगे तो हर्ज क्या है? भगवान् तो यहीं हैं।' यों मन बहलाते रहते हैं। इसी प्रकार भोजन करना है तब तो चावल अच्छे-से-अच्छा लेंगे, लेकिन पूजा के चावल को बीनने की झंझट कोई नहीं करना चाहता! लौकिक फलों के अन्दर प्रत्यक्षसिद्धता होने से आकर्षण अधिक है अतः उनके लिये तमोगुण कुछ दब जाता है परन्तु पारलौकिक चीज़ों के लिये तमोगुण और प्रबल हो जाता है। और ज्ञान और मोक्ष के लिये तो यह अत्यन्त प्रबल हो जाता है! पारलौकिक चीज़ों में तो फिर लगता है कि कुछ मिलेगा, यहाँ तो पहले ही वेदान्ती कहेगा 'तुम ब्रह्म ही हो। अभी ही हो।' वेदान्त यह नहीं क़हता कि 'तुम ऐसा-ऐसा करोगे तब ब्रह्म हो जाओगे' वरन् कहता है कि ब्रह्म हो ही। इसलिये झट मन में आता है कि 'ब्रह्म तो हैं ही, कभी-न-कभी अपना स्वरूप प्रकट हो ही जायेगा। उसके लिये क्यों मेहनत करें।' शम, दम आदि के अभ्यास बड़े कठिन लगते हैं। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक सिद्धान्त बना रखा है कि आखिर एक-न-एक दिन तो सब मुक्त होंगे ही, उसमें हमारा भी मौका आ जायेगा। प्रमाद, आलस्य, निद्रादि से साधनाकी आवश्यकता को नहीं सोचता। अर्जुन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, 'भारत! तू तो भा, प्रकाश में रत है, अर्थात् परमात्मज्ञान की तरफ प्रवृत्त है, इसलिए तुझे तो इससे बहुत बचना चाहिए।'।।८।।

गुणों के बारेमें कही हुई बात ही दुहरा देते हैं ताकि दृढता से बुद्धि में बैठ जाये और इसे समझाना भगवान् का तात्पर्य है यह स्पष्ट हो जाये-

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।६।।

हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें संसक्त करता है, रजोगुण क्रियामें संसक्त करता है और तमोगुण विवेक को ढाँककर प्रमाद में संसक्त करता है।

सत्त्वगुण सुख में मनुष्य को लगा देता है, संयोजित कर देता है। और रजोगुण मनुष्य को कर्म में लगा देता है। तमोगुण ज्ञान को ढाँक करके जो अपना प्राप्त कर्तव्य है उसको न करने में लगा देता है। ज्ञानमावृत्य, अर्थात् सत्त्वगुण जिस विवेक को करता है, उसको तमोगुण ढाँक देता है। कोई बात सुनी, ठीक भी लगती है, परन्तु जब कोई मौका सामने आता है, तब वह विवेक ढक जाता है, और फिर गलती ही कर लेते हैं। इसलिये कहा कि तमोगुण विवेक को ढाँक देता है। पूर्वश्लोक में इसी को 'मोहनं' कहा था। ज्ञान का आवरण कर देता है अर्थात् मोह कर देता है। 'उत' अर्थात् और। भगवान् ने जैसे छठे श्लोक में सुखसंग कहा था वैसे ज्ञानसंग भी कहा था । यहाँ खाली 'सुखे संजयति' कह दिया है तो 'उत', अर्थात् ज्ञानसंग भी वहाँ से ले लेना चाहिये। तमोगुण में प्रमाद, आलस्य निद्रा तीन कहे थे, यहाँ खाली प्रमाद को ही कह दिया है अतः जो नहीं कहे हुऐ हैं, उन सब का 'उत' से संग्रह कर लेना चाहिये।।६।।

अब तक बतलाया कि गुण क्या करते हैं। अब बताते हैं कि कब करते हैं–

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

भारत! रजोगुण-तमोगुण को निर्वीर्यकर सत्त्वगुण बढ़ जाता है (तो अपना कार्य कर लेता है), सत्त्वगुण-तमोगुण को निस्तेज कर रजोगुण बढ़ जाता है (तो अपना कार्य कर लेता है) और सत्त्वगुण-रजोगुण को अप्रभावी कर तमोगुण बढ़ जाता है (तो अपना कार्य कर लेता है।)

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर, अर्थात् दबा कर तब अपना प्रभाव दिखाता है। जो गुण दूसरे का अभिभव कर देता है, दबा देता है, वह गुण अपने कार्य को कर लेता है। अभिभूत होने का मतलब है, कि गया नहीं है, परन्तु दबा हुआ है। सत्त्वगुण के अन्दर रजोगुण और तमोगुण को दबाने की जब सामर्थ्य होती है तब सत्त्वगुण उद्भूत होता है। ऐसा नहीं है कि जिस समय सत्त्वगुण चित्त में उठे, उस समय में तुम्हारे में कोई क्रिया न होवे, अथवा तुम सर्वथा बेध्याने हो जाओ; ऐसी बात नहीं है। लेकिन वह जो क्रिया है, वह अभिभूत हो जाती है अर्थात् गौण हो जाती है। कुछ भी करो, बिना जाने तो करोगे नहीं, जानकर ही करोगे, परन्तु फ़र्क यह है कि जानने में तुम्हारा ज़्यादा ध्यान है अथवा करने में। करने में जब ज़्यादा ध्यान दोगे तब ज्ञान गौण हो जाता है और क्रिया प्रधान हो जाती है। ऐसे ही, यह नहीं है कि जानने में क्रिया नहीं है। जैसे आँख को हम किसी चीज़ पर

टिकाने की क्रिया करेंगे तभी उस चीज़ को ठीक तरह से देख पायेंगे। परन्तु वहाँ हमारा देखना प्रधान है, आँख को केन्द्रित करना प्रधान नहीं है। बिना आँख केन्द्रित किये तो नहीं दीखेगा परन्तु प्रधानता उस चीज़ को देखने की है। जब ज्ञान प्रधान होगा तब जानने पर ज़ोर है। उसके साथ क्या क्रिया करें उस पर ज़ोर नहीं है। जब रजोगुण और तमोगुण दब जाता है तब सत्त्वगुण अपना कार्य करता है। अर्थात् ज्ञान सुख आदि को पैदा करेगा।

इसी प्रकार रजोगुण ज़ब प्रधान होगा तब सत्त्वगुण और तमोगुण को दबा देगा। कर्म, तृष्णा इत्यादि जिन्हें गिनाया है, वे प्रधान होंगे, सुख और ज्ञान प्रधान नहीं होगा। एक करोड़ रुपया कितना होता है? इसको जो *जानना* चाहे वह तो बैंक में जाकर, एक करोड़ रुपये को देख लेवे। पता लग जायेगा कि एक करोड़ इतना होता है। रजोगुणप्रधान होगा तो उस एक करोड़ को *देखने* की कुछ तमन्ना नहीं है, एक करोड़ कैसा होता है– यह जानने की कोई इच्छा नहीं है, इच्छा है कि हम क्रिया करके एक करोड़ रुपया अपना बना लें। अतः रजोगुण कर्म में लगायेगा, इसलिये ज्ञान गौण हो जायेगा। बिना जाने तो नहीं कर सकते, लेकिन वहाँ प्रधान कर्म रहेगा। इसी प्रकार वहाँ पर तृष्णा प्रधान रहेगी। इसलिये जब रजोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों दब जाते हैं। मौजूद तो हैं, पर प्रधान रूप से कार्यकारी नहीं हैं।

इसी प्रकार सत्त्व और रजको तम अभिभूत कर लेता है तब अपना प्रभाव दिखाता है। सोया हुआ व्यक्ति है, पाँच बज गये, उठा नहीं। दूसरा उसको जगाता है, ज़ोर से जगाता है, हिला देता है। उसको ज्ञान तो हो गया कि उठने का समय है, लेकिन नींद ज़ोर से आ रही है अतः करवट बदल कर फिर सो जाता है, कहता है 'भाई मुझे अभी सोने दो।' 'मुझे उठाया जा रहा है, उठना मेरे लिये ठीक है' इस सब को 'आवृत्य', तमोगुण इस सब को ढाँक देता है तभी निद्रारूप कार्य को सम्पन्न करता है। इस प्रकार से गुण रहते हुऐ भी दब जाते हैं।।१०।।

प्रश्न स्वाभाविक है कि पता कैसे लगे कि कौन-सा गुण उद्भूत हो रहा है, और कौन-सा गुण नहीं उद्भूत हो रहा है? भगवान् इसका उत्तर भी बतला देते हैं–

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

सभी द्वारों के निमित्तसे जब शरीर में प्रकाशरूप ज्ञान उत्पन्न होता है (और जब सुख उत्पन्न होता है,) तब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है यह समझना चाहिये।

जिस क्षेत्र में, देहमें हम हैं इसमें अनेक द्वार, दरवाज़े हैं। आँखों से हमारे अंदर रूप घुसता है, कानों से शब्द घुसता है इत्यादि तरह से इस शरीर में ग्यारह दरवाज़े उपनिषत् में बताये हैं 'पुरम् एकादशद्वारम् अजस्य अवक्रचेतसः' (कठ.५.१)। इन सब से हम बाहर निकलकर विषयानुभवों को अंदर ले आते हैं। इनके द्वारा ज्ञान होता है इसलिये इन्हें द्वार

कहते हैं। हमें होने वाली उपलब्धि के प्रति ये ही द्वार होते हैं, इन्हीं के द्वारा हमें पता लगता है, ज्ञान होता है। अन्तःकरण को भी एक द्वार ही समझना चाहिये। इन सभी दरवाज़ों में, अन्तःकरण में भी 'प्रकाश उपजायते'। बुद्धि उन सब के द्वारा ठीक प्रकार से उन दरवाज़ों का प्रयोग करके जानती है। जैसे आँख कान का प्रयोग करती है, वैसे ही मन का भी प्रयोग करती है। मन के द्वारा ठीक प्रकार से सोचती है। सोचने का मतलब होता है किसी भी चीज़ के दोनों पक्षों को देखना और फिर निर्णय करना। यह मन का काम है दोनों पक्षों का जब तक विचार नहीं करोगे तब तक सोचना ठीक नहीं होगा। वेदान्त के ग्रन्थों को देखें तो एक विशेषता मिलेगी, अन्य जितने वादी हैं वे अपना पक्ष तो खूब रखते हैं परन्तु दूसरे के पक्ष को ऐसे ही हँसी में उड़ा देते हैं। परन्तु वेदान्त ग्रन्थों के अन्दर पूर्वपक्ष को बहुत खोलकर बतलाया जाता है और तब उसका जवाब दिया जाता है। यह इसलिये कि पूर्व पक्ष का भली प्रकार से यदि विचार नहीं करते, तो संशय के बीज रह जाते हैं। यदि सारे पक्षों को तुम सोचे बैठे हो, और सोच करके वे ठीक क्यों नहीं हैं- इस बात को तुमने जान लिया है, तब संशय का बीज नहीं रहता।

प्रकाश जो चीज़ जैसी है उसको वैसा प्रकट कर देता है। और प्रकाश कुछ नहीं करता। इसी प्रकार से ज्ञान जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जना देता है। प्रकाश जैसे अन्धकार को दूर करता है, वैसे ही सत्त्वगुण की ज्ञानरूप बुद्धिवृत्ति लौकिक पदार्थों के आवरण को दूर करती है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के बल से ब्रह्म का भी उद्घाटन उसी से होता है। सत्त्वगुण की अधिकता में ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का ठीक-ठीक उचित बोध हो पाता है, नहीं तो नहीं हो पाता। 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य का अर्थ समझने के लिये तो मन ही प्रधान द्वार होगा। व्यवहार भूमि के अन्दर प्रत्यक्ष की जो इन्द्रियाँ हैं, उन्हें प्रधान बनना पड़ेगा। आत्मा का स्वरूप समझने के लिये इन्द्रियों का तो कोई उपयोग नहीं है। सत्त्वगुण सांसारिक और पारमार्थिक दोनों ज्ञानों केलिये चाहिये। यहाँ भगवान् ने 'प्रकाश' का स्वयं अर्थ 'ज्ञान' किया है। जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसी को ज्ञान कहते हैं। भाष्यकारने कहा 'सर्वद्वारेषु अन्तःकरणस्य बुद्धेः वृत्तिः प्रकाशः'। सभी द्वारों में अर्थात् द्वारों के निमित्त से जो अन्तःकरण की, बुद्धि की वृत्ति बनती है वह प्रकाश या ज्ञान सत्त्वगुण का प्रभाव कहा जा रहा है। इसे सत्त्वगुण के बढ़े होने का चिह्न माना गया है।

'उत' अर्थात् और; जैसे प्रकाश के बारे में कहा वैसे सुखके बारे में समझ लेना। सात्त्विक सुख के समय सब इन्द्रियाँ और मन स्पष्टतः सुख का अनुभव करेंगे। यद्यपि सुख बुद्धिधर्म है तथापि इंद्रियों से भी प्रकट होता ही है। हमने रसगुल्ला खाया तो जो सुख हुआ उसमें द्वार जीभ बनी। जिसकी जीभ कटी हो उसे रसगुल्ले का सुख नहीं मिल सकता। सारी इन्द्रियों से सुख स्पष्ट हो या ज्ञान स्पष्ट हो तब समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, प्रबल है। जितनी बुद्धिवृत्ति शांत अधिक होगी उतना सुख का प्रकाश होगा। सात्त्विक सुख लौकिक जनों को प्रायः न होने से यहाँ भगवान् ने उसका 'उत' मात्र से संग्रह किया, सत्त्ववृद्धिका मुख्य चिह्न ज्ञानको ही कहा क्योंकि वह सबको सुलभ है।।११।।

अब बताते हैं कि रजोगुण उद्भूत है यह कैसे पता लगे–

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

भरतकुलमणि! रजोगुण बढ़ने पर ये चिह्न पैदा होते हैं– दूसरे की चीज़ें लेने की इच्छा, निरन्तर प्रयत्नशीलता, कोई–न–कोई कार्य शुरू करना, इन्द्रियों व मन की कार्यशीलता (अथवा हर्ष राग आदि वृत्तियों का रुक न पाना), और सामान्यतः सभी चीज़ों के प्रति तृष्णा।

रजोगुण जब बढ़ता है तब लोभ होता है। लोभ के दोनों कार्य यहाँ समझ लेना– दूसरे का द्रव्य मेरा हो जाये– यह इच्छा भी लोभ है। और, जो अपने पास है, उसका सत्कार्य में विनियोग न करना– इसको भी लोभ कहते हैं। बहुत से लोग दूसरे के धन की तो इच्छा नहीं करते हैं, पर जो अपना है,उसमें से चाहे जैसा सत्कार्य होवे उसके लिये कुछ निकालना नहीं चाहते। दोनों ही लोभ रजोगुण के द्वारा हो जाते हैं।

'प्रवृत्तिः', अर्थात् जिन कामों का कोई खास फल नहीं है, उनको भी करने में संलग्न रहना। किसी–किसी ने इसे चापल्य कहा है। बहुत–से आदमियों की आदत है, बैठे हैं तो पैर हिलाते हैं। कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी पैर हिलाते रहेंगे। किसी–किसी को देखा है कि अपने सिर के बाल ही नोचते रहेंगे! प्रयोजन कुछ नहीं है। इस प्रकार से बहुत से कार्य जो हम करते हैं वे रजोगुण बढ़ता है तब अपने आप करते हैं। इस प्रवृत्ति से वे सब भी समझ लेना जो बिना विशेष प्रयोजनके भी करते रहते हैं जैसे जीवनभर के लिये जिसके पास पर्याप्त धन है, लड़का भी अच्छा कमा रहा है, वह व्यक्ति जब और व्यापार करने में लगा रहता है तो वह निष्प्रयोजन प्रवृत्ति ही है। इसी तरह पैंशन पाने वाला व्यक्ति भी नौकरी में लग जाता है तो निष्प्रयोजन प्रवृत्ति है। ऐसे लोग बिना किये रह नहीं पाते इसलिये स्पष्ट है कि उनमें रजोगुण प्रबल है। जब रजोगुण बढ़ता है तो इस प्रकार प्रवृत्ति होती है।

'कर्मणाम् आरम्भः' नये–नये कर्मों को प्रारम्भ करना लौकिक फलों के लिये भी, पारलौकिक फलों के लिये भी। जो कर्म कर रहे हो उससे शान्ति नहीं है। पर्याप्त वेतन की नौकरी है फिर भी नयी नौकरी खोजते हैं। उद्योगपति भी नया उद्योग लगाते हैं, कहते हैं 'कुछ दूसरा काम शुरू करो'। इस प्रकार अपनी तरफ से कामों को आरम्भ करना रजोगुण के बढ़ने का चिह्न है।

'अशमः', मन का शमन नहीं करना। कोई अच्छी बात हो गई तो सारा शरीर उनका हर्ष से भर जायेगा। साहित्य शास्त्र में कहते हैं कि ज़्यादा हर्ष होता है, तो सारे शरीर के रोएँ खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार नई–नई चीज़ों के प्रति मन में आसक्ति को उठाते रहना। वर्तमान काल में इसका बहुत बड़ा विस्तार है : एक अच्छी भली मोटर पास में है। नई डिजाइन की मोटर बाज़ार में आ गई तो इच्छा करते हैं कि उसको लें। उस गाड़ी से कोई

उनको ज़्यादा आराम मिल जायेगा, ऐसा नहीं है पर नई-नई चीज़ों के राग उत्पन्न करते रहते हैं और बेचने वाला अपने विज्ञापनों के द्वारा जबरदस्ती तुम्हारे अन्दर अशम को उत्पन्न करता है। हर्ष, राग इस प्रकार की जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब अशम में आ जाती हैं।

स्पृहा, सभी सामान्य वस्तुओं के प्रति जो एक सामान्य तृष्णा होती है। कहीं बैठे हुए हो; तुम्हारे काम की चीज़ भी नहीं है, लेकिन तुमको मुफ़्त में देता है तो ले लेते हो! प्रयोजन नहीं है तो फिर काहे के लिये लेना? इससे पता चलता है कि उस विषय के प्रति उनके मन में कोई राग है। यद्यपि कामना के रूपमें तीव्र नहीं था, उन्हें भी पता नहीं था कि उसमें वह राग है, पर कार्य से पता चलता है कि अवश्य था अन्यथा उस वस्तु को नहीं लेते। आजकल व्यापारी कहते हैं कि अगर अमुक चीज़ खरीदोगे, तो ये चीज़ें, मुफ्त मिलेंगी। यों चीज़ें लाकर एक ने कहा 'आज मैं यह चीज़ लाया तो ये चीजें मेरे सिर पड़ गयीं।' हमने कहा, 'सिर कैसे पड़ गयीं? तुम नहीं लेते। तुम अगर दुकानदार से कहते कि साथ में मुझे मुफ्त नहीं चाहिये, तो वह बड़ा खुश होकर रख लेता अपने पास।' ज़रूरत नहीं है, मेरे सिर पड़ गयी, फिर भी लेकर तो आ ही गये! क्योंकि रजोगुण बढ़ा हुआ है। सामान्य वस्तुओं के प्रति ऐसे भावको यहाँ स्पृहा कह दिया। रजोगुण के बढ़ने पर, ये सब उत्पन्न होते हैं। ये लिंग है जिनसे पता लग जाता है कि रजोगुण बढ़ रहा है।

किसी चीज़ के लिंग को जानने का प्रयोजन क्या है? थोड़ा-सा भी बढ़ने के लिंग को देख कर तुरन्त अनिच्छित गुण को रोको। आगे भगवान् सत्रहवें के अन्दर बतलायेंगे कि शरीर को पुष्ट करने वाला जो आहार है उस आहार के द्वारा अपने अन्दर सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण को घटा-बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार से क्रिया आदि सब चीज़ों का भगवान् विस्तार बतायेंगे। रजोगुण बढ़ने लगेगा तो जैसे ही ये लिंग देखने में आवें, वैसे ही रजोगुण की सब चीज़ों को कम कर दो। गुणों के बढ़ने का वर्तमान कारण तो यही है कि तुम्हारे पूर्वजन्मों के अनुसार जो कर्म फल देने वाला है उस कर्म के अनुरूप तुम्हारा संस्कार जगता है। जो साधक नहीं है, संसारी व्यक्ति है, वह तो उससे प्रवृत्त होकर भोग करता है, और इस प्रकार चक्र चलता रहता है जन्म-मरण का। गुणों को प्रवृत्त संस्कार के द्वारा तो परमेश्वर करता है, तुमको जिस कर्म का फल देना है उसके अनुरूप। साधक इस बात को जानता है कि गुण उत्पन्न तो हुआ है इसलिये पर इससे विरुद्ध वृत्ति बना कर इसको दबाया जा सकता है। इसीलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं, 'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्। पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभेपथि।।' तुम्हारी जो वासनाओं की, संस्कारों की नदी है, वह शुभ और अशुभ दोनों मार्गों से बहती है। कोई ऐसा नहीं है जिसके मन में अशुभ विचार न आते हों, और कोई ऐसा भी नहीं है जिसके मन में शुभ विचार न आते हों। सभी वासनाओं का समय आता है, अपने-अपने कर्मभोग के अनुसार। कल्याण चाहो तो तुम केवल यह कर सकते हो कि शुभ संस्कारों के उद्भूत होने पर उनको तुरन्त पूरा करो और अशुभ संस्कारों के प्रवृत्त होने पर उन्हें कम-से-कम थोड़ी देर के लिये टाल दो। उस

समय शुभ प्रवृत्ति चाहोगे, तो नहीं कर पाओगे, परन्तु यदि मन पर नियंत्रण कर लिया, वेग टल गया, तो अशुभ से बचे रह सकते हो। नियंत्रण करने के लिये शास्त्रकार कहते हैं, कि प्रयत्न पौरुषपूर्ण आवश्यक है। जब मन कुछ गलत करने को कहे, और नहीं करना है, तो हाथ को हाथ से अच्छी तरह से रगड़ो। ज़ोर से दाँत पीसो। अर्थात् ज़बर्दस्त से भी ज़बर्दस्त प्रयत्न करके उस अशुभ संस्कार के अनुकूल अपने मन को न बनने दो। यह होगा केवल साधक से। संसारी व्यक्ति तो उसी प्रवाह में चलेगा। और जब शुभ प्रवृत्ति का समय आवे, वह संस्कार जगे, तब उसको तुरन्त कर दो। कई बार देखोगे, तुम्हारे मन में आया कि 'यह अच्छा काम है, इसके अन्दर पाँच सौ खर्च कर देंगे'। अगले दिन जब देने का समय आयेगा तब शायद मन कहेगा, 'पाँच सौ तो बहुत हैं, इसमें सबसे ज़्यादा दो सौ ही दिये हैं किसी ने, तो मैं भी दो सौ ही दूँगा'। अगर उस समय झट से पाँच सौ दे देता तो दे ही देता।

एक जवाहरात के व्यापारी बतला रहे थे; एक बार एक आदमी आया, अमरीका का, उसने माल खरीदा पाँच लाख का, और पाँच-पाँच लाखके चैक दो काटे, एक मुझे दे दिया। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ! मैंने पूछा 'आपने ये दो चैक कैसे काटे?' उसने कहा, 'जब मैं यात्रा पर निकला था तब मैंने संकल्प किया था कि जितना पैसा में अपने ऊपर खर्च करूँगा उतना ही मैं चर्च को दूँगा इसलिये जब खर्च के लिये चैक काटता हूँ तभी साथ में ही चर्च के नाम का भी काट देता हूँ'। मैंने उससे कहा 'जब वापिस जाते तब इकट्ठा काट देते। यहाँ तो तुमको चर्च को देना नहीं है?' उसने कहा 'मन बड़ा धोखेबाज है। अगर बाद के लिये रखूँगा तो फिर पता नहीं मेरे मनमें यह भाव रहेगा या नहीं!' अमरीकन की बात अनुभवमें खरी उतरती है।

एक बड़े अच्छे उद्योगपति थे, गुजरात में। वे कहते थे : जब हमने अपनी टैक्सटाइल मिल चालू की, उसके नौ साल के बाद, हमको और हमारे भाई को गुरुजी ने दीक्षा दी, मंत्र दिया। दीक्षा देने के बाद उन्होंने कहा कि 'अब तुमने दीक्षा ली है तो तुम अपनी कमाई का दस प्रतिशत धर्म के कार्य में खर्च करोगे। यह तुम्हारा नियम है।' दोनों भाइयों ने मान लिया। गुरु जी तो चले गये। हम दोनों भाइयों ने विचार किया कि गुरुजी ने तो अबसे करने को कहा पर हम तभी से कर देते हैं जब से काम शुरू किया है। किन्तु पुराना हिसाब निकालने में परिश्रम पड़ेगा इसलिये यह निश्चय करते हैं कि इस दसवें साल का सारा लाभ धर्मार्थ खर्च देंगे। इस तरह दस सालों की कमाई का दशांश धर्म में लगकर गुरुजी की बात रह जायेगी। उस साल हमें पिछले सालों से ढाई तीन गुना फ़ायदा हुआ! जब फ़ायदा हो गया, मेरे मन में ज़रा पाप आया। मैंने कहा, 'भाई सहाब, दस प्रतिशत का हिसा ही कर लेवें, उतने का ही नियम, रखें तो कैसा रहे?' बड़े भाई ने कहा 'देख इसी का नाम है बेईमानी! हम लोगों का संकल्प था कि इस साल में जो आयेगा वह हम देंगे, इसलिये वही किया जायेगा।' इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि शुभ कार्य तो तत्काल कर ही डालो। इसलिये भगवान् जो ये चिह्न बता रहे हैं वे इन्हें देखकर सावधान होकर रजोगुण-तमोगुण से बचकर

सत्त्वगुण बढ़ाने के लिये हैं।।१२।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

कुरुवंशियों को सुख देने वाले अर्जुन! तमोगुण बढ़ने पर ही ये चिह्न पैदा होते हैं– नासमझी, प्रयासराहित्य, प्राप्त कर्तव्य न करना और मोह।

सत्त्वगुण के बारे में कहा था कि उससे 'प्रकाश उपजायते'। चाहे वह इन्द्रियज्ञान हो, चाहे मन बुद्धि का ज्ञान हो, जैसा है वैसा विषयका प्रकाश हो जाता है। तमोगुण क्योंकि सत्त्वगुण को दबा लेता है इसलिये इसका प्रभाव है अप्रकाश। किसी भी चीज़ का ठीक ज्ञान नहीं होता। न विषयज्ञान ही ठीक होता है, और आत्मा के बारे में शास्त्रादि का श्रवण करके भी उसका ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। सुनता तो है परन्तु उसका अर्थ उसको ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं होता, ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'अत्यन्तम् अविवेकः'। सत्य और असत्य– इनके अन्दर अच्छी तरह से विवेक हो ही नहीं पाता।

'अप्रवृत्तिश्च', रजोगुण के संदर्भ में कहा था कि प्रवृत्ति रजोगुण से होती है। तमोगुण के बढ़ने पर क्योंकि रजोगुण दब जाता है इसलिये प्रवृत्ति भी नहीं होती। रजोगुण में प्रवृत्ति है, सत्त्वगुण में ज्ञान है। ज्ञान और क्रिया दोनों का ठीक तरह से न होना तमोगुण का प्रभाव है। चूँकि ज्ञान ठीक से नहीं होता, इसीलये सत्त्वगुण का भी कार्य नहीं हो पाता, दृष्ट फलों के प्रति, लौकिक फलों के प्रति उसको ठीक-ठीक प्रकार से विवेक नहीं हो पाता, और इसीलिये प्रवृत्ति भी नहीं होती। जैसे दृष्ट में नहीं होती, वैसे ही अदृष्ट विषयों के प्रति भी उसको ठीक-ठीक विवेक न होने से प्रवृत्ति नहीं होती। कुछ लोग प्रवृत्ति के न होने मात्र से कल्पना कर लेते हैं कि यह आदमी सात्त्विक होगा क्योंकि निवृत्ति सात्त्विक पुरुषों में होती है, सत्त्वगुण वालों में होती है। प्रवृत्ति के अभाव से इतना तो पता चलता है कि इसके अन्दर इस समय रजोगुण नहीं है, पर उतने मात्र से निवृत्ति है यह पता नहीं लगता। यदि विवेक के कारण, ज्ञान के कारण अप्रवृत्ति है, तब तो निवृत्ति है, परन्तु अप्रवृत्ति देखने मात्र से सत्त्वगुण की कल्पना नहीं करनी चाहिये। इसलिये भगवान् ने दोनों को स्पष्ट करने के लिये कहा 'अप्रकाशः अप्रवृत्तिश्च'।

तमोगुण बढ़ने पर क्या नहीं है यह बतला दिया। क्या है– यह अब बताते हैं– 'प्रमादः'। प्रमाद अर्थात् जो प्राप्त कार्य होवे– चाहे ज्ञान का कार्य हो, चाहे धर्म का कार्य हो– उसके प्रति असावधानी। ज्ञान के प्रति भी असावधानी होती है प्रमाद में। प्रायः देखने में आता है कि लोग कहते हैं 'महाराज! समझते तो हैं, पर बात स्थिर नहीं रहती।' स्थिर नहीं रहने में कारण यह तमोगुण का कार्य प्रमाद ही है। वेदान्त का चिन्तन जीवनभर के अभ्यास की बात है। हर समय सावधानी पूर्वक उसको याद रखोगे, सावधान रहोगे कि 'कहीं दूसरी चीज़ हम न पकड़ लें', तब तो बोध स्थिर रहता है, अन्यथा विषयों के प्रवाह के कारण रजोगुण

या तमोगुण प्रधान हो जाते हैं।

'मोहः', पहले भी कहा था 'मोहनं' (श्लोक ८)। मुह वैचित्ये धातु है। मोह अर्थात् चित्त विक्षिप्त रहना, व्यवस्थित विचार न कर पाना। तामसी व्यक्ति मुग्ध व्यक्ति की तरह कार्य करता है, अर्थात् अविवेक इतना होता है कि मूढता हो जाती है। बार-बार यह समझाने पर भी कि संसार के विषय दुःखरूप हैं, मूढ को लगता है कि फिर भी कुछ सुख तो इनमें है ही! विषयों के प्रति जो मोह है, वैचित्यभाव है, इसके कारण दुःख देने वाली चीज़ भी सुख लगती है, उसमें सुख-बुद्धि होती है। ऐसे ही अनित्य में नित्य-बुद्धि हो जाती है। हर विषय संसार में हमने अनित्य देखा है, फिर भी जिस विषय की मैं प्राप्ति करता हूँ, उसके अन्दर नित्यता चाहता हूँ! मोटी भाषा में कहें तो, बच्चा पैदा हुआ तब यह कल्पना तो होती है कि पढ़ने में बड़ा तेज़ होगा, आगे बड़ा भारी अफ़सर बन जायेगा, बड़ा भारी व्यापार करेगा; परन्तु कभी क्या यह भी सोचता है कि इतना पढ़ने के लिये आता-जाता है, दुर्घटनामें मर जायेगा? यह कल्पना भी नहीं करना चाहता। मृत्यु याद भी नहीं करना चाहते। उसका सामना नहीं करना चाहते। दुःख में सुख-बुद्धि की तरह अनित्य में नित्यबुद्धि होती है। अनित्य जानने पर भी मोह होने के कारण उसका मरना सोचना नहीं चाहते। इस प्रकार तमोगुण बढ़ने पर सत्त्व-रजके कार्य नहीं होते, प्रमाद और मोह होते हैं। तम के बढ़ने पर ये लिंग उत्पन्न होते हैं। इन लिंगो से अनुमान कर लेना चाहिये, 'मेरे अन्दर तमोगुण बढ़ रहा है।' प्रमाद से यहाँ आलस्य को भी ग्रहण कर लेना।

इस प्रकार से भगवान् ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की क्या पहचान है, उनके क्या लिंग हैं, यह स्पष्ट करके बतला दिया। ये प्रधानतः मानस भाव हैं, इसलिये इनसे अपने मन की परीक्षा खट हो जाती है। प्रायः लोग इन मानस लिंगों को *अपने* में न देखकर दूसरों में कल्पना करने में ज़ोर लगाते हैं, परन्तु ये जितने भगवान् ने लिंग बताये हैं ये मानस होने के कारण, अपने में तो निश्चित पता लगेंगे, दूसरे में देखने जाओगे तो निश्चित पता नहीं लगेंगे। अनुमान करोगे, कभी ठीक होगा, कभी ग़लत भी होगा। साधक को दूसरों की चिन्ता नहीं करनी, स्वयं में देखकर रज-तम घटाकर सत्त्व बढ़ाना है।।१३।।

किस गुण के बढ़ने पर हुई मृत्यु से क्या फल होता है यह बताते हैं-

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।।१४।।

जब तो देहधारी सत्त्वगुण बढ़ा रहते मरता है तब महत् आदि के उपासकों को उपलब्ध निर्मल लोक पाता है।

देहभृत्, देह को मैं और मेरा समझने वाला, देह धारण करने वाला। 'सत्त्वे प्रवृद्धे' जब सत्त्व बढ़ा हुआ हो, उस समय 'प्रलयं याति' मरणभाव को प्राप्त होता है तब उत्तम गति पाता है। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'सत्त्वे प्रवृद्धे', सत्त्व जब जीवन में पूरी तरह से बढ़ा हुआ होगा तभी मृत्यु के समय भी रह सकेगा क्योंकि मरण काल में तो प्रायः आदमी बिलकुल

अज्ञानी होकर मरता है। मरने के कुछ क्षण पहले तो प्रायः मुमूर्षा (कोमा) हो जाती है। इसलिये उसी समय को यदि विवक्षित मानें तब तो सब का तमोगुण ही बढ़ा हुआ मिलेगा! जो कहते हैं, 'मरण काल में' वह इस दृष्टि से कि जैसा तुमने जन्मभर प्रयत्न किया है तदनुकूल ही विचार मरणकाल में रहता है, विवेक न होने पर भी वही भाव रहता है। जन्मभर यदि तुमने सत्त्व को बढ़ा कर रखा है तो सत्त्वप्रधान रहते हुए ही मूर्च्छा या मुमूर्षा में भी जाओगे। इसलिये उस अविद्या के कारण अगला जो शरीर बनता है उसमें सत्त्वगुण प्रधान रहता है। इसलिये अंतिम समय या मरते समय का अभिप्राय उस होश-हवास की स्थिति से है जिसके तुरंत बाद बेहोशी में जाते हैं। मूर्छा अवस्था में जाने के समय सत्त्वगुण बढ़ा रहेगा तो सत्त्वगुणानुरूप, रजोगुण-तमोगुण बढ़ा रहेगा तो तदनुरूप गति मिल जायेगी। इसलिये कहा 'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति'। सत्त्व बढ़ा हुआ होने पर। जीवन भर के प्रयास के कारण जो बढ़ा हुआ है वही सफल होता है। अतः इस प्रकार के वाक्य यावत्-जीवन करने के लिये प्रवृत्ति कराने वाले हैं, ऐसा नहीं कि अन्तिम समय के लिये प्रयास रोके रखो! यह उसी तरह की बात है जैसे योग्य विद्यार्थी प्रतिदिन कक्षाके पाठ को याद कर लेता है। प्रमादी 'अरे, अभी तो इम्तिहान में दस महीने हैं, अभी तो नौ महीने हैं, पढ़ लूँगा।' ऐसा करते-करते जब दस दिन बाद परीक्षा होनी है तब लगता है रातभर! न चीज़ें ठीक से समझ में आती हैं, न याद रहती हैं। जैसे वह टालता रहता है, असफल ही रहता है, वैसे ही साधक टालेगा तो असफल होगा। जो साधक सोचता है 'अभी क्या जल्दी है, उमर भर पड़ी है, आगे कर लेंगे,' वह कभी सफल हो नहीं पायेगा।

'सत्त्वे प्रवृद्धे', सत्त्वगुण जब उद्भूत होवे, रजोगुण-तमोगुण को दबा कर बढ़ा हो 'तदा' मरण काल में भी जब वही वृत्ति रहे तो 'उत्तमविदाम्', हिरण्यगर्भादि की उपासना करने वाले लोग जिस लोक को जाते हैं उन्हें प्राप्त करता है। वे कैसे लोक हैं? 'अमलान्', जहाँ मल नहीं हैं। मल का अर्थ है पाप। जहाँ पाप की प्रधानता नहीं होती है ऐसे लोकों को प्राप्त करता है। जन लोक, तप लोक, सत्य लोक इन सबके अन्दर पाप नहीं हैं। उन लोकों को 'प्रतिपद्यते', प्राप्त करता है।।१४।।

अब रजोगुण बढ़ा होने पर मरने का फल कहते हैं–

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुण बढ़ा रहते मरकर वहाँ पैदा होता है जहाँ कर्मों में आसक्ति वाले लोग होते हैं। और तमोगुण बढ़ा रहते मरा हुआ मूढता वाली योनियों में पैदा होता है।

रजोगुण-तमोगुण का बढ़ा होना भी यावत् जीवन के संदर्भ में ही समझना। यावत् जीवन जो शास्त्रीय कर्म, लौकिक कर्म सब ठीक तरह से करता रहा है। वह जब मरता है तब भी रजोगुण प्रधान रहता है अतः 'कर्मसंगिषु जायते', जहाँ पर कर्म में आसक्त पुरुष हैं वहाँ

पैदा होता है। कर्मों को प्रारम्भ करना रजोगुण का वैशिष्ट्य बतलाया था। 'यह कर लिया, अब वह करूँगा'– हमेशा रजोगुणी के अन्दर यही उत्साह रहता है। कभी भी शम की भावना नहीं आती कि 'बहुत कर लिया, अब क्या करना है!' यही कर्मसंग है। रजोगुण से यहाँ भी कर्म में ही आसक्ति रही है और आगे जो कर्म में आसक्त लोग हैं उन्हीं के बीच पैदा होगा। कर्म-आसक्त लोग मनुष्य होते हैं। शास्त्रीय कर्म में तो मनुष्यों के सिवाय दूसरे का अधिकार ही नहीं है। शास्त्रीय कर्म तो दूसरी योनियों में होंगे ही नहीं। लौकिक कर्म भी पशु-पक्षी के सीमित होते हैं। अब तो लोग मनुष्यों को भी पशु-पक्षी की तरह बनाना चाहते हैं! इसलिये कहते हैं- क्या होना चाहिये? रोटी, कपड़ा और मकान। बस, ये हो गये तो सब हो गया। इसी को उन्नति मानते हैं, विकास मानते हैं। पशु-पक्षियों को किसी तरह से भोजन मिल जाये, सर्दी-गर्मी से बचने के लिये साधन मिल जायें, बस इसी के लिये उनके सारे कर्म हैं। ऐसा ही आधुनिक लोग मनुष्य को बनाना चाहते हैं। जैसे ही ऐसों को नियम से भोजन, सर्दी-गर्मी से बचने की सुविधा हुई कि बस, पड़े रहेंगे। फिर उनके अन्दर कर्म की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, ज्ञान की तो सम्भावना ही नहीं है।

भगवान् ने मनुष्य शब्द स्पष्ट इसलिये नहीं कहा कि मनुष्यों में भी दो भेद हैं। एक, जिन्होंने जीवन में वर्णधर्म को प्राप्त किया है। दूसरे, जिन्होंने ऐसे धर्म नहीं चुने। जहाँ रमणीय योनियों की बात कही है वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य- इनको ही लिया है। और जहाँ अरमणीय योनियाँ कही हैं, वहाँ चाण्डाल, सूकर आदि इस प्रकार की योनियों को कहा है। उन योनियों के अन्दर कर्माधिकार नहीं-जैसा ही है। उनके अन्दर तमोगुण का इतना प्राधान्य होता है कि वे सोचते हैं कि रोटी, कपड़ा और मकान मिल गया तो बस। इस संसार में सुख मिल जाये, यही उनका उद्देश्य है, आगे के लिये उनकी कोई प्रवृत्ति नहीं है। मूढता के कारण पहले तो उनको जँचता ही नहीं है। जँच जाये तो उस कार्य को करने में ज़ोर नहीं लगाते। इसलिये तम जब बढ़ता है, और मरण होता है तब 'मूढयोनिषु जायते'। मूढयोनियाँ- पशु आदि योनियाँ। और जो उस प्रकार के मनुष्य दिखाई देते हैं वे भी पशु के भोगों से ही अपने को कृतकृत्य मानने वाले होने से पशु ही हैं। इसलिये तमोगुण के बढने पर पशु पक्षी योनियों की ही प्राप्ति होती है।।१५।।

जो तीन श्लोकों में कह आये इसे भगवान् फिर संक्षेप में कह देते हैं-

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

शिष्ट जन बताते हैं कि सात्त्विक पुण्यका सत्त्वकार्यभूत मलरहित (सुख) फल होता है, राजस कर्म का दुःखबहुल फल होता है और तामस कर्म का मोहानुविद्ध फल होता है।

'सुकृतस्य', सुकृत अर्थात् शुभ कर्म, सत्त्वगुण के प्रभाव से होने वाला कर्म। उसका फल क्या है? सात्त्विक निर्मल फल है। मल अर्थात् पाप। सात्त्विक पुण्य फलतः भी पापात्मक नहीं होगा।

याद रखना कि पाप की प्रवृत्ति तभी नहीं आयेगी जब शास्त्र को स्वीकार करे। पाप का फल अवश्य मिलेगा, यह शास्त्र से ही पता लगता है। जो लोग प्रत्यक्ष में देखना चाहेंगे उनको दीखेगा नहीं। इसलिये बहुत से लोग कहते हुऐ देखे जाते हैं कि 'कलियुग है, इसमें तो पाप ही फलता है'। पाप का फलन इन्होंने कहाँ देखा? लोक में ही देखा। इससे यही पता लगेगा कि *यहाँ* पाप ही फलता है। परन्तु जिसने शास्त्र की दृष्टि ली है वह तो इस बात को जानता है कि पाप आगे ज़रूर बुरा फल देगा। बिना शास्त्र के अन्दर श्रद्धा किये हुऐ, शुभ कर्म ही करे यह सम्भव नहीं है। शुभ कर्म *भी* तो कर सकता है पर शुभ कर्म *ही* नहीं करता। जब मौका देखता है तब अशुभ कर्म भी कर लेता है। सत्त्वगुण के अनुसार कार्य किये हुऐ हैं तो फल भी सात्त्विक मिलता है अर्थात् जिसमें पाप का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा फल मिलता है। उसी को पहले कहा था, 'उत्तमविदां लोकान्'। हिरण्यगर्भ आदि के उपासक जिस लोक को जाते हैं वहाँ निर्मलता स्वाभाविक है।

'रजसस्तु फलं दुःखम्'। जो रजोगुण के कर्मों में लगा है उसे दुःख मिलता है। लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का प्रारम्भ आदि राजस कर्म हैं। राजस द्वारा किये कर्मों का प्रारम्भ भी फल की अपेक्षा से है, फल के लिये है। लोभ तो है ही फल के लिये कि यह चीज़ बची रहेगी तो हमें फायदा देगी। चूंकि उसके सामने फल है अतः रजोगुण से दुःख की ही प्राप्ति होगी। कर्म कर रहा है, फिर दुःख की ही प्राप्ति क्यों? दुःख का यहाँ मतलब समझ लेना कि क्षणिक सुख मिलने पर भी अधिकतर दुःख है, इसलिये उसे दुःखरूप कह दिया गया। फल की आशा से करोगे और फल नहीं होगा, तो दुःख होगा। फल हो गया तो वह स्थिर नहीं रहेगा तब दुःख होगा। फल की आशा वाले को दुःख अवश्यंभावी है। अतः तात्कालिक क्षणिक सुख होने पर भी, उसको यहाँ दुःख शब्द से कह दिया।

और 'तमसः फलम् अज्ञानम्'। प्रमाद आलस्य इत्यादि का फल तो अज्ञान ही है। अर्थात् ज़्यादा अविवेक बढ़ता जायेगा। यहाँ अज्ञान का मतलब मूल का अज्ञान, मूलाज्ञान नहीं बल्कि अज्ञान का कार्य। अज्ञान अर्थात् अविवेक। अविवेक के कारण उसके अन्दर प्रमाद मोह बढ़ते ही रहेंगे, यही उसका फल होगा।

मनुष्य जन्म के अन्दर ही दुःखबहुल होने पर भी, सुखलव होते हैं इसलिये पूर्व श्लोक में 'कर्मसंगिषु जायते' कह दिया था। और मूढ योनियों के लिये यहाँ अज्ञान कह दिया।।१६।।

गुणों के स्वभावानुसार ही पूर्वोक्त फल मिलते हैं यह समझाते हैं-

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वगुणसे ज्ञान पैदा होता है। रजोगुणसे लोभ (आदि) होते ही हैं। तमोगुणसे प्रमाद, मोह और विवेक का अभाव - ये ही होते हैं।

'सत्त्वात्' जब सत्त्वगुण बढ़ता है, 'तब ज्ञान सञ्जायते'। जैसा भगवान् ने कहा था, 'सर्व-

द्वारेषु'; अतः सत्त्व बढ़े व्यक्ति की जो बाह्य प्रवृत्ति होगी, वह भी विवेक पूर्वक होगी। उसमें भी उसका अविवेक नहीं रहेगा। और जो शास्त्रीय प्रवृत्ति होगी वह तो होगी ही विवेकपूर्वक। अविवेकी को तो पहले यही समझ में नहीं आयेगा कि शरीर के मरने के बाद कोई फल भोगने वाला कैसे बचेगा? अतः अविवेकी की परलोकार्थ प्रवृत्ति ढंगसे होना संभव नहीं।

जब रजोगुण की प्रधानता होती है तब लोभ होता है। सत्कार्य के अन्दर द्रव्य का व्यय न करना और जो अपने पास है वह कभी जाये नहीं इसकेलिये हमेशा प्रवृत्त होते रहना- दोनों ही लोभ शब्द से समझ लेना। और तमसः, तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं। प्रमाद- असावधानता। मोह- मूढता और अज्ञान- सर्वथा अविवेक होना। ये तमोगुण के बढ़ने पर होते हैं।१७।।

फलों के भेदों का संग्रह करने केलिये सामान्यतः विभाजन करते हुए उपसंहार करते हैं-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्त्वगुण के अनुसार कर्म-उपासना आदि करने वाले ऊँचे लोकों को जाते हैं, रजोगुणानुसारी चरित्र वाले मध्य में रहते हैं; निकृष्ट गुण अर्थात् तमोगुण के अनुरूप आचरण वाले तामसी लोग नीची योनियों में पैदा होते हैं।

'सत्त्वस्थाः' मायने सत्वगुण के व्यवहार में जो स्थिर हैं, सात्त्विक व्यवहार में जो स्थित हैं वे ऊपर अर्थात् महः जनः तपः इत्यादि लोकों को जाते हैं। सत्त्वगुण में स्थित होने का मतलब है सत्त्वगुण के कार्यों में स्थित होना। और 'राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति'। रजोगुण में जो स्थित हैं, अर्थात् रजोगुण के कार्यों में जो लगे हुए हैं वे मध्य में, भूलोक मध्य में है, इसलिये मनुष्य लोक में ही रहते हैं। और 'तामसाः' जो तमोगुण वाले हैं वे 'जघन्यगुणवृत्तिस्थाः' अत्यन्त हीन गुण के कार्यों में आसक्त होते हैं जैसे नशा करना, शराब पीना, मांस खाना, दूसरों को दबाना, हमेशा दूसरों की निंदा करना। अगर किसी के बारे में अखबार में निकलता है कि 'यह मंत्री चोर नहीं है', तो सब कहते हैं कि 'अन्दर से सब चोर होते हैं, ये तो सब ऊपर की बातें हैं'। और किसी के बारे में पता चलता है कि घूस लेता है, तो सबको झट विश्वास हो जाता है कि ज़रूर घूस लेता होगा। यह तमोगुण का प्रभाव है- किसी कि अच्छाई न जँचना और बुराई खट जँच जाना। जघन्यगुण वृत्त में, व्यवहार में जो स्थित हैं वे 'अधो गच्छन्ति', नरक आदि योनियों में या पशुआदि योनियों में जाते हैं। इस प्रकार से भगवान् ने यहाँ पर गुणों और उनके फलों का प्रतिपादन किया।

एक प्रश्न उठता है कि भगवान् ने सातवें में (७.१३;१८.४०) कहा था कि संसार में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसके अन्दर त्रिगुण न होवें, और यहाँ सुख-दुःख और मोह को अलग करके कहा है, तो दोनों में विरोध क्यों नहीं? यदि सब त्रिगुणात्मक है तो लोभ भी त्रिगुण होना चाहये, ज्ञान भी त्रिगुण होना चाहिये, प्रमाद मोह इनमें भी त्रिगुणता होनी

चाहिये। इसका उत्तर समझ लेना चाहिये - विज्ञान में एक नियम है कि विचारणीय स्थल और व्यवहारोपयोगी स्थलों में भेद मानकर व्यवस्थायें बनायी जाती हैं। शुद्ध जल तुमको कभी नहीं मिलेगा, सामान्य संसार के व्यवहार में तो शुद्ध जल कभी नहीं मिलेगा। बिलकुल शुद्ध हाइड्रोजन व ऑक्सिजन को लेकर बिलकुल वायुरहित स्थान के अन्दर उनमें विद्युत् संचार से शुद्ध जल पैदा कर सकते हैं। परन्तु यदि तुम व्यवहार में जल को देखोगे तो हमेशा उसमें दूसरी चीज़ें मिली हुई होंगी। अतः वैज्ञानिक उस जल के बारे में कहते हैं कि वह सर्वथा स्वादरहित होता है। हमें तो या खारा या मीठा जल मिलेगा। किन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि से खारापन या मिठास जल का नहीं, उसमें मिले अन्य पदार्थों का है। इसीलिये केवल जल के स्वभाव के निर्णयार्थ वे वैसा शुद्ध जल बनाकर परीक्षण करते हैं। इस प्रकार जितनी चीज़ें हैं, उन सबको ठीक प्रकार से समझने के लिये अलग-अलग करके देखना पड़ता है। जिसे लोक में सर्वथा शुद्ध सोना कहते हैं- स्विस बैंक से मिलता है- उस पर भी 'निन्यानवे दशमलव नौ नौ' लिखा रहता है। अर्थात् शतांश तो उसमें भी कोई दूसरा तत्त्व है! व्यवहार में जितनी चीज़ें मिलेंगी, सब मिली हुइ होंगी। परन्तु शुद्ध सोने का स्वरूप समझने के लिये तुमको बिलकुल शुद्ध सोना, जो शतप्रतिशत शुद्ध हो, वही लेकर परीक्षण करना पड़ेगा। इसी प्रकार भगवान् ने जो कहा कि संसार में कुछ भी नहीं है जो त्रिगुणात्मक नहीं है- यह बात है व्यवहार की। क्योंकि जब लेने जाओगे तब ऐसा ही मिलेगा। परन्तु समझने के लिये तो एक-एक को अलग-अलग मानकर उनके स्वरूप और प्रभाव का पता लगाना पड़ेगा। अतः समझाने के लिये यहाँ भगवान् ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण को अलग कर के कहा। व्यावहारिक दृष्टि से तो भगवान् आगे जाकर के सत्रहवें-अठारहवें में बतलायेंगे कि सुख भी तीन तरह का.हैं तामस सुख, राजस सुख भी कहेंगे; वैसे तो सुख सत्त्वगुण से ही होना चाहिये, परन्तु रजोगुण और तमोगुण भी मिला हुआ उपलब्ध होता है। होता तो सत्त्वगुण से सुख है, लेकिन उसके साथ थोड़ा रज मिल गया तो उसका प्रकार बदल जाता है। थोड़ा तमः मिल गया तो उसका प्रकार बदल जाता है। सत्त्व ही प्रधान रहने पर सुख कैसा होता है यह वहाँ सात्त्विक सुख से बतला दिया। इसी प्रकार भगवान् कर्त्ता को, ज्ञाता को, ज्ञान को सब को वहाँ तीनों गुणों वाला बतायेंगे। उसको देखकर या सातवें अध्याय को देख कर विरोध मानने की ज़रूरत नहीं है। यहाँ तो उनका लक्षण केवल शुद्धरूप समझने के लिये बतलाया है। व्यावहारिक रूप आगे भगवान् को विस्तार से बतलाना है। इसलिये यहाँ सत्त्वस्थ का मतलब भी वैसा ही समझना- किंचित् रजोगुण-तमोगुण तो सारे व्यक्तियों में रहेंगे ही। इसी प्रकार से तामस लोग अधिकतर जघन्य वृत्त में ही रहते हैं। कभी-न-कभी किसी से जघन्य कार्य हो जाता है, इतने से वह जघन्य गुण के वृत्त में स्थित नहीं होता। ग़लती करना मनुष्य का स्वभाव है। उतने मात्र से वह ग़लत वृत्तस्थ नहीं होता। जैसे जीवन में एक बार युधिष्ठिर ने आधा झूठ बोला। पूरा झूठ तो नहीं बोला, आधा झूठ बोला। लेकिन झूठ का सम्बन्ध तो हो ही गया! फिर भी युधिष्ठिर को सत्यवादी कहना बन्द नहीं किया जा

रहा क्योंकि वे सत्य के वृत्त में स्थित रहे। प्रकृति से अपना अविवेक होने पर संसरण अवश्यम्भावी है। प्रकृति अर्थात् उसके कार्य शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, इनसे एकता का अनुभव मिथ्या ज्ञान है, अभिमान है जो जन्म-मृत्यु- प्रवाह से निकलने नहीं देता। शरीर आदि को जो अच्छा-बुरा होता है उसे 'मुझे ही हुआ' ऐसा इस अविवेकमूलक अभिमान से ही समझा जाता है। इसीलिये भोग्य विषयों से हम बँधते हैं। विषयों का सम्पर्क तो देहादि से ही है, आत्मा से है नहीं, पर देहादि में अभिमान से आत्मा विषयों को अपने से सम्बन्ध वाला मानकर उनसे बँधता है। शरीरादि के सुख-दुःख- मोह से अभिमानवश ही खुद को सुखी-दुःखी-मोही समझता है। यही प्रकृति से संग है, आसक्ति है। इसी से अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः जन्म-मृत्युप्रवाह से छूटने के लिये यह संग समाप्त करना ही एकमात्र उपाय है। इसी सम्यक् दर्शन का वर्णन भगवान् करते हैं-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१६।।

विद्या पाकर सही समझ वाला जब देखता है कि कर्म करने वाला गुणों से अन्य नहीं है तथा गुणों से परे जो उनका साक्षी है उसका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे मेरे स्वरूप का अधिगम (ज्ञान) हो जाता है।

'यदा' अर्थात् ज्ञान होने पर 'शरीर आदि मैं हूँ' यह मिथ्या ज्ञान हट जाता है और समझ आता है कि कार्य-करण-विषय के आकारों को लिये हुए गुण ही कर रहे हैं, इनसे अन्य जो वस्तु वह कर्ता नहीं है। आत्माकी उपस्थिति में करते हैं पर करते गुण ही हैं, आत्मा करता नहीं है। अनात्मा ही सब करता है। जब इसे 'अनुपश्यति'; अनु अर्थात् पश्चात्, ज्ञान की दृढता हो जाने पर, ज्ञान की दृढता होने के पश्चात्। पहले समझ में तो आ जाता है, लेकिन समझ में आने पर भी यह बात अपने को ठीक लगती नहीं। लगता तो है कि मन दुःखी हुआ तो मैं दुःखी हुआ; केवल सोचकर समझता हूँ कि मैं दुःखी हुआ इसको जानने वाला द्रष्टा अलग है।

ठीक जिस प्रकार से किसी को रस्सी में साँप दीख गया; किसी अत्यन्त विश्वासी आदमी ने कहा 'यहाँ मैंने रस्सी रखी थी वही साँप जैसी दीख रही है'। वह आदमी विश्वासी है, इसलिये यह निश्चय तो है कि रस्सी साँप दीख रही है परन्तु फिर भी दीखता साँप है। पहले की तरह भय तो नहीं होता है परन्तु फिर भी दीख तो साँप रहा है। रस्सी है- यह जानकार के कहने से श्रद्धा पूर्वक *मान* तो लिया पर जानना अभी केवल सर्प का ही हो रहा है। जब साफ प्रकाश के अन्दर रस्सी देख ली, तब साँप दीखना भी बन्द हो जाता है, रस्सी दीखती है, साँप नहीं दीखता। जिस जगह साँप दीख रहा था उसी जगह अब रस्सी दीख रही है।

इसी प्रकार से अभी मान तो लेता हूँ कि 'मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ' परन्तु जानता तो हूँ कि मैं शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि हूँ। जो शुद्ध मैं है, निर्मल मैं है, सच्चिदानन्द रूप

है, उस सच्चिदानन्द रूप शुद्ध मैं के अन्दर ही हमें देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थ इत्यादि सब दीख रहे हैं। यही अनुभव है कि 'मैं ऐसा हूँ'। जब श्रुति ने कहा, गुरु ने समझाया तो वेद पर, गुरुपर श्रद्धा होने के कारण, यह तो पता लग गया कि मैं सचमुच में शरीर नहीं हूँ। परन्तु फिर भी मैं दीखता तो गोरा, काला, लम्बा, मोटा ही हूँ; ऐसा ही मैं अपने को देखता हूँ। उसके बाद अमानित्वादि गुणों का अभ्यास करके, जब ज्ञान की दृढता होकर ब्रह्माकार वृत्ति बन गई और ब्रह्माकार वृत्ति के प्रकाश में 'मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ', ऐसा दृढ बोध हो गया तब 'मैं शरीर हूँ, मैं गौरा-काला हूँ' यह ज्ञान नहीं होता, 'मैं सच्चिदानन्द हूँ'- यही ज्ञान होता है। शरीर के सुखी-दुःखी होने पर मैं सुखी-दुःखी हुआ- ऐसा बोध नहीं होता। मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ- ऐसा ही बोध होता है। यद्यपि ऐसा बोध योगाभ्यास से भी होता है, निर्विकल्प समाधि में द्रष्टा की स्वरूपस्थिति होती है, तथापि चूंकि समाधि या ध्यान ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, अतः जब-जब समाधि का अभ्यास करेगा तब-तब अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रतीति होगी, पर जब-जब व्युत्थान होगा, व्यवहार करेगा, तब फिर शरीर आदि की प्रतीति होगी। परन्तु तत्वमस्यादि महावाक्य के श्रवण और मनन कर लेने पर, अमानित्वादि के द्वारा वह ज्ञान स्थिर हो जाने पर, फिर व्यवहार काल में शरीर इत्यादियों को कर्त्ता देखते हुऐ भी 'मैं कर्त्ता' ऐसा बोध नहीं होता। इसलिये कहा 'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति'। गुणों से वह सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। गुणों से पर अर्थात् व्यतिरिक्त है।

चूंकि गुणों से वह सर्वथा भिन्न है, इसलिये गुणों के व्यापार सुख-दुःख-मोह का वह केवल साक्षी है, उन्हें देख रहा है। इस प्रकार से जिसका ज्ञान दृढ हो जाता है 'सः' अर्थात् ऐसा विद्वान् 'मद्भावम् अधिगच्छति' मेरा जो भाव है अर्थात् मैं जो सच्चिदानन्द हूँ उसको ही अधिगत करता है, उसी को हर समय जानता है। उसे मालूम रहता है कि 'मैं सच्चिदानन्द हूँ और गुण ही कार्य-करण-संघात के रूप में क्रिया कर रहे हैं।' 'कर्त्ता' से यहाँ भोक्ता भी उपलक्षित है। क्योंकि जैसे गुणों के द्वारा कर्तृत्व है वैसे ही गुणों के द्वारा भोक्तृत्व है। गुण सब करते-भोगते हैं, प्रत्यगात्मरूप मैं केवल उसका साक्षी मात्र हूँ, वहाँ हूँ, बस इतना ही है। यह दृढ बोध का रूप भगवान् ने बतला दिया कि ऐसा जानकार मेरे भाव को प्राप्त होता है।

ईश्वर सारी सृष्टि करता है, परन्तु उसे अज्ञान नहीं होने से उसे यह मिथ्या बोध नहीं होता कि 'मैं कर रहा हूँ।' वह जानता है कि 'यह तो माया कर रही है, मेरी उपस्थिति से कर रही है, यह ठीक है, परन्तु हो सब कुछ माया में रहा है।' इसलिये हिन्दी में किसी ने कहा है, 'बाबा के दरबार में माता का ही राज'। है तो यह भगवान् शंकर का दरबार लेकिन वे तो साक्षिभाव से स्थित हैं। करने-धरने वाली सारी माया ही है। ईश्वर के बिना माया नहीं कर सकती, इतने मात्र से ईश्वर सृष्टि, स्थिति, लय को करने वाला कहा जाता है।।१६।।

यह अधिगति कैसे होती है यह बताते हैं-

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

(अज्ञावस्थामें जो) देहधारी (है वही) देह के हेतुभूत इन तीन गुणों से परे होकर जन्म-मृत्यु- जरा-दुःखों से छूटा हुआ अमृत हो जाता है।

'एतान् गुणान्', इन गुणों और गुणों के कार्यों को। गुण अर्थात् प्रकृति। तीन गुण स्पष्ट हो जायें इसलिये 'गुणान्' कह दिया। तमोगुण को पहले रजोगुण से दबाना पड़ता है। फिर रजोगुण को सत्त्वगुण से दबाना पड़ता है। फिर सत्त्वगुण को गुणातीत रूप से निवृत्त करना पड़ता है। तमोगुण से कोई चाहे 'सीधा मैं गुणों को अतीत कर जाऊँ' तो ऐसा नहीं हो सकता। अमानित्वादि का जो प्रतिपादन किया गया है वह इसीलिये कि वह सत्त्वगुण है। है तो सब व्यवहार, पर उन व्यवहारों में सत्त्व की प्रधानता है। सत्त्व की प्रधानता हो जाने पर ही साधक गुणों का अतिक्रमण करता है।

गुण कैसे हैं? 'देहसमुद्भवान्'। देह को उत्पन्न करने वाले हैं। देह है समुद्भूत इनसे ऐसे ये गुण हैं। पहले कह आये हैं कि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः, अधो गच्छन्ति तामसाः' अतः सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के कारण ही अच्छी बुरी योनियों में जन्म हुआ, गुण ही शरीर के प्रति कारण पड़े। जो गुणों का अतिक्रमण कर गया, गुणों से परे चला गया, अतः अब गुण उसका कुछ नहीं कर सकते, अतः उसको जन्मान्तर की प्राप्ति नहीं होती। 'देही'; देही इसलिये कहा कि देह में रहते हुए ही, अर्थात् जीवित रहते हुऐ ही इन गुणों का अतिक्रमण करना है। यह कहकर योगज समाधि से इस स्थिति को अलग बतला दिया। योगज समाधि में देह का सर्वथा भान नहीं होता। ज्ञान-समाधि के अन्दर देह की प्रतीति होने पर भी यह स्थिति रहती है। यह नहीं कह रहे हैं कि ज्ञानी समाधिस्थ नहीं होता। केवल यह कह रहे हैं कि ज्ञानी का ज्ञान समाधि के अधीन नहीं है। समाधि होने पर जो ज्ञान उसको है, व्युत्थान काल में भी वह ज्ञान उसको है। देही, ज़ीवित रहते हुऐ ही, जो इन को पार कर जाता है वह जन्मादि से परे हो जाता है। गुणसंगसे ही जन्म होता है, गुणसंग न रह जाने पर उसका जन्म होगा नहीं। अतः मृत्यु को भी पार कर गया, क्योंकि जन्म नहीं होगा तो आगे मृत्यु की भी प्राप्ति नहीं है।

शंका होती है कि अब पैदा हुऐ हैं तो एक बार मरना ही पड़ेगा, उसके बाद भले ही जन्म नहीं होगा तो नहीं मरेंगे? परन्तु भगवान् तो यहीं मृत्यु से मोक्ष कह रहे हैं। मृत्यु का मतलब है प्राण शरीर को छोड़ कर कहीं जावें। ज्ञानी का आगे जन्म नहीं होना है तो प्राण शरीर को छोड़ कर कहाँ जायेगा? प्राण शरीर को छोड़े, तब मृत्यु होवे। ज्ञानी तो पहले ही प्राणरूप जो गुण का कार्य है उससे अलग हो चुका है। इसलिये 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' उसके प्राण कहीं जाते नहीं हैं। प्रारब्ध समाप्त होने पर, आगे प्राणों का कोई कार्य बाकी रहा नहीं, इसलिये प्राण वहीं खत्म हो जाते हैं। जिस प्रकार से लौकिक भाषा में कहते हैं–

बिजली चली गई। बिजली कहीं *जाती* तो है नहीं! बिजली आना बन्द हो गया, बस इतने मात्र को ही 'बिजली चली गई' कहते हैं। बिजली कोई द्रव्य तो नहीं कि यहाँ से बाहर भाग गई! जिस प्रकार से बिजली आना बन्द हो गया, वैसे ही प्रारब्ध खत्म हो जाने पर प्राण को चलाने वाली कोई चीज़ रही नहीं। इसलिये प्राण नहीं चलता है तो लौकिक लोग कहते हैं, 'इसके प्राण चले गये'। उसके प्राण *गये* कहीं नहीं, बस प्राण चलना बन्द हो गये, इतना मात्र ही है। इसलिये ज्ञानी की यहीं मृत्यु नहीं है। बार-बार वेद और यहाँ भगवान् भी गीता में कहते हैं, कि यहीं पर मृत्यु को खत्म कर देना चाहिये। अर्थात् जीते हुऐ ही यदि तुम दृढता से. प्रत्यगात्मरूप में स्थित हो गये तब तो मोक्ष स्थित है अन्यथा कोई आशा नहीं। किसी ने इसीलिये कहा है कि मृत्यु से केवल डरो मत, उससे बचने का उपाय कर लो। उपाय यही है कि अजन्मा बन जाओ!

'मृत्त्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मृत्त्युर्न मु चति।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि ।।'

अगर मृत्यु से डरते हो तो उससे बचने का तरीका क्या है? डरने से तो मृत्यु छोड़ेगी नहीं। उपाय सचो। उपाय क्या है? जिसने जन्म नहीं लिया उसको मृत्यु मार नहीं सकती। जन्म लेने पर ही मृत्यु आयेगी। इसलिये जन्म-रहितता जो अपना स्वरूप है उसे पा लो। ज्ञान का स्वरूप जब हो जाता है कि 'जन्म लेने वाला मैं नहीं' तब अजन्मा भाव पा लिया गया। जिसने यहीं इस बात को जान लिया कि 'मेरा जन्म नहीं हुआ' वही मृत्यु से बचेगा। ऐसा नहीं है कि इस जन्म के बाद जन्म नहीं *होगा* ।यह जन्म ही नहीं हुआ है! क्योंकि शरीर मन के जन्म लेने से उसके साथ तादात्म्य के द्वारा भ्रम ज्ञान है कि 'मै जन्मा था'। जैसे सर्प जहाँ दीख रहा था, वहाँ जब रस्सी दीखती है, तब ज्ञान यह नहीं होता कि 'प्रकाश देख कर सर्प भाग गया'। ज्ञान होता है, 'जिस समय सर्प दीख रहा था, उस समय ही सर्प नहीं था।' इसी प्रकार यहाँ ज्ञान होता है कि 'जब मैंने अपने जन्म दिन को मनाया था तब भी मैंने जन्म नहीं लिया था। मिथ्या रूप से जन्म प्रतीत हो गया था।'

जन्म-मृत्यु- जब ये आदि और अन्त दोनों नहीं हैं, तब मध्य में होने वाले जरा आदि स्वतः ही नहीं हैं। युवा आदि अवस्थाओं को इसलिये नहीं गिनाया कि प्रायः करके आत्मज्ञान होते-होते, मनुष्य की जवानी बीत जाती है! इसलिये जरा को गिनाया, युवा और बाल्य अवस्था को छोड़ दिया। ज्ञानी जीर्णता के बारे में भी अनुभव, शरीर के अन्दर होते हुऐ ही जानता है, 'मैं जीर्ण नहीं हूँ, शरीर जीर्ण है'। इसी प्रकार उसे मालूम है कि और जो बीमारी इत्यादि के दुःख हैं, उन दुःखों वाला भी मैं नहीं हूँ, कभी हुआ ही नहीं। 'अब नहीं हूँ' ऐसा नहीं, कभी भी मुझे दुःख हुआ ही नहीं यह बोध होता है। इन सबसे 'विमुक्ताः' छूट कर 'अमृतमश्नुते', ऐसा जो ब्रह्मविद्वरिष्ठ वह अमृत भाव की प्राप्ति कर लेता है। इसके द्वारा आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति को बतला दिया। आत्यन्तिक इसलिये कि जब मिथ्या ज्ञान था, तब भी *हुआ* नहीं था। आत्यन्ति दुःखनिवृत्ति, तो इससे बताला दी और परम आनन्द की

प्राप्ति अमृत से बतला दी। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति–पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति– यही विद्वान् की स्थिति है। 'अश्नुते' का मतलब यहाँ अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। पूर्व श्लोक में कहा था, 'मद्भावं' अर्थात् प्रत्यगात्मा के स्वरूप में, सच्चिदानंद स्वरूप में स्थित होता है। इसी प्रकार यहाँ परमानन्द की प्राप्ति, अर्थात् परमानंदरूप से स्थित होता है। किसी अप्राप्त आनन्द को प्राप्त करता है ऐसा नहीं, वरन् आनन्दरूप से स्थित होता है। दोंनो कहकर यहाँ मोक्ष का स्वरूप बतला दिया। बहुत से ऐसे लोग हैं जो मोक्ष में दुःख की निवृत्ति तो मानते हैं पर आनन्द की प्राप्ति नहीं मानते। परन्तु वेदांतों में और यहाँ गीता में भी दोनों बातें कही हैं। आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति अर्थात् कभी भी दुःख न हुआ, न है, न होगा। और आनंदरूप की प्राप्ति अर्थात् आनन्दरूप ही था, आनन्दरूप ही हूँ और आनन्दरूप ही रहूँगा। मैं ब्रह्म हूँ 'अहम् ब्रह्मास्मि', ब्रह्म कैसा है? आनन्दस्वरूप है, इसलिये मैं स्वयं आनंद हूँ। 'अमृतमश्नुते' और 'मद्भावमधिगच्छति' दोनों को मिला कर समझना चाहिये ।।२०।।

जब कहा कि जीते हुऐ ही गुणों को पार करके अमृतभाव में स्थित हो जाता है, तब इच्छा उठना स्वाभाविक है कि जिसने गुणों को जीत लिया उसके बारे में कुछ समझें। अतः अर्जुन प्रश्न करता है–

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतान् अतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ।।२१।।

प्रभो! इन तीन गुणों को लाँघा हुआ व्यक्ति किन चिह्नों से संपन्न होता है? वह कैसे आचार वाला होता है? और इन तीनों गुणों को किस प्रकार लाँघता है?

लिंग कहते हैं जिसका जिसके साथ हमेशा ही सम्बन्ध रहे। धुएँ का आग के साथ हमेशा सम्बन्ध रहता है, जहाँ भी धुआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसलिये धुएँ को आग का लिंग कहा गया है। धुएँ को देखकर आग का पता लगता है। इसी प्रकार इन तीन गुणों को जो पार कर जाता है उसके लिंग का प्रश्न है। 'एतान्' अर्थात् जिनका प्रसंग चल रहा है। सुखी दुःखी मोही इत्यादि रूप से सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण का अनुभव है। इन तीनों गुणों से 'अतीतो भवति' अतिक्रान्त हो जाता है। 'इतः' अर्थात् जो चला गया। 'अतीतः' अर्थात् ऐसा गया कि जब पूर्व में वहाँ दीख रहा था तब भी नहीं था! इसलिये अतीत कहा। ज्ञानी का अनुभव यह नहीं होता है कि 'मैं पहले अज्ञानी था और अब ज्ञानी हो गया।' ऐसा अनुभव नहीं होता। यह अनुभव बुद्धि का (या अहंकारात्मिका वृत्ति, जो बुद्धि से मिली हुई है, उसका) तो होगा परन्तु साक्षी का नहीं होगा। साक्षी जानता है कि जिस समय मैं अपने को गुणों वाला समझ रहा था, तब भी नहीं था। ठीक जिस प्रकार से, किसी ने बैंक में टेलिफोन किया 'हमारे खाते से बीस हज़ार रुपये भेज दीजिये।' बैंक से बीस हज़ार रुपये जेब में डालकर वहाँ का कार्यकर्ता एकाउण्टैन्ट चल देता है खातेदार को बीस हज़ार रुपये

देने के लिये। परन्तु जेब में रखे हुऐ रुपयों को भी वह नहीं समझता कि 'ये मेरे रुपये हैं।' जानता है कि बैंक के रुपये हैं और उस आदमी को देने हैं। 'मेरे रुपये हैं', यह भ्रम नहीं होता। अगर यह भ्रम कर लेवे तो अपराधी ही माना जायेगा। ठीक इसी प्रकार से प्रत्यगात्मा के रहते हुऐ, ये गुण सब कार्य करते हैं। प्रत्यगात्मा इसमें मिथ्या प्रत्यय कर लेता है कि 'यह अश्वमेध यज्ञ मैंने किया', तो फिर उसे स्वर्ग में जाना पड़ता है। स्वर्ग के ऊपर राक्षसों का आक्रमण होता है, तो देवताओं को छिपने के लिये भागना भी पड़ता है। यहाँ तक कि इन्द्र को एक बार गधा होकर रहना पड़ा था! यह सब क्यों? 'मैंने अश्वमेध किया है' इस भ्रम के कारण। जिसने यह भ्रम किया उसी को भागना पड़ता है, गधा होना पड़ता है। जिसने इस बात को समझ लिया, कि 'अश्वमेध यज्ञ करने वाले तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि हैं। मैं तो केवल साक्षिरूप हूँ', उसको न स्वर्ग जाना पड़ेगा और न राक्षसों के डर से भागना पड़ेगा।

जैसे अश्वमेध यज्ञ कर के, वैसे ही पाप करके नरक भी जाना पड़ता है। प्रायः लोगों का ऐसा स्वभाव होता है कि ग़लत काम करने पर तो कहते हैं, 'क्या करूँ, संस्कारों के कारण किया। मेरा बाप ठग था, इसलिए बचपन से मेरे में ठगी करने के संस्कार हैं तो मैं ठग बन गया। मैं इसमें क्या कर सकता हूँ!' पाप के कार्यों को तो फल भोगने के डर से मनुष्य कह देता है कि गुणों ने किया। परन्तु जो सुख देने वाले अश्वमेध आदि हैं उनको करके यह बोध नहीं होता कि 'मैंने नहीं किया'। तुम लोगों को सिखाने के लिये बेचारे पंडित जी कर्म के अन्त में कह भी देते हैं कि 'तुमने महामृत्युंजय का जप किया, अब कहो श्रीकृष्णार्पणमस्तु।' और यजमान बोल भी देता है श्रीकृष्णार्पणमस्तु अर्थात् सब कुछ भगवान् के लिये है। फिर छह महीने के बाद पूछता है, पंडित जी से 'क्या आपने मृत्युंजय का जप पूरा किया था?' पंडित जी कहते हैं 'हाँ मैंने तो किया था। तुम्हें सन्देह क्यों हुआ?' 'फल तो हुआ नहीं, मेरी व्याधि तो गई नहीं, रोग तो गया नहीं।' 'अरे! तुमने तो कह दिया था, 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'। अब उसके फल को अपने लिये क्यों देख रहे हो? भगवान् की जो मर्ज़ी सो करे'। इस प्रकार शुभ कर्म के कर्तृत्व का परित्याग बड़ा कठिन है। परन्तु जो गुणों को अतिक्रान्त कर जाता है, वह शुभ-अशुभ दोनों से परे हो जाता है।

'हे प्रभो'! अर्जुन का तात्पर्य है– मैं जिज्ञासु हूँ और आप इस सारे संसार को उत्पन्न करने वाले हैं, इसको स्थित रखने वाले हैं, इसका संहार करने वाले हैं। प्रभु अर्थात् जो प्रकर्ष से होता है। सर्ग भी होता है, स्थिति भी होती है, प्रलय भी होता है। ये सब आप के होने से होते हैं इसलिये आप प्रभु हैं। अतः मेरे प्रश्न का जवाब देने में आप ही समर्थ हैं। और कोई इस बात का जवाब नहीं दे सकता।

'किमाचारः' गुणों से जो अतीत है उसका आचार क्या है? क्या व्यवहार करता है? इस प्रकार लिंग, चिह्न और आचार– दोनों तरह से अर्जुन ने गुणातीत के बारे में पूछ लिया है। यद्यपि द्वितीयाध्याय में स्थितप्रज्ञ के प्रसंग में और बारहवें अध्याय में भगवद्भक्त के प्रसंग

में इन बातों को कह आये हैं तथापि स्पष्टतार्थ प्रश्न है। तीनों जगह जो लक्षण आये हैं, ये सारे के सारे दृढ ज्ञानी के हैं। विषय अतिगंभीर होने के कारण अर्जुन पुनः पूछता है और पुनः भगवान् जवाब देते हैं। इससे भगवान् यह आदर्श दिखा रहे हैं कि धैर्यपूर्वक शिष्य की जिज्ञासा मिटाने के सब प्रयास करने ही चाहिये। गुरु स्वयं को ईश्वर से अभिन्न जानता है अतः ईश्वर की तरह ही करुणावान् होकर शिष्यको यथावश्यक आवृत्तिपूर्वक उपदेश दे यही उचित है। आचार्य शंकरने भी कहा है कि यद्यपि आचार्य कृतार्थ होता है, उस पर कोई विधि लागू नहीं होती, तथापि सच्छिष्य मिलने पर उसे अविद्या-सागर से तारने का पूरा प्रयास करे यही गुरु के लिये उचित है। अन्त में 'कथं गुणान् अतिवर्तते' से गुणातीत होने का उपाय भी पूछा।।२१।।

अब भगवान् जवाब देते हैं। किन लिंगों से गुणातीत का पता लगता है, पहले उसको कहते हैं-

श्रीभगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।२२।।

हे पाण्डुपुत्र! सत्त्वकार्य प्रकाश (ज्ञान), रजःकार्य प्रवृत्ति, और तमःकार्य मोह- ये पूरी तरह प्रकट हों तो भी इनसे द्वेष नहीं करता और हटे हों तो इन्हें चाहता नहीं।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि ये लिंग अपने मन बुद्धि के ही द्वारा पता लगते हैं। दूसरे के अन्दर चूँकि हम उसके मन-बुद्धि को नहीं देखते अतः ये लिंग निश्चित नहीं होते। लिंग तो जहाँ देखा जाये वहीं माना जाता है। अपने मन-बुद्धि के अन्दर ही ये लिंग निशचित रूप से देखे जा सकते हैं। दूसरे के मन-बुद्धि का प्रत्यक्ष दूसरे को नहीं होता। अतः भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि इन लिंगों को स्वयं में खोज कर अपनी स्थिति पता लगा लेनी चाहिये। जिस प्रकार से अपनी आँख के सामने जो चीज़ होती है वही अपने को दीखती है। पीठ पीछे क्या हो रहा है यह अपने को दीखता नहीं क्योंकि नेत्र में ऐसी सामर्थ नहीं। इसी प्रकार से जब तक देह के साथ सम्बन्ध है तब तक इस मन-बुद्धि का तो प्रत्यक्ष भान होता है। दूसरे के मन बुद्धि का प्रत्यक्ष भान है नहीं। दूसरे के मन-बुद्धि का भान न होने पर भी, शरीर को देख कर हम मन-बुद्धि की कल्पना करते हैं। शरीर का हमें प्रत्यक्ष होता है और उससे हम मन-बुद्धि की कल्पना करते हैं। शरीर हँसता हुआ दीखता है तो हम उस व्यक्ति को प्रसन्न समझ लेते हैं। शरीर रोता हुआ दीखता है तो हम उसको दुःखी मान लेते हैं। यह कहीं ठीक बैठता है, कहीं नहीं भी बैठता। बहुत बार मन में आदमी बड़ा प्रसन्न है पर बाहर से दुःख व्यक्त करता है। चार साल से पत्नी बिस्तरे में पड़ी है, उसका टट्टी पेशाब सब हमको साफ करना पड़ता है, दिन में दस बार तक साफ करना पड़ता है। ऐसा चलता रहने पर, मन में यही होता है कि 'यह पड़ी पड़ी बड़ा कष्ट पा रही है, अब यह कष्ट से छूट जाये तो ठीक है।' यही प्रार्थना करते हैं। हम लोगों को तो मुहँ से कह देते हैं

'महाराज! अब इसका कष्ट खत्म हो जाये।' हमारे मन के अनुरूप ही कार्य हुआ, वह औरत मर गई। फिर भी उसके मरने पर रोते दीखते हैं! दूसरे लोग समझेंगे कि बड़ा दुःखी हो गया। पत्नी मरने के बाद यदि ताली पीट करके हँसने लग जाये, 'अच्छा हुआ भगवान् ने उठा लिया', तो लोग निंदा ही करेंगे। इसलिये अनुकूल कार्य होने पर भी वह रोता ही दीखता है। जिसने उसकी पहले की प्रार्थना नहीं सुनी है, वह तो समझता है कि महान् दुःखी हो गया, इतनी बुरी तरह से रो रहा है। परन्तु जिसने उसकी पहले की प्रार्थना सुन ली है वह जानता है, कि दुःख तो ऐसे ही प्रकट कर रहा है।

इसी प्रकार तीन गुणों को अतीत करने वालों को यदि हम बहुत पास से दीर्घकाल तक देखें तब तो हमें ये लिंग भी प्रतीत हो सकते हैं। दीखेंगे तो शरीर आदि में। पहले जो पति ने प्रार्थना की वह भी मुँह से बोला, तभी सुनी है। परन्तु वह सुनने के कारण हम जानते हैं कि यह रोते हुऐ भी रो नहीं रहा है। इसलिये जो गुणातीत है, दीर्घकाल तक उसके साथ रह कर के ध्यानपूर्वक देखोगे तो धीरे-धीरे पता लग जायेगा कि जब उसके अन्दर सुख के प्रति राग या दुःख के प्रति द्वेष दीख रहा है तब भी उसमें सचमुच में नहीं है। परन्तु अपने मन के अन्दर दुःख है या नहीं, यह तो बिलकुल प्रत्यक्ष हो जाता है। जहाँ मन अपना है वहाँ तो हमेशा ही ये लिंग प्रत्यक्ष हैं। दूसरे के मन का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी दीर्घकाल में पता लग जाता है।

'प्रकाशम्' प्रकाश अर्थात् ज्ञान। कौन-सा ज्ञान? सत्त्वगुण का कार्यरूपी ज्ञान। प्रवृत्ति, रजोगुण का कार्य है। और मोह तमोगुण का कार्य है। ये तीनों ही 'सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि'। जब ये सम्प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् विषयभाव से उपस्थित होते हैं तब इनसे निर्विकार रहता है। प्रकाश अपने मनमें विषयरूप से उपस्थित होगा। प्रवृत्ति भी मन में विषयरूप से उपस्थित होगी। और मोह भी अपने अन्तःकरण में साफ दीखेगा कि इस समय मोह हो रहा है। दूसरे में कभी पता लगेगा, कभी ठीक पता नहीं भी लगेगा। ये तीनों ही समय-समय पर उद्भूत होते हैं। पता लगता है कि तमोगुण की प्रतीति, 'मै मूढ हूँ' यह प्रतीति अहंकार को हो रही है। इसी प्रकार जो राजसी प्रवृत्ति हो रही है वह रजोगुण से होने वाली रज की प्रवृत्ति है। जब तक साधक है, तब तक सत्त्वगुण की प्रवृत्ति अच्छी लगेगी, रजोगुण की प्रवृत्ति होने पर वह विचार करेगा कि 'प्रवृत्ति हमेशा दुःखात्मिका दुःखरूप है। अहम् को रजोगुण प्रवृत्त कर रहा है, क्रिया करने वाला बना रहा है। इस तरह मुझे स्वरूप से दूर कर रहा है। यह जो अहम् की प्रवृत्ति हो रही है यह मुझे स्वरूप से दूर कर रही है। मै तो निष्क्रिय हूँ, परन्तु अहम् के अन्दर प्रवृत्ति देख कर मुझे, 'मैं प्रवृत्त हूँ' यह भ्रम हो रहा है। अतः यह दुःखरूप ही है।' अगर प्रकाश होता है सत्त्वगुण का कार्य होता है, तो उसे लगता है 'बुद्धि विवेक कर रही है इसलिये मैं आत्मा-अनात्मा का विवेक कर रहा हूँ। यह भी बुद्धि में ही प्रतीत हो रहा है, अहम् में प्रतीत हो रहा है। परन्तु यह मुझे विवेकी बना कर के, सुखस्वरूप परमात्मा की तरफ ले जा रहा है। प्रवृत्त बुद्धि है।' इस तरह 'अब यह

गुण मुझे स्वरूप की तरफ ले जा रहा है, और अब यह गुण मुझे स्वरूप से चलित कर रहा है' इस प्रकार से विवेकी साधक को पता चलता है। वह विचार करता है 'विवेक कर के मुझे सुख होगा। अर्थात् प्रकाशात्मक प्रवृत्ति सुख में आसक्ति करा रही है। मेरे सुखस्वरूप को यह विवेक प्रकट नहीं करेगा, सुखस्वरूप में स्थित करेगा नहीं। अतः यह भी एक तरह का बन्धन ही है।' साधक सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की प्रवृत्तियों को देखता है पर सत्त्वगुण को भी वह बन्धक ही जानता है क्योंकि सुख के प्रति आसक्ति करता है। 'मैं सुखरूप हूँ' इसको विवेक प्रकट नहीं करता है। इसको तो वेदान्त महावाक्य ही स्पष्ट करते हैं। आसक्ति हमेशा उसमें होती है जो मेरे से अलग हो। आत्मा-अनात्मा का विवेक करके प्रकाशात्मक प्रवृत्ति मुझे आत्मा की तरफ ले जाती है, इतना तो अच्छा है। परन्तु ले जाती है आसक्ति-पूर्वक। कर्मयोग का वर्णन करते हुए भगवान् ने एक जगह कहा था कि कर्मयोग में, मोक्ष की इच्छा भी न रहे यह ज़रूरी है। वह इसीलिये कि इच्छा हमेशा बंधकरी ही होगी। जिज्ञासा बुद्धि की प्रवृत्ति है। स्वरूप में स्थित होना बुद्धि की प्रवृति से नहीं है। अज्ञाननाश से स्वाभाविक रूप में स्वरूपस्थिति हो जाती है। सत्त्वगुण भी इस प्रकार बन्धक ही है।

पार तीनों गुणों को करना है। इसमें एक फ़र्क याद रखना है कि रजोगुण प्रवृत्ति के द्वारा विवेक से दूर ले जाता है जबकि विवेक जिज्ञासा की तरफ ले जाता है। इसलिये प्राचीन लोग एक कथा सुनाते है : किसी को बाँध कर डाकू लोग गान्धार देश में ले गये। लूटकर एक डाकूने उसे मारकर खत्म करने की सोची पर दूसरे को दया आ गयी। अतः उसे मार-पीट कर छोड़ दिया। एक डाकूने उससे कहा 'अरे! तुम्हारे हाथ पैर चोटिल हो गये हैं, मैं तुम्हें रास्ता दिखा देता हूँ।' ले जाकर जो सीधी सड़क थी उसके गाँव आने वाली उस सड़क तक उसको पहुँचाया और कहा 'बस, अब इस सड़क को पकड़ कर सीधे चले जाना, तुम अपने घर पहुँच जाओगे।' उसने सोचा, इसने मेरा बड़ा उपकार किया। कहा 'भाई! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया, चलो घर चलो। तुमको वहाँ कुछ इनाम देंगे। नहीं तो मैं यहाँ मर जाता।' वह हँस पड़ा। उसने कहा 'अरे! हूँ तो मैं भी डाकू ही। तुमको पकड़ कर ले गया था। इसलिये मैं तुम्हारे गाँव में नहीं जाऊँगा। इतनी ग़लती नहीं करूँगा।' क्योंकि वहाँ जाता तो पुलिस पकड़ भी सकती थी! ठीक इसी प्रकार से ये तीन गुण हैं। जैसे एक ने तो कहा 'मार डालो' उसी प्रकार तमोगुण कहता है 'इसको ऐसा मूढ बना दो कि कभी कुछ समझ में ही नहीं आवे'। चार्वाक आदि का यही हाल है। आत्मतत्त्व है - यही नहीं वे लोग मान पाते। ऐसा व्यक्ति आत्मकल्याण के लिये कुछ नहीं कर सकता। रजोगुण कहता है कि 'इसको जन्म-मरण के चक्कर में डाल दो। कभी पुण्य करेगा, कभी पाप करेगा। कभी ऊपर जायेगा, कभी नीचे जायेगा। जान से मारने से क्या फ़ायदा! हम लोगों का यह क्या बिगाड़ सकता है?' रजोगुण मूढ भाव से हटा कर प्रवृत्ति में लगाता है। व्यक्ति पुण्य करता है, पाप करता है, बार-बार जन्मता है, मरता है, स्वर्ग नरक जाता है। धुनाई-पिटाई तो इसकी खुब हो

रही है। परन्तु मरता नहीं है। सत्त्वगुण उसको रास्ता दिखला देता है क्योंकि प्रकाशरूप है। विवेक का रास्ता बतलाता है। उसके द्वारा चल कर के तुम अपने घर पहुँच जाओगे। विवेक के द्वारा जब चलोगे तो अन्त में तुम्हें प्रत्यगात्मा का दर्शन होगा ही, अपने घर पहुँचोगे ही। परन्तु यदि सत्त्वगुण को परमार्थ स्थिति में रखना चाहो तो रहेगा नहीं! बहुत से लोग कहते हैं 'सत्त्वगुण तो अच्छी चीज़ है, यह तो होनी चाहिये।' जैसे वह डाकू रास्ता बताने पर भी गाँव तक नहीं आया, ऐसे ही सत्त्वगुण विवेक ही करायेगा, विवेक स्वयं आत्मज्ञान नहीं करा सकता। आत्मज्ञान तो वेद का महावाक्य ही करवाता है।

इसलिये भगवान् ने कहा कि सात्त्विकादि प्रवृत्तियों को गुणातीत चाहता नहीं। क्योंकि उन्होंने आत्मदर्शन तक पहुँचाया है इसलिये उनसे द्वेष भी नहीं करता। तमोगुण हो, रजोगुण हो, सत्त्वगुण हो, इनमें किसी के प्रति वह द्वेष नहीं करता, वह जानता है कि ये तीनों डाकू हैं। अतः बुद्धि में विवेक आने पर वह खुश नहीं होता है, क्योंकि उसे पता है कि है तो यह भी डाकू ही। सत्कार्य की प्रवृत्ति देखकर भी वह खुश नहीं होता है, क्योंकि वह जनता है कि है तो यह भी डाकू ही। तमोगुण के कार्य को देख कर तो खुशी का प्रश्न ही नहीं उठता है। इन तीनों के प्रति उसको द्वेष नहीं है क्योंकि तीनों ही एक जैसे अनात्मा हैं। और 'न निवृत्तानि कांक्षति'। ये निवृत्त हो जायें ऐसी इच्छा भी नहीं करता। क्योंकि उसके लिये इनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही एक जैसी हैं। वह हमेशा एक कूटस्थ भाव में ही स्थित है। विषयों के प्रति ही नहीं, अन्तःकरण में होने वाले भावों के प्रति भी गुणातीत को राग-द्वेष नहीं होते। प्रवृत्ति हो जाये यह भी वह नहीं चाहता क्योंकि उसे मालूम है कि जो प्रवृत्ति वाला रूप है वह मेरा है ही नहीं। जो विवेकी वाला रूप है वह भी मेरा नहीं है। और मूढभाव तो मेरा नहीं ही है। इसलिये उनके प्रति राग-द्वेष नहीं करता है। जैसे रास्ते में चलते हुए, कोई बढ़िया पेड़ दिखाई देता है फलों से लदा हुआ, किसी के बगीचे में; तो उसके प्रति राग नहीं होता कि 'यह हमेशा ऐसा ही बना रहे ' क्योंकि तुम्हारा तो है नहीं। और कहीं केवल पानी न होने से सूखी हुई घास है, तो उसके प्रति भी द्वेष नहीं होता। 'यह तरो ताज़ा हो जाये' इसके लिये वहीं कमर कस के पानी नहीं देने लगते। जहाँ सम्बन्ध की प्रतीति होती है वहीं राग-द्वेष होते हैं। जब तक हमारी अन्तःकरण से सम्बन्ध की प्रतीति है तब तक तो तमोगुण, रजोगुण का फ़र्क रहता है। परन्तु जब गुणातीत भाव के अन्दर रहते हो, उस समय सत्त्वगुण अन्तःकरण में आया तो, रजोगुण आया तो, तमोगुण आया तो, न उनके प्रति राग होता है, न द्वेष होता है। चूंकि ये मन के धर्म हैं, इसलिये ये अपने आप को ही प्रत्यक्ष होते हैं। अतः ये अपने अन्दर ही प्रतीत होने वाले लक्षण हैं।।२२।।

गुणातीत का लक्षण बतलाया कि सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण में से जो आता है उसमें न वह द्वेष करता है, न उसके प्रति राग करता है। गुणातीत का आचार कैसा है, बाहर कैसा प्रकट होता है यह अब बताते हैं–

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३।।

उदासीन-सा रहता हुआ जो गुणों द्वारा विवेकदर्शन से विचलित नहीं होता, 'गुण परस्पर व्यवहार कर रहे हैं' यह जानकर जो निश्चल रहता है, स्वरूपसे च्युत नहीं होता, वह गुणातीत है।

उदासीन का मतलब होता है किसी का पक्ष न लेने वाला। जहाँ दो पक्ष होते हैं, उनमें से किसी एक पक्ष के प्रति यदि तुम्हारा ममता का भाव होता है, तो तुम उदासीन नहीं कहे जाते। व्यवहार में देखा जाता है, कि गाँव में कहीं दो आदमियों का आपस में मतभेद हो, तो कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो वहाँ जाकर उन दोनों पक्षों का समझौता करा देता है। परन्तु जब खुद उसके घर में झगड़ा होता है, तब वह समझौता करने में असमर्थ हो जाता है! कई बार लोगों को आश्चर्य होता है कि दुनिया की बात सलटा देता है और घर की नहीं सलटा पाता, उसमें कारण ही है कि दूसरों के पास जब वह जाता है तब दोनों पक्ष उसके लिये एक जैसे हैं। अतः वह ऐसा निर्णय करता है जिसमें दोनों का अभीष्ट फल हो जाये। परन्तु जब अपने घर में होता है तब एक पक्ष तो उसको अपना लगता है और सामने वाले का पक्ष दूसरा लगता है। जिसके प्रति उसकी अपनत्व की भावना है, उसका थोड़ा भी नुकसान उसको बड़ा लगता है और सामने वाले का बड़ा नुकसान भी उसको छोटा लगता है। ऐसा नहीं है कि वह बेईमान है किंतु जिस पक्ष के साथ तादात्म्य करोगे उस की बात तुमको जायज़ ही लगेगी। ऐसी स्थितियों के अंदर आदमी उदासीन नहीं रह पाता है। किसी एक पक्ष के प्रति उसकी भावना अधिक होती है। इसीलिये ठीक निर्णय नहीं कर पाता।

इसी प्रकार से जिस बुद्धि के अंदर शास्त्रीय संस्कार है, उस बुद्धि का हमेशा सत्त्वगुण के प्रति पक्षपात रहेगा। रजोगुण, तमोगुण के प्रति पक्षपात नहीं रहेगा। सत्त्वगुण से ज्ञान और सुख होते हैं, इन दोनों को वह अच्छा मानता है। ठीक इसके विपरीत, जिसके शास्त्रीय संस्कार नहीं होंगे, उसका पक्षपात हमेशा रजोगुण की तरफ रहेगा। उसकी बुद्धि कहेगी 'अरे अच्छा काम है लेकिन खर्च तो समझ कर करना चाहिये, आगे घर भी तो चलाना है।' शास्त्रीय संस्कार से रहित व्यक्ति को लोभ बुरा नहीं लगता। शास्त्रीय संस्कार वाले व्यक्ति को सत्त्वगुण के कारण लगता है कि जितना अच्छा काम हो सके कर लेना चाहिये। शास्त्रीय संस्कार वाली बुद्धि को जो अपना स्वरूप मानेगा, वह हमेशा रजोगुण को हटायेगा, उदासीन नहीं रह सकता है। रजोगुण-तमोगुण आते ही प्रयत्न करेगा कि सत्त्वगुण आवे। सत्त्वगुण आने पर खुश होगा, कि 'बहुत अच्छा हुआ'। रजोगुण की प्रधानता वाला हमेशा किसी भी काम में प्रवृत्ति को अच्छा मानेगा। वह उसको उन्नति लगती है। सत्त्वगुण वाले को उन्नति नहीं लगेगी। सत्त्वगुण या रजोगुण के प्रति उदासीन तो दोनों ही लोग नहीं रह सकते। गुणातीत वह है जिसने इस बात को समझा है कि सत्त्वगुण भी अन्ततोगत्वा बाँधने वाला ही है। तीनों में कुछ बेहतर है- इतना तो ठीक है, लेकिन है तो बंधनकारी ही। अतः

सत्त्वगुण का कार्य भी उसको वैसा ही मिथ्या, फलरहित लगता है जैसा रजोगुण का कार्य। वही उदासीन रह सकेगा। मन में सत्त्वगुण की वृत्ति आने पर उसको कोई प्रसन्नता नहीं होगी। रजोगुण, तमोगुण आने पर कोई दुःख नहीं होगा। इसलिये उदासीन की तरह आसीन रहता है।

'यो गुणैः न विचाल्यते'। 'गुणैः' सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण के द्वारा विचलित नहीं होता। विवेक के कारण ही ऐसा हो पाता है। 'अनात्मा में होने वाले तीनों गुण एक जैसे मिथ्या हैं। मैं आत्मस्वरूप इनसे सर्वथा भिन्न हूँ।' इसमें प्रतिष्ठित रहने से ही वह गुणों द्वारा विचलित नहीं होता। जो गुणातीत है उसको सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण में पता नहीं लगता कि कौन-सा अच्छा है, कौन-सा ठीक है। शास्त्रादि की दृष्टि से देखता है कि सत्त्वगुण अच्छा है परन्तु उसे नहीं लगता कि अच्छा है। अतः सत्त्वगुण आने पर उसके अन्दर कोई प्रसन्नता नहीं आती। उदासीनवत् इसलिये कहा कि कभी दुःख से भी उदासीनभाव आ जाता है। पिता की राय पुत्र न माने तो पिता उदासीन होकर कहता है, 'जैसा जँचे कर लो'। पिता की उस कार्यमें रुचि खत्म हो जाती है, उससे तटस्थ हो जाता है लेकिन मन में दुःख बना रहता है। ऐसी उदासीनता गुणातीत की नहीं, इसे सूचित करने के लिये 'की तरह' कह दिया।

उद् अर्थात् ऊपर उठा हुआ। वह इन गुणों से सर्वथा ऊपर, अलग होकर बैठा रहता है। इसलिये उसको सचमुच ही नहीं लगता कि सत्त्वगुण कुछ अच्छा है, रजोगुण बुरा है, तमोगुण बहुत बुरा है। वह उद् अर्थात् ब्रह्म में आसीन है। इसलिये 'न विचाल्यते'। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के अंदर अमुक गुण हटाओ, अमुक गुण लाओ, ऐसी उसमें हलचल नहीं है- अपनी स्थिति से विचलित नहीं होता। चलने का मतलब होता है एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाना। रजोगुण आने पर रजोगुण से सत्त्वगुण की स्थिति में जाना, विचलित होना है। अथवा विपरीत समझ लो, सत्त्वगुण से रजोगुण में जाना भी विचलित होना है। वह उन गुणों को सर्वथा साक्षिभाव से ही देखता है, उनके साथ अपने किसी सम्बन्ध को छोड़ना रूप विचलन भी नहीं करता। इसलिये कहा 'न विचाल्यते'।

क्यों? क्योंकि जानता है 'गुणा वर्तन्त इत्येव' गुण ही सारा व्यवहार कर रहे हैं। आगे भगवान् सत्रहवें, अठारहवें में बतलायेंगे कि सात्त्विक कर्त्ता ऐसा होता है, राजस कर्ता ऐसा होता है, तामस कर्ता ऐसा होता है। जो गुणातीत है उसे मालूम है कि कर्ता है अहम्, जो अपरा प्रकृति का रूप है। मन बुद्धि और अहम् पर्यन्त सब अपरा प्रकृति है। अहंकार चाहे सात्त्विक हो या राजस-तामस हो, जो अहंकार से भिन्न उसका केवल साक्षी है उसे उससे क्या अंतर पड़ेगा! गुणातीत की दृष्टि में तो सारा व्यवहार गुणों का आपसी खेल है। गुण ही विषय हैं, गुण ही करण हैं। दोनों गुण ही हैं। करणरूप से बने हुए वे अहंकार पर्यन्त स्थित हैं। करणरूप से बने हुऐ गुण ही कार्य विषयरूप से बने हुऐ गुणों के साथ व्यवहार कर रहे हैं। इस से गुणातीत का क्या लेना-देना! गुण आपस में बर्ताव करते हैं। 'एव' अर्थात् इस प्रकार ही वह जानता है। गुणों का व्यवहार हो रहा है- बस इतना ही उसे प्रतीत

होता है, उन गुणों के व्यवहार से उसे कोई मतलब नहीं रहता।

'यः अवतिष्ठते' जो अवस्थित रहता है। अवपूर्वक स्था धातु आत्मनेपदी होता है, यहाँ परस्मैपदी प्रयोग है जिसे भाष्यकारने 'सर्वत्र लघु पंचमम्' नियम के अनुसार छंद के अनुरोध से उपपन्न किया है। भाष्य में 'योऽनुतिष्ठति' ऐसा पाठ भी सूचित किया है। आनंदगिरिस्वामी ने बाधितानुवृत्ति को ही यहाँ अनुष्ठान बताया है। कुछ आचार्य 'यो नु तिष्ठति' यों नु-शब्द का प्रयोग मानते हैं। कैसा भी पाठ हो, अर्थ यही है कि गुणातीत स्थिर रहता है।

'न इंगते' अर्थात् चलता नहीं है। यद्यपि 'न विचाल्यते' से यह कह चुके हैं तथापि चलना दो प्रकार का होता है। एकमें पूर्व स्थान छोड़कर दूसरी जगह जाते हैं, उसको चलना कहते हैं। यहाँ से चले, वहाँ पहुँच गये। दूसरा प्रकार है– बिना स्थान बदले शरीर को हिला सकते हैं। इसको इंगन कहते हैं, स्पंदन भी कहते हैं। 'विचाल्यते' का तो तात्पर्य हो गया, कि गुणों के व्यवहार के साथ वह एक व्यवहार से दूसरे व्यवहार की तरफ जाये ऐसा नहीं होता। राजस आ गया, इसको रोक कर सात्त्विक की तरफ जाये– ऐसा नहीं करता। और 'नेंगते' से बता रहे हैं कि स्वरूप में बैठे हुऐ ही, 'सात्त्विक आया तो अच्छा है' यों ग्रहण नहीं करता। हटाता तो नहीं है क्योंकि विचलित नहीं होता है, लेकिन सात्त्विक के आने पर थोड़ी-सी प्रसन्नता हो सकती है कि अच्छा है, या राजस के आने पर थोड़ा-सा दुःख हो सकता है कि यह अच्छा नहीं है। इसको इंगन के निषेध से मना कर दिया। अर्थात् न तो गुणों को परिवर्तित करता है, और न उनके कारण प्रसन्न या अप्रसन्न होता है। दोनों में है तो बड़ा सूक्ष्म फ़र्क। कोई बहुत ज़्यादा अर्थ का फ़र्क नहीं है। पर फिर भी, दो प्रकार के भावों के अंदर फ़र्क ज़रूर है। एक में है कि वह उसमें किसी परिवर्तन को करने में प्रवृत्त नहीं होता। और दूसरे में, 'यह हो ही नहीं रहा है। उस अधिष्ठान के अन्दर कल्पित ही है' ऐसी बाधितानुवृत्ति मात्र चलती रहती है। जैसे ही सत्त्वगुण रजोगुण आदि के कार्य को देखता है, वैसे ही, तुरंत, उसी समय वृत्ति बन जाती है कि 'ये बिना हुऐ दीख रहे हैं'।

उदासीनतुल्यता, अविचलन, अनिंगन सर्वथा मानस प्रत्यक्ष हैं। अपने लिये तो अपरोक्ष हैं। दूसरे में उसके मुखादि के विकारों से ही इनका अन्दाज़ लग सकता है। जो अत्यन्त उच्च कोटि का साधक है उसमें और सिद्ध में बाहर के आचरण से फ़र्क नहीं कर सकते। परन्तु स्वयं इस फ़र्क को जानते हैं। 'दीखने पर विवेक से मैंने विचलन या इंगनको काटा।' अथवा 'दीखा ही नहीं।'– यह फ़र्क स्वसाक्षिक ही है। सिद्ध बाध *करता* नहीं है। ठीक जिस प्रकार से मोटर चलाने वाला, 'गाडी की अब यह गति हो गई, इसलिये इस नम्बर का गेयर लगावें' ऐसा कुछ सोचता नहीं है। उसके हाथ का अभ्यास ऐसा पडा हुआ है कि अपने आप ही गेयर बदलते रहते हैं। इसी प्रकार सिद्ध का जगत् का बाध इतना हो गया है कि प्रतीति होते ही तुरन्त बाध हो जाता है। साधक को तो थोड़ा-बहुत स्वरूप का विचार करके जगत् का बाध करना पड़ता है। साधक चाहे जितना उच्च होवे, उसको थोड़ा-सा तो प्रयत्न करना

पड़ता है। अभ्यास हो गया है इसलिये कोई बहुत ज़्यादा नहीं करना पड़ता, लेकिन किंचित् होता ही है। सिद्ध में बाधितानुवृत्ति होने पर वह किंचित् प्रयास भी नहीं है, सीधे ही बाधित दीखता है। ऐसे समझ लोः फोटो में पिता जी दीखते हैं तो कभी क्षणभर को ऐसा नहीं लगता कि 'यह पिता जी हैं।' क्योंकि दृढ बोध है कि कागज़ के ऊपर फोटो है। यह बाधितानुवृत्ति हुई। और कभी अहमदाबाद में अक्षरधाम जाओ। उन्होंने अपने गुरु जी की प्लास्टर आफ पेरिस से मूर्ति बना रखी है। वहाँ उन्होंने एक रिकार्ड भी चला रखा है, उनका मुँह भी थोड़ा-थोडा हिलता है और हाथ भी थोड़ा हिलता है। कमरे में जाते ही, देखते ही पहले तो लगता है, कि स्वामी जी बैठे हुऐ हैं। उसी समय याद आता है कि इनको तो मरे हुऐ इतने साल हो गये! फिर पास जाते हो और जानते हो कि मूर्ति ही है। जैसे वहाँ किंचित् लगा लेकिन तुरन्त याद आ गया कि ज़िन्दा व्यक्ति नहीं है, वैसे साधक को किंचित् प्रतीति होने के बाद, वह उसे हटाता है। और जैसे चित्र में क्षणभर को भी 'पिता जी हैं' नहीं लगता, ऐसे सिद्ध को क्षणभर को भी गुणों में आत्मबुद्धि नहीं होती।।२३।।

गुणातीत के और भी लक्षण बतलाते हैं–

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

दुःख-सुख जिस में राग-द्वेष नहीं पैदा कर पाते, जो आत्मनिष्ठ रहता है, मिट्टी का लौंदा पत्थर व स्वर्ण- सब को जो एक-सा तुच्छ समझता है, प्रिय-अप्रिय जिसके लिये बराबर हैं, अपनी प्रशंसा व निन्दा दोनों जिसे अपने से एक जैसी असम्बद्ध लगती हैं, ऐसा बुद्धिमान् गुणातीत कहा जाता है।

सुख और दुःख दोनों उसके लिये एक जैसे हैं। एक जैसे का मतलब यह नहीं समझना कि उसको पता ही नहीं लगता कि यह सुख और यह दुःख है; परन्तु जानता है कि सुख-दुःख दोनों ही गुणों के अन्दर होते हैं इसलिये एक जैसे मुझ से असम्बद्ध हैं, माया के कारण कल्पित प्रतीत हो रहे हैं। नाटक में अभिनेता को प्रसन्न या दुःखी देखते हुए भी दर्शक जानता है कि वह न प्रसन्न है न दुःखी। या नेता लोग जब किसी दुर्घटना आदि के स्थलपर कहते हैं 'हमें हार्दिक पीडा है', तब लोग जानते हैं कि उन्हें कोई पीडा नहीं है; जैसे वहाँ सुख-दुःख दीखने पर भी क्योंकि मालूम है कि नहीं है, इसलिये होना-न होना बराबर है, वैसे गुणातीत के लिये सुख-दुःख बराबर हैं। दुःख और सुख के प्रति उसके लिये समान भाव है। दुःख को दुःख जानता है। सुख को सुख जानता है। परन्तु दोनों को एक जैसा जानता है कि ये तो गुणों का विकार हैं, दोनों एक जैसे डाकू हैं, बन्धक हैं, बन्धन के कारण हैं। दुःख से सुख ज़्यादा बन्धन करने वाला हो जाता है। यदि कर्कशा पत्नी मिल जाये, रोज़ सवेरे से शाम तक झगडा करती रहे, तो घर छोड़कर साधु बनना ज़्यादा सरल है। और पत्नी सवेरे उठकर के गरम पानी कर देवे, कपडे धोकर तैयार रखे, भोजन मन

का बनावे, रात को पैर दबावे, सब घर का कार्य बडी़ अच्छी तरह से करे; तो ऐसी पत्नी को छोड़कर साधु बनना बड़ा मुश्किल है। गुणातीत इस बात को जानता है कि सुख और दुःख एक जैसे बन्धन हैं इसलिये दोनों के प्रति वह समान रहता है।

सुख की तरफ प्रवृत्ति स्वाभाविक है। लोग कहते भी हैं कि सुख संसार में कौन नहीं चाहता? आखिर भगवान् को भी क्यों चाहते हो? इसीलिये चाहते हो कि भगवान् की प्राप्ति से सुख होगा। इसलिये भगवान् के अनेक रूपों की उपासनायें हैं लेकिन यमरूप की उपासना कोई नहीं करता! सुख के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण है इसका मूल कारण क्या है? वेदान्त कहता है आत्मा का स्वरूप आनन्द है। सुख और आनन्द में फ़र्क समझना। संस्कृत में 'ख' का मतलब इन्द्रियाँ है। इंद्रियों को जो अच्छा लगता है वह सुख है। और इंद्रियों को जो बुरा लगता है, वह दुःख है। जीभ कड़वा नहीं चाहती, अतः कड़वा खाना पड़ता है तो दुःख होता है क्योंकि जीभ को जो अच्छा लगे उससे सुख होता है। इसी प्रकार से बड़ा सुन्दर दृश्य देखने में आया तो आँख को बड़ी प्रसन्नता होती है, आँख को अच्छा लगता है, और क्रूर रूप देखकर दुःख होता है। इसी प्रकार मधुर शब्द सुनकर सुख होता है, कर्कश शब्द सुनकर दुःख होता है। ये सब इद्रियों से होने वाले सुख-दुःख हैं। इन्द्रियों के द्वारा होने पर भी सुख के प्रति आकर्षण क्यों? आत्मा का स्वरूप आनन्द है जो सुख की जाति का है। फ़र्क केवल यह है कि इन्द्रियों के साथ जब एक होते हो तब तो आँख से देखने पर, कान से अच्छा संगीत सुनने पर, आँख-कान के साथ एक होकर उनके सुख से सुखी हो जाते हो। लेकिन प्रकट तो तुम्हारा आनंद भाव ही होता है। इन्द्रियों के सुख-दुःख के प्रति सम होने पर तुम अपने आनन्दरूप में स्थित हो। उपनिषदों में आनन्द की श्रेणियाँ बतायी हैं- एक मानुष आनन्द कितना है, उससे सौ गुणा आनन्द किसका है, इत्यादि। मनुष्य से ब्रह्मा तक के आनंदों में तो तारतम्य कहा लेकिन हर आनंद उसे एक जैसा प्राप्त बताया जो उस आनन्द के प्रति निष्काम वेदवेत्ता है! श्रोत्रिय होने से वह संसार को मिथ्या जानता है अतः पदार्थों की उसको कामना है नहीं जिससे वह आनन्द उसको पहले ही प्राप्त है। आनन्द रूप में स्थित होने से वह सुख और दुःख के प्रति एक जैसा है क्योंकि उस आनन्द के सामने इन्द्रियों से होने वाला सुख बिलकुल तुच्छ लगता है। जैसे बदाम का हलुआ खाने को मिले, तो गुड़-घी डाल कर चावल कौन खायेगा! यदि कोई मिठाई है ही नहीं घर में, तो आदमी कहता कि 'भाई! चावल के साथ थोडा़ घी और बूरा दे दो।' परन्तु बदाम का हलुआ मिल रहा है तो कौन गुड़-घी डाल कर चावल खायेगा! इसी प्रकार अपने ब्रह्मानंद में जो स्थित है वह इन्द्रियों के सुख से कैसे आकृष्ट होगा! इसलिये कहा 'स्वस्थः समदुःखसुखः' इसका मतलब यह नहीं है कि सुख को सुख नहीं समझता, दुःख को दुःख नहीं समझता, वरन् मतलब है कि उनके प्रति समान है क्योंकि स्वस्थ है; अपने आनन्दरूप में स्थित है।

जैसे सुखादि के प्रति एक जैसा है, वैसे ही 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'। 'लोष्ट' मिट्टी के लोंदे को कहते हैं। 'अश्म' पत्थर के टुकड़े को कहते हैं। काञ्चन सोने को कहते हैं। तीनों ही

उसके लिये एक जैसे हैं। गोरखनाथ जी एक बार लंका गये। लंका तो सोने की बनी हुई थी। वहाँ हर एक ईंट सोने की थी। श्रीलंका की बात नहीं सोचना, रावण की लंका की बात सोचना। वापिस आ रहे थे तो चेले ने सोचा कि 'यहाँ इतना सब सोना बेकार पड़ा है, थोड़ा-सा ले चलें, कभी काम आयेगा'। उसने एक ईंट को अपने झोले में रख लिया। जब आ गये वहाँ से तो कहीं उसको जाना हो तो कहे 'गुरु जी! ज़रा थैला रखा है।' दो तीन दिन हो गये। गोरखनाथ जी का माथा ठनका की बार-बार 'थैला रखा थैला रखा' क्यों बोलता है? क्या बात है? उन्होंने खोल कर देखा कि इसमें क्या है तो सोने की ईंट थी। तब उन्होंने सोचा कि 'यह कितना बेवकूफ निकला।' कहा कुछ नहीं। वहाँ से कुछ आगे चले तो उनको पेशाब आ गया। उन्होंने शिष्य से कहा कि 'ज़रा मैं पेशाब करके आता हूँ।' वहाँ जो चट्टान थी, उनके पेशाब करने से वह सारी सोने की हो गई! उन्होंने वापस आकर अपने चेले से कहा 'अरे ये दो बूँद पेशाब को लेकर क्यों चल रहा है?' जो लघुशंकामात्र से स्वर्ण को पैदा कर देता है, उसको क्या स्वर्ण की ईंट लेकर चलने की प्रवृत्ति हो सकती है? वह जानता है कि जहाँ भी पत्थर हो, मिट्टी हो, उसको उसी समय सोना कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार से जो स्वस्थ पुरुष है, आत्मा में स्थित पुरुष है, वह जानता है कि चाहे मिट्टी हो, चाहे पत्थर हो, जिस समय हमारा स्वर्ण का प्रारब्ध उदय होगा, उस समय स्वर्ण उपलब्ध है ही। अन्यथा, चाहे जितना स्वर्ण इकट्ठा कर लो, तुम्हारी ज़रूरत पर तुम्हारे काम नहीं आयेगा। बहुत से लोगों को जानते हैं, करोड़पति हैं। चाहें तो रोज़ एक किलो घी खावें। पर डाक्टर ने कह रखा है 'खून में चिकनाई ज़्यादा है, कभी भी दिल का दौरा पड़ सकता है। घी से बचना।' खा तो सकता है पर बेचारा सूखा फुलका, छिलके वाली मूंग की दाल में डाल कर खाता है! प्रारब्ध न होने पर पदार्थ होने पर भी तुम्हारे लिये व्यर्थ है। और, तुम्हारे घर में चावल भी समाप्त हो गया है, किसी दोस्त के यहाँ जाते हो, वह बादाम का हलुआ खिला देता है। तुम्हारे पास तो नहीं था परन्तु तुम्हारे प्रारब्ध को देना था तो उसने बादाम का हलुआ दे दिया। साधारण व्यक्ति प्रारब्ध के इस रूप को नहीं जानता है इसलिये सोचता है कि मिट्टी और चीज़ है, सोना और चीज़ है। किंतु स्वस्थ जानता है कि जिस समय प्रारब्ध जिस चीज़ को लाना चाहेगा, वह लायेगा ही। इसलिये मिट्टी का लोंदा हो, पत्थर हो, या स्वर्ण हो, कोई उसे फ़र्क नहीं पड़ता है। फ़र्क नहीं- का मतलब यह नहीं कि उसको फ़र्क दीखता नहीं है। लेकिन यह कि मेरे लिये प्रयोजन शून्य है। मेरा कोई प्रयोजन ये सिद्ध कर नहीं सकते। और प्रारब्ध का प्रयोजन सिद्ध करना होगा तो प्रारब्ध अपने आप ले आयेगा'-यह उसका निश्चय है।

'तुल्यप्रियाप्रियः' इसी प्रकार से प्रिय और अप्रिय के प्रति तुल्य है। सुख-दुःख से तो इन्द्रियों को ले लिया, लोष्टाश्मकाञ्चन से विषयों को ले लिया, प्रिय और अप्रिय से मन की वृत्तियों को ले लिया। क्योंकि मन के संस्कारों के कारण कोई चीज़ प्रिय लगती है, कोई चीज़ अप्रिय लगती है इसलिये हिन्दी में भी कहते हैं कि किसी आदमी को तो बैंगन अप्रिय लगता है और किसी

को बैंगन अत्यन्त प्रिय लगता है। जिसको बैंगन अप्रिय लगता है उसकी समझ में नहीं आता कि बैंगन में है क्या जो खायें! इसलिये अकबर–बीरबल की बात आती है कि एक बार बीरबल ने बैंगन का साग बनाया था। अकबर को पसंद आया, बोला 'बैंगन बहुत बढ़िया चीज़ है' बीरबल ने कहा 'हाँ हुजूर इसीलिये भगवान् ने उसके सिर पर ताज रख दिया है।' बैंगन के सर के ऊपर होता है ताज जैसा। दो–एक घण्टे के बाद अकबर के पेट में बैंगन ने वायु कर दी। उसके पेट में तकलीफ होने लगी। अकबर ने कहा कि 'अरे! बैंगन बड़ी बुरी चीज़ है। वायु करती है, बड़ा दुःख देती है।' बीरबल ने कहा 'हाँ हुजूर बिलकुल बेकार चीज़ है। इसीलिये तो भगवान् ने उसको काला बना दिया!' कोई व्यक्ति बैठा हुआ था, उसने कहा 'अरे! घण्टे भर पहले तू इसकी तारीफ कर रहा था!' उसने कहा, 'मैं बैंगन का नौकर थोड़े ही हूँ। मैं तो बादशाह का नौकर हूँ।' ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी की बुद्धि है। जब प्रारब्ध प्रियता का पदार्थ लाता है तब कहता है, 'बहुत अच्छा। कोई चीज प्रिय होवे तो कितना सुख देती है।' जब अप्रिय आता है, तब कहता है,'कितनी बढिया चीज़ है, इसी से तो फिर वैराग्य होता है।' चीज़ों के अंदर प्रियता न होवे तो झट वैराग्य होता है। यदि कोई पूछता है कि 'अभी तो आप प्रिय को अच्छा कह रहे थे। अब अप्रिय को अच्छा कह रहे हैं?' तो ज्ञानी का जवाब होता है कि 'भाई! जब तक हम शरीर में हैं तब तक प्रारब्ध के आधीन हैं। प्रारब्ध प्रियता का अनुभव कराना चाहता है तो वह भी वाह–वाह है। प्रारब्ध के नौकर हैं। और अप्रियता का अनुभव कराता है तो वह भी वाह–वाह है। प्रारब्ध गुणों को चाहे जैसा चला दे। हमें तो प्रारब्ध से मतलब है, हमें उस चीज़ से थोड़े ही मतलब है।' इसलिये कहा प्रिय और अप्रिय जो मन का अनुभव है वह भी एक जैसा रहता है।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।' इसी प्रकार से चाहे कोई निंदा करे, चाहे स्तुति करे, दोनों एक जैसे है। निंदा करता है तो किस की करता है? शरीर मन की ही निन्दा कर सकता है, और किस की निन्दा कर सकता है! आत्मस्वरूप तो निर्गुण है, उसकी निंदा हो नहीं सकती। निष्क्रिय है, उसकी निंदा हो नहीं सकती। न गुणों से निंदा हो सकती है न क्रिया से निंदा हो सकती है। इसलिये शरीर,इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि का जो यह स्थूल–सूक्ष्म शरीर है, उसी की निंदा होगी। उसकी निंदा हमारे लिये अच्छी ही है। हम लोगों को भी तो बार–बार इस कार्यकरणसंघात से अपने को हटाने के लिये उसकी बुराई को देखना पड़ता है। अन्यथा तो वहाँ से मन हटेगा ही नहीं। इसलिये निंदा करता है तो कोई बुरी बात नहीं है, हम भी इसकी निंदा ही करते हैं। और शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि की यदि वह स्तुति करता है, प्रशंसा करता है, तो अच्छा है ही। निंदा और स्तुति, दोनों जिस की हो रही हैं वह कार्यकरणसंघात है, उससे मैं सर्वथा भिन्न हूँ इसलिये उनकी स्तुति और उनकी निन्दा से मुझे क्या फ़र्क पड़ता है! जैसे हिन्दुस्तान में रहने वाले को बुश साहब की वहाँ के लोग बड़ी स्तुति करें तो कोई मन में प्रसन्नता नहीं होती, बड़ी निन्दा करें तो दुःख नहीं होता, क्योंकि उनसे अपना कोई मतलब नहीं। परन्तु हमने जिस नेता को वोट दिया हो उसकी कोई स्तुति करे

तो अच्छा लगता है, निंदा करे तो बुरा लगता है क्योंकि उससे अपना सम्बन्ध है; ऐसे ही गुणातीत जानता है कि निंदा और स्तुति होगी वह कार्यकरणसंघात की होगी, जो मुझ से सर्वथा भिन्न है, इसलिये मेरे लिये दोनों तुल्य हैं। 'आत्मा' अर्थात् आत्मत्वेन गृहीत, जिसे आत्मा के रूप में स्वीकार रखा है। उसकी स्तुति या निंदा हो, गुणातीत के लिये बराबर है। एक नियम है कि द्वंद्व समास के आदि में, मध्य में या अंत में जो शब्द आते हैं उनका सब से सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये यहाँ पर आत्मनिन्दा और आत्मसंस्तुति, ऐसा अर्थ समझना। क्योंकि उसे देहादि में आत्मबुद्धि रह नहीं जाती और स्वस्थता के कारण इन से सम्बन्ध भी नहीं रहता, इसलिये इनकी निंदा-स्तुति उसे समान लगती हैं। इसीलिये भगवान् ने इन सब लक्षणों में हेतु बताते हुए कह दिया 'धीरः' अर्थात् परमार्थ बुद्धि से सम्पन्न। इसी बुद्धि के बल पर वह स्वस्थ और सम रहता है ।।२४।।

गुणातीत के आचार को बतला रहे हैं। उसे ही स्पष्ट करते हैं-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५।।

जो मान-अपमान में निर्विकार, मित्र-शत्रु पक्षों के प्रति तुल्य, सब आरम्भ छोड़ने के स्वभाव वाला हो वह गुणातीत कहलाता है।

पहले बतलाया था निंदा व स्तुति के अंदर एक जैसा रहता है। निंदा और स्तुति एक तरह से वाणी से होने वाला मान अपमान ही है। फिर भी यहाँ 'मानापमानयोः' कह रहे हैं क्योंकि शब्द से अतिरिक्त शरीरादि के व्यवहार से भी मान-अपमान का बोध कराया जा सकता है। इसलिये निंदा और स्तुति से अतिरिक्त जो मान और अपमान का तरीका है, उसमें निर्विकारता कह रहे हैं। मान किसका होगा? शरीर-मन का होगा, अपना होगा नहीं। इसलिये दोनों में तुल्य रहता है अर्थात् निर्विकार रहता है। मान से उसको यह बोध नहीं होता कि मुझ में कोई अतिशय आ रहा है, और अपमान से यह नहीं होता कि मुझ में कोई खराबी आ रही है। शाब्दिक मान-अपमान तो स्तुति-निंदा से बताये, अन्य तरह से मानादि की अभिव्यक्ति के कारण विकार को प्राप्त न करना यहाँ कह दिया। मान और अपमान क्योंकि मेरा है नहीं, और दूसरे के मान-अपमान से अपने में कोई विकार आता नहीं इसलिये गुणातीत मानापमान में एक-सा रह जाता है।

'मित्रारिपक्षयोः तुल्यः'। पहले कह आये हैं कि वह उदासीन रहता है अर्थात् किसी पक्ष की तरफ जाता नहीं। फिर यहाँ 'मित्रारिपक्षयोस्तुल्यः' क्यों कहा? अपनी दृष्टि से किसी को मित्र और अरि अर्थात् शत्रु पक्ष वाला नहीं समझता, यह तो उदासीन भाव से कह दिया। परन्तु दूसरों की दृष्टि से कोई मित्र और कोई अरि हो सकता है, उनके प्रति समभाव रखता है, यह तात्पर्य है। दूसरे की दृष्टि से, अर्थात् गुणातीत तो किसी को मित्र या शत्रु नहीं मानता क्योंकि उदासीन है, लेकिन दूसरे लोग कल्पना कर लेते हैं कि देवदत्त इसका मित्र

है, यज्ञदत्त इसका शत्रु है। किंतु लोगों की इस कल्पना के कारण भी गुणातीत कोई पक्षपात नहीं करता, समान रहता है, यह भाव है। दुसरों की दृष्टि में मित्र की तरह जिसको समझा जाता है या अरि की तरह जिसको समझा जाता है, उनके प्रति भी उसकी तुल्य भावना ही रहती है। मित्र वह होता है जो अपनी सहायता करे। अरि वह होता है जो अपना नुकसान करे। सिद्ध की दृष्टि में तो उसके पक्ष का, या विरोध करने वाला कोई नहीं है। शरीरादि का मित्र या शत्रु हो सकता है, सिद्ध शरीर से ही उदासीन है तो शरीर के मित्रादि को अपना मित्रादि समझ ही नहीं पाता। फिर भी जो हमारे शरीर की हानि करे, मन की हानि करे उसको दूसरे लोग हमारा अरि समझते हैं। ऐसे में गुणातीत तुल्य दृष्टि रखता है कि दूसरा उसे मेरा मित्र समझता है, इतने मात्र से मैं उसके प्रति अलग व्यवहार करूँ यह ठीक नहीं। वह तो सम ही रहता है। बहुत से लोग यह देख कर के कि 'अगर हम इसका पक्ष लेंगे, तो चूंकि हमारे शरीर मन को यह लाभ पहुँचाता है इसलिये लोग सोचेंगे कि हम मित्र का पक्षपात कर रहे हैं', इसीलिये उसकी तरफ ध्यान नहीं देते। अर्थात् उसकी उपेक्षा या तिरस्कार उचित मानकर नहीं, वरन्'लोग क्या समझेंगे' यह सोचकर करते हैं। ऐसे ही किसी का सत्कार भी इसीलिये करते हैं कि 'लोग उसे मेरा शत्रु मानते हैं, मैं दोस्ताना व्यवहार करूँ ताकि लोग यह न समझें कि मैंने इसकी उपेक्षा की'। गुणातीत की दृष्टि में तो कोई मित्र और अरि नहीं है, परन्तु दूसरों के अभिप्राय से जो मित्र और अरि हैं उनमें जानबूझ कर भेदभाव करे–ऐसा वह गुणातीत नहीं करता, क्योंकि उसको इस बात की चिंता नहीं है कि दूसरे मुझे गुणातीत समझें। इसलिये कहा 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः'। अथवा जैसे मित्र उससे द्वेष नहीं करते ऐसे शत्रु भी उससे द्वेष नहीं करते–यह अर्थ है।

'सर्वारम्भपरित्यागी।' दृष्ट प्रयोजन के लिये या अदृष्ट प्रयोजन के लिये जो कर्म किया जाता है वह उस प्रयोजन के दृष्टि में आने पर प्रारम्भ किया जाता है इसलिये उसको आरम्भ कहते हैं। दृष्ट- इस लोक में होने वाली चीज़ें, अदृष्ट- परलोक में होने वाली चीज़ें; इस लोक के प्रयोजन के लिये या परलोक के प्रयोजन के लिये जिस कर्म को या उपासना को प्रारम्भ किया जाये, वह हुआ आरम्भ। सर्वारम्भ अर्थात् न दृष्ट प्रयोजन के लिये कर्म आरम्भ करता है, न अदृष्ट प्रयोजन के लिये। 'सर्वकर्म' नहीं कहकर के 'सर्वारम्भ' क्यों कहा? यह बतलाने के लिये कि शरीर–मन से प्रारब्धभोग के लिये तो प्रवृत्ति हो जायेगी, उसको कराने वाला प्रारब्ध है। किंतु दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन के लिये वह नहीं शुरू करेगा। प्रारब्ध के भोगमात्र के लिये जो संस्कार की प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति को छोड़ करके अपनी तरफ से कोई कर्म प्रारम्भ नहीं करता। इसलिये 'कर्म' न कह करके 'आरम्भ' कहा। अदृष्ट प्रयोजन से अनुष्ठानादि और दृष्ट प्रयोजन से नयी योजनायें प्रारंभ नहीं करेगा। केवल प्रारब्ध का भोग करता है।

एक महात्मा भ्रमण करते हुए कहीं जा रहे थे। इतने में एक हाथी आया और उसने उनके गले में माला डाल दी। हाथी के साथ जो लोग थे, वे सब महात्मा जी की जय–जयकार

करने लगे। महात्मा जी को समझ में नहीं आया कि क्या बात है। उन्होंने पूछा 'क्या बात है?' लोग बोले 'जी आप हमारे राजा हो गये।' 'मैं कैसे राजा हो गया?' बोले कि 'हमारे देश में नियम है कि जब राजा मर जाता है तब हाथी को एक माला दे देते हैं, और हाथी जिसके गले में माला डाल दे वही हमारा राजा हो जाता है।' महात्मा ने सोचा कि यह तो विचित्र मामला हो गया। चलो, जैसा प्रारब्ध का भोग।लोग उनको ले गये। सुगंधित जल से स्नानादिकर बढ़िया से बढ़िया राजसी कपड़े पहनाये। उन्होंने कहा 'एक पेटी ले आओ।' पेटी आ गई। उन्होंने अपना कमंडलु और अपनी लंगोटी उसके अन्दर रख दिये, ताला बंद कर दिया, चाबी ठीक जगह, जहाँ कोई छेड़छाड़ नहीं करे, रख दी। राज्य करने लगे। राज्य अच्छा चल रहा था। अड़ौसी-पड़ौसी राज्यों को पता लगा कि 'अरे! बाबा जी राजा बन गये हैं, इन्हें कोई युद्ध करना तो आता नहीं है।' पड़ौसी राजा ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। खबर आ गई कि आक्रमण हो गया है। सब को राजा से पूछना ही था कि क्या करें। राजा से जाकर कहा कि 'पड़ौसी ने आक्रमण कर दिया है पर घबराने की कोई बात नहीं है, हमारी फौज भी अच्छी है। हमारे पास अस्त्र शस्त्र भी अच्छे हैं। उसको हरा देंगे। कोई बड़ी बात नहीं है।' उन्होंने कहा 'हराओगे तो सही पर लोग मरेंगे। युद्ध में यह तो होता ही है। इसलिये खबर भेज दो कि उस राजा से ज़रा हम मिलना चाहते हैं लड़ाई लड़ने से पहले।' खबर भेज दी। सामने वाले राजा ने सोचा कि महात्मा डर गया होगा, बिना लड़ाई के ही शायद जीत हो जाये। महात्मा उससे मिलने आये। उससे पूछा 'तुम हमारे ऊपर क्यों चढ़ाई करना चाहते हो? तुम राजा बनना चाहते हो या मंत्री- चौकीदार बनना चाहते हो?' उसने कहा 'इसमें क्या पूछने की बात है! मैं राजा हूँ तो राजा बनना चाहता हूँ।' महात्मा बोले 'यह बात पक्की है न? हमारे किसी मंत्री से तो तुम्हारा कोई लड़ाई- झगड़ा नहीं है, किसी कार्यकर्ता से कोई लड़ाई- झगड़ा नहीं है?' वह बोला 'नहीं, उनसे कुछ विरोध नहीं है।' वे बोले 'मैं तुम को राज्य दे देता हूँ लेकिन यह शर्त है कि किसी मंत्री को इधर-उधर नहीं करोगे। किसी कार्यकर्ता को इधर-उधर नहीं करोगे। जैसा हमारे यहाँ नियम से राज्य चलता है वैसे चलेगा।' उसने कहा 'हाँ, इसमें क्या बात है! मैं तो राजा ही बनना चाहता हूँ।' वापिस आकर महात्मा ने सब को बुलाया और कहा, 'मैंने उससे बात कर ली है, वह केवल राजा बनना चाहता है। तुम लोगों को नहीं हटायेगा। यहाँ के किसी नियम के खिलाफ भी कार्य नहीं करेगा। सबको अच्छी तरह से रखेगा। मुझे तो राजा बनने का कोई शौक नहीं। मैं उसको राजा बना देता हूँ। तुम्हारा जब राजा था नहीं तब तुमने हमको फँसा दिया था। अब तुम्हें राजा मिल रहा है तो हमारा कार्य खत्म।' उन्होंने अपना संदूक खोला, कमंडलु और लंगोटी निकाली, राज्य के वस्त्र इत्यादि जितने थे वे सारे छोड़कर, उस राजा का अभिषेक करके चल दिये।

जैसे उस प्रारब्ध ने उनको राजा बना दिया तो राजा बन गये परन्तु आगे राजा बने रहने के लिये आरम्भ करना बेकार समझा, वैसे गुणातीत प्रारब्ध भोगने पर भी आरंभ नहीं करता

इसलिये कहा 'सर्वारम्भपरित्यागी'। इसलिये आचार्य कहते हैं 'देहधारणमात्रनिमित्तव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः।' देहधारण के लिये अनिवार्य कार्य छोड़कर अन्य कार्य नहीं करता। देहधारण कराने वाला कौन है? प्रारब्ध है। प्रारब्ध के धागे से ही यह शरीररूप कपड़ा बना हुआ है। इसलिये देहधारण, प्रारब्ध का प्रयोजन है। देहधारणमात्र अर्थात् प्रारब्धभोगमात्र के लिये अनिवार्य कार्य वह कर लेता है। अर्थात् यदि भूख लगी है तो ज़रूर भोजन करता है। कोई कहे 'यह भी क्या दृष्टफल कर्म नहीं है?' इसका दृष्ट फल इसलिये नहीं है कि हम भोजन करेंगे तो जीयेंगे ऐसा नहीं है। हमारा जीवन शेष है इसलिये प्रारब्ध हमें भोजन खिलायेगा। अगर हम प्रारब्ध का विरोध करेंगे तब आरम्भ होगा। एक महात्मा अपने शिष्य से हमेशा कहते थे कि 'हर चीज़ प्रारब्ध के भोग के अनुसार होती है। तुम इतनी सब चिन्ता व्यर्थ करते हो।' वह भक्त मानता नहीं था। बार-बार उसको समझावें, पर वह नहीं समझा। उन्होंने कहा 'अच्छा, आज से एक महीने के बाद अमुक तिथि को, तेरे प्रारब्ध के अनुसार तुझे हलुआ पूड़ी खाना है। खूब कोशिश कर लेना कि हलुआ पूड़ी खाने को न मिले।' उसने कहा 'ठीक है। इसमें क्या है! बड़ी सरल बात है, नहीं खाना तो अपने हाथ में है।' जब वह दिन पास आया तो उसने घर में कह दिया 'आज सिवाय खिचड़ी के कुछ नहीं बनाना।' उसके बाद भी उसने सोचा 'कोई और आकर के निमंत्रण दे दे तो खाने को जाना पड़ेगा। वह भी ठीक नहीं।' अतः सवेरे ही निकल कर श्मशान में चला गया कि यहाँ तो कोई खाने-पीने का काम है ही नहीं। दिन भर श्मशान में बैठा रहा। कुछ नहीं खाया। जब रात हुई, थोड़ा डर लगने लगा। तो पेड़ पर चढ़ गया। भूत प्रेत का डर लगता ही है। थोड़ी देर के बाद देखता है कि तीन डाकू आये। उन लोगों ने कहीं से माल लूटा था। सब माल रख कर आपस में बातें करने लगे। तीनों अपना-अपना हिस्सा बाँटने लगे। बाँटने के काम में ज़रा देरी लगती ही है। एक ने कहा 'आज कुछ खाया हुआ नहीं है, पहले कुछ खा लें'। एक को कहा 'तुम बाज़ार से जाकर कुछ ले आओ।' इस बीच में जब वे लोग बाँटने का काम कर रहे थे तब शिवा बलि करने के लिये कोई हलुआ पूड़ी लेकर आया, वहाँ रख कर चला गया। डाकू भोजन लेने चला तो थोड़ी दूर आगे चलने पर वहाँ हलुआ पूड़ी देखा। उसने सोचा बाज़ार में जाकर क्यों लायेंगे, यहाँ हलुआ पूड़ी रखा ही हुआ है। छूकर देखा तो गरम-गरम था, सोचा, इसी से काम हो जायेगा, तो लेकर गया। जो वृद्ध डाकू था, उसने कहा, 'अरे इतनी जल्दी कहाँ से ले आया? बाज़ार तो दूर है।' बोला 'यहीं रखा हुआ था पत्तल में, तो मैंने सोचा बाज़ार जाकर क्या करूँगा। यहीं गरम-गरम हलुआ पूड़ी है।' खाने को तैयार होने लगे तो उस वृद्ध ने समझाया कि 'अरे! इस समय यहाँ पर कहाँ से आयेगा? हो सकता है कोई हम लोगों का भी दुश्मन होवे, उसने सोचा हो कि 'जहर देकर हलुआ पूड़ी रख दो। ये लोग खायेंगे और मर जायेंगे, फिर वह धन ले जायेगा। इसलिये ऐसे नहीं खाना चाहिये'। उन्होंने सोचा कि रख कर इधर-उध ार कहीं छिप गया होगा। चारों तरफ ढूँढने लगे, कहीं कोई मिला नहीं। एक व्यक्ति के मन में आया कि कहीं पेड़ पर न चढ़ा हो। वह पेड़ की तरफ प्रकाश डालने लगा। वह भक्त दीख गया! अब उन्होंने समझा कि बूढ़े ने ठीक ही कहा था। उन्होंने कहा 'अरे तू कौन है?' वह बोला 'मैं अमुक

गाँव का रहने वाला हूँ।' 'यहाँ क्या कर रहा है?' 'यहाँ तो ऐसे ही बैठा हूँ।' 'यह हलुआ पूड़ी तूने रखा है?' 'नहीं जी, मैंने नहीं रखा।' 'तो उतर कर नीचे आ' उसने कहा 'मै नहीं उतर कर नीचे आऊँगा।' उनको और बहम पक्का हो गया कि नहीं उतर कर नीचे आ रहा है, कोई-न-कोई बात है, दाल में काला है। उन्होंने कहा 'उतर कर आ, नहीं तो खींच कर पटकते हैं नीचे।' एक जना ऊपर चढ़ने लगा रस्सी लेकर, बेचारे ने सोचा कि अगर पटका तो हाथ पैर टूटेंगे, कहा 'अच्छा मैं उतरता हूँ।' उतर कर आया। उन्होंने कहा 'खा हलुआ पूड़ी।' उसने कहा 'मैं हलुआ पूड़ी नहीं खाउँगा।' 'अच्छा ! जहर हमारे लिये है! खुद थोडे ही खायेगा। खा, नहीं तो मारेंगे डंडे।' उसने कहा 'मैं नहीं खाऊँगा आज।' उनको पक्का निश्चय हो गया कि ज़रूर जहर इसी ने मिलाया है। खूब उसकी पिटाई की अच्छी तरह से। जब उससे और सहन नहीं हुआ तब उसने कहा 'अच्छा मैं खा लेता हूँ।' खा लिया। अगले दिन गुरु जी के पास गया, गुरु जी ने कहा 'कल हलुआ पूड़ी तो नहीं खाया?' वह बोला 'हलुआ पूड़ी भी खाये, साथ में डंडे भी खाये।' तब उन्होंने कहा कि प्रारब्ध तो देहधारणमात्र का निमित्त कारण है। हलुआ पूड़ी नहीं खाना- यह तुम्हारा आरम्भ था। प्रारब्ध का विरोध करोगे तो डंडे साथ में खाने पड़ेंगे।

इसलिये देहधारणमात्र के निमित्त जो होवे, वह तुम दृष्ट या अदृष्ट के लिये नहीं कर रहे हो, वह तो तुम्हें करना ही पड़ेगा। उसको रोकने के लिये जो करोगे वह तुम आरम्भ करोगे। जैसे किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये प्रयत्न होता है वैसे ही निवृत्ति के लिये भी प्रयत्न होता है। जब तक व्यक्ति गुणों के अधीन है, तब तक तो प्रवृत्ति व निवृत्ति होती रहेगी। जिस चीज़ को ठीक समझता है, उसके लिये प्रवृत्ति करेगा, जिसको गलत समझता है उससे निवृत्ति करेगा। तब तक तो आरम्भ होगा। जब गुणातीत हो गया तब जानता है कि जैसे हलुआ पूड़ी खाना है वैसे ही बाजरे का सूखा रोट भी खाना है। इसलिये एक की तरफ प्रवृत्ति और दूसरे की तरफ निवृत्ति नहीं है। दृष्ट-अदृष्ट उद्देश्य से वह कोई चेष्टा नहीं करता। देहधारणमात्र के निमित्त अर्थात् प्रारब्धभोगमात्र के लिये जो प्रवृत्ति निवृत्ति आवश्यक है, वही होती है। इसलिये उसको सर्वारम्भ-परित्यागी कहते हैं।

'स गुणातीतः उच्यते'। उसको गुणातीत कहते हैं। 'उदासीनवत्' से लेकर के 'गुणातीतः स उच्यते' तक जो संन्यासी ज्ञान के अनन्तर, ज्ञाननिष्ठा रूपी जो गुणातीतता है, उसको प्राप्त करने में लगा हुआ है, उसका धर्म बताया, वह इन सब चीज़ों को करता है। जब तक कोशिश करने से ये धर्म किये जायें तब तक मुमुक्षु संन्यासी को साधनरूप से इन्हें करते रहना चाहिये। जब ये स्थिर हो जायें, अर्थात् इन्हें यत्नपूर्वक करना नहीं पड़े, अपने आप ही इनके संस्कारों से शरीर-मन की प्रवृत्ति ऐसी ही चले, तब ये ही गुणातीत के लक्षण हैं। किन्तु स्वसंवेद्य, स्वयं को ही पता चलने वाले लक्षण हैं। इसलिये पहले ही कहा था, जो उच्चकोटि का साधक होगा, उसके अन्दर उक्त धर्मों की विरोधी वृत्ति बनेगी और वहीं वह खत्म कर देगा, अतः बाहर से कुछ नहीं दीखेगा। परन्तु वृत्ति बनी है और उसने उसे हटाया। तब तक वह साधक है। और जब बाधितानुवृत्ति है अर्थात् वह बाध करता नहीं है,

अपने आप हो जाता है, तब वह गुणातीत हो गया। उच्चकोटि के साधक और सिद्ध में केवल स्वसंवेद्य फ़र्क है। परसंवेद्य लक्षण तो दोनों में होंगे। ।।२५।।

अब बताते हैं कि इस स्थिति की प्राप्ति कैसे होवे। कैसे ऐसा ज्ञान होवे जो गुणातीत बनना संभव हो? 'कथं त्रीन् गुणानतिवर्तते' (श्लोक२१) यह अर्जुन ने प्रश्न किया था। उसका उत्तर देते हैं कि यह स्थिति कैसे आती है कि केवल ज्ञाननिष्ठा होना शेष रह जाये

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

जो बहिर्मुखता छोड़कर परम प्रेम से सदा मेरा ही अनुसन्धान करता है, वह इन गुणों को पूर्णतः लाँघकर ब्रह्मभाव के समर्थ हो जाता है।

जो यति या कर्मी है वह इस स्थिति के लिये प्रयास कर सकता है। यति है तो सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक करता है। और कर्मी है तो कर्मफलत्याग-पूर्वक करता है। ज्ञान की प्राप्ति में दोनों प्रकार के लोग प्रवृत्त हो सकते हैं। जो कर्मी है उसको कर्मफल सर्वथा ईश्वरार्पण करना आवश्यक है, यह नहीं होगा तो वह कर्मयोग ही नहीं कर सकता। जिसको कर्मफल की किंचित् इच्छा भी है वह अभी ज्ञान का साधक नहीं हो सकता। यति क्योंकि सर्वकर्म-परित्याग कर चुका है अतः उसके लिये श्रवण-मनन के अतिरिक्त और कुछ कर्म प्राप्त ही नहीं है। दोनों में फ़र्क यह है कि कर्मी कर्म करके फल का त्याग करता है और यति को कर्म प्राप्त न होने से वह कर्म करता ही नहीं है। श्रवण-मनन से अतिरिक्त और कुछ भी उसके लिये कहीं विहित नहीं है। जो भी साधक है वह 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन मां सेवते'। 'अव्यभिचारेण'। एक वृति बनी-धन चाहिये। तब तक किसी ने कहा 'बेवकूफ कहीं का! गधा! ले ये पाँच रुपये।' जो पहली वृत्ति बनी थी धन की, वह वृत्ति दब गई, अपमान के विरोध की वृत्ति प्रबल हो गयी। तुम्हीं ने प्रवृत्ति की थी धन के लिये, फिर मान के लिये प्रवृत्ति हो गयी। इस प्रकार एक तरफ प्रवृत्ति होती है, कोई अन्य निमित्त आ गया तो दूसरी तरफ हो जाती है, तीसरी तरफ हो जाती है। इसको व्यभिचारी प्रवृत्ति कहते हैं। आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी- ये भी भक्तिपूर्वक अर्थात् प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं पर इनका भक्तियोग अव्यभिचारी नहीं है। या अर्थ चाहते हैं, या काम चाहते हैं, या किसी चीज़ को जानना चाहते हैं। इनकी भक्ति व्यभिचारिणी भक्ति है। भगवान् से तो प्रेम है, पर भगवान् से *ही* प्रेम नहीं है, दूसरी चीज़ों से भी प्रेम है। उस भक्तियोग से आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये भगवान् ने कहा 'अव्यभिचारेण'। सिवाय परमात्मा के और जिसे कभी कोई चीज़ चाहने योग्य नहीं लगती उसकी अव्यभिचारिणी भक्ति है। भक्ति शब्द का भक्तिसूत्रकारों ने अर्थ किया है, कि ईश्वर में परम अनुराग भक्ति है। *परम* अनुराग सिवाय अपने आत्मा के और किसी चीज़ के साथ हो ही नहीं सकता। बाकी जितनी चीज़ों से तुम्हारा प्रेम होगा, वह इसलिये होगा कि वह प्रेम करने से तुमको अच्छा लगता है। आगे,

तुम क्यों चाहते हो कि तुमको चीज़ अच्छी लगे? इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। अपने को अच्छा लगना यह स्वतः सिद्ध है। इसीलिये बड़े विस्तार से महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो भी चीज़ प्रिय है वह सब आत्मा के लिये ही प्रिय है। अतः जब भक्तिशास्त्रकार कहते हैं कि ईश्वर में परम अनुराग भक्ति है, तब स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर और आत्मा में एकता ही भक्ति का प्रकार हो सकता है। मध्यकाल में अनेक भक्ति–मत वाले आये, उन्होंने इसको उलटा दिया! वे कहते हैं, ईश्वर को अपने से अलग नहीं समझोगे तो भक्ति ही नहीं होगी! ईश्वर को अपने से अलग समझ कर भक्ति होगी। परन्तु तब अव्यभिचारी भक्ती नहीं होगी, व्यभिचारी रहेगी, और चीज़ें भी अच्छी लगेंगी, भगवान् भी अच्छे लगेंगे। ज्ञान की प्राप्ति के लिये जो आवश्यक है, वह अव्यभिचारिणी भक्ति है। व्यभिचारिणी भक्ति की कहीं प्राप्ति न हो जाये, भगवान् ने इसलिये कह दिया, 'अव्यभिचारेण'।

'भक्तियोगेन'। भक्ति ही योग है, साधन है। परमेश्वर से आत्यन्तिक आत्म–प्रेम ही साधन है। अहम्–प्रत्यय से जिसको हम समझ रहे हैं, वही परमेश्वर है–इस प्रकार भक्ति ही योग है– इसलिये परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। शुरू में सच्चिदानंद समझ में न आवे, तब तक सच्चिदानंद जिसमें हमें प्रतीत होता है उससे प्रेम कर लें। जब कहते हो 'सच्चिदानंद आनंद–कंद भगवान् कृष्णचंद्र की जय।' तब तुम कृष्ण को सच्चिदानंद ही मान कर आनंद–कंद कह रहे हो। वस्तुतः सच्चिदानंद तुम्हारे आत्मा का रूप है, पर तुमको अहम् प्रत्यय के अन्दर इतनी ज़्यादा भावना है कि अहम् कहते ही तुम अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि रूप में ही अपने को देखते हो। जब इस बात को समझते हो कि यह हमारा सच्चारूप नहीं है, हमारा सच्चा रूप सच्चिदानन्द है तब परम प्रेम कर पाते हो। अभी तो जब तुम कृष्ण को देखते हो तब तुम्हारे मन में आता है कि 'ये सच्चिदानन्द हैं'। अपने में तो सन्देह रहता है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ या नहीं, परन्तु श्रीकृष्ण आदि में सच्चिदानंदरूपता प्रधान रहती है। अतः उनका ध्यान करते हैं कि सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण सचमुच में हमारे अहम् प्रत्ययगम्य हैं। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का जो प्रेमपूर्वक ऐक्यचिन्तन, वही भक्तियोग है। उसके द्वारा जो 'मां सेवते' मेरा सेवन करता है। 'माम्' ईश्वर, तत्पदार्थ, सारे जगत् की सृष्टि स्थिति लय करने वाला, और अहम् प्रत्ययगम्य– दोनों एक हैं, यह चिंतन सेवन है। मेरा चिंतन किस प्रकार से? जो सच्चिदानंद सृष्टि स्थिति लय करने वाला है वही सच्चिदानंद मेरी अहम्–प्रतीति का वास्तविक विषय है। इस प्रकार से जो सेवन करता है अर्थात् परमेश्वर का भजन करता है, वह मुक्त हो जाता है। सच्चिदानंद अपने से अलग लग रहा है परन्तु बार–बार चिंतन करना है कि मुझ से एक है। जब तुम कहते हो 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' 'अहम् ब्रह्मास्मि', तब 'मैं' इस प्रतीति का जो लक्ष्य और ब्रह्म इस प्रतीति का जो लक्ष्य वे दोनों एक हैं– यही तुम्हारा तात्पर्य है। जब तक अहम्–प्रत्यय से तुमको अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् की प्रतीति है, तब तक तत्–प्रत्यय से तुमको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की भी प्रतीति रहेगी। जैसे ही अहम्–प्रत्यय से

प्रतीत होने वाला तुम को ब्राह्मण, मनुष्य, शरीर, मन, यहाँ तक कि अहम् का प्रत्यय भी नहीं लगेगा, तब तत् कहने से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की भी प्रतीति नहीं होगी; दोनों से एक ही सच्चिदानंद प्रतीत होगा। जब 'मैं' शब्द का प्रयोग करो तब तुम्हारे सामने सच्चिदानंद रहे और 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करो तो तुम्हारे सामने सच्चिदानंद रहे, तभी एकता का अनुभव हो सकेगा। यहाँ मूर्ति रखकर गंधाक्षतपुष्पादि चढाना सेवा नहीं है, यही सेवा है। आनन्दगीरि स्वामी ने स्पष्ट किया है 'सेवते पराक्चित्ततां विना सदाऽनुसन्दधातीत्यर्थः'। विषय-विचार सार्वथा छोड़कर निरन्तर ब्रह्मात्मता का निश्चय करना ही यहाँ के प्रसंग में सेवा है।

'सः' जो ऐसा करता है उसे जब अहम् और ब्रह्म दोनों के वाच्यार्थ सत्य प्रतीत होना खत्म हो जाते हैं तब 'एतान् गुणान् समतीत्य', सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तीनों से परे हो जाता है। जब तक तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ वास्तविक हैं तब तक गुण भी हैं। जब पदार्थ नहीं रहे तब गुण भी नहीं रहे। इसलिये 'समतीत्य' अर्थात् गुणों से परे होकर। जब तक सेवन करता है, तब तक ज़्यादा-से-ज़्यादा जिस समय वृत्ति सर्वथा एकाग्र हो जाती है उस समय अपने को गुण से अलग जानते हुऐ भी, जैसे ही वह समय खत्म हुआ वैसे ही फिर गुणों के साथ एक हो जाता है। यदि दिनभर में एक-दो मिनट भी ऐसा हो जाता है तो 'अतीत्य' तो कह सकते हैं पर उसको 'समतीत्य' नहीं कहते। जब कभी क्षणभर को भी गुणसंबंध नहीं रहे तब समतीत होना है। जो वास्तविक सेवन करता है वह ऐसा गुणों से पार चला जाता है।

तब 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' वह ब्रह्मरूप होने में समर्थ हो जाता है। 'भूयाय' अर्थात् भवनाय। ब्रह्मरूप है- बस इस बात में स्थित रहने में समर्थ हो जाता है, सब समय ब्रह्मरूप में स्थिर रहने में समर्थ हो जाता है। गुणों के कारण ही सच्चिदानंद सर्वज्ञ या अल्पज्ञ बनता है। गुण अर्थात् अविद्या, जिसके अन्दर तीनों गुण हैं। अविद्या के कारण ही, माया के कारण ही सच्चिदानन्द जीव भी बनता है, और ईश्वर भी बनता है। जैसे ही गुणों से अतीत चला गया अर्थात् अविद्या से अतीत चला गया, वैसे ही वह मोक्ष के लिये समर्थ हो गया।।२६।।

ऐसा क्यों है यह बताते हैं-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्यायस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

।। ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।

क्योंकि अविनाशी, अविकारी, नित्य, धर्मलभ्य, अव्यभिचारी आनन्दरूप परमात्मा प्रत्यगात्मरूप से प्रतिष्ठित है (इसलिये इस तरह आत्मा को जानने से मोक्ष हो जाता है।)

'हि' मायने जिस कारण से 'ब्रह्मणः प्रतिष्ठा अहम्।' ब्रह्म कहाँ प्रतिष्ठित है? अहम् में ही प्रतिष्ठित है। जिसमें नियम से रहता है वही प्रतिष्ठा है। अहम् जो वृत्ति है वह सिवाय प्रत्यगात्मा के और कभी किसी को विषय करती नहीं। 'मै ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ', आदि में शरीर आदि भी वृति के विषय हैं परन्तु जब ऐसा मान रहा है, तब भी अहम् का जो सचमुच में विषय है वह तो प्रत्यगात्मा है ही। ठीक जिस प्रकार रस्सी में तुम को जब साँप दीख रहा है, तव भी सचमुच में तुम्हारी आँख का सम्बन्ध तो रस्सी से ही है। तुमने इदन्तारूप से रस्सी को ही देखा है। जब तक तुम को 'यह' नहीं दीखे तब तक उसमें 'यह साँप है' इस अनुभव में आने वाला साँप भी नहीं दीखेगा! 'यह' किसका 'यह' है? रस्सी का है। वहाँ रस्सी नहीं होती तो 'यह है' की प्रतीति भी नहीं होती। 'यह' विषय कर रहा है रस्सी को। जब तुम साँप देख रहे हो तब भी 'यह' तो रस्सी ही रहती है। इसी प्रकार से अहम् का विषय तो प्रत्यगात्मा ही है; शरीर, वर्ण, आश्रम ये सब उसमें कल्पित हो कर रह जाते हैं। सचमुच में तो वहाँ प्रत्यगात्मा ही है। प्रत्यगात्मा तो ब्रह्म ही है।

क्यों ऐसा है कि भक्तियोग के द्वारा तुम मोक्ष के लिये समर्थ हो जाते हो? उसमें कारण है कि ब्रह्म की प्रतिष्ठा अहम् है। यह वाक्य बड़ा ही रहस्यमय है। कुछ लोग यहाँ तक तो आ जाते हैं कि 'मैं की प्रतिष्ठा ब्रह्म है। मैं ईश्वर से अलग नहीं। परन्तु ईश्वर तो मुझ से अलग है ही!' भगवान् यह भी कह सकते थे कि अहम् की प्रतिष्ठा ब्रह्म है। यह नहीं कहा है। कहीं संदेह न रह जाये, इसलिये कहा 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'। यही वेदान्त को अनुभव-शास्त्र बना देता है! बाकी जितने ईश्वरवादी हैं, सब कहते हैं कि ईश्वर तुमको श्रद्धा से मान लेना चाहिये। ईश्वर की सिद्धि में इतने विरोधी तर्क सामने आते हैं कि सचमुच में कोई तर्क से ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। वेदान्त पर यह दोष लगता है, कि 'तुम भी ईश्वर को शास्त्रसिद्ध मानते हो'। परन्तु हम जिस ईश्वर को मानते हैं उसकी विशेषता है कि शास्त्रसिद्ध होने पर भी नित्य अपरोक्ष सिद्ध है। क्योंकि कोई ऐसा नहीं है जो मैं-प्रत्यय को न करता हो। मैं को सब जानते हैं। वेदान्त कहता है कि मैं को तुम स्वयं अपरोक्ष जानते हो इसलिये इसमें तुम को संदेह रहा नहीं। तुम मैं को किसी शास्त्र से तो जानते नहीं हो! शास्त्र यह करता है कि 'मैं' क्या तत्त्व है यह समझा देता है। तुम अलग-अलग चीज़ों को 'मैं' समझते रहते हो। कभी शरीर में, कभी मन में कभी बुद्धि में मैं- प्रतीति होती है। वस्तुतः 'मैं' को जब ढूंढते हैं तो वह ब्रह्म निकलता है! मैं ब्रह्म है, इसको ढूंढने के लिये प्रवृत्ति कराने वाला शास्त्र है। शास्त्र नहीं होता तो हम यही समझते कि मैं का पता ही नहीं लगता है। शास्त्र कहता है कि मैं का पता लगता है, ज़रा डट कर लगे रहना पड़ेगा। ब्रह्म चूंकि अहम् में प्रतिष्ठित है इसलिये वेदान्त-शास्त्र सर्वथा अनुभव-शास्त्र है, इसमें किन्हीं भी इधर-उधर की चीजों को तुम आँखें मूंद कर मानो- यह नहीं है।

वह ब्रह्म कैसा है? यह बतलाते हैं: 'अमृतस्य' यह जो आगे विशेषतायें बतला रहे हैं, ये शास्त्रसिद्ध हैं। इसी का अनुभव करना है जिसके लिये यह भक्तियोग बतलाया। ब्रह्म कैसा

है? अविनाशी है। अर्थात् तुम्हारा जो प्रत्यगात्मा है वह अविनाशी है। इसलिये जो-जो विनाशी है वह सब तुम नहीं हो। यह विचार करने का रास्ता मिल गया। तुम जिस-जिस को मानते हो 'यह मैं हूँ', यहाँ तक कि जो तुम्हारा अहम् प्रत्यय है, वह भी सुषुप्ति में नहीं रहता। परन्तु सुषुप्ति में न रहने पर भी, उठने पर जब अहम् आता है, तब अहम् का अनुभव क्या होता है? 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं बड़े आनन्द से सोया।' दो अनुभव होते हैं, मैंने कुछ नहीं जाना; यहाँ तक कि मैं को मैं-रूप से, वृत्तिरूप से नहीं जाना। इसलिये इस वृत्ति से अतिरिक्त कोई है जिसको फिर याद किया जा रहा है कि बड़े आनन्द से सोया। सब चीज़ों का विनाश हमको सुषुप्ति में प्रत्यक्ष है; और उन सब चीज़ों के हट जाने पर भी हम बने रहते हैं, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिये कहा कि यह अमृत है।

नाश दो तरह का होता है। एक, कपडा़ जल गया, तो भी कहते हैं कपडा़ नष्ट हो गया। कपडा़ जरजर हो जाये, तब भी कहते हैं कि कपडा़ खत्म हो गया। जला नहीं है, दीख रहा है, पर बिलकुल उसके धागे-धागे इधर-उधर से कमज़ोर हो गये, तब भी 'नष्ट हो गया' कहते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह ब्रह्म नष्ट तो नहीं होता है लेकिन जीर्ण हो जाता है? इस सन्देह को हटाने के लिये कह दिया, 'अव्ययस्य च'। उसके अन्दर किसी प्रकार का विकार भी नहीं है। यह भी अनुभव के साथ मिला लो : बचपन से लेकर अब तक हमारे अन्दर कितनी चीज़ें आयीं और कितनी चीज़ें गयीं। पर क्या कोई विकार हमें विकारी कर सका? घुटना ठीक था तो दौड़ते हुऐ पहाड़ पर चढ़ जाते थे। बुढ़ापा आ गया, घुटना काम नहीं करता है तो एक कदम चलने में ही भारी पड़ता है। परन्तु क्या हमें अपने मैं में कोई विकार दीखता है? उलटा यही लगता है कि, 'घुटना बदल देवे डाक्टर, तो हम वैसे ही हैं।' सारे विकार दूसरी जगह दीखते हैं। प्रत्यगात्मा के अन्दर किसी विकार की कभी प्रतीति होती नहीं। वही ब्रह्म का रूप है।

और कैसा है? 'शाश्वतस्य च धर्मस्य'। शाश्वत है। शाश्वत और सनातन का एक ही अर्थ है। जो धर्म हमेशा एक जैसा रहता है, नित्य रहता है, वही सनातन धर्म है। शाश्वत धर्म वह है जो इस अहम् प्रत्यय के परमात्मस्वरूप को स्पष्ट करता है। वही शाश्वत धर्म है। जो आत्मा की अपरमात्मरूपता दृढ करता है, जो प्रत्यगात्मा नहीं है उसी भाव को दृढ करता है कि तुम मनुष्य ही हो, तुम भारतीय ही हो, इत्यादि, वह शाश्वत धर्म नहीं हो सकता। जो भारतीय थे वे अचानक एक दिन पाकिस्तानी बन गये! फिर एक दिन बांग्लादेशी बन गये! यदि वस्तुतः भारतीय होते तो ऐसा नहीं हो सकता था। इसलिये 'मैं इस देश का हूँ,' यह शाश्वत नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा हुआ ब्राह्मण है। अब, ब्राह्मणी कौन? तो जो ब्राह्मण और ब्राह्मणी से पैदा हुई हो! ठेठ तुम्हारे गोत्रा-प्रवर्तक ऋषि से अब तक की सारी परंपरा इसी तरह की रही हो, तब तुम ब्राह्मण हो। इन हज़ारों पीढ़ियों में एक औरत का भी मन खराब कभी न हुआ हो, इसका जिम्मा कौन लेगा! यदि एक जगह भी गड़बड़ी हो गई है तो वहाँ से आगे आज तक का सारा क्रम गड़बड़ हो गया। ठीक है,

व्यावहारिक रूप से स्वयं को भारतीय, ब्राह्मण आदि मान लो परन्तु इस सबको शाश्वत नहीं कह सकते। वंशपरंपरा में ज़रूर गड़बडी़ हुई यह हम नहीं कह रहे, पर कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता अतः इस को शाश्वत धर्म भी नहीं कह सकते। परन्तु जो इस अहम्-प्रत्यय के विषय प्रत्यगात्मा के ब्रह्मरूप को प्रकट करने वाला है, वह धर्म तो हमेशा वही रहेगा। इसलिये चाहे लौकिक धर्म होवे देश जाति इत्यादि, चाहे शास्त्रीय होवे ब्राह्मण आदि, इन सब की अपेक्षा जो आत्मधर्म है वही शाश्वत है, नित्य है, एक जैसा है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

शाश्वत धर्म के द्वारा जो प्राप्त होने वाला सुख है वह आनंदरूप है। इस धर्म से प्राप्ति आनंदरूप की होनी है, और किसी लोक आदि की तो होनी नहीं है! वह सुख कैसा है? 'एकान्तिकस्य च'। सुख के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यद्यपि कई बार कहते हैं कि मोक्ष आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति-पूर्वक परमानंद की प्राप्ति है तथापि असल में तो परमानंदघन जब तुमने कह दिया तब आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति तो अर्थसिद्ध हो जाती है क्योंकि घन में किसी दूसरी चीज़ के रहने की जगह ही नहीं आनंद के सिवाय। उसको जो प्राप्त कराने वाला है वही शाश्वत धर्म है। ऐसा जो ब्रह्मरूप परमात्मा है, उसकी प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मा है। सम्यक् ज्ञान से यह निश्चय हो जाता है कि मैं ब्रह्म ही हूँ, तदतिरिक्त कुछ भी नहीं हूँ इसी लिये आत्मज्ञान से मोक्ष बताया। भक्तों के ऊपर अनुग्रह आदि प्रयोजन वाली परमेश्वर की शक्ति प्रवृत्त होती है इसीलिये कि लोग इस ब्रह्मरूपता में प्रतिष्ठित हो जायें।

।। चौदहवाँ अध्याय ।।

है? अविनाशी है। अर्थात् तुम्हारा जो प्रत्यगात्मा है वह अविनाशी है। इसलिये जो-जो विनाशी है वह सब तुम नहीं हो। यह विचार करने का रास्ता मिल गया। तुम जिस-जिस को मानते हो 'यह मैं हूँ', यहाँ तक कि जो तुम्हारा अहम् प्रत्यय है, वह भी सुषुप्ति में नहीं रहता। परन्तु सुषुप्ति में न रहने पर भी, उठने पर जब अहम् आता है, तब अहम् का अनुभव क्या होता है? 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं बड़े आनन्द से सोया।' दो अनुभव होते हैं, मैंने कुछ नहीं जाना; यहाँ तक कि मैं को मैं-रूप से, वृत्तिरूप से नहीं जाना। इसलिये इस वृत्ति से अतिरिक्त कोई है जिसको फिर याद किया जा रहा है कि बड़े आनन्द से सोया। सब चीज़ों का विनाश हमको सुषुप्ति में प्रत्यक्ष है; और उन सब चीज़ों के हट जाने पर भी हम बने रहते हैं, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिये कहा कि यह अमृत है।

नाश दो तरह का होता है। एक, कपड़ा जल गया, तो भी कहते हैं कपड़ा नष्ट हो गया। कपड़ा जरजर हो जाये, तब भी कहते हैं कि कपड़ा खत्म हो गया। जला नहीं है, दीख रहा है, पर बिलकुल उसके धागे-धागे इधर-उधर से कमज़ोर हो गये, तब भी 'नष्ट हो गया' कहते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह ब्रह्म नष्ट तो नहीं होता है लेकिन जीर्ण हो जाता है? इस सन्देह को हटाने के लिये कह दिया, 'अव्ययस्य च'। उसके अन्दर किसी प्रकार का विकार भी नहीं है। यह भी अनुभव के साथ मिला लो : बचपन से लेकर अब तक हमारे अन्दर कितनी चीज़ें आयीं और कितनी चीज़ें गयीं। पर क्या कोई विकार हमें विकारी कर सका? घुटना ठीक था तो दौड़ते हुऐ पहाड़ पर चढ़ जाते थे। बुढ़ापा आ गया, घुटना काम नहीं करता है तो एक कदम चलने में ही भारी पड़ता है। परन्तु क्या हमें अपने मैं में कोई विकार दीखता है? उलटा यही लगता है कि, 'घुटना बदल देवे डाक्टर, तो हम वैसे ही हैं।' सारे विकार दूसरी जगह दीखते हैं। प्रत्यगात्मा के अन्दर किसी विकार की कभी प्रतीति होती नहीं। वही ब्रह्म का रूप है।

और कैसा है? 'शाश्वतस्य च धर्मस्य'। शाश्वत है। शाश्वत और सनातन का एक ही अर्थ है। जो धर्म हमेशा एक जैसा रहता है, नित्य रहता है, वही सनातन धर्म है। शाश्वत धर्म वह है जो इस अहम् प्रत्यय के परमात्मस्वरूप को स्पष्ट करता है। वही शाश्वत धर्म है। जो आत्मा की अपरमात्मरूपता दृढ करता है, जो प्रत्यगात्मा नहीं है उसी भाव को दृढ करता है कि तुम मनुष्य ही हो, तुम भारतीय ही हो, इत्यादि, वह शाश्वत धर्म नहीं हो सकता। जो भारतीय थे वे अचानक एक दिन पाकिस्तानी बन गये! फिर एक दिन बांग्लादेशी बन गये! यदि वस्तुतः भारतीय होते तो ऐसा नहीं हो सकता था। इसलिये 'मैं इस देश का हूँ,' यह शाश्वत नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा हुआ ब्राह्मण है। अब, ब्राह्मणी कौन? तो जो ब्राह्मण और ब्राह्मणी से पैदा हुई हो! ठेठ तुम्हारे गोत्रा-प्रवर्तक ऋषि से अब तक की सारी परंपरा इसी तरह की रही हो, तब तुम ब्राह्मण हो। इन हज़ारों पीढ़ियों में एक औरत का भी मन खराब कभी न हुआ हो, इसका जिम्मा कौन लेगा! यदि एक जगह भी गड़बड़ी हो गई है तो वहाँ से आगे आज तक का सारा क्रम गड़बड़ हो गया। ठीक है,

व्यावहारिक रूप से स्वयं को भारतीय, ब्राह्मण आदि मान लो परन्तु इस सबको शाश्वत नहीं कह सकते। वंशपरंपरा में ज़रूर गड़बडी हुई यह हम नहीं कह रहे, पर कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता अतः इस को शाश्वत धर्म भी नहीं कह सकते। परन्तु जो इस अहम्-प्रत्यय के विषय प्रत्यगात्मा के ब्रह्मरूप को प्रकट करने वाला है, वह धर्म तो हमेशा वही रहेगा। इसलिये चाहे लौकिक धर्म होवे देश जाति इत्यादि, चाहे शास्त्रीय होवे ब्राह्मण आदि, इन सब की अपेक्षा जो आत्मधर्म है वही शाश्वत है, नित्य है, एक जैसा है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

शाश्वत धर्म के द्वारा जो प्राप्त होने वाला सुख है वह आनंदरूप है। इस धर्म से प्राप्ति आनंदरूप की होनी है, और किसी लोक आदि की तो होनी नहीं है! वह सुख कैसा है? 'एकान्तिकस्य च'। सुख के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यद्यपि कई बार कहते हैं कि मोक्ष आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति-पूर्वक परमानंद की प्राप्ति है तथापि असल में तो परमानंदघन जब तुमने कह दिया तब आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति तो अर्थसिद्ध हो जाती है क्योंकि घन में किसी दूसरी चीज़ के रहने की जगह ही नहीं आनंद के सिवाय। उसको जो प्राप्त कराने वाला है वही शाश्वत धर्म है। ऐसा जो ब्रह्मरूप परमात्मा है, उसकी प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मा है। सम्यक् ज्ञान से यह निश्चय हो जाता है कि मैं ब्रह्म ही हूँ, तदतिरिक्त कुछ भी नहीं हूँ इसी लिये आत्मज्ञान से मोक्ष बताया। भक्तों के ऊपर अनुग्रह आदि प्रयोजन वाली परमेश्वर की शक्ति प्रवृत्त होती है इसीलिये कि लोग इस ब्रह्मरूपता में प्रतिष्ठित हो जायें।

।। चौदहवाँ अध्याय ।।

ॐ

पन्द्रहवाँ अध्याय: पुरुषोत्तम योग

चौदहवें अध्याय के अन्त में बतलाया, कि क्योंकि कर्मियों को कर्मफल देने वाला भी मैं ही हूँ और जो निवृत्ति-परायण, ज्ञान-साधना करने वाले हैं, उनके ज्ञान का फल देने वाला भी मैं ही हूँ, इसीलिए मेरी सेवा मोक्षफलक है। 'फलमत उपपत्तेः' के द्वारा ब्रह्मसूत्र (३.२.३८) में भी यही निर्णय किया कि परमेश्वर ही प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग, दोनों का फल देने वाले हैं। प्रवृत्ति मार्ग का फल देने के लिये वे माया शक्ति से फलरूप में बन जाते हैं; और ज्ञान का फल देने के लिये वे माया-रहित शुद्धरूप रह जाते हैं। कर्म का तो मायाविशिष्ट चेतनरूप से फल देते हैं, और ज्ञान का निर्विशेष चेतनरूप से फल देते हैं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों के द्वारा परमेश्वर की ही भक्ति होती है। जब देवताओं का आराधन भेद-बुद्धि से किया जाता है, तब भी देवताओं के अंदर स्थित परमेश्वर ही फल देता है, यह भगवान् (९.२३) कह आये हैं। तत्-तत् देवतारूप में वे भगवान् ही स्थित होकर, श्रद्धा के अनुरूप फल देकर, उस रूप में ही उसकी श्रद्धा को बढ़ाते हैं। परंतु देवता मानकर उपासना करने वाला ठीक प्रकार से समझकर उपासना नहीं करता इसलिये उसको तुच्छ फलों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग, पुत्र आदि इहलोक परलोक के फल मिलते हैं, परन्तु परमेश्वर नहीं मिलता। भेद-बुद्धि को छोड़कर जब, परमेश्वर के स्वरूप को जानकर उनकी उपासना करता है, तब परमेश्वर के दिव्य भाव की प्राप्ति होकर कल्पांत में मुक्ति होती है और निवृत्ति-परायण की जीते हुए यहीं मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार, मेरी प्रसन्नता से ज्ञान-प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है, यहीं पर गुणातीत भाव से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। प्रत्यगात्मा के तत्त्व को जो ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है, वही गुणातीत है - यह भगवान् ने विस्तार से बतलाया।

अब, यद्यपि अुर्जन ने पूछा तो नहीं कि उस परमात्मा का तत्त्व है क्या? वास्तविक स्वरूप है क्या? तथापि भगवान् अपनी तरफ से उस तत्त्व का उपदेश करते हैं। जो परब्रह्म तत्त्व, शाश्वत धर्म का, सुख का, ऐकान्तिक सुख का अर्थात् मोक्ष का, फल देने वाला अमृत-स्वरूप और अव्यय स्वरूप है, उसको समझाने के लिये श्रुतियों के अंदर अश्वत्थ वृक्ष का रूपक लिया गया है। कठोपनिषद् में कहा है 'ऊर्ध्वमूलः अवाक्शाखः एषोश्वत्थः

सनातनः' (६.१) 'ऊर्ध्व' अर्थात् उत्कृष्ट; संसार वृक्ष का मूल उत्कृष्ट, श्रेष्ठ है। और जो यह संसार वृक्ष पैदा हुआ है, वह अवाक्शाख है, नीचे की ओर शाखाओं वाला है। वृक्ष रूप से क्यों कल्पना श्रुतियों ने की है, जिसका यहाँ भगवान् अनुवाद कर रहे हैं? इसलिये कि वृक्ष की विशेषता यह है कि वह काटने के योग्य है। 'ओ व्रश्चू छेदने' (तु.प.से.) धातु का अर्थ होता है छेदन करना, काटना। उसी से वृक्ष शब्द बनता है, जिसका अर्थ है – जो काटने के योग्य है। यह संसार भी काटने योग्य अतः वृक्ष है। तुमको सारे फलों को यही देता है। जैसे पेड़ तुमको पत्ते देता है, फल देता है, शाखाएँ देता है, सब कुछ देता है, पर है वह छेदन के योग्य, काटने के योग्य, उसी प्रकार संसार को देखकर ही परमात्मा समझ में आता है। यदि यह संसार सामने न हो, तो परमात्मा को समझने का कोई तरीका नहीं है। महाप्रलय के अंदर संसार नहीं होता तो साधना करके मुक्ति भी नहीं होती। अतः संसार अत्यंत आवश्यक है, जैसे पेड़ अत्यंत आवश्यक है, परन्तु है काटने के योग्य। जो कुछ भी साधना होगी वह सब संसार के अंदर ही होगी। इसलिये वृक्ष-रूपक की कल्पना संसार का स्वरूप-वर्णन करके वैराग्य के लिए है क्योंकि जिसको संसार से वैराग्य होता है वही परमात्मा के तत्त्व को जानने का अधिकारी होता है। जिसमें विरक्ति नहीं है, वह किसी हालत में परमात्मा के तत्त्व को नहीं समझ सकता। परमात्म-तत्त्व में ही संसार कल्पित है। जब तक कल्पित अच्छा लगेगा, तब तक वास्तविक चीज़ का ज्ञान ही सम्भव नहीं। बिना कल्पित से दृष्टि हटाये, वास्तविक चीज़ प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। ठीक जिस प्रकार से पत्थर की मूर्ति बड़ी सुंदर बनी हुई है। जब तक उस मूर्ति की सुन्दरता से तुम आकृष्ट रहोगे तब तक वहाँ पत्थर है – यह बात समझ ही नहीं सकते। मूर्ति सचमुच में पत्थर है, यह समझने के लिए मूर्ति से मन को हटाना ज़रूरी होता है, वैराग्य आवश्यक होता है। जब तक कल्पित से वैराग्य नहीं होगा, तब तक वास्तविक चीज़ को नहीं देख सकते। आसक्तिवश कल्पित के मोह में वास्तविकता का परीक्षण नहीं करने से हानि ही होती है। ठीक इसी प्रकार से, शास्त्र कहता है, संसार को देखो, इसका बड़ा अच्छा नाम-रूप है, मना नहीं करते लेकिन परीक्षा कर के देख लो कि इसमें सचमुच में तत्त्व कितना है? किन्तु पुत्र, स्त्री, धन, इन सब में इतनी आसक्ति है कि कोई सच्चाई की परीक्षा करने को तैयार नहीं होता। नाम-रूप में वैराग्य होगा, तब इसकी परीक्षा करके, परमात्मा, जो इसकी वास्तविकता है, उसके तत्त्व के ज्ञान को समझने में अधिकार आयेगा, नहीं तो अधिकार ही नहीं आता। वैराग्य के बिना, तत्त्वज्ञान में अधिकार नहीं। इसलिये सबसे पहले, परमात्म-तत्त्व को बताने के लिये, वैराग्य का निरूपण करते हैं –

श्रीभगवान् उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

श्रीभगवान् ने कहा – ऊर्ध्व ब्रह्म जिसका मूल है, उसकी अपेक्षा नीचे महदादि जिसकी शाखाओं की तरह हैं, वेद जिसके पत्तों की तरह हैं, ऐसे इस अनादि-अनंत संसार को अ-श्व-त्थ (अर्थात् कल तक भी न रहने वाला) कहते हैं। मूल परमात्मा समेत संसार वृक्ष का जानकार ही वेदार्थ का ज्ञाता है।

वृक्षों में भी अश्वत्थ वृक्ष को चुना। पहले (१०.२६) भी भगवान् कह आये हैं – 'वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ'। अश्वत्थ को क्यों इतनी प्रधानता श्रुति ने दी और तदनुकूल वाक्य में भगवान् ने भी दी? वैसे तो अश्वत्थ, पीपल के वृक्ष को कहते हैं, और भगवान् ने उसको अपनी विभूति बता ही दिया है। परन्तु अश्वत्थ शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं: एक तो श्वः कहते हैं आने वाले कल को। 'श्वः न तिष्ठति इति अश्वत्थः'। कल तक जो रहे उसे 'श्वत्थ' कहेंगे, और कल तक जो न रहे उसे 'अश्वत्थ' कहेंगे। संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं है, जो कल तक रहती हो! यहाँ कल का मतलब, हम लोगों के चौबीस घंटों का कल ही मत लेना, प्रतिक्षण ही कल है। इसलिये महर्षि पतंजलि कहते हैं 'सर्वे भावाःक्षणपरिणामिनः' जितनी भी अनात्म वस्तुएँ हैं, सब हर क्षण बदलती हैं। यह बात आज का विज्ञान भी कहता है। प्रत्येक पदार्थ के जो अणु हैं उनमें गति है। हर अणु के अन्दर जो परमाणु हैं, वे भी निरन्तर घूमते हैं। आगे अणुओं के अन्दर जो ऋणाणु और धनाणु हैं वे भी हमेशा स्थान-परिवर्तन करते हैं, हर क्षण बदलते हैं। जब धनाणु और ऋणाणु का स्थान बदलेगा, तब परमाणु में परिवर्तन होगा। परमाणु में परिवर्तन हुआ तो अणु में परिवर्तन होगा। अणु में परिवर्तन हुआ तो हर पदार्थ के अन्दर फ़र्क हो गया। जल्दी दीखता नहीं आँख से, यह बात भी ठीक है। बढ़िया साड़ी खरीदो, एक बार पहन कर खूब अच्छी तरह से उसमें फिनाइल की गोलियाँ डाल कर प्लास्टिक में बंद कर रख दो। फिर किसी विशिष्ट शादी के दिन, बारह साल के बाद उसको निकाल कर पहनो, तो थोड़ा-सा ज़ोर लगते ही चर्र फट जाती है। आश्चर्य होता है, कि 'हमने तो बारह साल पहनी नहीं, बड़ी सुरक्षा से रखी, पड़े-पड़े क्या हो गया?' जब इतना परिवर्तन हो गया कि फट गई है, तब तो पता लगता है, अन्यथा जो सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिसके कारण ही अन्त में वह फट जाती है, उन परमाणुओं के विकारों को हम इन आँखों से देख नहीं पाते।

ठीक इसी प्रकार हम अपने शरीर के परिवर्तन को नहीं देख पाते। हर दिन, पानी समेत हम लोग कम से कम दो किलो अन्न तो अपने पेट में डाल ही लेते हैं। यदि वज़न उतने का उतना ही रहता है, तो दो किलो का क्या हुआ? दो किलो में से, कुछ तो शरीर में चला गया, और शरीर का जो दो किलो था वह उस बचे हुए अन्न में मिलकर विष्ठा, मूत्र, प्रस्वेद आदि के रूप में निकल गया। यदि दो किलो वज़न तुम्हारा रोज़ निकल रहा है तो जो तुम्हारा आज का मूलधन में पूरा शरीर है वह कुछ दिनों में पूरा ही बदल जायेगा। तुम्हारा वज़न यदि साठ किलो है तो महीने भर के बाद आज वाले शरीर में से क्या बचेगा? पुराना सब निकल चुकेगा! सब नया माल आ जायेगा। फिर भी हमें बुद्धि क्या होती है? यह वही शरीर है जैसे दीख रहा

था, 'यह वही साड़ी है!' रोज़ तो कुछ पता नहीं लगता किन्तु पचास साल के बाद, साठ साल के बाद, कभी आँख गड़बड़ाती है, कभी दाँत गड़बड़ाते हैं, कभी हड्डियाँ गड़बड़ाती हैं। आदमी सोचता है, मैंने बड़े ध्यान से शरीर को रखा है, कुछ गड़बड़ खाया नहीं, कोई गड़बड़ काम किया नहीं, शरीर को हो क्या गया? जिस चीज़ को देखो वह क्षण-परिणामी है। इसलिये 'श्वः' अर्थात् अग्रिम क्षण तक जो नहीं रहता, वह अश्वत्थ है।

दूसरा अर्थ होता है–'अश्वो यत्र तिष्ठति'। अश्व अर्थात् घोड़ा। घोड़े को जहाँ बाँध कर रखा जाता है वह भी अश्वत्थ है। अश्वत्थ का वृक्ष बड़ा मज़बूत होता है, उसमें घोड़े को बाँध दो तो फिर घोड़ा कहीं जाता नहीं। उस वृक्ष के ही चारों ओर घूम सकता है बस, तोड़ कर जा नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार से, इन्द्रियाँ हमारे घोड़े हैं। वेद (कठ ३.४) कहता है–'इन्द्रियाणि हयान् आहुः' इन्द्रियों को घोड़ा कहा है श्रुति ने। ये इन्द्रियाँ इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष से बँधी हुई हैं, इसलिये ये संसार वृक्ष में ही सर्वत्र घूमती रहती हैं। इन्द्रियों के द्वारा इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं है। सारी इन्द्रियाँ इसी के अंदर लगी हुई हैं, बँधी हुई हैं, इससे कहीं जाने का इनको मार्ग नहीं है, इसलिये भी यह संसार अश्वत्थ कहा जाता है।

वेद ने कहा है–'एषोऽश्वत्थः सनातनः', एषः अर्थात् संसार कोई दूसरी चीज़ नहीं समझ लेना! एषः, जो हर क्षण तुम्हारे सामने मौज़ूद है। संस्कृत में 'एतत्' कहते हैं जिसे हिन्दी में 'यह' कहते हैं। संसार 'वह' नहीं है, 'यह' है। 'वह' तो वह होता है, जो हमें सामने नहीं दीख रहा हो। जो सामने दीख रहा है उसको 'यह' कहते हैं। संसार 'यह' है। जो तुमको दीख रहा है, यही अश्वत्थ वृक्ष है।

यह अश्वत्थ वृक्ष कैसा है? बड़ी अद्भुत कल्पना है, 'ऊर्ध्वमूलः'। मूल अर्थात् जिससे वृक्ष पैदा होता है। जिससे यह पैदा हुआ है, वह 'ऊर्ध्व' है। ऊर्ध्व मायने उत्कृष्ट, श्रेष्ठ है। अथवा ऊपर है। वेदान्तों के अंदर प्रायः अधिष्ठान को 'नीचे' बतलाते हैं। अधिष्ठान का मतलब ही होता है, जिसके ऊपर कुछ स्थित हो। जिस परमात्मा पर यह संसार कल्पित है वह इसका अधिष्ठान बताया जाता है। पेड़ की जड़ भी नीचे होती है, यहाँ श्रुति और भगवान् मूल को ऊर्ध्व क्यों कह रहे हैं? आचार्य शंकर ने पाँच हेतु बताये हैं परमात्मा की ऊर्ध्वता में: पहले तो 'कालतः ऊर्ध्वम्'। काल की दृष्टि से परमात्मा संसार से ऊर्ध्व है। जब सृष्टि हुई, तब संसार हुआ; और सृष्टि से पहले भी एकमात्र परमात्मा था ही, इसलिये इस संसार से, काल की दृष्टि से परमात्मा पहले है। 'सूक्ष्मत्वात्' यह सूक्ष्म होने से भी ऊर्ध्व है। दृश्य महाभूतों के अन्दर, पृथ्वी की अपेक्षा जल सूक्ष्म है। पृथ्वी तो ठोस होती है। पत्थर ठोस है। उसकी अपेक्षा जल पोला है। इसलिये जल के अन्दर तो तुम पत्थर डाल सकते हो, पर पत्थर में जल नहीं डाल सकते। पत्थर पर डाला हुआ जल सारा बह जाता है। इसलिये जल में अधिक सूक्ष्मता है। जल की अपेक्षा अग्नि सूक्ष्म है। अग्नि की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है। वायु की अपेक्षा आकाश सूक्ष्म है। आकाश की अपेक्षा भी माया सूक्ष्म है। उसका भी कारण अव्यक्त माया-शक्ति वाला ब्रह्म ही है, वही उसका मूल है। इसलिये परमात्मा माया

की अपेक्षा भी सूक्ष्म है। संसार से सर्वथा सूक्ष्म होने के कारण वह ऊर्ध्व है। 'कारणत्वात्' कारण होने से भी ऊर्ध्व है। कारण हमेशा कार्य से सूक्ष्म होता है। इस संसार में आकाश से पृथ्वी पर्यन्त सब का वह कारण है। बाकी सब उसका कार्य है, वही कारण है। कारण की दृष्टि से भी वह ऊर्ध्व है। 'नित्यत्वात्' संसार में सारे पदार्थ, जैसा अभी कहा, क्षणपरिणामी हैं। एकमात्र परमात्मा कभी भी परिवर्तित नहीं होता। इसलिये वह नित्य है, स्वरूप से नित्य है। संसार स्वरूप से नित्य नहीं है। इसलिये भी परमात्मा संसार से श्रेष्ठ, ऊर्ध्व है। नित्य पदार्थ लोक में सर्वत्र विवेकियों द्वारा अनित्य से श्रेष्ठ माना जाता है। अविवेकी तो तत्काल काम में लेकर फैंकने योग्य चीज़ों को अच्छा मानते हैं। यहाँ तक कि एक पति या पत्नी को भी जीवनभर निभाने में उन्हें कठिनाई होती है! ऐसे लोगों को तो कभी परमात्म तत्व समझ में ही नहीं आयेगा। क्योंकि परमात्मा नित्य है, अतः वे कहेंगे कि सबसे बेकार है! और 'महत्त्वात्' सब के अंदर व्यापक है, इसलिये सबसे बड़ा होने से भी ऊर्ध्व है। सब का कारण है, इसलिये सब में व्याप्त है, सब कुछ उस से व्याप्य है। इस प्रकार, i) काल की दृष्टि से ii) सूक्ष्मता की दृष्टि से, iii) कारणता की दृष्टि से iv) नित्यता की दृष्टि से v) व्यापकता की दृष्टि से; इन सब दृष्टियों से परमात्मा इस संसार से ऊर्ध्व है। इसलिये कहा–'ऊर्ध्वमूलम्' संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष का मूल परमात्मा उत्कृष्ट है, अतः यह संसार-वृक्ष ऊर्ध्वमूल है।

यह बात कई लोगों को खटकती है, यह कल्पना बड़ी विचित्र लगती है। वृक्ष का मूल हमेशा ज़मीन में रहता है। वहीं से वह अपनी सारी शक्ति लेता है। दृष्टांत वह होता है जो देखा जाये। ऊपर मूल वाला वृक्ष कहीं दीखता नहीं। इस समस्या के समाधान में पहली बात तो यह है कि दृष्टांत वृक्ष-अंश में है, मूल में नहीं। दूसरी बात, कभी अगर मनुष्य शरीर को देखो तो इसके ज्ञान और क्रिया का केन्द्र तो सिर है, भेजा है; देखोगे तो वह ठीक जड़ों की तरह फैला हुआ है, और जो रीढ़ की हड्डी है, वह नीचे है। मनुष्य शरीर के अन्दर ऐसा वृक्ष देखा जाता है। बार-बार शास्त्रों ने इस बात को कहा है कि यह ब्रह्माण्ड यदि ठीक से देखना हो तो पिण्डाण्ड को देखो। यह आधारभूत फर्क है आधुनिक लोगों के समझने के तरीके में और हम लोगों के समझने के तरीके में। कई बार लोग कहते हैं कि इन सूक्ष्म यंत्रों के बिना प्राचीनों ने इन चीज़ों का कैसे पता लगाया? ऐसे-ऐसे भौतिक विज्ञान के परिणाम हैं जो वेदों के अंदर भी आये हैं, पुराणों के अंदर भी आये हैं। नतीजा एक मिल रहा है, परन्तु इन्होंने अत्यंत सूक्ष्म यंत्र बनाकर परीक्षण किया, और ऋषियों के पास ऐसे औजार थे नहीं तो उन्हें कैसे पता चला? यह कह नहीं सकते कि अन्दाज़ से बताया क्योंकि एक-दो नतीजे नहीं, बीसियों निष्कर्ष हैं जो जैसे ऋषियों ने बताये वैसे ही आधुनिकों को मिल रहे हैं, और विरुद्ध कोई मिल नहीं रहा। अतः आश्चर्य होता है। किन्तु सूत्र यह है, कि तुम बाहर की चीज़ों को देख कर शरीर के बारे में अतिदेश करते हो; प्रयोग तो बाहर करते हो ओर 'वहाँ ऐसा हुआ तो शरीर में भी ऐसा होगा' यह नतीजा निकालते हो; ऋषियों

की प्रणाली ठीक इससे विपरीत है। वे शरीर का परीक्षण करके उसका अतिदेश करते हैं, कि 'शरीर में ऐसा हो, तो बाहर ऐसा होगा'। शरीर में परीक्षण करने के लिये यंत्रों की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि शरीर के अन्दर हर कण में हमारा मन फैला हुआ है। शास्त्रकारों ने कहा है कि मन आनखाग्र, नख के अग्रभाग तक उपस्थित है, वहाँ तक मन की गति है। मन जिस पदार्थ में पहुँचा हुआ नहीं है उसका यंत्रों के द्वारा पता मन को लगेगा परन्तु जहाँ मन पहुँचा हुआ है, उसका पता स्वयं लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती। शरीर के परीक्षण से जो पता लगता है, उससे हम लोग जानते हैं कि बाहर के संसार में भी वही नियम है। अतः जिन लोगों ने शरीर के अन्दर का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि ऊर्ध्व स्थित सहस्रार से ही अमृत बिन्दु टपक कर सारे शरीर को जीवित रखता है। हमारे मध्य में जो सुषुम्णा–नाडी है, उसके द्वारा सहस्रार के अमृतस्राव से यह सारा शरीर जीवित रखा जाता है, सारे शरीर में शक्ति आती है। सहस्रार ऊपर है, मस्तिष्क में, इसलिये 'ऊर्ध्वमूल' है; वहीं से आती है शक्ति और नीचे सारी शाखाओं में फैलती है। इसलिये भगवान् ने कहा 'ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्'।

यदि बाहर ही देखना चाहो, तो कोई पीपल का पेड़ तालाब के किनारे हो, उस तालाब के अन्दर उस पेड़ को देखो तो प्रतिबिम्ब में ऊपर मूल दीखेगा और नीचे शाखाएँ दीखेंगी। तालाब में पेड़ दिखाई देगा। प्रतिबिम्ब में सभी चीज़ें उलटी दीखती हैं। तुम भी खड़े होगे तो तुम्हारा पैर ऊपर दीखेगा और सिर नीचे दीखेगा। तात्पर्य यह है कि जैसे वह वृक्ष दीखने पर भी वृक्ष है नहीं। उलटा प्रतिबिम्बमात्र है, वस्तुतः न होने पर भी दृश्य है, वैसे संसार–वृक्ष वस्तुतः न होने पर भी प्रतीतिमात्र से सिद्ध है। जैसे उस वृक्ष को ढूँढने जाओ तो कुछ हाथ नहीं आता, उसी प्रकार संसार में किसी भी वस्तु की, और समग्र संसार की भी, यदि वास्तविकता क्या है - इसका पता लगाने जाओ तो यह वृक्ष मिलता नहीं! परन्तु कितना भी पानी में ढूँढ कर तुम निश्चय कर लो कि यहाँ पेड़ नहीं है, फिर भी बाहर खड़े होकर देखोगे तो पेड़ वैसा का वैसा दीखेगा, इसी प्रकार इस संसार वृक्ष का हम चाहे जितना अन्वेषण कर लें और निश्चय हो जाये कि यह नहीं है फिर भी प्रतीत तो होता ही रहता है। जब तक तालाब है तब तक वह वृक्ष दीखेगा। इसी प्रकार जब तक अविद्या का तालाब है, तब तक संसार दीखेगा ही। समूल अविद्या की निवृत्ति हो जाने के बाद, जब तक उसका संस्कार भी शेष है तब तक भी दीखेगा। अंत में जब प्रारब्ध के साथ अविद्या का संस्कार भी खत्म हो जायेगा तब फिर दीखना बंद होगा। ऐसा नहीं है कि रह जाये पर दीखे नहीं, वरन् है ही नहीं इसलिये दोष या उपाधि न रहने पर प्रतीति नहीं होती। इस बात को बताने के लिये कि संसार वास्तविक नहीं है प्रतिबिम्ब की तरह है, भगवान् ने यह दृष्टान्त दिया।

प्रतिबिम्ब की यह बात याद रखना कि जो कुछ वस्तुतः है उससे ठीक उलटा प्रतिबिम्ब में होता है। इसलिये परमात्मा से जितना प्रेम करो उतनी बंधन की निवृत्ति है, और परमात्मा के अविद्या में पड़े प्रतिबिम्ब में, जो यह संसार है इसमें जितना प्रेम करो उतना

बंधन बढ़ता है। जो चीज़ वस्तुतः उत्कृष्ट है, वही वहाँ निकृष्ट हो जाती है। सत् परमात्मा का संग करो तो मोक्ष की तरफ जाते हो, और उस परमात्मा के प्रतिबिम्ब, इस संसार का संग करो तो अधिकाधिक बंधन बढ़ता जाता है। जितना इस संसार का विचार करो उतना कुछ हाथ नहीं आता, और परमात्मा का विचार क्षणभर भी करते हो तो बहुत कुछ हाथ आता है। सर्वथा विपरीत है परमात्मा से संसार का स्वरूप।

संसार में सबसे बेकार चीज़ 'नाम' को मानते हैं। जब कहते हो कि 'इसमें बस नाममात्र ही चीनी है', तब तुम्हारा मतलब होता है, 'इसमें चीनी नहीं है', चीनी का नाम ही है अर्थात् चीनी नहीं है। ठीक इससे उलटा, परमात्मा का नाम ही प्रधान है, नाम में और नामी में कोई भेद नहीं। इसलिये परमात्मा के वाचक ओंकार का जितना तुम उपयोग करो उतना ही तुम पर परमेश्वर प्रसन्न होता है। संसार में नाम लेने से कुछ नहीं होता। परमात्मा के विषय में नाम लेना तुम्हारे बंधन का निवारक है। इसलिये कुछ महात्माओं ने कहा है कि रामचन्द्र जी ने अपने जीवन में सैंकड़ों को उबारा। परन्तु राम का नाम, तब से लेकर अब तक करोड़ों को तार चुका और आगे भी तारता रहेगा! इसीलिये सद्रूप परमात्मा है, उसका प्रतिबिम्ब जो संसार है उसके अंदर कहीं सत् मिलता नहीं। दीखता ज़रूर है सत्, परन्तु वस्तुतः नहीं है। इसी प्रकार से परमात्मा तो आनन्दघन है, और इस संसार में दुःख ही दुःख है। इसीलिये भगवान् ने इसका नाम 'दुःखालय' रखा। इस तरह यह जो संसार वृक्ष है, यह सर्वथा परमात्मा से भिन्न और विरुद्ध प्रतीति वाला है। इसलिये भी भगवान् ने यहाँ ऐसे वृक्ष को दृष्टान्त बनाया।

ऊर्ध्वमूल की तरह ही यह वृक्ष अधःशाख है, नीचे की ओर शाखाओं वाला है। भाष्यकार ने महदादि को शाखाओं की तरह बताया है। पहले (१३.२०) महत् आदि को बता चुके हैं। कठोपनिषत् (६.१) की व्याख्या में भाष्यकार ने लिखा है 'स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः' अतः यहाँ मधुसूदन स्वामी 'अधइत्यर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भाद्या गृह्यन्ते' से बताते हैं कि अन्तःकरण उपाधि वाले जीव शाखास्थानीय हैं। दोनों ही अभिप्राय समझ लेने चाहिए। स्वयं भाष्यकार अगले श्लोक में विभिन्न योनियों को शाखास्थानीय कहेंगे। अतः यहाँ शाखा से महत् से लेकर तत्तत् योनियों के शरीरों तक का ग्रहण समझ लेना चाहिये।

और यह संसार कैसा है? कहते हैं, 'अव्ययं प्राहुः'। अव्यय है क्योंकि मायामय है। जिस प्रकार से अश्वत्थ का वृक्ष काट सकते हैं, ऐसे उस प्रतिबिम्ब को कभी नहीं काट सकते! चाहे जितनी कुल्हाड़ी लेकर उस प्रतिबिम्ब को मारते रहो, वह कटने वाला नहीं है। और, वह कब से है? – यह भी नहीं कह सकते। तालाब सूख जाये तो किनारे के पेड़ उसमें प्रतिबिम्बरूप से दीखना बंद हो जायेंगे फिर पानी भर जाये तो पुनः दीखेंगे, पर क्या वापस पैदा हो गये? ठीक इसी प्रकार से, हर सृष्टि के अन्दर यह संसार प्रकट हो जाता है, और महाप्रलय में फिर प्रतीति नहीं रहती, कहीं कुछ नहीं रहता। परन्तु फिर भी यह नहीं कह सकते कि यह वृक्ष *लग* गया। दीखा नहीं, बस इतना ही है। क्योंकि जब दीख रहा था, तब

भी वस्तुतः नहीं था। दीखने के लिये लगने की तो ज़रूरत है नहीं। इसी प्रकार, यह सृष्टि कब हुई? यह कह नहीं सकते, अनादि काल से प्रवृत्त ही है, मायामय होने से, प्रतिबिम्ब की तरह होने से।

इस संसार वृक्ष की विशेषता है कि यह अनन्त प्रकारों में बनता रहता है फिर भी इसमें कोई कमी नहीं आती। ऐसा नहीं होता कि अब इतनी चीज़ें बन गयीं अब तो संसार ख़त्म हो जायेगा! लोग पूछते हैं 'महाराज! यह विज्ञान बढ़ते-बढ़ते कहाँ तक बढ़ेगा?' इस संसार को सच्चा समझते हैं इसलिये सोचते हैं कि कुछ बढ़ रहा है। अगर बढ़े तो उसकी सीमा भी हो किन्तु अनन्त शरीरादि को उत्पन्न करते हुए भी यह बिलकुल व्ययरहित है, वैसा का वैसा, तरो-ताज़ा है। बाप से बेटा पैदा हुआ, यह क्रम चलते क्या कभी ऐसा होता है कि अब तो दस हज़ार पीढ़ियाँ बीत गयीं अब सब हीजड़े हो गये! ऐसा तो कुछ नहीं होता। फिर जो नया बच्चा पैदा होता है वह वैसा का वैसा ताज़ा है। इस प्रकार नित्य नवीन अपने आप को करते रहने से, और कभी भी प्रारम्भ नहीं होने के कारण, इसको अव्यय कहा। इसमें कोई कमी नहीं आती।

इस संसार वृक्ष का पोषण करने वाला क्या है? वृक्ष का पोषण पत्ते करते हैं। यदि किसी वृक्ष के पत्ते न बढ़ने दो, काटते रहो, तो थोड़े समय में वह वृक्ष व्यर्थ हो जाता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखो तो वृक्ष सूर्य-किरणों को लेता है पत्ते के द्वारा और उससे अपना पोषक पदार्थ बनाता रहता है। पत्ते में जो हरापन तुम देखते हो, वह ऐसा पदार्थ है, जो सूर्य-रश्मियों को लेकर हम लोगों ने जिस दूषित वायु को छोड़ा है उसको पुनः प्राणरूप में बना देता है और वृक्ष का भोजन तैयार कर देता है! विज्ञान की दृष्टि से देखते हैं, तो जीवित प्राणी वहीं हो सकते हैं जहाँ कार्बन हो। वृक्ष उसे लेकर अपना शरीर बना लेता है। हमने प्राण वायु को लिया, उसी प्राण वायु से अपने शरीर में अन्न को जलाकर व्यर्थ की अपान वायु को निकाला। व्यर्थ वायु बनी इसीलिये कि हमने अन्न को जला दिया। वृक्ष ठीक उससे विपरीत करता है, उस दूषित वायु को लेता है, उससे प्राण वायु बनाकर बाहर कर देता है। अपान में हमने जो अन्न जलाकर कोयला, कार्बन डाला था, उससे अपने लिये पौष्टिक पदार्थ बना लेता है। यह सब करने वाला मुख्य पदार्थ रहता तो पत्ते में ही है। इसी प्रकार इस संसार वृक्ष का पत्ता कौन है?

'छन्दांसि यस्य पर्णानि' वेद ही वह पत्ता है। वेद इस संसार की पूर्ण तरह से रक्षा करता है। संसार वृक्ष का परिरक्षण वेद से ही होता है। क्योंकि वेद के द्वारा जो तुम्हारा व्यर्थ का ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का उपयोग है, उसको ऐसा मार्ग-दर्शन दिया जाता है जिससे उन्हीं ज्ञान और क्रियाओं के द्वारा उत्तम फल तुम्हें प्राप्त होते रहें। कर्म करके उसका फल भोगने के लिये देवलोक में जाओ, जब फल समाप्त हो जाये तब फिर मनुष्य लोक में आओ; फिर कर्म करो। फिर देवलोक में जाओ – इस प्रकार संसार-वृक्ष का परिरक्षण होता है। यदि पुण्य-पापादि क्रियाएँ न होवें तो संसार वृक्ष का परिरक्षण कैसे होवे? धर्म और अधर्म कैसे

होते हैं, धर्म और अधर्म का फल क्या है – इसका प्रकाशन करके, इसका ज्ञापन करके, वेद संसार वृक्ष का परिरक्षण करता है। और जैसे पत्तों के कारण पेड़ बड़ा सुन्दर दीखता है, पत्ते न होवें तो ठूँठ अत्यन्त खराब लगता है, इसी प्रकार से, यदि धर्माधर्म और फल का पता न होवे तो संसार-वृक्ष भीषण लगे! कोई प्रयोजन ही न रह जावे हम लोगों के कुछ भी करने का, जीने का। कुछ दिन पहले कोई बतला रहा था, संसार में दस लाख आदमी आत्म-हत्याएँ करते हैं। इतने लोग अन्य किसी एक कारण से नहीं मरते। इतनी संख्या आत्महत्या की क्यों बढ़ती जा रही है? व्यक्ति आत्महत्या तभी करता है जब जीवन का कोई प्रयोजन नहीं देखता। संसार के अन्दर जहाँ सबसे ज़्यादा लोगों के पास धन है, जीवन का स्तर बहुत ऊँचा है, कोई भी ऐसा नहीं है जो स्नातक स्तर तक पढ़ा न हो, वहीं सबसे ज़्यादा लोग आत्महत्या करते हैं! जब उनसे पूछा गया 'भाई! तुम लोग आत्महत्या क्यों करते हो?' जो कोशिश करने पर भी किसी कारण से बच गये, उनसे पूछा तो कहते हैं, 'संसार में हमें जो भोग चाहिये था वह सब हो गया, अब आगे क्या करें? कोई प्रयोजन ही नहीं दीखता जीने का! इस लिये भय बना रहता है कि अभी सब कुछ मिला हुआ है, आगे कहीं कोई रोगादि आ न जाये; इसीलिये मृत्यु में चले जायें तो रहेंगे नहीं, फिर रोग किसको सतायेगा!' बिना वेदोपदेश के जीवन का प्रयोजन ही नहीं रह जाता, यह संसार व्यर्थ का दीखता है, परन्तु वेद हमें स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त फल बतलाता है कि यहाँ का तो सब तुमको मिल गया, लेकिन इसके आगे और भी कुछ है। इस प्रकार से संसार की जो दुःखालयता है इसको ये पत्ते (वेद) ढाँक कर रखते हैं। संसार की जो वास्तविक बीभत्सता है वह पता नहीं लगती इन पत्तों के कारण, वेदों के कारण। जैसे पत्ते ढाँक देते हैं पेड़ की बदसूरती को, वैसे वेद ढाँक देते हैं संसार की दुःखमयता को इसीलिये वेदों के अंदर बहुत लंबे-चैड़े अर्थवाद हैं। अर्थवादों का यही प्रयोजन है कि इसकी बीभत्सता ढकी रहे। इस प्रकार संसार वृक्ष को ढाँकने वाले पत्ते वेद हैं।

'यस्तं वेद स वेदवित्'। 'यः' अर्थात् जो भी साधक 'तं' अर्थात् मूल के सहित इस वृक्ष के स्वरूप को 'वेद' जानता है 'सः' वह 'वेदवित्' वेदज्ञ है। मूल इसका उत्कृष्ट है। सबसे उत्कृष्ट जो ब्रह्म है, उससे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, वही मूल है। उस मूल को जानना मुख्य है। 'तं' अर्थात् मूल के सहित वृक्ष। वृक्ष को तो हम सब जानते हैं, परन्तु क्या नहीं जानते? वृक्ष का असली रूप नहीं जानते, और इसका मूल कौन है – इस बात को नहीं जानते। अतः मूल सहित वृक्ष की वास्तविकता को जो जानता है वही 'वेदवित्' वेद को जानने वाला है। इसलिये वेद में भी कहा है–'यस्तं न वेद किमृ ऋचा करिष्यति'। सारे ऋग्वेद के मंत्र पढ़ लो, अन्य सारे मन्त्र पढ़ लो, परन्तु यदि तुमने परमात्मा को नहीं जाना तो सब परिश्रम व्यर्थ है। मूल के सहित अगर तुमने इस संसार वृक्ष को जान लिया तो फिर कुछ अणुमात्र भी नहीं बच जाता जो नहीं जाना गया।।१।।

इस प्रकार से भगवान् ने जिस दृष्टांत का प्रारम्भ किया उस के अन्य जो हिस्से हैं उन्हें

भी बतलाते हैं -

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

सत्त्वादि गुणों से पोषित व विषयरूप कोपलों वाली उस वृक्ष की शाखाएँ नीचे-ऊपर सब तरफ फैली हैं। जिनके पश्चात् कर्म होते हैं वे वासनारूप अवान्तर मूल मनुष्यलोक में ऊपर-नीचे घने होकर फैले हैं।

'तस्य शाखाः अधः ऊर्ध्वं च प्रसृताः' यह जो संसार वृक्ष है, इसकी शाखायें सब तरफ फैली हैं। अविद्या-विशिष्ट जो परमात्मा है उस अव्यक्त से जगत् व्यक्त होता है। व्यक्त में आकाशादि क्रम से उत्पन्न होते हैं। यह सब उसी तरह है जैसे डाली में से छोटी डाली निकलती है, उसमें से टहनियाँ निकलती हैं। कुछ डालियाँ नीचे जाती हैं; हम लोग मनुष्य लोक में हैं, इसलिये हम से नीचे जो पशु-पक्षी-वृक्ष पर्यन्त हैं, सब नीचे की डालियाँ हो गयीं। पेड़ को देखो तो कुछ डालियाँ नीचे को मुँह करती हैं, कुछ ऊपर को; नीचे की डालियाँ तो हो गयी मनुष्य-लोक से नीचे, स्थावर पर्यन्त। और ऊपर हो गये देवता, जनलोक-वासी से लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के लोक-वासियों तक सभी ऊपर की डालियाँ हैं। ब्रह्मा जी को संसार का बनाने वाला कहते हैं। महाभूत तक का निर्माण तो परमेश्वर माया से कर देते हैं, आगे उन महाभूतों से सब प्राणियों की सृष्टि करने वाले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ही हैं, वे सबसे ऊँचे हैं।

ये ऊपर और नीचे किस से जाते हैं? सब अपने-अपने कर्मानुसार जाते हैं। अथवा उपासना के अनुसार जाते हैं; 'यथाकर्म यथाश्रुतं' जैसा कर्म करोगे, जैसी उपासना करोगे, वैसे ही स्थान पर जाओगे। ऊपर हिरण्यगर्भ-पर्यन्त, और नीचे घोरतम नरकपर्यन्त सब कर्म और उपासना के सहारे शाखाओं में जाते हैं। दुष्कर्म, वेद में जिनका निषेध किया है, उन सबको जितना-जितना करोगे उतना-उतना नीचे जाते जाओगे।

ये इतनी शाखाएँ कैसे बढ़ती हैं? 'गुणप्रवृद्धाः' गुणों के द्वारा बढ़ती हैं। सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर देवलोक को जाने वाले कर्म-उपासनाओं को करोगे, तमोगुण के आने पर निकृष्ट लोकों को प्राप्त कराने वाले कर्म और उपासनाओं को करोगे। यद्यपि हिन्दी में उपासना शब्द केवल अच्छी उपासना के लिये है, तथापि निकृष्ट उपासनाओं को भी कहा उपासना ही जाता है 'उपासना नाम मानसी क्रिया' उपासना मन की क्रिया है। मन के द्वारा तुम चाहे ओंकार का चिंतन करो, और चाहे परस्त्री का चिंतन करो! दोनों ही उपासनाएँ हैं। रजोगुणी कर्म- उपासना फलेगी तो मध्यम अर्थात् मनुष्य लोक में आने की सम्भावना हो जाती है। अतः गुण ही मानो शाखाओं के उपादान कारण हैं क्योंकि गुण के कारण तुमने उपासना की, उपासना के कारण उस लोक में गये; लोक में गये अर्थात् तुम्हारे लिये ही वह लोक है। इसलिये गुणों से ही ये शाखायें प्रवृद्ध हैं, बढ़ती रहती हैं।

'विषयप्रवालाः'। 'प्रवालोऽभिनवपल्लवे' (हेम.) डालियों के ऊपर, छोटे-छोटे जो नये पल्लव लगते हैं अंकुर की तरह, उनको प्रवाल कहते हैं 'प्रवालमंकुरेऽप्यस्त्री' (अमर.)। जो भोग के विषय हैं वे प्रवाल की तरह हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये विषय कर्म के फलरूप ही हैं। शरीरादि से जो तुमने कर्म किया उसका ही फल विषय-प्राप्ति है। शाखाओं में डालियों में जो नया पत्ता आता है, उसका कारण अर्थात् तुम्हें जो नया विषय प्राप्त होता है उसका कारण तुम्हारे कर्म-उपासना हैं। इसीलिये कई बार कहते हैं कि ज्योतिषी को अनुभवी होना चाहिये। मान लो तुमको बड़ी अच्छी सवारी मिलनी है। पुराना ज्योतिष का ग्रन्थ देखोगे तो उसमें लिखा होगा कि हाथी की सवारी मिलेगी। जो समझदार ज्योतिषी नहीं होगा, वह सीधा कहेगा कि, हाथी की सवारी मिलेगी। हाथी की सवारी आज के ज़माने में कहाँ मिलेगी! आज जिस सवारी को उसने अपने मन से अच्छा कल्पित कर रखा है वह है मर्सिडीज़ गाड़ी। ग्रह यह तो बतला देंगे कि तुम्हारे कर्मों का फल किस प्रकार का होगा, परन्तु आगे तुमने जिस मानस चिन्तन को किया है, जिसके द्वारा तुम उसको 'अच्छी सवारी' समझते हो, जिसके मिलने पर तुमको बोध होगा 'मुझे अच्छी सवारी मिली', उसके अनुसार ही वह कर्म फल देगा। अनुभवी ज्योतिषी यह सब सोचकर ऊह के द्वारा ठीक फलादेश देगा। शरीरादि से जो होने वाले कर्म-उपासनायें हैं उनके फल के लिये ही शाखाओं में नव-पल्लव लगते हैं। जैसी-जैसी हमारी कल्पना होती जाती है, तदनुरूप ही कर्मों का फल होता चला जाता है। आज से सत्तर साल पहले तक, धोती खूब मुड़ी हुई होवे, चद्दर खूब मुड़ी हुई होवे, तब उसको अच्छा मानते थे। पुराने लोगों के कपड़े धोते थे, उसके बाद अच्छी तरह से मोड़कर एकदम रस्सी की तरह बनाकर खूंटी पर टाँग देते थे। फिर धीरे-धीरे कल्पना होने लगी, कि जो कपड़ा बिना सलवट के होता है, वह अच्छा होता है। कलकत्ते के किसी पुराने आदमी को देखो तो वह जो धोती पहनेगा उसमें सलवट, चुन्नट पड़ी होगी। उसके लिए विशेष यन्त्र होता है, उसको करने के लिये धोबी भी खास पैसा लेता है। अब जब लोगों ने कल्पना करना शुरू किया कि बिना सलवट का कपड़ा अच्छा होता है, तब पहले-पहल कपड़े को बिछौने के नीचे रखना शुरू किया; रात में बिछौने के नीचे रख दो, तो कपड़ा सीधा हो जाता था। फिर उतना सीधा होना भी अच्छा नहीं लगा, और सीधा होना चाहिये; तो लोटे में अंगारे डालकर कपड़े के ऊपर गरम-गरम घुमाते थे, ताकि सलवट न रह जाये। फिर उतना भी ठीक नहीं लगा तो कपड़े के अन्दर माँड़ डालने लगे जिसे माया कहते हैं, जिससे कपड़ा बिलकुल कड़ा हो जाये, जो फिर जब सीधा किया जाये तो सीधा बना रहे। फिर इस्तरी करने के यंत्र आने लगे। अच्छा कपड़ा तो मिलेगा कर्म के फल से पर अच्छा कपड़ा कैसा होता है – यह तुम्हारी मानस वृत्तियों के अनुसार है। इसलिये कहा 'विषयप्रवालाः' विषय हमेशा नये पत्तों की तरह ही होते हैं।

संसार की असली जो जड़ है, मूल है वह ब्रह्म को बतला दिया था। मुख्य जड़ की सहायक अवान्तर जड़ें भी वृक्ष में देखी जाती हैं। उनके स्थानापन्न यहाँ बताया 'अधश्च

मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि'; 'मूलानि' - इसके अवान्तर मूल क्या बनते हैं? कर्म के फल जो विषय प्राप्त होते हैं, उनके प्रति राग हो जाता है, और यदि गलत कर्मों से विषय मिलते हैं तो उनके प्रति द्वेष हो जाता है। जो विषय अच्छे लगेंगे उनके प्रति राग होगा, जो विषय दुःख देने वाले लगेंगे उनके प्रति द्वेष होगा। कर्मफल से जिन विषयों की प्राप्ति होती है, उन विषयों के प्रति राग और द्वेष हो जाते हैं। उन राग-द्वेषादि की जो वासना है, संस्कार है, उसके कारण हम फिर कर्म करते हैं। वे कर्म फिर विषय को उत्पन्न करते हैं। राग-द्वेषादि से प्रवृत्त होकर तुमने कर्म किया, कर्म के अनुसार तुमको फल मिला, उस फल के साथ तुम्हारा फिर राग-द्वेष हो गया, फिर राग-द्वेष के संस्कार प्रवृत्त करते हैं; इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। इसलिये कहा 'अधश्च' नीचे की तरफ 'मूलानि अनुसन्ततानि' ये मूल प्रविष्ट हैं। इनका घना जाल बना है, संस्कार परस्पर जाल की तरह सम्बद्ध रहते हैं।

'कर्मानुबन्धीनि'। कर्म, अर्थात् धर्म या अधर्म। उसके 'अनुबन्ध' अर्थात् उसके पश्चात् होने वाला जो बन्ध है। कर्म के द्वारा विषय की प्राप्ति होगी, उसके द्वारा राग-द्वेष, राग-द्वेष के द्वारा फिर कर्म में प्रवृत्ति - इस प्रकार कर्म के बाद ही वासना बनती है। बिना कर्म के विषय नहीं मिलेगा और विषय को सामने रखे बिना कोई भी पुण्य-पाप नहीं होता, किसी न किसी चीज़ के लिये ही पुण्य करोगे या पाप करोगे। वासना को कर्म का अनुबन्ध कहा इसलिये स्थान बता दिया 'मनुष्यलोके'। क्योंकि वेद में मनुष्य का ही अधिकार है इसलिये मनुष्यों के द्वारा ही कर्म से विषय और फिर उत्पन्न होती है वासना। जो मनुष्यलोक नहीं हैं, पशु पक्षी इत्यादि हैं, वे केवल भोग-शरीर हैं। वहाँ भोग हो सकता है, नया कर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार से ऊपर के जो देवता इत्यादि हैं वे भी केवल भोग कर सकते हैं, कर्म का अधिकार उनको भी नहीं है। इसलिये स्पष्ट कर दिया 'मनुष्यलोके'; भगवान् कहते हैं कि मनुष्य लोक में ही वृक्ष को आगे बढ़ाने का कार्य चलता है।।२।।

संसार वृक्ष को काटने का उपाय बताते हैं -

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम् असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

(जैसा बताया) वैसा इसका रूप (बिना शास्त्रसंस्कार के) संसार में पता नहीं चलता। इसके आदि, अन्त, बीच हैं नहीं। अतिदृढ मूल वाले इस अश्वत्थ को वैराग्यरूप शस्त्र से काटकर (परमेश्वर की खोज करनी चाहिये)।

'इह' - संसार के अन्दर, अर्थात् जीवित रहते हुए ही 'अस्य रूपं तथा न उपलभ्यते' इसका रूप जैसा दीख रहा है वैसा मिलता नहीं। विवेक, विचार करने पर संसार जैसा दीखता है वैसा नहीं मिलता। प्रवृत्ति-निवृत्ति में यह भेद रहता है। राग हुआ, विषय मिला; विषय क्या है - इसे समझने का कोई प्रयत्न किये बिना विषय भोगकर फिर कर्म करने में लग जाते हैं। कीट-पतंग आदि यही करते हैं। गाय घास चर लेगी, खुश हो जायेगी; घास

क्यों मिली, उसका क्या कारण है – इस सबका उसमें कोई विचार नहीं। इसी प्रकार प्रवृत्ति-परायण लोग एक-के-बाद-एक कर्म और भोग में लगते चले जाते हैं; सत्य क्या है – यह नहीं सोचते, इसी से यह संसार चलता रहता है।

विचार करते हैं तो इस संसार में स्वप्न से भिन्न कुछ विशेष मिलता नहीं! स्वप्न के अन्दर भी ऐसे ही विषय दीखते हैं और होते नहीं। फिर जाग्रत् में दीखते हैं तो ये हैं इसमें प्रमाण क्या? संसार के पदार्थों में प्रमाण तो यही देते हैं कि प्रतीत होते हैं। इसके सिवाय और तो इनमें कोई प्रमाण है नहीं। कहीं वेद ने तो कहा नहीं कि संसार के पदार्थ सच्चे हैं। प्रत्यक्ष हुआ, इसलिये मानते हो। आगे प्रश्न होता है कि ऐसा ही तो स्वप्न के पदार्थों का दर्शन होता है, उनको भी सत्य मानते हो क्या? हम लोगों के इतने लम्बे, पुराणों से लेकर के अब तक के काल में, एक हरिश्चन्द्र हुआ, जिसने स्वप्न में दान दिया था और जाग्रत् में उसको वसूल करने जब आ गये विश्वामित्र तो उनको देने को तैयार हो गया। बाकी तो किसी से कहो कि 'हमने तुमको स्वप्न में लाख रुपए दिये थे, चलो लाख जाने दो, उसका ब्याज तो दे दो', तो कोई धेला मिलेगा? एक हरिश्चन्द्र ही अपवाद हुआ है। विचार से जाग्रत् और स्वप्न के अन्दर कोई भेद प्रतीत होता नहीं। इस समय ही हम में से कोई निश्चय करके नहीं कह सकता कि सपने के अन्दर कथा सुन रहे हो या जाग्रत् में कथा सुन रहे हो! एक बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ, उसने लिखा है कि 'एक दिन सपने में मैंने देखा कि मैं तितली हूँ, लेकिन तब से मैं सोच रहा हूँ कि मैं सचमुच में क्या तितली हूँ जो अपने को आदमी समझ रहा हूँ, या मैं सचमुच में आदमी हूँ जिसने अपने को तितली समझा था!' कोई निर्णय करने का तरीका नहीं है। लोग कह देते हैं 'अगर दीवाल पर सिर फोड़ोगे तो गुमड़ी निकल आयेगी, पता चल जायेगा कि सपना है या नहीं।' किन्तु सपने में भी ऐसा ही होता है! कोई दूसरा कहता है 'वहाँ जाकर सिर मारो, गुमड़ी निकल आयेगी', और वहाँ जाकर सिर मारते हैं तो गुमड़ी निकल भी आती है। स्वप्न ही नहीं जाग्रत् के अन्दर भी मृग का जल दीखता है मृगतृष्णा। वह जैसा हमको तालाब दीखता है, वैसा ही दीखता है। कोई फ़र्क नहीं नज़र आता है। उसे देखकर चले जाओ तो तुमको यही लगेगा कि 'वहाँ जलाशय है'। अगर तुमको पानी पीने की इच्छा है, और उसकी तरफ जाओ, तब कई मील चलने के बाद निर्णय होता है कि यहाँ जल नहीं है। इसलिये, संसार का रूप केवल स्वप्न की तरह, मृगतृष्णा की तरह है, इसमें सत्य कुछ भी नहीं है। कई बार रबड़ी का मालपुआ खाकर सोते हैं, सपना आता है कि 'तीन दिन से कुछ भिक्षा नहीं मिली है, बड़े ज़ोर की भूख लगी है। क्या करें, कहाँ खाने को मिले!' पेट में पड़े मालपुए कुछ मदद नहीं करते! लोग कहते हैं कि सपने की चीज़ काम नहीं आती, लेकिन जाग्रत् की चीज़ सपने में कौन-सी काम आती है! सपने में भूखे मर रहे हैं, जाग्रत् के पेट में पड़े मालपुए कुछ नहीं कर रहे हैं। इसलिये स्वप्न-काल के पदार्थ स्वप्न-काल के ही हैं, जब देखे जाते हैं; जाग्रत्-काल के पदार्थ भी जाग्रत्-काल के ही हैं, जब अनुभव किये जाते हैं।

इसीलिये 'नान्तः'। अगर दृष्टि से अतिरिक्त संसार कुछ होता तो उसकी समाप्ति भी होती। उससे अतिरिक्त है ही नहीं तो उसका अन्त क्या होना है! जब तक दीखा तब तक दीखा, आगे कुछ भी नहीं है। और 'न चादिः' इसका आदि भी नहीं है। इस समय से यह शुरू हुआ – ऐसा नहीं, इस समय यह समाप्त हुआ – ऐसा भी नहीं। जब तक दीखा तब तक है, और जैसे ही दीखना ख़त्म हुआ वैसे ही नहीं है। स्वप्न का ही यदि पता लगाना चाहो कि स्वप्न किस समय शुरू हुआ था, तो कभी पता नहीं चल सकता। और स्वप्न किस समय ख़त्म हुआ, इसका भी पता नहीं चल सकता। ख़त्म होने के थोड़ी देर बाद तो पता लग जायेगा लेकिन ठीक किस समय स्वप्न आया यह भी पता नहीं लगता और ठीक किस समय स्वप्न ख़त्म हुआ यह भी पता नहीं लगता। क्योंकि जिस घड़ी से तुम आदि-अन्त देखोगे वह तो जाग्रत् में रहेगी, स्वप्न में दीख नहीं सकती। और जब जाग्रत् में आ गये तब स्वप्न से सम्बंध नहीं रहा। और क्योंकि बिना आदि-अन्त के प्रतीत हो रहा है इसलिये 'न च सम्प्रतिष्ठा' इसकी स्थिति भी नहीं है। जिस समय प्रतीत हो रहा है उस समय में भी यह नहीं है, क्योंकि प्रतीति से अलग और कुछ उपलब्ध होता नहीं।

'एनम् अश्वत्थम्' यह जो वृक्ष है, संसार-वृक्ष, पीपल का, यह 'सुविरूढमूलं' इसका जो मूल है वह – सुविरूढ अच्छी तरह से जड़ें जमाये हुए है। परन्तु है यह वृक्ष, इसलिये 'असङ्गशस्त्रेण' असङ्ग रूप शस्त्र से कट जायेगा। वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणा - इन सब कामनाओं को छोड़ देना ही असंग शस्त्र है। इस संसार को पुष्ट करने वाली चीज़ राग-द्वेष की आसक्ति है। और यह आसक्ति दृढमूल है, डटी हुई है हमारे अन्दर। एक चीज़ की आसक्ति हटाओ तो दूसरी चीज़ की आ जाती है। खूब बढ़िया मिर्च खाना अच्छा लगता है, फिर किसी ने कहा 'मिर्च खाना छोड़ दो', तो थोड़े दिन तो दुःख-सा प्रतीत होता है, उसके बाद लगता है कि सब्ज़ियों का स्वाद तो अब पता चलता है! पहले तो खाली मसाले का स्वाद पता लगता था। अब एक दिन मिर्च पड़ी होवे तो सब्ज़ी खाई नहीं जाती। अब सब्ज़ियों के स्वाद में आसक्ति हो गयी। मसाले से आसक्ति हटी तो उधर लग गयी। यही सुविरूढमूलता है। इसीलिये असंगशस्त्र को भी 'दृढेन', तेज़ करना पड़ेगा। 'सुविरूढमूल' वृक्ष को काटना पड़ता है तो जब तुमने उस पर सौ डेढ़-सौ बार कुल्हाड़ी चलाई तब वह कुंठित हो जाती है। फिर उसको पत्थर पर घिसना पड़ता है, तेज़ हो जाये तब फिर चलाओ। यों कई बार करो, तब वह कटता है। इसी प्रकार यहाँ पर जो यह 'असंगता' का शस्त्र है, एषणाओं का त्याग है, यह भी तीक्ष्ण बनाये रखना पड़ता है। थोड़ी देर के लिये एषणाओं से दूर हटकर के जहाँ तुमने विषय में प्रवृत्ति की, वहाँ फिर एषणा घुस जाती है, असंगता भुथरी हो जाती है। फिर विवेक का अभ्यास करके उस असंगशस्त्र को तेज़ करके पुनः चलाओ, तब कुछ वार कारगर होते हैं। यों बार-बार विवेक करके वैराग्य को दृढ करना पड़ता है, अन्यथा उसमें वह तेज़ी रहती नहीं जो संसार को समाप्त करे। इसलिये कहा 'असंगशस्त्रेण दृढेन'।

मनुष्य में कामना स्वाभाविक है। संसार से हटाने पर उसे परमात्मा में केन्द्रित करना

आवश्यक है। बोलने को तो रोज़ हम कह देते हैं: माता के प्रति जो भाव है वह हे परमात्मा! आपकी तरफ होवे; पिता की तरफ जो भाव है वह आपकी तरफ होवे, विद्या की तरफ जो भाव है वह आपकी तरफ होवे, धन के प्रति जो भाव है वह भी आपकी तरफ होवे। रोज़ बोल तो देते हैं-'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।'परन्तु वह दृढ इसलिये नहीं हो पाता कि बोल कर फिर व्यवहार में जाते ही सांसारिक माता ही माता रह जाती है, पिता पिता रह जाता है, पैसा पैसा रह जाता है। साधक को चाहिये कि फिर विवेक करके देखे 'ये सब मेरे असली सम्बन्ध वाले नहीं हैं, मेरा असली सम्बन्धी तो मेरा आत्मतत्त्व ही है, प्रत्यगात्मा ही है। बाकी सब आया है, और नष्ट हो जायेगा।' बार-बार विवेक के अभ्यास से असंगशस्त्र तेज़ हो जाता है। 'परमात्मा मेरा सब कुछ है, परमात्मा के सिवाय और किसी से मेरा कोई संबंध नहीं' ऐसा जब दृढ कर दिया जाता है, तब ही इस संसार को आदमी काट सकता है। संसार वृक्ष को काटने के लिये, विवके के द्वारा बार-बार तेज़ किया जो वैराग्य है, वही कारण है। उसके बिना यह संसार वृक्ष कटता नहीं। इसीलिये कहा 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी' जो प्रेम अविवेकदशा में विषयों से है वही प्रेम वहाँ से हटा कर परमात्मा में लगाना है। नारी जैसे प्रेमी को, लोभी जैसे धन को चाहता है ऐसे ही भक्त परमात्मा को चाहे, अन्य कुछ न चाहे, तभी संसार से छूटेगा।

संसार वृक्ष का मूल तो परमात्मा ही हैं। वे अपनी माया से संसार का निर्माण करते हैं। चूंकि माया के वे अधीश्वर हैं अतः वे ही इस संसार के वास्तविक मूल हैं। परन्तु इसको दृढ करने वाला हम लोगों का कामनापूर्वक किया हुआ कर्म है। कर्म से विषय रूपी फल, विषय का भोग करने से सुख-दुःख, सुख की चीज़ के प्रति राग और दुःख की चीज़ के प्रति द्वेष, उस राग-द्वेष से पुनः कर्म की प्रवृत्ति होती है, विषयों के द्वारा सुख-दुःख की प्राप्ति के लिये। इसलिये यह संसार चलता रहता है और अधिक-अधिक दृढ होता जाता है। जब विवेक करके असंगता के द्वारा इस राग-द्वेष को काट दिया जाता है तब परमात्मा की तरफ जाने का निश्चय दृढ होता है। परमात्मा की तरफ जाने की प्रवृत्ति तो हो भी जाती है, पर विषय-भोग के लिये आवश्यक जो कर्म हैं वे परमात्माभिमुखी प्रवृत्ति को दृढ नहीं रहने देते। जब असंगशस्त्र के द्वारा कामना का छेदन कर दिया जाता है, तब परमात्मा की तरफ चलने की प्रवृत्ति दृढ हो जाती है।।३।।

इस प्रकार संसार-वृक्ष का छेदकर फिर साधक क्या करे, यह बताते हैं -

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

(संसार वृक्ष काटकर) फिर 'जिससे चिरंतन संसारप्रवृत्ति फैली है उसी कारण पुरुष की शरण लेता हूँ' यों उस पद का अन्वेषण करना चाहिये जिसे पाकर पुनः लौटते नहीं।

'ततः' उसके बाद; विवेक के द्वारा वैराग्य तीव्र करके, शमादि के दृढ हो जाने पर जो तीव्र मुमुक्षा होती है, उसके बाद। 'ततः' के द्वारा भगवान् ने ब्रह्मसूत्र के 'अथ' शब्द के भाव को कह दिया अर्थात् विवेक, वैराग्य, शमादि, मुमुक्षा, इस साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के बाद। 'तत् पदं परिमार्गितव्यं'; पद कहते हैं जो प्राप्त करने के योग्य होता है। 'पद्यते' जो पाया जाये उसको पद कहते हैं। वर्तमान काल में यह शब्द प्रसिद्ध है क्योंकि सभी किसी-न-किसी पद को पाने के लिये प्रयास करते हैं। जिस चीज़ को प्राप्त करना चाहते हैं उसको पद कहते हैं। पद दो तरह के होते हैं - एक तो जिलाधीश, मंडलाधीश, निदेशक, सचिव, मंत्री आदि सारे पद हैं, जो मिलते हैं और फिर चले जाते हैं। दूसरा, जैसे व्यवहार में राजा का पद है। राजा के पद की प्राप्ति होने पर वह व्यक्ति ही राजा हो जाता है अतः वह पद फिर हटता नहीं। यह बात दूसरी है कि राजा का पद भी कोई विप्लव करके हटा सकता है, पर सामान्यतः मरने तक राजा ही रहता है। प्राप्त तो दोनों पद होते हैं, राजा का पद मिलेगा जो पटरानी के पेट से जन्मे उसे, और मंत्री पद मिलेगा जिसके पक्ष में पेटी में अधिक मत पड़े हों। एक पेट से प्राप्त करता है, दूसरा पेटी से प्राप्त करता है! पेट से जो पद मिला वह उस व्यक्ति का सहज हक माना जाता है। पेटी से मिला हुआ सहज नहीं है क्योंकि हर पाँचवें वर्ष फ़िर छूटने का डर है। किंतु यहाँ जिसे ढूँढना है वह पद है, 'तद् विष्णोः परमं पदं' व्यापक परमात्मा का परम पद। आने-जाने वाली जितनी चीज़ें हैं उनको तो अश्वत्थ से कह दिया। आने-जाने वाली चीज़ों का जो पद है, प्राप्ति है, उसको तो जिसने काट दिया, 'छित्वा', वह इस परम पद को खोज लेगा।

अतः अनित्य पदार्थों की प्राप्ति का तो यहाँ प्रश्न आता नहीं, जो नित्य अपना स्वरूप है, आत्मस्वरूप है, वैष्णव स्वरूप है, उस पद की भगवान् यहाँ बात कर रहे हैं। यदि आत्मा का अपना स्वरूप वैष्णव पद नहीं होता, व्यापक-भाव नहीं होता, यदि कुछ करके व्यापकता मिलती होती, तो वह भी विनाशी होने से 'अश्वत्थ' के अन्तर्गत आती। अतः 'पद' के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि नित्य, व्यापक, अपरिच्छिन्न भाव को प्राप्त करना है क्योंकि वही आत्मा का अपना स्वरूप है। आत्मा कुछ करके ब्रह्म नहीं बनता है, आत्मा ब्रह्म है।

उस पद को 'परिमार्गितव्यं', उसका अन्वेषण करना चाहिये। जिस प्रकार से तुम यहाँ से दिल्ली जाते हो, तो दिल्ली तुम्हारे कुछ करने से पैदा नहीं होती, दिल्ली के मार्ग से चलते हो तो दिल्ली पहुँच जाते हो। तुम्हारे जाने से या तुम्हारे कुछ करने से तो दिल्ली पैदा होती नहीं। इसलिये यहाँ भगवान् ने शब्द कहा 'परिमार्गितव्यं'। मार्ग से जाना है, और मार्ग है अन्वेषण। जो चीज़ जैसी है उसकी उस वास्तविकता को जानने को ही अन्वेषण कहते हैं। इसलिये विज्ञान में अन्वेषण करते हैं, तो यह नहीं कहते कि हम ऐसा *करेंगे*, वरन् जो है उसको *जानेंगे*। इसी को परिमार्गण कहते हैं, अन्वेषण कहते हैं, जिसमें जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जाना जाता है। आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा उसे जानना है। आत्मा का स्वरूप अहंकार के साथ, बुद्धि के साथ, मन के साथ, प्राणों के साथ, इन्द्रियों के साथ, शरीर के साथ, तो हम लोग जानते

हैं। परन्तु आत्मा खुद कैसा है – इसको जानना है। सारा अन्वेषण इसी प्रकार का होता है। शुद्ध सोने का क्या रूप है? सोना खान में हमेशा दूसरी चीज़ों से मिला हुआ मिलता है। इसलिये सोने के जैसे गुण धर्म तुमको किसी विज्ञान की पुस्तक में लिखे मिलेंगे, उस से कुछ-न-कुछ फ़र्क ही व्यवहार में उपलब्ध सोने में मिलेगा। चाहे जितनी कम होवे, कुछ खोट तो रहती ही है। किन्तु वैज्ञानिक थोड़े-से सोने को पूर्ण शुद्ध कर उसके गुण-धर्म परख लेते हैं जिन्हें सोने का स्वभाव माना जाता है। इसी प्रकार आत्मा जब हमें मिलता है तब अहंकार, बुद्धि, मन आदि सबके साथ ही मिलता है। अन्वेषण करके, इसको उनसे अलग करके हम पता लगा सकते हैं कि आत्मा स्वयं कैसा है। जो पद, अर्थात् हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसका ही परिमार्गण करना है, अन्वेषण करना है।

भगवान् उस पद को पाने का फल बतलाते हैं 'यस्मिन् गताः' जिस पद का ज्ञान हो जाने पर; सामान्य दृष्टि से तो 'पद में जाने पर'; पर यहाँ जाना जानना ही है। इसलिये भगवान् ने 'गम्' धातु का प्रयोग किया जिसका अर्थ जाना भी होता है और जानना भी होता है। हिन्दी में भी कहते हैं कि 'यह बात अवगत हो गयी' अर्थात् जान ली गयी। उस पद का ज्ञान हो जाने पर, 'भूयः न निवर्तन्ति' फिर जानकर संसार में लौटते नहीं। परमात्मज्ञान हो जाने पर फिर अविद्या रह नहीं जाती, जिसके कारण तुम अहंकार से लेकर शरीर तक से अपने को एक करके समझते हो। यहाँ 'गताः' शब्द का प्रयोग किया; एक जानना होता है, एक दृढ निश्चय होता है। हैं तो दोनों ही जानना, परन्तु एक 'जानना' में कहीं-न-कहीं संशय और विप्रतिपत्ति हैं। विप्रतिपत्ति अर्थात् गलत ज्ञान। संशय और विप्रतिपत्ति से रहित जो जानना है, वह दृढ निश्चय का रूप होता है जिसे 'गताः' से कहा। जब तक संशय-विपर्यय (भ्रम) से रहित आत्मपद का ज्ञान नहीं है। तब तक वहाँ प्रविष्ट नहीं हो। जैसे 'पानी में प्रविष्ट हो गये' अर्थात् अब तुम्हारे शरीर का कोई हिस्सा बाहर नहीं रह गया, इसी प्रकार 'गताः' अर्थात् आत्मस्वरूप के अनुभव में ऐसे स्थित हो गये कि अब उस से अलग होकर अविद्या के कारण अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त, किसी में तुम्हारा आत्मभाव आता ही नहीं। यह अनुभव आत्मविषयक न रहकर आत्मस्वरूप होता है। फिर देहादि प्रतीत होने पर भी उनमें आत्मभाव नहीं रहता है। इस संसार समुद्र में सब चीज़ें अश्वत्थरूप हैं, संसरण करती रहती हैं, बदलती रहती हैं। यह सारा जो मायामय संसार है, परपदप्राप्ति के बाद इसके साथ फिर कभी आत्मभाव नहीं होता। यह फल होता है इसलिये यह अन्वेष्टव्य है। आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार होने पर फिर कभी भी अशुद्धि के साथ स्पर्श होता नहीं। स्पर्श तो पहले भी नहीं था, लेकिन अविद्या के कारण स्पर्श की प्रतीति थी, अविद्या निवृत्त हो गयी तो अब स्पर्श की प्रतीति भी नहीं है।

भगवान् ने कहा कि उसका मार्गण करो, उसके मार्ग से चलो; प्रश्न होता है मार्ग क्या है? किस मार्ग से चलें? अतः स्वयं भगवान् कहते हैं 'तमेव च आद्यं पुरुषं प्रपद्ये,' 'तम्' से पूर्वार्ध में कहे पद का निर्देश है। वह पद क्या है? 'आद्यं पुरुषं' आद्य पुरुष है। आद्य

इस सारे संसार के उत्पन्न होने के पहले, केवल आत्मा मात्र था। 'आत्मैवेदम् अग्रे आसीत्' वेद कहता है कि यह सब जब तक प्रकट नहीं हुआ था। उसके पहले केवल एक आत्मा ही था। अतः आत्मा को भगवान् ने कहा आद्य। 'पुरुष' पूर्णत्वात्पुरुषः, वह पूर्ण था। पूर्ण में से यह सारा संसार पूर्ण निकल आया फिर भी वह पूर्ण वैसा का वैसा रह गया! यह पूर्ण की विशेषता है। शांति–पाठ में बोलते ही हो–'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'। आधुनिक गणित शास्त्र में भी पूर्ण को अनन्त कहते हैं, और उसके बारे में यही मानते हैं कि उसमें से चाहे जितने अनन्त निकल जायें फिर भी वह अनन्त ही रहता है। मोटे दृष्टान्त से पहले समझ लोः एक इंच की रेखा में कितने बिन्दु हैं? अनन्त बिंदु हैं। अब उस रेखा को आधा इंच कर दो। आधा इंज की रेखा में कितने बिंदु हैं? अनन्त ही हैं! जो दूसरा आधा इंच निकला, उसमें कितने बिंदु हैं? अनंत बिन्दु हैं। इसी प्रकार उस पूर्ण पुरुष से, आदि पुरुष से, आत्मा से, यह सारा संसार निकला, और निकले ही जा रहा है, और निकलता ही जाता रहेगा, फिर भी वह वैसा–का–वैसा पूर्ण है।

उस आदि पुरुष को 'एव' ही; अर्थात् उससे निकले हुए इस पूर्ण संसार से दृष्टि हटाकर केवल उसकी शरण लेनी है। सारी सृष्टि होने के पहले जो वह आत्मरूप अकेला था, जिससे यह सब निकला है, उसकी ही 'प्रपद्ये' शरण जाता हूँ अर्थात् और किसी चीज़ की नहीं, उस आत्मा मात्र की प्रपत्ति करता हूँ। वही अपने को उघाड़ कर बतला देता है, तभी उसका ज्ञान होता है। इसलिये अन्यत्र वेद ने कहा है 'विवृणुते तनूं स्वाम्' (मुं. ३. २.२)। जब परमात्मा प्रसन्न होता है तब अपना शरीर जैसा है वैसा कार्य–कारण उपाधियाँ हटाकर दिखला देता है। जब अन्य सभी चीज़ों को छोड़ कर एकमात्र उस परमात्म तत्त्व को ग्रहण करते हैं, तब माया के द्वारा उसने जितनी उपाधियाँ ली हैं, उन सब उपाधियों को छोड़कर, वह जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है। चूंकि आत्मरूप है, इसलिये आत्मरूप से ही प्रकट होता है। यदि वह अनात्मरूप होता तो अनात्मरूप से प्रकट होता। वह है ही आत्मा, इसलिये आत्मरूप से ही प्रकट हो सकता है।

परमात्मा पूर्ण है, यह कैसे पता लगता है? 'यतः' जो तुम्हारा आत्मस्वरूप है उस परमात्मा से ही 'प्रवृत्तिः' संसार बना है। परमात्मा है, तभी माया से यह सब प्रसृत हुआ है, फैला है। परमात्मा का आवरण करने वाले अज्ञान से ही संसार वृक्ष प्रवृत्त हुआ है। बड़ा मोटा यदि दृष्टांत लो, तो तुम्हारा जितना संसार बढ़ता है, प्रवृत्त होता है, वह सब तुमको ढाँकने वाले तुम्हारे शरीर से ही होता है! शरीर लेकर ही माता है, शरीर लेकर ही पिता है, शरीर लेकर ही पत्नी है, शरीर लेकर ही पुत्र है, शरीर लेकर के ही धन है, शरीर लेकर ही सारी सम्पत्ति है। जो सारा संसार तुम्हारा बढ़ता है, यह तुम्हारे आवरण शरीर को ही लेकर है। शरीर का आवरण मिटने के बाद, बैंक के खातों से तुम एक धेला नहीं निकाल सकते! जैसे तुम्हारा आवरण करने वाले शरीर से ही तुम्हारा सारा संसार प्रवृत्त हुआ है, इसी प्रकार परमात्मा का आवरण जो माया, उससे ही यह सारा संसार प्रवृत्त हुआ है।

आद्य पुरुष से हुई संसार की प्रवृत्ति कैसी है? 'पुराणी' पुराण का मतलब है कि पहले भी जब कभी संसार था तब ऐसा ही नया था, ऐसा ही जवान था। यही मायावी की, ऐंद्रजालिक की विशेषता होती है। कभी तुमने बाजीगर का खेल देखा है? सौ–सौ के नोटों की गड्डी तुमको दिखलाता है। कभी यह ध्यान दिया, कि सौ–सौ के नोटों की गड्डी कभी पुरानी नहीं होती! ताज़े नोट दिखलाता है, वह पुराने नोट कभी नहीं दिखलाता। इसी प्रकार परमेश्वर की यह जो ऐंद्रजालिक शक्ति है, इससे जो चीज़ दीखती है हमेशा नयी ही दीखती है। जब पहले देखी थी, तब भी ऐसी ही नयी थी, आज भी ऐसी ही नयी है, भविष्य में भी ऐसी ही नयी रहेगी। अपने बच्चों को देखो; हर बच्चेके अन्दर वैसी ही नवीनता है जैसे तुममें थी तुम्हारे बाप के लिये। कभी ऐसा नहीं होता कि अब तो हज़ार पीढियाँ हो गयी हैं, अब जो बच्चे पैदा होते हैं वे कुछ कम नये पैदा होते हैं! ऐसा कुछ नहीं है, छोटे से छोटे तुम पौधे को लो, घास को लो, हर घास तुमको नयी दीखेगी जब उगती है। इसी प्रकार परमेश्वर की यह मायावी सृष्टि होने से यह पुराणी है।।४।।

भगवान् ने परम पद की प्राप्ति के लिये कहा कि केवल उसकी शरण लेनी है। शरण लेना मायने क्या, प्रपत्ति मायने क्या? कैसे व्यक्ति को प्रपन्न कहा जायेगा? यह भगवान् स्वयं बतलाते हैं–

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

जो मान व मोह छोड़ चुके, संगरूप दोष को जीत चुके, हमेशा परमात्मस्वरूप के पर्यालोचन में तत्पर हैं, लेपसहित कामनाओं को छोड़ चुके, सुख–दुःख नामक जोड़ों से छूटे हुए हैं, वे मोहरहित (संन्यासी) उस नित्य पद को पा लेते हैं।

प्राप्तव्य पद अव्यय है। अनन्त सृष्टि अनन्त काल तक निकलने पर भी उसके अंदर कोई कमी नहीं आती। कई बार लोग पूछते हैं, 'विज्ञान पता लगाते-लगाते अन्त में कहाँ पहुँचेगा?' कहीं नहीं पहुँचने वाला है! जितना पता लगायेगा उतनी ही उसके अन्दर नवीन सृष्टि निकलती जायेगी। जैसे प्याज़ का छिलका उतार देंगे तो क्या अन्दर कुछ मिलेगा? छिलके के अन्दर कुछ होवे तो मिले! इसी प्रकार वैज्ञानिक सृष्टि की परतें एक के बाद एक खोलते जाते हैं, सोचते हैं अब कुछ मिलेगा; जब लगता है मिला तब फिर देखते हैं कि फिर परतें मिल रही हैं। किसी ज़माने में कहते थे न्यूटन ने सब पता लगा लिया। फिर हुआ कि उसका पता लगाया सब गड़बड़ निकल गया। फिर उसके बाद क्वाण्टम सिद्धान्त आ गया। ऐसे ही कभी मानते थे कि प्रकाश तरंगों में चलता है। फिर मान्यता आई कि एक–के–बाद एक गोलियाँ दागी जा रही हों इस तरह प्रकाश चलता है, फिर मानने लगे कि पानी की धार की तरह चलता है, आजकल कहते हैं कि कभी लगातार और कभी गोलियों की तरह चलता है! वैज्ञानिक लगे हुए हैं यह पता लगाने में कि इन दोनों में से कौन–सी बात पक्की मानी जाये। वर्तमान में तो दोनों मानकर

चलना पड़ता है। इसका कारण है कि संसार का जो मूल कारण परमात्मा है, वह अव्यय है। विज्ञान की परत खुलना कभी बंद नहीं होगी क्योंकि वह अव्यय है।

उसको कौन प्राप्त करता है? 'अमूढाः'। अविद्यावर्जिताः, अविद्या से जो रहित है, उसी को अमूढ कहेंगे। अविद्या के कारण ही मोह होता है, अयथार्थ ज्ञान होता है। जो चीज़ जैसी है वैसा उसको समझ नहीं पाते, इसका कारण अविद्या है। इसलिये जो लोग यह आशा करते हैं कि विज्ञान भी कभी भगवान् की तरफ जायेगा, वह पूरी नहीं हो सकती क्योंकि वह कभी नहीं जा सकता। अविद्या को ढूँढ कर अविद्या से परे नहीं जा सक़ते। अविद्या से जो रहित है वही उस पद को प्राप्त करता है। उस अविद्या से रहित होने के तरीके क्या हैं? प्रपत्ति ही तरीका है जिसे पूर्व श्लोक में कहा था। परमात्मा की शरण लेना क्या है? अविद्या को छोड़ना। अविद्या की निवृत्ति, यही परमात्मा की शरण है।

अविद्या निवृत्त कैसे होवे? पहला उपाय कहा 'निर्मानमोहाः' मान और मोह को जिन्होंने छोड़ दिया, मान-मोह से रहित हैं। मान का मतलब क्या? जो चीज़ मैं नहीं हूँ उसका अपने में आरोप कर लेना, यही मान है। यह शरीर किसका? मेरा। निश्चित बात है कि यह शरीर तुम्हारा है? तुमको पता है यह तुमसे कब छूट जायेगा? पता नहीं है। तुमको पता है यह तुमसे कब आज्ञा लेगा बीमार पड़ने की? नहीं। यह जब बीमार पड़ जाता है तब पीछे-पीछे तुम बीमार पड़ जाते हो, यदि तुम्हारा होता तो तुम से पूछ कर जाता, तुमसे पूछ कर बीमार होता! कोई काम करता है यह तुमसे पूछ कर? कुछ काम तुम्हारी इच्छा के अनुरूप यह शरीर कर लेता है; सामने वाले ने गाली दी तो फट तुम्हारा हाथ उठा और तुमने थप्पड़ मार दिया। कहते हो 'मेरा हाथ है, तब न मैंने थप्पड़ मारा', इसलिये अपना मानते हो। विचार करो, क्या तुमने वह थप्पड़ मारा या तुम्हारा मालिक वह रहा जिसने गाली देकर तुमसे थप्पड़ मरवा लिया? वह मालिक हुआ कि तुम मालिक हुए? जिन कामों को तुम सोचते हो 'मैं स्वतंत्र होकर कर रहा हूँ, उन कामों के अन्दर भी प्रकृति से पड़े हुए संस्कार, प्रकृति से पड़ी हुई एषणाएँ, सब मिलकर तुमको प्रवृत्त करते हैं, तुम्हारे शरीर को प्रवृत्त करते हैं। जैसे शरीर को 'मेरा' मान लिया, वैसे मन को भी 'मेरा' मान लिया है। 'मेरे मन ने यह चाहा इसलिये मैंने यह चाहा' यह मानते हो। मन को बैठाओ ज़रा दस मिनट ध्यान करने! तुम कहते हो 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलम्' शंख-चक्र-धारी का स्मरण करो; और वह स्मरण करता है, 'आज क्या भाव निकलेगा सोने का?' कोई संबंध नहीं 'सशंखचक्रं' से। जैसे शरीर तुम्हारी बात नहीं मानता वैसे मन भी नहीं मानता। फिर भी कहते हो, 'मेरा शरीर, मेरा मन'। और इसलिये 'मान' करते हो। अगर शरीर का कोई अपमान करता है, तो क्या समझते हो? मेरा अपमान हो गया। जो चीज़ तुम्हारी है नहीं उसे अपने में मान लेते हो यही तुम्हारा 'मान' है। विचार करोगे तो शरीर से लेकर बुद्धि और मन तक, कुछ भी तुम्हारा नहीं है।

जब मान करते हो तब मोह होता है। शरीर तक अभिमान कर लेते हो तो शरीर को

लेकर, शरीर से बाहर की जो चीज़ें हैं, धन, वस्त्र, सम्पत्ति आदि, उन सबसे मोह कर लेते हो। भगवान् ने 'निर्मानमोहाः' इस क्रम से इसलिये कहा, कि बिना मान छूटे हुए मोह छूटता नहीं। शरीर में जब तक तुमको मान है कि 'यह मैं हूँ' तब तक बाह्य चीज़ें सारी आवश्यक हो जाती हैं। यही न लोग कहते हैं– 'महाराज! शरीर के लिये यह आवश्यक है इसको कैसे छोड़ें?' शरीर के लिये आवश्यक है तो शरीर नहीं छोड़े, तुमको छोड़ने से कौन रोक रहा है? जब तक मान है कि 'शरीर मैं हूँ, मन मैं हूँ', तब तक मोह छूटता नहीं। इसलिये भगवान् ने कहा– 'निर्मानमोहाः'। ये दोनों जिसके निर्गत हो गये हैं, निकल गये हैं वही परम पद पायेगा। और 'जितसंगदोषाः'। संग ही दोष है। आसक्ति ही एक दोष है, जिसके कारण बाकी सब दोष प्रतीत होते हैं। इसलिये किसी ने कहा कि सत्पुरुषों के पास हमेशा जाओ, वे उपदेश नहीं दें तब भी, क्यों कि जो वे सामान्य इधर-उधर की बात-चीत करेंगे, उसमें भी उपदेश ही प्राप्त होगा। क्योंकि, सन्त हमेशा तुम्हारे संग-दोष का छेदन ही करेंगे। संग रूपी दोष को हटा देना आवश्यक है। 'जीत लिया है' का उलटा अर्थ नहीं कर लेना, कि जब मर्ज़ी तब आसक्ति कर लेंगे, जब मर्ज़ी तब छोड़ देंगे! जीतने का ऐसा अर्थ भी हो सकता है परन्तु यहाँ 'जितसंगदोषाः' का अर्थ यह नहीं है क्योंकि 'आसक्ति कर लेंगे' कि सम्भावना है तो आसक्ति होगी ही। आसक्ति किसी भी चीज़के गुणों को देखकर होती है। विवेक करने पर संसार में कहीं गुण वाली चीज़ दीखती ही नहीं, दोषों की कमी या आधिक्य तो हो सकता है। जैसे अनित्यता रूपी दोष हमेशा ही रहेगा, हर चीज़ में रहेगा। अनात्मा होना जो दोष है, जडता का दोष, वह हमेशा ही रहेगा। तीनों गुणों के द्वारा प्रवृत्त होने का दोष हमेशा ही रहेगा। कुछ दोष ऐसे हैं जो हर चीज़ में हर समय रहेंगे ही। उनके साथ फिर और कुछ दोष जुड़े रहते हैं। अतः 'जब चाहें तब हम आसक्ति कर लें' इसका मतलब है चीज़ों के अन्दर तुमको गुण की प्रतीति होती है। गुणों की प्रतीति होगी तो आसक्ति को बचा नहीं सकते। इसलिये कहा कि संग स्वयं ही दोष है; इसको जीत लेने का मतलब इसका निवृत्त हो जाना है, ठीक जिस प्रकार से, 'इस राजा को मैंने जीत लिया', का मतलब होता है कि अब वह *राजा* नहीं रह गया।

इसी प्रकार से 'विनिवृत्तकामाः' कामनायें जिनकी छूट गयी हैं। यद्यपि संग के अभाव में कामना नहीं होगी फिर भी अलग से कहने का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के साथ रहने पर किंचित् कामना की सम्भावना रह जाती है। क्योंकि कामना दो तरह की होती है, एक मानस कामना और एक दैहिक कामना। मोटी भाषा में समझ लो; 'मुझे रसगुल्ला खाना है' यह मानसिक कामना है; और 'भूख से तड़प रहा हूँ। मुझे कुछ खाने को चाहये' - यह दैहिक कामना है। हैं तो दोनों कामनायें। मानसिक कामनाओं को तो तुम धीरे-धीरे हटा सकते हो, लेकिन दैहिक कामनाओं का छूटना अविद्या-निवृत्ति के पहले सम्भव नहीं है। इसलिये यति को सर्वकर्मसंन्यास करने पर भी भिक्षाटनादि के लिये छूट देनी पड़ती है क्योंकि अविद्या-निवृत्ति हुई नहीं है। 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' वह श्रवण करेगा, तब जाकर उसकी

अविद्या निवृत्त होगी भिक्षाटन दैहिक कामना की पूर्ति का उपाय है। वह कामना अज्ञान रहते निवृत्त नहीं होती है। इसलिये 'जितसंगदोषाः' के बाद भी 'विनिवृत्तकामाः' कहना आवश्यक हो गया। स्पष्ट करने के लिये, 'वि–निवृत्त' कह दिया, विशेषकर के निवृत्त, अर्थात् दैहिक कामनाओं की भी जब सर्वथा निवृत्ति हो जाती है तब परपद–प्राप्ति होती है।

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' द्वन्द्व प्रिय–अप्रिय, शीत–उष्ण, मान–अपमान, ये सब जोड़ों में आते हैं। द्वन्द्व मायने जोड़ा। प्रिय–अप्रिय, सुख–दुःख इत्यादि सब द्वन्द्वों से जो विमुक्त हैं वे प्रपन्न होते हैं। विमुक्त अर्थात् इन जोड़ों से जिन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुख–दुःख, शीत–उष्ण सब आते हैं, जाते हैं परन्तु साधक उनसे प्रभावित नहीं होता क्योंकि उनसे प्रभावित होने वाले जो शरीर–मन हैं, उन शरीर–मन का मान वह छोड़ चुका है। वह तो केवल आत्मा की ही शरण लिये हुए है। द्वन्द्वों का नाम ले दिया ' सुखदुःखसञ्ज्ञैः'। शीत–उष्ण, मान–अपमान ये सब सुख–दुःख के द्वारा ही तुमको बाँधते हैं। परम्परा से सब अंत मे जाकर सुख–दुःख को लेकर ही जोड़े हैं। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट कर दिया 'सुखदुःखसञ्ज्ञैः' सुख–दुःख ये जिनकी संज्ञा अर्थात् नाम हैं। ये तो सब कह दी क्या–क्या चीज़ें तुमको छोड़नी हैं, किनसे निवृत्ति करनी है। अब कहते हैं कि क्या करना है।

'अध्यात्मनित्याः'। 'आत्मानमधिकृत्य अध्यात्मम्' आत्मा को लेकर जो सारी चीज़ें हैं वे अध्यात्म हैं। भाष्यकार ने ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ करते हुए स्पष्ट किया है कि ब्रह्म की जिज्ञासा का मतलब है ब्रह्म–कर्मक, ब्रह्म–विषयक जिज्ञासा। किन्तु 'यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तानि अर्थाक्षिप्तानि एव' अर्थात् जितना कुछ समझे बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता वह सब भी समझा जाये यह 'ब्रह्मजिज्ञासा करो' कहने से अर्थात् सिद्ध है। वही बात यहाँ पर है; आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, उसके विषय में जितनी भी बातें हैं, उन सब का बार–बार विचार करना है। कब तक? कहा 'नित्याः'। हमेशा उसी का विचार करो, तदतिरिक्त कोई जिज्ञासा न रह जाये। बाकी सब छोड़ ही दिया है, इसलिये सम्पूर्ण एकाग्रता आत्मा में ही रखनी है। अन्यत्र कहा है 'आसुप्तेरामृतेःकालं नयेद् वेदान्तचिन्तया' जब तक नींद न आ जाये और जब तक मर न जाओ तब तक वेदान्तविचार ही करते रहो। कब तक करें? जब तक मर न जाओ। रोज़ कितना करें? जब तक नींद न आ जाये। ऐसा आत्म–विचार करना अध्यात्मनित्य होना है। चाहे श्रवण करके हो, चाहे सुनाकर हो, चाहे मनन करके हो, चाहे ध्यान करके हो, कैसे भी हो, होवे बस वही, उसके सिवाय और कुछ नहीं।

जो संन्यासी है, सर्वकर्म को छोड़ चुका है, उसी से यह संभव है। आजकल लोगों के मन में है, कि जो संन्यासी समाज के लिये कार्य करता है वह श्रेष्ठ है। यहाँ भगवान् ने जो नियम गिना दिये हैं उनमें 'अध्यात्मनित्याः' कहा, बाकी सब चीज़ें छोड़ने के लिये कहा। समाज भी अविद्या का कार्य है, समाज की सेवा भी अविद्या का कार्य है। अविद्या के कार्य में लगकर अविद्या की निवृत्ति वैसा ही है, जैसा बहुत से लोग चाहते हैं कि सरकार में जाकर के सरकार को सुधार लेंगे! उसमें जाकर उसे कैसे सुधारोगे? सुधारने के लिये उससे बाहर

रहना पड़ेगा। इसी प्रकार अविद्या के साम्राज्य से जो बाहर रहता है वही अविद्या पर विजय कर सकता है, अविद्या के कार्य में पड़कर अविद्या पर विजय संभव नहीं। भगवान् ने 'अध्यात्मनित्याः' से यतियों के लिये कर्तव्य बतलाया है। और कोई दूसरा काम उनका नहीं, यही करें तो परपद पायेंगे।।५।।

संसार वृक्ष काटने योग्य और आद्य पुरुष की प्रपत्ति द्वारा परम पद परिमार्गणीय है जिसका उपाय मान-मोह-संग-काम-द्वंद्वों के त्यागपूर्वक आत्मविचार में तल्लीनता है, यह बताया। वह पद ज्ञेय हो तो ज्ञाता से भिन्न होगा जिससे द्वैत की सिद्धि होगी और ज्ञेय न हो तो उसे ढूँढने का विधान व्यर्थ है। इस समस्या का समाधान उस तत्त्व की स्वप्रकाशता समझाकर करते हैं। किंच 'भूयो न निवर्तन्ति' से कहा कि परम पद पाकर संसार में नहीं लौटते, अतः यह भी बताते हैं कि फिर जाते कहाँ हैं–

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।।६।।

जिसे पाकर संसार में लौटते नहीं वह मेरा परम धाम है जिसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि कोई प्रकाशित नहीं कर सकते।

'तत् सूर्यः न भासयते' वह जो अव्यय पद है, वह सूर्य से प्रकाशित नहीं होता। प्रकाश का मतलब क्या है? जो आवरण रूपी अंधकार को हटाता है उसी को प्रकाश कहा जाता है। अंधकार रूपी आवरण को हटाने वाली ही रोशनी कही जाती है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से देखें, तो अनेक ऐसे प्रकाश हैं जो हमारी आँख के द्वारा दीखने वाले अंधकार को नहीं हटाते परन्तु यंत्र-विशेषों के अंदर उन प्रकाशों में रखे हुए पदार्थ स्पष्ट रूप से गृहीत हो जाते हैं। हमारी आँखों के अंधकार को दूर करने में असमर्थ हैं, परन्तु किसी दूसरे की आँख के अंधकार को हटा भी देते हैं। इसीलिये ऐसे प्रकाशों को 'अति' या 'परा' शब्द से कहते हैं। जैसे बैंगनी रोशनी हम देख सकते हैं किन्तु 'परा बैंगनी' रोशनी हमें नहीं दीखती। परन्तु ऐसे प्राणी हैं जो उसे देख पाते हैं अथवा ऐसे यन्त्र भी हैं जो उस प्रकाश में कारगर हो जाते हैं। इस प्रकार के कई पदार्थ आजकल आ गये हैं। बिलकुल अंधेरे के अंदर चित्र खींचने वाला कैमरा रख दिया जाता है। कमरे में अंधेरा है, परन्तु कमरे में जो कुछ हो रहा है उस सब का चित्र वह खींचता रहता है। केवल प्रकाश के बारे में ही न समझना, ध्वनि की भी यही हालत है। जिस ध्वनि को हम नहीं सुन सकते उसको कुत्ता सुन लेता है; हम उसको नहीं सुन सकते क्योंकि हमारा जो कान है, उसकी सुनने की शक्ति से वह परे है। अतः किसके लिये कौन-सा प्रकाश है यह केवल इस पर निर्भर करता है कि उसका अंधकार दूर होता है या नहीं।

सूर्य का जो प्रकाश है, वह ब्रह्म पर पड़ने वाले आवरण को हटाने में असमर्थ है। हम चाहे आज से लेकर सौ सालों तक सूर्य पर त्राटक करते रहें, परन्तु हमारे अंतःकरण में

पड़ा हुआ जो ब्रह्म के ऊपर का आवरण है वह हट नहीं सकता। इसलिये कहते हैं कि उस पद को 'सूर्यो न भासयते' अन्य प्रसिद्ध अंधकार को सब प्रकार से हटाने की शक्ति वाला सूर्य भी ब्रह्म के आवरण को नहीं दूर कर सकता।

जब सूर्य का प्रकाश ही दूर नहीं कर सकता, तो 'न शशांकः'। शशांक अर्थात् चन्द्रमा। शश मायने खरगोश, अंक अर्थात् चिह्न। पूर्ण चन्द्रमा को ध्यान से देखो तो उसके बीच में, बड़े दो कानों वाला खरगोश दिखाई देगा। दीखेंगे दो कान और बीच में एक गोल मुँह, बाकी सब तुमको अंतःकरण के संस्कारों से देखना पड़ेगा। इसलिये चन्द्रमा को संस्कृत में शशांक कहते हैं, खरगोश का उस पर चिह्न है, अथवा उसके अंक में, गोद में शश है। 'शशांक' के द्वारा बतलाते हैं कि सूर्य सर्वथा प्रकाश वाला है फिर भी ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर पाता तो चंद्रमा, जिसके अंक में अप्रकाशित स्थल है, वह कहाँ से प्रकाशित करेगा? किंच सूर्य की रोशनी बहुत तेज़ है, चन्द्रमा की रोशनी कम है, तो इसमें प्रकाशन-सामर्थ्य असंभव है। फिर चन्द्रमा का नाम लेने की क्या ज़रूरत थी? पहली बात तो यह कि श्रुति का अनुगमन है; श्रुतियों के अंदर 'न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इस प्रकार से चन्द्र को सूर्य से अलग करके कहा है। श्रुति के वैसे ही पीछे स्मृति चलती है जैसे पति के पीछे पत्नी चलती है। अतः श्रुति के अनुरूप भगवान् ने कह दिया। दूसरा एक और भी कारण है; बहुत से भावों का प्रकाश चन्द्रमा के अंदर होता है, उन भावों का प्रकाश सूर्य की रोशनी में नहीं होता। स्थूल पदार्थ तो ज़रूर सूर्य की रोशनी में स्पष्ट दीखते हैं, परन्तु हमारे भावों का प्रकाश उतना नहीं होता। ताजमहल को चन्द्रमा के प्रकाश में देखने पर अत्यधिक सुन्दर लगता है, सूर्य के प्रकाश में उतना सुंदर नहीं लगता है। उसका सौंदर्य चन्द्रप्रकाश से खिलता है, सूर्य के प्रकाश से नहीं। इसी प्रकार मध्य कालीन भाषा के कवियों ने भी स्त्री का सौन्दर्य रात्रि में, चन्द्रमा के प्रकाश में अधिक खिलता है, ऐसा वर्णन किया है। यदि वृक्षादि को भी देखो, तो चन्द्रमा के प्रकाश में जितने अच्छे लगते हैं, उतने सूर्य के प्रकाश में नहीं। भावों का प्रकाश शशांक ज़्यादा कर लेता है और सूर्य नहीं करता परन्तु परमात्मा के भावों का उद्‌घाटन करने में, परमात्मा के ऊपर जो भावों के द्वारा हमारी स्थिति है उस के उद्‌घाटन में भी चन्द्रमा मदद नहीं करता।

'न पावकः' अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करती। सूर्य और चन्द्रमा के सामने अग्नि का प्रकाश तो और हल्का है। फिर इसको कहने की खास ज़रूरत क्या है? कुछ पदार्थों का ऐसा अंधकार है जो अग्निकर्म से दूर होता है। जैसे सूर्य से भी स्वर्ग-दर्शन नहीं होता, चन्द्रमा से भी स्वर्ग-दर्शन नहीं होता। पर अग्नि के अन्दर जब हम ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करते हैं तब हमें स्वर्ग का दर्शन हो जाता है। स्वर्ग जाने की, स्वर्ग-दर्शन करने की सामर्थ्य अग्निकर्म से प्रकट होती है। वैदिक कर्म प्रायः सारे ही अग्नि से ही किये जाते हैं। इस प्रकार न स्थूल पदार्थों को सर्वथा स्पष्ट करने वाला सूर्य ही ब्रह्म के आवरण को हटाता है, न मन के भावों को प्रकट करने वाला चन्द्रमा ही उसको हटाता है, न अग्नि के द्वारा किये

हुए कर्म ही उसको प्रकाशित कर पाते हैं। उसका अंधकार ये कोई दूर नहीं कर पाते हैं। चाहे जितने कर्म कर लो, उससे अज्ञान का आवरण कभी दूर होता नहीं। इसलिये श्रुतियों ने कह दिया – 'न कर्मणा' कुछ भी करके वह आवरण नहीं हटता, उल्टा 'त्यागेन' उन कामों का त्याग करने से ही उस आवरण के हटने की सम्भावना होती है।

जो कहा था (श्लो. ४) 'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' उसी का अनुवाद कर दिया 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते'। किसका आवरण? जिसको जानकर फिर संसार में आना नहीं पड़ता। पहले जिसको पद कहा था उसी को अब कहते हैं, 'तद्धाम', धाम का मतलब होता है जो तुम्हारा नियत वास हो। इसलिये कहीं सरकारी कागज़ या बैंक में लिखना होवे, तो वहाँ लिखा होता है 'स्थायी पता लिखो'। हिन्दी में भी इसलिये कहते हैं 'तुम्हारा नाम-धाम क्या है?' जहाँ नियत वास है उसको ही धाम कहते हैं। आत्मा में ही मुक्तका नियत वास है। यद्यपि संसार में, इदमर्थ में भी सर्वव्यापक है वह, तथापि प्रत्यगात्मा से अन्यत्र सर्वत्र बाध-सामानाधिकरण्य है। अर्थात् इदम्पदार्थ नहीं हैं, केवल आत्मा है और प्रत्यगात्मा में मुख्य सामानाधिकरण्य है अर्थात् प्रत्यगात्मा स्वयं परमात्मा है। इसलिये यही नियत वास है। अन्य चीज़ों के तो बाध का अधिकरण है, बाध की अवधि है, जबकि यहाँ तो वह नियत रूप से रहता है। 'प्रत्यगात्मा नहीं' ऐसी प्रतीति नहीं है, ऐसा अनुभव नहीं है, ऐसा सत्य भी नहीं है। जिस परमात्मा के ज्ञान से यह संसार निवृत्त होता है, वह कहाँ निश्चित रूप से रहता है, नियत रूप से रहता है? जहाँ उसका बाध नहीं करना पड़ता, जहाँ उसका साक्षात् अनुभव होता है। वही मेरा, परमात्मा का परम स्थान है। 'मैं' अर्थात् प्रत्यगात्मा। जिसके प्रकाश में सब कुछ दीख रहा है, वह मैं हूँ। मैं भी, अर्थात् मैं की वृत्ति भी जिसके द्वारा प्रकाशित होती है, वह परम पद है, परम धाम है। इसलिये सारा संसार जहाँ से निकला उसका परम धाम आत्मा ही है। अतः निवृत्त नहीं होता।।६।।

ऐसा क्यों है? बाकी सब ठिकाने कभी हैं, कभी नहीं हैं जबकि प्रत्यगात्मा परम स्थान है, यह क्यों? यह बतलाते हैं –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।

जीवों के संसार में मेरा ही मानो अंश जीव बना हुआ है। हमेशा रहने वाला वह ही शरीरस्थ गोलकों में कार्यरत इन्द्रियों को और छठे मन को आकृष्टकर ले जाता है।

'जीवलोके' जीवों का जो लोक है अर्थात् जीव जिन चीज़ों का अनुभव करते हैं। 'जीवभूतः सनातनः' जीवभूत, जो जीवरूप है, जीवरूप से प्रतीत होता है। जीवलोक में जीवरूप से जो प्रतीत होने वाला है, वह 'ममैवांशः' मेरा ही अंश है। अंश का मतलब होता है हिस्सा। अवयव, एकदेश को अंश कहते हैं। जीव प्रसिद्ध है, कर्ता भोक्ता। जो कर्म करता है और भोग भोगता है उसी को जीव कहते हैं। कर्म करने वाला और फल भोगने वाला

क्या परमात्मा का अवयव है या परमात्मा का एकदेश है? यदि परमात्मा का एकदेश हो या अवयव हो, तो अवयव अलग किया जा सकता है, एकदेश भी अलग किया जा सकता है; और यदि परमात्मा से कोई चीज़ अलग की जा सकती है तो वह अव्यय नहीं रह सकता। इसलिये ब्रह्मसूत्र में अंश का अर्थ करते हुए (२.३.५०) कहा कि जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो सूर्य के जैसा ही दीखता है, पर वह सूर्य का कोई टुकड़ा टूटकर नहीं आया है! वह सूर्य का अवयव नहीं है। जब तक जल रहता है तब तक वह उसमें प्रतीत होता है। जल में तरंगे उठती हैं, तो उस प्रतिबिम्ब में भी ऊपर–नीचे जाने की क्रिया प्रतीत होती है। जल में यदि तुम नीला रंग डाल दो, लाल रंग डाल दो तो प्रतिबिम्ब भी नीला और लाल दीखता है। परन्तु उसके नीले या लाल हो जाने से, सूर्य में कोई भी नीलिमा या लालिमा नहीं आती। तरंगों के द्वारा उसके ऊपर–नीचे होने पर भी सूर्य में कोई ऊपर–नीचे होना नहीं होता। प्रतिबिम्ब में तो सब हो रहा है परन्तु सूर्य में कोई फ़र्क नहीं आता। उस पानी को यदि सुखा दो, तो उस प्रतिबिम्ब का क्या हुआ? लौकिक भाषा में कह सकते हो कि सूर्य से ही आया था, वापिस सूर्य में ही चला गया। वस्तुतः न वह सूर्य से आया, न सूर्य में गया। सूर्य, सूर्यरूप में अव्यय भाव से, अविकारी भाव से स्थित होते हुए ही, स्वभावतः जल में प्रतिबिम्बित हो जाता है, बस इतना ही है। क्योंकि प्रायः अंश शब्द का अर्थ लोग ठीक प्रकार से समझ नहीं पाते, अतः यही समझते हैं कि सारे जीवों के हृदय में रहता है तो परमेश्वर का एक–एक छोटा टुकड़ा रहता होगा! अतः यह 'अंश' जो भगवान् ने कहा है यह ठीक से समझना ज़रूरी है।

एक बात याद रखना, कि प्रतिबिम्ब कई काम ऐसे कर लेता है जो सूर्य नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, जिस नाली आदि में सूर्य- किरण नहीं पहुँच सकती उसे प्रकाशित करने का काम काँच में प्रतिबिम्बित सूर्य ही करता है। वह प्रकाश किसने किया? काँच में पड़े हुए प्रतिबिम्ब ने किया। परन्तु काँच में वह रोशनी कहाँ से आई? सूर्य से आई। पर सूर्य ने उसे अकेले प्रकाशित नहीं किया, किया तो काँच के द्वारा। इसी प्रकार कर्तृत्व–भोक्तृत्व जीव के अन्दर ही आता है, परमात्मा में नहीं आता। परमात्मा में कर्तृत्व–भोक्तृत्व नहीं है परन्तु अविद्या या अंतःकरण में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ा वही कर्तृत्व–भोक्तृत्व को प्रकट करता है। इसलिये कहा 'अंशः जीवभूतः' जो प्रतिबिम्ब पड़ा वह कर्ता–भोक्ता हो गया। जीव अर्थात् कर्ता–भोक्ता। परन्तु स्वरूप से कैसा है? 'सनातनः'। प्रतिबिम्ब क्योंकि है तो सूर्यप्रकाश ही, इसलिये सूर्यरूप से नित्य है। ऐसे ही ब्रह्मप्रतिबिम्ब–स्थानीय जीव नित्य है।

इस प्रकार से भगवान् ने बतलाया कि प्रत्यगात्मा मेरा परम धाम क्यों है; इसलिये है कि मेरा ही अंश है, अर्थात् मेरा ही प्रतिबिम्ब है। इसलिये, जैसे पानी के सूखने से प्रतिबिम्ब कहाँ गया? बिम्ब में ही गया, यही कहा जायेगा; इसी प्रकार से अविद्या की, अंतःकरण की निवृत्ति होने पर वह 'गया' ऐसा कह देते हैं। अविद्याकृत उपाधि के कारण ही अविद्या के एकदेश में हुआ जो अन्तःकरण, उसके परिच्छेद से ही हमारे में परिच्छिन्नता है। परन्तु

परिच्छिन्नता जैसे सूर्यादि में कल्पित है वैसे ही आत्मा में भी कल्पित ही है।

जो प्रतिबिम्बरूप अंश है, अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अगर निवृत्त नहीं हुआ तो वह कर्ता–भोक्ता है ही। वह मरने पर किसके साथ जाता है? कहा 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति'। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वक्, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जो बाहर के विषयों को जानती हैं, और मन जो अंदर के विषयों को जानता है। मन छठी इन्द्रिय है। 'छठी इन्द्रिय' का मतलब यह नहीं कि वह बाह्येन्द्रियों की तरह इन्द्रिय है, वरन् इन्द्रियाँ पाँच हैं इसलिये उनके साथ गिनने पर मन छठा है। ठीक जिस प्रकार से, महाभारत युद्ध के पहले कुन्ती के हृदय को यह बात साल रही थी, घोर दुःख दे रही थी, कि मेरा एक पुत्र कर्ण, और पाँच पुत्र पाण्डव ये एक–दूसरे को मारेंगे। माता की ममता सब पुत्रों के साथ एक जैसी होती है। अब तक तो कुन्ती के मन में केवल यह था कि 'कर्ण जीवित है, अच्छे ढंग से रह रहा है, लोग सूतपुत्र कहते हैं तो उसकी बदनामी है, परन्तु तथ्य प्रकट करने में मेरी बदनामी होगी क्योंकि बिना ब्याह के पैदा हुआ था'। माँ का हृदय ऐसा होता है कि बच्चा कहीं भी होवे, यदि जीवित रहता है तो उसको संतोष बना रहता है। युद्ध में तो मरने का प्रसंग था। तब उसने कर्ण से आकर कहा 'तू मेरा छठा बेटा है'। छठा बेटा का मतलब क्या? पाँच पाण्डव और कर्ण छठा। इसी प्रकार से जो ज्ञान के साधन हैं, जानने के साधन हैं, वे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अंदर की चीज़ों को जानने वाला अंतःकरण, मन छठा है। इसलिये कहा– 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि'। 'प्रकृतिस्थानि' ये सब प्रकृति में स्थित हैं, सारे प्राकृतिक संसार में हैं। ये शरीर में अपने–अपने स्थानों में स्थित हैं। आत्मा पुरुष होने के कारण इन प्रकृति–विकारों से सर्वथा भिन्न है। परन्तु जब ये चल कर जाते हैं, प्रतिबिम्ब को अपने साथ खींच कर के ले जाते हैं। अतः जाने वाले तो, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनसे उपलक्षित सप्तदश अवयवों वाला लिंग शरीर समझ सकते हो; यहाँ तो यही कह रहे हैं कि जाने वाली इन्द्रियाँ और मन हैं, उनके जाने से वह प्रतिबिम्ब जाता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि पुरुष होने पर भी वह प्रकृति में है, उस से तादात्म्यापन्न है। जैसे अगर घड़े में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, और घड़े को यहाँ से वहाँ लेकर जाओ तो लगता है कि जो सूर्य का प्रतिबिम्ब यहाँ था वही सूर्य का प्रतिबिम्ब वहाँ भी चला गया। सचमुच में प्रतिबिम्ब तो गया नहीं, लेकिन घड़े के पानी के जाने से लगता है मानो प्रतिबिम्ब गया। इसी तरह अंतःकरण में परमात्मा का प्रकाश पड़ा हुआ है, वही कर्ता और भोक्ता हो गया है। जब जीव की उपाधि जाती है तब क्योंकि जो कर्ता–भोक्ता यहाँ पर था, वह कर्ता–भोक्ता वहाँ पर गया, इसलिये प्रतीत होता है कि जीव गया। जाती उपाधि है, उपहित पर जाने का आरोप हो जाता है। क्योंकि जड में क्रिया चेतनाधीन ही प्रसिद्ध है इसलिये कहा जाता है कि जीव गया और उपाधि को, पुर्यष्टक को साथ में खींचकर ले गया। 'कर्षति' जीव ले जाता है यह कहा जाता है।।७।।

खींचकर ले जाना कब की बात है यह स्पष्ट करते हैं –

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

देहादिसंघात का स्वामी जब भी स्थूल शरीर छोड़कर जाने लगता है तब इन इन्द्रियादि को साथ लेकर वहाँ चला जाता है जो नया शरीर मिला है। जैसे पुष्पादि से गंध लेकर वायु चला जाता है।

'यत् शरीरम्, आप्नोति' कहाँ खींचकर ले जाता है? जिस शरीर को वह प्राप्त करता है, वहाँ। इन्द्रियाँ और मन, जब तक किसी शरीर में नहीं पहुँचते तब तक कार्यकारी नहीं होते, मन और इन्द्रयाँ अपने गोलकों में बैठकर ही कार्य करते हैं। इस शरीर के अंदर जब किसी कारण से वे कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं तब यहाँ से जाते हैं। असमर्थ होने में कारण प्रारब्ध की समाप्ति है। इस शरीर से जो कुछ भी भोग होना था वह भोग समाप्त हो जाये तब यहाँ से जाना पड़ता है क्योंकि अभी फल देने वाले कर्म और उपासनाएँ बाकी हैं। इस शरीर में अब फल देने की सम्भावना नहीं क्योंकि इसका प्रारब्ध ख़त्म हो गया। अतः जहाँ पर वे कर्म और उपासना फल दे सकें, वहाँ जाकर इन्द्रियाँ और मन बैठ जाते हैं। ठीक जैसे तुम जब मधुमक्खी के छत्ते को उखाड़ देते हो, जला देते हो, तो मधुमक्खियाँ फिर वैसा ही छत्ता बनाकर उसमें बैठकर मधु-संचय का काम शुरू कर देती हैं। छत्ता शरीर की तरह है। इसी प्रकार से हमारी इन्द्रियाँ जब यहाँ पर कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं तब जाकर नया शरीर बना लेती हैं, जिसमें बैठकर फिर अपना भोग कर सकें। उत्क्रमण करती हैं, अर्थात् पूर्व शरीर से उठकर जाती हैं उत्क्रमण, का मतलब है, उठकर जाना। यहाँ से इन्द्रियाँ और मन उठकर गये और वहाँ जाकर बैठे; जाना-आना यह सब हुआ किस में? इन्द्रियों और अंतःकरण में, लेकिन क्योंकि इनमें तादात्म्याध्यास किये हुए जीव है इसलिये उसे उत्क्रमण करने वाला, जाने वाला, नया शरीर पाने वाला कहा जाता है।

उसी जीव को इस प्रसंग में कहा 'ईश्वरः'। जो इस शरीरादि का, इन्द्रियों का मन आदि का मालिक है, इनके जाने से उसके जाने की प्रतीति होती है, वही कर्ता-भोक्ता है। इन्द्रियाँ, मन - ये सब शरीर में बैठकर काम करते हैं पर ये सब काम करने वाले नौकर हैं, मालिक नहीं। मालिक तो उनमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही है। वही पूर्व शरीर से अगले शरीर में इन्द्रियों को व मन को लेकर जाता है। 'संयाति'-'सम्यक् - याति' थोड़ा-बहुत चलन तो इन्द्रिय और मन का यहाँ भी होता है। कहते ही हैं कि 'मेरा मन वहाँ पर चला गया'। अथवा जब हम सामने पेड़ देखते हैं तब हमारे मन और आँख किसी तरह से वहाँ गये, तभी वहाँ देख रहे हैं। परन्तु यहाँ से *अच्छी तरह* से नहीं गये, पेड़ को देखने के बाद वापिस यहाँ आ गये। जब अच्छी तरह जाते हैं तब यहाँ से ऐसे जाते हैं कि फिर कभी यहाँ आयेंगे ही नहीं, पूर्व शरीर में कभी दुबारा नहीं आयेंगे। फिर कभी नहीं आयेंगे ऐसा जो जाना है वह - 'संयाति'। इस शरीर को छोड़ कर ऐसा जायेंगे कि फिर *इस* शरीर में नहीं आयेंगे।

किसी शरीर में नहीं जायेंगे ऐसा नहीं समझ लेना! इस शरीर में नहीं आयेंगे।

इसमें लौकिक दृष्टांत देते हैं: वायु अर्थात् हवा; 'गंधान्' सुगन्धि को, 'आशयात्' सुगंधि जिसमें है वह सुगंधि का आशय जैसे फूल या इत्र। वायु इस गंध को जैसे लेकर चली जाती है वैसे जीव इन्द्रियादि को ले जाता है। चीज़ तो वैसी की वैसी रह जाती है पर गंध चली जाती है। यहाँ यह प्रश्न उठाने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि यह लौकिक दृष्टांत है, कि गंध जायेगी तो कोई द्रव्य भी जायेगा ही। ऐसी कई दार्शनिक मान्यताएँ हैं, परन्तु कम से कम, प्रत्यक्ष में ऐसी प्रतीति नहीं होती। फूल से गंध आने पर फूल में कोई कमी नज़र आ जाती हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार, यह शरीर तो ऐसा ही पड़ा रह जाता है। जैसे जो गन्ध का आशय है उसकी विशेषता गंध है पर गंध चली जाती है, आशय रह जाता है, ऐसे ही जीवन जिसकी विशेषता है वह शरीर निर्जीव होकर पड़ा रह जाता है। कपड़े पर आधुनिक सेंट छिड़क लो, कपड़ा गंध का आशय, आधार बन जाता है पर खुली हवा में दो-चार घण्टे रहने के बाद कपड़ा वैसा ही रहता है, खुशबू सारी उड़ जाती है। उसी प्रकार से पंचमहाभूतों का कार्य शरीर ऐसा ही रह जाता है। बहत्तर किलो का शरीर, अंतःकरण और इन्द्रियों के जाने से कुछ भी हल्का नहीं होता। क्या चला गया? जानने वाला ईश्वर चला गया। बाकी, उतने-का-उतना वजन, उतने-का-उतना तोल, सब कुछ वैसा-का-वैसा रह गया। जैसे सुगंधि की विशेषता चली गयी, कपड़ा वैसा-का-वैसा रह गया; इसी प्रकार से ज्ञान-क्रिया के साधन चले गये, शरीर तो वैसा-का-वैसा रह गया। इसलिये यह दृष्टांत दिया, 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' आशय में कोई परिवर्तन नहीं होता, और वायु गंध को लेकर चली जाती है। इसी प्रकार प्राण वायु तुम्हारे इन्द्रियों और अंतःकण को लेकर चली जाती है।।८।।

शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन इन सबका जो स्वामी है, ईश्वर है, वह पाँच इन्द्रियाँ और मन (इनसे उपलक्षित पुर्यष्टक) को लेकर इस शरीर से वैसे ही उड़ जाता है जैसे फूल में से उसकी गंध उड़ जाती है। अब उन पाँच इन्द्रियों और मन का स्वयं कथन कर देते हैं-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

(देह में स्थित होकर) यह जीवभूत परमेश्वरांश कान, आँख, त्वक्, जीभ, नासिका व मन को व्यापारवान् बनाकर विषयों का उपभोग करता है।

पूर्व श्लोक में मन समेत जो छह कहे थे उन्हीं का नाम ले दिया : श्रोत्र, सुनने की इन्द्रिय जो आकाश से बनी है। चक्षु, देखने की इंद्रिय जो तेजस्तत्त्व से बनी है। स्पर्शन, छूने की इन्द्रिय जो वायु से बनी है। रसन, चखने की इंद्रिय जो जल से बनी है। घ्राण, सूँघने की इंद्रिय जो पृथ्वी से बनी है। मन स्वयं सोचने-विचारने का कार्य करता है, सुख-दुःख-क्रोधादि आकार लेता है, और इन सभी इंद्रियों के साथ मिलता है तभी इंद्रियाँ सफल हो पाती

हैं। एक समय में तो मन एक इंद्रिय से ही ग्रहण करता है पर यदि मन इंद्रिय से सम्बद्ध न हो तो इंद्रिय अनुभव नहीं करा पाती इसलिये सभी को मन का सम्बंध चाहिये रहता है। मन पाँचों भूतों से बना है। 'अयं' अर्थात् देह में स्थित जीव इन सब के 'अधिष्ठाय' सहारे विषयों का उपभोक्ता बनता रहता है। 'अधिष्ठाय' अर्थात् इन्हें अपने अधीन बनाकर इनमें स्थित होकर जीव भोग करता है। इनसे एकमेक हो जाना इनमें स्थित होना है, अतः आँख देखती है तो लगता यही है कि मैं देखता हूँ। वर्तमान देह में भी इन्हें अधिष्ठित कर ही भोगता है, अगला जो शरीर मिलता है वहाँ भी इन्हें अधिष्ठित कर ही भोगता है। श्लोकस्थ 'च' से सारे पुर्यष्टक को और उसे अधिष्ठित करने को समझ लेना चाहिये। जीव द्वारा अधिष्ठित होने पर ही श्रोत्र आदि में शब्दादि के प्रकाशन की सामर्थ्य आती है क्योंकि उसी की वह औपाधिक अभिव्यक्ति है। विषय-प्रकाश करता वही है पर इन सबके सहारे, यह तात्पर्य है।।९।।

स्थूल शरीर तो छोड़ता ही है इसलिये उससे आत्मा अलग है इतना समझ आता है। श्रोत्रादि का प्रवर्तक है अतः उनसे भी अलग है यह पूर्व श्लोक में बताया। ऐसा आत्मा हमारा स्वरूप होने पर भी शरीर पकड़ते-छोड़ते या इंद्रियों को प्रवृत्त करते हुए उसे हम देख नहीं पाते। इसका कारण बताते हैं–

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

ग्रहण किया शरीर छोड़ते हुए आत्मा को, या शरीर में रहते हुए (आत्मा) को, या विषयों का उपभोग करते हुए भी (आत्मा) को, सुख-दुःख-मोहरूप गुणों से युक्त आत्मा को, विषयाकर्षणवश नाना प्रकार से मोहग्रस्त जन्तु शास्त्रोपदेश के बावजूद भी देख नहीं पाते (यह अत्यंत खेद की बात है)। प्रमाणजनित ज्ञानरूप आँख से देखने वालों को इसका दर्शन होता है।

'उत्क्रामन्तं' - जिस शरीर को पहले ग्रहण किया है उसको छोड़ते हुए को नहीं देख पाते। 'स्थितं' - उस शरीर में रहते हुए को भी नहीं समझते। 'भुञ्जानं' - शब्दादि विषयों का भोग करते हुए को भी नहीं जानते। 'गुणान्वितम्' - सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण अर्थात् सुख, दुःख ओर मोह, इन गुणों से युक्त, अर्थात् इन गुणों वाला होकर वह जो ईश्वर अर्थात् इस सारे संघात का मालिक है, उसको ये सब काम करते हुए, 'विमूढा नानुपश्यन्ति' विमूढ जन नहीं देखते। शरीर से निकलता हुआ भी उसको देखते हैं, शरीर में रहता हुआ भी देखते हैं, भोग करता हुआ भी देखते हैं, सुखी, दुःखी, मोही होता हुआ भी देखते हैं, पर इन व्यापारों से अतिरिक्त जो उसका स्वरूप है उसे नहीं समझ पाते, व्यापारों को ही देखते रहते हैं। 'न अनुपश्यन्ति' - इसको भोग करते हुए देखकर, यह भोग करने वाला नहीं है - इस रूप से उसे नहीं देखते, भोग करने वाले रूप में ही देखते हैं। शरीर में स्थित रूप से इसको देखते हैं परन्तु यह सचमुच में कैसा है, यह नहीं देखते। लोक में भी ऐसा होता हैः देवू नामक किसी आदमी को रसोई बनाते हुए देखते हैं। साल

भर से तुम्हारे यहाँ रसोई बना रहा है, धोती पहनकर, कमर कसकर फुल्के बनाता है, साग छौंकता है, इस प्रकार तुमने उसको देखा हुआ है। अब तुम किसी भोज में जाते हो, वहाँ पर पतलून, कोट, टाई - इन सबसे एकदम सुसज्जित हुआ, बना–ठना कोई व्यक्ति मिलता है। तुम्हें कुछ खास आदर देता है। तुम पहचानते भी नहीं पर वह तुम्हें काफी महत्त्व देता है। अन्त में उसी को जब समझ आता है कि तुमने नहीं पहचाना तब आकर कहता है 'मैं देवू हूँ'। तब तुम आश्चर्य से पहचानते हो। बताता है कि भोज देने वाले उसके रिश्तेदार हैं अतः वह वहाँ उपस्थित है। यद्यपि तुमने उस व्यक्ति को देखा था, तथापि उसकी पहचान तुम्हारे अंदर स्फुरित नहीं हुई थी। कपड़े बदल लिये तो तुमको वह नया आदमी लगा, दूसरा ही लगा। एक बार कलकत्ते में एक ने किसी ब्याह में ढोली को ढोल बजाते देखा तो लगा व्यक्ति पहचाना हुआ है किन्तु पहनावे आदि से प्रतीत हो रहा था कि मारवाड़ के गाँव से आया हुआ है। बहुत ध्यान से देखा तब समझ आया कि वह दफ्तर का चपरासी ही है! लंबे समय से उससे व्यवहार करते हुए भी 'यह ढोली है' यह नहीं पता था अतः बदले लिबास और कार्य में उसे पहचानना मुश्किल हो गया। देखते तो हैं, परन्तु उन कपड़ों में या उस काम को करने वालों में, वह कौन है जो कर रहा है, यह नहीं पहचानते। पानी देने वाले आदमी के रूप में पहचाना, गाँव के ढोली के रूप में नहीं पहचाना। रसोई करने वाले के रूप में देखा, लेकिन रसोई करने वाले को नहीं पहचाना।

इसी प्रकार यहाँ भी 'उत्क्रामन्तं' मरने वाला देखते हैं, आत्मा अज्ञात रह जाता है। मरते तो एक ही बार हैं परन्तु शरीर को रोज़ छोड़ते हैं। जब गहरी नींद में जाते हो तो शरीर में कहाँ हो? शरीर का तुमको कोई भान नहीं है। इस प्रकार से, जाग्रत् से सुषुप्ति में जाते हुए रोज़ देखते हैं। 'स्थितं' – जाग्रत् काल में तो देखते ही हैं, विषयों का भोग करते हुए भी देखते हैं। सुखी, दुःखी, मोही रूप में भी देखते हैं, परन्तु 'न अनुपश्यन्ति'। जो यह सब कर रहा है उसे नहीं देखते। क्यों नहीं देखते? दृष्ट और अदृष्ट विषयों के भोगों की तरफ हमारा चित्त इतना आकृष्ट है, इतना खिंचा है कि आत्मदर्शन का मौका नहीं है। रसगुल्ला मुँह में रखते हैं तो उसका जो मज़े का स्वाद है उसकी तरफ चित्त इतना जाता है कि 'कौन खा रहा है' इसका ख्याल नहीं! जैसे दृष्ट विषय वैसे ही अदृष्ट विषयों का भोग हैः इन्द्र-शरीर में जाकर, रम्भा, उर्वशी इत्यादि की ओर देखता रहता है, भोग करने वाला कौन है इसकी तरफ नज़र नहीं जाती है। इसलिये कहा 'विमूढाः' जब तक अनन्त प्रकार के विषयों से चित्त न हटे तब तक आत्मदर्शन की संभावना नहीं। एक विषय से चित्त हटाते हैं तो इतने विषय हैं दूसरे, कि किसी–न–किसी तरफ चित्त चला जाता है। भगवान् मानो अत्यन्त दुःखी होकर कहते हैं कि कितने दुःख की बात है कि हर समय स्फुरित होते परमात्मा को लोग नहीं देखते! देखते समय देखने वाला अवश्य उपस्थित होता है। देखने के विषय तो बदलते रहते हैं पर देखने वाला वही है। इसलिये जब भी विषयदर्शन होता है तब देखने वाले रूप में वह मौजूद है। फिर भी इन विषयों का आकर्षण इतना है कि विषयी को नहीं देखते। यह विमूढ लोगों का हाल है।

कौन देखते हैं? 'ज्ञानचक्षुषः'। ज्ञान रूपी आँख जिनकी है। ज्ञान रूपी आँख – 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा जो भागत्याग-लक्षणा से समझ जाता है, वह हुआ ज्ञानचक्षु। ऐसे समझ लो : रोज़ एक पेड़ को देखते हो, उसके नीचे से जाते हो, उसके पत्तों को देखते हो, उसके फलों को देखते हो, फूलों को देखते हो, सब देखते हो। पर चूंकि तुमने वनस्पति-विज्ञान नहीं पढ़ा है इसलिये यह सब देखते हुए भी, क्या नहीं देखते? 'यह नीम है' यह नहीं देखते। सब चीज़ें दीख रही हैं, परन्तु 'यह नीम है' यह नहीं पहचानते। कोई तुम्हारा मित्र वनस्पति-विज्ञान का जानकार आता है, पेड़ के समीप पहुँचते ही तुमसे कहता है, 'अरे! तुम्हें खून की खराबी का रोग रहता है, तुम्हारे तो घर में ही लगा हुआ है नीम, इसके फूल फल और पत्ते का सेवन क्यों नहीं करते?' तब पता चलता है तुम्हें कि वह नीम है। जिसने वनस्पति-विज्ञान का अध्ययन किया है, उस अध्ययन से जनित जिसकी ज्ञानचक्षु है, वह तो उसको 'यह नीम है' ऐसा झट पहचान लेता है। जिसको इसका विज्ञान नहीं है, वह रोज़ देखने पर भी इसको पहचानता नहीं। इसी प्रकार से, देखने वाला, भोगने वाला, खुद कैसा है, इसकी पहचान बतलाने के लिये ही वेद आदि शास्त्र हैं। उनके द्वारा पता लग जाता है कि आत्मा स्वयं कैसा है, कौन है। 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदार्थों का शोधन कर जो लक्ष्य है, वह वास्तविक आत्मा है। यहाँ इन उपाधियों से यह सब करते हुए दीखता है, लेकिन सचमुच में तो वह सच्चिदानंद-मात्र है। जैसे, रसोई बनाता दीखता है पर है तो किसी लखपति चतुर्वेदी का सगा-सम्बन्धी, या हमें पानी पिलाता है, लेकिन स्वरूप से ढोली है। इसी प्रकार जिन्होंने वेदादि शास्त्रों के द्वारा प्रमाण से इस विज्ञान को प्राप्त कर लिया है वे इसको हर क्षण जानते हैं। विषयों के अंदर आकृष्ट चित्त वाले नहीं जानते, और 'तत् त्वम् असि' आदि वाक्यों के द्वारा जिनके अंतःकरण में संस्कार आ गया है, वे उसको स्पष्ट देखते हैं।।१०।।

आत्मा को देखने के लिए अभ्यास की ज़रूरत है, इस लिए कहते हैं–

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

श्रवणादि यत्न करने वाले और समाहित मन वाले अपनी बुद्धि में प्रकाशमान आत्मा को देख लेते हैं। तप आदि से जिन्होंने चित्त तैयार नहीं किया है ऐसे अविवेकी शास्त्रादि प्रमाणों द्वारा प्रयास करने पर भी इसे नहीं देख पाते।

'एनम्' जो बिलकुल अपने पास होता है, सामने होता है, उसको 'एनं' से कहते हैं। उत्क्रमण, भोग आदि सब करने वाला कौन है? तुम हो। तुमसे और समीप तो तुम्हारे कोई नहीं हो सकता! इसलिये कहते हैं 'एनं'। 'यतन्तः' – श्रवण, मनन, शम, दम, विवेक, वैराग्य इन सबके द्वारा निरन्तर जो प्रयत्नशील हैं और इन सब साधनों को करते हुए जिनका अंतःकरण हमेशा समाहित रहता है अर्थात् जो शास्त्र कह रहा है उसमें ही जिनका चित्त एकाग्र रहता है वे आत्मदर्शन कर पाते हैं। जो योगी नहीं, वे भी प्रयत्न तो करते हैं, श्रवण

मनन भी कर लेते हैं, परन्तु चूंकि उसके विपरीत संस्कार भी दिन भर भरते रहते हैं, इसलिये उनके अंतःकरण में ज्ञान-दृष्टि उत्पन्न होती नहीं। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा– 'श्रुतिमतस्तर्कोनुसंधीयताम्' श्रुति जिस बात को कह रही है उसको पुष्ट करने वाली युक्तियों का बार-बार अपने मन में चिन्तन करो और जो उससे हमें अलग करता है, दुस्तर्क है, उससे विराम करो, उससे दूर रहो। यह मन तो संस्कारों के अधीन है, यदि इसके अंदर विरुद्ध संस्कारों को भी डालोगे तो शास्त्रीय संस्कार फल नहीं देंगे। 'योगिनः' के द्वारा यह कहा कि शास्त्र के अंदर जो बातें कही हैं, उन्हीं की पर्यालोचना से वे ही संस्कार जब दृढ हो जाते हैं, विपरीत संस्कार अतिक्षीण हो जाते हैं, तब शास्त्रानुसारी दर्शन संभव है। श्रुति ने भी कहा है 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ. ४.४.२३) समाहित होकर ही अपने आप में उस परमात्मा का दर्शन हो सकता है। अतः श्रवण मननादि का अभ्यास करते हुए और शास्त्रोक्त बातों के अंदर ही चित्तको समाहित करते हुए 'आत्मनि' अपनी बुद्धि गुफा के अंदर, जो तुम्हारी अहंकारात्मिका वृत्ति है उसके अंदर ही 'अवस्थितम्' मौज़ूद 'एनं पश्यन्ति' – इस आत्मतत्त्व को देखते हैं। 'मैं' जिस से प्रकाशित हो रहा हूँ, जिसके प्रकाश से 'मैं' दीप्त होता है, बस, वही तो आत्मतत्त्व है। हर क्षण अनुभव होता है, 'मैं जड नहीं, चेतन हूँ'। परन्तु चूंकि अनुभव उपाधि के साथ होता है इसलिये उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं पकड़ पाते। जब श्रुति तुमको समझाती है कि चेतन ही तो परमेश्वर है, तब अपनी बुद्धि में स्थित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

शंका होती है कि बहुत-से लोग देखे जाते हैं जो बहुत श्रवण-मनन करते हैं, बड़े-बड़े विद्वान् लोग हैं जो रात-दिन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, अध्यापन करते हैं, परन्तु इतने पर भी अपने अहं में स्थित आत्मा को नहीं पहचानते! श्रवण मनन में लगे हुए हैं फिर भी, इस आत्मतत्त्व को नहीं देखते ऐसा क्यों? समाधान किया 'अकृतात्मानः'; इन्होंने अपने आत्मा को, अंतःकरण को उन संस्कारों का नहीं बनाया। तेरहवें अध्याय में कहे अमानित्वादि साधनों के द्वारा उन्होंने अपनी बुद्धि को संस्कृत नहीं किया है। संस्कार करने का उपाय ही है तप। तप के द्वारा ही अंतःकरण के अंदर अमानित्वादि जग सकते हैं। तप का मतलब होता है कष्ट सहना। 'कष्टसहनं हि तपः'। तुम सहिष्णु होगे तो दुनिया फायदा उठायेगी, और तुम्हें नुकसान रूपी कष्ट भी होगा। परन्तु जो तपस्वी है वह कहता है, मुझे भगवान् से मतलब है, यहाँ के कष्टों की चिंता कैसे करूँ? जैसे ही तुम अपने ढंग के अनुसार चलते हो वैसे ही कष्ट आयेंगे। प्रायः लोग पूछते हैं, 'महाराज, धर्म करते रहते हैं फिर भी कष्ट क्यों आता है?' धर्मानुसार चलने पर कष्ट तो आयेंगे। उन कष्टों को सहन करके अमानित्वादि के संस्कार को ही अपने अंतःकरण में लायेंगे, तब वह अंतःकरण आत्मा को ठीक प्रकार से अपरोक्ष कर पायेगा। साधन सभी इहलोक में दुःखदायी होंगे। सत्य बोलोगे, मुकदमा हारोगे; सत्य बोलने से मुकदमा तो नहीं जीतोगे पर परमात्मा की तरफ ज़रूर जाओगे। अतः मुमुक्षु को तपस्वी होना, तितिक्षु होना पड़ता है; अन्यथा साधना में स्थित नहीं रह सकता।

अन्यत्र श्रुतियों ने कहा है 'नाविरतो दुश्चरितात् नाशन्तो नासमाहितः' (कठ.२.२४) जब तक तुमने सारे दुश्चरित्रों को छोड़ नहीं दिया तब तक प्रज्ञा से आत्मा नहीं पा सकते। चाहे जितना बड़ा आकर्षण आवे, परन्तु फिर भी वह आकर्षण तुमको अपनी तरफ खींच न सके, ऐसा जिसने इन्द्रियों को जीतकर अपने को शम दम वाला नहीं बना लिया, वह इस प्रज्ञा से आत्मा की प्राप्ति नहीं कर पाता। इसलिये भगवान् ने कहा कि अकृतात्मा नहीं देखते, कारण है कि उनकी जो बुद्धि है, वह अभी संस्कृत नहीं हुई है। अमानित्वादि के संस्कारों से युक्त होने से ही आत्मदर्शन के योग्य हो पायेगी।

अकृतात्मा क्यों हैं? असंस्कृत बुद्धि वाले क्यों हैं? कहा 'अचेतसः'। जो कपड़े का जानकार नहीं है, वह बजाज से ठगा जाता है। जो सोने का परीक्षक नहीं है वह सुनार से ठगा जाता है। जो विवेक नहीं करता वह उसके कपड़े के सुन्दर रूप को देखकर के, गहने के सुन्दर रूप को देखकर के ठगा जाता है। अविवेकी का लक्षण ही यह है कि जो विवेक करके समझे नहीं क्या ठीक है, क्या गलत है, क्या नित्य है, क्या अनित्य है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, क्या धर्म है, क्या अधर्म है। ऐसा विवेक करने में जो कुशल नहीं है, वही ठगा जाता है। अविवेकी होने से ही वह अपनी बुद्धि का संस्कार नहीं कर पाता, क्योंकि उसे लगता है कि नामरूप की उपेक्षा से हमारा नुकसान हो जायेगा। उड़िया बाबा आश्रम में अनुशासनहीनता करने वालों को भी प्रेम से समझाया करते थे, क्रोध नहीं करते थे, कहते थे कि 'क्रोध से यह भले ही नियंत्रित हो जाये, मैं तो बिगड़ जाऊँगा! काम-क्रोध-लोभ ये तीन ही - भगवान् ने कहा है - नरक के द्वार हैं। मैं इसको स्वर्ग में ले जाने के लिये खुद नरक में जाने के लिये तैयार नहीं हूँ।' जो विवेकी होता है, उसकी तो यह दृष्टि है। अविवेकी कहेगा, 'नहीं नहीं, ऐसे कैसे चलेगा?' इसलिये 'अचेतसः' हेतुगर्भ समझ लेना चाहिये; क्यों अकृतात्मा हैं? अचेतस होने के कारण। अतः समस्त दुश्चरित छोड़कर, दर्प शान्त कर समाहित होकर श्रवणादि करने से ही आत्मदर्शन होता है।।११।।

सब का प्रकाशक और सभी से अप्रकाश्य जो परम पद पाकर मुमुक्षु संसार में नहीं लौटते, जिसके मानों अंश ही सब जीव हैं, उसी आत्मरूप पद का वैभव स्पष्ट करते हैं -

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जो तेज सूर्य में, चंद्र में व अग्नि में रहकर सारे जगत् को प्रकाशित करता है उसे मेरा तेज जानो।

भगवान् पहले कह आये हैं कि परमात्मा को कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। न सूर्य की ज्योति, न चन्द्रमा की ज्योति, न अग्नि की ज्योति उसको प्रकाशित कर सकती है। अब कहते हैं कि इतना ही नहीं है कि उसको प्रकाशित नहीं कर पाते, अपितु ये जो लौकिक प्रकाश हैं ये भी उस चेतन प्रकाश के कारण ही प्रकाश वाले बने हैं। सूर्य में रहने वाला जो तेज है, प्रकाश है, उसे मेरा तेज समझो। प्रकाश का अर्थ बतला दिया था, अंधकार रूपी

आवरण को दूर करने वाला। सूर्य के अन्दर अंधकार को दूर करने वाला प्रकाश है, हमारे में क्यों नहीं? पत्थर में क्यों नहीं? मौजूद तो वह चेतन सर्वत्र है, पर सूर्यादि में उसकी विशेष अभिव्यक्ति है। जैसे बाहर की तरफ दीवार पर चारों तरफ सूर्य-प्रकाश पड़ता है परन्तु बीच में जो काँच लगा रखा है वहीं सूर्य चमकता है। है तो सर्वत्र, वहीं क्यों चमकता है? क्योंकि ऐसी विशेषता वाला काँच वहीं है। काँच खुद भी सूर्य से प्रकाशित हो जाता है तथा प्रकाश को प्रत्यावर्तित कर अन्य चीज़ों को भी प्रकाशित कर देता है। ईंट आदि में यह सामर्थ्य नहीं है। ठीक इसी प्रकार से, जितना सत्त्वगुण अधिक होता है उतना ही वह जो परमात्म-प्रकाश है, वह भी प्रकाशित होता है। इसलिये सूर्य अत्यंत शुद्ध सत्त्वगुणी होने के कारण, उसका प्रकाश जगत् के अंधकार को हटा देता है। 'अखिलं जगत् भासयते' सारे जगत् को प्रकाशित कर देता है। हमारा प्रकाश भी प्रकाशित करता है; वही चेतन प्रकाश हमारे द्वारा सामने रखी हुई दस बीस चीज़ों को देख लेता है। उन दस बीज चीज़ों के ऊपर जो अविद्या का आवरण है उसको हम हटाकर दस बीस चीज़ें देख लेते हैं परन्तु सूर्य का प्रकाश तो इस जगत् में जितनी चीज़ें हैं सबको प्रकाशित कर लेता है, सबको देख लेता है। क्योंकि सूर्य हिरण्यगर्भ-रूप है इसलिये हम सूर्य की उपासना करते हैं। हममें व सूर्य में दोनों जगह चेतन एक ही है, चेतन में कोई फ़र्क नहीं है, परन्तु चूंकि उसके अंदर सत्त्वगुण की अधिकता है, शुद्धि अत्यधिक ज़्यादा है, इसलिये वह उपास्य है और हम उपासक हैं। जो पहले कहे थे 'आदित्य, चन्द्रमा और अग्नि' उन्हीं चीज़ों को क्रम से फिर कह दिया। सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है। उसके अंदर यह जो प्रकाशन करने की सामर्थ्य है, यह है तो उस चेतन की सामर्थ्य; परन्तु सत्त्वगुण की अधिकता के कारण सूर्य में प्रकट है। हमारी आँख दस चीज़ें देखती है, और सूर्य आँख का समष्टि अभिमानी होने से, जहाँ भी कोई आँख देख रही है सूर्य के कारण ही देख रही है, अतः उसके लिये सब चीज़ें एक साथ उपस्थित हैं।

इसी प्रकार से 'यच्चन्द्रमसि', चन्द्रमा में जो तेज है वह भी मेरा है। सूर्य के प्रकाश में दीखने वाला विषय बिलकुल स्पष्ट हो जाता है परन्तु उसके अंदर भावों को जगाने की सामर्थ्य नहीं है, जब कि चन्द्रमा में सौन्दर्य इत्यादि चीज़ें खिल जाती हैं। चन्द्रमा ऐसा क्यों कर सकता है? चन्द्रमा मन का अभिमानी है और भाव सारे के सारे मन में रहेंगे। हमारा मन तो केवल हमारे भावों के साथ है, पर चन्द्रमा मन का समष्टि है इसलिये जहाँ-कहीं भी जिस-किसी का मन है, उन सब मनोभावों को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा है। वह इसलिये ऐसा कर सकता है कि उसके अंदर सत्त्वगुण की अधिकता है।

'यच्च अग्नौ'; इसी प्रकार हम एक आग में हवन करते हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ हवन करने की आग है उन सब में अभिमानी अग्नि जगत्प्रकाशक है। श्रुति कहती है 'यज्ञो वै विष्णुः'। विष्णु जहाँ भी कर्म हो रहा है, यज्ञ हो रहा है, उस सब के देवता हैं। इसलिये वे सारे यज्ञों के प्रकाशक हैं। लेकिन विष्णु क्यों सारे यज्ञों के प्रकाशक हैं? क्योंकि उनके अंदर

सत्त्वगुण की उपाधि है इसलिये। अतः वे उपास्य हो जाते हैं और हमारे अंदर वह शुद्धि नहीं है तो हम उपासक रहते हैं। व्यष्टि उपाधि वाला उपासक होता है, समष्टि उपाधि वाला उपास्य होता है क्योंकि समष्टि उपाधि के अंदर तमोगुण की न्यूनता होती है, सत्त्वगुण की अधिकता होती है।

जो इन सबके अंदर प्रकाशित करने वाला तेज है 'तत् मामकं तेजो विद्धि' उसको तू 'मेरा' (परमात्मा का) तेज समझ। अर्थात् परमेश्वर का चैतन्य रूप सूर्य में है, इसलिये सूर्य इन सबको प्रकाशित करता है। वही चन्द्रमा में है इसलिये चन्द्रमा के द्वारा सबको प्रकाशित करता है; वही अग्नि में है इसलिये अग्नि द्वारा सबका प्रकाशन करता है। यद्यपि चैतन्य ज्योति, ईंट में और विष्णु में अलग नहीं है, तथापि ईंट के अंदर सत्त्वगुण न्यूनतम है, तमोगुण ही प्रधान है, और विष्णु में सत्त्वगुण ही प्रधान है, तमोगुण न्यून है। इसलिये इन ज्योतियों को अत्यन्त प्रकाश वाला, अत्यंत भास्वर देखा जाता है। विशेषता उपाधि को लेकर है, है तो सारा ही 'मामकं तेजः' मुझ परमेश्वर का ही तेज। जैसे, तुम्हारा सारा शरीर तुम्हारे साथ एक है। ऐसा नहीं है कि तुम अंगुली में ज़्यादा हो और नाक में कम हो! सारे शरीर में एक जैसा हो, फिर भी पहचान पत्र जब बनाया जाता है, तब तुम्हारे मुख का ही चित्र माँगते हैं। तुम अपने घुटने के नीचे-नीचे पैरों का चित्र दे दो ते क्या उसे मान लिया जायेगा? तुम सारे शरीर में हो, लेकिन मुख के अंदर तुम्हारा विशेष प्रकाश है इसलिये उसी की कीमत है। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा ईंट में और विष्णु में एक जैसा होने पर भी विष्णु की उपाधि ही उपास्य होती है, ईंट की उपाधि उपास्य नहीं होती।

पहले भगवान् ने बता दिया था ' त्वम्'-पदार्थ की उपाधि को, जो मन के द्वारा इन्द्रियों के द्वारा, विषयों का भोग करता है। अब ईश्वर की उपाधि बतला दी, जो सूर्य चंद्रादि के अंदर सबका प्रकाश करता है। सर्वत्र ही उपनिषदों में 'तत्'पद का जो वाच्यार्थ होता है वह उपास्य होता है और जो लक्ष्यार्थ होता है वह ज्ञेय होता है। अतः जहाँ कहीं भी 'तत्'-पदार्थ का वर्णन आता है वहाँ दोनों चीज़ों को ध्यान में रखना पड़ता है। अतः भगवान् ने यह बतलाया कि सारे जगत् को चैतन्य प्रकाश की प्राप्ति परमात्मा से ही होती है। सूर्य इत्यादि के अंदर भी जो हमको अंधकार को निवृत्त करने की शक्ति प्राप्त होती है वह आवरण-निवृत्ति की शक्ति सूर्यादि के अंदर सत्त्वगुण अधिक होने से, समष्टि अभिमानी होने से, प्रकट होती है। ब्रह्म के विषय में जब कहा जाता है, 'तत्'-पद के विषय में जब कहा जाता है, तब वह उपासक की दृष्टि से उपास्य का स्वरूप है और ज्ञानी की दृष्टि से अपरोक्ष आत्मा का रूप है। उपासक की दृष्टि से सूर्य चन्द्रादि के तेज में भी परमात्मतेज की ही दृष्टि करनी है। और ज्ञेय ब्रह्म की दृष्टि से जहाँ आवरण की निवृत्ति होती है, वहाँ चैतन्य ही आवरण का निवर्तन करने वाला है यह अनुभव करना है। यह ठीक है कि घट का प्रकाश सूर्य ने किया, परन्तु घट के प्रकाश को नेत्र के प्रकाश से अनावृत किया गया; इसलिये अंधे आदमी के लिये घट अनावृत नहीं हुआ। और चक्षु के अंदर, मन के द्वारा, अहं के द्वारा, परमात्मा का तेज

आया तब चक्षु भी उस आवरण को दूर कर सकी। अंततोगत्वा, 'घटज्ञान वाला मैं' यह जो अहम्के साथ वाली प्रतीति है, इसको भी अनावृत करने वाला चेतन ही है।।१२।।

संसार के अधिकतर देशी–विदेशी धर्मों में परमात्मा के प्रकाश को बाह्य प्रकाश के साथ एक कर समझा जाता है। और इसलिये किसी भी प्रकार की पूजा–पद्धति में किसी भी देश में, किसी भी मज़हब में, सर्वत्र चाहे मोमबत्ती जलावें, दीया जलावें, किसी–न–किसी प्रकार से प्रकाश अवश्य किया जाता है, परमेश्वर की पूजा के साथ। इसलिये तेज की विशेषता सर्वत्र है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि केवल प्रकाश का परमात्मा के साथ संबंध है। इसलिये भगवान् आगे कहते हैं –

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

पृथ्वी में प्रवेश कर मैं अपने बल से सारे जगत् को धारण करता हूँ तथा रसस्वभाव चंद्र होकर मैं सारी वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

पृथ्वी मिट्टीरूप है और मिट्टी तो फैल जानी चाहिये, मिट्टी को कहीं भी डालो तो चारों तरफ बिखर जाती है। यह पृथ्वी मिट्टीरूप होते हुए भी बिखरती क्यों नहीं? कहते हैं 'गाम् आविश्य'। इस पृथ्वी के अंदर प्रविष्ट मैं परमेश्वर हूँ। इसीलिये हम लोग कहते हैं कि पृथ्वी देवता है, इसके अंदर चेतन शक्ति है। देवतारूप से परमेश्वर ही इसमें प्रविष्ट है। ऐसा क्यों मानना? तो कहते हैं 'धारयामि' सारी पृथ्वी को मैं बटोर कर रखता हूँ। अन्यत्र उपनिषदों में इसलिये परमेश्वर को सेतु कहा है। मिट्टी क्यों नहीं बिखर जाती? इसके अंदर परमात्मदेवता इसको इकट्ठी कर के रखता है इसलिये। अपने शरीर में पहले समझ लो : हमारे शरीर में अनेक प्रकार के जंतुओं का, कीटाणुओं का निरंतर आघात होता रहता है और हमारा शरीर उसका प्रतिघात करता रहता है, इसलिये बिखर नहीं जाता। परन्तु जैसे ही इसमें से इस शरीर का अभिमानी जीवात्मा निकल जाता है, वैसे ही यह शरीर घंटे दो घंटे में ही विशीर्ण होने लगता है, फूल जाता है, अंदर का खून पानी हो जाता है। अतः लोग कहते हैं 'मिट्टी को जल्दी से जल्दी रास्ते लगाओ'। सामान्य नियम यही है, कि लाश को दो सूर्य न देखने पड़ें अर्थात् दिन में मरा है तो दिन में ही शरीर की अंत्येष्टि कर दो, रात में मरा है तो जैसे ही सूर्योदय हो उसके बाद सूर्य का दर्शन होने पर उसको जला दो। यह जो विदेश के प्रभाव से हमारे यहाँ होने लगा है कि लाश को तीन दिन रखो, यह सब शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। अंदर जब तक जीवात्मा है तब तक तो शरीर की चीज़ें विशीर्ण होती नहीं और जैसे ही यह जीवात्मा वहाँ से चला जाता है वैसे ही शरीर बिखरने लगता है। शरीर में तो फिर कुछ ढक्कन है चमड़ी का, पृथ्वी के ऊपर तो कोई ढक्कन भी नहीं है! परन्तु फिर भी यह बिखरती नहीं, इससे पता लग जाता है कि इसके अंदर इस पृथ्वी का चेतन देवता मौजूद है।

केवल यह बिखर नहीं जाती है इतना ही नहीं, 'भूतानि गामाविश्य धारयामि'। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटाणु, मछली, पेड़ आदि सब के सब कितनी वज़नदार चीज़ें हैं! पृथ्वी के ऊपर यह सारा वज़न है और पृथ्वी का अपना वज़न है ही; फिर भी यह अपने स्थान पर स्थित है, नीचे गिरती नहीं। मिट्टी को जैसे ही हाथ से छोड़ोगे तो नीचे गिरेगी, पत्थर को हाथ से छोड़ोगे तो नीचे गिरेगा, परन्तु पृथ्वी के ऊपर इतने प्राणियों का वज़न होने पर भी यह गिरती नहीं। जैसे मुर्दे के ऊपर तुम कोई वज़न रखो तो मुर्दा वज़न सहित खुद गिर जायेगा; तुम यदि भगवान् की कृपा से जवान हो तो दो मन वज़न उठाकर भी चल लेते हो, तुम्हारे शरीर का कुछ नुकसान नहीं होता। जैसे मुर्दे के अंदर वज़न को लेने की शक्ति नहीं, और जीवित में है इसी प्रकार इतने प्राणियों का वज़न लेकर पृथ्वी नीचे गिरती नहीं क्योंकि इस पृथ्वी को पृथ्वी देवता धारण किये हुए है। भगवान् ने कहा कि जगत् को धारण करता हूँ तो किस शक्ति से? 'ओजसा'। हमारी जो शक्ति है वह काम और राग से युक्त होने के कारण हमेशा कमज़ोर रहती है। अर्थात् शक्ति होने पर भी हमारे लिये नहीं जैसी हो जाती है। एक प्रयोग जीवविज्ञान में करते हैं: मेढक के हाथ में बिजली का संचार करते हैं तो बिजली झटका देती है। थोड़ी देर बाद उतनी बिजली से हाथ में झटका नहीं होता। यदि बिजली को बढ़ाओ तो झटका देती है। बढ़ाते-बढ़ाते एक स्थिति ऐसी आती है कि उसके बाद कितना ही बिजली को बढ़ा दो लेकिन हाथ में झटका नहीं आयेगा। जब इस प्रकार झटका आना बंद हो जाता है, उसके बाद मन की वृत्ति को चलाने वाला जो स्नायु है उस स्नायुतन्तु को काट देते हैं, अब हाथ में मन की गति नहीं होती। अब झटका देने पर फिर हाथ झटकने लगता है, और बहुत देर तक - जितना पहले झटका नहीं लगा था उससे ज़्यादा देर तक - वह झटकता रहता है। फिर एक स्थिति ऐसी आती है, कि उसके बाद कितना भी झटका दो, फिर नहीं झटकता। इससे पता लगता है, कि शरीर के अंदर जो ओजस् शक्ति है, वह हमारे बाह्य बल की अपेक्षा काफी ज़्यादा है। इसीलिये योगियों का कहना है कि हमारे खाये हुए अन्न से धीरे-धीरे सात धातु बनते हैं। आगे उस चरम धातु को यदि काम और राग से रहित रखा जाता है तो वह ओजस् शक्ति बनती है। काम और राग से विवर्जित जो बल है, वह ओज है। यह परमेश्वर का बल है। काम और राग के द्वारा वह परिच्छिन्न रहता है, और काम और राग जितना कम होता जाता है उतना ही वह अधिक प्रकट होता जाता है। परमेश्वर में वह पूर्ण है। पृथ्वी के ईश्वरीय बल को जीव का ओजस् नहीं समझना। उस ओज के कारण ही इतना सारा वज़न लिये हुए भी यह पृथ्वी अपने स्थान से च्युत नहीं होती, नीचे नहीं गिरती और स्वयं बिखरती भी नहीं। इस बात को वेद भी कहता है 'येन द्यौः उग्रा पृथ्वी च दृढा' (तै.सं.४.१.८) परमात्मासे द्युलोक इतना उग्र बना रहता है और पृथ्वी दृढ बनी रहती है। 'स दाधार पृथिवीम्' (ऋ.सं. ८.७.३.१) हिरण्यगर्भ रूप से परमात्मा ही पृथ्वी को धारण करता है। इसी बात को यहाँ भगवान् ने कहा कि पृथ्वी में प्रविष्ट होकर के सारे भूतों को धारण करता हूँ अतः इतना वज़न लेते

हुए भी न यह बिखरती है पृथ्वी और न उचित स्थान से च्युत होती है। जैसे आदित्यादि के अंदर समष्टि भाव होने से सत्त्वगुण की अधिकता है, वैसे ही पृथ्वी देवता के अंदर भी सत्त्वगुण की अधिकता से यह इतना असम्भव वज़न धारण करती है। हम लोग मन दो मन वज़न धारण कर सकते हैं क्योंकि तमोगुण की अधिकता से वह ओज प्रकट नहीं होता। जितना-जितना हममें सत्त्वगुण बढ़ेगा उतना-उतना ओज बढ़ता चला जायेगा। यह जो पृथ्वी की धारण-शक्ति है, इस धारण-शक्ति में परमात्मा की दृष्टि करनी है। इसी धारण-शक्ति को वर्तमान काल में पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कहते हैं। क्या चीज़ है यह नियमित गुरुत्वाकर्षण? इसके अंदर जो परमात्मा है, वही है। यह भी एक ध्यान की उपाधि बतलाई। अर्थात् केवल तेजरूप से ही नहीं सोचो, धारण की शक्ति रूप से भी उसका चिंतन करो। अथवा किसी एक उपाधि का ध्यान करो, वह भी ठीक है।

'सर्वाः ओषधीः'। इस पृथ्वी के ऊपर गेहूँ, चावल इत्यादि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। 'ओषधिःफलपाकान्ता' फल आने से जो पौधा ख़त्म हो जाता है, अर्थात् एक बार बीज आ गया, फल आ गया तो वह पौधा सूख जाता है, उसको ओषधि कहते हैं। जितने भी हमारे अन्न के पदार्थ हैं, गेहूँ चावल आदि, वे सब ऐसे ही हैं। जितनी भी इस प्रकार से खा कर हमारे शरीर में शक्ति देने वाली वनस्पतियाँ हैं, वे सब भी उपलक्षणा से समझ लेनी चाहिये। हमें पुष्ट करने वाली यही खाद्य सामग्री है – प्रधानरूप से अन्न जिसको कहते हैं वे चावल आदि, और गौणरूप से फल आदि। जैसे गेहूँ चावल एक बार ही फल देता है, उसी प्रकार से बहुत-सी सब्ज़ियाँ भी ऐसी हैं जो एक बार फल देती हैं। उपलक्षणा से सभी सब्ज़ियों को समझ लेना। सब हमको पुष्ट करती हैं। उनमें क्या चीज़ है जो पुष्ट करती है? कहा 'रसात्मकः'। रसरूप परमात्मा है जो हमें पुष्ट करता है। इसीलिये जितनी ताज़ी चीज़ का सेवन किया जाता है वह ज़्याद पुष्ट करती है, और जो चीज़ जितनी सूख जाती है उसके अंदर उतनी ही शक्ति कम हो जाती है। 'रसात्मकः' याद रखना चाहिये, क्योंकि वर्तमान काल में चीज़ को सुखाकर तरह-तरह से बंद कर जितने अधिक समय तक रखा जा सके उतना रखने का प्रयत्न होता है। यह प्रयत्न वहाँ के लिये ठीक है जहाँ ताज़ी चीज़ें उपलब्ध नहीं हों। कितना भी सुखा लो, उसमें कुछ रस तो रहता ही है। परन्तु हमेशा देखोगे कि यदि खाते हो तो जितना स्वाद, जितना रस ताज़ी चीज़ में आता है उतना पुरानी चीज़ में नहीं आता। इसलिये जिन देशों के अंदर मनुष्य रहता तो है परन्तु वहाँ ओषधियाँ कुल तीन महीना पकती हैं, बाकी समय पकती ही नहीं, बर्फ ही बर्फ रहती है, उन देशों में ताज़ी खाद्य सामग्री के अभाव में वे लोग सुखाकर खाते हैं। राजस्थान में भी जब तक रेल इत्यादि नहीं आई थी, तब तक हरी सब्ज़ी धूप में सुखाकर खाते थे। सांगरी सुखा दी, काचरी सुखा दी, भें सुखा दी, खीरा सुखा दिया, कुम्हड़ा सुखा दिया, बहुत चीज़ें ऐसी हैं जो सुखाकर कालांतर में खाई जाती हैं। उपलब्धि नहीं होने पर जिस किसी ढंग से थोड़ी बहुत भी उपलब्धि होवे वह ठीक है, परन्तु अब उन देशों की नकल करके जहाँ नदियों के किनारे

हमेशा ताज़ी चीज़ें मिलती हैं वहाँ भी धन के लोभ से इसी प्रकार सुखाकर, बासी कर, पुराना कर, तरह-तरह से विकृत कर, रस को सुखा कर खाते हैं और उसको उन्नति भी कहते हैं! याद रखना चाहिये कि जितनी रसात्मकता कम होती जायेगी उतनी ही उसके अंदर पोषण करने की शक्ति कम होती जायेगी। इसलिये भगवान् ने कहा 'रसात्मकः' रसरूप हुआ मैं पुष्टि करता हूँ अर्थात् उनको पोषण करने वाली बनाता हूँ।

कैसे बनाता हूँ? 'सोमो भूत्वा'। चन्द्रमा के द्वारा जो किरणें आती हैं, वे उन ओषधियों को रसात्मक बनाती हैं। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि रस वाली जो चीज़ है उसमें स्वाद विशेष-रूप से होता है। उसके अंदर पुष्टि तो है ही, स्वाद भी अधिक है। इसीलिये मारवाड़ में लोगों को सूखी सब्ज़ी खानी तो पड़ती ही थी, परन्तु उसके अंदर खूब अच्छी तरह से मसाला डालना पड़ता था। उस मसाले के द्वारा उसको स्वादिष्ट बनाना पड़ता था। ताज़ी सब्ज़ी केवल उबाल कर खाओ तो उसमें इतना स्वाद आता है जितना किसी मसाले का स्वाद नहीं होता। जहाँ जबर्दस्ती सूखी खानी है वहाँ उसे स्वाद वाला बनाना पड़ता है। सोम ही सारे रसों का केन्द्र है। जो सारे रसों का केन्द्र है वह चंद्र, किरणों के द्वारा, उन ओषधियों में प्रवेश करके उनको रस वाला बनाता है जो रस पुष्टि का कारण है। इस प्रकार, जब भी भोजन किया जाये, तब उस भोजन के अंदर पोषण करने वाली शक्ति का परमात्मरूप से ध्यान किया जाये यह इस वर्णन से सूचित है।।१३।।

अब भगवान् हमारे शरीर में स्थित अपना रूप बताते हैं -

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हुआ मैं प्राण-अपान से संयुक्त होकर चारों तरह का भोजन पचाता हूँ।

'प्राणिनां' प्राण धारण करने वाला जीव है। जो प्राण धारण करता है उसी को जीव कहते हैं। सभी प्राणियों के 'देहमाश्रितः' देह के अंदर, शरीर के अंदर, 'वैश्वानरो भूत्वा' पेट में मैं, वैश्वानर अग्नि के रूप में मौजूद हूँ। पेट में होने वाली अग्नि को वैश्वानर अग्नि कहते हैं। इसलिये श्रुति ने कहा है- 'अयम् अग्निर्वैश्वानरो योयम् अंतः पुरुषे येन इदं अन्नं पच्यते' (बृ. ५.१.६)। भोजन तुम्हारे पेट में पकाया (पचाया) जाता है। पकाने के लिये अग्नि चाहिये। पेट में अग्नि-रूप से कौन है? वैश्वानर अग्नि बनकर भगवान् हर एक प्राणी के पेट में हैं। जितनी इस अग्नि के अंदर तीव्रता होती है उतना ही आदमी अच्छा पचा सकता है। जितनी यह कमज़ोर होगी उतना ही पाचन कम होगा। जब मनुष्य की पाचन शक्ति समाप्त हो जाती है तब वह मृत्यु के समीप है। इसलिये अंतिम जो परिणाम पता लगता है, मनुष्य मर गया कि नहीं, वह है ठण्डा पड़ने लगना। जब शरीर ठण्डा पड़ने लगता है तब शरीर मरणासन्न है। वैसे भी देखोगे, जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे अन्न

कम पचने लगता है और शरीर में ठण्डक की मात्रा बढ़ जाती है। बुड्ढों को ठण्ड बहुत लगती है, बालक का तेज इतना है कि ठण्ड उससे घबराती है। हम लोग बच्चों को कपड़े पहनाते रहते हैं, वे उनको खोलते रहते हैं। और बुड्ढा आदमी रजाई पर रजाई ओढ़े जाता है, स्वेटर पर स्वेटर पहने जाता है, फिर भी ठंड महसूस करता है। लौकिक कहावत है, 'हाथ सूखा और बच्चा भूखा', खाकर घंटेभर बाद फिर तैयार है, खाने को मिले तो फिर खा लेगा, डेढ़ घंटा होते-होते चिल्लाने लगेगा, रोने लगेगा। और वही बुड्ढा हो जाता है, तो एक दिन दो पूरियाँ ज़्यादा खा ले तो शाम को कहता है, 'आज नहीं खाऊँगा'। वैश्वानराग्नि ही मनुष्य की जीवन शक्ति है। इसलिये प्राचीन काल के अंदर ऐसी औषधियों का सेवन करते थे कि पेट की अग्नि अधिक समय तक रह सके। वर्तमान काल की औषधियाँ सब पहला प्रभाव डालती हैं कि पेट की पाचन-शक्ति को दबा देती हैं।

वैश्वानराग्नि को तेज कैसे किया जाता है? 'प्राणापानसमायुक्तः पचामि' मैं ही वैश्वानर अग्निरूप से प्राण और अपान से युक्त होकर के पचाता हूँ। अग्नि को तुम पंखे से झलते रहो तब तो तेज़ होती है, और नहीं तो थोड़ी देर में ठण्डी पड़ने लगती है। लोहार को जब बहुत तेज़ अग्नि चाहिये तब वह धौंकनी चलाता है जिसमें खूब ज़ोर से वायु निकलती है। जैसे वहाँ धौंकनी या पंखा अग्नि को जाग्रत् करता है उसी प्रकार प्राण और अपान रूपी जो वायु है, वह वैश्वानराग्नि को तेज़ करती है। प्राण और अपान की वायु में तीव्रता हमेशा, जब शरीर ज़्यादा क्रियाशील होगा, व्यायाम आदि करेगा, तब होती है। जितनी क्रिया-शक्ति कम होती जायेगी उतनी यह शक्ति कम होती जायेगी। एक व्यक्ति है आबू में, उसको काफी बीमारी हो गयी थी, यह हाल हो गया था कि शायद मर ही जाये! किसी ने उसको कहा, 'रोज़ चलना शुरू करो'। धीरे-धीरे वह चलने का अभ्यास करते हुए, यहाँ से ठेठ तलहटी तक, १८-२० किलोमीटर पैदल जाता है, नतीजा यह हुआ, कि अनेक वर्ष हो गये अभी ज़िन्दा है, अच्छी तरह से जीवन व्यतीत कर पा रहा है। यह किस की शक्ति है? प्राण और अपान का साथ मिलने पर वैश्वानर अग्नि की शक्ति बढ़ी उसके द्वारा ही रसात्मक ओषधियों का शरीर में अधिक पाचन होता है। शरीर में पकाने का, पचाने का काम वैश्वानर अग्नि करती है, और वैश्वानर अग्निरूप से परमेश्वर विद्यमान है। वही उसमें पचाने की शक्ति देता है।

अन्न का मतलब क्या? जो खाया जाता है उसको अन्न कहते हैं। वैसे, वेद का तो विचित्र विचार है! एक जगह उपनिषद् कहती है, कि 'अद्यतेत्ति च भूतानि तस्माद् अन्नं तदुच्यते' (तै.२.२) जो खाता है वह अन्न है, और जो खाया जाता है वह भी अन्न है। श्रुति कहती है कि वैश्वानर अग्नि को तेज़ करने वाला जो भोजन है, वह तो खाया जाता है; और वैश्वानराग्नि को धीमा करने वाला जो है वह अन्न ही खाने वाले को खा जाता है। 'प्राणापानसमायुक्तः' से कहा कि संधुक्षण को बढ़ाओ। प्राण और अपान की गति को बढ़ाकर जितना अपेक्षित अन्न है, उतना लो। अन्यथा जैसे, अग्नि ठंडी पड़ गयी है, उसके

ऊपर राख जम रही है, उसके ऊपर तुम जो आहुति देते हो वह व्यर्थ जाती है, इसी प्रकार से प्राणापान के द्वारा जो तेजस्वी नहीं की गयी है, उस वैश्वानराग्नि के अंदर अन्न डालते हो तो वह तुम्हारे नाश का कारण बनता है। डाला हुआ अन्न तुम्हें तब तक पोषण नहीं देगा जब तक पचे नहीं। इसलिये अतिधन्य वेद कहता है, जो कम खाया जाता है वह पुष्ट नहीं करता है, और जो अधिक खाया जाता है वह भी पुष्ट नहीं करता है! इसीलिये उचित मात्रा में खाना चाहिये। मात्रा अन्यत्र योगियों ने बतलाई है कि आधा पेट खाना चाहिये। एक–चौथाई स्थान जल के लिये रखना चाहिये, एक–चौथाई वायु के लिये रखना चाहिये। ऐसा नहीं खा लेना चाहिये कि साँस लेने में भी तकलीफ आने लगे! आधा पेट अन्न खाने से फिर प्राणापान के सन्धुक्षण से रसात्मक अन्न जो अपेक्षित होगा वह पोषण करेगा। और यदि वैश्वानराग्नि संधुक्षित नहीं है, तो वह नुकसान भी करेगा। इसलिये भगवान् ने केवल यह नहीं कहा कि 'वैश्वानर होकर के मैं पचाता हूँ', साथ में कह दिया 'प्राणापानसमायुक्तः'।

अन्न कितने प्रकार के हैं? भगवान् कहते हैं– 'चतुर्विधम्'। हम चार तरह से खाते हैं।एक तो फुल्का आदि खाते हैं जिसको दाँतों से पहले टुकड़ा कर लेते हैं तब फिर आगे उसको खाते हैं। उसको अशन कहते हैं; दाँतों से काटकर टुकड़ा करके फिर खाया जाता है। एक है जैसे हलवा खाते हैं, अथवा खीरानंद खाते हैं; हलवा कोई तुम दाँतों से टुकड़े करोगे नहीं! उसको भोज्य कहते हैं। कई चीज़ें हैं जिनको चाटा जाता है, जैसे चटनी आदि हैं, उनको हलवे की तरह तो नहीं खाते, चाटते हो। वह खाने का एक अलग प्रकार है। एक होता है 'चोष्य' जिसको चूसा जाता है जैसे कि गन्ना। उसके अंदर का रस लेकर बाकी चीज़ को फैंक दिया जाता है। चार प्रकार से हम खाना अंदर ग्रहण करते हैं। अंदर ग्रहण तो पीना भी करते हैं, और संसार में अनेक भाषाएँ हैं जिनके अंदर खाना और पीना एक ही मानते हैं। इसलिये कुछ लोगों ने चार प्रकार के अन्नों में पेय को भी गिन लिया है। परन्तु वह इसलिये ठीक नहीं क्योंकि संस्कृत में तो खाना और पीना अलग क्रियायें हैं। भोज्य, भक्ष्य, चोष्य और लेह्य ये चार प्रकार के भोजन हैं। दाँतों से काट कर खाना, बिना दाँतों से काटे हुए खाना, चाटना, और चूसना - इन चार प्रकारों से खाये अन्नों को भगवान् ही पकाते हैं, पचाते हैं। इसके द्वारा भगवान् ने सूचित किया, जैसा वेदों के अंदर कहा है, कि खाते समय यह चिंतन करो कि खाने वाला वैश्वानर अग्नि है। इसलिये भोजन प्रारम्भ करने के पहले मृग–मुद्रा के द्वारा अन्न लेकर बिना स्वाद लिये हुए पंचप्राणों की आहुति देते हैं, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान - इन सबको आहुति देते हैं। उस समय भावना करते हैं कि 'वैश्वानराग्नि को आहुति दे रहा हूँ' और खाते समय भी हमेशा यह ध्यान रखना है कि वैश्वानर अग्नि को आहुति दे रहा हूँ। वैश्वानर अग्नि ही भोक्ता है। और जिसे खा रहे हैं, वह अन्न सोमरूप रसात्मक है। उपनिषदों ने इस बात को स्पष्ट कहा है कि सारा संसार बस दो ही हैं - अत्ता और अन्न। अत्ता वैश्वानर अग्नि है और अन्न सोम है; दोनों ही परमात्मरूप हैं। इस प्रकार से अत्ता और अन्न, अग्नि और सोम, दोनों की परमात्मरूप

से उपासना करते हुए, इनमें परमात्मदृष्टि करते हुए जो भी खाता है, वेद ने कहा है कि उसको अन्नदोष नहीं होता। उपासक के लिये यह उपासना हो गयी। विचारक समझे कि दृश्य रूप से परमात्मा ही उपादान कारण है और द्रष्टारूप से परमात्मा ही निमित्त कारण है; इस प्रकार से हर दृश्य और द्रष्टा भाव में जो जानता है वह अग्नि–सोमात्मक परमात्मा की दृष्टि ही रखता है। प्रकाश और बल की तरह वैश्वानर की उपासना यहाँ प्रसंग से बतला दी। आदित्यादि में उपासना बतलाई, पृथ्वी में बतलाई, ओषधियों में बतलाई, और स्वयं अपने शरीर में, अध्यात्म में वैश्वानर रूप से बतलाई। जो ज्ञानाधिकारी है उसके लिये इन प्रसंगों से तत्पदार्थ का वर्णन स्पष्ट किया।।१४।।

पहले आदित्यादि विशेष उपाधियों में भगवान् ने अपनी अवस्थिति समझायी, फिर सब प्राणियों के जठर में स्थित अपना रूप बताया। अब समझाते हैं कि सभी प्रतीयमान अंतःकरणों के अंदर एक परमेश्वर ही है। परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में जो जाता है, उसको भेद–बुद्धि नहीं रखनी है, सभी के अंदर, अंतःकरणों के अंदर एक परमेश्वर का प्रकाश है, इस बात को समझ कर शिष्ट, भ्रष्ट, ब्राह्मण, चाण्डाल, आदि प्रतीयमान जितने भेद हैं उन सबको हटाने का प्रयत्न करना है। इसलिये अंतःकरण में भी परमेश्वर है इसको स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं –

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

मैं सब प्राणियों के हृदय (बुद्धि) में प्रविष्ट हूँ। मेरे कारण ही स्मृति, ज्ञान और भूलना होता है। सारे ही वेदों द्वारा मैं ही ज्ञेय हूँ। वेदान्तों के अर्थ का सम्प्रदाय बनाने वाला और वेदार्थ का जानकार मैं हूँ।

सबके हृदय में, अर्थात् अंतःकरण में, बुद्धि में, अहं में, मैं ही प्रविष्ट हूँ। सभी अंतःकरणों के अंदर 'मैं'–रूप से जो भान हो रहा है, वह परमात्मा का ही है। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करने वाले को बार–बार असावधानी को छोड़ कर 'सब रूपों के अंदर एक परमेश्वर ही है' यही भावना दृढ करनी है। और 'मत्तः' मैं जो सबका ईश्वर, सबके अंतःकरण में बैठा हुआ हूँ, उस मेरी कृपा से ही स्मृति होती है। हम सचमुच में ब्रह्म होते हुए अपने ब्रह्मरूप को मानो भूले हुए हैं। जिस प्रकार से ब्राह्मण भाँग का गोला छान कर अपने को शूद्र समझ लेता है, परन्तु उसके समझने से वह शूद्र हो तो नहीं जाता, जैसे ही नशा उतरता है वैसे ही फिर अपने को ब्राह्मण ही जानता है, इसी प्रकार अविद्या के कारण अनादिकाल से ब्रह्म ही अपने को जीवरूप से, अहमूरूप से समझ रहा है। और जैसे ही यह अज्ञान नष्ट होता है, वह पुनः अपने रूप में स्थित हो जाता है। इसी को स्मृति कहते हैं। सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार ने कहा, 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छां ७.२६.२) स्मृति आ जाने से ही मोक्ष हो जाता है। यद्यपि श्रुति ने स्मृति शब्द का

उपयोग किया है, यहाँ भगवान् ने भी कहा है, फिर भी इतना याद रखना चाहिये कि स्मृति का जो अर्थ होता है, 'जानी हुई बात को बुद्धि में लाना', यह अर्थ यहाँ नहीं है, क्योंकि पहले ज्ञान था और अज्ञान आ गया, ऐसा नहीं है, अज्ञान अनादि है। स्मृति के जैसा होने से, अर्थात् जैसा है वैसा जानना - यह जो स्मृति का रूप है, ऐसा तत्त्वज्ञान का रूप होने से उसे स्मृति कह दिया है। भगवान् ने बताया - मेरी कृपा से ही यह स्मृति होती है।

'ज्ञानम्' और मेरी कृपा से ही ब्रह्माकार वृत्ति बनती है। बिना ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्र-कृपा के यह वृत्ति बनती नहीं। ईश्वर की कृपा से ही, परमात्मा जैसा है वैसा, अज्ञान-नाश होकर, हमें अभिव्यक्त हो जाता है। और 'अपोहनं च'। ज्ञान होने पर भी, पुराने संस्कारों के कारण, संशय और विपर्यय आता है। 'क्या यही सच है?' यह है संशय। और 'इतने हज़ारों आदमी अपने को जीव समझ रहे हैं, सब बेवकूफ हैं क्या? हम जीव ही हैं' - यह विपरीत ज्ञान विपर्यय है। इस प्रकार संशय-विपर्यय होने पर युक्तिपूर्वक, न्यायपूर्वक सोचकर संशयादि को हटाना भी परमेश्वर की कृपा से ही होता है। स्मृति, अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति, ज्ञान अर्थात् उस निवृत्ति को करने वाली ब्रह्माकार वृत्ति, और उसको दृढ करने के लिये संशय-विपर्यय हटाने वाला अपोहन, यह सब भी 'मत्तः'- मेरे से ही हैं।

अथवा सामान्य स्मृति, ज्ञान आदि भी परमेश्वर से ही होते हैं - यह कह रहे हैं। जो पुण्यकर्मी होते हैं, जिस समय उनका पुण्य कर्म उदय होता है, उस समय उन्हें स्मृति आ जाती है। वैसे तो सभी का किया हुआ पुण्य-पाप है ही, पर जिस समय पुण्य कर्म का उदय होता है उस समय मनुष्य को ठीक चीज़ याद आती है, कर्तव्य-अकर्तव्य सामने आने पर, 'यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है' - ऐसा ठीक प्रकार से स्मरण आ जाता है, अन्यथा नहीं आता। भीष्म पितामह सब प्रकार से सब धर्मों को जानने वाले थे। जिस समय दुःशासन द्रौपदी को नंगी कर रहा था, उस समय द्रौपदी ने यह प्रश्न द्रोण, भीष्म, सबसे किया 'जब युधिष्ठिर ने पहले अपने को दाँव पर लगाया और युधिष्ठिर हार गये, अर्थात् युधिष्ठिर गुलाम हो गये, उस अवस्था में क्या मेरे ऊपर उनका आधिपत्य था जो उन्होंने मुझे दाँव पर लगाया?' क्योंकि युधिष्ठिर ने पहले तो भाइयों को एक-एक कर के दाँव पर लगाया, अन्त में अपने को लगाया। उसके बाद जब दुर्योधन ने उकसाया कि 'अभी तो तुम्हारी द्रौपदी बच गयी, पत्नी तो बच गयी, उसी को दाँव पर लगा दो', तब उन्होंने उसको दाँव पर लगाया। अतः द्रौपदी का प्रश्न था, 'जब स्वयं हार चुके थे तब क्या उनका अधिकार था कि मुझे दाँव पर लगावें?' विकट प्रश्न था; द्रोण, भीष्म, विदुर सबने कह दिया कि इस प्रश्न का जवाब नहीं दे सकते, किसी को भान नहीं हुआ कि इस विषय में धर्म का क्या निर्णय है! भीष्म द्रोण के शास्त्र के ज्ञान में कोई कमी न होने पर भी ठीक स्मृति नहीं हो रही थी। जब पाप कर्म का उदय होता है, तब मनुष्य को आवश्यक पड़ने पर भी, अपनी जानी हुई बात भी, पढ़ी हुई बात भी याद नहीं आती, स्मरण नहीं होता।

'ज्ञान' चीज़ की यथावत् जानकारी होना। चाहे प्रत्यक्ष से, चाहे और किसी प्रमाण से, जैसी

चीज़ होवे वैसा उसका अनुभव ही ज्ञान कहा जाता है। यद्यपि लोक में कह देते हैं, कि रस्सी में साँप का ज्ञान हुआ तथापि साँप का भ्रम होना, ज्ञान होना नहीं है। लौकिक दृष्टि से भी रस्सी को साँप देखना अज्ञान ही है। जैसे प्रत्यक्ष में गड़बड़ी होती है वैसे ही, व्याप्ति इत्यादि में गलती से मनुष्य को अनुमान भी गलत हो जाता है। जब पाप कर्म का उदय होता है उस समय किसी भी चीज़ को जैसी है वैसा नहीं जानते। इसलिये भाषा के किसी कवि ने भी कहा है, कि जिसे दारुण दुःख देना हो भगवान् उसकी मति का हरण कर लेते हैं। पापकर्म के उदय होने पर पहले मनुष्य की बुद्धि ठीक प्रकार से चीज़ को समझ नहीं पाती, नहीं समझने से गलत काम करता है, और गलत काम करने से दुःख पाता है। अतः लोग हमेशा समझते हैं कि इस गलत काम से दुःख हुआ। परन्तु गलत काम क्यों हुआ? पहले के पाप कर्म उदय हुए इसलिय। रास्ते पर चल रहे हैं, हमने समझा सड़क है, है वहाँ पर गोबर। उस पर पैर पड़ा, हम धड़ाम से गिर पड़े और हमारी हड्डी टूट गयी। पाप कर्म के उदय होने से हड्डी टूटी। पर लौकिक दृष्टि से कहा जायेगा कि गिरने से हड्डी टूटी। परन्तु पैर इसीलिये फिसला कि गोबर का ज्ञान नहीं हुआ। आँख तो वही है। यथावत् चीज़ का ज्ञान होना, यह भी 'मत्तः' मुझ परमेश्वर से ही है। क्योंकि पुण्य–पाप के संस्कारों का जो उदय होना है, पुण्य–पाप का जो फल होना है, वह फल लाता तो मैं हूँ।

स्मृति भी मुझ से, ज्ञान भी मुझ से, और स्मृति और ज्ञान का हट जाना भी मुझ से। स्मृति का भी लोप हो जाता है, ज्ञान भी नहीं होता है। पाप कर्म के अनुसार मैं ही ऐसा कर देता हूँ।

और भी अपनी विभूति कहते हैं – 'वेदान्तकृत्' वेदान्त सम्प्रदाय करने वाला मैं ही हूँ। वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक परमेश्वर हैं, इसलिये रोज़ ही हम लोग स्मरण करते हैं 'नारायणं पद्मभवं' वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक नारायण हैं। अतः भगवान् ने कहा कि वेदान्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक मैं हूँ। हमें जिसने भली प्रकार से वेदान्त का ज्ञान दिया, हमारे लिये वेदान्त सम्प्रदाय–कर्ता वही है क्योंकि उसी ने हमें सम्प्रदान किया। अतः गुरु भी परमेश्वर की मूर्ति है। इसलिये शास्त्रों ने कहा है, कि जिस समय गुरु उपदेश देता है उस समय अपने स्वरूप से नहीं देता, अपने अंदर नारायण की दृष्टि करके ही उपदेश देता है। इसीलिये संन्यासियों को नमस्कार करने के लिये 'ॐ नमो नारायणाय' यह मंत्र बतलाया। नारायण ने आदि उपदेश दिया, जो उपदेश आज दिया जा रहा है वह उपदेश उस नारायण का ही है। अतः आदि वेदान्तकृत् होने से भी, और हमें देने वाला होने के कारण भी वे वेदान्तकृत् हैं।

'वेदवित्'। जो श्रोत्रीय है, वेद के ज्ञान वाला है वह भी मुझ परमेश्वर की विभूति है। मुसलमान या सिख लोग कुरान या ग्रन्थ साहब को पूज्य मानते हैं। सारी कुरान की या ग्रन्थ साहब की किताबें बढ़िया कागज़ पर ही लिखी होवें ऐसा तो नहीं, घटिया कागज़ के ऊपर भी कुरान छप सकती है, छपती ही है, और बढ़िया से बढ़िया कागज़ पर भी छपती ही है। कागज़ के घटिया या बढ़िया होने से कुरान को घटिया बढ़िया नहीं कह सकते। इसलिये कुरान की कोई आयत कहीं सड़क पर पड़ी मिल जाये तो मुसलमान कुरान की तौहीन मानता है। सिख लोग

भी यही करते हैं। जिस पर कुरान है उस कागज़ को नहीं देखा जाता है, जो उस पर है वह कुरान है, इसलिये पूज्य है। जिस प्रकार वे लोग कागज़ को मानते हैं, हम लोग वैसे ही वैदिक संहिता, वैदिक ब्राह्मण, वैदिक उपनिषद्, वैदिक आरण्यक इत्यादि ग्रन्थ जिसके हृदय में हैं, उस श्रोत्रिय को मानते हैं। उसका शरीर कागज़-स्थानीय हुआ, उसमें कोई अच्छा भी मिलेगा कोई बुरा भी मिलेगा। कोई अतिशुद्ध आचरण वाला मिलेगा कोई अत्यंत शुद्ध आचरण वाला नहीं भी मिलेगा। पूजा उसके अंतःकरण के अंदर विद्यमान जो वेद है, उसकी है। कागज़ की जगह जो उसका शरीर है उसकी दृष्टि से वेद में या पूज्यता में कोई कमी नहीं आती। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जो इस प्रकार के वेदज्ञ हैं, उनमें मैं ही वेदरूप से बैठा हुआ हूँ, मैं ही 'वेदवित्' हूँ। वेदान्तकृत् भी मैं ही हूँ, और वेदवित् भी मैं ही हूँ। ऐसा क्यों है? कहते हैं 'सर्वैः वेदैः अहमेव वेद्यः'। सारे वेदों से मैं ही वेद्य हूँ अर्थात् वेद का प्रत्येक मंत्र, साक्षात् या परंपरा से परमेश्वर का ही प्रतिपादक है। इसलिये ऋग्वेद कहता है, इन्द्र मित्र, वरुण इत्यादि अनेक नामों से उस एक परमात्मा का ही पूजन किया जाता है। वेदों के अंदर इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि आदि देवताओं का कथन देखकर बहुत से लोग कहते हैं कि अनेक देवताओं का प्रतिपादन है, पर उन सब नामों से एकमात्र परमेश्वर को ही कहा जाता है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' - एक ही सद्ब्रह्म है, उसे ही विप्र लोग वेदों के उच्चारण के समय अलग-अलग नामों से स्मरण करते हैं। जैसे विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हुए कोई यह कल्पना नहीं करता कि हज़ार विष्णु हैं! इसी प्रकार से विभिन्न नामों को सुनकर यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि अनेक देवता हैं। अनेक नामों से स्मरण है उपाधियों का वर्णन करने के लिये। जैसे विष्णुसहस्रनाम में हर नाम का किसी दृष्टि से प्रयोग किया गया है। अलग-अलग नाम ज़रूरी इसलिये हैं कि नहीं तो भगवान् की उन विशेषताओं को समझ नहीं पायेंगे। गलती यह होती है कि हमें भ्रम हो जाता है कि ये सब अपनी-अपनी अलग सत्ता वाले हैं। भगवान् इसलिये पहले ही यहाँ गीता में कह आये हैं, कि जिस उपाधि के द्वारा जो पूजा ध्यान इत्यादि करता है, उसी उपाधि के द्वारा मैं उसको फल देता हूँ। फल तो मैं देता हूँ, पर उसी उपाधि के द्वारा देता हूँ। चाहे मंत्रभाग हो, ब्राह्मण-भाग हो, आरण्यकभाग हो, उपनिषद्भाग हो, सर्वत्र सारे ही वेदों के द्वारा एकमात्र प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमेश्वर है वही 'वेद्य' है। आचार्य सायण इसीलिये ऋग्वेद भाष्यभूमिका में स्पष्ट करते हैं, 'सर्वैः परमेश्वर एकएव हूयते'। इंद्रादि जितने नाम हैं उनके द्वारा बुलाया तो केवल परमेश्वर को ही जाता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। चूंकि सारे वेद मुझे बतलाते हैं, इसलिये चाहे ज्ञानकाण्ड हो, चाहे उपासनाकाण्ड हो, या कर्मकाण्ड हो, साक्षात् या परम्परया उस प्रत्यगात्मा का ही प्रतिपादन है।

इस प्रकार से भगवान् ने अपनी कुछ उपास्य विभूतियों का वर्णन किया। सातवें में, दसवें में, ग्यारहवें में, तो विभूति-वर्णन विस्तार से आ ही चुके हैं। यहाँ फिर संक्षेप में उसका वर्णन कर दिया। इस तरह से 'त्वम्'-पदार्थ का निरूपण हो गया और तत्पदार्थ का निरूपण हो गया। वाच्यार्थ-विधया ईश्वर को बतला दिया और लक्ष्य-विधया परमात्मा को बतला दिया।।१५।।

अत्यंत संक्षेप में समझने के लिये उस निरुपाधिक का वर्णन करते हैं। परमेश्वर के प्रतिपादन का एकमात्र तरीका है, वह क्या नहीं है यह बताना। रोज़ आप लोग महिम्न में कहते ही हो 'अतद्-व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'। 'अतद्व्यावृत्ति' - परमात्मा यह नहीं है, यह नहीं है, इस प्रकार से ही उसका उपदेश संभव है। निरुपाधिक को किसी भी शब्द से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसलिये यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा को बताने के लिये, पहले आरोप कर के बतलाना पड़ता है कि 'परमात्मा ही सर्वरूप है', तब फिर सर्व का निषेध कर दिया तो वह अपने आप बच जाता है। अत्यन्त संक्षेप में इस औपाधिक रूप को बतला कर जो उसका निर्विशेष रूप है, वास्तविक स्वरूप है उसे बतायेंगे। विभूति आदि उपाधियाँ तो वस्त्रों की जगह हैं। ये जितने उपाधिरूप वस्त्र पहने हुए हैं, इन्हें छोड़कर जो असली तत्त्व है उसका दर्शन होता है। उपाधि-सहित उल्लेख कर उपाधि से अतीत बताना प्रारंभ करते हैं -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

संसार में ये दो ही पुरुष कहलाने वाली राशियाँ हैं- क्षर और अक्षर। सारे कार्य क्षर (विनाशी), तथा मिथ्यारूप से स्थित माया अक्षर (अविनाशी) कही जाती है।

'लोके' अर्थात् हमारे अनुभव में जो आता है। लोक का मतलब होता है जो प्रतीत होता है। 'इमौ द्वौ पुरुषौ' वह सारा का सारा दो ढेरियों में इकट्ठा हो जाता है। इन्हें 'पुरुष' शब्द से इसलिये कहते हैं कि ढेरी जिस में कल्पित है उसी की ढेरी कही जाती है। ठीक जिस प्रकार से तुम अपने हाथ पैर इत्यादि का निर्देश 'देवदत्त' के रूप में ही करते हो; या जैसे खून तो सबका एक-सा है, फिर भी तुम्हारा खून निकाल कर चिकित्सक उस बर्तन के ऊपर तुम्हारा नाम लिख देता है और अगर किसी कारण से एक के खून की परखनली के ऊपर दूसरे का नाम लिख दिया गया, तो इलाज भी उल्टा ही हो जायेगा। जैसे खून एक जैसा होने पर भी उसके ऊपर तुम्हारा ही नाम लिखा जायेगा, इसी प्रकार से सारी उपाधि उस पुरुष की है, इसलिये उपाधि को 'पुरुष' नाम से कह दिया। जो अनुभव में आता है उसमें दो ढेरियाँ हैं, एक ढेरी है 'क्षर' और दूसरी ढेरी है 'अक्षर'। क्षर अर्थात् नष्ट होने वाला, अक्षर अर्थात् नष्ट नहीं होने वाला। क्षरण को लौकिक भाषा में झरना कह देते हैं। जहाँ पदार्थ धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा कम होता है वहाँ क्षरण कहा जाता है। अक्षर मायने जो नहीं झरता।

क्षर व अक्षर कौन हैं? खुद भगवान् कहते हैं-'सर्वाणि भूतानि क्षरः'। जितने भूत हैं, सारे क्षर ही हैं। यहाँ भूत का मतलब जीवात्मा को लेकर नहीं समझना। पंचमहाभूतों से बना हुआ यह सारा संसार, यह सारा जगत् क्षर है। तत्तद् पुरुष को कहते हो तो उसका जो क्षरणशील शरीरादि है उसको लेकर ही कहते हो। जो कुछ भी झरता रहता है, जो कुछ भी बदलता रहता है, विकृत होता रहता है, सब क्षर ही है और 'कूटस्थः अक्षरः उच्यते'। दूसरा

है अक्षर, जिसमें कभी क्षरण नहीं होता। यह परमेश्वर की माया शक्ति है जो सारे जगत् का कारण है। अनादि काल से अनन्त सृष्टियाँ इस माया के कारण हो गयीं लेकिन माया में कोई कमी नहीं आई, आगे अनन्त काल तक इसमें से ऐसे ही सृष्टि निकलती रहेगी। यह जो अक्षर है, यही इस क्षर का कारण है। उस माया से ही ये सब पंचमहाभूत और उनके विकार निकलते हैं, वह कारण है, ये कार्य हैं। अतः अक्षर वह हुआ जिसमें अनन्त जीवों के काम, कर्म, संस्कार रहते हैं, इनके कारण ही सब चीज़ें उस माया से प्रकट होती हैं। सभी प्राणियों के काम, कर्मादि का आश्रय यह मायाशक्ति है। अगर आश्रय तुम्हारा अंतःकरण होता तो तुम उसमें से निकाल लेते! अतः अपूर्व, संस्कारादि रहते माया में हैं। माया का एकदेश, कार्य होने से, उन्हें अंतःकरण में रहने वाला कहा जाता है। इसलिये महाप्रलय में जब सब कुछ लीन हो जाता है, तब उस माया में हमारे ही काम, कर्म सब मौज़ूद थे इसलिये उसी में से सृष्टि काल में पुनः निकल आते हैं।

अक्षर कैसा है? इसको कहा 'कूटस्थ'। कूट अर्थात् ढेरी; ढेर की तरह है यह माया। है तो एक ही पर इतनी चीज़ें निकलती हैं कि मानों यह ढेरी है। या कूट का दूसरा अर्थ होता है झूठ, धोखा देना, कुटिलता, छल करना; ये सब झूठ के ही पर्यायवाची जैसे ही हैं। शास्त्रों में सत्य की महिमा बहुत ज़्यादा बतलाई है, कि सारे धर्म एक पलड़े में रखें और दूसरे पलड़े में खाली सत्य रखें तो सत्य भारी होगा। कभी विचार करके देखो, कोई ऐसा पाप ढूँढना मुश्किल है जिसमें कहीं-न-कहीं तुम झूठ का आश्रय न लो; जैसी चीज़ है वैसा प्रकट करो तो फिर पाप नहीं कर सकते। क्षर जगत् का कारण ऐसी ही झूठी माया है। वही इन नाना झूठी चीज़ों के रूप में स्थित है। अनन्त संसारों के बीजों वाली परमेश्वर की माया शक्ति है, उसे यहाँ अक्षर शब्द से कहा। प्रायः वेदान्तों में कूटस्थ और अक्षर शब्द का प्रयोग प्रत्यगात्मा के लिये करते हैं, परमात्मा के लिये करते हैं। वह कूटस्थ और अक्षर का अर्थ यहाँ नहीं समझ लेना।।१६।।

ये दोनों तो बतला दीं उपाधियाँ। अब बतलाते हैं जो इन उपाधियों से सर्वथा रहित है। न वह क्षर है न अक्षर है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबको धारण करता है वह 'परमात्मा' यों कहा गया अविनाशी ईश्वर उत्तम पुरुष तो इन दोनों से अन्य है।

'अन्यः उत्तमः पुरुषः' – इन दोनों राशियों से अन्य है। अन्य है अर्थात् अत्यन्त विलक्षण है। अन्य का अर्थ केवल उनसे भिन्न है, ऐसा नहीं ले लेना। सीधा तो यही लगता है, कि उनसे भिन्न है। अगर उनसे भिन्न कहोगे तो अभेद का प्रतिपादन नहीं होगा! अतः उनसे विलक्षण है। जैसे लोक में, रस्सी से साँप वैसे भिन्न नहीं है जैसे टेबल से किताब।

किताब को एक तरफ कर दो, टेबल को दूसरी तरफ कर दो, किताब किताब है, टेबल टेबल है। ऐसे तुम रस्सी के साँप को अलग कर दो रस्सी से, सह सम्भव नहीं है। इसलिये साँप रस्सी से अलग है, भिन्न है यह नहीं कह सकते। भिन्न होता तो उसको हटा देते। इतने पर भी, रस्सी और साँप एक भी नहीं हैं क्योंकि रस्सी तो हमेशा रहेगी, साँप तब तक रहेगा जब तक तुम देखते हो। इसी प्रकार जब तक तुम अविद्या में हो तब तक तुम्हारे लिये क्षर और अक्षर हैं, तब भी उस पुरुषोत्तम से वे अलग नहीं हैं, परन्तु जैसे ही अविद्या दूर होती है वैसे ही क्षर और अक्षर हैं ही नहीं, जिस प्रकार रस्सी देखने के बाद साँप है ही नहीं यह निश्चय होता है। इसलिये 'अन्यः' का अर्थ भिन्न न समझ लेना, उससे विलक्षण है अर्थात् उससे अस्पृष्ट है।

'उत्तमः पुरुषः' पुरुष उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट, इन से श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता यही है कि उसके बिना उनमें से कोई चीज़ सिद्ध नहीं है। थोड़ा-सा व्याकरण को याद कर लेना : उत्तम पुरुष होता है 'मैं'। प्रथम पुरुष होता है 'वह', मध्यम पुरुष होता है 'तुम' और उत्तम पुरुष होता है 'मैं'। सर्वत्र बहुवचन सिखलाये जाते हैं। 'वह' का बहुवचन में 'वे' होगा, अर्थात् वह+वह+वह, कम से कम तीन 'वह' हों तब सबको मिलाकर 'वे' कहते हैं। इसी प्रकार से, मध्यम पुरुष का भी बहुवचन होता है; चार जने सामने हैं, तो तुम+तुम+तुम+तुम मिलके 'तुम लोग' हो गये। तुम भी कई हैं। परन्तु 'मैं' का बहुवचन 'हम' कहते हैं। तब इसका मतलब मैं+मैं+मैं नहीं होता! 'हम' का मतलब होता है मैं+तुम+वह। अतः जो केवल 'मैं' के द्वारा ही प्रतिपादित हो सकता है, उसी को उत्तम पुरुष कहेंगे। उसका कभी वास्तविक बहुवचन हो ही नहीं सकता, वह तो एक ही है। वह है, तब तो ये क्षर अक्षर सब हैं, और प्रत्यगात्मा मैं नहीं तो न क्षर है, न अक्षर है, कुछ भी नहीं है। इसीलिये उसको उत्तम पुरुष कहा है। उत्तम पुरुष भी सामवेद में (छां. ८.१२.३) वर्णित है।

यह 'मैं' कैसा है? 'परमात्मा इति उदाहृतः' इसको जब उदाहृत करते हैं वेदान्तों में, तब परमात्मा नाम से कहते हैं। परम क्यों कहते हैं? परमात्मा - परम आत्मा। अपर आत्मा तो है शरीर, क्योंकि पहले-पहले जब तुम किसी आदमी को देखते हो तो क्या देखते हो? शरीर देखते हो। इसलिये श्रुति ने आत्मान्वेषण शरीर से ही प्रारम्भ किया। उस शरीर के अंदर क्या है? प्राण है। तभी तक लोक में शरीर कह सकते हो जब तक उसमें प्राण हैं। प्राण के जाने के बाद वह शव कहा जायेगा, शरीर नहीं कहा जायेगा। शरीर के अंदर प्राण, प्राण के अंदर मन, मन के अंदर विज्ञान, विज्ञान के अन्दर आनन्द - इस प्रकार श्रुति ने एक के अन्दर एक को बताते हुए अन्त में कहा-'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'। ब्रह्म वह है जिस पर शरीर से आनंद पर्यन्त सब प्रतिष्ठित हैं। वह है तो ये सब हैं। इसलिये वह परम है। इसके आगे कुछ नहीं बतलाया। शरीरादि जितने हैं, सब अविद्या-कृत आत्माएँ हैं। ये सब अविद्याकृत 'मैं' हूँ, ब्रह्म सारे प्राणियों के अंदर एक जैसा विद्यमान है। कैसे विद्यमान है? जैसे ही कहते हैं कि 'सारे प्राणियों का आत्मा है' वैसे ही लोगों को एक बड़ी लंबी चौड़ी चीज़ नज़र आने लगती है। जैसे

व्यापक शब्द कहते ही लोग 'बड़ा' समझते हैं। ऐसे 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' बड़ा–छोटा नहीं है। जितने भी अविद्या से कल्पित शरीरादि हैं, वे सब ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं इसलिये वह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है। ऐसे समझ लो : तुम आकाश में खड़े होकर हजारों तारों को एक साथ देखते हो तो क्या तुम्हारी आँख चौड़ी हो जाती है? कुछ नहीं। आँख वहाँ की वहाँ है, वहाँ रहते हुए ही सर्व रूप धारण कर लेती है। रस्सी में एक आदमी जलधारा देख रहा है, एक आदमी भूछिद्र देख रहा है, एक माला देख रहा है। क्या रस्सी बहुत लम्बी चौड़ी हो गयी जो इतनी चीज़ें दीख रही हैं? रस्सी तो जहाँ है, जिस परिस्थिति में है वैसी ही है। इन सब रूपों का बनने के लिये उसको कोई लंबा चौड़ा नहीं हो जाना पड़ता। इसी प्रकार अविद्या से सारा ब्रह्माण्ड होने पर भी, ब्रह्म तो वैसा का वैसा प्रतिष्ठित है इसलिये उसे परमात्मा कहते हैं। वेदान्त 'परमात्मा' कहते हैं, तो प्रत्यगात्मा से अभेद बतलाने के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग है, और सारी उपाधियों का अधिष्ठान होने के कारण परम शब्द का प्रयोग है। इसलिये कहा वेदान्त उसी को 'परमात्मा' इस नाम से बतलाते हैं।

वही परमात्मा – 'लोकत्रयमाविश्य' – तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबको धारण किये हुए है। भूः, भुवः, स्वः यही तीन लोक प्रसिद्ध हैं। अथवा, कुछ चीज़ें तो हमने देखी हैं, अनुभव की हैं। वह एक लोक हो गया, अर्थात् भूत लोक। एक हो गया जिसको मैं देखूँगा, वह भविष्य लोक हो गया, भावी लोक हो गया। एक, जिसको देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ वह वर्तमान लोक हो गया। भूत, भविष्य, वर्तमान, इन तीनों कालों के द्वारा जो प्रतीत होता है अथवा 'भूः भुवः स्वः' इन लोकों में जो है, उस सबके अंदर परमात्मा अपनी ज्ञानरूपी शक्ति द्वारा प्रविष्ट है। ठीक उसी प्रकार जैसे रस्सी की लम्बाई और मोटाई सर्प की लम्बाई–मोटाई में प्रविष्ट है। तुम्हें साँप कैसा दीखता है? जैसी लम्बी–मोटी वहाँ पर रस्सी है। बाकी विशेषताएँ रस्सी की तुमको प्रतीत नहीं हुईं। इसी प्रकार परमात्मा ज्ञानरूप से जब चीज़ों के अंदर प्रविष्ट है। प्रविष्ट है मायने उसने 'प्रवेश' नहीं किया है! रस्सी ने साँप में प्रवेश किया हो ऐसा नहीं है। लेकिन रस्सी के स्वरूप से युक्त साँप की प्रतीति है, इसलिये कहा जाता है कि वह उसमें प्रविष्ट है। इस प्रकार से ही 'बिभर्ति' सबको धारण करता है। धारण करना ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि बहुत वज़न उठाए हुए है! बहुत–से लोग कहते हैं, भगवान् के ऊपर सारे संसार का बोझ है। ऐसा कोई उसका धारण करना बोझ ढोना नहीं है। स्वरूप सद्भाव मात्र ही धारण करना है। इसलिये वह परमात्मा 'अव्ययः' है। इस अनन्त सृष्टि के प्रतीत होने पर भी उसके अंदर विकार का लवलेश नहीं है। चाहे जितना विकृत संसार हमको दीख जाता है परन्तु उससे किसी विकार का स्पर्श उसके ऊपर नहीं आता। वह इसको धारण करते हुए भी 'ईश्वरः' सर्वथा स्वतंत्र है। रस्सी–साँप के दृष्टान्त में एक कमी हमेशा रहती है; रस्सी साँप का अधिष्ठान तो है, इसलिये रस्सी उपादान कारण तो है, पर निमित्त कारण हमारे संस्कार हैं, रस्सी नहीं। यहाँ ऐसी संभावना न हो जाये अतः ईश्वर कहा। वेदान्तियों को छोड़कर सारे ईश्वरवादी यही सोचते हैं कि उपादान कारण तो प्रकृति है, निमित्त कारण ईश्वर है। वेदांती ऐसा नहीं वरन् उसी एक

को उपादान और निमित्त दोनों तरह से कारण मानता है। अतः यहाँ स्पष्ट कहा कि वही ईश्वर है। उसका स्वातन्त्र्य अप्रतिहत है, अतः सबका ईशन करने वाला वही है। ईशन, शासन करना उसकी स्वतन्त्र शक्ति से है, अर्थात् माया के ऊपर उसका स्वतंत्र शासन है।।१७।।

वेद में प्रतिपादित अभिन्न निमित्तोपादान कारण जो ईश्वर, उसका पुरुषोत्तम नाम प्रसिद्ध है। अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप जो परमात्मा उसी को पुरुषोत्तम कहते हैं। यह नाम निर्वचन से भी सिद्ध होता है इस बात को सत्रहवें श्लोक में बतलाया। अब भगवान् कहते हैं, कि सारे अतिशयों से रहित, अर्थात् सारे गुणों से व क्रियाओं से रहित, जो मैं-तत्त्व है वही ईश्वर है, उसी को पुरुषोत्तम कहा है। इस प्रकार से आत्मा ही पुरुषोत्तम है इसको बतलाने के लिये कहते हैं –

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

क्योंकि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ इसलिये लोक में व वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूँ।

क्यों आत्मा को पुरुषोत्तम कहते हैं? 'यस्मात्' क्योंकि 'क्षरमतीतः'। जिसको संसाररूप माया वृक्ष बतलाया ऊर्ध्वमूल वाला, अधःशाख वाला अश्वत्थ, उससे निरतिशय परमात्मतत्त्व अतीत है, अर्थात् संसार का परमेश्वर से स्पर्श भी नहीं है। 'त्वम्'-पदार्थ की उपाधि क्षर है, क्योंकि कार्य उपाधि वाला जीव माना गया है। त्वम् पदार्थ की उपाधि देह से लेकर अहं-पर्यन्त जो माया का कार्य है उससे आत्मतत्त्व रहित है, उससे उसका सर्वथा स्पर्श नहीं है। केवल इस उपाधि से ही रहित नहीं, 'अक्षरादपि', अक्षर अर्थात्-संसार वृक्ष की बीजरूप जो कारण-उपाधि, माया, अविद्या, उससे भी 'उत्तमः,' उससे भी अस्पृष्ट है। क्षर उपाधि से अतीतता कही और अक्षर उपाधि से उत्तमता कही, दोनों का तात्पर्य तो उससे अस्पृष्ट ही है पर अक्षर उपाधि कारण होने की वजह से, क्षर उपाधि की अपेक्षा ज़्यादा स्थायी है। क्षर उपाधि सुषुप्ति में और प्रलयकाल में माया में लीन हो जाती है। उस समय क्षर उपाधि नहीं रहती पर अक्षर उपाधि एक जैसी बनी रहती है। सृष्टिकाल में भी फलदान आदि के लिये कारण उपाधि अपेक्षित होने से बनी रहती है और महाप्रलय में अविद्या-काम-कर्म के बीज अपने में रखकर पुनः सृष्टि उत्पन्न करने के लिये आवश्यक हैं। इसलिये वह क्षर उपाधि से श्रेष्ठ मानी जाती है। परन्तु उपाधिरहित रूप उससे भी उत्तम है, ऊर्ध्वतम है। इसके द्वारा जो अनेक शक्तिवादी 'शक्ति से रहित शिव बेकार है' ऐसा मानने वाले हैं, उनका निराकरण हो गया। माया से रहित जो शुद्ध स्वरूप है वही श्रेष्ठ है। जो संसार में राग वाले हैं उनको तो लगता है कि माया शक्ति से क्योंकि जगत् का सब कुछ उत्पन्न होता है, उसके बिना क्योंकि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, इसलिये माया शक्ति आवश्यक अतः श्रेष्ठ है। इसलिये उन लोगों का कहना है 'शक्तिहीनः शिवः शवः' शक्ति से रहित शिव शव हो

जाता है! वैसे, एकाक्षर कोश के अनुसार, शिव शब्द में जो इकार है वह शक्ति का बोधक है। इकार इच्छा को बतलाता है। इच्छा-शक्ति को प्रधान मानकर वे कहते हैं कि जहाँ इच्छा-शक्ति का अभाव है वह शव है। रागियों की दृष्टि यही होती है। इसीलिये परमात्मतत्त्व की तरफ जाने वाले के लिये प्रारम्भ से ही वैराग्य के ऊपर ज़ोर है। वैराग्य वाले को, उस इच्छा-शक्ति से उत्पन्न यह सारा संसार सर्वथा निष्फल लगता है। भगवान् ने शक्ति से भी अपनी श्रेष्ठता समझाने के लिये कह दिया, 'अक्षरादपि च उत्तमः'।

'अतः' इस प्रकार क्षर से अतीत, अक्षर से उत्तम, अर्थात् दोनों उपाधियों से क्योंकि आत्मतत्त्व रहित है अतः वही 'लोके' लोक में अर्थात् स्मृतियों और साधारण व्यवहार में तथा 'वेदे च' अर्थात् वेदों में, श्रुतियों में, पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है। भाष्यकार कहते हैं कि कवि लोग भी काव्यादि में परमेश्वर को पुरुषोत्तम नाम से कहते हैं, इसलिये भी लोक में प्रसिद्ध है। रघुवंश में 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' इत्यादि कहा है। भक्तजन भी उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। 'लोके' – अर्थात् स्मृतियों में, काव्य इत्यादि में और भक्तजनों के अंदर इसी नाम से परमेश्वर को बुलाते हैं। वेद में 'उत्तमः पुरुषः' (छां.८.१२) कहा ही है।।१८।।

अब जो इसको जान लेता है उसे उपलभ्य फल बताते हैं –

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१६।।

हे भारत! जो यथोक्त प्रकार से संमोहवर्जित हुआ 'यही मैं हूँ' यों मुझ पुरुषोत्तम का अनुभव कर लेता है, वही सर्वज्ञ है और सर्वात्मा मुझ में ही चित्त लगाकर मेरा भजन करता है।

अहम्-तत्त्व परमेश्वर सारे विशेषणों से रहित, निर्गुण निष्क्रिय परमात्मतत्त्व है; कार्यरूप से वही जीव की तरह प्रतीत होता है, कारणरूप से वही ईश्वर की तरह प्रतीत होता है, वास्तव में वह इन दोनों से अतीत है। जाग्रत् काल में हम लोग आँख कान वाले प्रतीत होते हैं, स्वप्न काल में हम मन वाले प्रतीत होते हैं, सुषुप्ति काल में जिससे मन और इन्द्रियाँ निकलती हैं उस रूप से विद्यमान रहते हैं। क्योंकि सुषुप्ति से जाग्रत्-स्वप्न में आते हैं इसलिये जाग्रत्-स्वप्न की उपाधि सुषुप्ति के अंदर लीन अवस्था में है यह मानना पड़ेगा। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियादि के साथ प्रतीत होते हैं, स्वप्न अवस्था में मन के साथ प्रतीत होते हैं, सुषुप्ति में कारण रूप से प्रतीत होते हैं। इन तीनों रूपों में रहने वाला 'मैं' इन तीनों से अतीत हूँ। ये उपाधियाँ आयीं और गयीं, मैं तो वैसा का वैसा हूँ। इसी प्रकार से जो शुद्ध परमात्मा का रूप है वह माया उपाधि के द्वारा सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला प्रतीत होता है, अन्तःकरण की उपाधि के द्वारा कर्ता-भोक्ता रूप में प्रतीत होता है परन्तु दोनों रूपों से प्रतीत होते हुए वस्तुतः दोनों रूपों से अस्पृष्ट है। ऐसा जो मुझ परमात्मा का रूप है

उसे 'एवम् पुरुषोत्तमम्' 'यही मैं हूँ', इस प्रकार से जो जानता है, कार्य-कारण दोनों उपाधियों से रहित, अपने को जानता है, वह सर्वज्ञ है। कैसे जानता है? 'असम्मूढः' किसी भी प्रकार के सम्मोह से रहित होकर जानता है। सम्मोह से रहित अर्थात् प्रारब्ध अथवा संस्कारों से संसार की प्रतीति होने पर भी 'इससे मैं सर्वथा उत्तम हूँ' यह जानता है। जिस प्रकार से जिसने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का भली प्रकार विवेचन कर लिया, जाग्रत् की प्रतीति काल में भी जानता है कि यह औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं; स्वप्न में भी जानता है कि औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं; और सुषुप्ति के बारे में भी जानता है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह मेरा स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार सम्मोहरहित वह है जिसे लेशाविद्या, संस्कार, प्रारब्ध-शेष, इनमें से जो भी स्वीकार किया जाय उसके द्वारा संसार प्रतीत होने पर भी, उसमें मोह नहीं होता। अमूढ कहने से भी काम चल जाता पर मूढता की निवृत्ति तो श्रौत-ज्ञान से भी हो जाती है। उतने मात्रको नहीं कह रहे। अन्य आचार्यों ने कहा है, कि 'कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व की प्रतीति पारमार्थिक है' यह शास्त्र के द्वारा निवृत्त हो जाता है। अर्थात् शास्त्र से यह पता लग जाता है कि मैं सचमुच में कर्ता भोक्ता नहीं हूँ, पर व्यवहार करते समय कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की प्रतीति हो जाती है। जैसे ही कार्यकाल समाप्त होता है, फिर विचार करता है तो जानता है कि 'यह मैं नहीं हूँ'। साधक को पहले इतना पता चलता है कि सचमुच में मैं कर्ता-भोक्ता नहीं किन्तु व्यवहार करते समय फिर 'मैं कर्ता-भोक्ता' यह प्रतीति हो जाती है। अतः अभी सम्यक् मोहनिवृत्ति नहीं हुई। जब अपरोक्षात्मबोध होता है, अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, तब शास्त्र के वचनों के अधीन 'मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ' यह नहीं रहता वरन् 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ' ऐसा उसको स्पष्ट भान होता है। तब जिस समय करता है, भोगता है, उस सयम ही उसका यह भान अक्षुण्ण बना रहता है कि 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ। अहम् से लेकर देह पर्यन्त - इन सबमें क्रिया व भोग हो रहे हैं, मैं इन्हें करने वाला नहीं हूँ; मेरी उपस्थिति में हो रहा है'। अर्थात् अब व्यावहारिक मोह की निवृत्ति भी हो जाती है। अब केवल रह गयी शरीर से लेकर के अहम् में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की जो प्रतीति हो रही है। बिना आत्मा के तो प्रतीति हो नहीं सकती, प्रतीति हो रही है इसलिये सान्निध्य-मात्र मेरा है, अधिष्ठान-मात्र मैं हूँ। प्रारब्ध के निवृत्त हो जाने पर यह प्रतीति भी बन्द हो जाती है। तत्त्वनिष्ठा के बाद प्रारब्ध कर्म अपना काम करते रहते हैं, पर उसका बंधन नहीं रहता है, इतना ही बचता है कि शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जो होता है उसकी प्रतीति हो रही है। जब प्रारब्ध-भोग समाप्त हो गया, तब वह प्रतीति भी नहीं रह जाती। मूढता ज्ञान-मात्र से हट जाती है, संमोह ज्ञाननिष्ठा से हट जाता है। फिर केवल प्रातिभासिक बंधन रह जाता है जो यावत्प्रारब्ध चलता है।

जो ऐसा है वह 'सर्ववित्', वह सब चीज़ों का जानने वाला हो जाता है। क्यों? लोक में जो भी चीज़ है उसको जानने वाले को सर्ववित् कहते हैं। ग़लत चीज़ों को जानने वालों को सर्ववित् नहीं कहते! जो ग़लत गणित जानता है; दो सत्ते चौहद नहीं जानता, दो सत्ते

पंद्रह जानता है, उसको तो कोई गणितज्ञ नहीं कहेगा! जो दो सत्ते चौहद जानता है उसको ही गणितज्ञ कहेंगे। इसी प्रकार से माया का कार्य सचमुच में न होकर प्रतीत होता है, इसलिये उसको जानना सर्ववित् होना नहीं है। उन सब रूपों में अज्ञान से प्रतीत होने वाला जो सच्चिदानंद रूप है उसे जो जानता है, वही सर्ववित् है। मुझ से भिन्न कहीं कुछ नहीं है, क्योंकि मुझ आत्मतत्त्व में ही ये सब कल्पित हैं – यह जानना सब को जानना है।

वही 'सर्वभावेन मां भजति', जितने भी अपने भाव हैं, उन सब भावों से मुझे भजता है। यह आत्मतत्त्व ही सब कुछ है – इसके सिवाय और कोई भाव नहीं है। जो चीज़ है वह केवल आत्मतत्त्व है। जो दीखता है, सुनाई देता है, सूँघा जाता है, वह सब एकमात्र आत्मतत्त्व में ही कल्पित है। इसलिये वह सर्ववित् एकमात्र उस आत्मतत्त्व का ही सेवन करता है। तदतिरिक्त उसके लिये कोई सेव्य नहीं है। 'भारत!' भारत सम्बोधन के द्वारा उसको याद दिलाते हैं कि तू ज्ञान में रत है इसलिये तुझे इस भाव तक पहुँचना कठिन नहीं है। अतः तूने जिज्ञासा की श्रेय के मार्ग की। प्रेय के मार्ग को चाहने वाला तू नहीं। श्रेय के मार्ग को चाहने वाला क्योंकि संसार से विरक्त होता है इसलिये उसको इस प्रकार का आत्मबोध करना सरल होता है। इस प्रकार यहाँ जो ज्ञान बताया उसका फल भी बता दिया।१६।।

भगवत् तत्त्व के ज्ञान की प्रशंसा करते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं -

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः।।

हे निष्पाप भरतवंशी! यों यह उत्तम रहस्यभूत शास्त्र मैंने सुनाया। इसे समझकर बुद्धिमान् कृतकृत्य हो जाता है।

'इति' अर्थात् जो हमने उपदेश करना था, जिसकी हमने प्रतिज्ञा की थी, वह समाप्त हो गया। जो हमने बतला दिया वह कैसा है, 'एतद् गुह्यतमं'। गुह्य कहते हैं जो छिपाने की चीज़ होवे। संसार कल्पित है यह बात, जब तक विवेक, वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक बतलाने से साधारण साधक कहेगा, कि 'जब झूठ बोलना भी परमात्मा है, सच बोलना भी परमात्मा है, तो हम झूठ बोलते हैं तब भी परमात्मा का ही काम कर रहे हैं! रावण भी परमात्मा है, राम भी परमात्मा है तो आदमी को रावण ही बनना चाहये, राम नहीं'। इसलिये शास्त्रों के अंदर उसको गुह्यतम बतलाया। यह सर्वाधिक गोपनीय तत्त्व है। जब संसार से वैराग्य प्रारंभ हो जाये, तब इस तत्त्व का उपदेश कार्यकारी होगा अन्यथा जो तुम्हारा तात्पर्य नहीं है वह तात्पर्य समझ लेंगे। वर्तमान काल में बहुत ऐसे सम्प्रदाय-प्रवर्तक हो रहे हैं, जिनमें से कुछ ने तो वेदान्त को

समझने की चेष्टा की नहीं, कुछ चेष्टा करने पर भी असमर्थ रहे। बड़े ज़ोर-शोर से कहेंगे कि 'वेदों के अंदर यह कहा है कि ब्राह्मणादि भेद-भाव सच्चे नहीं हैं। इसलिये सब मानव एक हैं, यह वेदान्त का संदेश है'। किन्तु यह वेदान्त का संदेश नहीं है! वेदान्त का संदेश है कि सारे प्राणी आत्मरूप हैं। इसलिये मनुष्य हो या गधा, चेतन सब प्राणियों में आत्मा एक है। नासमझ कहेंगे 'नहीं नहीं, सब प्राणियों की बात छोड़िये, पहले मनुष्यों की तो एकता करिये' किन्तु एकता होगी, तो सब उपाधियों के त्याग से ही होगी, यदि उपाधि बचाओगे तो एकता नहीं, भेद रहेगा। ऐसा सम्भव नहीं है कि मनुष्यों में तो एकात्म-दर्शन हो जाये, और अन्य प्राणियों में न होवे। किन्तु वेदांत ठीक से न समझने के कारण ऐसे भ्रम हो जाते हैं। इसलिये इसको गुह्यतम कहा, छिपाना इसलिये नहीं कि किसी को वंचित रखना है, छिपाना इसलिये है कि कोई इसे अपने आप से अपने पैर को काटने वाली कुल्हाड़ी न बनाये, असत् पथ में गमन न करे, क्योंकि असत् पथ में जाने के बाद तो परमात्मा की तरफ आने की सम्भावना ही नहीं रह जायेगी। इसलिये गुह्यतम है।

दूसरा कारण यह है कि मनुष्य शरीर का शास्त्रों में गुहा के रूप में वर्णन किया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्'। यह यजुर्वेद स्पष्ट कहता है कि उस परमात्मा के अनुभव का स्थल गुहा है। ये गुहाएँ एक के अंदर एक कई हैं। पंचदशीकार ने बताया है कि अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-कर्ता-भोक्ता - यह गुहाओं की परंपरा है। इस तरह से एक गुफा से दूसरी गुफा, दूसरी गुफा से तीसरी गुफा में जाते हैं, तब अंतिम गुफा का जो आधार है वह पुच्छ प्रतिष्ठा ब्रह्म मिलता है। गुहाओं की परम्परा में यह अंतिम है, इसलिये गुह्यतम है।

'शास्त्रम्'। 'इति' से इसी अध्याय का इति है, गीता शास्त्र का इति तो है नहीं। गीता शास्त्र में तो अभी तीन अध्याय और कहने हैं। इसलिये यहाँ का इति इस अध्याय की इति है। इसको शास्त्र कैसे कह दिया? बहुत-से लोग पूछते हैं, कि 'महाराज! आप लोग भोजन से पहले इसी अध्याय का क्यों पाठ करते हैं? गीता के किसी भी अध्याय का पाठ करें। गाँधीजी, दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को रोज़ गिनवाते थे अपनी प्रार्थना में। आप भी वही बुलवाइये। इसको क्यों कहते हैं?' एक तो बात है कि भगवान् ने इसको शास्त्र कह दिया इसलिये इसको शास्त्र कहना ठीक ही है। यह इस प्रकरण की स्तुति हो गयी। परन्तु आगे प्रश्न होता है, भगवान् ने भी इसे शास्त्र क्यों कहा? सारी गीता में जो प्रतिपादित किया है, वे सारी बातें इसमें सूक्ष्म रूप से प्रतिपादित कर दी गयी हैं। शास्त्र उसको कहते हैं जिसमें जो कुछ भी उस विषय में जानने के योग्य होवे, उस सब को संकेत में कह दिया जाये। सब चीज़ों का जहाँ शासन कर दिया, उपदेश कर दिया, उसको शास्त्र कहते हैं। गीता शास्त्र में जो विस्तार से बताया है, उस सब का सूक्ष्म रूप से यहाँ प्रतिपादन कर दिया, इसीलिये इसको शास्त्र कह दिया।

वेदान्त शास्त्र की मर्यादा है, कि जहाँ तत्-पदार्थ और तत्-पदार्थ का लक्ष्यार्थ, त्वम्

पदार्थ और त्वम् का लक्ष्यार्थ, और लक्ष्यों की एकता - इतना प्रतिपादित कर दिया जाता है उसी को शास्त्र कह देते हैं। वेदान्त शास्त्रों में 'तत् त्वम् असि' को महावाक्य कहते हैं। सारे वेदों का चरम लक्ष्य 'तत् त्वम् असि' के द्वारा कहते हैं। तुमने तत्–पदार्थ को जैसा समझा है, उसका शोधन करना है। उसको तुम्हें साफ करना है। ईश्वर ने कभी अपने को ईश्वर नहीं समझा! ईश्वर तो हमेशा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होने से ब्रह्मभाव में ही स्थित है। अतः तत्–पदार्थ की शुद्धि, तत्–पदार्थ का शोधन भी हम ही को करना है क्योंकि गलत हमने ही समझ रखा है। त्वम् पदार्थ को हमने समझ ही रखा है और हम ही को उसका शोधन करना है क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि 'मैं बद्ध हूँ।' शास्त्र कहीं कहता नहीं कि तुम बद्ध हो। शास्त्र तो कहता है 'तुम मुक्त हो'। तुम कहते हो 'मेरा अनुभव है कि मैं बद्ध हूँ'। तब शास्त्र कहता है कि यदि बद्ध समझ रहे हो, तो इस ढंग से समझोगे तो अपने शुद्ध रूप को जान जाओगे। अतः शास्त्र का तात्पर्य तुमको मुक्त *करने* में नहीं है, तुम यदि अपने को बद्ध समझते हो तो तुम्हारा बंधन कैसे निवृत्त हो - इसका उपाय शास्त्र बतलाता है। ईश्वर के विषय में तुमने जो गलत समझ रखा है, वह ईश्वर तत्त्व का विचार करने से स्पष्ट होकर हट जायेगा और तुम्हें तत्पद के लक्ष्यार्थ तक पहुँचा देगा। सारा उपासना-काण्ड, सारा भक्ति-काण्ड, इसी में गतार्थ है। इसलिये ब्रह्मसूत्रों में बार-बार जिस-जिस उपाधि की उपासना कही है, वहाँ सर्वत्र यह बतलाया है कि उपाधि को नहीं, उस उपाधि के द्वारा ब्रह्म को ही उपास्य समझना है। पहले हम उपाधि को लेकर उपासना करते हैं तो चित्त की एकाग्रता होकर हमारा प्रेम एकमात्र ब्रह्म में रह जाता है, और धीरे-धीरे उपाधि छूट जाती है। कभी वृन्दावन में बाँके बिहारी का दर्शन करने जाओ, तो जो पहले दर्शन करके आ रहे होते हैं वे कहेंगे 'हाँ जल्दी जाओ, आज बहुत सुंदर फूलों का शृंगार हुआ है, देखने लायक है; आज दूल्हे का दर्शन है, देखने लायक है'। कोई यह नहीं कहता कि आज मूर्ति को निर्वस्त्र करके दिखाया जा रहा है! लोग उन सब शृंगारों से, उपाधियों से ही आकृष्ट होते हैं, उपाधि-रहित मूर्ति के प्रति आकर्षण नहीं है। जब धीरे-धीरे प्रेम बढ़ता है, तब फिर उपाधियों से दृष्टि हटने लगती है। विश्वनाथ में जाते हैं, तो यदि कवच चढ़ा हुआ हो तो कहते हैं 'कवच कब उतारोगे? हमें अभिषेक करना है' अर्थात् साक्षात् विश्वनाथ वहाँ दर्शनीय हैं। जब हमारा परमात्मा से प्रेम अधिक होगा तब हम परमात्मा को निरुपाधिक रूप में, वह जैसा है वैसा देखना चाहेंगे। और तभी उनकी सच्चिदानंदरूपता प्रकट होगी। अन्यथा उनकी उपाधि से प्रेम होगा। वह कर्मफल-दाता है, अनुग्रह करने वाला है; कर्म करने में ज़्यादा परिश्रम होता है, अनुग्रह फोकट में हो जाता है, इसलिये भगवान् से प्रेम हो जायेगा। ऐसे भक्त कभी भगवान् का वाक्य सुन लें कि 'जिनके ऊपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उनका धन मैं हरण कर लेता हूँ', तो बहुत-से ठाकुर जी की पूजा करने वाले कहेंगे, 'ऐसा है तो फिर दूर ही रहना चाहिये'! धन तुम्हारा बंधक है इसीलिये वे हरण करते हैं।उनका असली अनुग्रह वही है। अतः विरक्त को ही

निरुपाधिक रूप से प्रेम हो सकता है। जब प्रेमपूर्वक हम *उसकी* उपासना करते हैं, भक्ति करते हैं, तब तत्-पदार्थ का शोधन हो कर लक्ष्य स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार से त्वम्-पदार्थ का शोधन करना है। त्वम्-पदार्थ के शाधन में एक कठिनाई है और एक सरलता है; कठिनाई यह है कि यहाँ उपधियों के साथ तादात्म्य प्रत्यक्ष की तरह लगता है, अपरोक्ष लगता है। परमेश्वर क्योंकि हमें अपरोक्ष नहीं है इसीलिए हमें परमेश्वर की उपाधियाँ अपरोक्षवत् नहीं लगतीं। पर शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त 'मैं हूँ' यह अपरोक्ष की तरह लगता है इसलिये 'शरीर मैं नहीं हूँ' बार-बार श्रवण करके भी बैठता नहीं। बाकी युक्तियाँ जाने दो, यह तो सब जानते हैं कि शरीर को छोड़ कर जाओगे; इसमें तो संदेह नहीं है। यह शरीर तुम्हारी उपाधि है। चार्वाक को छोड़कर, कोई नहीं कहता कि शरीर मर गया तो आत्मा मर गयी, तुम मर गये। इस प्रकार शरीर की उपाधि बड़ी सरलता से *समझ* में आती है। परन्तु हमेशा प्रश्न यही होता है कि 'जी, वह मरने के बाद देखा जायेगा, जब तक शरीर है तब तक तो सब कुछ इसके लिए करना ही है। मैं नहीं करूँगा तो कौन करेगा?' शरीर की उपाधि इतनी स्पष्ट होकर भी हमें छोड़ना कठिन लगती है, फिर आगे की प्राण से लेकर अहंकार पर्यन्त जो उपाधियाँ हैं वे और सूक्ष्म होती चली जाती हैं, उनसे आत्मबुद्धि हटाना और कठिन ही है। अपरोक्ष होने से इन उपाधियों को छोड़ना कठिन है।

परन्तु एक सरलता भी है : सरलता यह है कि इन उपाधियों के अंदर दुःख का दर्शन करना कठिन नहीं है। परमेश्वर की जो उपाधि है उसमें तो दुःख झट समझ में नहीं आता। 'भगवान् कृपा करेंगे, सब कुछ ठीक हो जायेगा'। यह झट समझ में आता है। और शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जो है, उसके अंदर अपरोक्षता होने के साथ दुःख भी अपरोक्ष ही है। ये दुःखरूप हैं – यह समझना सरल होता है, इसलिये वैराग्य होना भी सरल होता है।

इस अध्याय में 'तत्'-पदार्थ का वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ दोनों बतलाये, 'त्वम्'-पदार्थ के वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ दोनों बतलाये और अंत में दोनों लक्ष्यार्थों की एकता बतला दी। इसलिये संक्षेप में जो शास्त्र का विषय है वह सारा इसमें आ गया, अतः भगवान् ने इसको शास्त्र कहा है। अत एव भोजनारंभ में हम लोग इस अध्याय का पाठ भी करते हैं। इससे समग्र शास्त्रार्थ की रोज़ पुनरावृत्ति हो जाती है।

'भारत' तो पहले भी कहा था परन्तु ज्ञान में रत होने वाले को अनघ होना ज़रूरी है। अनघ मायने अपाप। वेद ने कहा है कि जब तक दुश्चरित्र छूट नहीं जाते, जब तक अंतःकरण शान्त नहीं हो जाता, जब तक परमात्मा में चित्त समाहित नहीं हो जाता, तब तक यह उपदेश फलकृत् नहीं हो पाता। 'अनघ' से सूचित किया कि पापों से रहित बन जा, तभी मेरा कहा हुआ जो शास्त्र है वह फलप्रद हो पायेगा।

'एतद् बुद्ध्वा' जो मैंने बात कही है, जैसा समझाया है, वैसा उसको ठीक प्रकार से समझ कर 'बुद्धिमान्स्यात्' तब व्यक्ति बुद्धिमान् होता है। बुद्धि का यहाँ मतलब है, ब्रह्माकार वृत्ति। बुद्धि की श्रेष्ठता यही है कि वह ब्रह्माकार वृत्ति बनाती है। ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर बुद्धि

का कार्य समाप्त हो जाता है। इसलिये उपनिषद् कहती है कि आत्मा जानकर सब जान लिया जाता है। बुद्धि का काम है जानना। जब सब जान लिया गया तब फिर आगे जानने के लिये कुछ बचा नहीं। अतः बुद्धि का कार्य खत्म हो जाता है। जब ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न कर लेते हो तभी बुद्धिमान् होते हो, और 'कृतकृत्यश्च स्यात्' - उसके बाद कुछ करने को शेष रहता नहीं। जितने बड़े से बड़े कृत्य हैं, अश्वमेध, सर्वमेध से लेकर के संध्यावन्दन पर्यन्त, सब तुमने कर लिये। मनु महाराज कहते हैं कि श्रेष्ठ ब्राह्मण जन्म में उत्पन्न होकर परमात्म-प्राप्ति ही कृत्य है, यही वस्तुतः करने के योग्य है। अन्य जो कृत्य हैं, वे सब यहाँ तक पहुँचने के काम में लेने चाहिये, यहाँ जाने के रास्ते को रोकने वाले नहीं हो जाने चाहिये। जैसे ही परमेश्वर का तत्त्व विदित हो जाता है, वैसे ही फिर और कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह सब परमेश्वर की कृपा से ही फल देता है। कोई भी कर्म करो, बिना परमेश्वर की कृपा के फल तो होता नहीं, फल देने वाला वही है। जब फल देने वाले को अपने से अभिन्न जानते हो तो फिर तुम्हारे लिये और क्या कृत्य हो सकता है! इसलिये कहा कि बुद्धिमान् 'कृतकृत्य' हो जाता है। इसलिये भगवान् पहले (४.३३) भी कह आये हैं- 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' हे अर्जुन! मेरे स्वरूप को समझ लिया तो फिर तुम्हारे लिये सारे कर्म समाप्त हो गये, क्योंकि कर्म के द्वारा जो भी प्राप्त करोगे वह सब तुमने प्राप्त कर लिया। यद्यपि परमात्मज्ञानसे सभी के जन्म की पूर्णता है तथापि मनु ने (१२.९३) 'ब्राह्मणस्य विशेषतः' कहा; ब्राह्मण जन्म की समग्रता, जन्म की पूर्णता इसी में है। यद्यपि सबके जन्म को सफल बनाने वाला है, लेकिन विशेषकर ब्राह्मण के लिये इसलिये कहा क्योंकि अन्य चीज़ों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना उसे निषिद्ध माना गया है। इसलिये ब्राह्मण के बारे में कहा है कि वेदाध्ययन को छोड़ कर और विषयों में श्रम करता है तो शूद्रभाव को प्राप्त कर जाता है! भगवान् भी आगे सत्रहवें-अठारहवें अध्यायों में जहाँ ब्राह्मण के कर्तव्य बतलायेंगे, वहाँ शम, दम आदि ही बतलायेंगे, और कोई दूसरे कर्म नहीं बतलायेंगे। ब्राह्मण का अतिदुर्लभ जन्म प्राप्त करके इस परमात्मदर्शन को अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज हैं, बिना परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार किये हुए कभी इनका जन्म सफल होता नहीं। और कुछ भी प्राप्त कर लो, उससे पूर्णता नहीं होती। मनु महाराज ने अनेक धर्मों का उपदेश दिया, परन्तु आगे जाकर स्पष्ट कर देते हैं कि, यह सब जो हमने बतलाया है, वह इसीलिये कि तुम इस कृतकृत्यता को प्राप्त करो। यह भगवदाज्ञा ही मनु का भी आधार है - 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च स्यात्' अनघ बनो किस लिये? भारत बनने के लिये, इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार शास्त्ररूप पुरुषोत्तमयोग नाम का पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

।। पन्द्रहवाँ अध्याय ।।

ॐ

सोलहवाँ अध्याय: दैवासुरसम्पद्विभागयोग

भगवान् ने पूर्व अध्याय के अंत में कहा 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'। भगवान् का उक्त प्रकार का भजन करने के लिये, मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विक वृत्ति चाहिये। पहले ही भगवान् बता आये हैं, कि प्राणियों की प्रकृति अर्थात् बार-बार करने से पड़ा हुआ स्वभाव, जन्म-जन्मान्तर में हम जो साधन करते हैं, उसके संस्कारों के अनुरूप बनती है। स्वभाव से ही किसी में दैवी-सम्पत्ति होती है, किसी में आसुरी होती है, किसी में राक्षसी होती है। नैवे अध्याय में केवल प्रतिज्ञा की थी कि तीन प्रकृतियाँ होती हैं। क्या प्रकृति दैवी है, क्या प्रकृति आसुरी है? इसे अब विस्तार से दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का विभाग प्रतिपादन कर समझायेंगे।

संसार से मुक्त होने के लिये, दैवी सम्पति के रूप में बताये साधन अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि इनके बिना भगवान् का भजन होता नहीं। और आगे आसुरी सम्पत् बतायेंगे, बचने के लिये, छोड़ने के लिये। यदि आसुरी प्रकृति है, तो उसका परित्याग करके दैवी सम्पति अपने अंतःकरण में स्थिर करने के लिये प्रयत्न करना है।

श्रीभगवान् उवाच
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

श्री भगवान् ने कहा -निडरता, मनसे शुद्ध व्यवहार, आत्मज्ञान पाने और उसी में समाहित रहने में तत्परता, अपने धन आदि का अन्यों को समर्पण, इन्द्रिय-निरोध, देवपूजन, वेदाध्ययन, तपस्या, अकुटिलता (दैवी सम्पत्ति को अभिलक्षित कर उत्पन्न व्यक्ति में ये गुण होते हैं)।

दैवी सम्पत्ति में सर्वप्रथम कहते हैं 'अभयम्'। अभय पूरी तरह से प्राप्त तो ज्ञान की निष्ठा होने पर ही होता है। इसलिये याज्ञवल्क्य जनक को उपदेश के अंत में कहते हैं, 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि' अब तूने अभय पद को प्राप्त कर लिया। अभय ज्ञान की देन है। साधक द्वारा तो इसका अभ्यास किया जाता है, साधनरूप से अभय का प्रयास किया

जाता है। नियम है कि ज्ञानी के जो लक्षण होते हैं उनका यत्नपूर्वक अभ्यास साधक को करना चाहिये। २.५५ व १४.२५ के भाष्य में आचार्य शंकर ने यह स्पष्ट कर दिया है। ये धर्म सायास करते-करते जब दृढ हो जाते हैं तब ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अभय दोनों तरह से समझना – किसी दूसरे को मैं भय न दूँ, और मैं किसी दूसरे से भयभीत न होऊँ। भय हमेशा उस से होता है, जो अपने से अलग हो। अपना भाई चाहे जितना बड़ा पहलवान हो जाये, उससे दूसरे भाई को डर नहीं लगता, क्योंकि अपना भाई है। परन्तु कोई दूसरा व्यक्ति यदि खूब पहलवानी करने लगता है, तो कहीं-न-कहीं मन में रहता है कि 'यह कहीं किसी समय मुझ से न भिड़ जाये,' अतः भय होता है। इसी प्रकार से भय देते भी उसको हैं जो अपने से दूसरा होवे। एक बार जहाज में लोग जा रहे थे। भगवान् का एक भक्त और उसकी पत्नी भी जा रहे थे। अकस्मात् बड़ा जबर्दस्त तूफान आ गया। जब तेज़ तूफान समुद्र के वक्षस्थल पर आता है, तब बड़े-से-बड़ा जहाज़ वहाँ पत्ते की तरह काँपने लगता है! एक-एक फरलाँग ऊँची लहरें उठती हैं। उनमें जहाज ऊपर जाता है और लहर के साथ ही वापस आकर गिरता है। उसमें जहाज का बचना संभव नहीं होता। ऐसे भयंकर तूफान में सभी लोग भगवान् का स्मरण करने लगे। कोई जप करने लगा, कोई ध्यान करने लगा, कोई कीर्तन करने लगा। जो भगवान् का भक्त था वह आराम से बैठा हुआ था। उसकी पत्नी को बड़ा गुस्सा चढा, कहने लगी, ''तुम ऐसे तो बड़े भगवान् के भक्त बनते हो, फिर ऐसे समय में उनको याद नहीं करते! अगर जहाज डूब गया तो हम मर जायेंगे।'' वह उठा, उसने चाकू हाथ में लिया और अपनी पत्नी की छाती पर बैठ गया। बोला 'तू औरत होकर ऐसा मुँह फुलाती है, तुझे मार डालता हूँ।' तो पत्नी को हँसी आ गयी! पत्नी ने कहा, 'मरने तो जा ही रहे हैं, आप के हाथ से मरूँ, यह तो बहुत अच्छा है।' वह छाती से उतर गया। उसने कहा 'देख, मैं तुझे मारता हूँ तो तुझे डर नहीं लगता। इसी प्रकार से यदि भगवान् हम लोगों को यहाँ मारना चाहते हैं, तो इसी में हमारा कल्याण है। इसमें भय की क्या बात है! मैं तो समुद्र में तूफान लाया नहीं, भगवान् लाये हैं।' तब पत्नी समझ गयी। परमेश्वर को जब हम समझते हैं कि हमारा है, तब क्योंकि संसार में जो कुछ होता है वह बिना परमात्मा की इच्छा के होता नहीं अतः कभी भय करते नहीं, और जैसे खुद भय नहीं करते वैसे दूसरे को भी भय नहीं देते।

इसलिये जब मनुष्य सर्वत्याग करता है, संन्यास लेता है, तब वह 'सभी प्राणियों को मेरी तरफ से अभयदान है' – ऐसा निश्चय कर लेता है। वह याद रखता है कि 'जो बड़े-से-बड़ा नुकसान कर रहा है वह भी परमेश्वर की इच्छा के बिना तो कर नहीं रहा! इसलिये मै क्यों उसको भय दूँ? सर्वभूतात्मभूतात्मा परमात्मा ही उसमें बैठा हुआ उसको प्रेरित कर रहा है। अतः मैं उसको भय क्यों दूँ?' तो 'अभय' में दोनों ही हैं, किसी दूसरे को भय नहीं देना और स्वयं भयभीत नहीं होना।

प्रायः कहते हैं कि व्यवहार चलाने के लिये दूसरे को ज़रा भय दिखाना पड़ता है। इसमें

एक कहानी भी कह देते हैं। एक साँप था, उसके कारण वहाँ बच्चे बहुत भय खाते रहते थे। उधर से एक महात्मा आये। महात्मा ने साँप से कहा, 'भाई, ऐसा नहीं करो, बच्चों को क्यों डसते हो? तुम्हें चूहे, नेवले खाने हैं, उन सब को खाओ, बच्चों को क्यों नुकसान पहुँचाते हो?' उसने कहा, 'ठीक है।' उसने बच्चों की तरफ फन उठाकर दौड़ने की चेष्टा छोड़ दी। बच्चे, बच्चे ही ठहरे! जब देखा कि यह कुछ नहीं करता है, तो शुरू-शुरू में उसको लाठी से छेड़ा, फिर उसने कुछ नहीं किया तो पत्थर मारे। अब उसने तो मान ली थी महात्मा की बात इसलिये उसने कुछ प्रतीकार किया नहीं। खूना-खून हो रहा था, पर फिर भी शान्ति रखता था। थोड़े दिनों बाद महात्मा उधर से फिर निकले, तो साँप की बुरी हालत देख कर कहा, 'अरे! तुम्हारी इतनी बुरी हालत क्यों है?' बोला, 'जी ये बच्चे समझते नहीं हैं। मुझे कभी डन्डा, कभी पत्थर मारते रहते हैं।' उन्होंने कहा ' मैंनें तुझे इन्हें डसने का मना किया था, फुफकारने का मना तो किया नहीं था। थोड़ा फुफकार दिया कर, ये फिर डर जायेंगे।' इस दृष्टान्त को लेकर लोग कहते हैं कि दूसरे को यदि सर्वथा हम भय नहीं देंगे तो वे लाभ उठायेंगे।

किंतु द्वैत-दृष्टि से साधना करने वाले के लिये यह संभव है कि वह अपना फ़ायदा न उठवाने के लिये किसी को भय दे पर जो सर्वभूतात्मभूतात्मा का साक्षात्कार चाहता है उसे परमेश्वर की सर्वत्र उपस्थिति और सर्वप्रेरकता को निरन्तर याद रखना ही पड़ेगा तथा स्वयं में कर्तृत्व लाकर किसी को भयभीत करने का प्रयास भी छोड़ना ही पड़ेगा। सुख-दुःख का कारण अपना प्रारब्ध होता है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं- 'सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता परो ददाति इति कुबुद्धिरेषा' सुख और दुःख कोई दूसरे को नहीं देता। दूसरे से दुःख होता है यह तो कुबुद्धि है, गलत ढंग से सोचना है। शरीर अपने कर्मसूत्र से बना है। इसमें जो भोग भोगने हैं, वे निश्चित हैं। दूसरे के कारण भोग हो रहा है - ऐसा नहीं सोचना है। इसलिये मुझे यदि कोई पत्थर मारता है, तो उस समय मेरा दुःख का प्रारब्ध है, इसलिये मारता है, उसको हम क्यों दोष देवें! अतः पूर्ण अभय का अभ्यास तो तभी है जब मनुष्य फुफकारे भी नहीं। जब तक उस स्थिति में नहीं पहुँचता है तब तक फुफकार लेवे, लेकिन काटे तो हर हालत में नहीं। अभय को सबसे पहला साधन भगवान् ने बतलाया।

दूसरा साधन बतलाते हैं, 'सत्त्वसंशुद्धिः'। सत्त्व अर्थात अंतःकरण। अंतःकरण के द्वारा हम जो भी व्यवहार करते हैं वह शुद्ध होना चाहिये। हमारे सारे व्यवहारों का संकल्प पहले मन में उठेगा। शुद्ध भाव से व्यवहार करना सत्त्वसंशुद्धि है। किसी भी प्रकार से दूसरे को ठगना, धोखा देना, झूठ बोलना, ये सब जो अंतःकरण के अंदर अशुद्धियाँ आती हैं, उन अशुद्धियों से व्यवहार नहीं करना अंतःकरण की शुद्धि है। जैसा मन में है, वैसा ही वाणी में होवे, और वैसा ही क्रिया में होवे। इसलिये कहते हैं 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'। महात्मा लोग, मन में जो बात, वाणी में वही बात, क्रिया में वही बात - यह नियम रखते हैं। दुरात्माओं का लक्षण है, कि मन में कुछ है, वाणी से कुछ और कहेंगे,

करेंगे तीसरा ही काम! आजकल के नेताओं का भी यही लक्षण है। कोई शिकायत लेकर जाओ, तो ऐसे बात करेंगे कि बस अब तुम्हारा ही काम होने वाला है। फिर डालना उन्हें तुम्हारे ही काम में रोड़ा है! इस प्रकार का व्यवहार देवी संपत् वाला नहीं करेगा। साधक भी प्रयास-पूर्वक ऐसे व्यवहार से बचें।

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'। ज्ञान अर्थात् शास्त्र और गुरु जो कहते हैं उन अतीन्द्रिय आत्मादि विषयों के बारे में जानकारी। आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप ये सब प्रत्यक्षादि या प्रत्यक्षमूलक प्रमाणों से नहीं जाने जा सकते। जैसा गुरु और शास्त्र कहते हैं वैसा ही इनके बारे में निश्चय करना ज्ञान है। बार-बार ऐसा सोचने की आदत डालते हैं, तब निश्चय होता है। जैसे, हमने भूगोल में पढ़ा कि पृथ्वी घूमती है, पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य स्थिर है। भूगोल की किताब में तो पढ़ लिया, शायद पाँचवी-छठी में पढ़ा देते हैं, पर हमेशा क्योंकि हम लोगों को सूर्य चलता हुआ दीखता है, इसलिये मन में भ्रम बैठा रहता है कि सूर्य ही चलता है। जिसको भूगोल शास्त्र की ठीक अवगति प्राप्त करनी है, उसको बार-बार सूर्य को चलते देखकर अपने में भाव लाना पड़ेगा कि सूर्य नहीं पृथ्वी चल रही है। जैसे गंगा जी में नाव पर बैठ कर जाते हैं, तो किनारे के पेड़, किनारे के मकान, चलते हुए दीखते हैं। परन्तु इतने पर भी हमें निश्चय है कि हमारे चलने से ही ये चलते हुए दीखते हैं। रेल में जाते समय भी यही होता है। तार के खंबे, बिजली के खंबे, आते हुए लगते हैं। इतना ही नहीं, दिल्ली जाना है; दिल्ली पहुँचने पर हम प्रयोग भी यही करते हैं 'दिल्ली आ गयी!' दिल्ली आयी क्या? हम दिल्ली आये। परन्तु प्रतीति होती है कि दिल्ली आ गयी। इसी प्रकार से हमें, सूर्य में गति की प्रतीति होती है क्योंकि प्रत्यक्ष में यही दीखेगा। इसीलिये प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थों के बारे में शास्त्रीय संस्कारों को दृढ करना पड़ता है।

इसी प्रकार शास्त्र कहता है, 'आत्मा अचल है, आत्मा निष्क्रिय है।' आत्मा अर्थात् मैं, मैं के द्वारा जिसको कहा जाता है। हमें बार-बार अनुभव होता है, मैं गया, मैं आया, मैंने किया, मैंने खाया। तुम्हें 'मैं' यह सब करते हुए दीखता है। अतः तुमको अभ्यास करना है कि 'शरीर का जाना हो रहा है, शरीर के जाने से मुझ आत्मा में, अर्थात् अपने में जाने की प्रतीति हो रही है।' दीर्घकाल तक जब इसका अभ्यास करोगे तब स्थिर होगा। प्रायः थोड़ी देर मनुष्य याद रखता है, फिर भूल जाता है। 'व्यवस्थिति' अर्थात् उसमें निष्ठा वाला हो जाना। 'मैं अकर्ता अभोक्त ही हूँ, मन बुद्धि सब चलने वाले हैं शरीर को लेकर के, परन्तु मैं चलने वाला नहीं हूँ, मैं क्रिया वाला नहीं हूँ।' यों जैसा शास्त्र और आचार्य बतलाते हैं, वैसा ही निश्चय करना, वैसी ही निष्ठा करने में तत्पर होना दैवी सम्पत् के अंतर्गत विशेष गुण है।

ज्ञान-व्यवस्थिति के लिये आवश्यक है योगव्यवस्थिति। एकाग्रता के द्वारा जब अभ्यास किया जाता है, तब अपना अनुभव होकर हमें प्रतीत होता है। ज्ञान-व्यवस्थिति के अंदर तो श्रवण और मनन की आवृत्ति चाहिये, बार-बार गुरु से शास्त्र का श्रवण करना, और

स्वयं मनन करना। श्रवण और मनन से जिस चीज़ का निश्चय किया है, उसके अंदर एकाग्रता पूर्वक स्थित होना, समाहित होना योग है। अपने अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व भाव के अंदर, अपने निर्गुण निष्क्रिय भाव के अंदर, बार-बार एकाग्रता पूर्वक स्थित होना योग है। जैसे ही लगे कि 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' वैसे ही फिर श्रवण-मनन करो कि शास्त्र क्या कहता है, युक्ति क्या कहती है। फिर जैसे ही प्रतीति हो- 'मैं अकर्ता-अभोक्ता हूँ', वैसे ही उस भाव में स्थित हो जाओ। वहाँ से चित्त को चलने न दो। चल जाये, तो फिर श्रवणादि करो। यह है योगव्यवस्थिति। अन्यत्र शास्त्रकारों ने कहा है- 'अयोगी नैव जानाति' जिसने योग का अभ्यास नहीं किया, चित्त को बार-बार परमात्मा में स्थित नहीं किया, वहाँ से चलने दिया, उसको उस आनंद का पता ही नहीं लगता जो आत्मा के इस भाव में व्यवस्थित हो जाने पर आता है।

शुरू में तो लगता है कि हम लोगों को दो बातों से मज़ा आता है- या तो कुछ कर के मज़ा आता है, या पाकर, भोगकर मज़ा आता है। कोई बढ़िया स्वेटर बना लो तो चित्त बड़ा प्रसन्न होता है कि 'देखो, मैंने कितनी बढ़िया चीज़ बनाई!' या किसी चीज़ को भोग कर आनंद आता है 'क्या बढ़िया रसगुल्ला खाया, क्या बढ़िया दालमोठ खाया'। इसलिये अपने अकर्तृत्व -अभोक्तृत्व भाव में स्थिर होने में लगता है कि इसमें तो जीवन शुष्क हो जायेगा, किसी चीज़ का आनंद रहेगा ही नहीं। परन्तु बात ठीक इससे विपरीत है; करने और भोगने में जो आनन्द आता है वह भी तो अपने स्वरूप का आनंद है। करने-भोगने के बाद, हम अपने स्वरूप में क्षणमात्र को स्थित होते हैं, आनंद तो तब भी उसी से आता है। करते काल में आनन्द नहीं है, भोगते काल में भी आनन्द नहीं है। भोग की समाप्ति पर, या क्रिया की समाप्ति पर ही आनन्द आता है। स्वरूपानन्द क्रिया से या भोग से *प्राप्त* होने वाली चीज़ है नहीं। अतः अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व भाव परम आनन्द का स्वरूप हैं। यह निश्चय होने पर ही मनुष्य योग में व्यवस्थित होता है। पहले तो ज्ञान में व्यवस्थित होना मुश्किल, शास्त्र ऐसा कहता है - इस प्रकार का निश्चय होना मुश्किल। शास्त्र जो कहता है वही ठीक कहता है - पहले तो यही निश्चय नहीं होता; और यदि यह निश्चय हो गया कि शास्त्र यह कहता है और यही ठीक है, तो फिर यह निश्चय नहीं होता कि इस भाव में आनन्द आयेगा! उलटा लगता है कि यह तो जीवन को सुखा देगा, शुष्क कर देगा। इसीलिये योग में, अर्थात् उस भाव में स्थिरता, निरन्तर एकाग्र होकर लगना नहीं हो पाता। इसलिये भगवान् ने ज्ञानयोगव्यवस्थिति को आवश्यक सम्पत्ति में गिना।

आगे जितने लक्षण बतलायेंगे, वे सारे इन तीन के अंतर्भूत हो जाते हैं। अतः ये जो तीन हैं अभय, सत्त्वसंशुद्धि और ज्ञानयोगव्यवस्थिति - ये प्रधान दैवी सम्पत्ति हैं। इन तीन के अन्दर जो लोग स्थिर हो गये हैं, उनके अंदर आगे आने वाली दैवी सम्पत्ति स्वाभाविक ही होती है, स्वभाव से होती है। ये तीनों पूर्णतः तो ज्ञान-निष्ठा के बाद ही संभव हैं। मन की सर्वथा शुद्धि द्वैत-भाव के रहते होती नहीं। योग के अन्दर व्यवथिति भी इसीलिये नहीं

होती, कि उस परम-आनन्द का अपने को अनुभव नहीं हो पाता। आत्मज्ञान होने पर उस स्थिति के आनन्द का अनुभव हो जाता है। तब उसमें स्थिरता सहज होती है।

परोक्ष-अपरोक्ष अनुभवों का फ़र्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इंग्लैंड में एक कवि हुआ है वर्ड्स्वर्थ। वह प्रकृति का बड़ा प्रेमी था। वहाँ एक येरो नदी है जिसको बहुत सुन्दर माना जाता है, उसका वर्णन कई जगह आता है। कई बार उसके साथी जाते थे वहाँ घूमने के लिये, पर वर्ड्स्वर्थ नहीं जाता था क्योंकि वह सोचता था कि जैसा येरो नदी का वर्णन साहित्य में देखा है, वहाँ जाने पर वैसा तो मिलेगा नहीं! प्रायः ऐसा ही होता है। किसी स्थान के चित्र देखो तो स्थान बहुत हरा-भरा सुंदर लगता है पर जा कर देखो तो वैसा कुछ मिलता नहीं! इस विचार को प्रकट करने के लिये उसने एक कविता लिखी,'येरो अन्विज़िटेड' कि मैं क्यों येरो नहीं गया। उसमें कहा है कि 'यह नहीं कि वह सुन्दर है ऐसा मैं जानता नहीं हूँ, लेकिन वहाँ जाऊँगा तो वैसा नहीं मिलेगा जिससे कल्पना का सौंदर्य भी नष्ट हो सकता है।' फिर काफी समय के बाद एक बार उसके मन में आया कि 'अब बुड्ढा हो रहा हूँ, तो एक बार जा कर देख तो आना चाहिये!' वह गया। जो वर्णन उसने सब जगह पढ़ा था, उसकी अपेक्षा भी वहाँ की घाटी और ज़्यादा सुन्दर थी! तब उसने दूसरी कविता लिखी 'येरो विज़िटेड' उस में बताया कि वहाँ गया तो देखा कि सचमुच में वैसा ही सुंदर है जैसा वर्णन है, बल्कि उससे भी अच्छा है! उसके कुछ दिनों के बाद उससे रहा नहीं गया, वहाँ फिर गया तब उसने तीसरी कविता लिखी 'येरो रीविज़िटेड'। क्योंकि जितनी कल्पनाएँ उसने की थीं, उन सब से वह श्रेष्ठ था। इसी प्रकार जब शास्त्र के अन्दर हम देखते हैं, वर्णन सुनते हैं कि परमात्मसुख कैसा है, तब मन में होता है कि जैसे बाकी सुखों का लोग बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं, वैसे ही परमानन्द का होता होगा। असीम आनन्द थोड़े ही हो सकता है! इसलिये बहुत से लोग, निरन्तर उस तरफ जाने का प्रयत्न नहीं करते, सोचते हैं कि वहाँ रसगुल्ला तो मिलेगा नहीं, जा कर क्या करें! परन्तु एक बार भी योग में स्थिति होती है, थोड़ी देर के लिये चित्त एकाग्र होकर श्रवण-मनन के संस्कार वाले अंतःकरण से उसका आनन्द मिलता है, तो देखता है कि 'अरे! जैसा वर्णन था उससे कहीं ज़्यादा आनन्द है!' तो फिर बार-बार उसी स्थिति में जाने की प्रवृत्ति होती है। उस में जाने की अपेक्षा, और कहीं जाने की इच्छा ही नहीं रहती। प्रारब्ध-भोग के डण्डे से, थोड़ी-सी वृत्ति बहिर्मुखी भी होती है। जिस समय संसार की प्रतीति हो, उस समय उस आनन्द की प्रतीति नहीं होती है। संसार की प्रतीति के समय अपना परमात्म-भाव जाता नहीं है, वैसा ही रहता है; परन्तु वैसा परमानन्द आता नहीं! इसीलिये जिसने उसका अनुभव कर लिया, वह प्रारब्ध के कारण अनिवार्य व्यवहार कर लेता है, पर क्योंकि व्यवहार-काल में परमानंद-स्फुरण होता नहीं इसलिये जैसे ही प्रारब्ध-भोग का काल समाप्त हो वैसे ही वह फिर उसी समाहित स्थिति में चला जाता है। तब यह व्यवस्थिति स्वाभाविक हो जाती है। उससे पहले यत्नसाध्य है।

जब तक इसमें स्थिति नहीं हो, तब तक दैवी संपत् वाले में क्या भाव होते हैं व्यवहार

में? 'दानं'। दान-अर्थात् जो भी चीज़ है अपने पास, उसका शास्त्रोक्त जगह में इच्छापूर्वक निरन्तर विनियोग करना। शास्त्रविरुद्ध कार्यों में विनियोग करने की इच्छा उसमें बिलकुल नहीं रहती। दान लोभ का विरोधी है। इसलिये सामवेद में कहा, कि लोभ को दान से जीतो। लोभ – जहाँ शास्त्र कहता है धनादि का वहाँ उपयोग करने की प्रवृत्ति न होना, जो प्रत्यक्षादि से लगता है कि ठीक है, वहीं करना। जो भी अन्नादि है अपने पास, उस सबका शास्त्र में जहाँ कहा गया है उन्हीं स्थलों में विनियोग करना दान है। वर्तमान काल में, दान और दया का फ़र्क लोग नहीं करते। दया तो हम जिसे दुःखी देख रहे हैं उसके दुःखको दूर करने के लिये प्रवृत्ति करना है। हमने किसी को नंगा देखा, तो हमने उसे कम्बल दे दिया। दया में दुःख देखकर प्रवृत्ति है, देश-काल-पात्र की चिंता नहीं है। दान में इन सबका विचार आवश्यक है। आगे भगवान् कहेंगे, सात्त्विक दान करने के लिये तुमको पात्र का विचार करना पड़ता है क्योंकि, तुम्हारे दान का लोग दुरुपयोग करें तो ठीक नहीं। दया भी अच्छा गुण है, दया मन में आनी ही चाहिये, तदनुसार दुःख भी दूर करने की कोशिश करनी चाहिये, पर वह दान नहीं है। दान में पदार्थ का विनियोग करने के लिये सोच लेना चाहिये, कि 'मैं जो करने जा रहा हूँ, वह शास्त्र के अनुकूल है या शास्त्र के विरुद्ध है'। हम जो अनुभव करते हैं, वह बड़ा सीमित होता है; और शास्त्र जो विधान करता है वह आगे-पीछे की सारी व्यवस्था सोच कर बताया गया है। अतः सात्त्विक प्रवृत्ति के अन्दर दान को बतलाया। दान करने के लिये वेद कहता है 'श्रिया देयम्'। जैसी तुम्हारी सम्पत्ति है उसके अनुसार देना चाहिये – यथाशक्ति। जहाँ शास्त्र की दृष्टि न होवे, वहाँ लोग दृष्टि लेते हैं कि 'किसने कितना दिया'। 'अमुक की हज़ार की कलम है, तो मेरी कलम हज़ार के ऊपर नहीं जानी चााहिए'। परन्तु वेद कहता है- अपने पास जो श्री है, उसके अनुसार दान करना चाहिये! दान यथाशक्ति होना चाहिये। पात्र की योग्यता को देखना चाहिये। दत्त चीज़ का वह जैसा उपयोग करेगा उसके अनुसार दान अपना फल देगा। हमने एक को भोजन दिया, उसने जाकर वेद-पाठ किया; दूसरे को हमने अन्न दिया, पात्र का बिना विचार किये हुए, वह खाकर गया और घर में अपनी पत्नी को पीटने लगा; दोनों अन्नदानों का फल एक नहीं हो सकता इस चीज़ को पात्र के विचार से ही हम समझ सकते हैं। भगवान् भी कहेंगे, कि दान के लिये पात्र का विचार करना चाहिये।

'दमश्च'। दम का मतलब होता है कि जो अपनी बाह्य इन्द्रियाँ हैं, आँख कान नाक इत्यादि, उनको यथासम्भव प्रशान्त करे अर्थात् उनका संयमन करे। यह भी आजकल बड़ा कठिन है, क्योंकि हम लोग इन्द्रियों को खुली छूट देने को प्रशस्त मानते हैं, अच्छा मानते हैं। लोग टेलिविजन देखने में दलील देते हैं कि उसमें रामलीला का चित्र आता है। किन्तु रामायण देखोगे, तो ठीक उसके पहले विज्ञापन आयेगा, ठीक उसके बाद भी विज्ञापन आयेगा। विज्ञापन देखे बिना तो रामायण देख नहीं सकते। अतः इंद्रियों को किसी बहाने से भी बहिर्मुखता का मौका नहीं देना दैवी संपत् है। कर्मेन्द्रियों के बारे में भी यही है :

कर्मेन्द्रियों का भी दमन करना है। आजकल लोग यह भी कहने लग गये हैं कि इन्द्रियों का नियंत्रण करने से मन में ग्रंथियाँ बढ़ जाती है! आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने, जो भोगवादी हैं उन्होंने ऐसी सब बातें कहीं कि इन्द्रियों का संयम मत करो। भगवान् ने गीता में कहा है, 'इन्द्रियों का संयम करके मन से विषयों चिन्तन करता है तो मिथ्याचारी है।' भगवान् का कहना यह है कि मन का भी साथ में संयमन करो, आधुनिक लोग इसका अर्थ लेते हैं कि बाह्य इन्द्रियों का उपशम करने की ज़रूरत नहीं! चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हों, चाहे कर्मेन्द्रियाँ हों, उनको अधिक प्रवृत्ति से रोकना है, शान्त करना है।

'यज्ञश्च'। यज्ञ अर्थात् अग्नि की पूजा करना, अथवा देवता का पूजन करना, अथवा माता-पिता की पूजा करना। वैदिक यज्ञ, स्मार्त यज्ञ, अग्निहोत्र आदि सभी देवपूजाएँ यज्ञ के अंतर्गत समझ लेनी चाहिये। स्वभावतः यज्ञ में प्रवृत्ति दैवी सम्पत् है।

'स्वाध्यायः'। प्रधान अर्थ तो इसका है, स्व-शाखा का अध्ययन। प्रत्येक द्विज की, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की, एक स्व-शाखा परंपरा से निर्णीत है। उस शाखा का, उपनयन के समय से समावर्तन से पहले तक जो अध्ययन किया जाता है, उसको 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस विधि से करने के कारण स्वाध्याय कहते हैं। यदि सामर्थ्य हो तो अपनी सारी शाखा का अध्ययन करे, अगर उतना न कर सके तो केवल संहिता का अध्ययन करे। यदि उतना भी करने में असमर्थ है, तो जितने सूक्त अथवा अध्याय ग्रहण कर सकता है उतने ग्रहण करे। और अन्ततः कहा है कि जो इन सब में भी असमर्थ हो, वह केवल गायत्री के ग्रहण से ही, इस विधि की पूर्णता कर सकता है। वर्तमान काल में प्रायः परम्परा यह है कि स्वशाखा के एक या दो मन्त्रों का ग्रहण करा के, उसी समय अन्य शाखाओं के भी एक-एक मन्त्र का उच्चारण करा दिया जाता है। मनु ने कहा है कि अपना वेद तो पढ़े ही, समर्थ हो तो दो वेद पढ़े, ज़्यादा योग्य हो तो सब वेद पढ़े। अतः सब वेदों के एक-एक मंत्र ग्रहण करा देते हैं। उपनयन में विधि की पूर्णता तो अपनी शाखा के अध्ययन से ही होती है। उसी उपनयन के द्वारा अन्य सभी शाखाओं के अध्ययन का अधिकार भी प्राप्त हो जाता है। जितनी अपनी सामर्थ्य हो उतना अध्ययन करे। किंतु यह अध्ययन दृष्टार्थ है, इसका दृष्ट प्रयोजन है सार्थ वेद की प्राप्ति। यहाँ भाष्यकारने अदृष्टार्थ अध्ययन गिना है अतः ब्रह्मयज्ञ का स्वाध्याय नाम से कथन समझना चाहिये। ग्रहण किये वेद की प्रतिदिन जो आवृत्ति की जाती है वह ब्रह्मयज्ञ दैवी सम्पत् है।

वैसे, वेदमूलक शास्त्रों का अध्ययन भी इसके द्वारा प्राप्त हो जाता है। सारे वेदांगों सहित वेद का अध्ययन कर्त्तव्य है। याज्ञवल्क्य आदि ने कहा है कि चतुर्दश विद्यास्थानों का ग्रहण करना चाहिये। चतुर्दश विद्याओं में सनातन धर्म पूरी तरह से प्रतिपादित हो जाता है। चतुर्दश विद्यास्थान हैं चार वेद और छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। इसमें मीमांसा के द्वारा पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा दोनों ही आ जाती हैं। कुछ आचार्यों ने पुराण के द्वारा ही इतिहास का भी संग्रह कर लिया है। कुछ धर्म के आचार्यो ने अष्टादश

विद्या-स्थान भी माने हैं। तब इतिहास आदि की अलग गिनती हो जाती है। इन सब को पढ़ना और दुहराते रहना स्वाध्याय है। इसे स्वाध्याय इसलिये कहते हैं, कि इनके अन्दर ही 'स्व' का अर्थात् 'आत्मा' का पूर्ण प्रतिपादन हो जाता है। आत्मा के स्वरूप का भी इनमें प्रतिपादन है, उसके साक्षात्कार के साधनों का भी प्रतिपादन है। सारी उपासनाएँ भी इसमें आ जाती हैं। चूंकि ये सब अंततोगत्वा एकमात्र परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादक हैं इसलिये ये 'स्वाध्याय' शब्द से कह दिये जाते हैं। कुछ लोगों ने ऐसा माना है कि परमात्मा के विषय में जो अन्य लोगों के ग्रन्थ हैं, वे भी स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते हैं, परन्तु ऐसा स्पष्ट लेख नहीं है। अतः अन्य ग्रन्थों को 'मनन' के अन्तर्गत ही लेना ठीक है। स्वाध्याय के अन्तर्गत तो ये चौदह विद्यास्थान ही अधिकाधिक लिये जाते हैं क्योंकि ये साक्षात् परमात्मा का प्रतिपादन करने वाले हैं। अन्यों का अध्ययन उसी को स्पष्ट करने के लिये मनन रूप ही समझना चाहिये।

स्वाध्याय का एक अर्थ ही प्रतिदिन का वेद-पाठ है। क्योंकि जहाँ गृहस्थ के लिये, पंच यज्ञ कहे हैं, वहाँ ब्रह्मयज्ञ वेदपाठरूप है। ब्रह्म अर्थात् वेद। वेद का प्रतिदिन स्वाध्याय करने का नियम है। सर्वथा असमर्थ हो तो गायत्री के जप के द्वारा भी प्रतिदिन का स्वाध्याय सम्पन्न किया जा सकता है। जहाँ तक हो सके वहाँ तक तो ब्रह्मयज्ञ के रूप में वेद के सूक्तों का क्रमशः पाठ करना चाहिये। वेद का अध्ययन एक तो होता है वेदार्थ-ज्ञान के लिये और दूसरा पुण्य के लिये। पुण्य के लिये करने पर भी अर्थज्ञान तो होगा ही। दैवी संपत् वाला जो 'स्वाध्याय' करता है वह केवल अर्थ समझने के लिये नहीं, अदृष्ट के लिये करता है। इसलिये पाठ के नियमों को मानना पड़ता है। अर्थज्ञान के लिये तो तुम पैर लम्बे कर के भी बाँच सकते हो। चाहे प्रातः काल स्नान कर के, आसनादि पर बैठ कर पूर्वाभिमुख हो कर, वेद का अध्ययन करो, तब भी अर्थ का तो वैसा ही पता लगता है। पैर लम्बे करके पढ़ो तो भी अर्थ का ज्ञान वही होगा। दृष्टार्थ में तो फ़र्क नहीं है। परन्तु स्वाध्याय करने के, ब्रह्मयज्ञ करने के जो नियम बताये हैं उनसे करोगे तभी अदृष्ट, पुण्य पैदा होगा, अन्यथा अदृष्ट पैदा नहीं होगा। मनु ने कहा है कि अन्य सारी चीज़ों का परित्याग करने पर भी, वेद का परित्याग कभी न करे। इसकी अत्यन्त प्रधानता अदृष्ट के लिये है। वेद की तरह गीतादि के भी यथाविधि पाठ से पुण्य बताया है। गीता ब्रह्मसूत्रादि भी चाहे समझ लिये हों फिर भी इनका पुण्यार्थ पाठ करते रहना चाहिये। आजकल यह वातावरण बहुत बना हुआ है कि किताब अर्थ जानने के लिये पढ़ी जाती है। उसको मना नहीं कर रहे हैं, परन्तु गीता अथवा अन्य स्तोत्रादि को भी यदि अदृष्ट के लिये पढना है, तो जो नियम बताये हैं उनके अनुसार ही पढ़ना चाहिये। याज्ञवल्क्य महर्षि ने पाठ करते हुए सिर को न हिलाए, ज़्यादा धीरे-धीरे पाठ न करे, वर्णों को लम्बा खींचकर न बोले, ज़्यादा जल्दी न करे आदि बहुत नियम बताये हैं। इन सब नियमों के अनुसार जो पाठ करते हैं, वह अदृष्ट को उत्पन्न करता है।

'तपः'। जैसे दान को आगे गीता में तीन प्रकार का बतलाया है, वैसे ही सात्त्विक तप भी होता है राजस तप भी होता है और तामस तप भी होता है। यहाँ दैवी सम्पति में आने के कारण जो सात्त्विक तप बतलाया है वही करने के लायक है। शरीर, वाणी और मन तीनों से तप किये जाते हैं। शरीर का तप आगे भगवान् स्वयं बतलायेंगे देवता का पूजन, ब्राह्मणों का पूजन, गुरु का पूजन, अन्य श्रोत्रिय विद्वानों का पूजन, ये सब शरीर के तप हैं। प्रायः करके अन्य मत-मतान्तरों को देख कर लोग समझते हैं कि बस शरीर को तरह-तरह से कष्ट देने से ही तप होता है, परन्तु उत्तम तप ये सब हैं : देवादिपूजन, बाह्य शौच का अभ्यास करना, आन्तर शौच का अभ्यास करना, इत्यादि। आसुरी सम्पत्ति वाले शौच का अभ्यास नहीं करते। बाह्य शौच भी इनका नहीं होता और जब बाह्य शौच ही नहीं रखेंगे तो आन्तर शौच क्या रखेंगे! ऐसे शौच-रहित जो मत-वादी हैं उनके तप को हमारे यहाँ सात्त्विक तप में नहीं गिना गया है। यह ठीक है कि जैनी आदि लोग कष्ट बहुत सहन करते हैं, अन्न-पानी छोड़कर मरने तक का कष्ट सहन करते हैं, खूब तड़प लेते हैं। सामान्य लोग, जो नहीं जानते तप के रूप को, वे समझते हैं, कि ये बड़े भारी तपस्वी हैं! परन्तु ये सब दैवी संपत् के, सात्त्विक तपों के अन्तर्गत नहीं आते। इसी तरह से हमेशा सत्य बोलना, जो बात कहनी होवे वह पूरी तरह से कहना, उसमें कुछ छिपा कर न रखना, इत्यादि सब वाणी के तप हैं। मन को हमेशा प्रसन्न रखना, कभी भी विषादी न होना, हमेशा दूसरे से व्यवहार करते समय नरमाई का व्यवहार करना; मन से हमेशा वेदार्थ का चिन्तन करना और उसमें वेदार्थ को पुष्ट करने वाली युक्तियों का विचार करना – ये सब मानस तप भगवान् आगे बतलायेंगे। तप से यहाँ, शरीर वाणी और मन के सात्त्विक तपों का ग्रहण है।

'आर्जवम्'। हमेशा सरल भाव रखना, कुटिल भाव से बचना। कुटिलता का मतलब है, कि हम समझते कुछ हैं, और इस ढंग से भाषा का प्रयोग करते हैं कि सामने वाला हमारी बात को गलत समझे। यही कुटिलपना है। किसी से कोई बात छिपा कर कहना भी कुटिलपना है। 'आर्जवम्' अर्थात्, हमेशा मन और वाणी के अनुसार ही आचरण रखना, सरलता।।१।।

और गुण बताते है जो दैवी संपत् में हैं-

अहिंसा सत्यम् अक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा, सच बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शांति, चुगली न करना, भूतों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचपलता (ये भी दैवी संपत् के गुण हैं)।

'अहिंसा'। सामवेद में कहा है कि जहाँ वेद ने आज्ञा दी है, उन स्थलों को छोड़कर अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करना अहिंसा है। हिंसा का मतलब दूसरे को पीडा देने का संकल्प करके कुछ करना। लोक में हिंसा का अर्थ प्रायः केवल मार डालना समझा जाता

है। दूसरे को नहीं मारा तो अहिंसा है। सबसे बड़ा कष्ट किसी को यही दे सकते हो कि उसे जीवन से दूर कर दो। राजा भी सबसे बड़ा दंड यही मानता है कि फाँसी दे दी। इसके आगे तो और कुछ नहीं कर सकते। अहिंसक को वह हिंसा तो नहीं ही करनी है परन्तु हिंसा का मतलब केवल वही नहीं है। किसी भी प्रकार से प्राणी को पीडा नहीं देनी है। गुरु शिष्य को पढ़ाता है तो शिष्य को पीडा देता है, कान भी पकड़ता है, थप्पड भी मारता है, मुर्गा भी बना देता है, किंतु ये सब हिंसा के अन्तर्गत नहीं आते। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ शास्त्रों ने आज्ञा की है, उनको छोड़ कर के, अन्यत्र कहीं पर भी किसी भी प्राणी को पीडा न देना अहिंसा है।

'सत्यम्'। व्यास जी ने सत्य का अर्थ किया है, 'सते हितं, सत्यं' जो हितकारी वाक्य होता है, वही सत्य है। अहित के लिये जो कहा जाता है, जिससे नुकसान हो इसलिये कहा जाता है वह सत्य के अन्तर्गत नहीं है। यहाँ तक कहा है कि 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्' यथार्थ कह देना मात्र सत्य नहीं, वह प्राणी के हित में भी होना चाहिये। सत्य बोले, लेकिन इस ढंग से बोले कि सामने वाले व्यक्ति को प्रिय लगे। सत्य भी यदि ऐसा है कि दूसरे व्यक्ति को प्रिय नहीं लगता है, तो उसको कहने की कोई ज़रूरत नहीं है। दूसरे को खुश रखने के लिये झूठ भी नहीं बोलना है। ऐसा सत्य जो प्रिय न होवे वह भी न बोलो, और जो प्रिय लगे और झूठ होवे वह भी न बोलो। सत्य प्राणियों के कल्याण के लिये होवे। जिसको कह रहे हो उसके लाभ के लिये होवे। जैसा तुमने समझा है उसके अनुसार हो, और सुनने वाले को प्रिय हो। अतः भाष्य में कहा 'सत्यम् अप्रियाऽनृतवर्जितं यथाभूतार्थवचनम्' यह समझ लेना चाहिये कि कोई भी चीज़ कैसी है इसका निर्णय तो बड़ा कठिन है। अतः यथाभूत का मतलब है, जैसा तुमने समझा है, तुम्हारे अंतःकरण में जैसा बोध हुआ है। यदि तुमको कोई भ्रम-ज्ञान हुआ है, तुमने रस्सी में साँप देख लिया, फिर तुमने किसी से कहा कि 'अरे, वहाँ साँप है', तो तुम झूठ बोल रहे हो यह नहीं कहा जा सकता। तुमने तो उसको साँप जानकर साँप कहा। पर यदि तुमको पता हो कि यह रस्सी है और फिर दूसरे को डराने को कहते हो 'साँप है' तब वह झूठ हो जाता है। जैसा तुम्हारे अंतःकरण में है उसके अनुसार ही वचन बोलना और इस दृष्टि से बोलना कि वैसा ही सामने वाला समझे, सत्य है। कई बार लोगों का कहना रहता है कि इतना सोच कर बोलेंगे, तो फिर बोल ही क्या पायेंगे? क्योंकि हम लोगों के जीवन में अधिकतर वाणी का प्रयोग होता है, गप्पें मारने के लिये। और गप्प मज़ेदार तभी हो सकती है जब उसमें थोड़ा बहुत झूठ साथ में मिले, नहीं तो मज़ा ही नहीं आता! जो दैवी सम्पत्ति चाहता है, उसको इस प्रकार बोलने से तो दूर ही रहना पड़ेगा।

'अक्रोधः' दूसरा हमारे साथ गाली गुफ्तार करे, मार-पीट करे तो मन में एक वेग आता है उसका विरोध करने का, उसको क्रोध कहते हैं। अक्रोध का अभ्यासी मन में उस क्रोध को वहीं पर शान्त कर देवे। 'प्राप्तस्य क्रोधस्य उपशमनं'। इसलिये यहाँ अक्रोध का

मतलब, निषेधार्थक नहीं ले लेना कि क्रोध का न होना। आदमी गहरी नींद में सो रहा है, क्रोध नहीं कर रहा है, तो क्या वह दैवी सम्पत्ति का कार्य कर रहा है? अक्रोध एक ऐसा भावात्मक प्रत्यय है जो दूसरे के द्वारा हमारी ताडना करने पर, गाली-गुफ्तार करने पर, मन में आने वाले वेग वहीं शान्त करने वाला है। विचार की वृत्ति मौजूद रहती है, तो क्रोध को वहीं शांत कर देती है। इसलिये भगवान् कह आये हैं (५.२३) कि शरीर छूटने के पहले जो काम-क्रोध का वेग सहने में समर्थ है वही सुखी है। शरीर छूटना चाहे ज्ञान से हो, 'मैं शरीर नहीं हूँ', ऐसा ज्ञान हो जाता है तब भी शरीर से छूटते हैं; अथवा जब मर जाते हो तब शरीर से छूट जाते हो। दोनों ही हालतों में शरीर के छूटने से पहले यह सामर्थ्य पानी है। अनादि काल से जो संस्कारों का प्रवाह है, उससे काम-क्रोध का वेग तो आता है। परन्तु उस वेग को जो वहीं पर अंतःकरण में विरोधी विचार की वृत्ति के द्वारा खत्म कर देता है वह सुखी है। जब शरीर से अध्यास हट गया - चाहे मर कर हट गया, चाहे ज्ञान से हट गया - उसके बाद तुम्हारे शरीर से कोई गाली-गुफ्तार या पिटाई करे, तो तुम्हारे में क्रोध आयेगा नहीं। इसलिये उसके बाद उसके वेग का उपशमन नहीं करना है, उसके बाद तो वह पैदा ही नहीं होगा। परन्तु जब तक शरीर के साथ अध्यास है, तब तक अनादिकाल के संस्कार से काम-क्रोध पैदा तो होंगे, परन्तु वहीं विचार के द्वारा उन्हें शान्त कर दिया जाता है। क्रोध प्राप्त होने पर उपशमन करना अक्रोध है। अतः अक्रोध भावात्मक वृत्ति है।

इसके दोनों उपाय सम्भव हैं: एक तो यह चिंतन कि 'जिसने विक्षेप किया है उसके अन्दर विद्यमान परमात्मा की सत्ता के कारण ही, मेरे पापों ने उदय होकर फल देने के लिये उसको औजार बनाया है। अतः इस पर क्रोध करना व्यर्थ है। गलती उसकी तो है नहीं। मेरे पाप कर्मों को फलीभूत करने के लिये उसमें विद्यमान परमात्मा ही उससे यह करवा रहा है।' और दूसरा यह विचार कि जो भी उसने गालीगुफ्तार या मारपीट की है वह शरीरादि के या मन के साथ की है। शरीरादि और मन मेरा कितना नुकसान वैसे ही कर रहे हैं। उनके कारण ही सारे पापों में प्रवृत्ति होती है। अतः शरीरादि मेरे दुश्मन ही हैं। दुश्मन का दुश्मन तो मित्र होता है! अतः शरीरादि के साथ दुश्मनी की, तो व्यक्ति हमारा मित्र ही हुआ। और स्वयं अपने आप के साथ, आत्मा के साथ, तो कभी कोई शत्रुता कर ही नहीं सकता! इन दोनों प्रकार के विचारों को जाग्रत् रखने वाला क्रोध के वेग सहन कर लेता है।

'त्यागः'। त्याग का यहाँ मूल अर्थ है संन्यास, क्योंकि धन सम्पत्ति इत्यादि को छोड़ना तो दान से ही आ गया। खुद छोड़ोगे तभी तुम अपनी सम्पत्ति या धन किसी दूसरे को दोगे। अतः धनादि का तो दान ही है। परन्तु एषणाओं का त्याग ही होता है, उनका दान नहीं किया जाता! अपनी जो तमन्नाएँ हैं, अपनी जो कामनाएँ हैं, वे तो किसी दूसरे को तो काम में लेनी नहीं हैं कि हम किसी को दें और वह ले। इसलिये एषणात्रय का त्याग करके सर्व-कर्म-संन्यास करना यहाँ त्याग का प्रधान अर्थ है। परन्तु जो उतना करने में असमर्थ हो, तो कम-से-कम कर्मफल का त्याग करे। प्रायः करके पद्धतियों के अनुसार, जब कोई

भी पण्डित जी तुमसे कोई भी कर्म करवाते हैं, तो जब कर्म समाप्त होता है, तब तुमसे बुलवा देते हैं– 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' जो हमने कर्म किया है यह भगवान् के अर्पण है। किन्तु लोग इसे मुँह से कहते मात्र हैं, फल तो चाहते ही हैं। कुछ तो समझते हैं कि अर्पण करने से भगवान् ज़्यादा फल दे देंगे! तब भी त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्यागों को यहाँ नहीं कह रहे। कर्ममात्र का त्याग न हो सके तो यह निश्चय तो करे ही कि 'कर्मफल मुझे नहीं चाहिये, भगवान् को अर्पण है'।

'शान्तिः'। पहले 'दम' कह आये हैं। दम से इन्द्रियों का दमन बतला दिया। अतः यहाँ शान्ति के द्वारा मन का शमन, मन का निग्रह विहित है। परमात्म-प्राप्ति के साधनों में शान्ति, दान्ति, उपरति, (उपरति यहाँ त्याग से कह ही दी) तितिक्षा, (इसको तप के द्वारा कह ही दिया) समाधान (इसे ज्ञानयोगव्यवस्थिति के अंतर्गत कह दिया) कहे हैं। शम को शान्ति से कहा गया है। जैसे इन्द्रियों का दमन करना है वैसे मन का निग्रह करना है। मन का निग्रह मायने क्या? मन की उपशान्ति मायने क्या? मन को अशान्त करने वाली है विषय-इच्छा। किसी भी पदार्थ की इच्छा होने से ही मन में अशान्ति आती है। परमात्मा के सिवाय और किसी की भी इच्छा न करना शांति का उपाय है। जो हम चाहते हैं, वह सब केवल परमात्म-विषयक ही हो। इसीलिये अभ्यास कराने के लिये कहा जाता है कि जो भी तुम बनाओ भगवान् के भोग के लिये बनाओ, अपने लिये नहीं। बनाने में प्रवृत्ति तो कर ही रहे हो, परन्तु भावना रखो कि किसी भी परिस्थिति में 'जब तक वह भगवान् के द्वारा स्वीकृत न हो जाये तब तक मैं ग्रहण न करूँ'। रसगुल्ला खाऊँगा, रबड़ी के मालपुए खाऊँगा, तभी जब परमात्मा को मैंने भोग लगा दिया, उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसीलिये भोजन बनाते समय चीज़ में नमक ज़्यादा है, कम है, मिर्च ज़्यादा है, कम है, इसका परीक्षण स्वयं नहीं करते। संसार में बाकी सब लोग पहले चख कर देख लेते हैं परन्तु जो दैवी सम्पत्ति वाले हैं वे पहले उसको खुद नहीं चखेंगे। भगवान् को भोग लगा कर तभी चखेंगे, तभी खायेंगे, तभी ग्रहण करेंगे। इसी प्रकार अच्छी से अच्छी सुगन्धि है, वह पहले भगवान् को चढ़ाते हैं, फिर उसको ग्रहण करते हैं। दिवाली के पूजन में खील व बतासे चढ़ाते हैं क्यों कि तब प्रधान रूप से चावल और गन्ने की खेती होती है। चावलों के खीलें बना कर और गन्ना हो सके तो गन्ना, न हो सके तो बताशे इत्यादि बनाकर पहले भगवान् को चढ़ा देंगे तब ग्रहण करेंगे। जो आया हुआ अनाज है उसका ग्रहण तभी करेंगे, जब पहले दीवाली के दिन भगवान् को चढ़ा देंगे। प्राचीन काल में जब यज्ञ प्रधान था, उस समय इसको 'नवसस्येष्टि' कहते थे – नया जो धान आया है, उसको पहले 'इष्टि' (यज्ञ) द्वारा देवताओं को चढ़ा कर फिर स्वयं लेते थे। अपने यहाँ भारतवर्ष में प्रधानतः दो खेती होती हैं – वासन्तान्न और शारदान्न। आजकल उसको उर्दु में रबि और खरीफ कहते है। वसन्त में गेहूँ, जौ, प्रधान रूप से पैदा होते हैं। उन्हें भगवान् को चढ़ाने के लिये 'होला' जलाते हैं इसी लिये उसको होली कहते हैं। अनाज को पहले भूनते हैं और तब उसका ग्रहण करते

हैं, उसके बाद ही आये हुए अनाज का प्रयोग करेंगे। जैसे कहा, कि पहले नवसस्येष्टि यज्ञ कर लिया करते थे, अब उसका रूप रह गया कि वहाँ ले जाकर भून लिया करते हैं, हर हालत में दृष्टि यही है कि भगवदर्पण करने के बाद ही ग्रहण करें। बंगाल इत्यादि के अंदर बेर तब तक नहीं खाते, जब तक सरस्वतीपूजा पर पहले सरस्वती को नहीं चढ़ा देते। इस प्रकार से नियम रखना चाहिये कि पहले भगवान् को चढ़ाओ, तब ग्रहण करो। नतीजा यह होता है कि धीरे-धीरे, हमारी कामनाएँ परमेश्वर को विषय करने लगती हैं, कि हम परमेश्वर के लिये करेंगे, उनकी प्रसन्नता के लिये करेंगे, वस्तु हमें मिल जायेगी, वह बात दूसरी है। विषयों की कामना को तुरन्त तो समाप्त कर नहीं सकते। उसको शान्त करने का तरीका यह है कि विषयों को चाहो, लेकिन परमेश्वर के प्रसाद के द्वारा चाहो। यह उपशम का ही अभ्यास है। इससे जो ऐसे विषय हैं जिनको परमेश्वर को नहीं चढ़ा सकते, स्वाभाविक रूप से उनसे दूरी होती जायेगी।

'अपैशुनम्'। पिशुनता का मतलब होता है चुगली करना। चुगली का मतलब है, किसी की ग़लती को किसी अन्य को बताना। जिसकी ग़लती है, उसको बताना कि 'यह तुम्हारी ग़लती है', यह पिशुनता नहीं है। परन्तु देवदत्त की गलतियाँ यज्ञदत्त को बतलाना पिशुनता है। मनुष्य यह दो कारणों से करता है। एक तो, जिसकी गलती बतला रहा है, उसके बारे में सामने वाले की दृष्टि हीनता की हो जाये कि वह आदमी इतना अच्छा नहीं है। और दूसरा यह भी होता है – प्रायः अपने दुश्मन की कोई बुराई सुनावे तो अपने को बड़ा अच्छा लगता है, प्रिय लगता है। इसलिये उस व्यक्ति की प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिये, उसके दुश्मन की ग़लतियों को उसके सामने प्रकट करते हैं। ये दोनों ही दृष्टियाँ, सब प्राणियों में आत्मदर्शन की इच्छा रखने वाले के लिये अनिष्ट हैं। दोनों दृष्टियों में, यह प्रश्न करो कि यदि मेरे प्रति कोई ऐसा करता तो क्या मुझे प्रिय लगता? और जो चीज़ मुझे प्रिय नहीं लगती उस चीज़ को मैं अब करूँ, यह ग़लत बात है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। जो अपने को प्रतिकूल लगता है, अच्छा नहीं लगता है, वह कभी किसी दूसरे के साथ न करे। पिशुनता अपने को तो अच्छी लगती नहीं लेकिन दूसरे के लिये हम करते हैं। इसका अभाव जीवन में होना, दैवी सम्पत्ति का लक्षण है।

'दया'। दुःखी प्राणी का उपकार करने की भावना को दया कहते हैं। जैसे दान, दैवी सम्पत्ति का स्वरूप है वैसे ही दया भी दैवी सम्पत्ति का स्वरूप है। दान में देश, काल, पात्र, की श्रेष्ठता का विचार किया जाता है, दया में देश, काल, पात्र की क्षेष्ठता नहीं देखी जाती, दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करना ही मुख्य है। जिस देश में उसको दुःख है, उसी देश में उसका दुःख दूर करना है। इसी प्रकार, जिस काल में है, उसी काल में दुःख दूर करना है। फाल्गुन के महीने में किसी को ठंड लग रही है, ठंड से काँप रहा है, तो गर्म कपड़े का दान माघ में करना श्रेष्ठ माना गया है इसलिये बारह महीने बाद उसे कम्बल देना दया नहीं है! दया में ऐसे काल का विचार नहीं किया जा सकता, कि श्रेष्ठकाल कब आयेगा अथवा

किसी व्यक्ति को यहाँ प्यास लगी हुइ है और कुरुक्षेत्र में दान का महत्त्व है तो उसे वहाँ ले जाकर पानी पिलाना दया नहीं है। दान में यह सब विचार होता है कि श्रेष्ठ देश होवे, श्रेष्ठ काल होवे, श्रेष्ठ पात्र होवे। परन्तु दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करना तो उसी देश–काल में और उसी व्यक्ति का पड़ता है। इसलिये दया से दान को अलग बतलाया। हैं दोनों ही दैवी सम्पत्ति के स्वरूप।

'अलोलुप्त्वम्'। लोलुप्त्व का मतलब होता है, इन्द्रियों के सामने उत्तम विषय के आने पर जो यह विकार उत्पन्न होता है कि 'यह तुरन्त मेरा हो जाये'। कई बार तो नींबू के अचार को थाली में देखकर और उसकी सुगंधि सूंघ कर अपनी जीभ में पानी आने लगता है। यह सब लोलुपता का स्वरूप है। विषय की सन्निधि में इन्द्रियों के अंदर विकार का न होना - अलोलुप्ता है। किसी दूसरे की बहुत अच्छी गाड़ी देख कर भी, ''हाय! यह गाड़ी मेरी हो जाये, मेरी होती तो कितना अच्छा था'' - झट ऐसी विक्रिया होती है; इच्छा करते हैं 'यह गाड़ी बेच कर के वह गाड़ी खरीद लेवें'– यह लोलुपता है। विषय–सन्निधि में अविक्रिय रहना दैवी संपत् है। विषय सन्निधि में न होवे और याद आवे - वह तो अशांति है जिसे शान्ति से, शम से ही रोका जाता है। जिस समय विषय सन्निधि में है, विषय तुम्हारे भोग का साधन बना हुआ है, अर्थात् तुम रसगुल्ला खाने जा रहे हो, तुम्हारे सामने सकोरा आ गया। तब उतावल आदि विकार लोलुपता है। अथवा कोई और खा रहा है, उसे देखकर इन्द्रियों में विकार आना भी लोलुपता है। जब रसगुल्ला खा रहे हो, तब 'इस प्रकार के रसगुल्ले की मुझे हमेशा प्राप्ति होवे', इसे तो 'दम' के द्वारा रोक लिया गया। दूसरा कुछ देने आया है, उसमें कोई चीज़ तुमको स्वादिष्ट लगती है, तो 'यह हमें दे देवे' - इस भावना का होना, तो दम से ही रुक जाता है। लेकिन जहाँ विषय–सन्निधि है, केवल वह भोग के लिये प्राप्त नहीं हुआ, उस समय में इन्द्रियों में विकार का न होना अलोलुपता है। इन्द्रियों में विकार भोगकाल में भी होता है, और विषयदर्शन मात्र से भी हो जाता है, श्रवण मात्र से भी हो जाता है। श्रवण मात्र से न हो - यह तो शान्ति के अंदर आ जायेगा। लेकिन विषय–सन्निधि में जो विकार पैदा होता है उसको रोकना, अलोलुप्ता है।

'मार्दवं' हमेशा मृदु व्यवहार, कोमल व्यवहार करना, क्रूरता–पूर्वक व्यवहार न करना। बहुतों की आदत ही ऐसी हो जाती है कि बात ग़लत नहीं कहते हैं, पर हमेशा क्रूरता से कहते हैं जिससे सामने वाले को कष्ट होता है। बात उन्होंने खराब नहीं कही है, पर मार्दव नहीं है, मृदुता नहीं है। बोलने का हमने एक दृष्टांत बताया, सभी व्यवहारों में मृदुता रखना दैवी संपत् है। रास्ते में जा रहे हैं, बस के सामने लाइन में खड़े हैं, जैसे ही बस आई वैसे ही फटाफट दूसरों को धक्का मारकर बस में घुस जाओ - यह कोई मृदु व्यवहार नहीं है। चाहे वाणी से हो, चाहे शारीरिक व्यवहार से हो, दैवी प्रकृति वाले में सदा कोमलता रहेगी, मृदु–भाव रहेगा, कठोरता नहीं रहेगी।

'ह्रीः' अर्थात् लज्जा। पहले तो हम लोगों के समाज में लज्जा बड़ी मान्य चीज़ थी। ह्री

अर्थात् ग़लत काम करने से मनुष्य के अन्दर जो एक शर्म आती है कि 'अरे! यह मुझ से क्या हो गया।' तथा जिसके कारण व्यक्ति ग़लत कार्य करने से स्वयं को रोक लेता है कि 'नहीं–नहीं, मैं ऐसे कैसे कर सकता हूँ!' कुलीन व्यक्ति में लज्जा स्फुट होती है।जो सत्पुरुष होते हैं, वे चूंकि सच्छास्त्र का सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये उनके अंदर तो श्रद्धा होती है कि शास्त्र जो कहता है वही ठीक है। परन्तु जो ऐसे शास्त्रज्ञ नहीं हैं, उनके अनेक सही व्यवहारों को तो लज्जा सिद्ध कर देती है। जो अच्छे कुल में उत्पन्न हुए लोग होते हैं, उनके अंदर ग़लत कामों के प्रति लज्जा है। शास्त्रज्ञान के द्वारा उनको यह तो पता नहीं है कि ऐसा क्यों करना चाहिये, ऐसा क्यों नहीं करना चाहिये, पर इतना जानते हैं कि 'ऐसा हम लोगों में नहीं करते', करने में शर्म आती है। हिन्दुओं की संस्कृति में ऐसा था कि ब्राह्मण यह कर सकता है, यह नहीं कर सकता है। पहले–पहल जब लज्जा छूटने लगी, तब धनादि कमाने के लिये ब्राह्मण कहीं जाकर नौकरी करता था, और अगर अकार्य (जो उसके नहीं करने लायक काम है) करने में ज़्यादा पैसा मिलने से वह काम करता था, तो परिचितों से छिपकर ही करता था। सोचता था कि 'गाँव वालों को पता न लग जाये कि मैं ऐसा करता हूँ'। अकार्य करने से ही लज्जा आना श्रेष्ठ है। ह्री वास्तव में तो वही है। लेकिन कम–से–कम दूसरे को पता न लगे - इतनी लज्जा भी है तो बहुत बार बच जाते हो। जब लज्जा नहीं रहती तब कुलादि की मर्यादाओं का पालन छूटता जाता है और व्यक्ति धीरे–धीरे अनीति, अधर्म में प्रवृत्ति को स्वयं रोकने में असमर्थ हो जाता है। अधिकतर लोगों में यह भाव आ जाये तब समाज सर्वथा ह्री–रहित हो जाता है, लज्जा से रहित हो जाता है। एक महात्मा सिनेमा के टिकट की पंक्ति में खड़ा था, एक परिचित ने पहचान कर उसे चेताने के लिये प्रणाम किया, फिर भी महात्मा 'सिनेमा देखने जा रहा हूँ' इससे लज्जित न होकर बोला 'ये लोग हमें भी टिकट देने में देर करते हैं!' तो एक बार जब आदमी की ह्री चली जाती है 'हमको क्या–क्या नहीं करना है' यह विवेक चला जाता है, तो फिर उसका बचना बहुत कठिन हो जाता है।

'अचापलम्'। चपलता - बिना किसी प्रयोजन के क्रियाशीलता। नियम तो यह है कि सामान्य बुद्धि वाले को भी किसी प्रयोजन को सामने रखकर ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। शरीर की प्रवृत्ति, इन्द्रियों की प्रवृत्ति, मन की प्रवृत्ति का हमेशा कोई प्रयोजन होना चाहिये। प्रयोजन न रहने पर भी जो इन्द्रियों का व्यवहार करते हैं वह चपलता है। कई लोग प्रयोजन–रहित शब्दों का प्रयोग करते हैं। पहले पहल उनसे बात करो तो वे कुछ कह कर कहेंगें, 'क्यों?' तुम सोचोग कुछ जवाब देवें। वे तो बिना रुके बात चलाते जायेंगे, फिर बोलेंगे 'क्यों?' तब तुमको पता लगता है कि इनका "क्यों" किसी अर्थ वाला नहीं है, केवल चपलता है। इसी प्रकार से शरीर के सभी अंगों के प्रति समझ लेना चाहिये। खाने में भी चपलता समझ लेनी चाहिये : शरीर को जो भूख है, या शरीर को जो आवश्यकता है, वह इसको खिलाना है, वह तो प्रयोजन है। परन्तु पेट भरा हुआ है, सामने कोई चाट आ गयी, तो लगता है 'क्या

करें! खाना ही है'। प्रयोजन नहीं है, भूख नहीं है, पेट भरा हुआ है, उसमें ऐसा कोई तत्त्व भी नहीं है जो खाना ज़रूरी हो, फिर भी खाते हैं, यह चपलता है। जिसे साधारणतः सब्ज़ी खाने को नहीं मिलती उसे किसी भोज आदि में यथेष्ट सब्ज़ी खाने का मौका मिलने पर वह पेट भरने के बाद भी खाये तो प्रयोजन समझ आता है कि शरीर की आवश्यकता पूरी कर रहा है। परन्तु हम जब भोजन के बाद चाट खाते हैं तो ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन के बिना किसी भी प्रकार के व्यापार में प्रवृत्त न होना अचपलता है।।१२।।

दैवी संपत्ति के बीस गुण गिना दिये। बाकी छह गुण गिनाते हैं –

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

प्रगल्भता, क्षमाशीलता, धैर्य, सफाई, किसी को मारने की अनिच्छा, स्वयं को अतिपूज्य न समझना – भावी कल्याण के उद्देश्य से पैदा हुए लोगों में (अभयादि) ये सब गुण होते हैं।

'तेजः'। तेज का मतलब है प्रगल्भता, कोई भी प्रश्न उपस्थित हो तो तुरन्त उसका जवाब देने की सामर्थ्य। दैवी सम्पत्ति का प्रकरण है इसलिये ऐसा भाव है अन्यथा, क्षत्रियों के प्रसंग में तेज का अर्थ होगा, दूसरा जिस अस्त्र का प्रयोग करे, उस अस्त्र को काटने की क्षमता होना। यहाँ ठीक उत्तर देने की सामर्थ्य होना तेज है। यह सामर्थ्य दो प्रकार से आती है। एक तो चित्त की एकाग्रता से; जब कोई आदमी बात कहता है, तब बड़े ध्यान से कान से भी सुनो और उसके मुखादि विकारों को भी साथ में ही देखो। क्योंकि प्रायः कई चीज़ें ऐसी होती हैं जो शब्द से प्रकट न होने पर भी मुख के भाव से प्रकट होती हैं। एकाग्र चित्त से, जो उसने कहा है उसके ऊपर सारा ध्यान केन्द्रित होगा, तो प्रायः प्रश्न का हल भी उसी के पेट में होता है! एकाग्र चित्त होने से वह समाधान समझ में आता है। परन्तु साथ में दूसरी बात यह ज़रूरी है कि तुमने बहुत मनन किया होवे, अर्थात् जो तुम्हारा विषय है उसके बारे में सम्भव जितने विरुद्ध पक्ष हैं वे भी तुमने विचार कर लिये हों। तभी प्रश्न का सही भाव जानकर उचित उत्तर स्फुरित होगा। चाहे जितना मनन करो लेकिन अगर सामने वाले के प्रश्न के ऊपर चित्त एकाग्र नहीं करोगे तो पहले प्रश्न का अभिप्राय ही नहीं समझोगे और फिर असम्बद्ध उत्तर दे दोगे। तुम्हारे वैदुष्य से, तर्कबल से प्रष्टा चुप तो हो सकता है पर तुम जो कहना चाहते हो, वह उसे हृदयंगम नहीं होगा, उसको जँचेगा नहीं, उसको वह ठीक नहीं मानेगा। दैवी सम्पत्ति के अन्दर जो तेज है, वह दूसरे को ठीक प्रकार के विचार में लगाने के लिये होता है न कि हठात् अभिभूत करने के लिये। तेज का मतलब यह नहीं है कि कोई कुछ पूछे तो हमें ज़रूर जवाब देना है! अगर लगे कि मेरे जवाब से सामने वाले को कोई ठीक दिशा मिलेगी और उसके मन में बात जँच कर ठीक तरह से सोचने लगेगा, तब तो जवाब देना है, और अगर पता है कि हम ऐसा जवाब नहीं दे सकते, तो चुप रहो। क्योंकि दूसरे को हराने की, या नीचा दिखने की प्रवृत्ति तो दैवी प्रवृत्ति नहीं

होती। अतः तेज का अर्थ है, जो भी प्रश्न करे उसका तुरन्त ऐसा उत्तर उपस्थित्त होना जो सामने वाले को हृदयंगम होवे अन्यथा चुप रह लेना चाहिये।

'क्षमा'। क्षमा के दो स्तर हैं : कोई हमें गाली देवे, मारपीट करे, तो उत्तम यह है कि हमारे अंदर उसके प्रति 'हम कोई प्रतिक्रिया करें' यह भाव ही न आवे। जैसे छोटा बालक दूध पीते हुए अकस्मात् अपने पैर को उछालता है, और माँ को ज़ोर से चोट लग जाती है। परन्तु माँ के मन में यह तो नहीं आता कि 'इसका पैर तोड़ कर फैंक देवें'। यह क्षमा का रूप है। इसी प्रकार यह समझने पर कि दूसरे ने जो मेरे ऊपर क्रोध या ताड़न किया, वह अज्ञान के कारण किया, ऐसा करना उसके योग्य नहीं था परन्तु अज्ञान से वह इस बात को समझता नहीं था कि 'मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये', इसलिये उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया का भाव आता ही नहीं। कई बार बाहर से क्षमा न दीखने पर भी अन्दर से क्षमा होती है। दो महात्मा जा रहे थे, आपस में विचार कर रहे थे। विचार करते हुए 'हम कहाँ चल रहे हैं' इसका उनको ध्यान नहीं रहा। कोई खेत ताजा बोआ हुआ था, उसके ऊपर से निकल गये। किसान को गुस्सा आना ही था। उसने महात्मा को दो दण्डे जमा दिये कि 'देख कर नहीं चलते हो!' महात्मा चुप हो कर आगे चले गये। थोड़ा आगे निकले तब उनके साथी ने कहा 'अरे तुम क्या कर रहे हो! तुम्हारे करने लायक क्या यह काम है! यह तो बेचारा जानता नहीं है कि तुम किस स्थिति के आदमी हो। इसने तो अपने अज्ञान से तुमको मार दिया, परन्तु तुम्हारे जैसे ब्रह्मनिष्ठ को जो मारता है उसकी तो सात पीढ़ी बरबाद हो जाती है! इसने बेचारे ने अज्ञान से तुमको मार दिया। अतः तुम चल दिये तो यह बरबाद हो जायेगा। ऐसा नहीं करो।' तो वह वापस आया और किसान को चार-छह गाली दे दी, और फिर चल दिया। जब महात्माने प्रतिक्रिया कर दी तब आगे किसान को उसे मारने का फल होगा नहीं। कई बार बाहर से क्षमा नहीं है यह दीखने पर भी क्षमा होती है।

उत्तम पक्ष यही है कि कोई कुछ करे तो उसके प्रति प्रतिक्रिया का भाव न आवे। यदि प्रतिक्रिया आ जाती है तब उसको भगवान् ने पहले 'अक्रोध' से नियंत्रित करना कह दिया है। यदि प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है तो क्षमा नहीं है, परन्तु कम-से-कम क्रोध प्रकट न किया जाये, अक्रोध से उसको अंदर ही अंदर रोका जाये। जब तक शरीर से छूट नहीं जाते – छूटना चाहे ज्ञान से हो, चाहे मृत्यु से हो – तब तक प्रतिक्रिया की सम्भावना रहती है। अभ्यास करने से सामान्य छोटे-मोटे अपराध तो व्यक्ति क्षमा कर देता है, लेकिन जितनी अपनी सहन करने की शक्ति है उससे अधिक होने पर प्रतिक्रिया मन में आ जाती है। क्षमा नहीं रहे तो अक्रोध के द्वारा उसको अन्दर ही दबा देना चाहिये। क्षमा और अक्रोध कई बार एक जैसे ही लगते हैं, परन्तु इन दोनों में यह सूक्ष्म भेद है।

'धृति' धैर्य। जहाँ मनु ने सब लोगों के लिये कर्तव्य सामान्य धर्मों को गिनाया, वहाँ सबसे पहले 'धृति' को ही लिया है। मनु का तात्पर्य है कि़ जो धैर्यहीन व्यक्ति है, वह किसी भी धर्म का अभ्यास कर ही नहीं पायेगा क्योंकि धर्म स़द्यः फल नहीं देता। इधर किया और

उधर फल दे देवे, ऐसा धर्म नहीं है। इसलिये, धर्म करने के बाद धैर्य से बैठे रहोगे, इस श्रद्धा के साथ कि धर्म अवश्य फल देगा, तब समय आने पर धर्म फल देगा। जिस प्रकार से खेती धैर्यहीन व्यक्ति नहीं कर सकता। तुमने बीज बो दिया, खाद दे दी, पानी दे दिया, फिर धैर्य रख कर देखते हो कि आगे खेती कैसी होती है। अन्यथा कहते हैं कि एक बार बन्दरों ने विचार किया कि 'सब खेती करते हैं, हम भी खेती करें'। बीज तो बो दिया, पानी भी दे दिया उसके बाद देखने लगे, कुछ हो भी रहा है कि नहीं! उन्होंने फिर उस बीज को निकाला, देखा कि कुछ नहीं हुआ, फिर डाल दिया; ऐसा करते रहे तो क्या कभी उस बीज को उगना है? जिस प्रकार से बीज बो कर शान्ति से, धैर्य से रहना पड़ता है, तभी खेती उगती है, इसी प्रकार धर्म का बीज बोकर शान्ति से रहना पड़ता है। धैर्यपूर्वक रहोगे तब वह फल देगा। अन्यथा सद्यः देखोगे कि फल नहीं हुआ तो कहोगे 'धर्म करना बेकार है, किसी काम का नहीं। मैंने इतना धर्म किया, क्या काम आया?' कोई नुकसान होते ही आदमी यह कहता है 'मैंने इतना धर्म किया, कुछ काम नहीं आया, सब बेकार गया।' तो धृति चूंकि सारे धर्मों का आधार है, इस लिये मनु ने तो इसे सर्वप्रथम गिना है।

धृति के कारण, शरीर इन्द्रियाँ मन - ये जब थक जाते हैं, अवसन्न हो जाते हैं, तब भी 'करना ही है' इस हिम्मत से आदमी लगा रहता है। इस हिम्मत का नाम धृति है, धैर्य है। जितने भी धर्म के कार्य हैं, वे तुम्हारे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि से, सामान्य की अपेक्षा अधिक श्रम की माँग करते हैं। धर्म सरलता से होने वाला काम नहीं है, इसलिये अवसन्नता जल्दी आ जाती है। कई बार लोग पूछेंगे, 'महाराज सोमवार का व्रत कर लेवें, सोलह सोमवार कर लेवें?' किसी को देखा होगा सोलह सोमवार करते हुए। उससे मनोकामना पूरी होती है। हम कहेंगे 'हाँ कर लो, अच्छा काम है।' 'कैसे किया जाय?' अभी और कुछ हमने नहीं कहा, बस इतना ही कहा कि 'दिनमें एक बार खाना है। एक सेर आटे के चार बराबर-बराबर लड्डू बनाना, एक लड्डू मन्दिर में छोड़ देना, एक लड्डू किसी ब्राह्मण को देना, एक लड्डू और भक्तों को बाँट देना और चौथा लड्डू ख़ुद खा लेना, पूरा का पूरा।' तुरन्त कहेंगे, 'महाराज इतना कैसे खायेंगे? थोड़े से काम नहीं चलेगा?' धर्म का कोई भी कार्य होवे तो सर्वप्रथम आदमी यही सोचता है कि इसे बिना किये कैसे हो सकता है। जो अंतःकरण की वृत्ति यह कहती है कि मुझे करना ही है, वह धृति है। मनुष्य के अन्दर यह दृढ संकल्प होता है कि करना ही है, तो उससे कार्य हो ही जाता है। जिस में धृति नहीं है, वह जहाँ थोड़ी-सी तकलीफ आई, वहीं झट इधर-उधर होने लगता है। धृति के कारण ही तप, व्रत, इत्यादि में इन्द्रियाँदि के थकने पर भी हम लगे रह सकते हैं। इस प्रकार से धृति बड़ी आवश्यक है, अन्यथा किसी भी धर्म को करने में कठिनाई होती है।

विशेषकर वेदान्त विचार करने के मार्ग में जो जाने वाले हैं, उनको धृति की बहुत ज़्यादा ज़रूरत होती है। श्रवण-मनन करने में जो धृति वाला नहीं होगा वह नहीं लग पायेगा। श्रवण में बार-बार 'उपनिषदं आवर्तयेत्', आवर्तन करना होगा, उपक्रम-उपसंहार आदि के विचार

द्वारा बार-बार वेदान्त के प्रकरणों का तात्पर्य क्या है, यह निर्णय करना होगा। धृति-हीन व्यक्ति की पहली प्रतिक्रिया होती है, 'जैसा बड़ों ने कह दिया, वही तो तात्पर्य है, इसमें हमें करना क्या है?' जो श्रवण में आलसी होते हैं, उनका कहना यह होता है, कि बड़े-बड़े आचार्यों ने शास्त्र का तात्पर्य निर्णय तो कर ही दिया है, इसमें विचार क्या करना है! जैसे प्राणायाम कैसे करना चाहिये, यह प्राणायाम करने वाले शास्त्रों ने सब निर्णय कर दिया। तुम कहो कि 'हमें क्या करना है!' तो तुम्हारी ही हानि है क्योंकि तुम प्राणायम नहीं करोगे तो तुम्हारा प्राणायाम सिद्ध नहीं होगा। उन्होंने जो लिखा है वह बात तो सब ठीक है, हम यह नहीं कहते कि उन्होंने लिखा ग़लत है, लेकिन वह तुम्हारी सिद्धि तो नहीं होगी। इसी प्रकार से बार-बार उपक्रम आदि छह लिंगों के द्वारा उपनिषदों के तात्पर्य का निर्णय करो। एक बार नहीं, बार-बार करो; तुम्हारे ज्ञान का कारण श्रवण तभी बनेगा, जब तुम स्वयं बार-बार निर्णय करोगे। इसी प्रकार मनन है। जो धृति-पूर्वक रहेगा, वह श्रवण-मनन के साधन में लगा रहेगा, अन्यथा कहता है, 'सब शास्त्रों को देख लिया, लेकिन जानने से कुछ होता नहीं है, कुछ और घंटी-वंटी बजावें तब काम होगा।' प्रायः वेदान्त के साधकों में यह भावना आ जाती है कि श्रवण-मनन से काम नहीं होता, कुछ और करना पड़ता है। साधन ज्ञान का श्रवण-मनन ही है, कुछ और करके ज्ञान की सिद्धि कभी होगी नहीं। वैसे तो धृति, सभी धर्मों के लिये आवश्यक है, लेकिन परमात्म-मार्ग के पथिक के लिये तो धृति की बड़ी ज़रूरत है। सामान्यतः भी यह होता है कि जो जितना बड़ा फल देने वाला साधन हो उतना ही समय भी ज़्यादा लेता है। पान की दुकान लगाने, चला लेने और उससे कमा लेने में थोड़ा ही समय लगता है, चार-छह महीने में ही कमाई शुरू हो जाती है। बड़ा उद्योग लगाना हो तो तैयारी में ही सालों लगते हैं, काम प्रारम्भ होकर भी दो-तीन सालों के बाद नफा आने लगता है। अतः जो बड़े व्यापारी होते हैं, उनमें तो धृति होती है। अधीर अगर व्यापार करना शुरू करता है, उसमें जहाँ साल-दो साल नफा नहीं हुआ, तो सोचता है, 'इसको बेच डालें मुझे फला नहीं।' कई लोगों को हम जानते हैं जिन्होंने जीवन में पाँच-छह बार विभिन्न उपक्रम किये और छोड़े। ठीक इसी प्रकार से, जो स्वर्गादि फल देने वाले हैं, उन धर्मों की अपेक्षा अनन्त स्वर्गलोक को देने वाला जो वेदान्त शास्त्र है इसको और अधिक धृति की अपेक्षा है। भगवान् ने भी इसीलिये कहा कि बहुत जन्मों तक साधना करने के बाद, अन्तिम जन्म में जाकर ज्ञान के साधनों वाला होकर तब परमात्मा की प्राप्ति करता है।

'शौचम्' शुचि अर्थात् शुद्धि। शुद्धि दोनों प्रकर की होती है, बाह्य शुद्धि और आभ्यन्तर, शुद्धि। मन बुद्धि की शुद्धि आभ्यन्तर, आन्तरिक शौच है, और शरीरादि की जो शुद्धि है वह बाह्य शौच है। एक प्रश्न यहाँ उठता है कि जिस दैवी सम्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं वह सारी अंतःकरण से सम्बन्धित है। अभय से लेकर जो गिनाये गये हैं वे सब आन्तरिक भाव हैं। अतः कुछ लोगों का यह कहना है कि यहाँ बाह्य शौच इष्ट नहीं है, आन्तरिक शुद्धि ही इष्ट है। इस प्रकार की भावना आधुनिक काल में बहुत ज़्यादा है कि अंदर की शुद्धि ही होनी

चाहिये। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने शौच का तात्पर्य दोनों प्रकार की शुद्धि से लिया है। उसके दो कारण हैं : प्रथम कारण है कि बाह्य शुद्धि के बिना आन्तरिक शुद्धि स्थिर होती नहीं। और दूसरा है, आन्तरिक शुद्धि के संस्कार वाले अंतःकरण में, बाह्य शुद्धि अवश्यम्भावी है, अवश्य ही होगी। क्योंकि अंदर की शुद्धि की बात करते हैं, तो अंतःकरण में रागादि से होने वाले संस्कारों को रोकना और शास्त्र में कहे हुए संस्कारों का आपादन करना - यह भी अंदर की शुद्धि का अंग है। अंतःकरण की जो कालिख है, अंतःकरण में जो दोष है, मलिनता है, वह यही है कि हमारी प्रवृत्ति प्राचीन काल के शास्त्रविरुद्ध संस्कारों से, शास्त्रविरुद्ध पदार्थों की तरफ होती है। राग–द्वेष के जो उचित कारण हैं उनके अनुसार प्रवृत्ति नहीं होती। औचित्य का निर्णय करने वाला शास्त्र ही है। औचित्य का निर्णय केवल प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। भारत में तो इसका प्रयत्न कम हुआ है, परन्तु योरप के अनेक दार्शनिकों ने बहुत विचार किया है कि राग–रहित अंतःकरण के अंदर कौन–से संस्कार होवें, इसका केवल प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष–मूलक अनुमान से निर्णय करें। परन्तु उन सब के सामने ऐसी समस्याएँ आयी हैं जिनका हल हो नहीं पाया। इसलिये अंततोगत्वा कुछ–न–कुछ चीज़ों को स्वतः सिद्ध मानने को बाध्य हो जाते हैं। जैसे उपकार करना, दया करना। क्यों दया करना, क्यों उपकार करना? इसका हल निकल नहीं सकता अतः इसको स्वतः सिद्ध मानते हैं। भारत में इस रास्ते इसलिये नहीं गये, कि हम लोगों ने पहले ही इस बात को समझा था कि ये सारे गुण शास्त्र–सिद्ध ही हैं। शास्त्र को न मानने पर स्वतः ये गुण सिद्ध नहीं हो सकते। अतः राग–द्वेष से रहित अंतःकरण होने में प्रधान कारण पड़ेगा कि प्रवृत्ति–निवृत्ति के प्रति शास्त्र–संस्कार ही कारण होवे। तब हम शास्त्र की आज्ञा से प्रत्यक्ष दृष्ट सुख का त्याग कर सकते हैं। शास्त्रानुकूल संस्कारों से अंतःकरण भरा हुआ है, तो उसमें अशास्त्रीय प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन रह नहीं जाता। इसीलये, बाह्य शुद्धि के बिना अंतः शुद्धि होती भी नहीं, और अंतः शुद्धि होने पर शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति स्वतः होगी ही। अतः शौच से दोनों प्रकार के शौच ग्राह्य हैं।

'अद्रोहः'। द्रोह का मतलब है, जो हमें अच्छा नहीं लगता है, उसका अनिष्ट होवे - यह इच्छा, उसके प्रति हिंसा की भावना। और जब उसका अनिष्ट होता है तब चित्त में प्रसन्नता होती है। प्रायः 'अनिष्ट हो' इस भावना से ही बचना कठिन होता है। दूसरे की हमने हिंसा तो नहीं की, लेकिन मन में यह रहता है कि इसका अनिष्ट हो। इस प्रकार की मन की प्रवृत्ति रुकना ही कठिन होता है। यथाकथंचित् मन की ऐसी प्रवृत्ति रुक भी जाये, तो उसके अनिष्ट होने पर 'अच्छा हुआ, उसको किये का फल मिला', यह जो मन में प्रसन्नता का भाव है, इसको रोकना और कठिन होता है। 'अद्रोह' से ये दोनों ही भाव हटाने हैं।

'नातिमानिता'। अपने अंदर अत्यधिक सम्मान की योग्यता न मान लेना। मुझ से अच्छा कैसे कोई हो सकता है - यह अतिमानिता है। जिस कार्य को हम नहीं कर पाते, उसके

बारे में यह भाव बना रहता है कि 'हम नहीं कर पाते तो कोई नहीं कर पायेगा'। पुराणादि में कही कई बातों पर लोगों का प्रश्न होता है कि 'ऐसा कैसे हो सकता है?' उस 'कैसे' का भाव है, कि हमें यह करना असम्भव लगता है तो दूसरा भी नहीं कर सकता। यह अतिमानिता का भाव है। इसिलये जहाँ सिद्धियों की बात आई है, वहाँ ब्रह्मसूत्रों में, भाष्यकार ने कहा है, कि व्यासादि में ऐसी सामर्थ्य थी, उसका हम साहस मात्र से निषेध नहीं कर सकते। वहाँ साहस का तात्पर्य अतिमानिता से ही है। 'व्यास जी भी ऐसा कर नहीं सकते' – यह अतिमानी के मन में बैठा होता है। श्रेष्ठता की भावना अपने बारे में भी होती है, और अपने अंदर रहने वाले गुण–क्रिया के प्रति भी होती है, जैसे, जो क्रिया मैंने की, इससे और अच्छी तरह से यह की ही नहीं जा सकती। अथवा, 'यह गुण जितना मेरे में है उससे ज़्यादा हो ही नहीं सकता'। इसको बढ़ाने के लिये वर्तमानकाल में अनेक प्रकार की प्रतियोगिताएँ रखी जाती हैं। सौन्दर्य की प्रतियोगिता में भाग लेने वाले को सोचना पड़ता है, कि 'मैं कैसे सबसे ज़्यादा सुन्दर लगूँ?' जिसे प्रथम पुरस्कार मिल जाये, उसे निश्चय हो जाता है कि 'मेरे जैसा सुन्दर और कौन हो सकता है!' इसी प्रकार की अन्य अनेक प्रतियोगिताएँ हैं, जिनसे मनुष्यों के अन्दर अतिमानिता की और वृद्धि होती है क्योंकि लगता है कि 'सब के द्वारा स्वीकार किया गया है, इसलिये मैं अवश्य ही श्रेष्ठ हूँ'। यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में आता है, कि असुरों ने विचार किया, 'हम किस को आहुति देवें?' अन्त में उन्होंने निर्णय किया, 'हमसे और अच्छा कौन है?' इसलिये उन्होंने खुद ही चीज़ों का भोग किया, खुद ही खाया। वहाँ श्रुति कहती है कि इस अतिमानिता के कारण वे परास्त हुए। केवल असुरों के अन्दर ही नहीं, वर्तमान काल में भी हवन इत्यादि का प्रसंग आने पर, लोग यह कहते हैं, कि, 'अरे! आग में क्या फूँकते हो! मनुष्यों के मुँह में फूँको, यही श्रेष्ठ है।' अर्थात् मनुष्य ही उन चीज़ों का सेवन करने के लिये उत्तम है, देवताओं को अर्पित करना व्यर्थ है। अतिमानी कहता है, आदमी ही श्रेष्ठ है, वही सब भोग करे। इस प्रकार के विचार असुरों ने किये, वैसे आज भी चल रहे हैं। इस प्रकार का अतिमान न होना दैवी संपत् है।

अभय से लेकर अनतिमानिता तक दैवी संपत् है। "अभिजातस्य"। अभिजात; अभि अर्थात् सामने। जीवन में जिसका कल्याण होना हो, पुण्य कर्म फल देने वाले हों अर्थात् दैवी फ़लों की प्राप्ति को सामने रखकर जिसको पैदा किया गया है, वह अभिजात है। पैदा तो परमेश्वर करता है। हम कैसे वातावरण में उत्पन्न होते हैं, इसमें सिवाय परमेश्वर के और कोई निर्णय नहीं करता। तुमको देवमार्ग में जाना है, परमात्मा की तरफ जाना है तो तुम्हारे अंतःकरण में वही संस्कार प्रबल हो कर तुम उत्पन्न होते हो। अर्थात् इन लक्षणों को देखने से पता लगता है कि व्यक्ति दैवी मार्ग को प्राप्त करने वाला है, अर्थात् उसका भावी कल्याण है, भविष्य में उसका कल्याण होना है। अगर स्वभाव से ये गुण नहीं हैं, तो इनका अभ्यास करने से इनके संस्कार अंतःकरण में होंगे, तब अगले जन्म में ये संस्कार तुमको पहले की

अपेक्षा जल्दी होंगे, और मज़बूत प्रकट होंगे। इस प्रकार से जन्म-जन्मान्तर तक जब अच्छे संस्कार हो जाते हैं, तब मनुष्य वास्तविक विवेक वैराग्य को प्राप्त कर सकता है, इसलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं कि अनेक जन्मों में जाकर साधना फल देती है। 'दैवीम्' अर्थात् देवताओं की जो सम्पद् है, उसको सामने रख कर जो उत्पन्न हुआ है उसके अन्दर क्योंकि परमात्म-ज्ञान का आविर्भाव होना है, अतः ये गुण सहज होते हैं। इन गुणों का आपादन करने पर ही संभव है कि हम परमात्म-प्राप्ति के योग्य बन सकते हैं। जिसमें सहज दैवी संपत् है उसी के लिये वेद कहता है, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'। बचपन में ब्रह्मचर्य से ही परमात्म-मार्ग की तरफ जाये। आगे विकल्प किया है, कि ऐसा नहीं कर सके तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के इन गुणों का आपादन करे और इनका आपादन होने पर परमात्मप्राप्ति के मार्ग में निवृत्ति-परायण होकर लगे। इन संस्कारों से रहित व्यक्ति का निवृत्ति-मार्ग प्रशस्त होता नहीं, फलप्रद होता नहीं।

इस प्रकार भगवान् ने करने के लिये दैवी सम्पत्ति बतायी। इन धर्मों का अभ्यास कर्तव्य है।।३।।

अब आसुरी सम्पत् को बतलाते हैं जिसको छोड़ना है। पूर्व संस्कारों के कारण इस प्रकार की प्रवृत्ति आने पर व्यक्ति उसका रोध करे, रोके, कार्यरूप में परिणत न होने दे। संस्कारों का यह नियम है कि यदि तदनुकूल प्रवृत्ति करते हो तो संस्कार दृढ होता है और उस प्रवृत्ति को रोकते हो तो संस्कार कमज़ोर होता जाता है। बहुत से लोग कह देते हैं, कि 'भोग कर लो, तो उस भोग की इच्छा चली जायेगी', परन्तु मनु आदि ने स्पष्ट कहा है कि उपभोग करके कामनाओं की, पदार्थों की इच्छाओं की निवृत्ति नहीं की जा सकती बल्कि इच्छा बढ़ जाती है। दृष्टान्त भी उन्होंने दिया, कि जिस प्रकार आग में घी डालें तो आग जल कर ख़त्म नहीं हो जायेगी बल्कि भड़केगी, घी नहीं डालें तब तो ख़त्म हो भी जायेगी, बुझ जायेगी, पर डालते रहो तो बढ़ती रहेगी। इसी प्रकार, हर बार जब भोग करोगे तब उसका संस्कार फिर पड़ेगा। वह तुमको फिर प्रवृत्त करेगा। फिर उसको पूरा करोगे तो फिर संस्कार बनेगा। अतः किसी चीज़ के भोग से उसके संस्कारों की परम्परा ख़त्म नहीं होती, उल्टी मज़बूत होती है। और भोग नहीं करोगे तो आगे उसका संस्कार नहीं बनेगा। धीरे-धीरे नया संस्कार बनेगा कि यह नहीं करना है। तब वह भोग के संस्कार को रोक देगा। जो लोग कहते हैं, वे असल में इस बात को भूल जाते हैं कि कामना शरीर में भी है, अर्थात् शरीर में होने वाली इन्द्रियों में भी है, और मन बुद्धि में भी है। यदि तुम मन में संस्कारों को बनाते हो, अर्थात् इन्द्रियों से तो विषय-भोग न करो, पर मन से 'वह पदार्थ अच्छा है, इष्ट है' यह वृत्ति बनाते रहो, तब तो चूंकि तुम्हारे मन के अंदर संस्कार-वृद्धि होती रहेगी – अच्छा है, अच्छा है, अच्छा है, – अतः भोगेच्छा और प्रवृत्ति नष्ट नहीं होगी। इसलिये इन्द्रिय मन और बुद्धि, तीनों अधिष्ठानों के अन्दर से आसुरभावों को हटाना है। इन्द्रियों से भोग नहीं किया, तो संस्कार हटाने में उतना लाभ हो गया। मन के द्वारा वह अच्छा है

यह चिन्तन छोड़ने से मन का संस्कार सुधरेगा। यह चीज़ अच्छी नहीं है यह संस्कार काफी सालों तक बनाना पड़ेगा। बुद्धि से निश्चय करना पड़ेगा कि इन हेतुओं से बुरी ही है। इसीलिये, शास्त्र ग्रन्थों में अनेक जगह विषयों की निन्दा का प्रकरण आता है। उस प्रकरण का बार-बार विचार करने से उन पदार्थों में अनिष्ट भावना हो जाती है और साथ में बुद्धि का निश्चय होता है कि 'यह अनिष्ट है'। अन्यथा बुद्धि का निश्चय यह रहता है, कि अच्छी भी है, पर शास्त्र ने इसे बुरी बतलया है क्योंकि शास्त्र चाहता है कि हम इसको छोड़ें। ऐसा निश्चय रखकर वस्तु का आकर्षण समाप्त नहीं किया जा सकता। शास्त्रीय ही नहीं, लौकिक चीज़ों में भी 'फायदा भी है' जब तक लगता है तब तक उन्हें छोड़ नहीं पाते। अनेक उपकरणों के घातक प्रभाव प्रत्यक्षादिसिद्ध हैं, वैज्ञानिक स्वयं बताते हैं, फिर भी लोग उनके फायदे वाले अंशको याद कर उनका प्रयोग नहीं छोड़ते। अतः आसुरी संपत् की बुराई का *ही* निश्चय करना पड़ेगा, तभी वह छूटेगी। 'फायदा भी है' - जब तक यह भाव रहेगा, तब तक संस्कार हटेंगे नहीं। इसलिये आसुरी सम्पद् को, जो संस्कार हमें असुर-मार्ग में ले जाते हैं उन संस्कारों को बतलाते हैं, ताकि हमें निश्चित पता रहे कि ये हेय हैं, इन्हें छोड़ना ही है।

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।४।।

पार्थ! अपनी धार्मिकता का ख्यापन, गर्व, खुद को अतिपूज्य समझना, क्रोध, निष्ठुरता और अविवेक - ये गुण स्वभावतः उनमें होते हैं जो आसुर संपत्ति को (अर्थात् भावी अकल्याण को) अभिलक्षित कर पैदा हुए हैं।

'दम्भः'। दम्भ का मतलब है, - लोग मुझे धार्मिक समझें ऐसा आचरण करना। अर्थात् धर्म को इसलिये नहीं करना कि धर्म कर्तव्य है, बल्कि इसलिये करना कि इसके द्वारा समाज में प्रतिष्ठा होती है। प्रतिष्ठा तभी होगी जब सब लोगों को पता लगे कि हम धर्म कर रहे हैं। नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है कि अगर कोई देख रहा हो तो गायत्री का जप लम्बे समय तक चलता है, सन्ध्यावन्दन लम्बे समय तब चलता है। और अगर कोई देख नहीं रहा है, तो जप न्यून हो जाता है, संध्यावंदन भी झटपट ख़त्म हो जाता है। इसी को संस्कृत में कहते हैं 'धर्मध्वजिता' धर्म को झंडे की जगह रखना। जैसे झंडा दूर से ही दीख जाता है और पता लग जाता है कि ये अमुक देश के लोग हैं, वैसे दूर से दीखे ऐसा धर्म करना। धर्म कर्तव्यबुद्धि से करना, दूसरा भी कर्तव्य में प्रेरित हो इसलिये करना, दम्भ नहीं है। उसे कर्तव्य न मानकर, किसी को उचित मार्गदर्शन का प्रयास न करते हुए, ख्याति लाभ पूजा आदि के लिये धर्म का बाह्याडम्बर करना दम्भ है। शास्त्रों में अनेक चीज़ों के लिये इसलिये कहा कि इन्हें गुप्त रखना चाहिये। दान दाहिने हाथ से करे तो बायें हाथ को भी पता न चले - ऐसा पुराने ज़माने में लोग करते थे। ब्राह्मण एकादशी, पूर्णिमा आदि को यजमानों के घर जाते थे 'सीधा' अर्थात् घी, आटा आदि लेने जाते थे तो आटे आदि में छिपाकर मुहर,

रुपया आदि दे देते थे, ताकि सारा आटा मिल जायेगा तो पंडित को भी पता नहीं चलेगा कि मुहर किसने दी! सब यजमानों से लेने के बाद घर जाकर सारा सामान रख देगा, फिर कुछ समय बाद पता लगेगा इसमें सोने का सिक्का है, मुहर है, अतः 'किसने दी' यह नहीं पता लगेगा। इसी प्रकार से जप करते थे तो हाथ के ऊपर कपड़ा डाल कर कि किसी को पता न लगे कि जप कर रहे हैं। छिपाने में उद्‌देश्य होना चाहिये कि मेरा धर्म ध्वजा न बने। धर्म को छिपाना प्रमुख नहीं है, मुख्य मतलब यही है कि धर्म स्वभाव बन जाये, केवल मुखौटा बनकर न रह जाये, 'लोग मुझे धार्मिक समझें' इस उद्‌देश्य से न किया जाये। शिष्ट पुरुषों के आचार को देख कर धर्म का पता लगता है साधारण आदमियों को। हर एक आदमी शास्त्र तो पढ़ नहीं सकता, परन्तु शास्त्र के जानकार श्रद्धालु लोगों का आचरण देखकर आदमी वैसा ही आचरण करता है। यदि तुम्हारा धर्माचरण किसी को दीखेगा ही नहीं तो वह कैसे सीखेगा? अतः धर्माचरण को गुप्त रखने में तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिये। दम्भी वह है जो न कर पाने पर भी दिखाने का प्रयास करता है कि उसने किया। जिसमें दिखाने का भाव नहीं है, उसका धर्म प्रकट होने में कोई आसुरता नहीं है।

'दर्पः' जब मनुष्य को सफलता मिलती है, तब उस सफलता से वह फूल कर कुप्पा हो जाता है। वह फूलना, प्रफुल्लता, अति–उत्साह दर्प है। जब दर्प हो जाता है तब व्यक्ति धर्म का अतिक्रमण करता है। दर्प का कारण है, सफलता से फूल कर कुप्पा होना और दर्प का कार्य है धर्म का अतिक्रमण करना। प्राचीन काल के अन्दर कभी कोई अच्छा काम करता था तो कहता था 'मैंने क्या, भगवान् ने करा दिया'। कई लोग केवल मुख से कह देते थे, लेकिन इसके द्वारा शिक्षा यही दी जाती थी कि जब कोई कार्य सफल हो, तब परमात्मा ने यह सफलता दी है, इसलिये इस सफलता का श्रेय उनका है, तुम फूल के कुप्पा मत हो जाओ। वर्तमान में ठीक इससे उल्टा है, सफलता तो सब हम लोग करते हैं, और असफलता का कारण देवता लोग होते हैं, भगवान् होते हैं! इसिलये अगर अनाज की उपज बढ़ गयी तो हरित क्रान्ति किसने की? हमने की। और जब अकाल पड़ गया तब कहते हैं, 'यह दैवी कोप हो गया!' प्राचीन काल में ठीक इससे विपरीत दृष्टि थी। जब कोई असफलता होती थी, तो मन में आता था 'ज़रूर हमारा ही कोई दोष है इसलिये असफलता हुई है। यहीं कोई कर्म हमने ठीक से न किया हो, यह भी हो सकता है। पूर्व जन्म में हमारे किये हुए कर्म इस समय इस प्रयत्न को सफलता देने से रोक रहे हों, यह भी सम्भव है'। इस प्रकार से असफलतायें हम अपना जिम्मा मानते थे। और सफलता होने पर दर्प न होवे इसके लिये सफलता का श्रेय परमेश्वर को देते थे। दर्प का कारण तो है, सफलता से फूलकर कुप्पा होना। कोशिश करनी चाहिये कि सफलता से दर्प न हो। यदि कभी रोक न पाये और सफलता का अभिमान हो ही गया, तो कम–से–कम उस अभिमान का जो कार्य होता है, धर्म का अतिक्रमण, वह मत करो।

जैसे, धन की प्राप्ति हो गई। पहले तो 'धन की प्राप्ति परमेश्वर की कृपा से हुई' यह याद रखो ताकि दर्प न आवे। आ ही गया, 'मैंने बड़ी मेहनत की है, कमाया है', ऐसा भाव

बने, तो अधर्म में प्रवृत्त मत होवो। धन से अधर्मप्रवृत्ति जैसे – 'यह मेरा दुश्मन है, इसको मरवा दूँगा। मेरे पास धन है ही, पुलिस को भी खिला दूँगा, पण्डितों को बुलाकर इसके प्रायश्चित्त का हवन भी करा दूँगा, अपने को पाप से बचा लूँगा, और पुलिस को धन देकर लौकिक अनिष्ट को भी बचा लूँगा।' यों दर्प से धर्म का अतिक्रमण होता है।

जैसे धन का अभिमान होता है वैसे विद्या का भी अभिमान होता है। 'मैंने इतना अध्ययन किया है, कौन मेरे सामने टिक सकता है!' इस तरह विद्वान् अन्दर से फूल कर कुप्पा होते हैं। भगवान् की कृपा नहीं याद आती। धर्म का अतिक्रमण भी करते हैं, पता भी है कि बात ग़लत है, लेकिन 'सामने वाले को सिद्ध नहीं करने दूँगा, मैं अपनी बात सिद्ध कर ही दूँगा'। इस आग्रह से ग़लत बात का पक्ष लेते हैं, अपनी ग़लती मानते नहीं, समझकर भी उसे सही साबित करते हैं। यह सब विद्यादर्प से धर्मातिक्रमण है। अपने सम्बन्धी का भी दर्प होता है। 'मेरे चाचा मंत्री हैं। मैं अगर घर को दस पग भी आगे बढ़ा लूँगा तो अफसर क्या कर सकता है?' यों अपने सम्बन्धी का भी गर्व होता है। सुन्दरता का गर्व होता है, युवावस्था का गर्व होता है। रूप का भी गर्व होता है, अवस्था का भी गर्व होता है, कई चीज़ों का गर्व होता है, परन्तु सर्वत्र एक नियम रहेगा – सफलता से होता है और आगे अधर्म में प्रवृत्ति कराता है। यह दर्प आसुर प्रवृत्ति ही है।

अतिमान और क्रोध का वर्णन तीसरे और दूसरे श्लोक की व्याख्या में कर चुके हैं।

'पारुष्यमेव च'। पारुष्य – परुष भाषण करना, अर्थात् ऐसे शब्द का प्रयोग करना जिस से सामने वाले के ऊपर आक्षेप हो। काणे को काणा कहो तो भी कठोर होता है, उसको बुरा लगता है अथवा 'वाह, इनकी आँखें कितनी सुन्दर हैं' यह कहो तो भी उसे बुरा लगता है। दोनों प्रकार का पारुष्य यहाँ समझना। कठोर वचन शरीर के बारे में भी होता है, जैसे कुरूप आदमी को कुरूप कहना। जाति का उल्लेख आक्षेप के लिये करना भी पारुष्य है। इसी प्रकार से, मूर्ख को मूर्ख कहो तो अच्छा नहीं लगता है। और घुमाकर कहो 'वाह, इनकी विद्वत्ता का क्या कहना, बड़े विद्वान् हैं!' तब भी वह समझ लेता है कि मज़ाक कर रहे हैं। इस प्रकार के परुष वचन बोलना, दूसरे को आक्षेप-पूर्ण लगने वाले, मर्मभेदन करने वाले शब्दों का प्रयोग करना पारुष्यरूप आसुरी वृत्ति है।

'अज्ञानं'। अज्ञान से यहाँ मिथ्या ज्ञान विवक्षित है। आसुरी सम्पत्ति मूल अज्ञान का तो कार्य है। इसलिये यहाँ कार्य-अज्ञान को ही कह सकते हैं, मिथ्या ज्ञान ही कार्यरूप अज्ञान है। लोक में मिथ्या ज्ञान वाला भी अज्ञानी कहा जाता है यथार्थ ज्ञान को ज्ञान, और अयथार्थ ज्ञान को अज्ञान कहना लोकप्रसिद्ध है। सच और झूठ का विवेक करना जहाँ सम्भव नहीं होता है, वहीं मिथ्या ज्ञान होता है। 'यह साँप है' यह ज्ञान मिथ्या क्यों है? 'यह' शब्द का अर्थ है, जो सामने चीज़ है और 'साँप' शब्द का मतलब है, जो तुम्हारे संस्कार को निमित्त बना कर प्रतीत हो रहा है। 'यह' तुम्हारे संस्कारों से प्रतीत नहीं हो रहा। 'यह' तुमको आँख से दीख रहा है। सच 'यह' और झूठे साँप को अलग-अलग न पहचानकर एक

समझना भ्रम है। अतः मिथ्या प्रत्यय क्यों होता है? अविवेक से होता है।

मैं के द्वारा जो प्रत्यग्रूपता प्रकट होती है, वह तो ब्रह्म की ही है। परन्तु अविवेक के कारण, अहम् प्रत्यय से लेकर शरीर पर्यन्त वह अध्यस्त हो जाती है अतः 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं मूर्ख हूँ', इत्यादि की प्रतीति होती है। जैसे 'यह' पदार्थ रस्सी वास्तविक है, उसी प्रकार मैं पदार्थ, मैं शब्द का लक्ष्यार्थ परमात्मा सत्य है और साँप की तरह पाँचों कोश मिथ्या हैं। भ्रमवश दोनों एकमेक होकर 'मैं देवदत्त' आदि अनुभव 'यह सर्प' अनुभव की तरह हो रहा है। ब्रह्म किसका विषय है? ब्रह्म शास्त्र का विषय है, शास्त्र ही ब्रह्म में प्रमाण है। प्रमाण से पता लगता है कि प्रत्यग्रूपता ब्रह्म की है। जिस प्रकार से 'यह' -शब्द रस्सी को कहता है, पुरोवर्तिता रस्सी में है यह बात तुम्हारी आँख बतलाती है। अंधे व्यक्ति को तो इसका ज्ञान नहीं होगा! आँख से ही पता लगेगा। कोई कहे कि 'आँख के बिना तुम रूप सिद्ध करो। आँख की बात मत करो। बताओ सामने कौन-सा रूप है?' तो आँख के सिवाय और तो रूप में कोई प्रमाण है नहीं। अतः जो आँख को स्वीकार नहीं करेगा उसको रूप सिद्ध नहीं हो सकता। जो कहे, 'आँख से मुझे जो रंग दिखाई देता है, उस रंग को मैं नहीं मानता। सच्चा रंग कौन-सा है, बताओ?' उसे कभी रंग या रूप नहीं समझाया जा सकता। क्योंकि आँख के सिवाय और तो कोई तरीका नहीं है जिससे तुम बता सको कि किसी चीज़ का रंग क्या है। इसी प्रकार ब्रह्म में प्रमाण है वेद इसलिये, जो वेद को प्रमाण नहीं मानेगा उसको कभी भी ब्रह्म की सिद्धि हो नहीं सकती। आसुरी सम्पत्ति वाले के इतने ज़्यादा पाप हैं, जो उसको वेद में श्रद्धा करने नहीं देते, वेद में विश्वास करने नहीं देते। जिसे पीलिया रोग हो जाता है, उस व्यक्ति को सारा संसार पीला ही दीखता है। वह कहेगा 'यह पीला है', आप कहोगे, 'सफेद है'। ठीक इसी प्रकार से, जिसके अंतःकरण के अन्दर पाप-बाहुल्य है, उसको वेद प्रामाणिक नहीं दीखता, वेद में उसकी श्रद्धा होती नहीं। श्रुति ने स्पष्ट कह दिया, 'नावेदविन् मनुते तम् बृहन्तम्'। 'अवेदवित्' - जो वेदज्ञ नहीं है, वह उस ब्रह्म को नहीं जान सकता। पीलिया रोग आँख पर प्रभाव डाल रहा है, उसी प्रकार पाप अंतःकरण पर प्रभाव डाल रहा है। जब वेद प्रामाण्य नहीं माना, तब आगे धर्माधर्म का भी विवेक नहीं हो सकता क्योंकि जैसे ब्रह्म में वेद ही प्रमाण है, वैसे ही धर्म में भी वेद ही प्रमाण है। वेद प्रमाण को स्वीकार नहीं करने के कारण, धर्माधर्म का विवेक नहीं हो सकता। इसीलिये आगे (श्लो. १९) भगवान् कहेंगे कि 'आसुरी सम्पत्ति वाले को मैं बार-बार संसार के चक्र में ही डालता हूँ।' भगवान् जो बात कहते हैं वह स्वाभाविक हो जाती है। पाप के कारण उनको वेद में प्रामाण्य नहीं लगेगा, अतः उनको धर्माधर्म का ज्ञान होगा नहीं। अपनी कामनाओं से प्रवृत्त होकर वे पाप ही करेंगे, पाप फिर उनको नरक ही ले जायेगा। अन्यत्र शास्त्रों में कहा है कि ऐसे लोग भी घुणाक्षर न्याय से कभी किसी सत्संग के प्रभाव में आ जाते हैं तो धीरे-धीरे कल्याण भी पा लेते हैं।

एक चोर था। अपने पुत्र को भी उसने चोरी की ही शिक्षा दी। उसने उसे समझा दिया

'भूल कर भी कभी किसी महात्मा का सत्संग मत करना, उससे हमेशा दूर रहना, यह हम लोगों का कुलधर्म है।' वह कभी सत्संग करता ही नहीं था। एक बार कोई महात्मा सत्संग कर रहे थे, सुना रहे थे। लड़का उधर से कोई चोरी करने जा रहा था, बाबुलिये के काँटे का पेड़ वहाँ था, तो उसके पैर में काँटा गड़ गया। पैर में से काँटा निकालने के लिये बैठना पड़ गया उसको। जब वह पैर का काँटा निकाल रहा था, तब महात्मा बोल रहे थे कि 'देवता की कभी परछाई नहीं पड़ती, और देवता के पैर कभी ज़मीन का स्पर्श नहीं करते।' बस महात्मा ने इतना कहा, तब तक काँटा निकल गया, वह लड़का तुरन्त आगे चला गया। कुछ दिनों के बाद, कुछ लोगों ने उस चोर लड़के को बलि देने के लिये पकड़ लिया। उसको पकड़ कर ले आये मंदिर में बलि देने के लिये। वहाँ देवी जी की मूर्ति थी। उन्होंने एक ज़िन्दा मूर्ति वहाँ खड़ी कर रखी थी काली जी के कपड़े वगैरह सब पहना कर। उस लड़के ने देखा – सामने से काली जी आ रही है अपना फर्सा लेकर गला काटने के लिये। काली जी को देख रहा था तो – उसने देखा कि इसके पैर तो ज़मीन पर लग रहे हैं, और दूसरी तरफ देखा तो उसकी छाया भी पड़ रही है। सुना हुआ था ही कि, देवता के तो ज़मीन पर पैर नहीं पड़ते और छाया नहीं पड़ती। ये दोनों चीज़ें देखकर उसने निश्चिय किया कि 'ये दोनों चीज़ें हैं तो यह देवता नहीं हो सकती।' जो भयाक्रान्त स्थिति थी उसकी, वह चली गयी। बलि देने वाले लोग भी असावधान थे कि अब यह देवी जी को देखकर हतप्रभ हो ही गया है, भौंचक्का हो गया है, देवी जी आयेगी, सिर काट लेगी। जैसे ही इसके मन में आया कि 'यह देवी नहीं हो सकती है', तो उसने निर्णय किया आदमियों से लड़ सकता हूँ। जाकर बड़े ज़ोर से सर से धक्का मारा। जो काली जी बनी हई थी वह धड़ाम से गिर गयी। उसके हाथ से फर्सा निकाल लिया और झट मुख उधर कर के वे जो बलि देने वाले खड़े थे उनको मारने के लिये दौड़ा तो सब भाग गये। लड़का वहाँ से खूब ज़ोर से भागकर निकल आया, बच गया। उसने सोचा – 'जान बची। पर जान बची इसलिये कि उस दिन महात्मा के सत्संग की बात कान में पड़ गयी थी। पिताजी जो कहते हैं कि सत्संग बहुत बुरी चीज़ है वह ठीक नहीं, उसमें कोई अच्छी बात भी होती है'। इसको कहते हैं घुणाक्षर न्याय। न वह सुनने के लिये बैठा, न महात्मा जी ने उसको सुनाने के लिये कहा। पर शब्द का तो धर्म है कि सुना जाता है तो अर्थ ग्रहण करा देता है। यह निश्चय कर उसने अपने मन में कहा कि, पिताजी की बात सर्वथा ठीक नहीं है, सत्संग करना चाहिये, कोई मतलब की बात भी होती है। सत्संग करने लगा तो धीरे-धीरे उसका जीवन परिवर्तित हो गया।

ठीक इसी प्रकार से अनेक व्यक्ति होते हैं, उनको कोई शास्त्रों में श्रद्धा नहीं है, क्योंकि भयंकर पापों के कारण उनके चित्त में श्रद्धा होने की सम्भावना ही नहीं है। पर जब किसी कठिन परिस्थति में पड़ते हैं और कोई उनसे कहता है कि, 'ऐसा-ऐसा हवन कर तो दो, तुम्हें ठीक फल होगा'। भयंकर परिस्थिति में पड़ा होने से हवन करवा लेते हैं। यदि इष्ट कार्य हो जाता है, तब मन में आता है, कि शास्त्र सर्वथा अप्रमाणिक नहीं होंगे, कोई बात

उनमें ठीक भी होगी। फिर जब शास्त्र में प्रवृत्ति करने लगते हैं तो धीरे-धीरे समझते हैं कि उसमें तो सभी बातें ठीक हैं। इस प्रकार घुणाक्षर न्याय से कभी-कभी उन पापों के रहते हुए भी शास्त्र की तरफ प्रवृत्ति हो जाती है। परन्तु चूंकि यह कम ही होता है अतः भगवान् का यह कहना ठीक ही है कि बार-बार आसुरी योनियों में ही जायेंगे, नियम तो यही है। कभी किसी कारण से सत्संग मिल गया तो बच जायेंगे, यह अपवाद है।

'आसुरी' अर्थात् असुरों की जो सम्पत्ति है वह आसुरी सम्पत्ति हुई। उस सम्पत्ति को सामने रख कर 'अभिजातस्य' जो पैदा हुए हैं उनके अन्दर ये सब दुर्गुण होते हैं। जिनका जीवन आसुरी भावों वाला होना है, वे जब पैदा होते हैं, तभी उनके अन्दर इन दोषों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार से भगवान् ने बतलाया कि मनुष्य जन्म के समय से ही दैवी या आसुरी सम्पत्ति की तरफ प्रवृत्ति करेंगे। भगवान् पहले कह आये हैं कि अपनी-अपनी प्रकृति से ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। प्रकृति क्या है? भाष्य में स्पष्ट किया है कि पूर्व जन्मों में जो किया है, उसके जो संस्कार बने हैं, उसी का नाम प्रकृति है। जिसने पहले दैवी कार्य किये, वह पैदा भी होता है दैवी सम्पत्ति को लिये हुए और आगे जाता है दैवी सम्पत्ति की तरफ। पहले धर्म के कार्य करता है, अंत में मोक्ष की प्राप्ति करता है। और जो आसुरी सम्पत्ति को लिये पैदा होते हैं, वे आगे आसुरी सम्पत्ति के अनुरूप करते हैं, और बार-बार इस संसार के चक्र में पड़े ही रहते हैं। दैवी प्रकृति वालों की तरफ जाना चाहिये, आसुरी प्रकृति वालों से दूर रहना चाहिये, क्योंकि संग का असर आता है। जो साधक है, वह सुधारने के चक्कर में यदि असुरों के कुसंग में पड़ गया तो स्वयं अपना ही नुकसान कर लेगा। उनका फ़ायदा करना कठिन होगा, अपना नुकसान ज़रूर कर लेगा। अतः जब तक आत्मज्ञान दृढ नहीं हो जाता है तब तक असुरों की सम्पत्ति से बचना चाहिये। असुरों का असर देखा जाता हैः कोई भला आदमी आजकल के व्यापारियों के साथ संग करे तो वे लोग बार-बार कहेंगे 'आज के ज़माने में पैसा देने से ही काम होता है, पैसा दिये बिना काम नहीं होता है।' वह सुनते-सुनते दो चार साल बाद वह भी कहने लगता है 'आजकल पैसा दिये बिना काम नहीं होता।' वह उसका अपना विचार नहीं है। वह तो उनको नहीं समझा सका कि काम अपने पुण्य-पाप का जब फल होता है तब होता है नहीं तो नहीं होता है। शास्त्र तो यह कहता है। यह बात उनको नहीं समझा पाता है। वे ही उसको समझा चुके हैं कि पैसा दिये बगैर काम नहीं होता। इसलिये दूसरे का लाभ तो कर नहीं पाओगे, अपना नुकसान ज़रूर कर लोगे। इसलिये भगवान् ने 'अभिजात' कहा। असुर तो अकल्याण के लिये पैदा हुए हैं। उनका संग करोगे तो अकल्याण के रास्ते ही चल पड़ोगे। अतः असुरों के संग से बचो यह आवश्यक है ।।४।।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

पाण्डव! यह मानी बात है कि दैवी सम्पत्ति संसारबंधन से छूटने के लिये आवश्यक है और आसुरी सम्पत्ति निश्चित रूप से बंधन का ही प्रयोजन सिद्ध करती है। तुम शोक मत करो क्योंकि तुम दैवी सम्पत्ति को अभिलक्षित कर पैदा हुए हो।

दैवी सम्पत् तुमको इस संसार बन्धन से छुड़ाएगी। और आसुरी सम्पद् – 'निबन्धाय।' 'निबन्ध', नियतबन्ध, उससे बंधन होना निश्चित है। आसुरी सम्पत्ति तुमको हमेशा बन्धन में ही डालेगी। सब से बड़ा बन्धन किसका है? शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त चीजों में बँधना ही सच्चा बन्धन है। बाकी जिनको तुम बन्धन समझते हो, वे तो कभी होंगे और कभी नहीं होंगे। पर शरीर से लेकर अहं पर्यन्त जो हैं ये बन्धन नियत हैं – होंगे ही। आुसरी सम्पत्ति वाले के ये बन्धन कभी नहीं छूट सकते। इसलिये कहा कि आसुरी सम्पत्ति निबन्धन के लिये ही है। 'मता' – अर्थात् यह मेरा निर्णय किया हुआ मत है, मैंने अच्छी तरह से संसार चक्र को देख कर यह मत निर्धारित किया है कि दैवी सम्पत्ति छुड़ाएगी ही, चाहे बीच में कितनी ही रुकावटें आ जायें। आसुरी सम्पत्ति बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में डालेगी ही, बीच में कितना ही अच्छा नज़र आ जाये।

अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न हुआ कि 'मैं दैवी सम्पत् को अभिजात हूँ या आसुरी सम्पत् को?' ऐसा उसके मन में आया, यह जब भगवान् ने उसके चेहरे पर देखा तब कहा – 'मा शुचः'। तू शोक मत कर। तुझे चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि – 'दैवीं सम्पदम् अभिजातोसि'। तू तो दैवी सम्पद् प्राप्त करने के लिये, दैवी सम्पत् के संस्कारों से सम्पन्न होकर ही पैदा हुआ है। कई बार मनुष्य के मन में ऐसा सन्देह होता है, कह भी देते हैं लोग कि 'परमात्मा के रास्ते में चले हैं पर पता नहीं प्रारब्ध परमात्मा की प्राप्ति का है या नहीं? कहीं ऐसा नहीं हो जाये कि संसार के बढ़िया रसगुल्ले भी छोड़ दिये और उस आनन्दघन की प्राप्ति भी न हो।' क्योंकि उन्हें रसगुल्ले से अभी वैराग्य पूर्ण नहीं है। जिसको रसगुल्ले से वैराग्य पूर्ण हो गया है, उसके मन में तो सन्देह ही नहीं आता। जैसे अगर तुम्हारे पास सुअर की टट्टी है जिसे कोई छीने तो तुम्हें कष्ट नहीं होता। छीनने वाले ने तो उसको माल समझकर छीना, परन्तु तुमको उसमें इष्ट बुद्धि नहीं थी इसलिये उसके छिनने से तुम्हें कुछ दुःख नहीं है। इसी प्रकार जिसने समझ लिया है कि 'सारा संसार काकविष्ठा की तरह है। यह बोझ मेरे ऊपर पड़ा हुआ है प्रारब्ध के कारण। नहीं मिले तो अच्छा ही है।' उसे संसार छूटने से राहत ही मिलती है। वैराग्य की पूर्णता में तो मन में यह सन्देह ही नहीं उठता, पर जब वैराग्य पूर्ण नहीं होता है तब क्योंकि सांसारिक पदार्थ इष्ट लगते हैं इसलिये उन्हें छोड़ना भारी लगता है। यद्यपि असीम आनंद के लिये संसार के पदार्थ छोड़ते हैं तथापि पदार्थ स्वयं में उन्हें हेय नहीं लगते। इसलिये वह संदेह उठ जाता

है। कम-से-कम संसार छूट गया - इसकी उन्हें प्रसन्नता नहीं होती। अतः उनके मन में आता है कि संसार के पदार्थ भी न मिले, और कहीं परमात्ममार्ग में ब्रह्मानन्द भी न मिला, तो दोनों ही गये। वैराग्य की पूर्णता नहीं होती तो इस प्रकार की बात मन में आती है। ऐसे के लिये भगवान् संकेत दे रहे हैं कि यह सोचे- मैं इस मार्ग में चल पड़ा हूँ। दैवी गुणों के साथ अभिजात न होता तो इधर जाता ही नहीं। इधर जाने की प्रवृत्ति हुई, यही इस बात में प्रमाण है कि मैं 'दैवीमू अभिजात' हूँ। अतः अवश्य मोक्ष मिलेगा। अर्जुन ने भी भगवान् से कहा था, 'मुझे त्रिलोकी का राज्य भी मिल जाये तब भी मेरे में कोई शान्ति नहीं आने वाली' अतः वैराग्य की पूर्णता थी। अत एव भगवान् ने उसे दैवी संपत् वाला ही माना। संसार से वैराग्य, परमात्मा की तरफ जाने की प्रवृत्ति - ये दैवी संपत् के चिह्न हैं। अतः भगवान् ने कहा कि यह शंका मत कर कि तेरा कल्याण होगा या नहीं। तू दैवी संपत् से संपन्न है अतः अवश्य कल्याण का भागी बनेगा ।।५।।

मोक्षाधिकारी को जिन दोषों से बचना आवश्यक है उन्हें स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने आगे कहा

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

पृथानंदन! इस संसार में मनुष्यों की दो ही तरह की सृष्टि है - एक दैव और दूसरी आसुर। दैव विस्तृत प्रकार से समझा चुका, अब मुझसे आसुर के बारे में सुनो।

'दो ही' से भगवान् ने स्पष्ट किया कि राक्षसी कोई तीसरी सम्पत्ति नहीं, आसुरी के ही अंतर्गत है। आठवें अध्याय में (श्लोक १२) भगवान् ने तामसी राक्षसी प्रकृति को राजसी आसुरी प्रकृति से अलग बताया था। अतः यहाँ उसके बारे में उल्लेख अपेक्षित लगता है। किंच लोक में प्रसिद्ध देव, असुर, राक्षस - तीनों मनुष्यों से पृथक् होते हैं। अतः मानुषी सम्पत्ति भी गिनायी जाये यह ज़रूरी लगता है। भगवान् ने दोनों प्रश्नों का जवाब 'द्वौ एव' से दे दिया। संपत्तियाँ दो ही हैं, प्राणी दो ही संपत्तियों वाले पैदा होते हैं। राक्षसों की आसुरी संपत् वालों में गिनती हो जाती है और मनुष्य भी इन्हीं दो में से किसी संपत्ति वाले ही पैदा होते हैं। अतिधन्य वेद ने कहा है, 'द्वया ह प्राजापत्याः'। ब्रह्मा ने जो सृष्टि की है, उसमें दो प्रकार के प्राणी हैं - देव और असुर। इसी के अनुसार भगवान् ने दो विभाग किये। यहाँ मनुष्य इत्यादि योनियों को लेकर के भेद नहीं कह रहे हैं। 'अस्मिन् लोके' कह रहे हैं इसलिये मनुष्य लोक स्वभावतः प्राप्त है। मनुष्य की विशेषता यही है, कि यहीं से मनुष्य पशु योनियों को जाता है और यहीं से मनुष्य देव योनियों को जाता है। मनुष्य शरीर कर्मभूमि है। यहाँ करते हो, बाकी जितना भूतसर्ग है, सब भोग-योनियाँ हैं। वहाँ भोग होता है, नया कर्म नहीं होता। इस लोक में, अर्थात् मनुष्य लोक में, 'भूतसर्गौ द्वौ' भूतों की जो सृष्टि है, प्राणियों की जो सृष्टि है, वह दो प्रकार की ही है। मनुष्य लोक में जो भी उत्पन्न होगा, वह

या दैवी सम्पद् के लिये या आसुरी सम्पद् के लिये। दैवी सम्पद् के लिये पैदा हुआ आगे ऐसे कार्य करेगा जिससे उसे देव-योनियों की प्राप्ति होवे; आसुरी सम्पद् से युक्त जो पैदा होगा वह ऐसे कार्य करेगा कि पशु पक्षी इत्यादि योनियों में जाये। यहीं जाने की तैयारी होती है।

कौन-कौन से भूतसर्ग हैं? नाम ले दिया – 'दैव, आसुर एव च'। एक दैव और दूसरा आसुर, दो को ही सामने रखकर सारी सृष्टि होती है। इनमें से 'दैवो विस्तरशः प्रोक्तः'। दैव लोगों का क्या स्वरूप है, यह तो विस्तार से पहले काफी बतलाया है; दूसरे अध्याय में बतलाया, चौथे अध्याय में बतलाया, इसके पहले वाले अध्याय में बतलाया, सातवें में बतलाया, नौवें में बतलाया, बारहवें में बतलाया। दैवी सम्पद् के अन्दर जो अभिजात है उनका तो हमने विस्तार कर दिया। यहाँ भी काफी बतला दिया, अमानित्व से लेकर; परन्तु आसुर हमने विस्तार से नहीं कहा। बस चौथे श्लोक में जो कहना था वह कहा है। इसके पहले भी कोई खास नहीं आया। इसलिये आसुर भाग को अब हम विस्तार से बताने जा रहे हैं। यह नहीं समझ लेना कि इन आसुर भावों को कर्तव्य बता रहे हैं! इनको छोड़ना है यह बतलाने जा रहे हैं। परिवर्जन के लिये इन्हें विस्तार से बता रहे हैं, करने के लिये नहीं। यहाँ से लेकर और अध्याय की समाप्ति तक, आसुरी सम्पत्ति का वर्णन है।

दो तरह से गुणों को बतलाया जा सकता है : एक तो गुण को गुण-रूप से, और दूसरा गुण जिस गुणी में है उस गुणी के रूप से। यदि गुणरूप से कहते हैं, तो उसका स्वयं में ही अनुभव करना पड़ेगा। अंतःकरण में वह गुण आये तभी उसका अपरोक्ष होगा। उसे सही तरह समझने के लिये अंतःकरण में उस गुण को लाना पड़ेगा क्योंकि गुण को अंतःकरण में ही देखा जा सकता है। जब तक अंतःकरण में उस गुण को लावें नहीं तब तक उसका हमें साक्षात् अनुभव हो नहीं सकता। किन्तु आसुरी गुणों को अंतःकरण में लाने से हमारे अन्दर ग़लत संस्कार ही आयेंगे! नियम बतलाते हैं कि 'प्रक्षालनाद् हि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्' पहले कीचड़ में जाओ, पैर फँसाओ तब पता लगेगा कि कीचड़ में पैर फँसाने से ऐसा होता है। तब फिर उस कीचड़ को धोओ, पैर साफ करने के लिये। इससे अच्छा यही है कि कीचड़ के पास जाओ ही नहीं। आजकल के लोगों को यह समझ में जल्दी नहीं आता! आजकल लोगों की प्रवृत्ति है कि बुरा काम करके देखो, तब उसकी बुराई का पता लगेगा, तब उसको छोड़ो, तो छोड़ना पक्का होता है। परन्तु शास्त्रकारों का कहना है कि कीचड़ को नहीं छूना ही बेहतर है। आसुरी गुणों का यदि गुणरूप से वर्णन करते तो उनको समझने के लिये अंतःकरण में आसुरी गुण लाने पड़ते तब पता लगता कि वे कैसे हैं, फिर उनका परिवर्जन करते। इससे तो आसुरी दुर्गणों को न जानना ही ठीक है। इस समस्या का हल भगवान् ने निकाला : कीचड़ में तुम पैर मत फँसाओ। पर जिसका पैर फँसा हुआ है उसको देखो कि वह उससे कैसा परेशान है। इससे भी कीचड़ की परेशानी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेगा। गुण वाले का यदि वर्णन करते हैं, कि 'आसुरी गुण वाला आदमी ऐसा होता है'; तो आस-पास में आसुरी व्यक्तियों को देखकर पता चल जाता है और फिर

हम वैसा आचरण नहीं करते। इसलिये भगवान्, बजाय आसुरी गुणों को बतलाने के, आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों का वर्णन करते हैं जिनको तुम बाह्य प्रत्यक्ष से देख सकते हो, और फिर उन दुर्गुणों का परिवर्जन भी कर सकते हो। समझने के लिये भी उन्हें अपने अन्दर लाने की ज़रूरत नहीं है। यह भगवान् ने तरीका निकाला ।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

असुर जन कर्तव्य-अकर्तव्य नहीं समझते; शौच, सदाचार और सत्य उनमें नहीं होते। ''प्रवृत्ति''। प्रवृत्ति अर्थात् विशेष कर के प्रयत्नपूर्वक जिस तरफ जाया जाता है। वृत्ति मायने बरताव, व्यवहार। प्रकर्ष से किसी व्यवहार की तरफ जाना प्रवृत्ति है। और किसी व्यवहार से दूर होना निवृत्ति है। जिसको हम करने जा रहे हैं, वह व्यवहार अच्छा है या बुरा है इस बात को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानने का कोई तरीका नहीं। दृष्ट फल देख कर के यदि मानो कि इसका फल अच्छा दीखता है तो यह अच्छा कार्य है, तो प्रायः उल्टा ज्ञान होगा। अधिकतर लोगों को देखोगे कि घूस खाकर बड़े आदमी होते हैं। चोरी करके बड़े आदमी बनते हैं। डाके डाल कर बड़े आदमी बनते हैं। यह देखकर निर्णय कर लोगे कि ये अच्छा फल देते हुए देखे जाते हैं अतः अच्छे कार्य हैं। असुरों के निर्णय का यही तरीका होता है। जैसे, शास्त्र कहता है कि उपनयन करके वेदाध्ययन करे। परन्तु देखते हैं कि जो डाक्टर इंजीनियर इत्यादि बनते हैं, उनको जैसे अधिक धन की प्राप्ति होती है, ऐसे वेद पढ़े हुओं को नहीं होती। इसलिये जो दृष्ट फल देखते हैं वे उन विद्याओं में ही प्रवृत्ति करते हैं, वेद विद्या कि तरफ नहीं जाते। यह आसुर नीति है।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ वह वृत्ति है जो सचमुच में पुरुष के लिये फायदे की होवे। पुरुष अर्थात् - क्षेत्र को जानते हुए, क्षेत्र में रहने वाला। वह व्यर्थ ही क्षेत्र के सुख-दुःखों से सुखी-दुःखी होता है। जितने दृष्ट फल हमें देखने में आते हैं, सब क्षेत्र को ही प्राप्त होंगे। उनसे पुरुष को कुछ मिलेगा नहीं। किन्तु आसुर यह नहीं समझता कि क्षेत्र के धर्मों से मैं अस्पृश्य रहता हूँ, क्षेत्र के धर्मों से मेरा कोई लेना देना नहीं। आसुरी व्यवहार पुरुष के लिये अर्थ नहीं है, पुरुष का कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध करेगा। उससे क्षेत्र को लाभ नहीं होता - यह हम नहीं कह रहे हैं। परन्तु क्षेत्र के लाभ से पुरुष का कोई लाभ नहीं है। पुरुषार्थ को बतलाने वाला तो वेद ही है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान देने में सिवाय वेद के और कोई समर्थ नहीं है। वेद भी कहता है, यहाँ गीता में भगवान् भी कह आये हैं कि सारे वेदों के द्वारा 'अहम्' अर्थात् पुरुष ही जाना जाता है। पुरुषार्थ का साधन बतलाने वाला वेद ही है। परन्तु जो आसुरी प्रवृत्ति वाले होंगे वे उसमें कभी प्रवृत्त नहीं होंगे क्योंकि वे कहते हैं कि क्षेत्र को जिससे फल न मिले वह व्यवहार व्यर्थ है! वर्तमान में आसुरी प्रवृत्ति की अधिकता होने से सभी की यही दृष्टि है।

आसुर जन प्रवृत्ति को समझते ही नहीं हैं। प्रवृत्ति कराने वाले विधिवाक्य हैं। वेद ने कहा– 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आत्मा ही देखने के योग्य है। परन्तु आसुरी लोगों को ऐसे वेदवाक्य प्रवृत्त नहीं कर सकते। अर्थात् वेद का वाक्य, विधिवाक्य सुनने पर भी वे इसका वास्तविक तात्पर्य समझने में असमर्थ हैं, उनको लगता है – यह व्यर्थ बात है। ठीक इसी प्रकार से – 'निवृत्तिम् आसुरा जना न विदुः'। निवृत्ति – जिस व्यवहार से अपना, पुरुष का, अनर्थ होता है, उस अनर्थ के कार्य से दूर हटना निवृत्ति है। वेद ही ऐसे कार्यों को भी कहेगा – 'मा हिंस्यात्' – किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। हिंसा से निवृत्ति करनी चाहिये। किन्तु यह वाक्य असुरों को निवृत्त नहीं कर सकता। वे कहते हैं, 'इसके बिना काम चलता नहीं संसार में।' हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जिसको शास्त्र छोड़ने योग्य बताता है, उस सब को असुर करने लायक ही मानते हैं और स्वयं करते भी हैं। पुरुषार्थ का जो विरोधी है उसे वेद बतलाता है निषेध–वाक्यों के द्वारा परन्तु निषेध–वाक्यों से 'न विदुः', असुरों को समझ में नहीं आता। बहुत लोग कहते हैं, 'किसी ज़माने में रहा होगा बुरा, अब तो नहीं है!' वेद तो चीज़ों को काल–परिच्छेद से शून्य रहकर बतलाता है पर असुरों को समझ में कभी आता ही नहीं। जब वेद–वाक्यों से किसी में प्रवृत्ति नहीं होते देखो या निषेधों से निवृत्ति न देखो तो समझ लो कि वह असुर है और सावधान रहो कि वैसा तुम्हें नहीं बनना है। इस प्रकार तुम्हें प्रवृत्ति–वाक्यों को न समझना या निवृत्ति–वाक्यों को न समझना इसकी आवश्यकता नहीं हुई। इसलिये भगवान् ने कहा 'जना न विदुरासुराः' उन्हें प्रत्यक्ष करके बतला दिया।

अथवा, 'प्रकर्षेण वृत्तिः प्रवृत्तिः'। 'सारा संसार परमात्मा से कैसे उत्पन्न हुआ? इस सारे संसार की प्रवृत्ति किसलिये और क्यों होती है?' – ये बातें असुर लोग नहीं जानते इसलिये कहते हैं कि यह दुनिया तो हमेशा से ऐसी ही चली आयी है! संसार परमात्मा ने उत्पन्न किया, किसी प्रयोजन से उत्पन्न किया। प्रयोजन कौन–सा है, उत्पन्न करने का तरीका क्या है? – ये सब चीज़ें वे कभी अपने विचार का विषय बनाते ही नहीं। इन सब चीज़ों को समझते हैं, कि कौए के दाँत गिनने की तरह बेकार के काम हैं! क्योंकि इनसे कोई धन तो कमाया नहीं जायेगा! इसी प्रकार संसार प्रलयकाल में कैसे लीन होता है? इस का वे विचार नहीं करते। सामान्यतः यह माया में लीन होता है, परन्तु यदि इस संसार को ब्रह्म में लीन कर सकें, तो क्या विशेषता होगी – इस तरफ असुरों की दृष्टि नहीं जाती। अज्ञान के द्वारा माया में लीन होता है फिर उत्पन्न होने के लिये। ज्ञान के द्वारा, ब्रह्म में निवृत्त होता है तो फिर कभी प्रकट होता नहीं। पर ऐसा मोक्ष असुरों को नहीं जँचता। रोज़ रात में जब हम सोते हैं तब हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन सब लीन हो जाते हैं, कुछ नहीं रहता है। गहरी नींद में कुछ नहीं रहता। परन्तु जगने पर फिर उसमें ने निकल आता है। उठते हैं, तो सब वैसे का वैसा सामने आ जाता है। लीन तो हुआ, पर ऐसा लीन हुआ कि फिर उत्पन्न होना पड़ता है। ऐसा लय होना कुछ समय तक दुःख से छुड़ा सकता है, हमेशा के

लिये उपाय नहीं है। कई जने दुःख भूलने के लिये नशा करते हैं। कैसा नशा करना चाहिये? वे कहते हैं – "घर के जानें मर गया, आप रहे आनंद।" इतना नशा करो कि घर के लोग समझें तुम मर ही गये जबकि तुम आनंद में रहो। जैसे खुद सोने वाला आनन्द में है, लेकिन दूसरों के लिये तो मरे हुए जैसा ही है, ऐसे ही आदमी नशे में पड़ा रहता है और कुछ भी नहीं करता। नशे में ऐसा आनन्द आता है, परन्तु नशा ख़त्म होने के बाद, फिर वैसा का वैसा संसार सामने आ जाता है। इसी प्रकार से लोग मोह की मदिरा पी कर सोचते हैं बड़ा आनन्द आ रहा है, परन्तु जैसे ही मोह की निद्रा खुलती है वैसे ही कष्ट पुनः मौज़ूद पाते हैं। उन्माद में लगता है 'हमारे पास करोड़ों रुपया है, बड़े सुख से हैं। मेरा कोई क्या कर सकता है?' अकस्मात् धन उड़ जाता है! निद्रा खुलती है पता चलता है – अब मैं करोड़पति नहीं रहा। जैसे ही निद्रा खुल जाती है, वैसे ही फिर सारे के सारे दुःख, वैसे ही उपस्थित हो जाते हैं। सुषुप्ति, नशा, मोह का उन्माद – सब प्रलय की तरह है। कारण माया है, उसी में दुःखादि लीन होते हैं इसलिये समय आने पर फिर उससे प्रकट हो जाते हैं। यदि निद्रा में जाकर के आदमी को उठना न पड़ता, तब तो निद्रा लेना फ़ायदे की चीज़ थी। पर यह हो नहीं सकता। इसलिये अतिधन्य वेद ने कहा कि तुम्हारा जो आनन्द स्वरूप है, उस में स्थित होकर ही दुःख से अतीत बनो। अपने स्वरूप में स्थित होने के बाद, भयंकर से भयंकर दुःख भी तुम्हें कुछ विचलित नहीं करता। उस स्वरूपस्थिति के साधन वेद बतलाता है कि क्या-क्या परित्याग करना है, किस-किस से निवृत्ति करनी है। प्रवृत्ति – संसार कैसे उत्पन्न होता है? और निवृत्ति – कैसे इसका प्रलय होता है? कैसे इसकी ऐसी निवृत्ति होती है कि फिर कभी आता नहीं। इन दोनों बातों को असुर लोग नहीं जानते। वे तो यही जानते हैं कि मर के सुखी हुआ जाता है। आसुरी लोगों के अंदर यह बुद्धि होती है कि, एक बार मर जायेंगे तो सब दुःख मिट जायेंगे। कई बार लोग पूछते हैं कि आज कल इतनी आत्महत्याएँ क्यों हो रही हैं? आत्महत्या हमेशा आसुरी लोग करते हैं, क्योंकि समझते हैं कि शरीर चला गया तो फिर सारा दुःख गया। उन्होंने प्रवृत्ति का विचार तो किया नहीं है। कर्म-भोगों के कारण हम शरीर में आये हैं, कर्म-भोग के रहते हुए शरीर से आगे जाकर के भी कर्म-भोग तो वैसे के वैसे करने हैं – इस बात को जानते नहीं हैं। न सृष्टि क्यों और कैसे होती है, इसको जानते हैं, न सृष्टि प्रलय में कैसे निवृत्त होती है इसको जानते हैं। और न कैसे यह ज्ञान से सर्वथा निवृत्त होती है, इसको जानते हैं।

इतना ही नहीं, 'शौचं न विद्यते'। उनमें शौच नहीं होता। सारे दैवी गुणों का असुरों में अभाव होता है, उनके विरोधी दोष होते हैं। शौच दैवी संपत्ति का गुण है अतः वह असुरों में नहीं रहता। शौच क्या है, इसको शास्त्र से जानते हैं। बाह्य शौच – बाहर की पवित्रता; अन्तः शौच – अन्तःकरण में राग-द्वेषादि का न होना; ये द्विविध शौच भगवान् पहले कह आये हैं। असुरों में दोनों शौच नहीं होते हैं। सफाई अलग चीज़ है, और पवित्रता अलग चीज़ है। बहुत सी चीज़ें साफ तो करेंगी पर पवित्र नहीं करेंगी। आजकल प्रायः सफाई वाला

शौच तो लोग समझते हैं, पर पवित्रता वाला शौच तो शास्त्र से ही पता लगता है। तुम रगड़-रगड़ कर अच्छी तरह चाहे सूर्य उदय होने के बाद नहाओ, चाहे सवेरे चार बजे उठ कर नहाओ, सफाई तो एक जैसी होगी। पर प्रातःकाल उठ कर नहाने से जो पवित्रता आयेगी वह बाद में नहाकर नहीं आयेगी। इसी तरह से गंगा में स्नान करके जो पवित्रता आयेगी वह नहाने घर में नलके से नहा कर नहीं आयेगी। हो सकता है कई बार गंगा में स्नान करके उतनी सफाई न आवे जितनी सफाई घर में नलके के पानी से नहा करके आ जाये। ऐसा भी होता है। पहले की तरह, गंगा यमुना आदि को कोई इस दृष्टि से तो मानता नहीं कि 'ये हमारी माँ हैं'। जो शास्त्रीय लोग नहीं हैं उनको तो सूर्य आग का गोला लगता है, और गंगा जी पानी की धारा लगती है। इसलिये उसमें थूकेंगे भी, और शहर वाले सारा का सारा टट्टी पेशाब उसी में डालेंगे। जहाँ इस प्रकार से हो रहा है, वहाँ नहाने जाओगे, तो उतनी सफाई नहीं आयेगी जितनी नलके के साफ पानी से आ जायेगी, परन्तु पवित्रता, शुचि तो गंगा के स्नान से जो आयेगी वह इस पानी से नहीं आयेगी। यह ठीक है, कि शुचि में सफाई भी एक अंश है, लेकिन सफाई ही शुचि हो यह नियम नहीं है। शौच का पता शास्त्र से ही लगता है। आजकल के लोगों में सफाई तो दीखेगी, परन्तु पवित्रता नहीं दीखेगी क्योंकि आसुरी जन हैं इसलिये।

'नापि चाचारः'। 'आचार' को दैवी गुणों के अंदर भगवान् ने अलग से गिना नहीं है, तात्पर्य से कह दिया था। 'आचारः प्रथमो धर्मः'। धर्म का विचार करने पर, सबसे पहला जो धर्म है वह आचार कहा जाता है। आचार क्या है, इसे समझने के लिये बड़ा सूक्ष्म विचार करना पड़ता है। मनु ने जहाँ धर्म का विचार किया है वहाँ कहा है – 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' इन चार प्रकारों से धर्म का ज्ञान बताया है। पहला तो है जो बात श्रुति कहती है, वेद में जो आया है। वेद हम सनातनियों के लिये परम प्रमाण है – 'धर्मे प्रमीयमाणे तु प्रमाणं परमं श्रुतिः'। मनु कहते हैं कि धर्म की प्रमा करने के लिये, यदि धर्म का यथार्थ ज्ञान चाहते हो तो उसके लिये जो प्रमाण है, यथार्थ ज्ञान देने वाला है, वह वेद ही है। इसलिये श्रुतिविरुद्ध कुछ भी होगा तो हम लोगों को स्वीकार्य नहीं है। दूसरा प्रमाण स्मृति है – जिन ऋषियों ने धर्म को यथार्थ समझा है, उन्होंने जैसा समझा है वैसा जो वर्णन किया है उसको स्मृति कहते हैं। उन्होंने वेद को समझ कर के ही स्मृति लिखी है। उनकी समझ हमसे बहुत श्रेष्ठ थी। चूंकि उन्होंने वेदों को भली प्रकार से समझा था, अतः उनकी समझ ग़लत नहीं होगी यह मानकर जहाँ तक हो सकता है वहाँ तक श्रुति-स्मृति में परस्पर विरोध जल्दी नहीं देखा करते। परन्तु यदि कोई प्रकट विरोध मिले जिसका परिहार न हो तो उस विषय में माना जायेगा कि श्रुति ही प्रमाण है। अतः धर्म को समझने के लिये परम प्रमाण तो हो गया वेद। वेद को जिन लोगों ने भली प्रकार से समझ कर जीवन में निर्वाह किया है, उन्होंने उसको जैसा स्मृतियों में समझाया है वह भी प्रमाण है। हम लोगों को स्मृतियों की ज़रूरत इस लिये पड़ती है क्योंकि वेद बहुत लम्बा-चौड़ा है और उसके अंदर

विषयवार चीज़ें नहीं लिखी। इसलिये आगे पीछे पूरा याद रहे तभी उसको ठीक से समझ सकते हो। स्मृतियों के अंदर विषयवार चीज़ों को लिखा। इसलिये हम लोगों को समझने में सरल होता है परन्तु स्मृतियों में है सब वर्णन श्रुति के आधार पर। इसलिये दूसरा प्रमाण स्मृति को गिना। श्रुति व स्मृति ये दोनों ऐसी हैं कि उन ग्रन्थों को सामने रख कर आदमी समझ सकता है, समझा सकता है, विचार कर सकता है।

परन्तु केवल इतने मात्र में धर्म पूर्णतः ज्ञात नहीं होता। क्योंकि कितना ही स्मृतिकारों ने लिखा, फिर भी कई चीज़ें नहीं लिखी हुई रह जाती हैं क्योंकि हर चीज को विस्तार से बताया ही नहीं जा सकता। जिस काल में जिन चीज़ों को प्रायः स्वीकार किया ही जाता है, उसके बारे में मन में भी नहीं आता कि इसके बारे में भी कभी गड़बड़ होगा। परन्तु कालान्तर में वे बातें भी शंकास्पद हो जाती हैं। जैसे हम लोगों का ही अनुभव है; आज से साठ साल पहले, कभी सोचा ही नहीं था कि कोई हिंदू मुसलमान-ईसाई से ब्याह करके औरत घर में ले आयेगा और घर में सब लोग उसके हाथ का खायेंगे, पीयेंगे, सब व्यवहार करेंगे। तब कोई अगर ब्याह करता था, तो उसे घर से बाहर रखा जाता था, कोई उसके हाथ का खाता पीता नहीं था। एक लड़का अण्डा खाने लगा था तो उसके पिता ने उसे घर से बाहर किसी मकान में रख दिया और कभी यदि उसे घर जाना ही पड़े तो बाप वहाँ पानी तक नहीं पीता था। उस समय यह कल्पना नहीं कर सकते थे कि हिंदुओं के ऐसे घर होंगे जहाँ चाहे-जो लड़कियाँ ब्याहकर आयेंगी और अभक्ष्यभक्षण खुले-आम होगा। और अब बीसों घर हैं जहाँ बहुएँ ईसाई-मुसलमान हैं। सब लोग उन्हीं का खाते पीते हैं, सब कुछ हो रहा है! इसी तरह से कपड़ा पहन कर नहीं खाना चाहिये, यह तो स्मृतियों में मिल जाता है, आचार ग्रन्थों में मिल जाता है। पर किसी ने कल्पना नहीं की थी कि जूता पहन कर भी लोग खायेंगे। हम ही लोग कभी कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि जूता पहन कर लोग खायेंगे! अब जूता पहन कर खाते हैं। खाते हुए चलने वालों को कालिदास ने मूर्खों में गिना है। कभी सोचते ही नहीं थे कि कोई पढ़ा लिखा आदमी ऐसा हो सकता है जो खड़ा खाये! जब आचार का विचार करते हैं तब यह कठिनाई आती है, कि आचार सारे लिखे हुए नहीं मिल सकते। एक तो सारा विस्तार करना सम्भव नहीं, और कुछ इसलिये भी नहीं होता कि कई इतनी स्वीकृत बातें हैं कि कभी मन में ही नहीं आता है कि इन्हें भी लिखा जाये। इसलिये आचार शिष्ट पुरुषों के व्यवहार को देखकर ही समझ में आता है। अतः मनु ने, श्रुति स्मृति के साथ सदाचार को भी धर्म में प्रमाण कहा।

सदाचार अर्थात् सत्पुरुषों का आचार। सत्पुरुष अर्थात् शिष्ट, जिन्होंने भली प्रकार से वेद का अध्ययन किया, और उसके अनुसार जीने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसलिये जब विद्यार्थी को, समावर्तन करके गुरु विदा करते हैं तब वेद कहता है – 'ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः'। यदि कभी धर्म के बारे में शंका हो तो वैसा आचार स्वीकार लेना जैसा उस बारे में ब्राह्मण

करते हों। कैसे ब्राह्मण? 'सम्मर्शी' अर्थात् विचार करने में सक्षम, सूक्ष्मदृष्टि वाले। केवल विचरक नहीं 'युक्ताः' सत्कर्म में लगे हुए और वह भी किसी दूसरे के निर्देश में करने वाले नहीं वरन् 'आयुक्ताः' अर्थात् स्वतन्त्र रहकर करने वाले। क्यों कि कभी-कभी किसी अन्य के निर्देश में ऐसा भी काम कर लिया जाता है जिसे हम स्वयं तो ठीक नहीं मानते। अतः स्वतन्त्र व्यक्ति को मिसाल बनाना चाहिये। इतना ही नहीं, 'अलूक्षाः' अर्थात् जो ब्राह्मण रूखे न हों, क्रूर न हों। अतः गीता में भक्त के लक्षण बतलाये, तो उनको मैत्री-करुणा वाला ही बतलाया। किसी के प्रति उनके मन में द्वेष नहीं होता है। सब के प्रति उनके मन में करुणा मित्रता रहती है। रूखा व्यक्ति परिस्थिति अधिकारी आदि का परीक्षण बिना किये केवल लिखित अनुसार निर्णय सुना सकता है जो सबको हृदयंगम नहीं हो पाता। अतः वेद में 'अलूक्षाः' से कहा कि ऐसों के अनुसार निर्णय मत करना। और वे ब्राह्मण 'धर्मकामाः स्युः' केवल धर्म की ही कामना करते हों, और किसी दूसरी चीज़ की कामना नहीं रखते हों। अर्थात् उनके जो व्यवहार हैं वे धर्म-प्रेरित हों। यह तभी होगा जब और किसी इच्छा से वे कुछ करते नहीं। ऐसे ब्राह्मण जैसा बर्ताव करते हैं – वैसा ही तुम भी लोगों के साथ व्यवहार करो। सदाचार कहो या शिष्टाचार कहो, सत् या शिष्ट को यहाँ वेद ने बिलकुल स्पष्ट बता दिया। आचार स्पष्ट तभी समझ आता है जब किसी को करते देखा जाये। असुर अनाचार करके स्पष्ट कर देते हैं कि मुमुक्षु को कैसा आचार नहीं करना चाहिये। असुरों में 'आचार' अर्थात् सदाचार देखने को भी नहीं मिलता। शिष्ट पुरुषों के आचार को देखकर के जो आचार समझा गया है, वह आसुरी लोगों में नहीं देखा जायेगा।

'न सत्यं तेषु विद्यते'। सत्य के बारे में पहले बता चुके है। सत्य अर्थात् जैसी बात हो वैसा ही सामने वाला समझे, इसके प्रयत्न से पूरे वाक्य का उच्चारण करना, कोई बात छिपाना नहीं, विचार करके इसका कोई दूसरा अर्थ करे इस तात्पर्य से न कहा गया हो, प्राणियों के हित में हो, सुनने में अप्रियं न हो इत्यादि पहले बतला ही आये हैं। सत्य भी असुरों में देखने में नहीं आयेगा, सत्य का पता भी शास्त्र जानने वाले को ही होगा। और लोग सत्य का भी अर्थ नहीं समझ पायेंगे। शौच और सत्य का ज्ञान तो शास्त्र से भी हो जायेगा, परन्तु आचार शिष्ट पुरुषों को देखकर ही सीखना पड़ेगा। 'तेषु' अर्थात् जो आसुर जन हैं, उनके अंदर ये तीनों चीज़ें नहीं होंगी। भगवान् भाष्यकार इससे यह स्पष्ट नतीजा निकालते हैं – 'अशौचा, अनाचाराः, मायाविनः अनृतवादिनो हि आसुराः।' आसुर लोग किनको कहते हैं? जो पवित्रता से हीन होवें, आचार से हीन होवें, माया, ठगी करने वाले हों और असत्य की तरफ प्रवृत्त होवें। ऐसे लोग दीखें तो तुरन्त समझ लो-ये आसुर हैं।

आचार का स्वरूप बतलाते हुए, महर्षि याज्ञवल्क्य ने, आचाराध्याय के प्रारम्भ में ही यह बात लिखी कि सारे आचार का उद्देश्य क्या है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं

'इज्याऽऽचारदमाऽहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।।'(या.स्मृ.१.१.८)

अर्थात् इज्या आदि सब कर्मों में परम धर्म है योगद्वारा आत्मदर्शन करना। इज्या अर्थात् यज्ञ, देवपूजन आदि। 'दम' – इन्द्रियों का दमन, इन्द्रियों का निग्रह। अहिंसा का आचरण। दान, स्वाध्याय – ये सब कर्म धर्म हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा परमधर्म यही है कि परमात्मा का दर्शन किया जाये। उसी के सहायक रूप में ये सब हैं। परम-धर्म कहने का तात्पर्य यही है कि यदि यह उद्देश्य सामने रहता है, तब तो बाकी सब कर्म सहायक हो जाते हैं, परन्तु यदि आत्मदर्शन के मार्ग में ये कर्म बाधक बनने लग जायें तो फिर ये कर्म उचित नहीं रहते। जितने भी हम कर्म, पूजा, पाठ,जप,स्वाध्याय, आदि करते हैं, उन सब में यह ध्यान रखना चाहिये कि हम आत्मज्ञान के नज़दीक जा रहे हैं या नहीं। इसलिये अन्यत्र बतलाया है, 'सर्वथा सर्वभावेन अध्यासापनयनं कुरु'। सर्वथा, अर्थात् किसी भी परिस्थिति सें, किसी भी प्रकार के व्यवहार में, जीवन में रहना पड़े; 'सर्वभावेन' – तब भी अपने हृदय के सारे भावों को एकत्रित करके, आत्मा के ऊपर जो शरीर से लेकर के अहंकार पर्यन्त अध्यास हैं, उन अध्यासों को हटाने का ज़रूर प्रयास करो। इसीलिये, याज्ञवल्कय शौच का विचार करते हुए कहते हैं

'सत्यं शौचं मनःशौचं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं जलशौचं तु पंचमम्।।'

सब से पहले कहा 'सत्यं शौचं'। हमेशा सत्य के प्रति आग्रह वाला रहना। बोलने में तो सत्य आचरण करना ही, परन्तु जो किसी भी तरह का सत्य है उसका सामना करने से पीछे न हटना। यह शौच का प्रथम रूप है। इसी प्रकार मन के राग-द्वेष आदि को हर समय हटाने का प्रयत्न करना – 'मनः शौच'। 'शौचम् इन्द्रिय निग्रहः' – इन्द्रियों को जितना हो सके उतना विषयों से दूर रखने का प्रयत्न करना। कितना दूर रख सकते हो, यह तुम्हारे हाथ में है। प्रयत्न हमेशा होना चाहिये कि इन्द्रियों को विषयो की तरफ ले जाने में बढ़ोत्तरी नहीं करना। जितना घटा सको उतना घटाओ। 'सर्वभूतदया शौचं' – सारे प्राणियों के प्रति हमेशा दया का व्यवहार करना। क्रूरता के भाव को किसी भी प्राणी के प्रति नहीं लाना। इन चार शौचों के बाद में कहा, 'जलशौचन्तु पंचमम्'। पानी से जो शरीरादि, हाथादि की शुद्धि है, वह शौच की प्रधानताओं में पाँचवीं होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि जलशौच की तरफ ध्यान मत दो, परन्तु प्रायः उस शौच को सामने रख कर जो प्रधान शौच हैं उनको भूल जाते हैं। अगर हमारे शौचादि व्यवहारों से सत्य-इन्द्रियनिग्रह इत्यादि का त्याग होता है, तो चाहे बाह्य शौच छोड़ना पड़े, इनको न छोड़ो।

भगवान् स्वयं कहेंगे (१८.४८) कि सभी कर्म ऐसे होते हैं जिनमें दोष कुछ-न-कुछ होता ही है। चाहे जितनी सावधानी करो, फिर भी कहीं-न-कहीं दोष होगा। बाह्य चीज़ों से ही आचरण करते हैं, शरीर प्राण इत्यादि सब बाह्य हैं, वे सब अपने ऐसे नियमों से और प्रकृति से चलते हैं कि उनसे कितनी भी सावधानी बरतने के बाद भी कुछ-न-कुछ ग़लती होती ही है। कर्मफल देने वाला परमेश्वर है। शुभकर्म करने से परमेश्वर की प्रसन्नता होकर के

अनुग्रह होता है, अशुभकर्म करने से परमेश्वर की कृपा प्रतिबद्ध हो जाती है। परमात्मा चेतन है। चेतन की विशेषता यह है कि अगर तुमने कोई ग़लती की परन्तु हृदय से क्षमा माँगते हो, तो क्षमा कर देता है। जैसे लोक में भी दीखता है, बड़ी से बड़ी गलती करके आदमी जब इस बात को समझ लेता है 'मैंने ग़लती की' और माँ से जाकर कहता है, 'भूल हो गई', तो माता उसको क्षमा कर देती है। परन्तु यह क्षमा-प्रार्थना वास्तविक हृदय से होनी चाहिये, उस भूल को पुनः करने की तैयारी रूप में नहीं। क्योंकि परमेश्वर तुम्हारे अन्तःकरण में हमेशा विद्यमान है इसलिसे अतिधन्य वेद कहता है, 'मनुष्य रूपी जो शरीर है, उसके अन्दर जीव और ईश्वर दोनों बैठे हुए हैं। जीव तुम हो और इसमें ईश्वर भी बैठा हुआ है।' आगे (१८.६१) भगवान् भी कहेंगे - 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति'। चेतन तो एक ही है, जब वह अहंकार से लेकर देह तक तादात्म्य का अनुभव करता है तब उसी को जीव कहा जाता है, और जब इन सब के साक्षी रूप से रहता है तब वह ईश्वर कहा जाता है। इसलिये तुम्हारे मन का कोई भाव उससे छिपाना सम्भव नहीं है। इसी दृष्टि से शास्त्रों ने कहा,

'ब्रह्महापि शुचिर्भूत्वा निर्माल्यं यस्तु धारयेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकं स गच्छति'।

ब्रह्म-हत्या करने वाला भी निर्माल्यधारण कर पाप से छूट जाता है। 'ब्रह्म' से यहाँ तात्पर्य मुख्य ब्रह्म से भी है; ईशावास्य में जहाँ 'आत्महनो जनाः' कहा, वहाँ भाष्यकार कहते हैं - 'विद्यमान आत्मा की तरफ दृष्टि न करना ही उसका हनन है।' हमारे हृदय में सच्चिदानंदघन ब्रह्म बैठा हुआ है, और हम संसार की सारी चीज़ों की तरफ ध्यान रखते हैं, उसकी तरफ नहीं! मनुष्य जब कहता है 'महाराज! हमारा यह कर्तव्य बाकी है, यह कर्तव्य बाकी है', तब कभी नहीं गिनाता कि अभी सबसे बड़ा कर्तव्य बाकी है - मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। है तो यह प्रथम कर्तव्य। परन्तु इसको कर्तव्यों में नहीं गिनता। बच्चों की शिक्षा, बच्चों को काम पर लगाना, व्यापार की सँभाल करना - ये सब कर्तव्य बाकी गिनायेगा, लेकिन 'अभी मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया' इसे नहीं गिनाता। यह जो साक्षात् ब्रह्म की हत्या है वह करने वाला भी ब्रह्म है। उस ब्रह्म को बतलाने वाला वेद भी ब्रह्म ही है - 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' कोशकार कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद। उसका भी हनन करते हैं। वेद को धारण करने वाले ब्राह्मण की हत्या करना प्रसिद्ध ब्रह्महत्या है ही। सबसे बड़े पापों में ब्रह्महत्या को गिना है। शास्त्रकार कहते हैं - 'ब्रह्महाऽपि' मतलब इतना बड़ा दोष करने वाला भी 'शुचिर्भूत्वा' - पवित्र हो कर के, अर्थात् वास्तविक भावना से युक्त हो कर के, 'निर्माल्यं यस्तु धारयेत्' - भगवान् शंकर का पूजन कर के, भगवान् शंकर को चढ़ाये हुए जो पदार्थ हैं उनको प्रसाद रूप से ग्रहण करता है, तो पाप से छूटता है। वस्तुतः भगवान् शंकर, सच्चिदानंद ब्रह्मरूप हैं। माण्डूक्य उपनिषद् कहती है, 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवम्' पंच

महाभूतों का जो इतना बड़ा फैलाव है प्रपंच, यह जहाँ निवृत्त हो जाता है अर्थात् सारी उपाधियों से रहित जो है वही शिव है। उसे जो भी पदार्थ चढ़ा है, जो भी नाम–रूप है, सब उसी में अध्यस्त है। अतः नाम–रूप का ग्रहण करते समय, यह याद रखना कि 'ये सब उस शिव में अध्यस्त हैं', सब नाम–रूपों को शुद्ध करता है।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है,

'ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानात् भावनाबलतोपि वा।
विना विशुद्धिर्द्रव्यानां न सिद्धयति कदाचन।।'

सब कुछ ब्रह्मरूप है। यह श्रुति प्रमाण से ठीक प्रकार से समझना है कि कैसे सच्चिदानन्द इस सारे संसार में अधिष्ठानरूप से मौजूद है। किंतु प्रमाण से ज्ञान कठिन होता है, इसलिये शास्त्रकार कृपाकर कहते हैं 'भावनाबलतोपि' – तुमने इस बात का अज्ञाननिवर्तक ज्ञान प्राप्त नहीं किया कि सब कुछ ब्रह्मरूप है, परन्तु 'ये सब ब्रह्मरूप हैं' ऐसी भावना तो कर ही सकते हो। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' के प्रसंग में (१५.१४) भाष्यकार ने कहा था – कि 'भोक्ता वैश्वानर है, भोज्य अन्न चंद्रमा है, सब कुछ इन दो ही में सिमटा है' इस प्रकार से देखते हुए जो भोजन करता है, उसे कभी अन्न का दोष नहीं लगता। जो ज्ञान के बल से ऐसा कर सके वह ज्ञान के बल से करे, अन्यथा भावना का बल तो लगा ही सकता है। 'यह सब ब्रह्म है', इस भावना या ज्ञान के बिना द्रव्यों की विशुद्धि कभी भी सिद्ध होती नहीं। हर विषय की शुद्धि इस बात के ज्ञान से होती है कि ये सब परमेश्वर की ही नाम–रूप से कल्पित उपस्थिति है। इसी से शुद्धि होती है। अन्यत्र भी कहा है, 'ब्रह्मरूपेण संग्राह्य सर्वं शुद्धं सदा भवेत्' ब्रह्मरूप से जिस चीज़ को भी हम सम्यक् प्रकार से ग्रहण करते हैं, वह सब शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार का भाव दृढ हो सके इसके लिये जो ब्रह्मनिष्ठ लोग होते हैं उनकी शुश्रूषा करनी चाहिये, उनकी बात का श्रवण करने और उनकी सेवा करने से ही सह सिद्ध होता है।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा,

'अतउक्तेषु सर्वेषु शुश्रूषा शिवयोगिनः।
शिवप्रीतिकरी साक्षाद् इति वेदार्थसंग्रहः।।

वेद के अंदर कहा गया जो अर्थ, तात्पर्य है उसका संक्षेप से संग्रह यही है कि जितने भी आचार गिनाये हैं उन सब में, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, हमेशा शिव से युक्त हैं, उनकी शुश्रूषा की जाये। शुश्रूषा के दोनों अर्थ याद रखना – वे जिस उपदेश को देते हैं उसको इच्छापूर्वक ग्रहण करना, और उनकी सेवा करना। ऐसे शिवयोगियों का श्रवण करना और उनकी सेवा करना, यह भगवान् शिव के लिये अत्यन्त और साक्षात् प्रीतिकर है। साक्षात् इस लिये, कि श्रवण के द्वारा जो ज्ञान होता है वह हमारे अन्तःकरण में ज्ञान को साक्षात् देता है, जब हम सेवा

करते हैं तो शिवयोगी की प्रसन्नता भी प्रत्यक्ष ही दीख जाती है। सारे वेद के तात्पर्य को इसमें बतलाया है। इस प्रकार से निरन्तर जब मनुष्य सर्वथा सब स्थितियों के अंदर, सभी प्रकार के व्यवहार करते हुए, आत्मानुसंधान करता रहता है तब धीरे-धीरे बंधन-निवृत्ति रूप फल अवश्यं भावी है।

यद्यपि सभी प्राणियों के प्रति दया करनी है, फिर भी प्राणियों में उपाधि के कारण तारतम्य है। मनु ने बताया है 'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।। ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।।' (मनुस्मृ.१.९६-७) जो भी पदार्थ हैं वह सब परमात्मा का ही नाम रूप है इसलिये ईश्वर रूपी चेतन सर्वत्र विद्यमान है। हम लोग जब पूजा करते हैं तो घर के देवता को भी नमस्कार करते हैं – गृहदेवता। घर भी पांचभौतिक है, वहाँ चेतन मौजूद है, वह चेतन घर की उपाधि वाला होने से गृहदेवता है, अन्यथा तो ईश्वर है। सारा ही संसार परमेश्वर का नाम-रूप होने से, परमेश्वर में कल्पित होने से, परमेश्वररूप तो है ही। परमेश्वर अर्थात् चेतन। लेकिन उसमें जहाँ प्राणन क्रिया देखी जाती है – पेड़ पौधों में भी देखी जाती है, छोटे जन्तुओं में भी देखी जाती है, वे उपाधियाँ श्रेष्ठ हैं। प्राणन क्रिया के साथ जहाँ बुद्धि की भी क्रिया देखी जाती है, बुद्धि का भी अनुमान होता है, वे उनसे श्रेष्ठ हैं। उन बुद्धिजीवियों में भी मनुष्य और उनमें भी ब्राह्मण जो शास्त्रानुकूल चीज़ों को जानने वाले हैं, जिन्होंने ठीक से समझा है, वे श्रेष्ठ हैं। विद्वानों की अपेक्षा कृतबुद्धि श्रेष्ठ हैं। अर्थात् जिन्होंने बुद्धि से समझ लिया है, उनकी अपेक्षा भी उसके अनुसार जो करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। और 'मैं कर्ता हूँ', इस भाव से जो करते हैं, उनकी अपेक्षा 'ब्रह्मवेदिनः' जिन्होंने कर्तृत्व भाव छोड़ दिया है ऐसे जो संन्यासी हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस सारी व्यवस्था का मूल कारण श्रद्धा है, 'श्रद्धा सर्वस्य कारणम्' सारी सत्प्रवृत्ति का मूल कारण तो श्रद्धा है। आखिर प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी हमारी श्रद्धा ही तो है। हमारी आँख ने देखा तो मानते हैं कि ठीक देखा। आँख ने देखा वह ठीक क्यों है? इस प्रश्न का क्या जवाब दे सकते हो? जीभ ने मीठा खाया तो चीज़ मीठी ही है, सचमुच ही मीठी है, यह जीभ के ज्ञान में श्रद्धा है। ऐसी ही श्रद्धा जब ईश्वर में हो, गुरु में हो, शास्त्र में हो, और स्वयं अपने में हो कि 'मैंने जो अच्छी तरह से समझा है, चीज़ वैसी ही है' तभी सत्प्रवृत्ति होगी अन्यथा, बहुत बार, शास्त्र को ठीक तरह से समझ लिया और निश्चय भी हो गया कि शास्त्र यही कहता है, ईश्वर में भी श्रद्धा है, गुरु में भी श्रद्धा है, लेकिन अपने में श्रद्धा नहीं है कि 'मैंने जो समझा वही ठीक है', अतः लगता है कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि कोई दूसरी बात होवे' जिसके फलस्वरूप प्रवृत्ति नहीं होती। बहुत से साधकों में आत्मश्रद्धा का अभाव होता है। ईश्वर में श्रद्धा, शास्त्र में श्रद्धा, गुरु में श्रद्धा, और खुद अपने में श्रद्धा – ये चार श्रद्धाएँ होती हैं, तभी निश्चित ज्ञान और भावना की प्राप्ति होती है। क्योंकि यह श्रद्धा आसुरी लोगों में नहीं होती, अतः उनको इस प्रकार का ज्ञान सम्भव ही नहीं होता। दूसरे का आसुर भाव

देखने में आवे या न आवे, अपना आसुर भाव तो दीख ही जाता है। यह जो श्रद्धा का अभाव है यह स्वसंवेद्य है। खुद ही पता लगता है। अतः जिसमें थोड़ा भी आसुर भाव प्रतीत हो तो सावधान होकर उसे दैव भाव से काट देना चाहिये।।७।।

श्रद्धा के अभाव में असुरों का कैसा निश्चय होता है –

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

असरु कहते हैं कि जगत् असत्य है, धर्मव्यवस्था पर स्थित नहीं है, इसका कोई रचयिता, पालक ईश्वर नहीं है, स्त्री–पुरुष के आपसी सम्बन्ध से ही यह पैदा हुआ है और कामना को छोड़कर इसका अन्य कोई हेतु नहीं है।

जिनके अंदर श्रद्धा का अभाव होता है, वे कहते हैं 'असत्यम्' जगत् सत्य नहीं है। वेदान्ती भी कहता है कि यह जगत् सत्य नहीं है क्योंकि माया का कार्य है, अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है। परन्तु यह असुरों का कहना नहीं है! इनका तो मानना है, कि जैसे हम झूठ को ही अपना सहारा सब तरह से बनाते हैं, उस प्रकार इस संसार में जितने लोग हैं सब झूठ को ही अपना सहारा बनाते हैं। एक हमारे परिचित सज्जन कहते हैं – 'विश्वास तो अपने बाप का भी नहीं करना चाहिये'; यह है 'असत्यं' का भाव कि क्योंकि मैं किसी के साथ विश्वास के अनुकूल कार्य नहीं करता अतः कोई विश्वासी हो ही नहीं सकता। अतः शास्त्र, ईश्वर, गुरु, सब के ऊपर लांछन लगाते हैं। कई लोग कहते हैं – 'भगवान् की स्तुति करो तो वे प्रसन्न होते हैं, नहीं तो नाराज़ होते हैं, इसका मतलब भगवान् भी खुशामदी हैं, उनकी खुशमद करो तो खुश होते हैं।' अतः सत्य–अधिष्ठान वाला न मानने से वे जगत् को असत्य कहते हैं न कि अनिर्वचनीय मानने से।

और 'अप्रतिष्ठम्'। इस जगत् की प्रतिष्ठा किससे है? धर्माधर्म से ही संसार की प्रतिष्ठा है। परन्तु असुर कहते हैं 'धर्म–अधर्म कोई चीज़ है ही नहीं। इसलिये जगत् के अंदर–धर्म करोगे तो अच्छा फल मिलेगा, अधर्म करोगे तो बुरा फल मिलेगा, ऐसा कुछ नहीं है। बस, युक्ति से अपना काम कर लोगे तो सफल हो जाओगे, धर्माधर्म कारण नहीं है।' वर्तमान में अधिकतर हम जब व्यवहार करते हैं तो यही भावना रहती है। महाभारत में विचार आता है कि काल का कारण राजा होता है या राजा के कारण काल होता है? अंतिम निर्णय वहाँ दिया है – 'राजा कालस्य कारणम्' राजा ही काल का कारण है। जिस प्रकार के नियम बनाकर वह समाज को प्रेरित करता है, संसार में अधिकतर लोग तदनुसार ही जीवन चलाते हैं। इहलोक के फल को देखकर ही परलोक को समझा जाता है। राजा यदि धर्म–अधर्म की प्रतिष्ठा नहीं करता, अर्थात् ठीक काम करने वालों को पुरस्कृत नहीं करता, ग़लत काम करने वालों को दंडित नहीं करता तो लोगों के मन में आता रहता है, कि जैसे यहाँ का राज्य है वैसे ही संसार का भी होगा, अच्छा काम करने वाले को भी दुःख होता

रहेगा, बुरा काम करने वाले भी सफल होते रहेंगे! जिस समाज में ऐसा नहीं या कम होता है वहाँ मनुष्य को संसार धर्म पर स्थित मान लेना सहज हो जाता है। शास्त्रसंस्कार अधिक दृढ हो अथवा कुतर्क संस्कार अधिक दृढ हो तो परिस्थिति के विपरीत भी निश्चय रखने वाले होते हैं लेकिन कम, ज़्यादातर लोग तो परिस्थिति के प्रवाह में ही बहते हैं। आसुरी लोग मानते हैं कि जगत् हमारी तरह झूठों से ही भरा हुआ है और अप्रतिष्ठित है, कोई यहाँ नियम नहीं है। जैसे–तैसे सफलता पा लेना ही सार है। इसलिये, 'ते जगद् अनीश्वरम् आहुः' – वे कहते हैं कि इस जगत् को नियन्त्रण में रखने वाला, शासन करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। अर्थात् धर्माधर्म की अपेक्षा कर के, अधर्मी को दण्ड देने वाला और धर्मात्मा को पुरस्कार देने वाला कोई परमेश्वर नहीं है। इस प्रकार जगत् को ईश्वररहित मानते हैं।

प्रश्न होगा कि यदि इसकी प्रतिष्ठा नहीं है तो ये जीव कहाँ से पैदा होते हैं? एक करोड़पति के घर में पैदा होता है, दूसरा फुटपाथ के ऊपर भिखमंगन के पैदा होता है। बिना कर्मानुसार फल देने वाले ईश्वर के कैसे व्यवस्था मानोगे? असुर कहते हैं कि कोई जीव आता–जाता नहीं है! ये सब तो, 'कामहैतुकम्' पति–पत्नी की कामना के कारण ही ये सब पैदा होते हैं। 'अपरस्परसम्भूतं'-कामना से प्रवृत्त जो स्त्री–पुरुष का अन्योन्य संयोग है, बस उसी से प्राणी पैदा होते हैं, धर्माधर्म के अनुसार कोई प्राणी आते हों ऐसा कुछ नहीं है। कामना से अन्य किसी और को कारण मानने की ज़रूरत नहीं है। असुरों को लगता है कि वेद भी यही कहता है, ' सोऽकामव्यत' – उसने कामना की। अर्थात् कामना से ही जगत् उत्पन्न होता है। इसलिये कामना से ही प्रयुक्त स्त्री–पुरुष बच्चों को पैदा कर लेते हैं। इसमें धर्माधर्म को कारण मानने की कुछ भी ज़रूरत नहीं है। कामना ही प्राणियों का कारण है। यही लोकायतिक दृष्टि है। अर्थात् केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से जो चलेंगे, वे यहीं तक पहुँच सकते हैं।।८।।

आसुर विचार की हेयता समझाते हैं –

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।९।।

आत्मा मानो जिनके लिये है ही नहीं, जिनकी बुद्धि तुच्छ विषयों से आगे कुछ समझने में असमर्थ है वे जगत्–शत्रु असुर पूर्वोक्त विचार के सहारे क्रूर कृत्यों वाले होकर जगत् के क्षय के लिये ही मानो उपजे हों।

'एतां दृष्टिमवष्टभ्य' – इस दृष्टि का आलम्बन करके कि कामना ही सब चीज़ों को पैदा करती है, हम भी कामना से ही प्रवृत्त होकर कार्य करते हैं, संसार ऐसा ही चलता रहेगा, कामना से ही प्रयुक्त होकर करते रहो। इसी दृष्टिकोण का सहारा लेकर 'नष्टात्मानः' इनकी आत्मा नष्ट है अर्थात् आत्मा की तरफ इनका ध्यान ही नहीं जाता। अगर थोड़ा भी विचार

करें, तो तुरन्त प्रकट होगा कि 'मैं हूँ'। कोई ऐसा मनुष्य नहीं जिसको यह अनुभव न होवे कि 'मैं हूँ।' 'मैं कामना से *उत्पन्न हुआ* हूँ' ऐसा किसी को भी अनुभव नहीं होता! 'मैं हूँ' का ही अनुभव रहता है। इसी प्रकार, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव हर प्राणी को होता है, परन्तु 'मैं कौन हूँ, जो जाग्रत् अवस्था में संसार को देखता हूँ, स्वप्न अवस्था में बाह्य संसार को न देखकर अपने मन के संसार को देखता हूँ, गहरी नींद में जाकर किसी को नहीं देखता, कुछ नहीं जानता, वह ''मैं'' कौन हूँ?' – यों मैं की तरफ कभी उनकी दृष्टि जा ही नहीं सकती। विषयों की तरफ ही उनकी दृष्टि जाती है। 'यह मिला' – यह तो सोचते हैं, पर 'किसे मिला?' यह कभी नहीं सोचते। भोक्ता की तरफ उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, भोग्य में ही लगे रहते हैं। वर्तमान काल में इसी दृष्टि से बहुत से लोग कहते हैं कि सच्चा तो वैषयिक जगत् है, विषयी (द्रष्टा) का जगत् तो झूठा ही है। कभी भी यह नहीं सोचते कि विषय तभी होगा जब पहले विषयी होवे! बिना ज्ञाता के हुए पदार्थ किसको ज्ञेय है? – यह विचार उन्हें कभी आता ही नहीं। वर्तमान काल में इसका बाहुल्य है ही। इसलिये कहा – 'नष्टात्मानः'। आत्मा उन के लिये नष्टप्राय है; उस तरफ इनकी दृष्टि ही नहीं हो सकती। निरन्तर अनात्मा को ही देखते रहते हैं।

ऐसा क्यों करते हैं? 'अल्पबुद्धयः'। इनकी जो बुद्धि है, वह अल्प, परिच्छिन्न चीज़ों का ही विचार करती है। कालिदास ने दिलीप की कथा में इसका वर्णन किया है। राजा दिलीप गुरु की गाय को बचाने के लिये शेर से बोले 'तुझे भूख लगी है तो मुझे खा ले, गुरु जी की गाय को छोड़ दे।' शेर ने कहा 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्'। एक छोटी-सी गुरु जी की गाय के पीछे अपना ही शरीर छोड़ने को तैयार हो रहे हो, इसलिये तुम्हारी बुद्धि किसी काम की नहीं! राजा ने उसका जवाब दिया कि, यह नश्वर शरीर तो खत्म होने वाला है ही, इसको बचा कर भी क्या लाभ होना है? परन्तु गुरु की गाय का रक्षण हमारा धर्म है। साथ ही, शरीर के पीछे गुरु की गाय मरने दी तो हमेशा के लिये अपयश और हो जायेगा। तू मेरे इस पांचभौतिक शरीर को देख रहा है, मेरे यश-रूप शरीर का विचार कर। 'अपने प्राणों की आहुति देकर भी गाय का रक्षण किया', यह जो मेरा यशोमय शरीर होगा, उसे बनाये रखो। असुर तो तत्काल के सुख के लिये हमेशा का अपयश और पाप अर्जित करने को बुद्धिमानी समझते हैं, जबकि दैवी प्रकृति वाले अल्प सुखों को महत्त्व न देकर महान् उद्देश्यों की पूर्ति का ही प्रयास करते हैं। संसार के लोग, आत्मा का विचार करने वालें को विचारमूढ कहते हैं जैसे शेर ने कहा। संसार कितना आगे बढ़ रहा है, कितनी उन्नति कर रहा है, इसकी खूब तारीफ करेंगे। उन तरक्कियों के साथ क्या-क्या विनाशलीलाएँ हो रही हैं उस ओर ध्यान नहीं देना चाहते, ध्यान दिलाओ तो यह कहकर टाल देते हैं 'यह तो नहीं होना चाहिये।' यदि वैषयिक प्रगति होनी चाहिये, तो उसके साथ विषयीकी अवनति होगी ही। हैं तो वस्तुतः वे विचारमूढ, पर समझते हैं कि 'मुमुक्षु बाह्य उन्नति नहीं करते तो विचरमूढ हैं!' इसलिये कहा कि अल्पबुद्धि हैं, इस शरीर की सीमा

में ही सोच पाते हैं।

चूंकि अल्पबुद्धि हैं, इसलिये – 'जगतः क्षयाय उग्रकर्माणः प्रभवन्ति'। जगत् का नाश करने में लगे रहते हैं। जितने संहारक यंत्र बन रहे हैं, सब जगत् का नाश करने के लिये ही बन रहे हैं। एक बम फूट जाये तो हज़ारों मील का क्षेत्र जल जाये – यही बड़ी भारी उन्नति की है, बड़ी भारी तरक्की की है! पृथ्वी के पेट को चीर कर जितना तुमने मिट्टी का तेल निकाला, उसी के धुएँ से परेशान होकर कहते हो कि 'ओज़ोन परत जा रही है, बड़ा नुकसान हो जायेगा'। किसने किया यह नुकसान? किसी दूसरे ने नहीं, तुम्हीं ने किया। जगत् का नाश करने के लिये ही ऐसे लोग 'उग्रकर्माणः' अत्यन्त हिंसात्मक कर्म करेंगे। आजकल तो उग्रकर्मा चारों तरफ हो ही रहे हैं जिनको आतंकवादी कहते हो। वे जगत् के क्षय के लिये उग्र कर्म करते हैं। खुद अपने को भी नष्ट करके दूसरे का नाश करते हैं जिसे कहते हैं आत्मघाती हमला।

एक आदमी था, उसको बड़ा शौक था लोगों को भिड़ाने का। एक के बारे में झूठी बात दूसरे को कह दी, दूसरे के बारे में भी ऐसी ही बात इसको कह दी, दोनों झगड़ पड़े तो बड़ा खुश हो जाता था। कुछ समय तक तो उसका खेल ठीक चला। कुछ लोगों को मज़ा ही तब आता है जब कुछ गरमागरमी होवे। न खुद शान्त रहना उनको अच्छा लगता है, न दूसरों को शान्त रखना अच्छा लगता है। परन्तु गाँव छोटा होता है, थोड़े दिनों के बाद सब समझ गये कि 'यह तो हमें बिना मतलब झगड़वाता रहेगा', तो उसका विश्वास करना छोड़ दिया। लोग उसकी बात मानें नहीं तो आपस में झगड़ा न होवे। उसने सोचा कि 'जीवन का तो मज़ा ही चला गया! अब क्या करूँ?' पास के ही जंगल में चला गया। वहाँ बैठा हुआ था। उधर से कोई महात्मा निकले, उन्होंने कहा, 'अरे तुम कहाँ आ गये! यहाँ तो जंगली जानवर आते हैं। तुमको खा जायेंगे। चलो, तुम रास्त भूल गये होगे, मैं तुमको गाँव में पहुँचा देता हूँ।' उसने कहा, 'बाबाजी आप अपने रास्ते जाओ, हमें यहीं रहना है। मैं तो आया ही इसलिये हूँ कि कोई शेर मुझे खा कर नरभक्षी बन जाये फिर वह गाँव में जाकर के दूसरे लोगों को खाये!' यही है आत्मघाती हमला करना।

ऐसे लोग जगत् के शत्रु हैं, जगत् का हित करने वाले नहीं हैं। कहते तो ये हैं कि 'हम जगत् की उन्नति कर रहे हैं', परन्तु सच में क्या करते हैं? जिन वैज्ञानिक तरक्कियों पर गर्व करते हैं वे सब नुकसान करती हैं, यह बात ये स्वयं ही कहते हैं। पहले तकनीक से यंत्रादि बनाते हैं फिर साल-छह महीने में उसके नुकसान गिना देते हैं। चलता-फिरता दूरभाष बनाया जो तरंगों के सहारे काम करे, फिर कहते हैं कि इसके प्रयोग से, इसके निकट रहने से भी कितने अधिक नुकसान होते हैं, किन्तु प्रचलन बन्द करते नहीं क्योंकि जगत् के शत्रु हैं। सब लोग दुःखी हों इससे उनको बड़ा मज़ा आयेगा। जिसे ये उन्नति कहते हैं, वस्तुतः वह जगत् का अहित है। अपना अहित करते ही हैं, साथ में जगत् का भी अहित ही करते हैं।।६।।

असुरों के और भी लक्षण बतलाते हैं :-

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

दम्भ, अभिमान और मद से युक्त हुऐ वे असुर, जिसे पूरा करना अशक्य है ऐसी कामना का सहारा लेकर अविवेकपूर्वक अशुभ निश्चय अपनाकर अपवित्र व्रतों वाले हुए संसार के बारे में ही प्रवृत्ति करते रहते हैं।

विषयों की इच्छा को कामना कहते हैं। विषयों को भी कई जगह 'काम' कहते हैं, क्योंकि उनकी कामना की ही जाती है। विषयों की इच्छा का ही असुर सहारा लेते हैं। 'प्रवर्तन्ते' अर्थात्, शास्त्र को लेकर प्रवृत्ति नहीं करते। शास्त्रीय प्रवृत्ति और निवृत्ति - दोनों इनके लिये मायने नहीं रखती हैं। प्रवृत्ति, अर्थात् शास्त्र में जो करने को कहा, जिसकी विधि की है; निवृत्ति, अर्थात् शास्त्र में जिसका निषेध किया है। इन दोनों को यथार्थ रूप से वे जानते ही नहीं, 'ये यथार्थ हैं, सचमुच में हैं' ऐसा नहीं जानते। 'शास्त्र यह कहता है', इतना तो जानते हैं, 'यही ठीक है' इस प्रकार से नहीं समझते। इसलिये उनकी प्रवृत्ति का कारण तो काममात्र रहता है, केवल विषय-कामना से ही वे सारी प्रवृत्तियाँ करते हैं।

विषयों की इच्छा कैसे होती है? भगवान् कहते हैं - 'दुष्पूरम्।' उसे पूरा करना सम्भव ही नहीं है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि संसार का सारा धन, संसार के सारे पशु, संसार की सारी स्त्रियाँ, यदि एक आदमी को मिल जायें, तो भी उसके अन्दर अलम्-बुद्धि नहीं आती, 'पर्याप्त हो गया' यह भाव नहीं आता। हम लोग देखते ही हैं; पृथ्वी की सारी ज़मीन मनुष्य के पास इस समय में है परन्तु चन्द्रमा पर जाता है, मंगल पर जाता है, और आगे जाने की कोशिश करता है। और भारत में तो शायद नहीं शुरू हुआ है, अमरीका में चाँद आदि की ज़मीनें बेचना भी शुरू हो गया है! प्राचीन काल में और, आज़ादी के पहले तक जहाँ राजाओं का राज्य था, हर जगह एक गोचर भूमि होती थी, जहाँ गऊएँ चरने जाती थी। हर जगह कुछ ज़मीन होती थी, जहाँ भोजन पकाने के ईधन के लिये पेड़ लगाये जाते थे। वह ज़मीन किसी व्यक्ति की नहीं होती थी, सारे गाँव की होती थी। वहाँ की लकड़ी सब के भोजन बनाने के काम आती थी। किन्तु मनुष्य के मन में हुआ कि, 'हमें ज़मीन चाहिये, गऊओं का क्या अधिकार'; अतः हिन्दुस्तान की आज़ादी का मतलब निकला कि जितनी गोचर भूमि थी, सब सरकार ने बेच दी। कुछ में खेती होने लगी, कुछ में मकान बन गये। पहले सारी ज़मीन राजा की *नहीं* होती थी। गाँवों की, नगरों की अपनी ज़मीन होती थी। राजा की जितनी ज़मीन होती थी वह सारी चिह्नित होती थी। उसकी खेती इत्यादि करने का अधिकार राजा को था। स्वतन्त्रता का मतलब यह हुआ, कि जो संसद में चुनकर गये हैं, वे प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं, सब ज़मीनों के मालिक हैं, चाहे जहाँ की ज़मीन हो। इसलिये जो चाहे सो करें। भारत वर्ष के अन्दर इतना जंगलात था, अंग्रेज़ों के राज्य में भी था, वह

सब जंगलात सरकार ने ले लिया, जंगलात के चारों तरफ काँटाबंदी कर दी गई, कि जंगल में *लोग* न जाने पायें। सरकार ने कहा, 'ऐसे फल, लकड़ी नहीं ले सकते। हम बेचेंगे तभी ले सकते हो। जंगल से फल लेकर नहीं खा सकते, जंगल सरकार का है।' लकड़ी, फल बिकने लग गये, सरकार को पैसा आने लग गया। किन्तु 'अल्पबुद्धयः', समष्टि का, सब समय का तो ये लोग विचार कर नहीं सकते, इसलिये अनापशनाप कटाई हुई, नया रोपण हुआ नहीं धीरे-धीरे सारे जंगल सूखे पड़े हैं, कहीं कोई पेड़ नहीं है। इसी तरह से गोचर भूमियों के कारण भारतवर्ष में संसार भर के सब से ज़्यादा मवेशी थे। अब धीरे-धीरे मवेशी ख़त्म हो रहे हैं। गोचर भूमि है नहीं, कहाँ चरने जायें? इतना सब लेकर भी सरकार की कामना पूरी नहीं हुई! अब कहते हैं कि किसी ने किसी अन्य के लिये कोई कार्य किया और उससे मेहनताना लिया तो भी बीच में सरकार का हिस्सा आ गया! रोगी ने दवाई ली, डाक्टर ने दवाई बतायी, इसके ऊपर एक टैक्स लग गया 'सेवा कर'। इसका मतलब यह नहीं कि उन्होंने आयकर लेना छोड़ दिया। कमाई पर टैक्स तो लेते ही हैं। इस प्रकार कितना भी लेते चले जायेंगे, इनका कभी पेट भरेगा नहीं, क्योंकि ये धर्मनिरपेक्ष हैं। धर्म की दृष्टि से न सोचो तो कामना की ही दृष्टि रह जाती है और उसे भगवान् ने कहा –'दुष्पूरं कामम्'। जैसी सरकार, वैसी ही उसकी प्रजा भी हो गयी है। उनकी भी इच्छाओं की पूर्ति होती नहीं। आज से पचास साल पहले, बहुत-से लोग व्यापार करने जाते थे, कोई पंद्रह साल की मुसाफिरी करता था, कोई बीस साल की मुसाफिरी करता था। जितना कमाना था कमा कर वापिस अपने देश आ कर शान्ति से रहता था। सत्संग करता था, भजन-पूजन में लगा रहता था। छोटे-छोटे गाँव के अंदर ऐसे अनेक लोग होते थे जो निरन्तर सत्संग के अन्दर आते थे। उनकी जीवन में कामना सीमित थी। दाल-रोटी की व्यवस्था हो गयी तो घर लौटकर शान्ति से रहते थे। आजकल दैवी प्रकृति वाले लोग नहीं हैं, अस्सी साल के हो गये, फिर भी जाकर कमाना ही पड़ता है! रोज़ नई-नई कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न कराई जाती हैं, और पूरी नहीं होती। पहले पूछते थे, 'कैसे हो?' तो सौ में नब्बे आदमियों का जवाब होता था 'महाराज, बड़ा आनन्द है।' अब, सौ में नब्बे कहते हैं, 'क्या बतायें, खर्चा पूरा नहीं होता।' न बड़े आदमियों के खर्चे पूरे होते हैं, न गरीबों के खर्चे पूरे होते हैं। कारण है कि दुष्पूर कामना का सहारा लिये हैं। न सरकार का पेट भरता है और न उस सरकार के अंतर्गत रहने वालों का पेट भरता है, ये सोचते हैं सरकार लूटती है, सरकार सोचती है लोग चुराते हैं।

और कैसे हैं? दंभ से अन्वित हैं। धर्म के लिये धर्म नहीं करते, परन्तु, लोगों में 'मैं धार्मिक होकर प्रख्यात होऊँ' इसलिये करते हैं। जो कार्य लोगों की नज़र में आवें जैसे बड़े आयोजन या यात्रायें, वे तो बढ़ रहे हैं पर धर्म करने वालों की, सत्य बोलने वालों की, किसी के साथ ठगी न करने वालों की, क्रोध न करने वालों की संख्या घटती जा रही है। दम्भीका धर्म केवल मुँह के ऊपर पहनने का नकाब रह जाता है। कर्म-सिद्धान्त का उपयोग सत्कर्म

करने के लिये नहीं वरन् अपने फायदे के लिये करते हैं। मज़दूरों को यह समझाकर कि उनकी ग़रीबी उनके कर्मों का फल है, मालिकों की कंजूसी का नहीं, वे तन्ख्वाह कम रखकर भी दंगा-फसाद से बचने की कोशिशि करते हैं।

और असुर अभिमनी होते हैं। धन से, जन से, विद्या से, सब तरह से स्वयं ही बड़ा होने का भाव रखते हैं कि 'मैं ही सब तरह से बड़ा हूँ।' इसलिये दूसरे में उन्हें अच्छाइयाँ नहीं दीखती। दूसरे के पास धन है तो मानते हैं कि 'ज़रूर उसने ग़लत ढंग से कमाया है'। अपना धन पाक साफ समझते हैं। 'मैं तो, आवश्यकता होती है इसलिये घूस देता हूँ', और दूसरा अपना धन बढ़ाने के लिये घूस देता है! धन की तरह ही विद्या का भी मान होता है। स्वयं की विद्या परिश्रम से अर्जित लगती है, अन्य सब नकलची लगते हैं। अपने रूप का भी मान होता है, दूसरे का रूप प्रकट हो तो लगता है अकर्षण के लिये उसका उपयोग कर रहा है। अपनी सफलता का मान होता है – मुकदमा जीते तो लगता है कि सत्य की जीत हुई, हारे तो लगता है कि न्यायपालिका भ्रष्ट है। अपना सब कुछ सम्माननीय लगे, बाकी कोई मान के योग्य न लगे, यही मान से अन्वित रहना है। स्वयं अपने मुँह से ही अपनी बड़ाई करने में भी मानी को शर्म नहीं आती।

मद – 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। सब तरफ से मैंने बाँध दिया है, मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता।' – यह एक तरह का नशा मद है। ऐसों को लगता है 'मैं दूसरे का खून भी कर दूँगा तो बच जाऊँगा। मुझे कौन पकड़ सकता है!'

ऐसा सब क्यों होता है? 'मोहाद् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते'। मोह से अर्थात् अविवेक से। इस प्रकार की भावना का मूल कारण है अविवेक। दूसरे लोग मुझे धार्मिक समझ कर मेरा क्या लाभ कर सकते हैं? कुछ नहीं। यदि मैंने धर्म किया है तो वह मेरी रक्षा करेगा, पर दूसरे मुझे धार्मिक समझें इससे तो परलोक में कोई काम बनना नहीं है। विवेक वाला जानता है कि संसार में परमात्मा ने जितने लोगों को पैदा किया है उन सबकी अपनी विशेषता है, विशेषता उसी में है, और किसी में नहीं है। मुझ में भी अनेक ग़लतियाँ हैं, दूसरों में भी अनेक अच्छाइयाँ हैं। किन्तु असुर अविवेक के कारण इस बात को नहीं समझ पाते। ठीक और ग़लत जानने की उनके पास विवेक बुद्धि है ही नहीं। इसलिये – 'असद्ग्राहान्' – झूठे निश्चयों को पकड़ लेते हैं, अशुभ निश्चयों को पकड़ लेते हैं। विवेकी तो शुभ को पकड़ता है, अशुभ को छोड़ता है। अविवेकी होने से असुर अशुभ का ही ग्रहण करते हैं।

और 'अशुचिव्रताः' – जैसे दैवी लोग 'शुचिव्रत' होते हैं, शुद्धि के लिये उनका व्रत होता है, ऐसे ये अशुचिव्रत हैं, अपवित्र कार्य करने का इनका व्रत होता है! सवेरे चार बजे उठने में कोई धन का खर्च नहीं, कोई नुकसान नहीं, बड़ी सीधी-सी बात है, परन्तु असुरों को चार बजे नहीं ही उठना है। सोमवार से शुक्रवार तक आ़फिस में जाना पड़ता है, तब तो

आठ बजे उठते हैं, शनिवार रविवार को आफिस जाने का दिन नहीं है, तो ग्यारह बजे उठेंगे! बच्चे बोर्डिंग स्कूल में सवेरे पाँच बजे उठते हैं पर घर आने के साथ ही सवेरे आठ बजे तक सोते हैं। अशुचि अर्थात् देर से उठने का उनका व्रत है, कोई डण्डे से जल्दी उठा दे तो बेचारों को उठना पड़ता है। यही स्थिति रोज़ नहाने की है। इसी तरह जूते पहनकर पकाना-खाना असुरों का व्रत है। इसी प्रकार सभी चीज़ों में समझ लेना चाहिये, आसुरी सम्पत्ति वालों को अशुद्ध व्रतों का पालन करना अच्छा लगता है।।१०।।

असुरों की निजके बारे में मनःस्थिति बताते हैं –

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

अपने योग-क्षेम के उपायों के बारे में और मरने तक की बेहद चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं। विषय भोगने में तत्पर रहकर 'इतना ही है' (अर्थात् विषयभोग ही पुरुषार्थ है) यह निश्चय रखते हैं।

निरन्तर आसुरी प्रकार के व्यवहार करने से चिन्ता ही होगी। दैवी सम्पत्ति वाला तो जानता है, 'मैंने ठीक काम किया है भगवान् फल देने वाला है भगवान् अपने आप देखता है।' किन्तु आसुर की दृष्टि में तो कोई देखने वाला है नहीं। इसलिये हर चीज़ की असुरों को चिन्ता रहती है। तीस साल पूर्व के प्रधानमंत्री चिंतित थे कि व्यापारी अनाज भर लेते हैं ग़रीबों को अन्न नहीं मिलता, क्या करें? उन्होंने ज़िम्मा लिया, सरकार अनाज का भण्डारण करने लगी। तो आज के प्रधानमंत्री चिंतित हैं कि 'हमारे पास अनाज बहुत हो गया, सड़ रहा है, घुन लग रही है, लोग सूखाग्रस्त इलाकों में भूखे मर रहे हैं, हम उन्हें देना भी चाहते हैं पर किस व्यवस्था से दें!' व्यापारी तो सीमित ही भण्डारण कर रोके रख सकता है अन्यथा नुकसान का डर रहता है पर सरकार के पास असीम सामर्थ्य है और नुकसान का कोई डर है नहीं तो अनाज सड़ता रहेगा, चोरी होती रहेगी, लोग भी भूखे मरते रहेंगे। किन्तु इस सब के बावजूद सरकार की चिन्ता नहीं मिटने वाली।

'प्रलयान्ताम्' – प्रलय तक की सोचते हैं। आज से डेढ़ सौ साल बाद पीने का पानी नहीं रहेगा, फिर क्या होगा? – अभी से चिन्ता करने लगते हैं। इसी प्रकार से – ओज़ोन का छेद इतना बड़ा हो जायेगा कि लोग गर्मी से मर जायेंगे, फिर क्या होगा? इन चिन्ताओं की क्या कोई परिमिति है? जैसे इस प्रकार की राज्य को चिन्ता है, वैसे ही इन राज्यों के नागरिकों को चिन्ता है। बच्चा पैदा होने से पूर्व उसकी विद्यालय में भर्ती की चिन्ता करते हैं। ऐसों की अपरिमेय चिन्ता होती है, कभी नाप ही नहीं सकते। चूंकि ये लोकायत सम्प्रदाय की बात मानते हैं इसलिये उनके लिये तो 'आप मरे और जग पूरा'। अतः वे अपने मरण तक की चिन्ता करते हैं। हमने ऐसे लोगों को देखा है जो चिन्ता करते हैं कि, 'पता नहीं मैं मर जाऊँगा तो ये लोग मुझे जलायेंगे भी कि नहीं?' ऐसी चिन्ता करने वाले कई हो गये

होंगे अतः दिल्ली में एक संस्था बन गयी है जहाँ अपना नाम लिखा दो, तो जब तुम मर जाओगे तब वे ले जाकर जला देंगे, उसका खर्च अभी ही ले लेते हैं। इस तरह असुरों को मरने तक की चिन्ता है। चिन्ता को 'उपाश्रिताः' उसी के सहारे जीते हैं। उपाश्रय कहते हैं – जिसके सहारे जैनी साधु जीते हैं। असुर चिन्ता का ही उपाश्रयण करते हैं, बिना चिन्ता किये जी ही नहीं सकते। जहाँ उन्होंने दूसरे को चिन्ता न करते देखा, तो उनको जलन होती है! इस चिन्ता करने का एक बड़ा भारी दफ्तर सरकार का है उसका नाम है, योजना आयोग। हम लोगों को आज़ाद हुए चौवन साल हुए। हर साल योजना बनती है। जब उनसे पूछते हैं 'क्या एक साल भी ऐसा हुआ कि जब तुम्हारी योजना के अनुसार कुछ हुआ?' तब कहते हैं, 'नहीं हुआ।' आयोग का फ़ायदा यही है कि तुमको डराते रहते हैं, 'अब यह हो जायेगा, अब वह हो जायेगा'। उनकी बात सुनकर लोग भी परेशान रहते हैं। सरकार लोगों को चिंता लगाने के उपाय करती है – नफा-नुकसान होने से पहले ही नफे का अनुमान लगाकर कर भरने का नियम बनाया है। अनुमानित से कम नफा हो तो सरकार नहीं मानती, कहती है जब अनुमान लगाया तब उतना ज़रूर होना चाहिये, और अधिक हो तो दण्ड देती है कि पूर्वानुमान ग़लत क्यों लगाया! अतः व्यापारी नित्य चिंतित ही रह सकता है क्योंकि सर्वथा ठीक अनुमान लगाने का उपाय दुनिया में किसी के पास नहीं है।

'कामोपभोगपरमाः'। काम अर्थात् विषय। विषयों का जो उपभोग है उसी में तत्पर रहते हैं। बढ़िया खाना, बढ़िया पीना, बढ़िया पहनना, इसी में इनके जीवन की इति है। अतः व्यापारी चाहे जैसी चीज़ों का प्रचार करके लोगों को जँचा देते हैं कि 'यही चीज़ अच्छी है' तो लोग उन्हें काम में लेते रहते हैं, उनमें सुख न होने पर भी चलन के नाम पर भेड़ों की तरह पिछलग्गू बने रहते हैं। इसीलिये फटे कपड़े, बिगड़े रंग के कपड़े इत्यादि ऐसी चीज़ों का प्रचलन हो गया है जिनमें थोड़े भी विवेकी को कोई सुख समझ नहीं आता पर असुर निश्चय वाले इन्हीं को काम में लेकर खुद को सुखी समझते हैं। औरतें सर्दी में ठरती हैं पर गर्म पकड़े नहीं ओढ़ती, इसी में सुख मानती हैं। धर्म के लिये, भगवान् के लिये तप करने में असुरों को बड़ा श्रम पड़ता है, कर नहीं पाते, पर कामोपभोग के लिये सर्दी-गर्मी सब सह लेते हैं क्योंकि कामोपभोग को परम मानते हैं, कि इसके आगे कुछ भी नहीं है।

'एतावदिति निश्चिताः'। उनका निश्चय है कि बस, यह शरीर जब तक है तभी तक संसार है। इस शरीर की समाप्ति के बाद कोई धर्मा-धर्म स्वर्ग-नरकादि नहीं है। उन्होंने ये लोकायतिक संस्कार बड़े दृढ बना रखे हैं कि प्रत्यक्ष से जो अनुभव हो रहा है बस उसको ही मानना है। बड़े-से-बड़े कष्टों को भी सहन करेंगे लेकिन केवल कामोपभोग के लिये। संसार में लोग आकर्षक समझें इसके लिये सर्दी आदि सहन करते हैं। प्रदर्शन आदि में, जलसे में लाखों रुपये और सामान नष्ट कर देंगे पर किसी अनाथालय में जाकर हज़ारों भी नहीं देंगे। यह सब इसीलिये कि इहलोक से आगे कुछ है यह उन्हें

समझ ही नहीं आता।।११।।

असुरों की दुर्नीति बताते हैं –

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थस चयान्।।१२।।

सैकड़ों आशारूप फंदों से बँधे, काम-क्रोध का सहारा लेने वाले असुर विषयभोग के ही उद्देश्य से अनीतिपूर्वक धनसंचय करने की ही कोशिश में लगे रहते हैं।

क्योंकि ये लोग सृष्टि-नियामक परमेश्वर में विश्वास करते नहीं हैं, इसलिये यही सोचते रहते हैं कि हमारे चाहने के अनुसार हो जायेगा। संस्कृत में दो शब्द हैं, आशा और प्रतीक्षा; किसी आदमी ने सूचना दे दी 'मैं अमुक दिन आ रहा हूँ,' तब उसके आने की प्रतीक्षा होती है – अर्थात् जिस के होने की सम्भावना है उसका इंतज़ार। और कोई खबर नहीं आयी है, फिर भी जो मन में भावना होती है कि 'वह आ जाये तो बड़ा अच्छा होगा', उसको आशा कहते हैं। प्रतीक्षा करना ठीक ही है, परन्तु अपनी योग्यता उस चीज़ को प्राप्त करने कि है या नहीं – इसका बिना विचार किये हुए – 'शायद हो ही जाये' ऐसी आशा करना व्यर्थ है। परमात्मा में विश्वास न होने के कारण, ये लोग अपने हृदय में जो आशा है, 'मेरे मन का यह काम हो जाये', उसी से मनोरथ बनाते रहते हैं। ठीक जिस प्रकार से लौटरी वाला आशा करता रहता है 'मेरा नम्बर आ जायेगा', इसी तरह ये लोग आशा करते रहते हैं। जैसे चिन्ता की कोई सीमा नहीं है, इसी प्रकार आशा की भी कोई सीमा नहीं है। इसलिये आशा पाश की तरह है। जैसे पाश से शरीर को बाँध दिया जाता है, उसी प्रकार से आशा के बन्धन में असुर बँधे ही रहते हैं। इसलिये ''शत'' कह दिया – आशायें अनंत हैं। दस आशा पूरी हो गयी तब भी निन्यानबे आशायें तो अपूर्ण ही रह जायेंगी। आशा पाशसे बद्ध, इनसे नियन्त्रित हैं, और भोग्य पदार्थों की तरफ आकृष्ट होते रहते हैं।

अगर आशा पूर्ण होती है, विषय की प्राप्ति हो जाती है, तब 'कामपरायणाः' उस विषय के भोग की ओर प्रवृत्ति करते हैं। और यदि आशा पूरी नहीं हो तो 'क्रोधपरायणाः' 'क्यों नहीं पूरी हुई' इस विषय पर क्रोध होता रहता है। धर्मा-धर्म को न मानने से उनके मन में यह तो कभी नहीं आता है कि 'मेरे अधर्म के कारण पूर्ण नहीं हुई', यही सोचते हैं 'इसने कुछ कर दिया होगा, उसने कुछ कर दिया होगा'। ऐसे वहमों का बहुत अनुभव होता है। हर आदमी यही सोचता है कि किसी दूसरे ने कोई टोटका कर के हमारे काम को रोक दिया। जिन्हें वैसा वहम नहीं है उनके मन में आता है कि किसी अफ़सर ने या किसी मित्र ने हमारी इधर-उधर शिकायत करके हमारे काम को रोक दिया। मेरे ही प्राचीन कर्म के कारण रुका है, यह तो कभी मन में आता ही नहीं है। चाहे अफसर हो, चाहे कोई रिश्तेदार हो, चाहे कोई टोना टोटका करने वाला हो, ये सब विघ्न करते हैं इसलिये उनके प्रति क्रोध रहता है। परमेश्वर को मानने वाला तो निश्चित रूप से जानता है कि 'कोई मेरी कितनी भी हानि

करने का प्रयत्न करे परन्तु मेरे पाप कर्म के बिना मेरी हानि नहीं हो सकती। हुई है, तो मेरा पाप है'। परन्तु चूंकि असुर धर्मा-धर्म को मानते नहीं इसिलये ये तो किसी-न-किसी दूसरे को ही कारण बतलाते हैं। काम क्रोध ही इनका परम अयन है, अर्थात् यही इनका परम आश्रय है; या विषय उपलब्धि के कारण 'काम', या न मिलने पर 'क्रोध'। बस ये दो ही इनकी गति है, दो ही भावों में हमेशा बने रहते हैं।

'कामभोगार्थम्' – ये जो अर्थ का, धन का स चय करते हैं, वह काम-भोगों के लिये, विषय-भोगें के लिये ही। न तो अर्थ स चय के समय सोचते हैं कि 'इतना हो जायेगा तो हम अमुक यज्ञ कर लेंगे, अमुक देवता की आराधना कर लेंगे, अमुक प्रकार से दान दया इत्यादि करेंगे', ये सब उनके मन में कभी नहीं आता। 'यह हो जायेगा तो अमुक भोग करेंगे' – यही इनकी योजनायें होती हैं। आजकल आदमी सोचता है कि रुपया मिल जायेगा तो एक बड़ी गाड़ी खरीद लेंगे। यह कभी सोचता ही नहीं कि 'कहीं से धन हो जायेगा तो मैं एक यज्ञ कर लूँगा, देवपूजा कर लूँगा' यह भाव आता ही नहीं। – काम-भोग के लिये, विषय भोग के लिये ही धन को एकत्रित करते हैं। 'अर्थस चयान्' – बहुवचन के द्वारा यह बतला दिया कि अनेक स चय करते चले जाते हैं। 'अमुक काम के लिये हमें खर्च चाहिये' – ऐसा नहीं वरन् और-और अर्थ स चय ही करते जाते हैं। क्योंकि इस प्रकार के स चय की कोई सीमा नहीं इसलिये – 'अन्यायेन'। न्यायपूर्वक जो अपने प्रयत्न से कमाया जाता है, उससे इन्हें सन्तोष नहीं है, इसीलिये अन्याय का सहारा लेते हैं – दूसरे का धन हरण कर लो किसी भी प्रकार से, चाहे चोरी करनी पड़े, ठगी करनी पड़े, घूस खानी पड़े। दूसरे के प्रति यह अन्याय होगा – इसकी तरफ कोई दृष्टि नहीं है। आजकल चारों तरफ ऐसा बहुत देखा जाता है। दूसरे के हिस्से के धन को अपना कर लेने के लिये तरह-तरह के प्रयत्न होते हैं। दूसरों की किसी भी चीज़ के अपहरण में असुरों को कोई संकोच नहीं होता, सोचते हैं, कि धन के ऊपर क्या कोई मोहर लगी हुई है कि उसका है! 'सब धन मेरा ही हो जाये' इसके लिये 'ईहन्ते' निरन्तर चेष्टा करते हैं, प्रयत्न करते हैं।१२।।

असन्तोषी असुरों के इस अर्थ-स चय के रूप को ही बतलाते हैं –

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

'मैंने आज यह पा लिया, यह मनोरथ भी पूरा हो ही जायेगा। यह धन तो मेरे पास है ही, अब यह धन भी मेरा हो जायेगा' – (यह असुरों के विचारों का प्रवाह है)।

'अद्य मया इदं लब्धं', आज अर्थात् इस समय तक, यह द्रव्य, यह धन, मुझे मिल गया, मैंने प्राप्त कर लिया। अब ''इदं मनोरथं प्राप्स्ये'' इतना बाकी रह गया; अर्थात् जो प्राप्त हो गया उससे संतोष नहीं है, 'यह और मेरा हो जाये' यही आशा है। जो प्राप्त हो गया, उससे असुरों को कभी संतोष नहीं हो पाता क्योंकि उससे अधिक की तरफ दृष्टि रहती है

कि 'इतना और होवे'। 'मनोरथं' मन रूपी रथ दौड़ाते रहते हैं। 'यह और हो जाये, ज़रूर हो जायेगा, इतना तो हो ही जाये, यह भी हो जायेगा' – इस प्रकार मन में, हमेशा प्रवृत्ति बनी रहती है। 'इदं धनम् अस्ति' – इतना धन तो हो गया, और पुनः 'इदमपि धनम् भविष्यति' – आगे यह धन भी मेरा हो जायेगा। आजकल कम्पनियाँ सिर्फ यह नहीं छापती कि 'हमने इस साल में इतना कमाया', उसके आगे यह भी छापती हैं कि 'आगे इतना हमें और प्राप्त होगा'। दैव का तो इनको विश्वास है ही नहीं, यही अभिमान करते हैं 'मैंने स्वयं प्रयत्न कर के कमाया है, मैंने इतना परिश्रम कर के कमाया है' अर्थात् इसमें दैव का सहाय इत्यादि कुछ अपेक्षित नहीं है, अपने ही प्रयत्न से सब कुछ हो जायेगा, सब कुछ हो रहा है ऐसा समझते हैं। अतः यदि नहीं प्राप्त कर पाये तो कोई–न–कोई विघ्न कर रहा है, यह मानकर उसके प्रति क्रोध बना रहता है। इस प्रकार अर्थसंचयन में तल्लीन रहना, इसकेलिये अन्याय करने में संकोच न करना और साभिमान बटोरे धन से कामोपभोग ही करना, धर्म न करना असुरों का लक्षण है।।१३।।

पूर्व श्लोक से कामपरायणता का परिचय दिया। अब दूसरों के प्रति जो उनका भाव होता है, उस क्रोधपरायणता को बतलाते हैं –

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
इश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

'वह शत्रु मैंने मार दिया, अन्यों को भी समाप्त कर दूँगा। मैं समर्थ हूँ, सब तरह से सम्पन्न हूँ, ओजस्वी और नीरोग हूँ अतः मैं ही संसार का भोग करता हूँ (बाकी तो दुनिया पर बोझ हैं)।' – (यह आसुर निश्चय है।)

'हतः' से केवल प्राणान्त करना ही नहीं, सब तरह की हिंसा समझना : व्यापार के प्रतिद्वन्द्वी को विभिन्न हथकण्डों से नुकसान पहुँचाना, अपने वश में न आने वाले अफसरों का तबादला करा देना इत्यादि उपायहिंसा में भी असुरों की ही प्रवृत्ति होती है। इसमें भी मुख्य विरोधी दूर करके उन्हें संतोष नहीं होता। एक को नष्ट करके सोचते हैं कि अब जो दूसरे विरोधी हैं उनको भी 'हनिष्ये अपरान्' खत्म कर दूंगा। 'मेरी कमाई हो गई' इतने मात्र से लोगों को संतोष नहीं होता, दूसरे की कमाई बंद हो जाये यह भी चाहते हैं। और यदि उसकी कमाई बंद नहीं होती तो उसको भी मरवा देते हैं। – आचार्य शंकर कहते हैं कि असुर लोगों का विरोध हमेशा सत्पुरुषों के प्रति अधिक होता है। इस लिये उनके मन में होता है, 'ये संतोषी तपस्वी मेरा क्या कर सकते हैं? मुझे आता है कैसे सोने का जूता मारा जाता है, लोगों से काम कराया जाता है, ये तो बस सोचते रहते हैं – यह करना ठीक नहीं, यह करना ठीक नहीं! इस बीच मैं अपना काम बना लूँगा। ये बेचारे धर्मात्मा लोग क्या कर सकते हैं? ये तो काँटे हैं, इनको तो निकाल ही देना चाहिये।'

'अहम् ईश्वरः' 'मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ। सरकार मेरी जेब में है, जो चाहूँ सो

करा लूँगा'। किसी समय हिरण्यकशिपु ने यही ढिंढोरा पिटवाया था कि, 'मेरे सिवाय और कोई ईश्वर नहीं है, मेरी ही पूजा करो।' भगवान् का तो विचित्र खेल है! उन्होंने कहा, 'तू दुनिया से मनवाता है, अपने लड़के से ही मनवा ले!' थोड़ा भी विचार करता तो समझ लेता कि 'जब मैं लड़के को ही नहीं मनवा सकता हूँ तो मैं काहे का सर्वसमर्थ हूँ!' परन्तु इतना ही विचारक होता तो फिर राक्षस क्यों होता! लड़के को भी मार-पीटकर समझाने का प्रयत्न किया, यहाँ तक की उसको जान से मारने का प्रयत्न किया। अन्त में, स्वयं नष्ट हो गया। असुर स्वयं को ईश्वर अर्थात् सर्वसमर्थ समझता है अतः उसे निश्चय रहता है कि 'अहम् भोगी' – 'मैं सब चीज़ों का भोग कर सकता हूँ'। इसलिये अनेक विवाह करके अनेक स्त्रियों का भोग करना ही स्वर्ग का आनन्द है इत्यादि मानकर इस प्रकार की प्रवृत्तियों में जाता है। 'अहम् सिद्धः' – 'मैं सारी सिद्धियों वाला हूँ। जिस चीज़ को सिद्ध करना चाहता हूँ उसको कर देता हूँ। मेरा सामना कौन कर सकता है? मेरे इतने बेटे हैं, इतने पोते हैं, इतने नाती हैं, इन सबसे-युक्त हुआ मैं अत्यन्त बल वाला हूँ। और मैं ही एकमात्र सुख को प्राप्त करने वाला हूँ, बाकी लोग तो बिना मतलब देश के ऊपर बोझा बने हुए हैं! देश का कल्याण करने वाला तो मैं ही हूँ।' इस प्रकार के अहंकारप्रधान भाव असुरों में स्वाभाविक होते हैं।।१४।।

अन्य सभी की अवहेलना कराने वाला अभिमान उसमें कितना अधिक होता है यह दिखाते हैं–

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

धनाढ्य व कुलीन मैं ही हूँ, मुझ जैसा दूसरा कौन है! (ऐसा) यज्ञ करूँगा (कि धार्मिक भी फीके पड़ जायेंगे)। (नरों आदि को धन बाँटूँगा, अतिशय हर्ष पाऊँगा।' अज्ञान से अविवेकी बने असुर ऐसा सोचते-करते हैं।

'आढ्यः अस्मि' – 'मेरे पास सम्पत्ति का पारावार नहीं है। सब तरह से भरा पूरा हूँ। खाली धनादि से ही भरा पूरा नहीं हूँ – 'अभिजनवानस्मि' मेरे सात कुल में ऐसे-ऐसे विद्वान् हुए हैं, ऐसे-ऐसे धनी हुए हैं कि मेरे जैसा कोई कुलीन नहीं है। कुल-परम्परा की श्रेष्ठता में भी मैं ही हूँ। मेरे से अच्छा कुल किसका है! इतनी पीढ़ियों से धन वाला दूसरा है कौन? मेरे समान और कोई नहीं है। 'यक्ष्ये' – मैं बड़े पूजा पाठ इत्यादि करके यजमानों के द्वारा भी महिमा को प्राप्त करूँगा। उसके द्वारा मुझे और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी। बड़े-बड़े यज्ञों को करवा कर मैं खूब दुनिया में धन इकट्ठा करूँगा, प्रतिष्ठा भी प्राप्त करूँगा।' असुरों के यज्ञ का उद्देश्य, पूजा का उद्देश्य, भगवान् की या देवता की प्रसन्नता नहीं है। ये उसको करते हुए भी सोचते हैं कि दूसरों को नीचा कैसे दिखायें। यज्ञ अपने धन से करें तो स्वयं को पुण्य हो। लोग चन्दा बटोरकर यज्ञ करते हैं! यज्ञ का पुण्य किसे होगा? चंदा इसीलिये लेते हैं कि स्वयं के धन से इतना बड़ा आयोजन नहीं कर सकते।

धर्म की दृष्टि हो तो चाहे छोटा ही हो सके, निजी धन से यज्ञ करेंगे। किन्तु प्रदर्शन प्रधान होने से बड़ा आयोजन करते हैं, उसके लिये चंदा बटोरते हैं। फिर हिसाब भी नहीं रखते, पंडितों को पूरी दक्षिणा भी नहीं देते! चंदा लेने में कौन अधिकारी, किससे धन लेना उचित है आदि विचार का प्रसंग ही नहीं है। अतः बाहर से दीखते हैं कि यज्ञादि कर रहे हैं परन्तु वे श्रद्धा से सर्वथा रहित हैं। 'ईश्वर और देवता हैं, उनकी प्रसन्नता के लिये कर रहा हूँ'– यह तो भाव ही नहीं है। उससे कितना फायदा होगा, बस इसी को देखते हैं।

इसी प्रकार से – 'दास्यामि' – 'मैं दान करूँगा'। दूसरों को नीचा दिखाने के लिये दानादि कार्य करते हैं। सनातन धर्म में कन्यादान को बड़े पुण्य का कार्य माना। उसमें भी असुरों के मन में रहता है 'मेरे भाई ने पचास तोला सोना चढ़ाया था, मैं सत्तर तोला चढाऊँगा, उसको नीचा दिखा दूँगा'। कन्यादान का उद्देश्य नहीं है, अपने भाई को नीचा दिखाने का उद्देश्य है। और फिर बार-बार लोगों से पूछते हैं 'वहाँ से इक्कीस हुआ कि नहीं?' इसी तरह सर्वत्र दान का उद्देश्य दूसरों का अभिभव रहता है। और जो उनकी प्रशंसा करने वाले नट आदि हैं उन्हें खूब देते हैं ताकि चारों ओर ढिंढोरा पिट जाये कि वे बड़े सम्पन्न हैं। जब लोग कहें 'आपने सब को नीचा दिखा दिया', इन्हें 'मोदिष्ये' खूब प्रसन्नता होगी।

ऐसा क्यों होता है? भगवान् कहते हैं – 'अज्ञानविमोहिताः'। अज्ञान के कारण उनको पता नहीं है कि इन सब तरीकों से अपने ही नरक का रास्ता प्रशस्त कर रहे हैं। ठीक है, लोगों ने तो प्रशंसा कर दी कि बड़ा भारी यज्ञ किया, लोगों ने प्रशंसा कर दी कि बड़े दानवीर हैं, परन्तु अपने तो नरक जाने का मार्ग प्रशस्त कर लिया। अज्ञान अर्थात् अविवेक द्वारा वे खुद ही मोह में पड़े हुए हैं।।१५।।

इस तरह की प्रवृत्ति का फल बताते हैं –

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेकाग्र संकल्पों से घोर भ्रम में पड़े तथा अविवेकरूप जाल में फँसे असुर काम्य भोगों में ही लगे रहकर अशुद्ध नरकों में जा पड़ते हैं।

जो एक नहीं होता है उसको अनेक कहते हैं। जो सदाचारी है उसका तो एक ही चित्त है, एक ही परमात्मा है जिसके लिये वह सब कुछ करता है। उसके लिये भगवान् पहले कह आये हैं, 'जो भी इन्द्रियों से करो, जो भी लौकिक काम करो, जो भी शास्त्रीय कर्म करो, सब परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये करो।' उनकी प्रसन्नता होकर उनके अनुग्रह से जो भी मिले बस उसी से सज्जन संतोष करता है। एक परमेश्वर को नहीं मानने वाले होने से असुर अनेकचित्त होते हैं – यह काम इस देवता से सिद्ध नहीं हुआ तो उस देवता से सिद्ध करा लें, हिन्दू के देवता से नहीं हुआ तो मुसलमानों की मज़ारों से करा लें – यह इनकी सोच होती है। जैसे देवविषयक, ऐसे ही साधनविषयक अनेकचित्तता है। धन किस साधन

से कमाना है इसका भी इन्हें एक निश्चय नहीं। तरह–तरह के व्यापारों में, उद्योग–धन्धों में या नौकरियों में हाथ डालते ही रहते हैं। किसी एक कामसे ही कमाना है – ऐसा नहीं समझते। इसलिये निरन्तर इनके जीवन में तनाव बना रहता है। क्या पढ़ना है – यह भी निश्चय नहीं कर पाते, अनेक विकल्प उपलब्ध रखना चाहते हैं। यहाँ तक कि किससे ब्याह करना है इसमें भी असुरों का एक निश्चय नहीं होता!

'मोहजालसमावृताः' – मोह अर्थात् विवेकाभाव। जो उनका कर्तव्य–अकर्तव्य के प्रति, ज्ञातव्य–अज्ञातव्य के प्रति अज्ञान है, अविवेक है, वह जाल की तरह है, जिसमें वे फँसे रहते हैं। सत्पुरुष के लिये तो रास्ता सीधा होता है, परन्तु इनके तो अविवेक की कोई सीमा है नहीं इसलिये जाल में फँसे की तरह रहते हैं। जाल जैसे चीज़ को ढाँक देता है वैसे ही असुर मोह से हमेशा समावृत रहते हैं। कभी भी भ्रम की निवृत्ति का प्रसंग आता ही नहीं। एक चीज़ गड़बड़ हुई तो विचार में प्रवृत्त होने के बजाये फिर दूसरी चीज़ की आशा बाँध कर रखते हैं! इसलिये ठीक निर्णय पर कभी पहुँचना उनके लिये सम्भव ही नहीं हो पाता।

'कामभोगेषु प्रसक्ताः', प्रसक्त हैं, हमेशा कामभोग को ही सोचते रहते हैं कि कैसे विषय–भोग होवे। आजकल के युग में रोज़ कोई–न–कोई नया विषय आता रहता है इसके कारण, आवश्यकता न होने पर भी बहिर्मुखी व्यक्ति अधिकाधिक और नवीन विषयों के संग्रह में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार कामभोगों की वृद्धि ही होती चली जाती है, उसी में प्रसक्त रहते हैं, उसी में लगे रहते हैं। परमार्थ की बात तो सोच ही नहीं सकते। कामभोगों में प्रसक्त होकर उनको एकत्रित करने के लिये तरह–तरह के पापों को बटोरते रहते हैं। घूस देकर के, झूठ बोलकर के, क्या–क्या नहीं करके विषय बटोरते रहते हैं। पूछो तो कहते हैं कि 'इसके बिना काम नहीं चलता!' 'काम नहीं चलता है' का मतलब है कि जिन अनन्त कामभोगों में प्रसक्त हैं वे नहीं मिलेंगे। आसुरी प्रवृत्ति के नेता कहते हैं कि इस प्रकार की काम भोगों में प्रसक्ति होगी तभी राष्ट्र उन्नत होगा! ऐसी प्रवृत्तियों के बढ़ने से लोग ज़्यादा दुःखी हो रहे हैं तो फिर वह राष्ट्र कौन–सी चीज़ है जो सुखी हो जायेगा? पर यह सोचना ही नहीं चाहते क्योंकि मोहजालसे समावृत हैं। जो संतोषी होता है, उसको असुर कहते हैं 'यह तो राष्ट्र को पीछे ले जाने वाला है, इससे क्या उन्नति होने वाली है!' इस प्रकार से कल्मषों को इकट्ठा करते हैं तो उसका नतीजा यही होता है कि 'अशुचौ नरके पतन्ति' अशुद्ध नरकों में पड़ते हैं। नरक में मल–मूत्र में पकना पड़ता है, पीप इत्यादि की नदी में डुबाया जाता है, अत्यंत घृणित स्थिति होती है। अर्थात् वे जितना प्रयत्न कर रहे हैं सब अपने दुःखों के लिये कर रहे हैं, पर अविवेकी होने से समझते नहीं हैं कि जान बूझ कर अपना नुकसान कर रहे हैं। महाभारत के अन्त में भगवान् वेदव्यास बताते हैं कि मनुष्य कैसे हो गये हैं –

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छिन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।'

पुण्य का फल सुख तो चाहते हैं, पर पुण्य करना कभी नहीं चाहते। पाप के फल दुःख की इच्छा तो नहीं करते, लेकिन कोशिश कर-कर के पाप करते हैं, नये-नये तरीके निकालते हैं पाप करने के। जितना ज़्यादा पाप करने का तरीका निकालते हैं उतना ही अपने को समझते हैं 'मैं बड़ा चतुर हूँ, बड़ा बुद्धिमान् हूँ'। दूसरे आसुरी वृत्ति वाले भी कहते हैं 'हाँ, देखो! यह बड़ा चतुर है। दूसरे की सम्पत्ति दबा ली, कितना बुद्धिमान् है!' कितना बुद्धिहीन है यह तो सत्पुरुष ही समझेंगे कि आगे अपने लिये क्या तैयारी कर रहा है।।१६।।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

असुर लोग स्वयं को सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं, विनम्रतारहित होते हैं, धन के कारण स्वयं धृष्ट और अन्यों की अवहेलना करने वाले होते हैं। धर्मध्वजी होकर नाममात्र के यज्ञ करते हैं जिनमें विधियों का पालन नहीं करते।

'आत्मसम्भाविताः' - अपने में ही सारे गुण हैं, ऐसा असुर स्वयं मान लेते हैं। किन्हीं दूसरे लोगों के द्वारा, 'इनमें ये गुण हैं' ऐसा सम्भावित नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं कि किसी दूसरे ने कहा हो इनमें ये गुण हैं, पर अपने से ही अपने में गुणों का वर्तमान होना उनको लगता है। 'स्तब्धाः' - हर परिस्थिति में ठूँठ की तरह खड़े ही रहते हैं। माता-पिता, गुरु किसी के सामने कभी भी झुकना तो जानते ही नहीं। सोचते हैं 'मेरे से श्रेष्ठ कोई होवे, तब उसके सामने झुकूँ। जब मेरे से श्रेष्ठ कोई है ही नहीं, तो मैं किसके सामने झुकूँ? दूसरे लोग मेरे सामने झुकें।' जैस श्वेतकेतु के बारे में छान्दोग्य उपनिषद् में आता है कि पिता के समाने जाकर भी ठूँठ की तरह खड़ा रहा। विद्या का फल होना चाहिये मनुष्य में नम्रता। हमारे यहाँ नियम है, 'विद्या ददाति विनयं'। जितनी विद्या प्राप्त हो उतनी नम्रता आनी चाहिये। क्योंकि जितनी विद्या आती है उतना ही पता लगता है कि मैं कितना *नहीं* जानता। महाराजा भतृर्हरि कहते हैं 'यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं' 'जब मैं बहुत थोड़ा जानता था, तब तो हाथी की तरह मदमस्त था, अपने को सबसे ज़्यादा विद्वान् समझता था, घमण्ड में चूर था कि 'मैं बहुत जानने वाला हूँ'। जब जानने वालों के पास गया तब पता लगा कि 'अरे! मैं तो कुछ भी नहीं जानता'। विद्या से विनय आती है। मैट्रिक के अन्दर भौतिकी पढ कर बच्चा समझता है कि मैंने विज्ञान समझ लिया। जब आगे पढ़ता है तब पता लगता है, 'अरे! हम लोग कुछ भी नहीं जानते'। इसलिये विद्या से विनय आती है। असुर यों विनयी नहीं होते क्योंकि विद्या से दूर ही रहते हैं।

'धनमानमदान्विताः' - धन के कारण भी उनके अंदर अपनी योग्यता का अभिमान होता है। जैसे विद्या में अपने से श्रेष्ठ को देखो तो विनय आती है ऐसे धन में भी अपने से अधिक को देखो तो विनय आ सकती है। पर असुर दूसरे का अधिक धन देखकर विनयी

नहीं होता बल्कि चाहे जिस तरीके से और धन बटोरने में लगता है, उसका असंतोष ही बढ़ता है। सज्जन तो अधिक धनी को देखकर विचार करता है कि धन की थाह है नहीं अतः जो है उसी से संतोष करना चाहिये। किन्तु असुर की भूख ही बढ़ती है। मद अर्थात् 'मेरा कोई कुछ बिगाड ही नहीं सकता' ऐसा नशा; असुरों को धन के कारण मान व मद ज़रूर होता है।

आसुरी सम्पत्ति वाले 'नामयज्ञैः यजन्ते'। नाम मात्र के यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। आजकल 'सोमयाग' 'अश्वमेध याग' आदि बड़े यज्ञों का नाम रखकर गायत्रीमंत्र से आहुति डलवाते हैं! किंचित् भी उन यज्ञों से समानता न होने पर भी उन नामों का प्रयोग करते हैं ताकि ख्याति हो जाये। किंच नाममात्र का अर्थात् थोड़ा-सा पूजनादि कर देते हैं और प्रचार करते हैं कि बहुत बड़ा यज्ञ हो गया। विधियों का पालन करते ही नहीं। अथवा, नाम या ख्याति कमाने के लिये यज्ञ करते हैं, अपने नाम के आगे 'अग्निहोत्री', 'दीक्षित', 'वाजपेयी' आदि उपाधि जुड़ जाये इसीलिये यत्किंचित् अनुष्ठान कर लेते हैं। अथवा, आजकल एक प्रवृत्ति है कि भगवान् के नाम की आवृत्ति करते हैं, उसे ही यज्ञ घोषित कर देते हैं; उन्हें भी यहाँ नामयज्ञों में समझ लेना चाहिये। नामावर्तन उत्तम कर्म है पर उसे यज्ञ तो ख्यातिलाभ के लिये ही कहते हैं। जो तो भगवान् ने जपयज्ञ कहा उसके निश्चित नियम हैं, पर जो ये नामावर्तन के सत्र चलते हैं इनमें न वे नियम पाले जाते हैं, न जप ही होता है क्योंकि अलग-अलग लोग उच्च स्वर से बोलते रहते हैं। ऐसे सत्र पुण्यप्रद भले ही हों पर उन्हें यज्ञ के रूप में प्रचारित करना आसुरी प्रवृत्ति है। इसीलिये कहा 'नामयज्ञैः ते यजन्ते'।

ऐसा क्यों करते हैं? 'दम्भेन'। धर्मध्वजी बनने के लिये कि 'मुझे लोग बड़ा भारी धर्मात्मा समझें'। दम्भी व्यक्ति धर्म इसलिये नहीं करता है कि धर्म करना चाहिये वरन् इसलिये करता है कि लोग मुझे धार्मिक समझें। नीलकण्ठ दीक्षित कलिकाल की विडम्बना का वर्णन करते हुए लिखते हैं 'सदा जपपटे हस्तो मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्। सर्वं ब्रह्मेतिवादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः।।' सेठ जी का हाथ हमेशा गोमुखी में रहे, जप करते रहें; बीच-बीच में मिनट-आधा मिनट आँखें मूँद लें, ध्यान में मग्न हो जायें; बात-बात में कहें 'एक परमात्मा ही सत्य है, बाकी सब मिथ्या है'; तो ग्राहक को तुरन्त विश्वास हो जाता है। उनके बताये दाम पर माल खरीद लेता है। व्यापारी की तरह अन्य लोग भी धर्म का, त्याग का, अध्यात्म का प्रदर्शन लोगों को ठगने के लिये करते हैं। असुरों की ऐसी प्रवृत्ति दंभवश हो जाती है। अतएव 'अविधिपूर्वकम्' शास्त्रों में जो विधि की है, यज्ञों की जो इतिकर्तव्यता बताई है, उस प्रकार से करने में उन्हें रुचि नहीं होती। उनकी प्रवृत्ति का हेतु धर्मध्वजिता है कि सबको पता लग जाये कि यह यज्ञ उन्होंने कर लिया; विधि पूरी हुई कि नहीं – ये सब कहाँ किसी को पता चलता है! इसलिये ऐसे लोग छोटे-मोटे यज्ञों का नाम भी नहीं लेंगे। सीधे, छोटे

यज्ञादि तो ठीक हुए या नहीं सब लोग समझ सकते हैं अतः उन्हें न कर ऐसे यज्ञों का आयोजन करते हैं जिनके बारे में अधिकतर लोग कुछ समझते ही नहीं। अश्वमेध, सोमयाग, इत्यादि देखा हुआ तो साधारण लोगों का है नहीं इसलिये किसी के मन में ही नहीं आयेगा कि विधि पूरी हो रही है या नहीं। असुरों का उद्देश्य धर्म है ही नहीं कि यथाविधि करें।।१७।।

धर्ममार्ग की तरह ब्रह्ममार्ग से भी असुर दूर रहते हैं यह समझाते हैं –

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

अहंकार, ताकत, घमण्ड, कामना, क्रोध आदि दोषों पर आश्रित हुए वे अपने और अन्यों के शरीरों में मौजूद मुझ ईश्वर से प्रद्वेष करते हैं, तथा सन्मार्गियों के गुणों को सहन नहीं कर पाते।

'अहंकार' – अहं करोति इति अहंकारः। अहं इत्याकारक वृत्ति के अन्दर, प्रतिबिम्बित चैतन्य को ही अपना स्वरूप समझना मूलतः अहंकार है। हूँ तो मैं अहंकारात्मिका वृत्ति का साक्षी, परन्तु अहं इत्याकारक वृत्ति के साथ मैं एक होकर, उसमें जो प्रतिबिम्बित अहं है उसी को अपना स्वरूप मानता हूँ। अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति को तुमने अपना स्वरूप माना तो अन्तःकरण अपने आप तुम्हारे स्वरूप से एक हो गया। इसलिये मन के संस्कार तुम्हें अपने लगते हैं। वे संस्कार प्रवृत्त तो अहं को करेंगे, पर तुमको प्रतीत होगा, 'ये संस्कार मुझे प्रवृत्त कर रहे हैं।' अन्तःकरण जिस शरीर के हृदय में है, उस शरीर के साथ भी एकता हो जाती है, कि 'यह शरीर मैं हूँ'। इसलिये शरीर सुन्दर तो 'मैं सुन्दर', शरीर ब्राह्मण तो 'मैं ब्राह्मण'। उस अन्तःकरण के अन्दर जो गुण विद्यमान हैं, और जो बहुत से विद्यमान नहीं हैं, कल्पित हैं, उन सब गुणों को अपने में आरोपित कर लेता है। ऐसे ही स्थूल शरीर में भी जो गुण मौजूद हैं उनका और कल्पित अनेक गुणों का अपने पर आरोप कर लेता है। इस प्रकार से अहंकार स्थूल स्थूलतर होता चला जाता है। अहंकार, अहं के साथ अपने को एक कर लेना सारे दोषों का मूल है। जैसे तुम अगर एक चुम्बक पत्थर लो, और उसके नीचे एक कील लटका दो; कील के नीचे एक पतली कील लटका दो, वह लटक जाती है, उसके नीचे एक आलपिन लटका दो, वह भी लटक जाती है। लगता तो ऐसे है कि आलपिन छोटी कील पर लटकी हुई है, छोटी कील बड़ी कील पर लटकी हुई है बड़ी कील लोहे पर लटकी हुई है परन्तु यदि तुम बड़ी कील के ऊपर से चुम्बक पत्थर को हटा दो, तो बाकी अपने आप गिर जायेंगी, उनको अलग–अलग नहीं गिराना पड़ता। चुम्बक की उपस्थिति में ही कील आदि चुम्बक जैसी बन जाती हैं, जैसे चुम्बक लोहे को पकड़ता है वैसे वे भी पकड़ लेती हैं। जैसे ही तुमने चुम्बक पत्थर को हटा दिया वैसे ही कील आदि की चुम्बकीय शक्ति ख़त्म हो जाती है। ठीक इसी प्रकार से जब अहंकारात्मिका

वृत्ति के साथ आत्मा एक हो गया तब अहंकार में ऐसा बल आ जाता है कि सूक्ष्म व स्थूल शरीरों को अपने साथ रख लेता है। अगर अहंकार से तुमने अपनी एकता को छोड़ दिया, कि 'अहंकारात्मिका वृत्ति मैं नहीं हूँ', उससे अगर तुमने अध्यास हटा लिया, तो बाकी के अध्यास अपने आप ख़त्म हो जाते हैं क्योंकि उस अहंकार वृत्ति के आश्रय से ही वे हमसे सम्बद्ध थे। इसलिये भगवान् ने सबसे पहले अहंकार को कहा। भाष्यकार कहते हैं, कि यह जो अहंकार का अध्यास है यही अविद्या नाम से कहा जाता है! और इसलिये – 'कष्टतमः' यही हमारे सारे कष्टों का कारण है। सारे दोषों का मूल यही है। जितने अनर्थ हैं, पापादि हैं, सब में प्रवृत्ति का मूल कारण अहंकार से अध्यास होना है। अहंकार से एक हुए तो सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में आत्मबुद्धि हो जाती है। स्थूल शरीर को पदार्थों की प्राप्ति होने से सुख होगा। उन पदार्थों की प्राप्ति यदि पापकर्म के द्वारा होती है तो हम पाप कर्म करते हैं। इस शरीर से अध्यास हटने के बाद तो इसके लिये कोई पाप नहीं करते। शरीर से अध्यास मरने पर सबका हट ही जाता है; जिस शरीर के साथ तुम्हारा मैं का सम्बन्ध नहीं रह जाता तब उस शरीर की रक्षा के लिये क्या तुम कुछ भी प्रयत्न करते हो? पाप उसी शरीर के सुख के लिये करते हो जिसमें अध्यास है। यदि आगे की सोचो तो पाप नहीं करोगे। गाँधीजी को एक बार डाक्टरों ने ज़ोर लगाया, कि अण्डा खायें। गाँधीजी ने डाक्टर से पूछा 'अरे तुम्हारे पिता ज़िन्दा हैं?' बोला 'नहीं।' 'दादा ज़िन्दा हैं?' बोला 'नहीं।' 'तुम्हारा बड़ा भाई ज़िन्दा है?' कहा 'नहीं।' गाँधीजी ने कहा 'उन सबको तुमने अण्डा क्यों नहीं खिलाया? तुम कह रहे हो कि मैं अण्डा खाऊँगा तो बच जाऊँगा, देश का कल्याण होगा। उनको तुमने अण्डा क्यों नहीं खिलाया? अगर अण्डे खाने से ही कोई बचता हो, तो उनको बचा लेते अण्डा खिलाकर।' डाक्टर ने कहा, 'जी, मरने से तो किसी को नहीं बचा सकते।' यह सुनकर गाँधीजी ने सबसे कहा, 'डाक्टर साहब कह रहे हैं कि मरने से तो बचा नहीं सकते। जब मैं जाऊँगा मर कर के और यमराज के डण्डे खाऊँगा, तब तुम लोग कोई काम नहीं आओगे। मुझे तो न अण्डे खाने हैं न यमराज के डण्डे।' प्रायः करके देखोगे कि पाप कर्मों में प्रवृत्ति साठ–पैंसठ प्रतिशत तो खाली शरीर के लिये ही होती है। बाकी जो पैंतीस चालीस प्रतिशत हैं वे सूक्ष्म शरीर को लेकर करते हैं। 'कोई मुझे गाली न दे दे, कोई मेरा अपमान न कर दे', इसी को लेकर मनुष्य दुःखी होता है और बचने के लिये पाप भी कर लेता है। अनर्थ की प्रवृत्ति मूलतः अहंकार को लेकर ही है।

अहंकार के कारण ही आसुरी बल होता है, जो दूसरे को दबाने के लिये प्रयुक्त होता है। बल शब्द से किसी भी प्रकार के सामर्थ्य को कहते हैं। शम दमादि भी बल हैं, इसलिये अतिधन्य वेद कहता है, कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यहाँ बल का मतलब है शम दमादि। आत्मज्ञान के लिये कोई तुम्हें पहलवान तो बनना नहीं है! आसुरी बल अहंकार–मूलक है, यह दूसरे को दबाने के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला है। इसलिये नीतिकारों ने भी कहा है, 'विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय खलस्य'। दुष्ट पुरुष विद्या प्राप्त

किसलिये करते हैं? विवाद करके दूसरे को दबाने के लिये। – विद्या ज्ञान के लिये नहीं प्राप्त करते, विवाद करने के लिये अर्जित करते हैं। 'धनम् मदाय' – धन एकत्रित करते हैं तो गरीबों को, ब्राह्मणों को देने के लिये नहीं वरन् मद के लिये। धन का भी एक बड़ा ज़बर्दस्त नशा होता है। इसलिये किसी हिन्दी के कवि ने कहा है, 'कनक कनक तै सौ गुनी, मादकता अधिकाय' – धतूरा और सोना, इन दोनों में सोने का जो मद है वही ज़्यादा होता है। यह कैसे पता लगता है? धतूरे को तो जब तुम खाओ तब अपना असर दिखाता है, और पैसे को प्राप्त करने से ही मद आ जाता है! धतूरा खाने पर तुम्हें नशा चढ़ाता है और धन तो हाथ में आते ही नशा चढ़ा देता है। इसी तरह खल पुरुषों की शक्ति पराभिभव के लिये है। दूसरे को पीड़ा देने के लिये है। साधुपुरुष के लिये ये चीज़ें ठीक इससे उल्टा कर देती हैं। विद्या से वह विवाद नहीं करता, उससे तो ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरे को भी ज्ञान कराने के लिये ही समझाता है। विवाद के लिये विद्या का प्रयोग नहीं करता, अपने भी ज्ञान के लिये और दूसरों के भी ज्ञान के लिये ही विद्या का उपयोग करता है। धन इकट्ठा करेगा तो दान के लिये और अगर उसके पास शक्ति होगी, तो कमज़ोर की रक्षा के लिये ही उसका प्रयोग करेगा। दूसरे को पीडा देने के लिये नहीं प्रयोग करेगा।

असुर लोग दर्प वाले होते हैं, कामना और क्रोध वाले होते हैं। दर्प काम और क्रोध जहाँ होंगे, वहाँ बल पर-पीडाका ही हेतु बनेगा। सात्त्विक लोग दर्प, काम, क्रोध, से रहित होते हैं इसलिये उनका बल दूसरे के रक्षण में लगेगा। आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहता है, 'दर्प वह है जिसके आने पर मनुष्य धर्म का अतिक्रमण करता है।' जब कोई खुशी की परिस्थिति आती है, अर्थात् मन के अनुकूल काम हो जाता है, तब मन में एक ज़बर्दस्त हर्ष आता है, 'वाह! मार ली बाजी', और जब दर्प आता है, तब धर्म का अतिक्रमण करता है, 'मेरा कोई क्या कर सकता है!'। दर्प भी अन्तःकरण में रहेगा, अन्तःकरण के आश्रय में रहेगा। दर्पी का बल धर्म के अतिक्रमण के लिये होगा, धर्म की रक्षा के लिये नहीं। दर्प क्यों होता है? हम कामनापूर्वक प्रवृत्ति करते हैं तो कामनापूर्ति से दर्परूप हर्षविशेष होता है। यदि हम कामना से प्रेरित नहीं हैं तो दर्प का प्रश्न ही नहीं उठता। मालिक के नफे से मुनीम को दर्प नहीं हो जाता! ऐसे ही सत्पुरुष परमात्मा की आज्ञा का ही पालन करता है, फल परमात्मा को ही अर्पित करता है अतः उसे दर्प हो नहीं पाता क्योंकि ऐसी कोई कामना रखता नहीं जिसकी पूर्ति से हर्षोद्रेक हो। अतएव क्रोध से बच जाता है क्योंकि कामनापूर्ति में रुकावट के विरुद्ध ही क्रोध हुआ करता है, कामना न होने पर क्रोध का सवाल ही नहीं उठता। अतः भगवान् ने दर्प व क्रोध के मध्य काम को रखा क्योंकि यह दोनों का हेतु है। मूल कारण अहंकार, उसी के कारण फिर बल, दर्प, काम, क्रोध, ये सब होते हैं। बल का प्रयोग दर्प के कारण करता है, काम के कारण करता है, क्रोध के कारण करता है। और काम ही दर्प और क्रोध को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार इनमें एक-दूसरे की कार्यकारणता भी है। इनमें से किसी-न-किसी का अन्तःकरण में हमेशा आसन जमा ही रहता है। इसलिये कहा 'संश्रिताः'।

'आत्मपरदेहेषु' - आत्मदेह मायने अपना शरीर और परदेह मायने दूसरों का शरीर। अपने शरीर के अन्दर परमेश्वर आत्मरूप से विद्यमान है। परमेश्वर की इसीलिये परमता है। ईश्वर का अर्थ है शासन करने वाला। संसार में बहुत शासन करने वाले हैं। पुलिस वाले, मिलिटरी वाले, मंत्री लोग, राजा लोग, बहुत से शासन करने वाले हैं। फिर परमेश्वर को परम क्यों कहते हैं? बाकी सब का शासन अप्रतिहत नहीं है, अर्थात् बाकी सबके शासन को किसी अन्य सहयोग की अपेक्षा होती है, और उसका विरोध करना संभव है। क्योंकि वे सब शासन करते हैं दूसरे रह कर, और हमें परतन्त्र करना चाहते हैं। उनकी बात मानें, हम अपनी बात न मानें - यह वे चाहते हैं। हर मनुष्य चाहता है हम अपनी बात मानें और दूसरे की बात न मानें! धनादि के लोभ कारण दूसरे की बात को मानना पड़ता है। परन्तु जैसे ही हमारे ऊपर से वह रुकावट दूर हो जाती है, फिर हम अपने मन की ही करेंगे। अतः दूसरे ईश्वर अप्रतिहत नहीं हो पाते। परमेश्वर का शासन अप्रतिहत इसलिये है, कि वह हमसे अलग होकर हमारा शासन नहीं करता। संस्कार हमारे अन्तःकरण में उद्बुद्ध होकर 'हमारे हैं' - यह प्रतीति होती है, हमें लगता है कि 'हम अपने मन की कर रहे हैं, हम स्वतन्त्र हैं'। परन्तु वस्तुतः हम मन के अर्थात् मन के संस्कारों के अधीन होकर करते हैं, और मन के संस्कारों का प्रवर्तक परमेश्वर है। इसलिये वेद कहता है, जिसको आगे सुख मिलने का समय आने वाला है, उसके अन्तःकरण में पुण्य के संस्कार ही उद्बुद्ध होते हैं जिसके कारण वह पुण्य कर्म करता है और उसको सुख मिलता है। जिसको दुःख मिलने वाला होता है उसके पाप के संस्कार प्रकट होते हैं, इसलिये वह पाप कर्म करता है, और दुःख उठाता है। क्योंकि इस प्रकार हमारे अभिमान के विषय बने मन आदि का ही वह संचालन करता है इसलिये हम उसे बाहरी शासन न समझकर उसका विरोध नहीं करते। जब परमेश्वर की भी इच्छा अपनी न लगकर दूसरे की लगती है तब उसे मानने में आना-कानी करते हैं। शास्त्र में ईश्वर की इच्छायें प्रकट हैं पर वे क्योंकि हमें अपनी इच्छा नहीं लगती इसलिये उन्हें नहीं मान पाते। शास्त्रीय नियमों को मानते समय हमें लगता है कि ये तो हमारे बाधक हैं। जब मर्ज़ी हो उठना, जब मर्ज़ी हो सन्ध्या करना, करना या नहीं करना - ये हमारे मन के अनुसार होने से हमें ठीक लगते हैं। जब बुद्धि के द्वारा किये हुए निर्णय के अनुसार हम चलने लगते हैं, तब धीरे-धीरे मन में बुद्धि के संस्कार दृढ हो जाते हैं, तब पता लगने लगता है कि शास्त्रीय बातें ही ठीक हैं। जो प्रवृत्त करने वाले मन के संस्कार हैं, उनको उदय तो भगवान् करते हैं हमारे अन्दर बैठकर, हमसे अभिन्न होकर, इसलिये संस्कारों का प्रवाह हमें अपना लगता है। अतः परमेश्वर का शासन अप्रतिहत है। उन्होंने ही सर्वज्ञरूप से शास्त्र प्रतिपादित किये हैं, अतः बुद्धि में पड़े शास्त्र के संस्कारों द्वारा जो हम मन का नियन्त्रण करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह भी उन्हीं का शासन है। मन में पूर्व के संस्कारों को उठाकर के, बुद्धि में शास्त्र के संस्कारों को उठाकर के, परमात्मा हमें शासन में रखते हैं। मन-बुद्धि के ही सहारे हमारी सब चेष्टायें हैं।

इसलिये उनका शासन अप्रतिहत रहता है, इस प्रकार का शासन और कोई नहीं कर सकता। हमारे शरीर में भी परमात्मा है, और दूसरों के शरीर में भी वही है। अतः दूसरे भी जो कर रहे हैं वह उसी परमेश्वर के द्वारा उठाये हुए मन या बुद्धि के संस्कारों के अनुसार कर रहे हैं। हमने जो भी किया है, उस सब के परमात्मा साक्षी हैं। उन कर्मों के अनुरूप ही उनका शासन भी है।

ऐसा जो कर्मों का साक्षी ईश्वर, उसको 'प्रद्विषन्तः' उसके साथ असुर लोग द्वेष करते हैं। अपने से होती प्रवृत्ति के बारे में 'भगवान् मुझसे ऐसा क्यों करा रहा है, नहीं कराना चाहिये' ऐसी भावना परमेश्वर से द्वेष है। ऐसे ही अन्यों की प्रवृत्ति देखकर 'भगवान् उनसे ऐसा क्यों कराता है' यह भाव द्वेष है। उपाधि वाले की प्रधानता होगी तो साक्षी की तरफ दृष्टि नहीं जायेगी। साक्षी का स्वभाव न समझकर ही उससे द्वेष हो पाता है। स्वयं व अन्यों को स्वतंत्र कर्ता–भोक्ता समझना परमेश्वर के शासन का विरोध है, अत एव अहंकार–पर्यन्त सर्वस्व को ईश्वरार्पण करने के लिये शास्त्र कहता है। आसुरी वृत्ति वाले न स्वयं भगवान् की शरण में रहते हैं न दूसरों को उनकी शरण में स्वीकारते हैं। अतः भाष्यकार लिखते हैं 'मच्छासनातिवर्तित्वं प्रद्वेषः' भगवान् के शासन का उल्लंघन करना भगवान् से द्वेष रखना है।

'अभ्यसूयकाः' - असुर लोग परमात्मा में व उनके भक्तों में दोष–दर्शन करते हैं। 'परमात्मा ने ऐसा संसार क्यों बनाया? लोगों को दुःखी क्यों बनाया?' यों उनके अन्दर दोष–दर्शन करते रहते हैं। जो सन्मार्गस्थ लोग हैं, उनके गुणों के अन्दर भी दोष देखते हैं। करुणा, दया आदि से प्रेरित लोगों को कहते हैं कि 'ये तो अयोग्य लोगों को और आलसी बनाने वाले हैं। इनको रोटी न दो, भूखे मरेंगे तो अपने आप काम करेंगे।' कुछ तो यहाँ तक अभ्यसूया करते हैं : एक हमारे परिचित ब्राह्मण सज्जन व्यापारी थे। लोग आते थे कुछ माँगने के लिये तो वे हमेशा बिना दिये भगा देते थे। एक दिन किसी ने कहा, कि दूसरों का भी ख्याल रखना चाहिये। उन्होंने कहा 'मान लो कोई चोर भाग रहा है और पुलिस उसका पीछा कर रही है। तुम उस आदमी को छिपा लो। जब पुलिस को पता लगेगा तब उसको तो पकड़ेगी, साथ में तुमकों भी पकड़ेगी, क्योंकि तुमने अपराधी का पक्ष लिया। ठीक इसी प्रकार से जिस आदमी ने पाप किया उसे भगवान् दण्ड देना चाह रहे हैं तभी भूख से तड़प रहा है; तुमने उसको रोटी खिला दी तो उसको भूख का दुःख नहीं होगा। यों तुमने भगवान् का विरोध किया। भगवान् उसको तो दण्ड देंगे सो देंगे, तुमको भी दण्ड देंगे।' जो सन्मार्गस्थ लोग हैं, उनके ऊपर दया, करुणा, इत्यादि के निमित्त से असुर लोग अभ्यसूया करते हैं, दोष लगाते हैं। इसी प्रकार से शम दमादि करने वालों को ये कहते हैं कि ये सब तो आलसी लोग हैं, कुछ करना नहीं चाहते। कोई–कोई कर्मकाण्डी कहते हैं कि जो सब लोग नपुंसक थे उन्होंने ब्रह्मचर्य इत्यादि का विधान किया है! वर्तमान में भी अनेक मनोवैज्ञानिक ऐसे हैं, जो कहते हैं कि इन इच्छाओं को दमन करने से तरह–तरह के रोग होते हैं। सन्मार्गस्थों के जितने भी सद्गुण होते हैं, उनके अन्दर ये दोष–दर्शन करते हैं। क्रोधहीन व्यक्ति को

देखते हैं तो कहते हैं, 'इसका तो खून भी ठंडा हो गया, कोई गर्मी ही नहीं आती है इसको।' अक्रोध को गुण नहीं मानेंगे, दोष ही मानेंगे। इस प्रकार से परमात्मा के गुणों में भी और परमात्मा के मार्ग पर चलने वालों के गुणों में असुरों को दोष दीखते हैं। गुणों को वे सहन नहीं कर पाते।।१८।।

चूंकि मेरे साथ ऐसा द्वेष करते हैं इसलिये नतीजा बुरा होता है – क्योंकि मेरा नियम है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि' यह भगवान् बताते हैं –

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१६।।

उन द्वेषी क्रूर, अशुभ, नीच लोगों को मैं लगातार आसुरी योनियों के जन्मों में ही फैंकता हूँ।

'तान्' – अर्थात् जो इस प्रकार से आत्मपरदेह में स्थित उस शिव से अभ्यसूया, और 'द्विषतः' द्वेष करते हैं, उन लोगों को, 'अहं' मैं अर्थात् सबके हृदय में बैठा हुआ आत्मतत्त्व असुर-योनियों में फैंकता हूँ। कई लोग खड़े होकर के पेशाब करते रहते हैं। पेन्ट पहने रहते हैं तो उनको पता नहीं लगता, किन्तु पत्थर पर पड़े हुए पेशाब के छींटे उड़कर उनके पेन्ट के ऊपर ही आयेंगे! कोई कह सकता है कि 'पहाड़ कितना बुरा है, जो हमारे पेन्ट के ऊपर पेशाब डाल देता है।' सच्ची बात यह है कि उन्होंने ही पेशाब करके छींटों को अपने पर डलवाया। इसी प्रकार परमात्मा आत्मरूप हैं अतः परमात्मा से द्वेष करने का नतीजा अपने पर ही आता है। परमेश्वर भिन्न होकर के, भेद बुद्धि से दण्ड देता हो, ऐसा नहीं है। असुर परमात्मा से द्वेष करता है तो वह द्वेष वापिस उसी पर पड़ता है। असुर द्वेषी हैं, सन्मार्ग के विरोधी हैं, साधु पुरुषों का प्रतिरोध करते हैं। उस द्वेष के कारण क्रूर भी होते हैं। द्वेष उनको व्यवहार में भी क्रूर बना देता है। पास में अधिक रोटी होने पर भी भूखे को नहीं खिलाएँगे। यही क्रूरता है। उनका द्वेष क्रूरता तक पहुँचा देता है। अतः भगवान् कहते हैं, 'नराधमान्' वे नरों में अधम हैं। नर शब्द का तात्पर्य है, जो स्वयं विषयों में रमण न करे। कुछ तो ऐसे हुए जो खुद विषयों में रमण करते हैं, इसलिये दूसरों को विषय के अभाव में दुःखी देखकर उनके साथ सहानुभूति करते हैं। सामान्यतः यह मनुष्य का स्वभाव होता है कि अपने पैमाने से दूसरों को नापते हैं। विषयों के अन्दर जो रमण करने वाला है, वह दूसरों का विषय-निमित्तक कष्ट समझता है। परन्तु अधम वे होते हैं जो अपने कष्ट को तो कष्ट समझते हैं पर दूसरे के कष्ट को कष्ट ही नहीं समझते। अपने को दुःख होता है तो रोते हैं, और दूसरा रोए तो कहते हैं 'यह नाटक कर रहा है।' अपने घर का व्यक्ति मरता है तो हमें दुःख होता ही है, रोते ही हैं। कोई ज़रा ज़ोर से रो लेता है, सर भी पीट लेता है, छाती भी पीट लेता है, तो उसको देख कर कहते हैं 'अरे! इन्होंने तो भाड़े वाले को बुला लिया होगा, इतना दुःख थोड़े ही होता है!' इस प्रकार अपने दुःख को दुःख समझना और दूसरे के दुःख को नाटक समझना, यह नरों के अन्दर अधमता है। वास्तविक नर तो

वह है जो विषयों में रमण न करे। मध्यम नर वह हुआ जो खुद विषयों में रमण करता है, दूसरों के भी विषय के दुःख को दुःख समझता है। और अधम वह हुआ जो अपने दुःख को दुःख समझता है, विषयों की अप्राप्ति को अप्राप्ति समझता है किन्तु दूसरों के विषयों निमित्तक दुःखों के प्रति क्रूर रहता है। असुर ऐसे होते हैं इसलिये उनको नराधम कहा।

'संसारेषु'। संसार क्या है? सरकते जाना, संसरण है। एक शरीर से सरक कर दूसरे शरीर में जाते हो, दूसरे से तीसरे में जाते हो। ऐसा संसरण है कि पहले शरीर को भली प्रकार से छोड़ देते हो। संसरण जीवन काल में भी होता है। जाग्रत् अवस्था से सरक कर स्वप्न अवस्था में चले जाते हो, स्वप्न में जाते हो तो जाग्रत् का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, स्वप्न से सुषुप्ति में चले जाते हो तो जाग्रत्–स्वप्न दोनों का सम्बन्ध नहीं रहता। सुषुप्ति से सरक कर जाग्रत् में आ जाते हो तो फिर सुषुप्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह भी सरकना है पर सम्यक् सरकना नहीं है। क्योंकि पुनः पुनः उसी शरीर में जगते हैं, इसलिये भली प्रकार हमने उसे नहीं छोड़ा। और मृत्यु के काल में हम भली प्रकार इस शरीर को छोड़ देते हैं। फिर इस शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। सारे शरीरों में समानता क्या है? सारे शरीर दुःख के केन्द्र हैं। कोई भी शरीर ऐसा नहीं है जहाँ दुःख का अनुभव न होवे। जो इस प्रकार परमात्मा से द्वेष करने वाले हैं, वे बार–बार इस प्रकार दुःख को देने वाले शरीरों की प्राप्ति करते हैं, अधर्म के कारण। भगवान् कहते हैं 'क्षिपामि'; मैं उनका साक्षी आत्मा, उनका परम प्रिय, मैं ही उनको इस परिस्थिति में फैंक देता हूँ। क्षिपामि का मतलब होता है, फैंक देना। सभी लोग एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं, फिर इनके लिये भगवान् विशेष कर के 'फैंकना' क्यों कहते हैं? क्योंकि 'आसुरीष्वेव योनिषु' उनको भगवान् आसुरी योनियों में ही डालते हैं। दूसरे लोगों के तो कभी शुभ कर्म आगे आते हैं, कभी अशुभ कर्म आगे आते हैं; शुभ कर्म आगे आये तो कोई अच्छी योनि मिल गयी, अशुभ कर्म आगे आये तो बुरी योनि मिल गयी। पर इस प्रकार से जो, परमात्मा के साथ द्वेष और अभ्यसूया करने वाले हैं, इनमें क्योंकि निरन्तर अशुभ कर्म ही हैं इसलिये इन्हें निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालते हैं जहाँ आसुरी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, जैसे साँप, शेर आदि। साँप का भोजन ही चूहा है, दूसरे प्राणी को मारेगा ही। ऐसा नहीं है कि कभी मारे कभी नहीं। शेर को खाना ही है हरिण इत्यादि को। इसमें क्रूरता होती ही है। जिनमें प्रायः कर के क्रूर कर्म होते हैं ऐसी आसुरी योनियों के अन्दर ही वे पैदा होते हैं। चूंकि ये योनियाँ अत्यन्त घृणित मानी जाती हैं, इसलिये कहा 'क्षिपामी' अर्थात् 'फैंकता हूँ'। इन आसुरी योनियों में दूसरे भी जाते हैं परन्तु इनको आसुरी योनियों की प्राप्ति 'अजस्रम्' एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी यों लगातार होती रहती है। क्योंकि ये स्वभाव से ही – 'अशुभान्' – अशुभ कर्मकारी हैं, परमेश्वर से द्वेष करने वाले हैं, परमेश्वर में अभ्यसूया करने वाले हैं अतः ये अशुभ कर्मों में ही प्रवृत्ति करते हैं, अशुभ कर्म ही करते हैं। अतः निरन्तर ऐसी आसुरी योनियों में ही, मैं कर्मफलदाता ईश्वर इनको डालता रहता हूँ।।१६।।

आसुरी योनि में जाकर के क्या होता है? यह बताते हैं –

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

हे कौंतेय! हर जन्म में आसुरी योनि में पैदा हुए ये अविवेकी मुझे – मेरी प्राप्ति के साधनभूत सन्मार्ग तक को – न पाकर निकृष्टतम गति पाते हैं।

'आसुरी योनिमापन्नाः' – आसुरी योनि, जिनके अन्दर प्रायः कर के क्रूर कर्म ही करते रहते हैं, ऐसी योनियाँ 'आपन्नाः', प्राप्त करते हैं। 'मूढाः'। क्यों इनको ऐसी आसुरी योनियों में बार–बार जाना पड़ता है? मूढ हैं इसलिये। मूढ अर्थात् अज्ञानी। अज्ञानी को न पता है, 'मेरे लिये क्या ठीक है', न पता है दूसरे के लिये क्या ठीक है। जो सामान्य अज्ञानी होता है, उसको कोई अच्छी बात बताओ, जो उसे पता नहीं है तो वह उसे मान लेता है। मूढ वह होता है जो अच्छी बात बताने पर उलटा तुम्हारे बताये हुए में दोष देखेगा, अभ्यसूया करेगा। ब्रह्माजी जैसा गुरु भी समझाने आ जाये तो भी मूढ को जँचेगा ही नहीं। उनमें दोष–दर्शन ही करेगा। आसुरी व्यक्ति ऐसे मूढ हैं, अविवेकी हैं। ऐसा किसी का जीवन नहीं होता कि बीच–बीच में साधु–पुरुष का कुछ–न–कुछ संग न मिले। दस बार बुरे आदमी मिलेंगे तो एक बार भला आदमी भी मिलेगा। एक बार अच्छा संस्कार भी मिल सकता है, और मिलता है। इसलिये प्रायः मनुष्यों का जीवन पुण्य–पाप से मिला हुआ होता है। बुरे आदमियों के संस्कार पड़े हुए हैं इसलिये बुराई कर ली, कुछ अच्छे आदमियों के संस्कार भी होते हैं तो कुछ अच्छाई भी कर लेते हैं। अतः संसरण में यही होता है, कि कभी अच्छा जन्म हो गया, कभी बुरा जन्म हो गया। किन्तु जो मूढता के कारण किसी अच्छी बात को ग्रहण करता ही नहीं है वह 'जन्मनि जन्मनि' हर जन्म में तमोगुणी आसुरी योनियाँ प्राप्त करता है।

इसलिये 'मामप्राप्यैव'। कभी भी, थोड़े समय के लिये भी परमेश्वर की तरफ इनका रुख नहीं होता। जीवन में कोई–न–कोई ऐसे काल आते रहते हैं जब लोगों की बुद्धि परमेश्वर की तरफ जाती है, चाहे थोड़ी देर के लिये ही जाये। दुःख पड़ने पर भी प्रायः सबकी जाती है, सुख पड़ने पर भी सज्जनों की मति भगवान् की ओर कुछ तो बन जाती है। लेकिन जो मूढ लोग हैं, ईश्वर की तरफ उनकी कभी दृष्टि होती ही नहीं है। बल्कि ये समझते हैं, कि ईश्वर मानने वाले सब बेवकूफ हैं! तमिलनाडू में एक बहुत बड़े नेता हुए हैं रामस्वामी नायकर, वे ईश्वर वगैरह के विरोधी थे, जगह–जगह चौराहों आदि पर उनकी मूर्तियाँ बनायी हैं, मूर्ति के नीचे लिखा रहता है, 'ईश्वर मानने वाले बेवकूफ होते हैं', खुलेआम लिखा हुआ है। ऐसे व्यक्ति कभी परमेश्वर की तरफ जा ही कैसे सकते हैं? इसलिये भगवान् ने कहा कि क्षण भर भी मेरी तरफ उनकी दृष्टि नहीं होती।

'ततः'। क्योंकि मेरी तरफ वृत्ति बनती नहीं अतः 'अधमां गतिम् यान्ति' अधम गतियों को ही प्राप्त करते रहते हैं। भाष्यकार लिखते हैं, कि यह तो संभावना ही नहीं कि वे भगवान्

को पायें, फिर भगवान् ने कहा क्यों कि 'मुझे नहीं पाते?' अतः भगवान् का अभिप्राय है कि 'मेरे द्वारा शासन किया हुआ जो साधुपुरुषों का मार्ग है, उसको प्राप्त नहीं करते'। परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रधान तात्पर्य यही है कि परमेश्वर के द्वारा जो कर्तव्य-अकर्तव्य बताये गये हैं उनके अनुसार जीवन चलायें। वह निरन्तर हमारे अंतःकरण में बैठा ही हुआ है, चाहे हम जिस योनि में जायें। इसलिये आचार्य शंकर ने एक जगह कहा है कि 'कोई भी योनि मुझे प्राप्त हो जाये, चाहे मैं मक्खी मच्छर ही बन जाऊँ, तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता। बस, मेरे मन की वृत्ति, हृदय में बैठा हुआ जो आत्मतत्त्व हमेशा मौजूद है, उसकी तरफ बनी रहे।' परमात्मा तो हमेशा हृदय में बैठा हुआ है, उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति क्या? अतः 'मुझे' अर्थात् मेरे द्वारा बताया सन्मार्ग, उस पर नहीं चलते। हृदय में बैठे हुए परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग नहीं मिलता।

एक औरत को एक नगीना मिल गया। रंगदार पत्थर दीखा तो अपने बच्चे को खेलने के लिये दे दिया। चमकीली चीज़ थी, वह खेलता रहा। एक बार कोई जौहरी की औरत वहाँ आयी, उसने कहा, 'अरे! तुमने यह क्या टाँग रखा है? बड़ा बेशकीमती हीरा है, ऐसे नहीं लटकाया जाता।' वह कहने लगी, 'मेरा बेटा ही मेरे लिये सबसे कीमती चीज़ है, उसके लिये लटका दिया, तो ठीक है, और क्या करना है?' जौहरी की औरत के कहने पर भी मूढ बुद्धि होने से बात नहीं मानी। कुछ दिनों के बाद उसका पति घर आया। उसे भी वह अत्यधिक चमकता दीखा तो उसने पत्नी से पूछा। उसने बताया 'चमक हीरे जैसा रहा है। जौहरी की स्त्री तो इसे कीमती बता रही थी पर मेरे लिये बच्चा इतना कीमती है कि वही इससे खेले तो अच्छा है।' पति उस नग को जौहरी के पास ले गया, पूछा 'इसके कितने मिलेंगे?' जौहरी ने कहा 'चार लाख' उसने बेच दिया। पाँच-चार सौ रुपये के तरह-तरह के रंगदार पत्थर खरीद लिये घर में आकर घरवाली से कहा, 'क्या एक पत्थर लिये बैठी थी! ये देख, कितने पत्थर हो गये!' घरवाली बड़ी खुश हुई। ' अकस्मात् आप ये कैसे ले आये? आप तो बहुत संभलकर खर्च करते हैं।' वह बोला 'अरे! वह चमकीला पत्थर बिक गया चार लाख में, तो ये पाँच सौ के ले आया।' तब औरत के बात समझ में आई। उस औरत की तरह हमारा मन है। मन के हाथ में आत्मरूपी हीरा है। रातदिन 'मैं चेतन हूँ' यह हीरा तो उसके पास है। लेकिन इसको मन की इच्छाओं को पूरी करने में लगा रहा है। मैं चेतन हूँ, इसी लिये सभी काम कर रहा हूँ। किस लिये कर रहा हूँ? ताकि मन की इच्छायें पूरी होवें। मन खेल रहा है इस हीरे के साथ। जहाँ चाहता है वहाँ लगा देता है और हम समझते हैं, 'मैं ही लग रहा हूँ'। कभी कोई विचार करने वाला ध्यान भी दिलाता है, 'अरे! तुम अपनी तरफ देखो, चेतन तत्त्व को तुम कहाँ लगा रहे हो?' पर समझ में नहीं आता मन को, उसे लगता है कि यही सबसे ज़रूरी काम है, इससे बड़ा और क्या है कि मन की बात पूरी हो जाये। हम भगवान् की उपासना, देवताओं की उपासना किसलिये करते हैं? ताकि हमारे मन की इच्छा पूरी हो। इसके सिवाय तो और कुछ प्रयोजन है नहीं। परमेश्वर को,परमात्मा को,

चेतनरूप समझ कर के ही, उससे प्रार्थना करके भी, मन की ही इच्छा पूरी करते हैं। किसी समय में कोई साधु पुरुष तुमको समझाता है कि 'जिस परमेश्वर की प्रसन्नता से तुम्हारे मन की इच्छाएँ पूरी होती हैं, वह परमेश्वर तुम्हारे हाथ में आ जाये तो कितना अच्छा होवे। फिर तो जितनी इच्छाएँ हैं, सब तुम्हारे लिये खेल हो जायेंगी। इसलिये रोज़ शंकर भगवान् की प्रार्थना में कहते हो, 'कामदं मोक्षदं चैव' वे कामनाएँ पूरी करते हैं, मोक्ष प्रदान करते हैं। असली फल तो परमेश्वर की कृपा का मोक्ष ही है। पर जैसे पति चमकीले पत्थर ले आया था, इसी प्रकार श्रुति तमाम कामनाओं की पूर्ति के लिये औपाधिक उपासनाओं का निरूपण करती है कि इस-इस उपाधि वाले की उपासना करो, तो उसी से सब कुछ मिल जाता है। यह जँचने पर परमेश्वर से मिलने के लिये ही प्रयत्न करेंगे, जिससे सब मिल जायेगा। जब परमेश्वर मिल जाता है, तब अपने आप पता लग जाता है कि ये सब तो व्यर्थ चीज़ें हैं।

अतः सदुपदेश पाकर भी हठपूर्वक उसे ग्रहण न करना असुरों की विशेषता है जिसके फलस्वरूप उन्हें लम्बे समय तक घृणित योनियाँ भोगनी पड़ती हैं। बुद्धिमान् को अतः हमेशा सत्संस्कार बटोरकर सन्मार्ग पर स्थिर रहने का ही प्रयत्न करना चाहिये।।२०।।

आसुरी सम्पत्ति काफी लम्बी-चौड़ी बतलायी, क्या इनमें कोई प्रधान और कोई गौण है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि सभी आसुरी सम्पत्ति, तीन दुर्गुणों में बँट जाती है, इन तीन का विस्तार सारी आसुरी सम्पत्ति है। इसलिये यदि इन तीन से बच जाओ तो सारी आसुरी सम्पत्ति से बच जाओगे। ये तीन ही सारे अनर्थ के मूल हैं। हमेशा याद रखने के लिये यह सरल संक्षेप है। गीता में जितना बतलाया है उसकी अपेक्षा धर्मशास्त्रादि के अन्दर अत्यन्त विस्तृत विधि निषेध हैं। उन सारे निषेधों को पहले तो जानना मुश्किल और जानो तो याद रखना मुश्किल। इसलिये भगवान् ने यहाँ संक्षेप करके बतला दिया कि ये तीन ही ऐसे दोष हैं, जो तुमको आसुरी योनियों की, नरकों की प्राप्ति कराते हैं, अतः इन तीन से बच गये तो सबसे बच जाओगे।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

आत्मा किसी पुरुषार्थ के योग्य न रहे, नरक ही पाये, इसके लिये यह तीन प्रकार का दरवाज़ा है, काम, क्रोध, लोभ, इसलिये इन तीनों को छोड़ना ही उचित है।

भगवान् कहते हैं कि ये तीन ऐसे दरवाज़े हैं जो नरक की तरफ खुलते हैं, नरक में इन तीन दरवाज़ों से ही जाया जाता है। भगवान् ने यहाँ तीन की संख्या भी कह दी और आगे, काम, क्रोध, लोभ ये तीन गिना भी दिये। नियम है कि यदि संख्या कह दी जाये और गिना भी दिया जाये, तो उसका मतलब हो जाता है, 'ये ही, और कोई नहीं'। जैसे किसी से कहे 'आप, आपके भाईसाहब और आपका बड़ा लड़का, ये तीन लोग कल भोजन के

लिये आना।' तीन की संख्या भी कह दी, और नाम भी बतला दिये, तो इसका मतलब हो गया कि इन तीन के अतिरिक्त और कोई न आवे। यदि बड़े लड़के को कहीं काम पड़ गया, तो उसकी जगह छोटा लड़का भी नहीं आ सकता क्योंकि तीन को गिना भी दिया और तीन की संख्या भी कह दी। इसी प्रकार यहाँ अभिप्राय हो गया कि ये तीन ही हैं, इनके अतिरिक्त और कोई नरक में जाने का द्वार नहीं। नरक क्या है? 'आत्मनः नाशनम्'। ये द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं। आत्मा का नाश तो सम्भव है नहीं! भगवान् ने स्पष्ट कहा है, कि आत्मा न मरता है न जन्म लेता है। अतः आत्मा का नाश, मतलब क्या? पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाना – यही इसका नाश है। उपनिषद् में भी 'आत्महनो जनाः' कहा तो उसका अर्थ बताया कि आत्मा को पुरुषार्थ-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्त न करना यही आत्मा का हनन है। आत्मा की तरफ दृष्टि करो तब तो आत्मा पुरुषार्थ की तरफ जायेगा और अनात्मा की तरफ दृष्टि करोगे तो आत्मा पुरुषार्थ-रहित हो जायेगा। 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष जिसके लिये, जिस अर्थ के लिये, जिस प्रयोजन के लिये, प्रयत्न करता है। शरीर से लेकर के मन तक, सब चीज़ें अनात्मरूप होने से, अनात्मा के लिये ही प्रवृत्ति करेंगी। एकमात्र अहं-प्रत्यय में जो प्रतिबिम्बित चेतन है, वह आत्मा की जाति का है। मोटी भाषा में जिसको जीव कहते हैं, अन्तःकरण की उपाधि अथवा अविद्या की उपाधि वाला चेतन। वह उभय-स्वरूप है; उपाधि के साथ एक हुआ तो अनात्मा की तरफ पुरुषार्थ करता है, और चेतन-प्रधान हुआ परमात्मा की तरफ पुरुषार्थ करता है। आत्मरूप की प्रधानता को लेकर आत्मा की ओर जायेगा और जड-प्रधानता को लेकर अनात्मा की ओर जायेगा। इसलिये उपनिषदों के अन्दर जहाँ शरीरादि को चलने वाले रथ की उपमा दी, वहाँ आत्मा को रथी कहा है, बुद्धि को सारथी कहा है, इन्द्रियों को घोड़ा कहा है, शरीर को रथ कहा है। वहाँ आत्मा अर्थात् जीव। बुद्धि रथ को परमात्मा की तरफ चलावे या अनात्मा की तरफ चलावे, यह हुक्म तो आत्मा का है। आगे चलाने का काम सारथी बुद्धि करेगी। चलने का काम शरीर इन्द्रियाँ करेंगी। किस तरफ चलाया जाये – यह आत्मा की आज्ञा के अनुसार होगा। आगे बतलाया है कि यदि इन्द्रियाँ ठीक नहीं हैं, बुद्धि ठीक नहीं है, तो रथ खड्डे में गिर सकता है, और ये सब शिक्षित हैं, तो बुद्धि इनको विष्णु के परम पद तक ले जा सकती है। अतः जीव ने हुक्म दे दिया इतने मात्र से तो काम नहीं होता, उसके बाद ये सब चीज़ें नियन्त्रित भी होनी चाहिये। परन्तु ये सब नियन्त्रित होने पर भी जब तक आत्मा इनको परमात्मा की तरफ नहीं ले जायेगा, तब तक ये उस तरफ नहीं जायेंगी। इस प्रकार 'आत्मनः नाशनम्' का मतलब है, आत्मा अनात्मा की तरफ बुद्धि देहादि का प्रवर्तन करे।

जीव ऐसी प्रवृत्ति क्यों करता है? भगवान् ने बता दिया, 'ये तीन ही द्वार हैं।' या तो काम के कारण अनात्मा की तरफ जाता है, या क्रोध के कारण अनात्मा की तरफ जाता है, या लोभ के कारण अनात्मा की तरफ जाता है। किसी विषय के लिये मन में अभिलाषा होना कि यह विषय मेरा हो जाये, काम है। विषय अनात्मा है। कामना हमेशा अनात्मा की, विषयों

की होती है। कई बार लोगों के मन में प्रश्न होता है कि परमात्मा की कामना भी कामना है; किन्तु परमात्मा अनात्मा नहीं है, विषय नहीं है। कामना विषय की होती है। विषय अनात्मा हैं। इसलिये जैसे ही कामना का द्वार खुला, वैसे ही हमारा प्रवेश आत्मा के नाश की तरफ हो गया, अर्थात् आत्मा के लिये पुरुषार्थ न कर के अब पुरुषार्थ विषय के लिये करने लग गये। इस प्रकार यह नरक का द्वार है। जैसे कामना कारण है, वैसे ही क्रोध भी कारण है। जब क्रोध आता है, तब इतना तीव्र होता है क्रोध का वेग, कि लाख समझाओ फिर भी उस समय, कहता है 'मैं भी जानता हूँ, परन्तु पहले इसको ठीक कर दूँगा फिर चाहे प्रायश्चित्त कर लूँ।' क्रोध का वेग ऐसा होता है। क्रोध भी किसी-न-किसी अनात्मा की तरफ ही होता है। चाहे किसी मनुष्य का शरीर हो, पशु पक्षी का शरीर हो, अथवा पत्थर ही हो! क्रोध खाली चेतन पर आता है ऐसा नहीं है। पत्थर पर भी क्रोध आ जाता है। रास्ते में जाते हुए, ऊपर से पत्थर गिर गया, तो उस पत्थर पर क्रोध करते हैं, उसी को गालियाँ देते हैं, नीचे पटक भी देते हैं। जड पदार्थ को गाली देकर, फैंककर होता तो कुछ नहीं है, परन्तु क्रोध शान्त होता है। क्रोध के समय भी, जिस-किसी अनात्म पदार्थ से हमको द्वेष होता है, उसको नष्ट करने में प्रवृत्ति होती है, आत्म-प्रवृत्ति नहीं होती। तीसरी चीज़ भगवान् ने कही, लोभ; अनात्म-विषयक इच्छा तो कामना है, पर जो अनात्म विषय हमारे पास है वह हमारे पास से कभी हटे ही नहीं, किसी भी सत्कार्य में इसका व्यय होवे ही नहीं – इस भावना का नाम लोभ है।

'तस्माद्', ये नरक का रास्ता होने से, आत्मा का नाश करने वाले होने से, 'एतत्त्रयं' इन तीनों को 'त्यजेत्' छोड़ दे। इसे समझाने के लिये एक कथा बृहदारण्यक उपनिषद् में आयी है। ब्रह्मा जी के पास देव, दानव और मानव गये कि 'हम को उपदेश दे दीजिये।' ब्रह्मा जी ने विचार किया कि तीनों अधिकारी अलग-अलग हैं, परन्तु यदि इनको अलग-अलग उपदेश देंगे तो हर एक सोचेगा, 'दूसरे को उपदेश बढ़िया मिल गया।' लोगों का विचित्र स्वभाव होता है। ब्रह्मा जी जानते थे। हर आदमी दबाव देकर दूसरे को जो मन्त्र मिला है उसको जानने का प्रयत्न करता है। स्त्रियों की स्थायी शिकायत रहती है कि उन्हें गायत्री क्यों नहीं जपने देते! उनके मन में बैठा है कि उन्हें जो मंत्रोपदेश मिलता है वह कमज़ोर है, पुरुषों वाला मंत्र बलवान है। प्रजापति ब्रह्मा को तो पता ही है। उन्होंने सोचा – इनको अलग-अलग उपदेश देंगे तो हर एक समझेगा 'दूसरे वाला ठीक है।' अधिकारी अलग-अलग हैं, इसलिये एक उपदेश तीनों के लिये उपयुक्त हो नहीं सकता! ब्रह्मा जी सर्वज्ञ हैं, सबके गुरु हैं, उन्होंने तीनों को कहा, 'द द द'। तीन बार 'द' बोल दिया। तीनों प्रसन्न होकर चले गये! उनके जाने के बाद ब्रह्मा जी ने सोचा कि 'देखें तो सही ये ठीक समझे कि नहीं।' सबसे पहले देवताओं को बुलाया, 'तुम हमारे उपदेश का क्या मतलब समझे?' तो उन्होंने कहा कि 'हम लोग भोगी बहुत हैं इसलिये आपने कहा कि दमन करो, द मायने दमन करो, इन्द्रियों को, मन को, भोगों की तरफ मत जाने दो।' ब्रह्मा जी ने कहा, 'हाँ ठीक

समझे।' फिर असुरों को बुलाया, 'तुम लोग हमारे उपदेश का क्या मतलब समझे?' उन्होंने कहा, 'जी, हम लोग क्रूर बहुत हैं, इसलिये आपने कहा, क्रूरता छोड़ो, दया करो। आपने हम लोगों को 'द' से दया करने का उपदेश दिया।' उन्होंने कहा, 'ठीक है, तुम लोग भी ठीक समझे।' फिर मनुष्यों को बुलाया, 'तुम लोग हमारे उपदेश का मतलब क्या समझे?' उन्होंने कहा, 'हम लोग लोभी बहुत हैं, इसलिये आपने हम लोगों को 'द' से उपदेश किया कि दान करो।' उन्होंने कहा, 'ठीक समझे।' एक ही 'द' के द्वारा तीनों काम, क्रोध, लोभ छोड़ना समझे। इस कथा के अन्त में आचार्य शंकर कहते हैं, कि यद्यपि यहाँ कहा है देव, दानव, मानव, तथापि मनुष्यों में ही देव दानव और मानव – तीनों जातियाँ हैं। जो भोगप्रधान हैं वे देव हैं, जो क्रोधप्रधान हैं वे दानव हैं, जो लोभप्रधान हैं वे मानव हैं। अनेक युक्तियों से इस बात को सिद्ध किया है, कि शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है इसलिये ये उपदेश काम-प्रधान, क्रोध-प्रधान, लोभ-प्रदान मानवों को ही दिया गया है। अपनी-अपनी प्रकृति अपने को अपने आप पता चलती है। 'मेरी प्रधानता भोग की है, मेरी प्रधानता क्रोध की है, मेरी प्रधानता लोभ की है' यह अपने को ही पता चलता है। उसके अनुसार ही, दम, दया और दान का अभ्यास करने से धीरे-धीरे ये तीनों वृत्तियाँ ख़त्म होती हैं। यद्यपि यहाँ कहा है 'एतत्त्रयं त्यजेत्', इन तीनों को छोड़े, पर छोड़ने का मतलब है, इनके जो विरोधी प्रत्यय हैं, दान दम और दया, उनका अभ्यास करे, उनका अभ्यास करने से ही ये तीनों छूटेंगे। 'ये तीनों न रहें, न रहें', ऐसा सोचने मात्र से ये छूटते नहीं! इनके विरोधी धर्मों का अभ्यास करने से ही ये छूटते हैं।

आचार्य शंकर एक सूक्ष्म बात कहते हैं : यहाँ आत्मा के नाश का द्वार इन तीन को बतलाया। इन तीनों का मूल कारण अज्ञान है। परमात्मा को न जानने के कारण ही हम शरीर के भोगों को अपना भोग समझ कर उधर प्रवृत्ति करते हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीर के अपमान आदि को, 'मेरा अपमान' मानकर क्रोध करते हैं। शरीरादि की आवश्यकताओं को लेकर ही लोभ करते हैं। जो चीज़ें हम ज़रूरी समझते हैं उन्हीं का काम-क्रोध-लोभ होता है। किसी को यह कामना नहीं होती की 'सूअर की टट्टी मुझे मिल जाये' क्योंकि सूअर की टट्टी के बारे में हमको यह ज्ञान नहीं है कि वह हमारे शरीरादि के काम आयेगी। यथाकथंचित् यदि हो जाये तो उसकी भी कामना हो जाती है। एक सज्जन को कोई बीमारी थी। वैद्य ने उनसे कहा कि कबूतर की बीट खाने से बीमारी ठीक हो जाती है। उन्हें जब उपयोग समझ आया तो जहाँ कबूतरों को दाना डालते हैं वहाँ स्वयं जाकर बीट बटोर लाने लगे। यदि इस प्रकार उसमें बुद्धि हो जाये कि हमारे उपयोग की चीज़ है, तो उसकी भी कामना हो जाती है। यही स्थिति लोभ की है। किन्तु उपयोग किसका देखते हैं? स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का। शरीर को रोग होगा तो उसके उपयोगी हो सकती है। ऐसे ही मन के उपयोग को सोचकर कामादि होते हैं। यदि 'स्थूल सूक्ष्म शरीर मैं नहीं हूँ' यह पता है, तब उनके उपयोग के पीछे तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी। काम, क्रोध, लोभ – तीनों द्वारों का महाद्वार जो

पहले होना चाहिये, वह अज्ञान है। अज्ञान को छोड़ने से नरक के दरवाज़े में नहीं जाओगे। काम और लोभ तो स्थूल और सूक्ष्म शरीर के लिये प्रवर्तक बनते हैं। क्रोध एक बड़ी ज़बर्दस्त बाढ़ की तरह है। अगर तुम्हारी कामना का अवरोध होवे, कामनापूर्ति में कोई रुकावट डाले, तब भी क्रोध आता है और तुम्हारे लोभ में कोई रुकावट डाले, तब भी क्रोध आता है। जैसे तुम चाहते हो कि बैंक से उधार मिल जाए। सरकार के बहुत कानून हैं, सारे कानून लगते हैं कि बेकार बना दिये हैं, किस काम के! सरकार पर क्रोध आता है, कि सरकार किसी को काम नहीं करने देती, रुकावट डालती है। लोभ की रुकावट, जैसे जब सरकार कर माँगती है तब उसपर क्रोध आता है। है यह भी अज्ञान-मूलक। जब काम और लोभ अनात्म-विषय का है, तभी अनात्म-विषय के न मिलने पर क्रोध आएगा। लेकिन क्रोध सीधा अज्ञान से न होकर अवरोध के द्वारा पैदा होता है। इसलिये क्रोध को रोकने का तरीका है काम और लोभ को कम करो, छोड़ो। क्रोध आने के बाद यदि चाहो कि नियन्त्रण करें, तो नहीं हो पाता। यह तो बाढ़ की तरह आता है। फायदा भी इसमें है, कि जैसे बाढ़ वेग से आती है वैसे कुछ समय में चली भी जाती है। इसी प्रकार क्रोध निरन्तर नहीं रहता। बाढ़ की तरह आयेगा और कुछ समय के बाद चला जायेगा। काम व लोभ की तरह यह स्थिर भाव से बना नहीं रहता। खराबी इसमें है कि क्रोध आने के बाद रोक नहीं सकते, बहुत मुश्किल है। परन्तु यदि काम और लोभ कम होगा, तो उनका अवरोध भी कम होगा और तब यह क्रोध आयेगा नहीं। हर हालत में, समूल नष्ट होने के लिये तो अज्ञान-निवृत्ति आवश्यक है। इसलिये केवल इन तीन को छोड़ने से नरक का रास्ता बन्द हो जायेगा यह जो भगवान् ने कहा उसे आचार्य कहते हैं 'त्यागस्तुतिः इयम्' कि त्याग की स्तुति कर रहे हैं। वैसे तो अज्ञान-निवृत्ति से ही नरक जाना बन्द हो सकता है, केवल इन तीन के चले जाने से नहीं। जाते तो ये तीनों सुषुप्ति, समाधि व प्रलय में हैं ही, पर उस से मोक्ष कहाँ होता है! इसलिये वस्तुतस्तु अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित है। परन्तु इनके छूटने से तुम्हारा आत्मा की तरफ ध्यान ज़्यादा जायेगा और तब तुम श्रवण-मनन में लग सकोगे। अन्यथा काम, क्रोध, लोभ में लगे रहते हैं इसलिये श्रवण-मनन में एकाग्रता से लग नहीं सकते, और बिना श्रवण-मनन में एकाग्रता से लगे हुए अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये त्याग की स्तुति है, कि वह अज्ञान-निवृत्ति में सहायता देता है।।२१।।

इस बात को आगे भगवान् स्वयं स्पष्ट करते हैं –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।

कौन्तेय! तम अर्थात् दुःख-मोहात्मक नरक के इन तीनों द्वारों से छूटा नर अपने कल्याण का आचरण करता है, उससे मोक्ष पाता है।

ये तीन ही तम के द्वार हैं। पहले इनको कहा था कि नरक के द्वार हैं। इसका मतलब

है कि पहले जिसको नरक कहा उसी को यहाँ तम कह रहे हैं। तम अर्थात् अज्ञान। जब ये अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं तो फिर अज्ञान के द्वार कैसे हैं? अज्ञान दो प्रकार के हैं- एक है मूलाज्ञान। अपनी वास्तविक ब्रह्मरूपता को न जानना - यह मूल अज्ञान है। इस मूल अज्ञान के कारण सारा अनात्मा का जगत् आता है। साँप को रस्सी समझ कर तुम उस से काम निकालना चाहो और साँप के द्वारा डसे जाओ तो मरना भी पड़ सकता है। इसी प्रकार अनात्म पदार्थ स्वरूप से दुःख देने वाले हैं क्योंकि अनित्य हैं, इस बात को न जान कर हम उन्हें नित्य समझकर पकड़ते हैं, फिर जब नित्य न होने के कारण चले जाते हैं तब रोना पड़ता है। खूब प्रयत्न करके हमने अनुष्ठान आदि द्वारा लड़का पाया। बड़ी प्रसन्नता होती है कि हम लड़का चाहते थे लड़का मिल गया। लड़का तो अनित्य है। सारी आशा करके, उसको पढ़ा लिखाकर तैयार किया, चौबीस साल का हआ, स्कूटर पर बैठकर घर आ रहा था, एक ट्रक ने टक्कर मारी, और लड़का चला गया! अब कितना दुःख होता है, कोई ठिकाना है! इस दुःख का कारण मूल अज्ञान तो है ही, अर्थात् शरीरादि में अहंकार का अभिमान तो है ही, लेकिन जो विशेष दुःख हुआ इसका कारण है अनित्य में नित्य बुद्धि। अगर लड़का पैदा होने के समय ही तुम इस बात को मन में दृढ कर लो कि पैदा हुआ है तो ज़रूर मरेगा, तब फिर वह जब चौबीस साल के बाद मरेगा तब तुमको इतना दुःख नहीं होगा। अपने आत्मस्वरूप को न जानकर अहंकार से लेकर देह और देह-संबंधियों तक जो अभिमान है, यह मूलाज्ञान से है। यह रहेगा तब तक दुःख होना ही है। और दूसरा है 'तूलाज्ञान' अनित्य को नित्य समझ लेना, अशुचि को शुचि समझ लेना इत्यादि। जो इस प्रकार के दूसरे अज्ञान हैं, वे हमारे ज़्यादा दुःख के कारण बन जाते हैं। इसलिये काम क्रोध लोभ तूलाज्ञान के द्वार हैं। मूलाज्ञान से तो चीज़ों की प्रतीति, फिर उन चीज़ों के अन्दर तूलाज्ञान के द्वारा और ज़्यादा दूसरी चीज़ों की - काम-क्रोध-लोभ की योग्यता वाली चीजों की - प्रतीति; इस प्रकार मूलाज्ञान, काम-क्रोध-लोभ का द्वार, और काम-क्रोध-लोभ आगे तूलाज्ञान की तरफ ले जाते हैं। जब आदमी क्रोध में होता है तो छोटा बच्चा भी उसको राक्षस की तरह दीखता है। इसी प्रकार जब काम का वेग होता है तब हवा से फुलाये कपड़े भी स्त्री दीखते हैं! कुछ लोगों ने प्रयोग करके देखा है, किसी आदमी को हफ्ते भर तक भूखा रखा, और उसके पास में थोड़ी दूर पर चमड़े के जूते को जलाया। वहाँ जो दूसरे बैठे थे उनको चमड़े जलने की दुर्गन्ध आई, पर भूखे को लगा कि कोई बढ़िया चीज़ तल रहे हैं! उसको भोजन की सुगन्ध आ रही थी। जब आदमी अत्यन्त भूखा होता है तो दुर्गन्ध भी उसको सुगन्ध के जैसे लगने लगती है। ये कामना से होने वाले तूलाज्ञान हैं। एक ही परिस्थिति में कामना वाले को कुछ और तूलाज्ञान होता है, क्रोध वाले को कुछ और होता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है कि कंसके दरबार में पहुँचने पर श्रीकृष्ण को अलग-अलग लोग अलग-अलग तरह का समझ रहे थे। इस प्रकार भगवान् का इन्हें तमोद्वार कहना संगत है।

जब काम, क्रोध, लोभ से विमुक्त हो जाता है, अर्थात् अनात्म पदार्थ जब इसको प्रवृत्त नहीं करते; तभी कल्याण की ओर चलता है, विवेक से चीज़ों की वास्तविकता अर्थात्

अनित्यता, अशुचिता, दुःखरूपता इत्यादि को समझने लगता है। तब इन के चले जाने से मनुष्य अपने कल्याण के रास्ते में प्रवृत्त होता है, कल्याण का अचारण करता है। श्रेय मार्ग में हम इसी लिये नहीं जा सकते कि प्रेय डण्डा लेकर खड़ा रहता है, अपना काम पहले करवा लेता है। जैसे दर्ज़ी के पास जो जाकर खड़ा रहे, वह अपने कपड़े पहले सिलवा लेता है। सुनार के पास जो जाकर खड़ा रहे वह अपने गहने पहले बनवा लेता है। और जो घर में बैठे-बैठे खबर पूछता रहे वह पूछता ही रहता है! प्रेय जो संसार के पदार्थ हैं, वे तो तुम्हारी छाती पर खड़े रहते हैं। भूख लगी, तो छाती पर खड़ी है, पहले भूख तो मिटाओ। प्यास लगी, तो प्यास को मिटाओ। संसार की ये जो चीज़ें हैं ये छाती पर खड़ी रहती हैं। नियम बनाते हो, कि अमुक समय पूजा करेंगे, इस समय पाठ करेंगे, इस समय भजन करेंगे, इस समय सत्संग करेंगे, इस समय दुकान जायेंगे। पर जहाँ दुकान का काम ज़रा ज़्यादा हुआ वहाँ सब से पहले कटौती किसकी होती है? ध्यान-भजन की होती है, 'कल से कर लेंगे' क्योंकि दुकान का काम आज नहीं करेंगे तो आयकर का ब्यौरा समय से नहीं जायेगा, उसे तो समय से भेजना ही है, भगवान् का भजन तो बाद में भी हो सकता है। इस तरह श्रेय मार्ग की रुकावट प्रेय मार्ग करता है। दृष्ट प्रयोजनों वाला होने से उसकी आवश्यकता तत्काल महसूस होती है, श्रेय का महत्त्व यों तत्काल प्रकट नहीं होता। जब काम, क्रोध, लोभ से तुम छूटे, तब प्रेय मार्ग की आवश्यकता तुम्हारे सिर पर नहीं चढ़ी हुई है, तभी श्रेय मार्ग में पूरी तरह से लग सकते हो। यहाँ यह मतलब नहीं समझ लेना कि जब तक प्रेय से सर्वथा न छूटें तब तक श्रेय मार्ग में न लगें! पहले ही यह संकेत कर दिया था कि बिना अज्ञान-निवृत्ति के काम-क्रोध-लोभ सर्वथा नहीं जाते। इसलिये, जितना-जितना ये कम होते जायें उतना-उतना श्रेय मार्ग में चलते जाओ, पर जड़ से तो ये तभी जायेंगे जब अज्ञान की निवृत्ति होगी। कामादि हटने से जो श्रेय की ओर जाने में प्रतिबन्ध के कारण थे वे सब छूट जाते हैं, तब इसमें ही निरन्तर व्यक्ति लग जाता है। काम-क्रोध-लोभ जब अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं, तब इधर ही लगता है।

'ततः', जब श्रेय मार्ग में पूर्णतः लग गया प्रेय मार्ग को छोड़ कर के, तब 'परां गतिम् याति' परम गति को प्राप्त करता है, जिसको प्राप्त करके फिर कभी संसार सागर में आना नहीं पड़ता। इसी लिये उसको परागति कहते हैं क्योंकि इस गति के बाद फिर आगे गति नहीं होती। संस्कृत भाषा में 'गम्' धातु का अर्थ ज्ञान भी होता है, गति भी होता है। परमात्मा की तरफ गति तो होती नहीं क्योंकि वह सर्वव्यापक है, सब जगह मौजूद है। इसलिये कहीं जा कर परमात्मा मिलने वाला नहीं है। अतः यहाँ गति का मतलब है ज्ञान। और परम गति इसलिये कि इसको जानने के बाद फिर कुछ भी जानना शेष रहता नहीं। इसे जानने से फिर आगे कुछ अज्ञात रह नहीं जाता, इसलिये इसको परा गति कहते हैं।।२२।

दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का मूल क्या है? यह जो विभाजन है दैवी सम्पत्ति

और आसुरी सम्पत्ति, इसका पता कैसे चलता है? कामना बुरी है, क्रोध बुरा है, इसका पता कैसे चलता है? प्रायः लोग यह कहकर छोड़ देते हैं कि 'सब जानते हैं कि क्रोध बुरा है'। अगर सब जानते होते तो फिर इसको बतलाना ही नहीं पड़ता कि क्रोध बुरा है! प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता नहीं कि यह बुरा है, यह अच्छा है। अच्छे-बुरे का निर्णायक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, अतः प्रत्यक्ष-मूलक अनुमानादि भी नहीं। यह बात बहुत याद रखने के योग्य है। जिसको जो संस्कार दृढ होते हैं, वह समझता है ये सब को होते होंगे। परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। जैसे कामना को ही लो - बहुत लोगों को यह निश्चय है कि बिना किसी बड़ी कामना के, जीवन व्यर्थ होता है। इसलिये कहते हैं कि कामना को तो रखना ही चाहिये, कामना के बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है। सब लोग मानते हों कि कामना बुरी है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार क्रोध बुरा है, यह भी सार्वजनिक अनुभव नहीं है। उलटा लोग कहते हैं कि जो क्रोध-रहित व्यक्ति है वह संसार में कभी दुष्टों को दबा नहीं सकेगा, इस लिये दुष्ट बढ़ते जायेंगे। अतः दुष्टों के प्रति क्रोध करना ही चाहिये। और लोभ को तो शायद समाज में बिलकुल बुरा नहीं माना जाता! खर्च करने वाले को ही कहते हैं 'अरे! इतना खर्चीला नहीं होना चाहिये। समय-बेसमय के लिये बचा कर रखना चाहिये।' आसुरी सम्पत्ति बुरी है यह प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-मूलक प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। किसी और संस्कार के कारण ही 'यह अच्छा है, यह बुरा है', यह पता लगता है। वह प्रमाण सामने रखेंगे तब तो दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, आसुरी सम्पत्ति को छोड़ने का प्रयत्न करेंगे; और अगर वह प्रमाण हमारी श्रद्धा का विषय नहीं होगा तो हम आसुरी सम्पत्ति को छोड़ेंगे भी नहीं, और दैवी सम्पत्ति का अर्जन भी नहीं करेंगे। आसुरी सम्पत्ति को छोड़ना, सदाचार को करना, इसमें भगवान् कहते हैं कि एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। दैवी सम्पत्ति को लाओ और आसुरी सम्पत्ति को छोड़ो - यह उसी को कह सकते हैं जिसकी शास्त्र में श्रद्धा है। शास्त्र प्रमाण हैं, अर्थात् शास्त्र यथार्थ ज्ञान को देता है, यह श्रद्धा का विषय है। शास्त्र यथार्थ ज्ञान को देता है इस बात को सिद्ध करने का कोई तरीका नहीं है। ठीक जैसे यदि कोई कहे, 'मुझे आँख पर श्रद्धा नहीं कि आँख ठीक रंग को देखती है। इसलिये रंग कौन-सा ठीक है इसको आप किसी अन्य प्रमाण से बताइये।' तो कोई अन्य ऐसा प्रमाण नहीं है जिस से बता सकें कि रंग कैसा होता है! रंग में, रूप में प्रमाण आँख ही है। इसी प्रकार जिसको अनुमान में श्रद्धा नहीं होती, उसको तुम अनुमान प्रमाण से किसी भी चीज़ को समझा नहीं सकते। अतः अनुमान के ऊपर जिसको श्रद्धा होती है, उसको ही अनुमान से बतला सकते हो।

संसार में कुछ लोग केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। कुछ लोग प्रत्यक्ष व अनुमान को प्रमाण मानते हैं। और यद्यपि ऐसे लोग मिलते तो नहीं, परन्तु विचारकों ने ऐसे लोग भी माने हैं जो अनुमान को तो प्रमाण मानें, प्रत्यक्ष को नहीं मानें! हर हालत में, प्रमाण पर श्रद्धा होगी तभी उसके बारे में बात हो सकती है। प्रायः हम लोगों का उपदेश व्यर्थ इसलिये जाता है, कि व्यक्ति किसको प्रमाण मानता है, किस में श्रद्धा रखता है, इस

बात का विचार बिना किये हुए हम उसे समझाते हैं। शास्त्र के अन्दर श्रद्धा ही आसुरी सम्पत्ति को छोड़ने में कारण होती है। शास्त्र को प्रमाण मानने पर ही, आसुरी सम्पत्ति को छोड़ना और दैवी सम्पत्ति को लाना, यह बन सकता है, नहीं तो नहीं हो सकता। अतः भगवान् कहते हैं :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

जो शास्त्र के निर्देश को छोड़कर कामना से प्रयुक्त हो व्यवहार करता है वह न पुरुषार्थयोग्यता पाता है, न इस लोक में सुख पाता है, न मोक्ष पाता है।

सब वर्ण, सब आश्रमों के लोगों को जो भिन्न-भिन्न देश-काल के अनुसार कर्तव्यों का उपदेश करे वही शास्त्र है। जो नियमों का शासन, उपदेश करता है, नियमों को बतलाता है, उसी को शास्त्र कहते हैं। इस लिये शास्त्र के अन्दर प्रधान विधि है। विधि से उपलक्षणा निषेध की भी समझ लेना। जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्य का उपदेश दिया है वे वाक्य ही शास्त्र में प्रधान हैं। शास्त्र में करने या न करने के लिये बताये विधान को शास्त्रविधि कहते हैं। उसे छोड़कर जो व्यवहार, बर्ताव करता है वह सिद्धि नहीं पा सकता। जो शास्त्र में कहा इसीलिये बर्ताव करता है वह अपनी इच्छा को बीच में दखल नहीं डालने देता, श्रद्धावश शास्त्र का ही अनुसरण करता है, विधियों के अनुसार कर्म करता है, निषेधों के अनुसार पापों से दूर रहता है। किन्तु कर्तव्य-अकर्तव्य बताने वाले शास्त्र से उत्पन्न प्रमा को छोड़कर वही रहता है जो शास्त्र पर श्रद्धालु नहीं है। अतः ऐसा नहीं कि उसे प्रमा हो, फिर वह उसे छोड़े, वरन् अश्रद्धावश उसे शास्त्र से प्रमा उत्पन्न ही नहीं होती, ज्ञानमात्र होकर रह जाता है। 'सृज' का मतलब उत्पत्ति। अतः उत्+सृज का मतलब उत्पन्न न होने देना। श्रद्धालु शास्त्र में सुनता है 'प्रातः सन्ध्यावंदन करे' तो उसे प्रमा होती है 'मैं प्रातः सन्ध्यावंदन करूँ'। अश्रद्धालु को यह ज्ञान नहीं होता, केवल पता चलता है कि शास्त्र ने ऐसा-ऐसा कहा। 'करो' सुनकर 'करूँ' यह बोध तभी होगा जब वचन पर या कहने वाले पर श्रद्धा है, प्रेम है। अतः अश्रद्धा वाले अंतःकरण में शास्त्र प्रवृत्ति-निवृत्ति का सृजन ही नहीं करता। ऐसा व्यक्ति शास्त्र से प्रवृत्त न होकर 'कामकारतः वर्तते'; उसे अपने मन-बुद्धि पर श्रद्धा होती है अतः तदनुसार ही वह बर्ताव करता रहता है। मन की कामनाओं के अनुसार प्रवृत्त-निवृत्त होता है, शास्त्र के निर्देश से नहीं, जैसे श्रद्धालु शास्त्र से ही प्रवृत्त-निवृत्त होता है, अपने मन की कामना से नहीं। दैवी व आसुरी संपत्तियों का यही मूल भेद है; शास्त्र पर श्रद्धालु दैवी संपत्ति वाला बनेगा। शैतान, डेविल आदि किसी अन्य से होने वाली प्रवृत्ति, जो अन्य मतों में बतायी गयी है, वह यह मन से होने वाली प्रवृत्ति ही है। अन्य मानते हैं कि हमसे भिन्न कोई है जो हमें ग़लत रास्तों पर ले जाता है जबकि वेदान्त कहता है कि मैं आत्मा हूँ और मुझसे भिन्न अनात्मा है। अनात्मा की तरफ से ही मन में सारी कामनाएँ आती हैं क्योंकि

पांचभौतिक होने से मन भूतों की, विषयों की तरफ सहजता से जाता है। किंतु शास्त्र स्पष्ट करता है कि भोग में तुम परतंत्र और कर्म में स्वतन्त्र हो। अतः शैतान आदि से नियंत्रित होकर कर्म नहीं करते, उसमें स्वतंत्र हो, तुम्हारा ही दायित्व है। मन में अध्यास कर 'मन मैं हूँ' ऐसा निश्चय कर रखने से मन का प्रभाव अतिशय हो गया है। इसीलिये तुम मन की बात इतनी सुनते हो। इसके शिकंजे से निकलने के लिये पहले शास्त्र की आवाज़ सुनना शुरू करो, तदनुसार आचरण शुरू करो तो मन धीरे-धीरे दबेगा, दुर्बल होगा। परमेश्वर की वाणी होने से शास्त्र आत्मदृष्टि-प्रधान है। अतः तदनुसार चलने पर अनात्मरूप शैतान दबेगा और आत्मशक्ति प्रबल होगी।

जो आसुरी संपत्ति वाला व्यक्ति शास्त्र को छोड़कर मन की कामनाओं के अनुसार चलता रहता है वह 'सिद्धं न अवाप्नोति', सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि नहीं पा सकता। कामना से ही प्रेरित बना रहने वाले को कभी वह शुद्धि नहीं मिल सकती जो उसे परमात्मा की ओर उन्मुख करे। वह परमात्मज्ञान पाने के अयोग्य ही रहता है। 'न सुखं' इच्छा की पूर्ती होने पर भी इसे सुख नहीं होता। विषय क्षयिष्णु हैं, ख़त्म हो जाते हैं, अतः मिल भी जायें तो कुछ देर में हाथ से निकलेंगे ही, तथा निकलने से दुःख ही होगा। सुख होकर निकल जाये तो ज़्यादा ही दुःख देता है! बेटा पैदा न हो यह एक दुःख, लेकिन किसी तरह होकर बीस-बाईस साल बाद मर जाये तो उससे बहुत ज़्यादा और लंबा चलने वाला दुःख होता है। तब मन में आता है 'इससे तो पैदा ही न हुआ होता तो अच्छा था, विधवा और एक अनाथ बच्चा तो घर में नहीं होते'! कामना का विषय मिल भी जाये तो स्थिर सुख नहीं देता, दुःख देकर ही जाता है। 'न परां गतिम्' कामकार से बर्तव करने वाले को उत्तम गति नहीं मिलती, न स्वर्गादि मिलता है, न मोक्ष मिलता है। अतः कामना से प्रवृत्ति लाभप्रद नहीं है। किन्तु यह शास्त्रश्रद्धालु ही समझ सकता है। अन्यों की तो मान्यता है कि 'शास्त्र का मतलब वह होना चाहिये जो हमें ठीक लगे'। अतः अपनी कामना से विरुद्ध शास्त्र में वे 'सुधार' ही करना चाहते हैं। अपनी कामना के अनुसार वे शास्त्र को ही अन्यथा करना चाहते हैं। अतः श्रद्धापूर्वक दैवी संपत् अर्जित करना ही विवेकी का कर्तव्य है।।२३।।

क्योंकि बिना शास्त्र का अनुसरण किये ऐहिक, आमुष्मिक, पारमार्थिक कोई कल्याण संभव नहीं इसलिये भगवान् कर्तव्य बताते हैं -

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।।

इसलिये क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है इसकी व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र प्रमाण है।

शास्त्रद्वारा किये विधान द्वारा कही बातें समझकर इस मनुष्य लोक में कर्म कर, यही योग्य है।

'तस्मात्' अपनी कामना के अनुसार किया व्यवहार यहाँ या आगे सुख नहीं देता इसलिये 'ते' साधक के लिये, कल्याण चाहने वाले के लिये, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के ही अनुसार होना अनिवार्य है। कर्तव्य-अकर्तव्य की भूमिका में इनका निर्णायक शास्त्र है। सर्वकर्मसंन्यास से जब कर्तव्य-अकर्तव्य से परे हो गये तब कर्तव्यादिविवेक का प्रसंग नहीं रहता। तब कर्म छूट चुकते हैं अतः प्रवर्तक-निवर्तक शास्त्र का महत्त्व नहीं। जब अकर्तृ-आत्मबोध यदि परोक्ष भी हो जाये तब कर्तव्यादि शास्त्र उसके लिये प्रमाण नहीं रह जाता। अतः भगवान् ने कार्याकार्यव्यवस्थिति में ही शास्त्र को प्रमाण कहा, उस व्यवस्था से परे निकल जाने पर नहीं। कर्मभूमि में स्थित साधक श्रद्धालु बने तभी उसके लिये शास्त्र प्रमाण का कार्य करेगा, प्रमा उत्पन्न करेगा। अतः 'ते प्रमाणं' का भाव है कि तुम शास्त्र पर श्रद्धा रखो।

'शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा' शास्त्र ने जिसका विधान किया उन कर्मों को समझकर तदनुसार करना चाहिये। ब्राह्मण, पुरुष, स्त्री आदि के कर्तव्य-अकर्तव्य का पता शास्त्र से ही लगता है, इसमें मन-मानी कल्पना निरर्थक, निष्फल होती है। अश्रद्धा से, शास्त्र को ढंग से बिना समझे सही कर्म नहीं हो सकता। श्रद्धापूर्वक ही समझा जा सकता है। कर्म के बारे में अनेक बातें शास्त्र से ही समझनी पड़ती हैं तभी सही अनुष्ठान सम्भव है। अंग, कैसे करना आदि सब का ज्ञान शास्त्र से पाकर कर्म करना उचित है। तभी 'इह' अर्थात् जहाँ कर्म करने का अधिकार उपलब्ध है उस मनुष्य लोक में। 'कर्तुम् अर्हसि' तुम्हें करना योग्य है। जानकर, समझ-बूझकर ही कर्म करना उचित है, अन्यथा कल्याण नहीं होता। जानकर भी अगर कर्म करता नहीं तो भी कल्याण नहीं होता। अश्रद्धालु को सारी विधि मालूम होने पर भी वह तदनुसार करता नहीं। अनेक पंडितों को यदि यजमान न मिले तो वे कोई पूजा-पाठ नहीं करते! अतः भगवान् ने 'कर्तुम् अर्हसि' कहा कि करना ही योग्य है।।२४।।

इस प्रकार इस अध्याय में सात्त्विकादि त्रिविधि स्वभावों के अनुसार होने वाली दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का स्वरूप और भेद सुस्पष्ट कर साधक को कर्तव्य का निर्देश दिया।

।। सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।।

ॐ

सत्रहवाँ अध्याय: श्रद्धात्रयविभागयोग

भगवान् ने कहा कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर अपने मन की कामना के अनुसार कार्य करते हैं उनको न सिद्धि, न सुख और न परम गति मिलती है। भगवान् का कहना तो यह हुआ कि शास्त्र को छोड़कर चलने वाले आसुरी सम्पत्ति वाले हैं। पहले (सातवें अध्याय में) भगवान् कह आये हैं कि लोग या सत्त्वगुण या रजोगुण या तमोगुण वाले होते हैं। जब भगवान् ने कहा कि कुछ लोग शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी कामना से कार्य करते हैं, तब अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि असुर तो अश्रद्धालु होकर शास्त्रोल्लंघन करते हैं अतः दुर्गति पायें यह समझ आता है, पर जो श्रद्धालु होने के बावजूद शास्त्र का अनुसरण करने में अक्षम होते हैं उनकी क्या गति होती है? सात्त्विकादि त्रिविध प्रकृतियों के अनुसार उनकी व्यवस्था है या अन्य कोई नियम है? अर्जुन यहाँ उनके बारे में प्रश्न उठा रहा है जिन्हें शास्त्र की समझ नहीं, पर श्रद्धा है। वे किसी श्रेष्ठ का अनुसरण कर देवपूजा करते हैं, उनकी निष्ठा, अवस्था क्या बनती है?-

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

हे कृष्ण! जो शास्त्र की विधि समझे बिना किंतु श्रद्धा से संपन्न होकर यज्ञ करते हैं, उनकी सात्त्विक, राजस, तामस में से कौन-सी निष्ठा होती है?

प्रश्न का बीज यह है कि शास्त्र को छोड़ते हैं, इससे लगता है कि वे श्रद्धा वाले नहीं हैं। परन्तु बड़े आदमी को या माता-पिता को देखकर उनके ऊपर श्रद्धा करते हैं। इससे लगता है कि वे दैवीगुणों वाले हैं। श्रद्धा दैवी गुण है जबकि शास्त्र के अनुसार नहीं चलना आसुरी गुण है। इनमें दैवी गुण भी है क्योंकि श्रद्धा है और आसुरी गुण भी है क्योंकि शास्त्रानुसारी नहीं हैं। अतः प्रश्न होता है कि ऐसे लोगों को किसमें गिना जायेगा? दैवी अथवा आसुरी में तो गिन नहीं सकते क्योंकि इनमें कुछ दैवी गुण भी हैं और आसुरी भी हैं। इनको सात्त्विक,

राजस या तामस में से ही किसी में गिनना तो पड़ेगा अतः प्रश्न उचित है।

'यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य' शास्त्र में जो विधान है, श्रुति-स्मृतियों ने जो कहा है, उसकी तरफ जिनका ध्यान नहीं है। ये वे हुए जिन्होंने श्रुतिलक्षण या स्मृति-लक्षण किसी भी शास्त्रविधि को देखा नहीं है, शास्त्र-विधि का उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया। वृद्धों या श्रेष्ठों को जो करते देखते हैं वही ये भी करते हैं। ऐसे लोग ही यहाँ का विषय हैं। जो शास्त्रविधि को देखते हैं अर्थात् उन को किसी कार्य के प्रति शास्त्र की विधि का ज्ञान है, और फिर उस विधि को छोड़कर देवादिकों की पूजा करते हैं, उनके बारे में यहाँ प्रश्न नहीं किया जा रहा क्योंकि इन्हें श्रद्धा वाला भी कहा; विधि को जिन्होंने शास्त्र से जाना उसका विचार किया, फिर भी उसे छोड़ते हैं तो उसका कारण अश्रद्धा ही है। इसलिये, ऐसा मानना कि जो शास्त्र देखने के बाद भी वृद्ध-व्यवहार को देखकर करते हैं, उनके बारे में प्रश्न है, गलत है, क्योंकि श्रद्धालु शास्त्रविधि छोड़ेगा नहीं। इसलिये यह प्रश्न उनके बारे में नहीं है जिन्होंने शास्त्र को जानकर उसका त्याग किया है क्योंकि वे श्रद्धासंपन्न नहीं हैं। परन्तु जिन्होंने शास्त्र जाना ही नहीं, केवल वृद्ध-व्यवहार को देखकर श्रद्धा वाले होने से उसके अनुसार करते हैं, उनके बारे में प्रश्न है कि उनकी निष्ठा सत्त्वगुणी है या रजोगुणी या तमोगुणी है? वे जो देवादि विषयक पूजा, यज्ञ, दान करते हैं वह सात्त्विक है या राजस अथवा तामस है? शास्त्रविधि को देखकर जो प्रवृत्त हैं वे दैवी संपत्ति वाले हैं। इन्होंने चूंकि किसी शास्त्रविधि को देखा नहीं है इसलिये इनको दैवी संपत्ति वाला नहीं कह सकते और चूंकि श्रद्धा से युक्त हैं इसलिये आसुरी संपत्ति वाले भी नहीं कह सकते। यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाये तो वर्तमान काल में ऐसे लोग ही प्रायः मिलेंगे। शास्त्र विचार करके, शास्त्र का निर्णय करके फिर प्रवृत्त होने वाले आजकल दुर्लभ हैं। आजकल लोगों को शास्त्र पढ़ने में न रुचि है और न उसके लिये समय है। शास्त्र पढ़ने में रुचि नहीं है, दुनिया भर की दूसरी चीज़ों में रुचि है! इसलिये तीन घण्टा टेलिविजन देख लेंगे परन्तु यदि किसी से कहो कि तीन घण्टे मनुस्मृति पढ़ लो, तो नहीं पढ़ सकते! आधुनिक लोग जिन कामों में अपने आप को व्यस्त रखते हैं उनका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है, अदृष्ट की तो सम्भावना ही नहीं है। इसलिये रुचि नहीं है यही प्रधान रूप से कहना पड़ेगा। जो तो श्रद्धा से रहित लोग हैं वे आसुरी संपत्ति में ही आ जायेंगे। उनकी जो मर्जी है वही करते हैं। किसी श्रेष्ठ, शिष्ट को देखकर नहीं करते। जो उनके मन में आता है, करते हैं। किंतु बहुत से हैं श्रद्धालु, अतः जो मन में आता है वह नहीं करते, बड़ों को, शिष्टों को देखकर तदनुकूल आचरण करते हैं। इसलिये उनकी श्रद्धा का विचार किया जा सकता है कि वह श्रद्धा किस प्रकार की होनी चाहिये और कैसे में श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। राजस और तामस बतायेंगे कि ऐसा नहीं करना चाहिये और सात्त्विक बतायेंगे कि ऐसा करना चाहिये।।१।।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् तीनों प्रकार की श्रद्धाओं को अलग-अलग कर समझाते हैं –

श्रीभगवान् उवाच
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

श्री भगवान् ने कहा- जिसके बारे में तुमने पूछा है वह देहधारियों की स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार की होती है। उस श्रद्धा के बारे में विस्तार से सुनो।

श्रद्धा तीन तरह की होती है। किसे होती है? 'देहिनां' जो शरीराभिमानी हैं, देही हैं। 'देह वाला मैं हूँ' इस प्रकार जिन्हें अभिमान है वे देही हैं। उनके अन्दर श्रद्धा होती है और श्रद्धा स्वभावजा होती है। पूर्व जन्मों में जो धर्म आदि किये हैं उनके संस्कार वर्तमान जन्म में रहते हैं। मरते समय जैसे संस्कार हैं तदनुकूल ही जन्मते समय वे व्यक्त या प्रकट होते हैं, उसका नाम स्वभाव है। जन्मभर जैसा किया है उसके अनुसार ही मरणकाल में संस्कार अभिव्यक्त होंगे। वे चाहे सात्त्विक हों अथवा राजस या तामस हों, वे ही स्वभाव कहे जाते हैं। उस स्वभाव से श्रद्धा पैदा होती है। स्वभाव सात्त्विक आदि तीन तरह का होने से श्रद्धा भी तीन तरह की होती है। इसे आगे भगवान् विस्तार से समझायेंगे, यहाँ केवल गिनकर बता दिया कि स्वभावानुसार गुणानुरूप श्रद्धा होती है।।२।।

स्वभाव की तरह अन्तःकरण पर भी श्रद्धा निर्भर करती है यह बताते हैं-

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भरतवंशी! सबकी श्रद्धा अंतःकरण के अनुरूप होती है। यह संसारी जीव श्रद्धाप्राय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह व्यक्ति होता है।

सभी प्राणियों के अंतःकरण खास संस्कारों से युक्त होते हैं। जन्मान्तर के संस्कारों से जिनके अन्तःकरण में सत्त्वगुण प्रधान होगा, उनकी तदनुकूल प्रवृत्ति होगी, रजोगुण या तमोगुण प्रधान होंगे तो तदनुकूल प्रवृत्ति होगी। जिस प्रकार का अन्तःकरण होता है वैसी ही श्रद्धा होती है। कई बार देखने में आता हैः महात्मा लोग गाँवों में घूमने जाते हैं तो लोग बड़ी श्रद्धा से आकर बैठते हैं, महात्मा सोचते हैं कि भगवान् की बात पूछते होंगे। अपनी तरफ से भगवान् की कुछ बात सुनाना शुरू करें तो थोड़ी देर में कहते हैं, 'बाबा जी! चिलम नहीं है?' उनसे कहो 'हम चिलम नहीं पीते' तो कहते हैं 'अच्छा! आप महात्मा नहीं हैं। हमारे यहाँ महात्मा की चिलम सात फुट ऊपर जाती है!' यह उनकी स्वभावजा श्रद्धा है। वे सोचते हैं कि गाँजे की लपट ही सिद्धि होती है, भगवान् के दर्शन आदि कुछ नहीं हैं। इसी प्रकार घूमते हैं तो पाते हैं कि सबकी अलग-अलग भावनायें होती हैं। ऐसे कम लोग मिलते हैं जिनमें सत्त्वगुण हो। सत्त्वगुण कम होने के कारण ऐसे कम लोग होते हैं जो परमात्मा की दृष्टि या परमात्मभावना को जानना चाहें। जबरदस्ती सुनाओगे तो भी नहीं सुन

पाते। कोई दृष्टांत आ जाये तो उसी में उलझे रह जाते हैं। जो राजस-तामस प्रवृत्ति वाले होते हैं उनकी वही प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। उसे सरलता से बदल नहीं सकते। इसलिये परमात्मा के मार्ग में कोई चाहे बड़ी भारी भीड़ हो, तो कभी नहीं होने वाली है, क्योंकि वैसी स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले लोग हैं ही बहुत कम।

भगवान् व्यक्तित्व के बारे में आवश्यक रहस्य बताते हैं 'अयं पुरुषः श्रद्धामयः' जो भी मनुष्य है वह श्रद्धामय है अर्थात् जैसी इसके अन्तःकरण की श्रद्धा होगी वैसा ही इसका सारा जीवन होगा। सारा जीवन उसी के अनुसार बनता है। जिसमें जैसी श्रद्धा होती है तदनुरूप ही उसकी प्रवृत्ति होती है। वर्तमान काल में जो आधुनिक वर्ग है वह अम्बानी की जीवनी से बहुत प्रभावित होगा कि कुछ नहीं था और कितना धन कमा लिया! जो विचारशील होगा, वह सोचेगा कि जितना भी धन कमा लो, सब छोड़कर चले जाना है, व्यर्थ प्रयत्न है। चाहे जितने बड़े प्रधानमंत्री बन जाओ, सारे संसार के प्रधान बन जाओ, उससे होगा क्या! किंतु लोग यह विचार नहीं करते क्योंकि इन विषयों में श्रद्धा वाले हैं। इसलिये 'अयं पुरुषः' अर्थात् संसारी जीव, जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहने वाले जीव, सब श्रद्धाप्राय होते हैं अर्थात् जैसी श्रद्धा होती है वैसी ही प्रवृत्ति वाले होते हैं। व्यक्ति के जीवन के प्रकार से उसकी श्रद्धा का पता लग जाता है! किसी की श्रद्धा का पता लग जाता है तो उसके जीवन का प्रकार पता लग जाता है।

पहले के किये हुए तुम्हारे धर्माधर्म के कारण तुम्हारे अंतःकरण में जो संस्कार उद्बुद्ध हुए उनसे श्रद्धा बनी। पहले तो, अंतःकरण को ही हम नहीं देख सकते। दूसरे का मन तो हमें दीखता नहीं, हमें दूसरे का शरीर ही दीखेगा। मन ही नहीं दीखता तो मन के अन्दर पड़े हुए संस्कार कहाँ से दीखेंगे! अतः श्रद्धा को सीधा जानने का कोई तरीका नहीं है। लेकिन चूंकि श्रद्धामय पुरुष है, श्रद्धा के अनुसार उसका जीवन होता है, अतः वह कैसा जीवन जीता है इसको देखकर उसकी श्रद्धा का पता लग जाता है। अतः भगवान् बाह्य क्रियादि बतायेंगे जिससे श्रद्धा के बारे में पता लग सकता है। अभिव्यक्ति देखकर ही श्रद्धा का पता लगता है। तुम्हारे जीवन के क्रम को देखकर ही पता लगता है कि तुम्हारी श्रद्धा कहाँ है। जैसे हम कह देते हैं कि 'सच बोलने में हमारी श्रद्धा तो है परन्तु सच बोलने से काम नहीं चलता'; इसका मतलब है कि 'सच बोलने से काम नहीं चलता' यह तुम्हारी सच्ची श्रद्धा है; 'सच बोलना चाहते हैं,' यह सुनी- सुनाई बात का अनुकरण है। तुम्हारी वह श्रद्धा है यह कैसे पता लगता है? वर्तमान काल में सभी मुकदमों में दोनों पक्ष झूठ बोलते हैं। एक भी पक्ष सत्य का आश्रयण नहीं लेता। कोई कम, कोई ज़्यादा झूठ बोलते हैं। परन्तु लोगों की श्रद्धा चूंकि सत्य बोलने में नहीं है इसलिये यह नहीं कहते कि 'सच बोलने से मुकदमा जीत गये', यह भी नहीं कहते कि 'झूठ बोलने से मुकदमा हार गये'। क्योंकि दोनों झूठ बोले हैं इसलिये झूठ बोलने से हार भी गये, पर यह कोई नहीं कहता। बल्कि यही कहते हैं कि सच बोलने से हार गये, झूठ बोलने से जीते ही हैं। अतः यह श्रद्धा का विषय है। इसलिये

जब आदमी कह देता है कि 'हमारी श्रद्धा है परन्तु हम इसे व्यावहारिक नहीं समझते', तो इसका मतलब है कि वह उसकी श्रद्धा नहीं है। भगवान् आगे श्रद्धा को समझने के लिये श्रद्धा के कार्य को ही बतायेंगे। कार्य को देखकर कारण का अनुमान लग जाता है जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। अतः अपनी भी प्रवृत्ति के आधार पर ही श्रद्धा समझनी चाहिये केवल मनोभाव के भरोसे निर्णय कर संतोष नहीं कर लेना चाहिये।।३।।

श्रद्धाकार्य ही बताते हैं-

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

सात्त्विक निष्ठा वाले लोग देव-पूजन करते हैं। राजस जन यक्षों और राक्षसों को पूजते हैं। अन्य तामस जन प्रेतों व भूतगणों की पूजा करते हैं।

अर्जुन का प्रश्न ही था कि 'उनकी निष्ठा किस पर है', निष्ठा कहकर अर्जुन ने प्रश्न किया था, उसीका यह जवाब है। निष्ठा अर्थात् नितराम् स्थिति, जिसके अन्दर उनकी वास्तविक स्थिति है। वास्तविक स्थिति एकत्र रहते हुए वे कई काम ऐसे भी करेंगे जिनका स्थिति से सम्बन्ध नहीं लगेगा, जैसे सात्त्विक व्यक्ति भी शौच आदि करेगा! किंतु वह उसकी निष्ठा का विषय नहीं हो जाता। अनिवार्यतः अनेक कार्य होते ही हैं, वे निष्ठा या श्रद्धा के सन्दर्भ से बाहर रहते हैं। जिसे कर्तव्यबुद्धि से, श्रेष्ठ कर्म मानकर किया जाता है वह श्रद्धा का द्योतक बनता है। 'सात्त्विकाः' अर्थात् जो सत्त्वगुण में निष्ठा वाले हैं अर्थात् जब प्रयोजन-पूर्वक करेंगे तब देवताओं की पूजा करेंगे। राजस लोग यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं। सात्त्विक और राजस से अलग 'अन्ये' दूसरे लोग भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं। पूज्यदृष्टि तथा पूजाओं को देखकर पता लगता है कि इसकी निष्ठा सात्त्विक श्रद्धा को लेकर है या राजस अथवा तामस श्रद्धा को लेकर है। सबसे पहले भगवान् ने यह इसलिये कहा कि जिसमें श्रद्धा होती है उसमें पूज्यदृष्टि होती है। अतः पूज्यदृष्टि से श्रद्धा का झट पता लगता है। सात्त्विक निष्ठा वाले कम होने से लाखों करोड़ों में किसी एक की ही देवपूजा में तत्पर होकर सात्त्विक निष्ठा होती है। वर्तमान काल में तो जिसकी भी पूजा होती है उसको लोग 'देव' शब्द से कह देते हैं। जिसको भोग भी बासी लगेगा, प्रसाद भी बासी खाना पडेगा, जो बैठे भी गधे पर और सूपडा झाडू हाथ में लेकर रखे, उसको भी देव या देवता ही कहते हैं। परन्तु यहाँ देव कह रहे हैं तो भगवान् का तात्पर्य है कि श्रुति-स्मृतियों के अन्दर जो प्रसिद्ध देवता हैं। सत्त्वगुणियों से कुछ ज़्यादा रजोगुणी होते हैं और बहुत ज़्यादा तमोगुणी होते हैं। पूज्य दृष्टि का तो झट पता लगता है कि किसको पूज्य मानते हैं। अतः श्रद्धा बताने में सबसे पहले इसको बता दिया।।४।।

अब त्रिविध तप को बताते हैं-

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

जो दम्भ व अहंकार से युक्त एवं काम और राग के बल वाले अविवेकी जन शरीर में स्थित इंद्रियों को दुर्बल बनाते हुए और शरीर के अंदर स्थित मुझे भी कृश करते हुए ऐसा घोर तप करते हैं जो शास्त्र में विहित नहीं है, उन्हें आसुरी निश्चय वाला समझो ।

जैसे देवताओं के प्रति पूज्य दृष्टि है, वैसे ही तप है। 'घोरं तपः तप्यन्ते' इनकी प्रवृत्ति हमेशा यह होती है कि जो जितनी पीड़ा दे, वह तप उतना ही श्रेष्ठ होता है! ऐसे तप होते हैं कि लोहे की कीलों का बिछौना बनाकर उसके ऊपर पड़े रहते हैं। जिसमें जितना ज़्यादा कष्ट हो उसी को आसुरी सम्पत् वाले लोग बड़ा तप समझते हैं। सात्त्विक तप इनको तप ही नहीं लगता! भगवान् तो आगे शारीरिक तप बतायेंगे 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवं' देवता, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमानों की पूजा तपस्या ही है। सफाई से रहना, व्यवहार में सरलता रखना आदि को भी भगवान् सात्त्विक तप कहेंगे। तमोगुणी लोग कहेंगे कि इसमें कोई तप तो होता नहीं ! उनकी श्रद्धा ही उस तप में होती है जिसमें अधिक कष्ट होता है। शास्त्र में भी कहीं-कहीं चान्द्रायण आदि कष्टप्रद व्रत बताये हैं। किन्तु आसुरी लोंगो को उनपर शास्त्रोक्त होने से श्रद्धा नहीं होती वरन् घोर कष्टप्रद होने से ही श्रद्धा होती है। अशास्त्रविहित अर्थात् जिन तपों को वेद, स्मृतियों में कहा नहीं, उन्हीं में पूज्य दृष्टि रखते हैं, केवल कष्टकर होना चाहिये, उसे तप मानते हैं, उसी में श्रद्धा करते हैं।

इसलिये उनके तप में दम्भ प्रधान रहेगा कि 'सब जानें कि मैंने यह तप किया'। यदि कोई नहीं जाने तो वह तप उन्हें अच्छा नहीं लगता। एक बड़े अच्छे सज्जन थे। उन्होंने गोहत्या बन्द हो इसके लिये आजन्म उपवास रखा अर्थात् घोषणा कर दी कि बिना खाये मर जायेंगे लेकिन खायेंगे तभी जब गोहत्या बन्द होगी। उनका संकल्प बहुत अच्छा था, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु अखबारों में उनके संकल्प का कोई वर्णन नहीं आया तो उससे वे काफी परेशान रहे। उसी उद्देश्य से आजन्म व्रत एक अन्य धर्माचार्य ने भी रखा हुआ था। उनका तो अखबारों में बड़ा वर्णन आता था, इनका नाम तक नहीं आता था जिस बात की इन्हे काफ़ी शिकायत रही। इसी का नाम दम्भ है। 'मैं नहीं खा रहा तो मेरी तपस्या है', यह भाव नहीं, 'लोगों को पता लगे कि मैं कितना बड़ा तप कर रहा हूँ' यह दम्भ का भाव है। एक बार हमने अखबार में पढ़ा था कि बम्बई में कुछ लडकों ने लड़कियों को घेरा कि 'तुम लोग भारतीय पोशाक क्यों नहीं पहनती? तुम हिन्दू हो इसलिये तुम्हें हिन्दुओं के अनुसार पहनना चाहिये।' वे जीन्स वगैरह पहने हुए थीं, लड़कियाँ बुद्धिमति थीं, उन्होंने कहा 'तुम लोगों ने पैन्ट शर्ट क्यों पहना हुआ है? तुम धोती-कुर्त्ता पहनो तो हम भी साड़ी पहन लेंगी।' तब वे चुपचाप चल दिये। यह धर्म को ध्वज बनाना है। 'मैं धर्म का पालन करूँ' यह दृष्टि नहीं है। 'मेरे लिये क्या वस्त्र पहनने को कहा है' इसकी तरफ दृष्टि नहीं

है। आजकल यह प्रकृति बहुत है। जीवन में धर्म का आचरण नहीं करने वाले भी बड़े ज़ोर शोर से कहेंगे कि 'हम धर्म की रक्षा करना चाहते हैं।' हमारे शास्त्रों में कहा है 'क्रियमाणो हि धर्मो भवति' धर्म वह होता है जिसको हम करें। धर्म किताबों में लिखी हुई बात नहीं होती। जब तक उसे करो नहीं तब तक वह धर्म नहीं होता। अश्वमेध करोगे तब धर्म होगा। अश्वमेध की किताब रखी है, पढ़ भी ली, तो इतने मात्र से धर्म नहीं होगा। इसलिये धर्म की रक्षा का मतलब होता है धर्म को अपने जीवन में लाना। आजकल दम्भ वाले लोग ज़्यादा हैं, चाहते हैं कि दूसरे लोग हमें धर्मरक्षक समझें। हम धर्म का पालन करें– यह दृष्टि नहीं है। इसी प्रकार लोग मुझे तपस्वी समझें, मेरे तप की महत्ता को समझें, यह इच्छा दम्भ है।

अहंकार – तुमने तीस दिन का व्रत रखा तो मैंने बत्तीस दिन का रखा। तुमने बत्तीस बार किया तो मैं पैंतीस बार करलूँ– यह अहंकारपूर्वक तप करना है। 'यह ठीक है, इसलिये मैंने किया,' ऐसा भाव नहीं, बल्कि भाव है कि दूसरे की अपेक्षा मैं अपने अहंकार को ही पुष्ट करूं। यह वैसा है जैसे लौकिक लोग समझते हैं कि इसने एक लाख कमाया और मैंने दो लाख कमा लिया तो मैं बड़ा हुआ। किसे कितनी आवश्यकता है इसका विचार नहीं करते। जो अहंकार रहित है वह यदि देखता है कि मुझे धन की ज़रूरत नहीं है, तो होड़ लगाकर कमाता नहीं है। परन्तु अहंकार वाला कहेगा कि यह लखपति है तो मैं करोड़पति न कहा जाऊँ तो क्या फ़ायदा! ऐसे लोगों का तप भी अहंकार के साथ होता है।

ऐसे तप का बल कहाँ से प्राप्त करते हैं? 'कामरागबलान्विताः' कामना भी इन्हें बल देती है कि ऐसी-ऐसी तपस्या कर लेंगे तो देवराज इन्द्र बन जायेंगे अथवा अमुक चीज़ की प्राप्ति कर लेंगे। परमात्मा की प्रसन्नता इनका उद्देश्य नहीं है। धन, पद, जन आदि किसी-न-किसी विषय की प्राप्ति के लिये तप करते हैं। और राग; विषय की आसक्ति भी बल देती हैः लड़का बीमार है, लड़के में आसक्ति है, अतः वे उसके स्वास्थ्य के लिये घोर तप कर लेते हैं। वैसा करने का बल राग से मिलता है। इसी प्रकार जिस किसी चीज़ में जिसकी आसक्ति होती है, उसे प्राप्त करने का उसे बल मिलता है।

शास्त्र में जिसका विधान नहीं है, कष्टकारी ही जिस तप का स्वरूप है और जो दम्भ, अहंकार, काम राग के द्वारा ही चलता है वह रजोगुणी तप है।

अब तमोगुणी तप को बताते हैंः 'शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः कर्शयन्तः' शरीर में स्थित भूतग्राम को दुर्बल बनाते हुए जो तप किया जाये वह तामस है। शरीर पंच महाभूतों का बना है, इसलिये पंच महाभूतों का समुदाय ही यह शरीर है। वे पंचमहाभूत स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के हैं। यहाँ पर स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही भूतों को समझ लेना। सूक्ष्म महाभूत इन्द्रियाँ, प्राण और मन रूप में रहते हैं और स्थूल शरीर वह है जो दिखाई देता है। स्थूल शरीर में बैठकर भोग किया जाता है और इन्द्रियाँ, प्राण तथा मन भोग के उपाय या करण हैं, उनके द्वारा भोग किया जाता है। स्थूल शरीर भोगायतन है जिसमें बैठकर भोग किया जाता है। तमोगुणी तप करने वाले कैसे हैं? 'अचेतसः,' विवेकरहित हैं। जो किसी

चीज़ के बारे में ध्यान देकर उसके स्वरूप को समझकर करता है, उसे कहते हैं कि यह इस बारे में चेतन है। और जब ध्यान नहीं देते हैं तब उसके विपरीत- अचेतस् होते हैं। तमोगुणी लोग, सचमुच में तप क्या है? गलत ढंग का तप क्या है?- इन सब चीज़ों का विवेक नहीं करते, इसलिये अविवेकी हैं। यहाँ प्रसंग के अनुसार तप के विषय में ही अविवेक है अर्थात् तप का विचार नहीं करते। इसलिये ऐसे लोग तप का मतलब यह समझते हैं कि शरीर में जो भूतग्राम है उनका जितना कर्शन करें उतना अच्छा है। कर्शन का मतलब है तकलीफ देना। 'कृश तनूकरणे' (दि.प.से.) धातु का असली अर्थ तो कमज़ोर करना है। ऐसे लोग शरीर का कर्शन करते हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मन को जितना दुःख हो उतना ही उसे श्रेष्ठ तप समझते हैं। केवल स्थूल सूक्ष्म शरीरों का ही कर्शन नहीं करते, 'मां च'; जो देही है, देह में अभिमान वाला है वह जीवात्मा भी अन्दर मौजूद है। पहले अहंकार में, अहंकार के द्वारा अन्तःकरण में, अन्तःकरण के द्वारा इन्द्रियों में और उनके द्वारा शरीर में, इस प्रकार क्रम से वह आत्मतत्त्व शरीर के अन्दर मौजूद है। यह जीवरूप आत्मतत्त्व तामस लोगों के द्वारा दिये जाने वाले कष्ट के कारण स्वयं अपने को कष्ट वाला समझता है। स्वयं तो आत्मा में कष्ट की कभी सम्भावना ही नहीं है किंतु 'अन्तःशरीरस्थं' अर्थात् शरीर से एकता का अध्यास होने के कारण जब इसका कर्शन होता है तब जीवात्मा का भी कर्शन होता है। अतः जीवरूप से स्थित भगवान् ही तब दुःख पाते हैं। इसलिये 'मां' कहा।

शंका होती है कि परमात्मा को कष्ट कैसे हो सकता है, वह तो साक्षिरूप है? भाष्यकारने समाधान दिया 'मदनुशासनाऽकरणमेव मत्कर्शनम्' कि भगवान् का अभिप्राय है कि मेरी आज्ञा का पालन नहीं करना ही मेरा कर्शन है। मनुष्य शरीर में आ गये, मनुष्य शरीर के अन्दर क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, यह धर्माधर्म का अनुशासन मेरा किया हुआ है। उस मेरे अनुशासन को, मेरी आज्ञा को नहीं मानना ही मेरा कर्शन है। लोक में भी बच्चा बाप की बात नहीं मानता इतने मात्र से ही बाप दुःखी होता है। बच्चे से पूछो तो कहता है कि 'मैं तो इनके खाने-पीने या कपड़े आदि की किसी व्यवस्था को नहीं रोकता, जैसा खाना चाहें खायें, जहाँ जैसे घूमना चाहें घूमें, जैसा पहनना चाहें पहनें। मैंने इन्हें कोई दुःख नहीं दिया, उल्टा मैंने तो इन्हें बड़ा सुखी कर के रखा है। पिता से पूछते हैं -'क्यों दुःखी हो?' तो कहता है 'व्यवस्था सब ठीक है, लेकिन मेरी कोई बात नहीं मानता।' इसको लोक में कष्ट ही माना जाता है। इसी प्रकार से परमात्मा की आज्ञा नहीं मानना ही परमात्मा का कर्शन हो जाता है। यह वास्तविक दृष्टि से समाधान हो गया। सामान्य लौकिक दृष्टि से भी देखो तो जीव ईश्वर का पुत्र है इसलिये जीव को जब दुःख होता है तब ईश्वर को दुःख होना स्वाभाविक है। अन्दर जो ईश्वररूप से मौजूद है वह पिता की जगह है। जीव को दुःखी देखकर उसे बुरा लगना उचित है। अचेतस् अविवेकी लोग जीव को दुःखी कर मानो परमेश्वर को ही परेशान करते हैं। सोलहवें अध्याय में जिन्हें आसुरी प्रवृत्ति वाले कहा था, वे ही ऐसे तप में श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा ही निश्चय का कारण है। उनकी श्रद्धा ही इसमें

है कि शरीर आदि को जितना कष्ट दिया जाये उतना ही उत्तम तप है, यही उनका निश्चय है। यदि चारों तरफ देखो तो अधिकतर लोगों का तप के बारे में यही निश्चय रहता है। किसी से कहो कि 'ये बड़े तपस्वी हैं, रोज़ संहिता पाठ करते हैं अथवा रोज़ उपनिषद् का पाठ करते हैं,' तो लोग कहेंगे 'इसमें क्या तप है!' उसकी जगह यह कहो कि 'ये सोलह दिन तक कुछ नहीं खाते, पानी भी नहीं पीते', तो झट लोगों को निश्चय हो जाता है कि बड़े तपस्वी है। मन में आसुर निश्चय ही यह है कि जितना कष्ट होता है उतना अच्छा है। जो तो शास्त्र विधान से करते हैं उनका उद्देश्य कर्शन करना नहीं है वरन् शास्त्र ने जो आज्ञा दी है उसे करना है। क्योंकि भगवदाज्ञा का पालन है इसलिये वह 'मां कर्शयन्तः' का विषय नहीं है, बल्कि उस तप से भगवान् की प्रसन्नता होती है। जिसके बारे में परमात्मा की आज्ञा नहीं है वह करते हैं तब दोष होता है। लोक में भी देखा जाता है कि डाक्टर ने माता से कहा कि बच्चे को दो दिन तक कुछ खाने को मत देना और माँ बच्चे को दो दिन तक कुछ भी खाने को नहीं देती तो कोई नहीं कहता कि 'यह माँ बड़ी क्रूर है,' क्योंकि उसने डाक्टर के अनुशासन के अनुसार किया है। जब डाक्टर ने कह दिया कि 'अब बच्चे की तबियत ठीक है इसलिये इसे जैसा खाना देना है वही दो', उस के बाद भी वह नहीं देती और सोचती है कि 'जब पाँच रुपये के फल देने से काम चल सकता है तो दस रुपये के बादाम क्यों दिये जायें? जब तीन दिन बिना बादाम के रह सकता है तो आगे भी रह सकता है,' तब लोग कहेंगे कि यह माँ नहीं डायन है। इसी प्रकार से, शास्त्र के अनुसार शरीर-मन को कष्ट दिया जाता है तो वह परमात्मा के शासन के अनुरूप होने के कारण उनका कर्शन नहीं करता और जो शास्त्र विहित नहीं है अथवा जो केवल यह मानकर किया जाता है कि कष्ट देना ही तप है, वह परमात्मा का कर्शन करता है।

'आसुरनिश्चयान्' कहकर यह संकेत कर रहे हैं कि ये रजोगुणी, तमोगुणी निश्चय हैं इसलिये इनका परित्याग करना चाहिये। 'विद्धि' अर्थात् इनको छोड़ने के लिये जानो। अगर भगवान् का तात्पर्य यह न होता कि राजस तामस तप का त्याग करो तो यहाँ 'आसुरनिश्चयान्' कहने की ज़रूरत नहीं थी। अपने यहाँ नियम है कि जहाँ निन्दा की जाती है, वहाँ उसके निषेध में तात्पर्य होता है और जहाँ प्रशंसा की जाती है वहाँ उसकी विधि में तात्पर्य होता है। अतः आसुरनिश्चय कह कर भगवान् का तात्पर्य रजोगुण और तमोगुण को छोड़ने योग्य बताने में है। आगे भी रजोगुण तमोगुण के कार्यलिंगक अनुमान बतायेंगे, वहाँ भी समझ लेना कि वह आसुरनिश्चय हैं इसलिये उनका परिहार करना है।।५-६।।

श्रद्धा व तपके बाद प्रिय आहारादि के भेद से निष्ठाभेद का वर्णन करते हैं। पूजा व तप तो स्थूल दृष्टि से दीख जाते हैं। आहारों की प्रियता यों पता नहीं चलती क्योंकि खाने तो सभी आहार सबको पड़ते हैं। आयुर्वेद छहों रसों की आवश्यकता मनुष्य शरीर के लिये बताता है। पर प्रिय कौन-सा रस है यह स्वयं के बारे में स्पष्ट मालूम चलता है, दूसरों के बारे में अंदाज़ ही लगा सकते हैं। यहाँ भगवान् सात्त्विक भोजन या राजस-तामस भोजन

नहीं बताकर सात्त्विकों को प्रिय क्या होता है या राजस- तामसों को क्या प्रिय होता है- इस तरह बतायेंगे। स्वयं की रुचि से अपनी राजस-तामसता प्रतीत हो तो तत्तद् आहार छोड़कर सात्त्विकप्रिय आहारों में रुचि उपजाने का प्रयास करना चाहिये। पहले भगवान् आगे के विषय को सूचित करते हैं-

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

सबको (स्वस्वभावानुसार) तीन प्रकार के भोजन अच्छे लगते हैं। यज्ञ, तप और दान भी तीन तरह के होते हैं। इन सबका यह भेद सुनो।

सभी भोक्ताओं या सभी जीवों का तीन प्रकार का आहार होता है। जिस प्रकार से तप के बारे में कहा था कि किसी को कामरागबलान्वित होकर तप करना प्रिय होता है और किसी को भूतग्रामों का कर्शन करके तप करना प्रिय होता है, इसी प्रकार सभी लोगों को तीन प्रकार का आहार प्रिय होता है। किसी को सात्त्विक, किसी को राजस और किसी को तामस आहार प्रिय होता है। यहाँ 'अपि' से बता दिया कि तप और देवताओं के बारे में जो बात बताई थी उसी को फिर भोजन के बारे में भी बता रहे हैं। जैसे आहार वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी सात्त्विक, राजस और तामस- तीन प्रकार के होते हैं। प्रियता को धीरे-धीरे बदलना चाहिये एवं राजस-तामस यज्ञादि छोड़कर सात्त्विक ही प्रवृत्ति करनी चाहिये यह भगवान् का तात्पर्य है।।७।।

सबसे पहले आहार बताते हैं-

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

उज्ज्वल जीवन, चित्त की स्थिरता, बल, नीरोगता, आह्लाद तथा आस-पास वालों की भी प्रसन्नता बढ़ाने वाले सरस, स्नेहयुक्त, लम्बे समय तक शरीर का उपकार करने वाले तथा हृदयप्रिय आहार सात्त्विकों को प्रिय होते हैं।

सात्त्विक लोगों को कौनसा भोजन प्रिय होता है? जो भोजन आयु को बढ़ाने वाला है वह उन्हें प्रिय होता है। आयु को बढ़ाने का क्या मतलब है? आयु का निश्चय श्वासों की संख्या से होता है। मनुष्य को कितने श्वास लेने हैं यह निश्चित है। चौबीस घण्टे में एक आदमी २१६०० साँस सामान्यतः लेता है। अतः जब कहते हैं कि इसकी आयु एक साल है तब उसका मतलब होता है कि वह २१६००x३५५ साँस लेगा (क्योंकि चान्द्रमान से ३५५ दिन का वर्ष होता है)। इसी प्रकार जब कहते हैं कि यह दस साल जियेगा तब मतलब है कि वह २१६००x३५५० बार साँस लेगा। सामान्यतः तो यह नियम ठीक चलता है। परन्तु यदि तुम अपनी साँसों को घटा लो तो सालों के हिसाब से तुम्हारी आयु बढ़ जायेगी और

यदि तुम अपनी साँसों को बढ़ा लो, एक दिन में २१६०० कि जगह २२००० कर लो तो उतनी ही तुम्हारी उम्र घट जायेगी। साँसों को ज़्यादा लेने से आयु घट जाती है और कम करने से आयु बढ़ जाती है। हुक्का, सिग्रेट आदि पीने से श्वास के खर्च बहुत बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार स्त्रीसंग आदि में श्वासों का खर्च बहुत बढ़ जाता है। जप, ध्यान करने से साँसों का खर्च कम हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा तो सीधे ही साँसों को कम कर देते हो। अतः आयु बढने का मतलब है कि उन चीज़ों का सेवन नहीं करना जो तुम्हारे साँसों को ज़्यादा खर्च करे और उन चीज़ों का सेवन करना, प्रिय लगना जो तुम्हारे साँसों के खर्च को कम करे। सबसे पहले आयु-वर्धकता को कहा क्योंकि बहुत आयु वाला होना सबको अच्छा लगेगा। लेकिन भगवान् कहते हैं कि केवल आयु को बढ़ाने से ही काम नहीं चलेगा। आहार सत्त्वविवर्द्धन अर्थात् बुद्धि को बढ़ाने वाला भी होना चाहिये। कई चीज़ें ऐसी होती हैं जो तुम्हारी आयु को तो बढ़ा देंगी परन्तु तुम्हारी बुद्धि को क्षीण कर देंगी। कई तरह के नशे ऐसे होते हैं जिन्हें लेने से साँसों की संख्या तो घट जाती है, भांग इत्यादि श्वासों की संख्या घटा देती है, परन्तु बुद्धि को क्षीण कर देती है; इसलिये केवल आयु बढ़ाने वाली चीज़ नहीं होनी चाहिये, बुद्धि को भी बढ़ाने वाली होनी चाहिये। बल - शरीर के अन्दर अधिक कार्य करने की सामर्थ्य को बल कहते हैं। केवल आयु बढ़ावे, बुद्धि बढ़ावे और शरीर बिलकुल कमज़ोर कर दे कि क्रिया कुछ न कर सके, तो वह भी सात्त्विक आहार नहीं है। इसलिये बल को बढ़ाने वाली चीज़ होनी चाहिये। आरोग्य - यह एक ऐसा विचार है जो सनातनियों के सिवाय दूसरे मतों में नहीं है। आरोग्य का मतलब रोगरहित होना नहीं है, बल्कि शरीर की ऐसी सामर्थ्य होना है कि रोग न हो सके। देखने में आता है कि कई लोग ऐसे होते हैं जिन्हें एक लड्डू ज़्यादा दे दो तो उन्हें तकलीफ होने लगती है, अर्थात् उतना ज़्यादा भी हज़म नहीं कर सकते। कुछ लोग होते हैं जो समय पर चार लड्डू भी ज़्यादा खा जायें तो उन्हें हज़म हो जाते हैं। केवल भोजन का ही नहीं, अन्य चीज़ों में भी यह होता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि थोडा़ सा पानी पीते ही उनका पेट खराब हो जाता है। उसी पानी को कई दिन तक दूसरे भी पीते हैं तो कुछ नहीं होता। ऐसा कुछ नहीं है कि कीटाणु इनके पास नहीं गये और उसके पास चले गये! परन्तु जो आरोग्य वाला शरीर होगा वह उतने कीटाणुओं को नष्ट कर देगा और जो बलहीन होगा वह उन्हें नष्ट नहीं कर पायेगा और बीमार हो जायेगा। इसलिये आरोग्य का मतलब रोगरहित होना मात्र नहीं है वरन् रोग तुम्हारे ऊपर आक्रमण ही नहीं करे या करते ही परास्त हो जाये ऐसी सामर्थ्य वाला होना है। यह केवल खाने-पीने की चीज़ों में ही नहीं होता, अन्यत्र भी हो जाता है, जैसे थोड़ी सी हवा चली तो एक को सर्दी हो गई और दूसरा उससे चौगुनी हवा चले तब भी सहन कर लेता है। चाहे खाना-पीना हो, चाहे सर्दी-गर्मी हो, आरोग्य वाला शरीर विविध परिस्थितियों के अन्दर रोग-रहित रहने की सामर्थ्य रखता है। सुखविवर्द्धन अर्थात् जो खाकर सुख बढ़े। कई बार कोई चीज़ खाने के बाद तृप्ति का या सुख का बोध होता है कि

'आज बढ़िया भोजन बना', और किसी दिन भोजन करते हैं तो होता है कि 'भूख मिटानी है तो खाना तो है ही,' उसमें तृप्तिबोध नहीं होता। जो इस प्रकार से सुख को बढ़ाने वाला हो, वह सात्त्विक लोगों को प्रिय होता है। भूख के दुःख को मिटाने मात्र वाले से अतिरिक्त जो तृप्ति का सुख दे उसे सुखविवर्धन कहा है। प्रीतिविवर्द्धन- यह समझना आजकल ज़्यादा मुश्किल है! किसी भोजन को करने के बाद हर एक आदमी से व्यवहार करें तो अच्छा लगता है। किसी भोजन को करने के बाद मन भी चिड़चिडा़ हो जाता है, जिस किसी से बात करो तो बाद में अपने को ही लगता है कि आज क्या बात हो गई। जिस भोजन को करके प्रीति-भरा व्यवहार हो, वह सात्त्विक और चिड़चिड़ापन लाये तो राजस- तामस होता है। आयु आदि सबको जो बढ़ाये वह भोजन सात्त्विक है।

'रस्याः रसोपेताः', वैसे तो सभी रस रस हैं। परन्तु मधुर को ही रस कहते हैं अर्थात् जो मधुर पदार्थ होते हैं वे रसयुक्त होते हैं। बहुत-सी चीज़ें मधुर होती हैं; रसवाली होती हैं परन्तु बिलकुल सूखी होती हैं। किंतु सात्त्विक भोजन स्निग्ध या स्नेह वाला होना चाहिये। भोजन ऐसा नहीं होना चाहिये कि खाया और फिर दो घण्टे बाद भूख लग गई, स्थिर होना चाहिये अर्थात् कुछ देर तक रहना चाहिये। भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि देह में जाकर चिरकाल तक रहने वाला होना चाहिये। 'हृद्याः' भोजन इस ढंग के रूप रंग वाला होना चाहिये कि देखते ही हृदय खिल जाये। इस विषय में विदेशी बहुत सावधान रहते हैं। प्रायः भारतवर्ष में भोजन परोसने के तरीके में हम लोग कोई सावधानी नहीं बरतते। एक ही तश्तरी में सब भोजन मिला कर रखना पड़े ऐसा जो आधुनिक खड़े-खड़े खाने का ढंग है उसमें तो हृद्यता और भी समाप्त हो जाती है। एक ही हलवा बिना केसर वाला और केसर वाला, यों दो तरह का तैयार करें तो सभी स्वभावतः केसरिया हलवे से प्रसन्न होते हैं, यह उसकी हृद्यता है। भोजन के विषय में आयुर्वेद शास्त्र से और सूक्ष्म भेदों को समझ लेना चाहिये कि आयु आदि बढाने वाले क्या भोजन होते हैं। सात्त्विक आहार हृद्य भी होना चाहिये। इस प्रकार का आहार सात्त्विकों या सत्त्वगुणियों को प्रिय होता है और इष्ट होता है।।८।।

राजस भोजन को कहते हैं-

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

अधिक कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, तीखे, रूखे, जलाने वाले, दुःख-शोक-रोग देने वाले आहार राजस को पसन्द आते हैं।

भगवान् ने पहली पंक्ति के बीच में 'अति' शब्द रखा है जिसे भाष्यकार समझाते हैं कि कटु आदि सभी से जोड़ लेना चाहिये।

राजस भोजन में पहले अतिकटु भोजन को कहते हैं। अत्यन्त कड़वा जैसे नीम है। अतिकटु के द्वारा बताया कि सामान्य कटु तो शरीर के लिये आवश्यक है। कड़वी चीज़ें रक्त

आदि के विकारों को कम करती हैं। यहाँ बताये गये सभी स्वादों में अतिशब्द लगाना है। सात्त्विक आहार में 'रस्याः' कहा था। रस शब्द का अर्थ पूर्व श्लोक में बताया था कि रस शब्द षड्रस को विषय कर सकता है परन्तु फिर भी मधुर रस के लिये आया है। रस्य से अन्य रसों को क्यों नहीं समझ सकते? इसलिये कि अतिमधुर को रजोगुण या तमोगुण में गिना नहीं है। कषाय को छोड़कर कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण और विदाही जो पाँच रस हैं, वे अति होने पर राजस माने जायेंगे। अतः मधुर अति होने पर भी राजस नहीं होता। इस विशेषता से सात्त्विक में रस्य से मधुर रस वाली चीज़ों को ग्रहण किया। यहाँ 'अति' कहकर सूचित कर दिया कि किंचित् खट्टे आदि पदार्थ सात्त्विक भोजन के विरोधी नहीं हैं, अति होने पर ही सात्त्विक न रहकर राजस हो जाते हैं। मधुर सात्त्विक है, मधुर न रजोगुणी और न तमोगुणी होता है। अतिकटु जैसे नीम, अतिअम्ल या अतिखट्टा जैसे नीबू इत्यादि अथवा अधिक खट्टा दही; आज जमाया और कल खा लिया तो अम्ल होगा, अतिअम्ल नहीं है। जैसे कटु रक्त आदि के विकार को दूर करता है वैसे ही अम्ल भोजन को पचाने में मदद करता है। वस्तुतः पेट में भी बहुत तेज़ अम्ल होते हैं जो भोजन को पचाते हैं और अगर अम्ल कम हो जाता है तो मनुष्य की पाचनशक्ति कमज़ोर हो जाती है, वह भोजन को पचा नहीं पाता। अतः थोडा अम्ल तो शरीर के लिये अपेक्षित है, उससे भोजन का परिपाक होगा, किन्तु अति अम्ल नहीं खाना चाहिये। यह प्रत्यक्ष भी है कि अतिअम्ल होने पर मनुष्य को खट्टी डकारें आने लगती हैं। और खट्टा पदार्थ पेट से उठकर गले तक आकर प्रत्यक्ष दुःख देने वाला हो जाता है। भोजन पचाने में सीमित मात्रा में ही अम्ल चाहिये। ज़्यादा होने पर अन्य पाचक तत्त्वों के कार्य में रुकावट डालता है। जितना कटु एक के लिये ठीक है, दूसरे के लिये ठीक नहीं भी हो सकता है। इसी प्रकार अति लवण भी हानिकारक है। शरीर के अन्दर बहुत बड़ा हिस्सा नमक का है। आधुनिक लोग मानते है, कि समुद्री नमकीन पानी से ही जीवन प्रारम्भ हुआ है। इसलिये नमक शरीर के लिये स्वाभाविक होने से अति आवश्यक है। यद्यपि शास्त्र ने कई जगह प्रत्यक्ष लवण आदि का निषेध किया है परन्तु वहाँ सर्वत्र तात्पर्य है कि सामान्य मात्रा से अधिक नमक नहीं लेना चाहिये। प्रायः करके एक घर में बचपन से ही एक भोजन करने के कारण एक विशिष्ट मात्रा में खट्टा या नमकीन या मिर्च वाला भोजन वहाँ के लोगों के लिये स्वाभाविक हो जाता है। किंतु किसी के लिये क्या स्वाभाविक है; इसे धीरे-धीरे स्वयं व्यक्ति को ही निर्णय करना पड़ता है। अतः सामान्यतः शरीर को जो आवश्यक हो उससे ज़्यादा नमक अति लवण है। लवण की ज़्यादा मात्रा मनुष्य के गुर्दे को खराब करती है। नमक की अधिकता शरीर के लिए ठीक नहीं है।

भोजन अतिउष्ण भी नहीं होना चाहिये। जैसे ये स्वाद बताये हैं वैसे ही धर्मसूत्रों में कहा है कि भोजन गर्म होना चाहिये। ठण्डा भोजन शरीर के लिये लाभदायक इसलिये नहीं होता कि शरीर का जो तापमान है उस तापमान के अनुसार जो भोजन किया जाता है वह पेट में जाते ही पचने लगेगा और अन्य तापमान का भोजन पहले शरीर के तापमान पर आयेगा,

उसके बाद उसका पचना शुरू होगा। भोजन एक ही जगह नहीं पचता। मुख से ही भोजन का पचना शुरू हो जाता है। यह जो कहा जाता है कि कौर को बत्तीस बार चबाकर खाओ, उसका तात्पर्य ही यह है कि मुख के अन्दर जो स्रावक ग्रन्थियाँ हैं उनसे ऐसा पदार्थ निकलता है जो भोजन को हजम करता है। अतः जो भोजन मुख से ही हजम होना शुरू हो जाता है उसे अगर उतना नहीं चबाओगे तो पचना कठिन हो जायेगा। भोजन के बाद पान आदि खाने की प्रथा इसलिये है कि पान तो चबाना ही पड़ेगा और चबाने से जो स्राव निकलेंगे वे पेट में जायेंगे तो पहले यदि चबाकर भोजन हजम नहीं कर लिया है तो वे स्राव भोजन को हजम करने में मदद करेंगे। लम्बे समय भोजन चबाने पर वे स्राव मुख में भोजन को पहले हजम कर जायेंगे, फिर मुख से नीचे जाकर अन्य स्रावों में मिल जाने पर उनकी सान्द्रता घटने से हर्ज नहीं। मुख से भोजन का पचना शुरू होकर काफी तो उदर में जाकर पच जाता है। परन्तु बहुत-सी चीज़ें वहाँ नहीं पचतीं। वहाँ अम्ल की तेज़ी ज़्यादा होती है अतः उसके नीचे जब भोजन आन्त्रों में जाता है तब वे पदार्थ पचते हैं जो क्षार से पचने वाले हैं। अति उष्ण होने से प्रायः पूरी देर तक चबा नहीं पाते। दक्षिण में किसी-किसी प्रान्त में ऐसी प्रथा है कि कौर मिलाया और सीधा ही गले में डालकर निगल लिया! इसलिये उनके लिये तो उन हिस्सों के पचने का प्रश्न ही नहीं है। राजस्थान में भी पहले बहुत खाने वाले लोग होते थे, सौ-सौ मोतीचूर के लड्डू खा जाते थे। चबाकर नहीं खाते थे, निगलते जाते थे। भोजन करने वाला यदि अतिउष्ण भोजन करेगा तो सारी कठिनाइयाँ आ जायेंगी इसलिये अतिउष्ण का निषेध समझना चाहिये। भोजन ठण्डा भी न हो, अतिगर्म भी न हो। आजकल की प्रथा ठीक इसके विपरीत है। आजकल शीतल पेय बहुत ही ठण्डे, लगभग बर्फ जैसे- पिये जाते हैं। और चाय आदि बहुत ही गर्म, लगभग उबलते हुए पिये जाते हैं। शरीर के तापमान पर पहुँचा भोजन खाना लोगों को बहुत कम पसन्द है। अतिगर्म (और अतिठण्डा) राजस में गिना जाता है।

तीक्ष्ण, जैसे मिर्च का स्वाद जिसे मारवाड़ में चिर्का स्वाद कहते हैं। तीक्ष्ण का अपभ्रंश 'तीखा' है। रूक्ष- जिसका रस सुखा दिया गया हो। कई बार साग आदि को भूनकर सुखा देते हैं। घी में भूनें तो स्निग्धता रहेगी पर आजकल एक विशेष बर्तन आता है जिसमें बिना घी के भूनना सरल हो जाता है। कोदों आदि कई सूखे भोजन हैं जिन्हें खाने से शरीर का स्निग्धांश भी सूख जाता है। विदाही- जो जलाते हैं, जिन्हें खाने पर जलन होती है जैसे राई, सरसों आदि। ये सभी स्वाद अल्प मात्रा में तो सुख-प्रीति को बढ़ाते हैं अतः सात्त्विक हो जाते हैं। पर अति होने पर राजस हैं। स्वरूप से ये रजोगुणी नहीं पर अतिमात्रा में लेने पर रजोगुणी हो जाते हैं। अतः भगवान् ने अति-शब्द रखा। द्वन्द्व-समास के आदि या मध्य या अन्त में आये शब्द का सभी शब्दों से संबंध संभव होता है। जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रजोगुणी है उसे इस तरह का अतिखट्टे आदि स्वादों वाला या अतिगर्म भोजन पसन्द आता है।

ऐसे आहारों का प्रभाव क्या है? दुःख, शोक और आमय देते हैं। खाते समय की

तकलीफ दुःख है। अतितीक्ष्ण आदि चीज़ें खाते समय मुँह, नाक आदि जलते हैं। खाने के बाद की तकलीफ शोक है जिससे मनमें आता है 'यह नहीं खाया होता तो अच्छा था'। कभी मात्रा का भी शोक होता है कि इतना न खाया होता तो अच्छा था। कभी-कभी शोक तीव्र हो तो लोग निश्चय कर लेते हैं कि पुनः कभी नहीं खायेंगे, लेकिन फिर सामने आने पर खा लेते हैं क्योंकि राजस प्रकृति स्वाभाविक है। आमय अर्थात् रोग, राजस भोजन से बचना साधक के हित में है।।६।।

तमोगुणी भोजन बताते हैं-

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

कम पका, निर्वीर्य, दुर्गंधयुक्त, बासी, जूठा और यज्ञ के अयोग्य भोजन तामस जनों को अच्छा लगता है।

कुछ व्याख्याता 'बनाकर रखे जिसे काफी समय हो गया' या 'एक प्रहर पूर्व बना'-ऐसा यातयामका अर्थ करते हैं किंतु वह तो पर्युषित से कहा ही है और रखे रहने से सूख गया तो गतरस से कहा ही है, अतः भगवान् भाष्यकार ने मन्दपक्व अर्थात् 'कम पका' यही अर्थ स्वीकारा है। चीन देश का भोजन प्रायः अधपका होता है। ऐसा भोजन तमोगुणी को प्रिय होता है। गतरस - जिसका रस खत्म कर दिया हो। रस स्वाद को कहते हैं। मसाला आदि इतना नहीं होना चाहिये कि साग आदि के स्वाद को ही खत्म कर दे। साग-दाल आदि का अपना स्वाद बचा रहे, अन्यथा गतरस भोजन हो जायेगा। पूति- दुर्गन्धयुक्त भोजन, जैसे लहसन आदि। कई भोजन स्वतः दुर्गन्ध वाले न होने पर भी मसाले आदि के सहारे से दुर्गन्ध वाले हो जाते हैं, वे भी तामसों को पसन्द आते हैं। पर्युषित- बासी, पकाकर तैयार कर, रात बीतने के बाद उस भोजन को खाने का शौक तामसों को होता है। विदेश में तो भोजन पकाकर ठण्डी अल्मारी में रख देते हैं फिर महीनों बाद तक उसे खाते हैं! ऐसे भोजन तमोगुणी लोगों को पसंद आते हैं। आजकल पकाकर तैयार भोजन डब्बों में बंद किये बिकते हैं जिन्हें तमोगुणी लोग प्रसन्नता से खाते हैं। हमने थैलियों में छह महीने पुराना दूध भी बिकता देखा है! उच्छिष्ट- एक की खायी चीज़ दूसरा खाये उसे उच्छिष्ट, जूठा कहते हैं। जब तुम खा रहे हो तब, खाते हुए तुम्हारे हाथ का स्पर्श होने से थाली का सारा भोजन उच्छिष्ट हो जाता है। उच्छिष्ट से छुई चीज़ भी उच्छिष्ट हो जाती है। जहाँ भोजन किया वह जगह भी जूठी हो जाती है। जूठे भोजन का शौक तामसों को होता है। अमेध्य - जिस भोजन को मेध अर्थात् पूजा या यज्ञ के द्वारा शुद्ध नहीं कर लिया गया है वह अमेध्य है। यज्ञ से बचा हुआ या भगवान् को भोग लगाकर बचा हुआ भोजन मेध्य है। परोसे हुए भोजन को जल से शुद्ध कर भीतर मौजूद वैश्वानराग्नि के निमित्त उसकी आहुति देकर उसे यज्ञ-सम्बन्धी बनाकर खाया जाता है ताकि अमेध्यता न रह जाये। किंतु यज्ञ के योग्य भोजन को

ही इस तरह मेध्य बना सकते हैं, जिन चीज़ों का यज्ञ में, देवपूजन में विधान नहीं उन्हें यों शुद्ध नहीं कर सकते। स्वरूप से या स्पर्श आदि से अशुद्ध वस्तुएँ यज्ञसम्बन्धी नहीं बनायी जा सकती। अतः वे अमेध्य ही रहती हैं। भाष्य में यज्ञ के अनर्ह, अयोग्य को अमेध्य कहा है। वैश्वानरको भी अयोग्य पदार्थों की आहुति नहीं दी जा सकती। ऐसा अमेध्य भोजन तामसों को प्रिय होता है।

आहार शरीर मन दोनों का निर्माण करता है और स्थूल होने से धीरे-धीरे जबरदस्ती या बिना विशेष इच्छा के भी इसे अभ्यास से बदला जा सकता है। अतः अपनी तामस रुचियाँ बदल कर सात्त्विक अभिरुचि बनानी चाहिये इस उद्देश्य से भगवान् ने आहारों के तीनों प्रकारों का विस्तार किया।। १०।।

अब क्रम से प्राप्त यज्ञ को कहते हैं जिस क्रम से भगवान् ने सातवें श्लोक में प्रतिज्ञा की थी उसी क्रम से बताते हैं-

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

फल न चाहने वालों द्वारा 'यज्ञ ही करना है' इस निश्चय से मन एकाग्र कर विधि के अनुसार जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है वह सात्त्विक है।

सात्त्विक यज्ञ कैसा होता है? आहार और यज्ञ दोनों में फ़र्क देख लेना : आहार में तो सात्त्विक को प्रिय, राजस को प्रिय और तामस को प्रिय कहा था। यहाँ प्रियता की बात नहीं कह रहे हैं, यहाँ तो बता रहे हैं कि यज्ञ सात्त्विक, राजस या तामस कब होता है। सात्त्विक यज्ञ वह होता है जिसमें 'अमुक यज्ञ करना ही है' ऐसा शास्त्र के द्वारा जानकर उस यज्ञस्वरूप का निर्वर्तन करना ही उद्देश्य है अर्थात् जो नियमानुसार सांगोपांग किया जाये। चूंकि प्रकृत प्रसंग में करने वाला शास्त्रज्ञ तो है नहीं, इसलिये उसको जो बड़ों द्वारा बताया गया है कि 'तुमको यह पूजा या यह यज्ञ करना ही है,' अथवा बड़ों को नियमपूर्वक ऐसा करते देखकर उनके ऊपर श्रद्धा होने से यह करता है, उसी को सात्त्विक बता रहे हैं। किसी फल के लिये नहीं वरन् 'यह पूजा करनी ही है' इस निश्चय से मन लगाकर, एकाग्रता से करता है। किसी अर्थ- सिद्धि या दुःख- निवृत्ति के लिये नहीं वरन् कर्तव्य समझकर किया यज्ञ सात्त्विक होगा। बड़ों से जैसी विधि सीखी है ठीक वैसा ही करता है। स्वयं तो शास्त्र समझता नहीं पर अपने पूज्य आदि को जैसा करते देखा, उसमें मन-मानी हेरफेर बिना किये करता है तब सात्त्विक यज्ञ होता है। भाष्य में 'विधि' से शास्त्रीय विधि इसलिये कही कि सात्त्विक व्यक्ति की श्रद्धा जिन शिष्टों पर होती है वे शास्त्र का पालन ही करते हैं। अतः उनका अनुकरण करने से आचरण स्वतः शास्त्रानुकूल ही हो जाता है। अतः प्रकृत कर्ता शास्त्र भले ही न जाने, यह जिन्हें देखकर यज्ञ करता है वे तो शास्त्रज्ञ हैं अतः उनका किया विधिदृष्ट ही होता है। फलेच्छा छोड़कर करने पर प्रायः यथाविधि न कर कुछ सुविधादि से

घटा-बढ़ी कर लिया करते हैं लेकिन सात्त्विक यज्ञ वह नहीं होगा, सात्त्विक होने के लिये विधिदृष्ट होना अर्थात् जैसा बड़ों को करते देखा है वैसा ही होना पड़ेगा। फलेच्छात्याग, यथाविधि और एकाग्रतापूर्वक कर्तव्यबुद्धि से अनुष्ठित ही सात्त्विक यज्ञ है।।११।।

छोड़ने लायक यज्ञों में पहले राजसको बतलाते हैं-

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! फल के उद्देश्य से और अपनी धार्मिकता के विज्ञापन के लिये किये जाने वाले को राजस यज्ञ समझो।

सात्त्विक यज्ञ में पहली खासियत अफलाकांक्षा कही थी, उससे विपरीत राजस यज्ञ का उद्देश्य ही है फलप्राप्ति। अमुक यज्ञ से, पूजा से अमुक फल होगा - यह मानकर ही जब उस फल के लिये किया जाता है तब यज्ञ राजस हो जाता है। फल चाहे विषयादि की प्राप्ति हो या दुःखादि-निवृत्ति हो, यज्ञ का उद्देश्य फल ही होता है, कर्तव्यपूर्ति या परमेश्वर की आज्ञाका पालन नहीं। सात्त्विक यज्ञ में एकाग्रता यज्ञसम्पादन में होती है जबकि राजस में किस से क्या फल होगा इसी के निर्धारण में एकाग्रता होती है। स्वयं शास्त्र न जानने से जिन्हें श्रेष्ठ समझता है उन्हें पूछ कर और उन्हें करते देखकर फल के प्रयोजनसे किया यज्ञ राजस है। कुछ राजस लोग तो केवल इसलिये धर्म करते हैं कि लोग उन्हें धार्मिक समझें। यज्ञों के जो शास्त्रप्रसिद्ध फल हैं उन्हें उद्देश्य न कर, 'मैं धार्मिक हूँ' इसे प्रकट करने के लिये जो यज्ञ किया जाये वह राजस है। फलार्थ भी राजस है और दम्भार्थ किया भी राजस है। फलाभिसंधि से किये धर्म का तो फल हुआ या नहीं इसका विचार किया जाता है, फल न होने पर उपायान्तर खोजा जाता है, लेकिन दम्भार्थ किये यज्ञ के प्रभाव की चिंता नहीं रहती! आजकल 'विश्व-शान्ति' के लिये यज्ञ करते हैं जिन्हें दम्भार्थ मानना पड़ेगा क्योंकि उनसे शान्ति हुई या नहीं इसका विचार कोई यजमान या ऋत्विक् नहीं करता! यद्यपि दम्भख्यापन भी एक फल है फिर भी भगवान् ने अलग से कहकर सूचित किया कि फलार्थ करने वाला दम्भार्थ करने वाले से बेहतर है क्योंकि वह श्रद्धा से ही करता है जबकि दम्भी को कर्म की सामर्थ्य पर ऐसी कोई श्रद्धा नहीं; सर्वथा श्रद्धारहित तो तामस होगा पर राजस में निकृष्ट वह है जिसे यत्किंचित् ही श्रद्धा है, दृढ श्रद्धा नहीं। दृढ श्रद्धा होने पर फलार्थ प्रवृत्ति होती है, क्योंकि राजस में फलकामना तो है ही और फल का हेतु है- यह श्रद्धा हो तो उसमें प्रवृत्ति हो जायेगी। केवल दम्भार्थ करता है, अतः कामना के विषय की प्राप्ति यज्ञमात्रसे होगी यह श्रद्धा नहीं रखता, धर्म यत्किंचित् लाभ करेगा इतनी ही श्रद्धा से प्रवृत्त हो जाता है। यदि फलार्थ और दम्भार्थ, दोनों हेतुओं से किया जाये तो भी यज्ञ राजस ही है।।१२।।

अब तमोगुणी पूजा को बताते हैं-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

जैसी विधि है उससे विपरीत ढंग से, उचित मन्त्रप्रयोग के बिना, यथोक्त दक्षिणा और ब्राह्मणों को अन्न दिये बिना किये यज्ञ को तामस कहते हैं।

सात्त्विक को तो कहा था ''विधिदृष्टः'' जैसी विधि है वैसा ही किया जाता है। राजस भी होता तो विधि के अनुसार है परन्तु किया फल की इच्छा से जाता है इसलिये वह राजस है। जो सात्त्विक पूजा करने वाला है उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शम, दम की प्राप्ति होकर परमात्म- प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है इसलिये वह सफल है। राजस सफल है क्योंकि जिस उद्देश्य से किया उस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो तमोगुणी है वह विधिदृष्ट नहीं करता है। जैसा उसने देखा है अथवा जैसे उसे बताया गया है वैसा नहीं करता। विधिहीन होने से ही असृष्टान्न करता है। हर पूजा के अन्दर यह विधान है कि ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये। कितनों को कराना- वह तो कराने वाले की सामर्थ्य और कर्म के अनुसार है, परन्तु ब्राह्मण-भोजन यज्ञ का अंग निश्चित है। तामस यज्ञ वह है जिसमें ब्राह्मणों को न भोजन कराया जाता है और न अन्न दिया जाता है। कलकत्ते में ब्याह के पहले ब्राह्मण-भोजन होता था, कुछ ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन कराते थे। लेकिन आजकल भोजन नहीं कराते। निमन्त्रण के साथ दस रुपये का नोट नत्थी कर भेज देते हैं 'पण्डित जी, भोजन कर लीजियेगा'! नोट देने से अन्नदान नहीं हो जाता। कहीं-कहीं श्राद्ध में लोग पण्डित को पैसा दे देते हैं कि 'दुकान में खा लीजियेगा'। वह भी अन्नदान या भोजन कराना नहीं है। ये सब तमोगुणी पूजा के प्रकार हैं क्योंकि असृष्टान्न यज्ञ हैं। वैसे तो विधिहीन से ही असृष्टान्न आ गया, क्योंकि अन्नदान की विधि की ही गई है, फिर भी स्पष्ट करने के लिये पृथक् कर कह दिया। मंत्रहीन यज्ञ तामस होता है। स्वर के साथ पाठ नहीं किया जाये तो वह वेदमंत्र नहीं होता। केवल शब्दमात्र के उच्चारण से वेदमंत्र नहीं हो जाता; उसका उच्चारण उदान्त, अनुदात्त, स्वरित का ध्यान रखकर करना पड़ता है। अगर तुम्हारे कण्ठ से स्वर का उच्चारण न हो तो याज्ञवल्क्य ने उपाय दिया है कि हाथ से ही स्वर दे दो। उदान्त्त अनुदात्त स्वरित में जिधर हाथ ले जाना है उधर ले जाने से भी स्वर का नियम पूरा हो जाता है। हर हालत में उच्चारण सस्वर होना चाहिये और वर्ण पूरे बोले जाने चाहिये। बहुत बार उच्चारण करते हुए वर्ण भी खा जाते हैं। पूरा मंत्र बोले बगैर 'स्वाहा' कर देते हैं। अर्थात् स्वर और वर्ण से रहित करते हैं तो तमोगुणी यज्ञ है। अदक्षिणम्- जिस यज्ञ में जैसी दक्षिणा देने का नियम है उस प्रकार से दक्षिणा नहीं दी जाये तो यज्ञ तामस हो जाता है। अथवा कहीं-कहीं तो हमने देखा है कि दक्षिणा देते ही नहीं हैं! कई बार बड़े शहरों में ऐसे मौके आये हैं। सहस्ररुद्रयाग जैसा बड़ा यज्ञ हो गया, उसके बाद पण्डित लोग दक्षिणा लेने जाते हैं तो कहते हैं 'यजमान कहीं गये हुए हैं, बाद में ले लेना।' बहुत से पण्डित हम से आकर कहते हैं कि 'महीनाभर हो गया, दक्षिणा का तो कोई जुगाड़ ही नहीं है।' अतः या

तो जैसा विधान है उसके अनुसार दक्षिणा नहीं देते, अथवा उसके भी आगे, दक्षिणा देते ही नहीं हैं। इन यज्ञों को तामस यज्ञ कहते हैं क्योंकि तमोगुणियों के द्वारा किये हुए यज्ञ हैं।

तामस में पहली चीज़ तो विधिहीनता है और दूसरी श्रद्धाविरहितता, कि 'यह कर्म जो हम कर रहे हैं इससे कुछ होता है'। रजोगुणी यजमानों में श्रद्धा तो है, इसलिये जैसा समझाया या बताया गया है वैसा करते हैं। फल की इच्छा है, यह बात दूसरी है, लेकिन हैं वे श्रद्धा वाले। लेकिन तामस तो श्रद्धा-विरहित हैं, कर्म के प्रति उन्हें श्रद्धा ही नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि श्रद्धा-रहित हैं तो करते क्यों हैं? उत्तर है कि लोक-लाज, सामाजिक दबाव या कानूनी मान्यता आदि लौकिक हेतुओं से करते हैं। हिन्दू विवाह न हो तो उत्तराधिकार आदि में हिन्दू नियम लागू नहीं होता इसलिये कई लोग अग्निसाक्षी में विवाह करते हैं। उन्हें विवाह-यज्ञ में श्रद्धा बिलकुल नहीं, इसलिये हमने यहाँ तक सुना है कि होटल वालों ने अग्नि जलाने की अनुमति नहीं दी तो मोमबत्ती जलाकर ही फेरे कर लिये! इसी प्रकार लोग बुरा न कहें या समाज वाले लोभी आदि न कहें इसलिये कई यज्ञ कर लिये जाते हैं जिनमें कर्ता को कोई श्रद्धा नहीं है। यद्यपि इसे भी दम्भार्थ कह सकते हैं तथापि दम्भी दो तरह के होते हैं -एक राजस हैं जो चाहते हैं कि यज्ञ यथाविधि हो, साथ में यह भी चाहते हैं कि सब जानें कि हमने यज्ञ किया। वे श्रद्धा रखते हैं, विधि के प्रति सद्भाव रखते हैं, श्रद्धा से शून्य नहीं हैं। यथाविधि करने से ही धार्मिकता का ख्यापन भी संभव है, अन्यथा -जैसा बताया -मोमबत्ती के फेरे खाने वाले की धार्मिक के रूप में प्रसिद्धि नहीं हो सकती! दूसरे हैं तामस दम्भी जो विधियों के प्रति सर्वथा अश्रद्धालु हैं। उनका दम्भ इतना ही है कि लोकापवाद न हो इसकेलिये खानापूर्ति का यज्ञ कर लेते हैं। अतः बिना श्रद्धा के ही किया यज्ञ तामस है और ऐसे यज्ञ लौकिक हेतुओं से संभव हैं।।१३।।

सातवें श्लोक में आहार, यज्ञ, तप और दान- इस क्रमसे उल्लेख किया था अतः उसी क्रम से भगवान् ने आहार व यज्ञ बताये, अब तप बतायेंगे। तप का सात्त्विकादि भेद बताने से पूर्व उसका शारीरिक आदि भेद बताते हैं अर्थात् यहाँ तप का मतलब क्या है यह समझाकर वह तप सात्त्विक आदि भेद से तीन तरह का कैसे है यह स्पष्ट करेंगे। शारीरिक तप सात्त्विक आदि तीन तरह का हो सकता है, ऐसे ही वाचिक और मानस भी तीनों तरह के हो सकते हैं। लोक में प्रसिद्ध तपस्या की अपेक्षा भगवान् की दृष्टि में तपस्या क्या है यह यहाँ स्पष्ट होता है। क्योंकि तप के बारे में भ्रम अधिक है इसलिये भगवान् ने कृपा कर केवल तपका सात्त्विकादि त्रैविध्य नहीं बताया, उसका स्वरूप भी समझाया। मनु आदि स्मृतिकारों ने शारीर आदि तीन तरह के कर्म माने हैं, उसी रीति से भगवान् तप का विभाजन करते हुए पहले शारीरिक तप बताते हैं-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन व तत्त्ववेत्ताओं का पूजन; शारीरिक शुद्धि; नियमतः धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति; ब्रह्मचर्यका पालन; और प्राणियों को पीडा न देना– यह प्रधानतः शरीर से किया जाने वाला तप है।

प्रायः लोग शरीर से सम्पाद्य तपों में केवल उन को ही प्रधानता देते है जिनमें शरीर सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास इत्यादि कष्ट पाये। उन तपों को भगवान् ने नहीं गिना है, उन सबको भगवान् ने शारीरिक तप कहा ही नहीं है! उस प्रकार के तपों को तामस तपों में (श्लो.५–६) कह चुके हैं। भगवान् ने शारीरिक तप बताया देवपूजन; विष्णु, सूर्य, शंकर आदि देवताओं का पूजन शरीर से करोगे। पूजा के लिये उत्तम फूलों का स्वयं चयन करना चाहिये। उत्तम फूल वे होते हैं जो तुम स्वयं लगाये बगीचे से तोड़कर देवता को चढ़ाओ। बाज़ार से खरीद कर जो फूल चढ़ाये जाते हैं उन्हें हम मध्यम मानते हैं। इसी प्रकार चन्दन भी खुद घिसा जाये। सोलन के महाराजा अपने पूजाघर में किसी को नहीं जाने देते थे। पूजाघर में सफेदी भी खुद करते थे। एक बार पूजाघर के फर्श का कुछ हिस्सा टूट गया था। राज–मिस्त्री बाहर से ही निर्देश करते रहे, मरम्मत उन्होंने स्वयं ही की। जितने कार्य तुम्हारे अपने शरीर से हों उतनी ही श्रेष्ठ पूजा होती है, श्रेष्ठ शारीरिक तप होता है। देवताओं का पूजन करने में, उसके लिये सब इन्तजाम आदि करने में जो तकलीफ होती है वह सब शारीरिक तप है।

द्विजपूजन – ब्राह्मणों का पूजन करना। द्विज मायने जो दो बार जन्मे हैं। एक जन्म तो माता–पिता से हुआ और दूसरा जन्म होता है जब गुरु यज्ञोपवीत संस्कार करके वेद पढ़ाता है। उपनयन संस्कार वेद पढ़ने के लिये किया जाता है क्योंकि बिना उपनयन के वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। उपनयन करके जिसने वेद पढ़ लिया उसको द्विज कहते हैं। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार पहले तो वेद ही पढ़े, फिर चाहे दूसरे विषय पढ़े। मनुस्मृति में यहाँ तक लिखा है कि जो वेद–अध्ययन बिना किये हुए दूसरे विषय पढ़ता है वह यहीं इस जन्म में ही शूद्र हो जाता है! यद्यपि उपनयन त्रैवर्णिक का होने से तीनों द्विज हैं तथापि यहाँ द्विजोत्तम ब्राह्मण के पूजन को कह रहे हैं। वेद जिसके अन्तःकरण में मौजूद है वही वास्तव में द्विज है, केवल यज्ञोपवीत संस्कार होने मात्र से नाममात्र की द्विजता है, वेद ग्रहण करने पर ही वास्तविक द्विजता आती है। ऐसे उत्तम द्विज का पूजन तप है।

गुरुपूजन – माता, पिता, अध्यापक आदि सब गुरु हैं। एक अक्षर भी जिससे सीखा वह गुरु है, उसे आदर ही देना चाहिये, उसके अपमान से पाप लगता है। जिनसे कुछ भी सीखा हो उन सबको हमेशा सम्मान देना गुरुपूजा है। प्रथम गुरु माता है, फिर पिता से सीखते हैं, उसके बाद आचार्यों से सीखते हैं। प्रायः सदाचार माता–पिता से सीखे जाते हैं। ज्ञानकाण्ड–कर्मकाण्ड समेत वेद आचार्य से सीखे जाते हैं। माता, पिता, गुरु– तीनों से समुचित शिक्षा मिलने पर ही ठीक–ठीक ज्ञान, परमात्माका भी ज्ञान हो पाता है। प्रथम तीन वर्षों में जितना बच्चा सीखता है, उतना आगे बीस साल में नहीं सीखता ऐसा आधुनिक मनोवैज्ञानिक बताते हैं। अतः छोटे बच्चों को आचार–प्रशिक्षण में बहुत सावधानी रखना

माता–पिता का दायित्व है। तीन-चार साल के बाद ही वे घर से बाहर निकल कर सीखेंगे किन्तु उससे पूर्व जो संस्कार पड़ गये वे दृढ और स्थायी होंगे। प्राचीन वर्णव्यवस्था में एक तो माता–पिता के आचार लगभग एक-से होते थे और दूसरा ग़लत आचार होने पर सामाजिक बहिष्कार का कठोर दण्ड मिलता था इसलिये बच्चे घर के वातावरण में काफी सदाचार की शिक्षा पा लेते थे। आजकल न माता–पिता के आचार-विचार समान हैं, न दण्डव्यवस्था है तथा स्वतन्त्रता के नामपर दुराचार को बढावा भी है अतः लोगों में आचारभ्रष्टता बहुत ज़्यादा हो गयी है। फिर भी, सिखाने वाले होने से माता- पिता आदि हैं गुरु, इन्हें प्रणाम करना, इनकी सेवा करना आदि इनका पूजन शारीरिक तप है।

प्राज्ञपूजन - जिन्होंने प्रज्ञान पा लिया, परमात्माके विषय में जान लिया वे प्राज्ञ हैं। प्राज्ञों को द्विजों से अलग से इसलिये गिना है कि पूर्व जन्म के पुण्य- पुञ्जों के कारण एकाध दोष या शाप से कोई व्यक्ति वेद–अनधिकारी होकर पैदा हुआ परन्तु उसके बाकी संस्कार ठीक हैं इसलिये उसने परमात्म–ज्ञान प्राप्त कर लिया तो वह भी पूज्य हो जाता है। जैसे विदुर, धर्मव्याध आदि द्विज तो नहीं थे, इसलिये उन्होंने वेदाध्ययन नहीं किया था परन्तु प्राज्ञ हो गये थे, उन्होंने प्रज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऐसे जो प्राज्ञ लोग होते हैं वे भी पूजन के अधिकारी हैं। इसलिये उनका भी पूजन तप होता है।

शौच अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का शौच तप समझना। जल, मिट्टी इत्यादि के द्वारा शरीर इत्यादि की सफाई बाह्य शौच है। जैसे यह बाह्य शौच है वैसे ही अपने अन्दर तरह–तरह के मल हैं। नाक, कान, गले, आँख, पेट, रक्त आदि के सभी मलों की शुद्धि विशेष प्राणायामों और विशेष प्रकार के षट्कर्म इत्यादि करने से होती है। शरीर के अन्दर होने वाले आभ्यन्तर मलों को साफ करना भी शारीरिक तप के अन्तर्गत है। मल स्वभाव से तमोगुण को बढ़ाता है। इतना याद रखना कि मल शरीर के लिये आवश्यक भी है। शरीर पंचमहाभूतों के तमोगुण के कार्य से उत्पन्न हुआ है। अतः तमोगुण का हिस्सा इसका अभिन्न अंग है। अतः यह नहीं सोचना चाहिये कि 'हमने स्नान कर लिया तो शाम को स्नान करने की क्या ज़रूरत है', क्योंकि दिनभर के पसीने इत्यादि के द्वारा शरीर में लगातार मल होता रहता है। इसी प्रकार नाक, कान इत्यादि के अन्दर भी मल हो जाता है तो उसे भी दो–तीन बार शुद्ध करना चाहिये। गृहस्थ के लिये दिन में सामान्यतः दो बार सारे शरीर की शुद्धि कही है। संन्यासी को चूंकि शरीर और ज़्यादा सत्त्वगुणी रखने को कहा है इसलिये उसके लिये गृहस्थ की अपेक्षा चारगुणा ज़्यादा शुद्धि के लिये कहा है। इससे यह निष्कर्ष भी निकला कि यदि गृहस्थ भी आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ना चाहता है तो उसको अपनी शारीरिक शुद्धि को अधिक–अधिक करना पड़ेगा क्योंकि तभी यह सम्भव है। अतः इन्द्रियों का निग्रह और ध्यान आदि बढ़ाने के लिये शौच आवश्यक है। इस शौच में मन की शुद्धि को नहीं गिन रहे क्योंकि आगे मन और इन्द्रियों की तपस्या अलग से बतायेंगे। यह हमेशा याद रखना चाहिये कि शरीर और मन साथ–साथ चलते हैं। अतः केवल

शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि नहीं होगी परन्तु शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि में मदद मिलेगी। ठीक इसी प्रकार से मन की शुद्धि स्थिर नहीं रह सकती यदि शरीर में अशुद्धि है। यहाँ शारीरिक तप को कहना है अतः शारीरिक शुद्धि ही प्रधान है और वह बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार की होना आवश्यक है।

'आर्जवम्'- आर्जव का प्रसिद्ध मतलब है जो मन से सोचो, जो वाणी से कहो और जो शरीर से करो उस सबमें एकरूपता। मन में कुछ है, वाणी से कुछ और कह रहे हो और शरीर से कुछ अन्य ही कर रहे हो तो फिर शारीरिक तपस्या नहीं होगी। शारीर तप का प्रसंग होने से आनंदगिरि स्वामी ने कहा है कि विहित हमेशा करना और निषिद्ध हमेशा छोड़ना – इस आचार की एकरूपता को तप कह रहे हैं। कभी धार्मिक क्रिया की, कभी नहीं की, कभी दुष्कर्म से स्वयं को रोक लिया, कभी नहीं रोका- यों एकरूपता न रखी तो शारीरिक तप सम्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य में शरीर ही प्रधान है। आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य का विधान किया गया है- स्मरणं, कीर्तनं, केलिः, प्रेक्षणं, गुह्यभाषणं, संकल्पः, अध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृतिरेव च- ये आठ तरह के मैथुन हैं जिनका त्याग ब्रह्मचर्य है। इनमें क्रियानिर्वृति शारीरिक तप स्पष्टतः हुआ। स्मरण आदि मानसिक हैं और उनसे निवृत्ति भी मानसिक तप में ही आयेगी परन्तु मन इत्यादि में विकार होने पर शरीर में विकार अवश्य ही होता है। अतः स्मरणादि छोड़े बिना शरीर-निर्वर्त्य तप पूरी तरह से सम्भव नहीं। इसलिये शारीरिक तप का प्रसंग होने से प्रधान रूप से यहाँ शारीरिक ब्रह्मचर्य ही लेना है किन्तु सारे ही ब्रह्मचर्य अपेक्षित होते हैं क्योंकि मन और इन्द्रियाँ साथ ही रहेंगे। जो मन बार-बार सोचेगा वह अवश्य ही शरीर के द्वारा भी निष्पन्न होगा।

अहिंसा – किसी के प्रति हिंसा की भावना न होना अहिंसा का मुख्य अर्थ है परन्तु शारीरिक हिंसा न करना यहाँ तप कही गयी है। मारपीट करना या प्राणी को जान से मार देना आदि शारीरिक हिंसा है। शारीरिक तप में शारीरिक अहिंसा ही प्रधान है परन्तु इसके उचित निर्वाह केलिये मन-वाणी की भी अहिंसा अपेक्षित है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिये भाष्यकारने शारीर-शब्द की व्याख्या की 'शरीरप्रधानैः सर्वैरेव कार्यकरणैः कर्त्रादिभिः साध्यम्'; 'शारीर' अर्थात् शरीर से होने वाला है किन्तु भाष्यकार कहते हैं कि अकले शरीर कुछ नहीं करता। उसे इन्द्रियों का, कर्ता (विज्ञानमय) का भी सहयोग चाहिये। ऐसे ही संस्कार आदि का सहयोग चाहिये। इसलिये जिनमें प्रधानता शरीर की है उन्हें भगवान् ने शारीर कहा, इंन्द्रिय-मन आदि की व्यावृत्ति के लिये नहीं। कर्म होगा तो सबके द्वारा ही क्योंकि शरीर से जो भी क्रिया होती है, आगे (१८.१५) चलकर भगवान् उसमें पाँच हेतु कहेंगे 'पंचैते तस्य हेतवः'। अधिष्ठान शरीर भी कारण पड़ेगा, जीव भी कारण पड़ेगा, अलग-अलग इन्द्रियाँ भी कारण पड़ेंगी। केवल एक से काम नहीं होगा! इन सबके साथ 'दैवं चैवात्रपञ्चमं' तुम जो कर्म करने जा रहे हो उसके अन्दर परमात्मा ने जो तुम्हारे द्वारा होना निश्चित किया है वह दैव भी कारण है। अतः सारा प्रयत्न करने पर भी कुछ कार्य नहीं हो पाते क्योंकि दैव

का योग नहीं है। विविध चेष्टायें भी कारण पड़ती हैं। प्रायः लोग समझते हैं कि कर्म में एक ही कारण है। प्रारब्धवादी कहते हैं कि तुम कुछ नहीं कर सकते, केवल दैव ही कारण है। पुरुषार्थवादी कहते हैं कि केवल कर्त्ता ही कारण है। परन्तु भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि पाँचों ही कारण हैं। फिर जीव को ही प्रधान कारण क्यों मानते हैं? दैव को बनाने वाले पूर्व कर्म हैं। तुम्हारे जो पहले किये हुए कर्म हैं वे फलोन्मुख हैं, इसलिये बोया तो तुम्हींने है और जो बोया है वह तुम्हें काटना ही पड़ेगा। अगर तुम आगे नहीं बोओगे तो भविष्य में नहीं भोगना पड़ेगा। पहले जो तुमने पुरुषार्थ के द्वारा सम्पन्न किया है वही आज प्रारब्ध है। वे कर्म जब फलोन्मुख हो गये तब तुम प्रतिरोध नहीं कर सकते, वे भोगने ही पड़ेंगे। जैसे लोक में चलाने वाले को ही प्रधान मानते है क्योंकि बैल, गाड़ी आदि सब चीज़ों को वही एकत्रित करता है। इसी प्रकार से जीव ही अपने कर्म के लिये प्रधान रूपसे जिम्मेदार कहा जाता है। परन्तु अन्यों की अपेक्षा तो उसको है ही। इसी प्रकार से शरीर-निर्वर्त्य तप में बाकी सब भी अपेक्षित हैं। फिर भी प्राधान्य के कारण उसे शारीर कहा।।१४।।

अब वाचिक तप कहते हैं–

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाध्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

किसी को दुःख न दे, प्रमाण पर आधारित हो, सुनने में अच्छा लगे व परिणाम में हितकर हो ऐसा वाक्य बोलना वाङ्मय तप है। यथाविधि वेद की अवृत्ति करना भी वाङ्मय तप कहा जाता है।

वाणी का तप क्या है? वाणी बोलने का काम करती है। बोलने में किन चीज़ों का ध्यान रखना चाहिये? पहली है अनुद्वेगकरता। ऐसी कोई वाणी नहीं बोलनी चाहिये जो सुनने वाले में उद्वेग आये। उद्वेग तब आता है जब किसी को दुःख होता है। दुःख होने पर ही उद्वेग होता है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'अनुद्वेगकरम् अदुःखकरं' दूसरे को दुःखी करने वाली वाणी नहीं होनी चाहिये। अनुद्वेगकर का तात्पर्य कुछ आचार्यों ने यह भी बताया है कि बोलने के बाद स्वयं अपने अन्दर उद्वेग न हो। कई बार मनुष्य ऐसी बात कह देता है जो दूसरे को दुःख देती है। सामने वाला यदि शान्त व्यक्ति है तो उसे उद्वेग नहीं भी होता क्योंकि शान्त व्यक्ति जानेगा कि 'मेरे अपने कर्म ही इस समय गाली सुनने के हैं इसलिये सुन रहा हूँ'। उसे गाली सुनकर उद्वेग नहीं होता, किन्तु दो घण्टे बाद जब गाली देने वाले का मन शान्त होता है तब वह सोचता है कि 'मैंने वैसा क्यों कह दिया? नहीं कहता तो अच्छा था' ऐसा उसे स्वयं उद्वेग होता है। अतः सुनने वाले को भी उद्वेग न करे और बाद में अपने को भी उद्वेग न करे ऐसा वचन बोलना तप है। वर्तमान युग में समझ लो कि जिसको बोलने के बाद तुमको अफसोस न जताना पड़े, माफ़ी न माँगनी पड़े, वह अनुद्वेगकर होगा अर्थात् जो प्रधानरूप से सुनने वाले को दुःखी करने वाला वाक्य न हो और स्वयं अपने में ग्लानि पैदा न करे।

वाङ्मय तप में दूसरी विशेषता वाक्य होना चाहिये। स्पष्ट करके, सारी अपेक्षित बातों के साथ कहो। कई बार इसकी तरफ ध्यान नहीं रहता और हम मानकर चलते हैं 'इतना तो श्रोता स्वयं समझ लेगा', पर इस तरह बोलने से तप नहीं होगा। अतः बोलने से पहले अच्छी तरह से सोच लेना चाहिये कि मैं क्या-क्या बात कहना चाहता हूँ और उसके लिये कौन से शब्द उपयुक्त होंगे जिससे सामने वाला ठीक वैसा ही समझे जैसा मैं कहना चाहता हूँ। फिर, वह सत्य होना चाहिये; जैसा मैं ने देखा और समझा है वैसा ही भाव प्रकट करने वाला वाक्य होना चाहिये। मैंने समझा कुछ है लेकिन इस ढंग से बोलूँ कि सामने वाला कुछ और समझे- इस भाव से जो बोला जायेगा वह असत्य है। इसलिये जैसा मैंने समझा है वैसा ही दूसरा समझे ऐसा भाव मन में रखकर वाक्य बनाना चाहिये। इतना विचार करेंगे तो बोलना ही कम हो जायेगा। यह अच्छा है क्योंकि कम बोलने से कभी कोई नुक्सान नहीं होता। सबसे ज़्यादा झगड़े बोलने से ही होते हैं! अतः थोड़ा बोलने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन जो बोलो वह सत्य हो। इतना ही नहीं, प्रिय भी हो। वाक्य में प्रियता होनी चाहिये कि सुनने वाले को प्रिय लगे। अप्रियता नहीं होनी चाहिये। केवल प्रिय ही न हो, हितकारी भी हो, दूसरे को फायदा पहुँचाने वाली बात हो। सत्य है, प्रिय है इतने मात्र से नहीं बोलना चाहिये। किसी से कहते हो 'तुम्हारे बारे में अमुक यह कह रहा था' तो उसे प्रसन्नता होती है कि इसने हमें बता दिया; बात यथार्थ भी हो सकती है, वाक्य भी पूरा बोलते हो अतः अनुद्वेगकर, वाक्य, सत्य और प्रिय तो हुआ लेकिन तुमने जो उसे सुनी हुई निन्दा सुनाई उसके कारण उस आदमी में क्रोध आदि विकार ही आयेंगे जिससे अहित ही होगा इसलिये हितकर न होने से वह तप नहीं होगा। भाष्यकार कहते हैं कि प्रिय और हित केवल दृष्ट ही न हो, अदृष्ट भी हो। दृष्ट प्रियता व दृष्ट हित करने वाला भी यदि अदृष्ट अहित का हेतु बने तो वैसा बोलना तप नहीं है। 'अफसर मेरा परिचित है, उसे धन देकर तुम्हारा काम करा सकता हूँ'- ऐसी किसी से सही बात कहो। तो सत्य, प्रिय व दृष्ट हित की होने पर भी अदृष्ट अहित की है क्योंकि घूस देना दोष का काम है अतः ऐसा बोलना तप नहीं है। आधुनिक नेता अनेक बातें दृष्ट हित किन्तु अदृष्ट अहित की करते हैं जिससे वाङ्मय तप नहीं होता। सभी वर्ण वाले पौरोहित्य करें - ऐसा नेता कहते हैं दृष्ट हित को सामने रखकर जबकि खुद भी जानते हैं कि यह अदृष्ट अहित का कार्य है इसलिये स्वयं चुनाव जीतने आदि के लिये अनुष्ठान केवल ब्राह्मणों से कराते हैं!

भगवान् ने चकार से इन सब विशेषणों का समुच्चय होने पर तप होगा यह बता दिया अर्थात् केवल अनुद्वेगकर वाक्य बोलने से तप नहीं होगा, केवल सत्य, केवल प्रिय इत्यादि बोलने से तप नहीं होगा, सभी विशेषणों से युक्त वाक्य बोलने का नियम निभे तभी तप होगा। जिस वाक्य को बोलो वह वाक्य ऐसा होना चाहिये जिसमें अनुद्वेगकरता प्रियता और हितता सब हों। भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि इनमें से दो या तीन विशेषण होने मात्र से उसे वाणी का तप नहीं समझ लेना चाहिये। यह वाणी का तप ध्यान में रखना चाहिये क्योंकि

यदि अनुद्वेगकर, प्रिय और हितकर नहीं है तो ऐसा सत्य वचन भी वाङ्मय (वाणी का) तप नहीं है। इसी प्रकार यदि प्रिय वाक्य भी है परन्तु सत्य और हितकारी नहीं है तो भी वह तप नहीं हो जायेगा। इसी प्रकार चाहे जितनी हितकारी बात है परन्तु यदि वह उद्वेगकर अथवा अप्रिय अथवा असत्य है तब भी वह वाणी का तप नहीं होगा। केवल प्रिय बोलने से अथवा केवल हित की बात कहने से वह तप नहीं होगा। यह सामान्य वाक्तप हुआ। यदि विचार करके देखो तो इन सब बातों को मिलाकर बोलोगे तो सिवाय अध्यात्मवार्ता के और कुछ नहीं करोगे! इसलिये आचार्य कहते हैं कि वाङ्मय तप का उदाहरण क्या है 'यथा शान्तो भव वत्स! स्वाध्यायं योगं च अनुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यति'। उदाहरण यह वाक्य दिया 'शिष्य! शांत बनो, स्वाध्याय व योग का अनुष्ठान करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा'। यह सत्य भी है, उद्वेगकारी भी नहीं है, प्रिय और हितकारी भी है। ऐसा वाक्य ही बोलना चाहिये। जिस काल में बोलते हो उस काल में जो उसका सुखद असर होता है वह प्रिय है और कालान्तर में जो उसका श्रेयस्कर असर होता है वह हित है। तीनों लोकों में कहीं भी चले जाओ, अध्यात्मशास्त्र के सिवाय दूसरी सारी बातों में इनमें से कोई-न-कोई विशेषण कम ही रहेगा। जैसे, यदि तुम कहते हो 'इससे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा' तो प्रिय व सत्य तो है परन्तु क्या सचमुच में स्वर्ग मिलना हितकारी है? भगवान् कह आये हैं 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'; अतः सचमुच में स्वर्ग आदि की प्राप्ति हितकारी नहीं है। इसी प्रकार से अन्य सभी बातों में कमी रह ही जायेगी। इसलिये अध्यात्म वाक्य को ही वाङ्मय तप कह सकते हैं।

यदि ऐसा बोलने के लिये व्यक्ति हमेशा न मिले तो कैसे वाङ्मय तप करें? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा 'स्वाध्यायाभ्यसनम्'। अध्यात्मविद्या सुनने वाला न मिले तो स्वयं ग्रन्थाभ्यास करे। उसके द्वारा भी अध्यात्मविषयक वाणी का व्यवहार कर रहे हो अतः तप है। वाङ्मय तप करना हो तो अन्य वार्ताओं से दूर रहना ही पड़ेगा। अध्यात्मशास्त्र में, योगवासिष्ठ आदि में अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय और हितकर वाक्य ही मिलते हैं। 'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव' कहकर स्पष्ट कर दिया कि जहाँ साक्षात् सत्संग आदि का श्रवण-श्रावण नहीं हो पाता वहाँ स्वाध्याय का अभ्यास करो। स्वाध्याय में प्रधान वेद ही है। मनु महाराज कहते हैं 'वेदमेव सदाऽभ्यसेत्' कि वेद का ही सदा अभ्यास करें, यह द्विजों के लिये श्रेष्ठ है। वेदाभ्यास विप्रों के लिये प्रथम अर्थात् सबसे उत्तम तप है। उसकी सर्वत्र प्रशंसा है। द्विज अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेद का स्वाध्याय करता है तो परम तपस्वी है। स्वाध्याय-शब्द का अर्थ जप भी किया है। मन्त्र का जप भी स्वाध्याय है। इसलिये जो स्तोत्र आदि का भी पाठ करते हैं वह स्वाध्याय हो जाता है। स्तोत्रों के अन्दर भी अध्यात्म विचार ही आता है। अधिकारी वेदाध्ययन कर सकें तो सबसे श्रेष्ठ है अन्यथा, या वेदाधिकार न हो तो जो वेदमूलक गीता आदि ग्रन्थ हैं अथवा स्तोत्र ग्रन्थ हैं उनका अभ्यास वाणी का तप है।।१५।।

अब मन का तप बताते हैं–

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मनको स्वच्छ करना, सभी का हितैषी होना, वाणी को प्रेरित करने वाले मन पर संयम रखना, मन का निरोध करना तथा दूसरों से व्यवहार करने में माया (ठगी) न करना- इन्हें मानस तप कहते हैं।

जिसे मन से सम्पन्न किया जाये वह मानस तप है। पहले भी कहा था, शरीर से या वाणी से जो सम्पन्न किया जायेगा उसमें भी मन का उपयोग तो रहेगा ही क्योंकि बिना मन के सम्बन्ध के न ज्ञानेन्द्रियों की और न कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति हो सकती है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सभी मन के ही अधीन चलती हैं। जो भी शारीरिक और वाचिक क्रिया होगी उसमें मन तो कार्यकारी रहेगा ही। अतः यहाँ मानस का मतलब है जो मनोमात्र से निर्वर्त्य है, जिसे मन से ही सम्पन्न किया जाता है। अन्य तपों में मन भी प्रयुक्त है, वाणी या शरीर भी प्रयुक्त हैं। मानस तप में तो मन ही प्रधान है, अन्यों का इसमें प्रवेश है ही नहीं। अतः मानस का अर्थ है जो मनोमात्र से सम्पन्न होता है। इसमें सबसे पहले मनःप्रसाद है। मन की प्रसन्नता होनी चाहिये। संस्कृत में प्रसन्नता का अर्थ होता है जहाँ सारे मल दूर हो जायें। जैसे जब बरसात का मौसम समाप्त हो जाता है तब तालाब बिलकुल साफ हो जाते हैं। तब कहते हैं 'सरः प्रसीदति'। इसी प्रकार मन की प्रसन्नता का मतलब है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जितने मन के दोष हैं वे सब बैठ जायें। इन के कारण ही मन हमेशा वृत्ति बनाता रहता है, कभी वृत्तिहीन नहीं हो पाता। काम, क्रोध आदि विकार उठते ही रहते हैं इसलिये मन के अन्दर स्थिरता नहीं होती। मन में इन सारी वृत्तियों का न उठना और ये सारे दोष मन में न होना मन की प्रसन्नता है। वृत्ति उठने का तो मतलब हुआ कि मन के अन्दर प्रकट भान है। वृत्ति न उठने पर भी मल मन में बने रहते हैं। जैसे क्रोध होता है तो कामना का भान नहीं रहता, क्रोध का ही भान रहता है। इसी प्रकार जब लोभ होता है तब काम-क्रोध आदि का भान नहीं रहता, परन्तु वे मल दूर नहीं हुए हैं। अन्तःकरण में उनके संस्कार मौजूद हैं। किसी एक काल में एक जगता है, दूसरे काल में दूसरा उद्‌बुद्ध होता है। अतः वे सारे दोष मन में हैं, केवल उस समय उनकी वृत्ति नहीं बन रही है अर्थात् उस समय उनका भान नहीं हो रहा है। मन की प्रसन्नता का मतलब है कि ये मल हट जायें, मन इनमें से कोई भी वृत्ति न बनाते हुए भी जाग्रत् रह सके। ऐसा मन प्रसन्न है। मन का स्वरूप ही है कुछ-न-कुछ संकल्प करना, बिना संकल्प किये हुए मन की सत्ता ही नहीं रहेगी। संकल्प करता अंतःकरण ही मन है। जब काम, क्रोध आदि से संकल्प नहीं हो तब मन के द्वारा परमात्मा के विषय में संकल्प होगा। शास्त्रीय भाषा में, अनात्मप्रत्यय का अभाव हो तभी आत्मप्रत्यय मौजूद हो पायेगा। परमात्म-विषयक संकल्प होने से मन की मौजूदगी सिद्ध होती है। काम, क्रोधादि का संकल्प नहीं होने से मन में मल नहीं है यह पता चलता है। वह परमात्म-विषयक संकल्प भी क्षणिक नहीं होता, क्योंकि मल स्वरूप से ही दूर हो गये हैं इसलिये मन के विचलन का हेतु नहीं रह गया है। इस दशा में मन में बिलकुल स्वच्छता है और परमात्म-वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्ति नहीं होने से सर्वथा शान्ति है। हमारा स्वरूप आत्मा है इसलिये परमात्मा-सम्बन्धी वृत्ति में तो हमें शान्ति

मिलती है। अनात्मा हमारा स्वरूप नहीं है इसलिये अनात्मा की वृत्ति में अशान्ति है। अनात्मवृत्ति से कभी पूरी तरह शान्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार, मन मौजूद है परन्तु परमात्मा के विषय में संकल्प करता है, अनात्मा के विषय में नहीं करता, यह मनःप्रसाद है।

इतना समझ लेना चाहिये कि प्रारम्भ में जब मन को शान्त करने जा रहे हो तब काम, क्रोधादि विकारों का मल कैसे दूर किया जाये, इसके दो साधन हैं। एक साधन विवेक है। आत्मा और अनात्मा का विवेक करके 'अनात्मा से मेरा वास्तविक सम्बन्ध है नहीं ' इसके बारे में बार-बार दृढ़ प्रत्यय- प्रवाह करना एक तरीका है। दूसरा है कि मन का सारा भाव परमात्मा में केन्द्रित कर देना। इसलिये रोज़ बोलते हैं - 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देव देव।' परमात्मा ही विद्या है इसलिये केवल परमात्मा को जानने की इच्छा करनी है क्योंकि वही विद्यारूप है। वही वित्तरूप है। यह खतरनाक प्रार्थना है! इसमें यह नहीं कहा कि आपसे धन मिलेगा बल्कि आप ही धन हो अर्थात् आप मिल गये तो धन मिल गया। धन- विषयक लोभ रह ही नहीं सकता क्योंकि जानने या पाने की इच्छा परमात्ममात्र की है। इसी प्रकार माता-पिता से मोह होता है। कह दिया कि आप ही माता-पिता हो अर्थात् आपको छोड़कर और कोई मोह का विषय भी नहीं है। इस प्रकार से जितने मन के विकार हैं उनको विवेक के द्वारा धीरे-धीरे छोड़कर परमात्मा पर केन्द्रित कर देने से मन प्रसन्न, स्वच्छ हो जाता है। इसी का अभ्यास कराने के लिये पुराने ज़माने में यह पद्धति थी कि तुमको जो पहनना हो वह पहले भगवान् को अर्पण करो, फिर उनका प्रसाद लेकर ग्रहण करो कि भगवान् का प्रसाद है इसलिये हम पहन रहे हैं। इसी प्रकार जो खाना है वह पहले भगवान् को चढ़ाओ। बताया है कि अमावस्या के दिन, जितना भी महीने भर में कमाया है वह सब भगवती को चढ़ा दो, फिर उसमें से तृतीय अंश अपने लिये ले लो। भगवती को देने के बाद, वह हमें प्रतिग्रह देती है- इस रूप से ग्रहण करो। इससे भगवती प्रसन्न होती है। इस प्रकार से सब चीज़ों को परमात्म- सम्बन्धी कर सको इसलिये यह शिक्षा दी जाती है। हर हालत में, अनात्म-सम्बन्धी सब वृत्तियों को छोड़ना है, आत्म- सम्बन्धी वृत्ति बनानी है। जितना-जितना अनात्म पदार्थों को विवेक करके अपने से भिन्न करोगे उतनी ही मन के अन्दर स्वच्छता आयेगी और जितनी भावनायें परमात्मा से अतिरिक्त दूसरी तरफ नहीं जायेंगी उतनी ही शान्ति आयेगी। यह मनःप्रसाद है।

'सौम्यत्व'। मन की प्रसन्नता ऐसी चीज़ है जो मनुष्य के चेहरे और शरीर पर भी प्रकट हो जाती है। उपनिषदों में कहा है कि कुछ भी हो जाये, तत्त्वज्ञ के चेहरे पर मलिनता नहीं आती। उसका कारण यह है कि अंतःकरण की अनात्माकार वृत्ति से ही मलिनता आती है। यदि अंतःकरण की वृत्ति होगी कि 'मैंने ग़लत काम किया है' तो मुख के ऊपर उसका प्रभाव आ जायेगा। जब वृत्ति यह बनती है कि 'बहुत अच्छा हुआ', तो मुख के ऊपर भी एक शान्ति और प्रसन्नता आ जाती है। शिष्य को उपदेश देते हैं तो कहते हैं - 'हे सोम्य!' इस का

तात्पर्य है कि इस उपदेश को तभी दिया जा सकता है जब उसके अंतःकरण में इतनी शान्ति आ गई है कि वह उसके मुख के ऊपर झलकती है। कोई अत्यन्त कष्ट में पड़ा हुआ दुःख के अन्दर पीडित है, उसे अगर तुम तत्त्व का उपदेश दोगे तो कभी ग्रहण ही नहीं होगा। अतः तत्त्व का उपदेश तभी करना चाहिये कि जब श्रोता की प्रसन्नता चेहरे पर आ जाये। इसीको स्पष्ट करने के लिये हर जगह गुरु शिष्य को सोम्य कहते हैं। इसलिये मनःप्रसाद के बाद ही सौम्यता कही है।

मौन– अर्थात् शब्द का प्रयोग नहीं करना अथवा वाणी का संयम। वाणी का संयम भी मनःसंयम पूर्वक होता है इसलिये मनःसंयम को मौन शब्द से कह दिया जाता है। मौन का सीधा अर्थ तो हुआ वाणी का नियन्त्रण करना। फिर इसे यहाँ कैसे गिन दिया, क्योंकि उसको तो वाचिक में गिनना चाहिये था? वाणी का संयम मनःसंयम पूर्वक होता है। कई जगह कार्य के नाम से कारण को कह दिया जाता है, नाम तो कार्य का लिया जाता है लेकिन उससे कारण का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ मौन शब्द से मन के संयम को लेना है। शब्दार्थ तो वही रहेगा परन्तु वाक्- संयम का कारण मन का संयम है। इसलिये वाक्- संयम से मन के संयम को समझ लेना है। किसी–किसी आचार्य ने यह भी कहा है कि मुनि के भाव को मौन कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में भाष्यकार ने मौन का यही अर्थ किया है। मनन करने वाले का भाव मौन है। उसको भी यहाँ समझा जा सकता है। परन्तु मुनि के भाव का सूक्ष्म अर्थ है कि श्रवण के बाद मनन करना और यहाँ तप का प्रसंग है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने श्रवण के बाद ज्ञान होकर उसी की पुष्टि के लिये जो प्रयत्न है, केवल उस का ग्रहण यहाँ नहीं किया है। आगे यहाँ तीनों तप सात्त्विक, राजस और तामस भेद से कहे जायेंगे, मुनिभाव जो मौन है वह सात्त्विक तप तो संकेतित हो जायेगा लेकिन राजस और तामस तप वाले के लिये मन की वह स्थिति संभव नहीं। मन का संयम मात्र तो राक्षसों में भी देखा जाता है। वे लोग भी मन का बड़ा संयम करते हैं। रामायण में आता है कि मेघनाद किसी अनुष्ठान के लिये बैठा कि वह अनुष्ठान सफल हो जाये तो राम जी को मार सके। विभीषण को इसका पता लग गया। उसने अंगद से कहा 'यह अनुष्ठान सफल नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका अनुष्ठान सफल हो गया तो राम जी की जीत नहीं होनी है।' कहाँ बैठकर अनुष्ठान कर रहा है यह भी बता दिया। अंगद ने विभीषण की प्रेरणा से सारे वानरों से कहा 'किसी भी तरह वहाँ जाकर उसे विक्षेप पैदा करो।' बन्दरों ने वहाँ जाकर उसके अनुष्ठान में विक्षेप करना शुरू किया, कोई उसके बाल खींचता था, कोई और किसी प्रकार से विघ्न डालता था। लेकिन उसका संयम इतना तीव्र था कि उसमें बिलकुल विकार नहीं आया! अंत में उसकी पत्नी को ले आये और उसके सामने ही उसे तरह–तरह से परेशान करने लगे। पत्नी की वह स्थिति देखकर मेघनाद सहन नहीं कर सका, उसे गुस्सा आ गया, जो अनुष्ठान कर रहा था वह पूरा नहीं हुआ, उससे पूर्व ही वह बंदरों को भगाने लग गया। मेघनाद भी समझ गया कि राम जी को नहीं मार पायेगा। इसलिये इतना संयम

तो राक्षस भी कर लेते हैं, परन्तु उन्हें परमात्म-विषयक कोई ज्ञान नहीं होता। मनन तो उसके बाद की बात रही। चूंकि रजोगुणी- तमोगुणी मनःसंयम को भी यहाँ लेना है इसलिये भगवान् भाष्यकार ने यहाँ मौन का वह अर्थ नहीं किया है जो बृहदारण्यक उपनिषद् में स्वयं भाष्यकार ने किया है। मन की प्रसन्नता अथवा सौम्यता मन का संयम है।

आत्मविनिग्रह – मन का निरोध करना। चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहा गया है। मौन शब्द के प्रयोग से वाक्संयम करने वाला जो मन का संयम है वही कहा गया है। अन्य सारी वृत्तियों का भी निरोध आत्मविनिग्रह से कहा है। सामान्य रूप से मन का संयम आत्मविनिग्रह से कथित है। यहाँ आत्मविनिग्रह कहा है। मन को कौन रोकेगा? मन को रोकने वाला अहं ही है। है अहं भी अंतःकरण की वृत्ति और मन भी अंतःकरण की वृत्ति है, परन्तु मन का निरोध अहं करेगा और चूँकि अहं में ही आत्मा सीधे प्रतिबिम्बित होता है, अहं का पता लगाने पर आत्मा का पता लगता है, इसलिये आत्मा अर्थात् अहं में प्रतिबिम्बित हुआ जो जीव है वही मन का विनिग्रह करेगा। चित्तवृत्ति को रोकना योग है। लेकिन भगवान् ने केवल निरोध अर्थात् निग्रह का प्रयोग न करके 'विनिग्रह' कहा है। एक तो मन का निरोध प्राणायाम आदि से भी हो जाता है क्योंकि प्राण और मन समनियत हैं। मन में वृत्ति बनेगी तो प्राण भी ज़रूर वृत्ति बनायेगा और प्राण वृत्ति बनायेगा तो मन भी वृत्ति बनायेगा। इसलिये इसे समझाने के लिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि जैसे काँच के अगले भाग में मुख दीखता है, उसके पिछले भाग में मुख नहीं दीखता परन्तु दोनों मिलकर काँच है। यदि पिछले वाले हिस्से को काट कर निकाल दो तो अगले भाग में भी मुख नहीं दीखेगा। इसी प्रकार चेतन मन की वृत्ति में दीखता है, प्राण की वृत्ति में दीखता नहीं, प्राण में चेतनता की (ज्ञान की) प्रतीति नहीं होती। परन्तु प्राण और मन चीज़ एक ही है। मन अगला हिस्सा है और प्राण पिछला हिस्सा है। पिछले हिस्से प्राण को हिलाओगे तो मन हिलेगा और अगले हिस्से मन को हिलाओगे तो प्राण हिलेगा। इसलिये मन प्राण सम-नियत हैं। अतः यदि तुम प्राण का निरोध कर लेते हो, प्राण को नहीं हिलने देते हो तो मन का निग्रह हो जाता है। उससे भी समाधि का अभ्यास हो जाता है। परन्तु वह यहाँ मानस तप में नहीं आयेगा क्योंकि वहाँ प्राण के द्वारा मन को दबाया है। जैसे ही प्राण निरोध को हटाओगे, वैसे ही मन फिर अपने ढंग से काम करने लगेगा। इसलिये निग्रह न कहकर 'विनिग्रह' कहा। प्राणायाम आदि की सहायता से नहीं वरन् विचार- पूर्वक जो निग्रह किया जाता है, वह मानस तप है। अहंकार आत्मविनिग्रह करेगा। बुद्धि के द्वारा विचार और विवेक करेगा और उसके द्वारा मन का निग्रह या निरोध करेगा। यह सब तप तो अपने आप में एकांत में भी करना है।

जब दूसरों से व्यवहार करना है तो भावसंशुद्धि चाहिये। दूसरे से व्यवहार करने में किसी भी प्रकार की कुटिलता का अभाव होना भावसंशुद्धि है। क्योंकि मन प्रायः यह करता है कि व्यवहार काल में सारी स्थिति प्रकट नहीं करता। शिष्टता आदिके चलते भी कई बार

मन में खीज होने पर भी व्यवहार प्रसन्नता का ही करते हैं। इस प्रकार का व्यवहार मानस तप नहीं है। भावसंशुद्धि में तो जैसा मन का भाव है वैसा ही बाहर में प्रकट करना है। यह मानस तपस्या है क्योंकि जैसे ही भीतरी भाव प्रकट करने जाते हो, अन्दर में खलबलाहट मचती है कि 'यह जिलाधीश है, ऐसा कहेंगे तो यह परेशान करेगा'। 'परेशान करेगा तो मैं सहन करूँगा' यह तप है। वाणी से सत्य बोलना वाक्तप में आ जायेगा। असत्य में प्रेरक मन की अशुद्धि को दूर करना भावसंशुद्धिरूप मानस तप है। दूसरे के साथ व्यवहारकाल में भाव को छिपाने की वृत्ति का न होने देना भावसंशुद्धि है। 'इति एतत्' इतना जो बताया है वह मानस तप है। इस प्रकार कायिक वाचिक और मानसिक तीनों तपों का स्वरूप बता दिया।।१६।।

अब तीनों ही तपों का सात्त्विक स्वरूप बताते हैं-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फलेच्छा-रहित एवं सिद्धि-असिद्धि से निर्विकार रहने वाले नरों द्वारा विषेश श्रद्धा से अनुष्ठित पूर्वोक्त तीनों तरह के तप को शिष्ट लोग सात्त्विक कहते हैं।

चाहे सात्त्विक हो, राजस या तामस हो, तप करने वाले के अन्दर तप के प्रति अत्यंत श्रद्धा होनी चाहिये। तप में श्रद्धा आवश्यक है। सात्त्विक तप वाले की श्रद्धा यह है कि इसके द्वारा परमात्मा प्रसन्न होगा। रजोगुणी के अन्दर यह श्रद्धा है कि इसके द्वारा मुझे सम्मान व सत्कार मिलेगा अथवा मुझे लोग बड़ा अच्छा समझेंगे। यदि यह श्रद्धा उस तप के प्रति है तो वह राजस तप होगा अर्थात् वह परमात्मा की प्रसन्नता के लिये नहीं है, इस लोक या परलोक में किसी फल की प्राप्ति कराएगा। तामस तप वाले को यह प्रकृष्ट श्रद्धा है कि 'मैं इस तप से सामने वाले को उखाड़ फैंकूँगा'। यह श्रद्धा जिसकी होगी वही वैसा कठोर तप करेगा। इस प्रकार सात्त्विक तप करने वाले की श्रद्धा है कि इसके द्वारा परमात्मा प्रसन्न होगा, राजस की है कि इसके द्वारा मुझे कुछ फल मिलेगा और तामस की है कि इस के द्वारा दूसरे को कष्ट मिलेगा। परन्तु तीनों के अन्दर श्रद्धा सामान्य चीज़ है। अतः, तप के द्वारा यह प्राप्त होगा- ऐसी जिसकी श्रद्धा ही नहीं होगी, वह कभी भी ठीक प्रकार से तप कर ही नहीं सकेगा। इसलिये भगवान् ने कहा 'श्रद्धाया परया', परम श्रद्धा से जो तप किया गया है वह तीन प्रकार है।

तप कौन करेगा? 'नरैः' तप के लिये मनुष्यमात्र का अधिकार है अर्थात् तप का अधिकार सब को है। किंतु यदि धर्मविरोधी उद्देश्यसे, दैवी सम्पत्ति वालों को दुःख देने के लिसे कोई तप करे तो उसे दण्डित भी किया जाता है। तप चाहे सात्त्विक, रजोगुणी या तमोगुणी हो, नर या मनुष्यमात्र को तप का अधिकार है। अगर वह तप दुष्ट प्रवृत्ति से करता है तो उसे रोकना भी ज़रूरी है। लोक में भी कोई धन कमाने के लिये चोरी करता है, तो

उसे दण्ड दिया ही जाता है। चोरी करना उसका धन्धा है, इसलिये उसे दण्ड नहीं दें, ऐसा नहीं। क्योंकि जिसकी चोरी करता है उसे दुःख होता है इसलिये उसे दण्ड देना ज़रूरी है। ऐसे ही बुरे उद्देश्यसे किया तप भी दण्डनीय है। सात्त्विक तप वे कर सकते हैं जो युक्त हैं अर्थात् जिन्होंने अपने अन्तःकरण को प्राणायाम आदि के द्वारा और परमात्मा के चिंतन से एकाग्र कर लिया है इसलिये उनकी फल की आकांक्षा निवृत्त हो गई है। परमात्मा को समझने पर यह पता लग जाता है कि एकमात्र परमात्मा ही है, बाकी सब नहीं है। प्रतीति होती है कि सचमुच में नहीं है। अनुभव में तो रस्सी में साँप भी आता है। स्वप्न का लड्डू भी अनुभव में आता है, परन्तु वह सब वास्तविक नहीं है। वास्तविक चीज़ वह होती है जो हमेशा है। संसार के जितने पदार्थ हैं वे पैदा होने के पहले अनादि काल से नहीं हैं। घड़ा बनने के पहले असंख्य कल्पों के बीत जाने पर भी नहीं था और घड़ा फूट जाने के बाद आगे के सब कालो में नहीं रहेगा। पैदा होने के पहले नहीं है, नष्ट होने के बाद नहीं है। जो चीज़ अनन्त पूर्व काल में और अनन्त बाद के काल में नहीं है वह यदि दस-बीस-पचास हज़ार साल तक भी रह जाये तो 'है' कैसे हो जायेगी! इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि जो चीज़ आदि में नहीं है और अन्त में भी नहीं है वह बीच में भी नहीं ही है। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रतीत नहीं होती है। बिना हुए प्रतीत हो जाती है। जब परमात्मा के इस स्वरूप को समझ लेते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है और उस से भिन्न सब असत् जड दुःखरूप है, तब अनात्मफल की आकांक्षा नहीं रह जाती, एकमात्र परमात्मा को ही प्राप्त होने के योग्य समझा जाता है क्योंकि वह अपना स्वरूप है। अज्ञान के कारण उसका पता नहीं लग रहा है, ज्ञान से वह उद्घाटित हो जाता है, यही परमात्मा का मिल जाना है। जो युक्त होगा वही परमात्मा के इस स्वरूप को पूर्णतः समझ सकेगा। युक्त होने के पहले भी उसको परमात्मा का स्वरूप कुछ तो समझना होगा तभी वह उसमें अपना चित्त एकाग्र कर सकता है। पहले जिसको जानता ही नहीं है उसके अन्दर चित्त एकाग्र कैसे करेगा? जब युक्त होकर परमात्मा का स्वरूप सही तरह समझता है तब सब रूपों में होने वाले परमात्मा को जान लेता है इसलिये तत्तत् चीज़ों की अभिलाषा नहीं रह जाती। इसके लिये वैराग्य की भी आवश्यकता है। क्षणिक सुख की अभिलाषा तब तक नहीं छूटेगी जब तक अनात्म फलों को स्वरूपतः ही इच्छाके अयोग्य नहीं समझ लिया जायेगा। वैराग्य के द्वारा पदार्थों के प्रति मन से इष्ट-बुद्धि या प्रिय-बुद्धि हट जाने पर ही अनाकांक्षता संभव है। मन निरालम्ब नहीं रहता अतः विषयों से प्रिय-बुद्धि हट कर एकमात्र परमात्मा में ही केंद्रित करनी पड़ती है। परमेश्वर पर अभिलाषा एकाग्र होने पर ही परमेश्वर की प्राप्ति होगी। 'एक' नाम परमात्मा का है। परमात्मा ही एकमात्र सामने रह जाये, जब ऐसी एकाग्रता हो जाती है तब फल की आकांक्षा हट जाती है। ऐसे लोग जो तप करते हैं वह सात्त्विक तप है। ऐसा श्रेष्ठों का कहना है, श्रेष्ठ ऐसा ही बताते हैं। यहाँ भगवान् ने जो विशेषण बताये हैं, उनके द्वारा सात्त्विक तप करने का प्रकार सूचित कर दिया। वैराग्य-पूर्वक

फलाकांक्षा छोड़ना और एकमात्र सच्चिदानंद ब्रह्म को ही अपना प्राप्तव्य बनाना - यह बार-बार करने से जब पक जाता है तब सात्त्विक तप हो पाता है। सात्त्विक जो सिद्ध है उसके लिये तो फलाकांक्षा की रहितता और परमात्मा में युक्तता स्वाभाविक है, प्रयत्न से नहीं है। साधक इन चीज़ों को करने का प्रयत्न करे,जब यह उसका स्वभाव हो जायेगा तब सिद्ध हो जायेगा।।१७।।

अब राजस तप बताते हैं-

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

प्रशंसा, सम्मान, पूजाके लिये और दंभसे जो तप किया जाता है वह राजस कहा गया है। वह केवल इहलोक में और अल्पकालिक ही प्रयोजन सिद्ध कर पाता है तथा उसकी सफलता भी निश्चित नहीं है।

रजोगुणी तप किसको कहते हैं? 'लोग मेरी इज्ज़त या सत्कार करें, कहें कि यह कितना बड़ा त्यागी है, योग्य ब्राह्मण है' इस उद्देश्य से किया तप राजस है। राजस तप मान केलिये किया जाता है कि कहीं भी सभा इत्यादि में जायें तो प्रथम स्थान मिले, ऊँचा बिठाया जाये, लोग उठ खड़े होकर स्वागत करें, नमस्कार करें। पूजा के लिये भी किया जाता है कि लोग चन्दन, अक्षत, माला आदि से पूजा करें, पैर धोयें, भोजन बढ़िया करायें आदि। चाहे इनमें से तीनों उद्देश्य हों, दो हों या एक हो, इनकी प्राप्ति के लिये तप किया जाये तो राजस है। ये सब कब प्राप्त हो सकते हैं? 'दम्भेन' - जब धर्मध्वजता हो अर्थात् लोगों के सामने 'मैं कितना धर्मात्मा हूँ' यह प्रसिद्ध हो। राजस तप करने वालों में ऐसी श्रद्धा है कि तप के द्वारा सत्कार, मान, पूजा की प्राप्ति होगी। बहुत से लोग दिखावे के लिये भी तप नहीं करते, सोचते हैं 'कौन किसकी पूजा करता है! कौन किसका सत्कार करता है! इसलिये यह सब करना बेकार है'। अतः सत्कारादि के लिये भी तप में प्रवृत्ति सबकी नहीं होती, तपमें श्रद्धा वालों की ही होती है। इसी प्रकार बहुत से लोग कहते हैं 'इज्ज़त कोई स्थिर चीज़ नहीं है। आज लोग इज्ज़त करेंगे, कल नहीं करेंगे। परन्तु कमाया हुआ पैसा तो हमारे पास रहेगा ही। इसलिये लोग मुझे साधु पुरुष कहें उससे कोई फ़ायदा नहीं है। फ़ायदा तो इसमें है कि अपने पास खूब पैसा हो'। उन के अन्दर तप के प्रति श्रद्धा नहीं है कि तप के द्वारा इन चीज़ों की प्राप्ति होगी और वह श्रेष्ठ है। धर्मध्वजी वे ही होंगे जो यह समझते हैं कि धार्मिक माना जाना अच्छा है। प्रसिद्ध है कि उत्तर प्रदेश के एक ब्राह्मण मुख्यमंत्री से नेहरु जी इसीलिये नाराज हुए कि वे माथे पर तिलक लगाते थे और लोग उनके पैर छूते थे! अर्थात् धार्मिक दीखना भी उनके लिये हानिप्रद रहा। आजकल यह और ज़्यादा है क्योंकि तुम अधार्मिक, धर्मनिरपेक्ष माने जाओगे तभी तुमको अच्छा कहा जायेगा। तुम्हारी धर्मध्वजिता होगी तो लोग कहेंगे 'यह तो देश को बरबाद करने वाला है'! धर्मध्वजी वही बनता है जिसे धर्म के अन्दर

कुछ सद्भाव है। दम्भ से किया तप भी राजस है।

उसका फल चल, अस्थिर है, थोड़े समय के लिये मिलता है, फिर हट जाता है। जब तक लोगों को यह पता नहीं चलता कि 'यह सचमुच धार्मिक नहीं है, ऊपर से धार्मिक दीखे इसलिये धर्म करता है अथवा सत्कार मान के लिये करता है', तभी तक सत्कार आदि मिलता है, फिर शिष्ट लोग उसे सत्कार मान नहीं देते। भाषा के कवि ने कहा है 'उघड़े अंत न होइ निबाहू काल नेमि जिमि रावण राहु'। जब देवताओं को अमृत पिलाया जा रहा था तब उनकी पंक्ति में राहु भी यह सोच कर बैठा था कि 'मुझे भी अमृत पिलायेंगे' किंतु जैसे ही पता लगा, उसे निकाल दिया गया। इसी प्रकार रावण ने बहुत तपस्या की लेकिन जब उलटा आचरण करते देखा तो उसे मार डाला। इसी प्रकार कालनेमि संन्यासी का रूप लेकर बैठा था, उसे हनुमान् जी ने मार डाला। धर्मध्वजता या दम्भ के द्वारा की गई तपस्या से प्राप्त होने वाले सत्कार, मान, पूजा अल्प समय तक ही रहते हैं और अध्रुव हैं। निश्चित नहीं है कि फल हो ही जायेगा। जो फलाकांक्षा से रहित होकर परमेश्वर के लिये करेगा वह तो अवश्य ही फल पायेगा। भगवान् पहले कह आये हैं 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' थोड़ा भी यदि धर्म का पालन किया तो तुम्हें महान् भयसे बचायेगा। इसलिये फलाकांक्षा से रहित होकर, परमात्मा को सामने रखकर जो तप किया जाता है, वह तो निश्चित फल देगा ही, अभी दे अथवा कालान्तर में दे। परन्तु जो धर्मध्वजिता या दम्भ से किया गया है, उसका निश्चित नहीं है कि फल देगा ही; दे भी सकता है, नहीं भी दे सकता है। और देगा तो भी फल थोड़े समय के लिये होगा। यह रजोगुण से निर्वृत्त होने वाला तप है। 'इह' पद के द्वारा यह भी कह दिया कि इसके अन्दर जो सत्कार, मान, पूजा मिलते हैं वे इस मनुष्य लोक में ही मिलने वाले हैं। इनका पारलौकिक फल कुछ नहीं है।।१८।।

रजोगुणी तप को बताकर तमोगुणी तप को कहते हैं।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१६।।

अविवेककृत दुराग्रह से जो खुद को पीडा देकर किया जाये अथवा दूसरे के विनाशकेलिये किया जाये वह तामस तप कहा गया है।

तमोगुण से जिसको निर्वृत्त किया जाता है वह तमोगुणी तप है। ऐसा तप कोइ किस लिये करता है? दूसरे को नष्ट करने के लिये ऐसा तप करता है। मारण, मोहन, उच्चाटन,वशीकरण आदि के प्रयोग सब दूसरों को नष्ट करने के लिये ही हैं। जो जितना अधिक नाश करने की बात करे उतना ही उसे तामसी लोगों द्वारा बड़ा तांत्रिक माना जाता है! ऐसे लोगों के अन्दर का मूल उद्देश्य नुक्सान पहुँचाना है, अपने को फायदा हो न हो, दूसरे को नुक्सान तो हो जाये यही चाहते हैं। एक ब्राह्मण ने बड़ा तप किया। भगवान् ने प्रसन्न होकर उससे कहा 'तुम वरदान माँग लो, परन्तु जितना तुम को दूँगा उससे दुगना तुम्हारे पड़ौसी को दूँगा।' वह तमोगुणी

तप वाला था। सोचने लगा कि मैंने इतनी तपस्या की, क्या मागूँ ? उसने सोचकर भगवान् से कहा – 'भगवान् मेरी एक आँख फूट जाये।' पड़ौसी की दोनों आँखें फूट गयीं। फिर उसने माँगा 'मेरे मकान के सामने एक कुआँ बन जाये'। इसे तो थोड़ा-बहुत निकलने का रास्ता मिल गया, लेकिन पड़ौसी के मकान के आगे दो कुएँ बन गये अन्धा हो ही गया था, कष्ट पाने लगा। दूसरे को नुक्सान पहुँचाना ही तमोगुणी लोगों का उद्देश्य होता है।

वह किस प्रकार तपस्या करता है? अत्यंत मूर्खता से तपस्या करता है। अविवेकी मूढ होता है। दो चीज़ों में कौन-सी ठीक है और कौन-सी गलत है, इसका उचित निर्णय नहीं कर सकता, जो उसके मन में ज़िद आ गई उसी के अनुसार रहता है। ऐसा आदमी कभी दूसरी दृष्टि को समझने का प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि वह तो मूढतापूर्वक ग्रहण किये हुए है कि उसकी मानी बात ही ठीक है। ग्राह वैसे मगरमच्छ को कहते हैं। मगरमच्छ जैसे प्राणी को पकड़ लेता है उसी प्रकार मूढ बात को पकड़ लेता है। इसलिये किसी भाषा के कवि ने कहा है कि मूढ व्यक्ति के हृदय में बोध नहीं होता चाहे साक्षात् ब्रह्मा जी भी उसे समझायें। उसके मन में कहीं खुलापना नहीं है कि दूसरे की बात समझनी है। इसने क्या मूढता ग्रहण कर रखी है? आत्मा को पीडा देकर समझता है कि तपस्या है। आत्मा से यहाँ शुद्ध आत्मा नहीं ले सकते क्योंकि उसे तो पीडा होती नहीं, लेकिन जिन शरीर आदि को हम अपना आत्मा समझते हैं उन्हें जितना दुःख मिलेगा, उतनी ही तपस्या होगी – ऐसा समझता है। कोई काँटों पर सोते हैं, कोई बड़ी-बड़ी साँकलों से अपनी छाती को पीटते हुए कहते हैं 'हाय हुसैन हम न हुए'। कई लोग शूल चुभो कर खून निकालते हैं। इस प्रकार की तपस्या को बड़ी भारी तपस्या समझते हैं। क्योंकि इसमें शरीर आदि को बड़ा कष्ट होता है। तमोगुणी लोग उनकी प्रशंसा भी करते हैं कि अपने को अर्थात् शरीर आदि संघात को जितनी पीडा दी जाये उतना ही तप श्रेष्ठ हो रहा है। दूसरे मूढ भी उनकी प्रशंसा करते हैं। तमोगुणी तप शरीर आदि संघात को दुःख देकर किया जाता है।।१९।।

सात्त्विक, राजस और तामस आहार, यज्ञ और तप बताये अब क्रम से प्राप्त दान को बताते हैं–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

देना उचित है इस निश्चय से पुण्य देश-कालमें योग्य पात्र को, उससे किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे बिना जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक माना गया है।

जैसे सात्त्विक तप करने वाला फल की इच्छा नहीं रखता वैसे ही सात्त्विक दाता केवल कर्तव्य बुद्धि मानकर ही दान करता है, फल की तरफ इसकी दृष्टि नहीं रहती है। देना चाहिये इसलिये देता है। किसको देता है? अनुपकारी को देता है। अर्थात् जिन से किसी उपकार की प्राप्ति नहीं हुई है तथा आगे भी संभावित नहीं है, उन्हें देता है। भूत और भावी

उपकारी दो प्रकार के होते हैं। किसी ने तुम्हारे लिये कुछ किया तो तुम उसके लिये फिर मौका आने पर करते हो। उसने पहले उपकार किया है अतः भूत उपकारी है, अब तुम कर रहे हो। और, किसी ने पहले तो उपकार नहीं किया है लेकिन भावी उपकार की दृष्टि रखते हो कि यह आगे तुम्हारा उपकार करेगा। यहाँ दोनों तरह के उपकार समझ लेना। पहले भी जिसने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है, आगे उपकार करेगा यह भी सामने नहीं रखते हो, तब अनुपकारी को दान होता है। आगे नहीं करेगा यह तो कह नहीं सकते, परन्तु तुम उससे उपकार की आशा नहीं रखते अतः तुम अनुपकारी ही मानते हो। बाद में भी तुम यह नहीं कहते कि 'मैंने इसके लिये इतना किया लेकिन इसने मेरे प्रति कुछ नहीं किया अर्थात् मेरे उपकार के बदले में इसने उपकार नहीं किया'। न पहले के उपकार को देखकर और न ही आगे उपकार की आशा रखकर जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक दान है। ऐसा ऋषियों ने कहा है।

यह क्यों किया जाता है? 'दातव्य' – दान करना चाहिए इस बुद्धि से किया जाता है। कुरुक्षेत्र आदि जो पुण्य देश कहे गये हैं उन देशों में अर्थात् तीर्थ स्थान आदि में जाते हैं। वहाँ दान करना चाहिए, इसलिये वहाँ करते हैं। 'काले' – संक्रांति, पूर्णिमा, अमावस्या आदि जिस काल में देने को श्रेष्ठ बताया है, उस काल में दान करते हैं। 'पात्र' – योग्य पात्र को देते हैं, वेद आदि का जिसको ज्ञान है, ऐसे योग्य को दान करते हैं। कई लोग समझते हैं कि दान उसे करना श्रेष्ठ है जिसके पास नहीं है। परन्तु दान के बारे में शास्त्र की दृष्टि बिलकुल स्पष्ट है : तुम जैसा उपयोग कर सकते हो उससे ज़्यादा श्रेष्ठ उपयोग जो कर सकता है उसे दान देना उचित है। तुम खिचड़ी खाकर दुकानदारी करते हो और वह उसी खिचड़ी को खाकर परमात्मा का भजन करता है तो उसका खाया हुआ अन्न परमात्मा का भजन करने में लगा और तुम्हारा खाया हुआ अन्न झूठ बोलकर लोगों को ठगने में लगा इसलिये वह तुम्हारे अन्नदान का योग्य पात्र हुआ। अतः जो जितना श्रेष्ठ पात्र है उसे देना चाहिये। सात्त्विक दान दातव्य बुद्धि से होता है और देश, काल का विचार करके होता है।

व्याकरण की दृष्टि से 'पात्रे' – शब्द में प्रश्न होता है कि यह पातृ-शब्द का चतुर्थ्यन्त रूप है या पात्र-शब्द का सप्तम्यन्त रूप? कुछ आचार्य पातृ का चतुर्थ्यन्त रूप इसे मानते हैं। जो दान लेकर अपना और दाता का पालन कर सके वही योग्य अधिकारी बताया गया है। अतः 'पात्रे' अर्थात् पालन करने वाले को दान देना सात्त्विक है। किंतु भाष्य में 'पात्रे च षडंगविद्वेदपारगे' व्याख्या से पात्र शब्द का सप्तम्यन्त रूप माना है। नीलकण्ठ आदि ने समझाया है कि श्लोक में प्रथम दान शब्द प्रदेय द्रव्य का वाचक है, उस केलिये चतुर्थीकी अपेक्षा 'अनुपकारिणे' से पूरी हो जाती है। श्लोक में द्वितीय दान शब्द भावव्युत्पत्ति से त्याग का वाचक है इसलिये जिसमें त्यागा जाये उस पात्र में चतुर्थी विभक्ति की ज़रूरत नहीं है। बाईसवें श्लोक में 'अपात्रेभ्यः' कहेंगे अतः यहाँ भी पात्र शब्द ही बेहतर लगता है, पातृ शब्द नहीं। 'दानं पात्रे प्रदातव्यम्' आदि पौराणिक प्रयोगों के अनुरूप यहाँ सप्तम्यन्त प्रयोग उचित ही है।।२०।।

अब रजोगुणी दान को बताते हैं–

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

जो तो प्रत्युपकार केलिये या फल को उद्देश्य कर खेदपूर्वक दिया जाता है वह दान राजस माना गया है।

रजोगुणी व्यक्ति प्रत्युपकार के लिये दान करता है। प्रत्युपकार चाहे इहलोक में हो या परलोक में हो, उसकी दृष्टि फल की तरफ ही है। सात्त्विक दान वाला तो 'देना कर्तव्य है या देना चाहिये' इसलिये देता है। रजोगुणी कर्तव्य बुद्धि से नहीं देता, 'आगे क्या फ़ायदा होगा' – इस दृष्टि से दान करता है, इहलौकिक या पारलौकिक फ़ायदे की इच्छा से दान करता है। इसलिये हमेशा पूछता रहेगा कि 'इस दान का फल उस दान के फल से ज़्यादा है या कम?' दोनों के दाम भी लगा लेगा। एक समान दाम हो, उनमें से एक का ज़्यादा बड़ा पुण्य हो तो फिर वही दान करेगा। भविष्य के प्रत्युपकार के लिये भी करते हैं। अथवा इह लोक में उपकार पाने के लिये भी दान देते हैं। मंत्री इत्यादि को देते हैं तो ऐहिक प्रत्युपकार के ही लिये कि वे हमारा कोई काम कर देंगे। चुनाव के समय जितने लोग आते हैं उन्हें देते रहते हैं यह सोचकर कि 'पता नहीं इनमें से कौन राजा बन जाये, अपना तो फ़ायदा हो ही जाये।' सात्त्विक दान तो अनुपकारी के लिये है और यह उससे उलटा, प्रत्युपकार के लिये है। तथा 'फलमुद्दिश्य वा पुनः' इसमें हमेशा फल ही उद्देश्य रहता है। 'परिक्लिष्टम्' धन में मोह होने के कारण देने में हमेशा दुःख का अनुभव भी होता है। सोचते हैं कि 'अगर बिना दिये काम हो जाता तो बड़ा अच्छा था।' अतः राजस दान देकर कभी प्रसन्नता नहीं होती, कहीं न कहीं अन्दर रहता है कि 'अगर इसका आधा भी देते तो हो ही जाता, ज़्यादा चला गया।' राजस दान देने के बाद खेद बना रहता है। रजोगुणी के अन्दर चूँकि फल और प्रत्युपकार की दृष्टि है इसलिये उसे धन के प्रति आसक्ति है। फल या प्रत्युपकार की इच्छा से कर तो देता है पर चाहता नहीं कि धन जाये। ऐसे लोगों को धर्म में भी लगता है कि 'पण्डित जी ने ज़्यादा दक्षिणा ले ली, सामग्री का पुर्जा बड़ा बना दिया।' दक्षिणा तो देते हैं। लेकिन देकर प्रसन्नता नहीं होती। लोक में जो माल का व भाव का परीक्षण नहीं कर पाते वे सौदा करने के बाद भी ठीक चीज़ ठीक दाम में ली, इस निर्णय पर स्थिर नहीं होते। कोई कह दे कि 'दस रुपये कम में यह कार्य हो जाता' तो परेशान हो जाते हैं। यही परिक्लेश है। राजस दानी ऐसा खेद करता रहता है। परि अर्थात् सब तरफ से इन्हें क्लेश रहता है – देने से पूर्व 'इतना देना पड़ेगा' सोचकर दुःखी रहते हैं, देते समय तकलीफ होती ही है, और बाद में भी खेद बना रहता है। ऐसा दान राजस कहलाता है।।२१।।

अब तमोगुणी दान को बताते हैं–

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

अयोग्य देश काल में अयोग्य पात्र को जो दिया जाता है और सत्कारपूर्वक न देकर अवज्ञासे (तिरस्कार से) दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है।

तमोगुणी दान वह है जिसे देने में योग्य देश का विचार नहीं करते, कलिंगादि, म्लेच्छादि जो अपुण्य देश हैं। वहाँ जाकर दान करते हैं, जो पुण्य देश है वहाँ देने की प्रवृत्ति नहीं करते। इसी प्रकार से जो संक्रांति आदि देने के योग्य काल कहे गये हैं। उनमें तामस दान नहीं किया जाता। अदेशकाले में 'अ' से अभिप्राय है कि योग्य देश या योग्य काल में दान नहीं करते। जैसे देश-काल का विचार नहीं करते वैसे ही जो अपात्र है अर्थात् जो प्रतिग्रह के योग्य पात्र नहीं हैं, उन्हें देते हैं। कई ऐसे लोग हैं जो ब्राह्मणों के बजाये अंधों को, कोढ़ियों को दान देना बेहतर मानते हैं, वह अपात्र दान ही है। ऐसे लोगों का धन कहाँ जाता है? भाष्यकार कहते हैं 'मूर्ख-तस्करादिभ्यः' मूर्खों को और डाकुओं को देते हैं; जो जबर्दस्ती छीनने आते हैं उन्हें देते हैं। घूस वगैरह सब इसी में आते हैं। उन्हें इस डर से देते हैं कि 'ये कहीं हमारा काम न बिगाड़ दें' किसी व्याख्याता ने नट विट आदि का संग्रह किया है। नट (अभिनेता) आदि को देने की प्रवृत्ति भी लोकमें देखी जाती है।

तामस दाता कैसे देंगे? 'असत्कृतं' जिसको देते हैं उसका सत्कार करके नहीं देते। दान के अन्दर नियम है कि जिसको तुम दान का पात्र समझते हो उसे बड़े आदर पूर्वक, प्रिय वचन बोलकर बुलाओ, उसकी पूजा आदि करो, तब उसे सत्कार पूर्वक दो। सत् का एक अर्थ साधु भी है। इसलिये ऐसा दान करके बुद्धि होगी कि 'मैंने अच्छा किया या साधु किया'। तामस दान से मन में यह भाव नहीं आता कि 'मैंने बहुत अच्छा किया'। देते हैं, परन्तु न सत्कार पूर्वक और न उसे देकर मन में यह बुद्धि बनती है कि अच्छा किया। 'अवज्ञातम्' अर्थात् जिसे दिया जाता है उसे अपमान महसूस कराकर देते हैं। बहुत से लोग देते तो हैं परन्तु लोग उनसे लेना नहीं चाहते क्योंकि जानते हैं कि मौके - बेमौके वे गिनाते रहेंगे कि 'हमने तुम्हें यह दिया था'। कई बार तो आदमी परेशान होकर कहता है कि 'यह अपनी चीज़ वापिस ले लो।' तामस दान में जिसे देते हैं उसकी अवज्ञा मन में रहती है।

हम हमेशा कहते हैं कि दान देने के विषय में जो देश काल पात्र का विचार बताया है उसे समझने के लिये 'कन्या दान' को याद रखो। कन्यादान में इन सब बातों का विचार करते हो। अंग्रेजी में जिसे चैरिटी कहते हैं उसी को लोग दान समझ लेते हैं, किंतु ऐसा तो नहीं सोचते कि आँख वाले को लड़की क्यों दी जाये, किसी अंधे या लूले-लँगड़े को अपनी लड़की दे दो! कन्यादान हमेशा अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्रेष्ठ व्यक्ति को देते हो। देश का भी विचार करते हो कि अच्छे से अच्छा साफ-सुथरा देश होना चाहिये और पण्डित जी से अच्छा काल या मुहूर्त्त पूछते हो क्योंकि कन्या का दान करना है। इसी प्रकार से जब तुम

दान करो तब योग्य पात्र, योग्य देश और योग्य काल को जानो। परन्तु तमोगुणी मूढबुद्धि है, इसलिये ऐसा नहीं करेगा। कन्यादान करने के पहले वर के पैर धोते हो। चन्दन माला आदि से सत्कार करके उसे कन्या देते हो और बाद में भी कभी उसकी अवज्ञा करने की नहीं सोचते। उल्टा यही कहते हो कि 'जवाँई जी घर आये हैं तो उन्हें बढ़िया भोजन करायें'। उसके प्रति कभी अवज्ञा या असत्कार का भाव नहीं आता। इस ढंग से सत्कार पूर्वक देना चाहिये। बाकी जो गरीबों को दिया जाता है वह दया से देना है, दान नहीं है। दया पूर्वक देना दान के अन्तर्गत नहीं आता। दान में देश, काल और पात्र का विचार बताया है, दया से दुःखी के दुःख को घटाने के लिये दिया जाता है। तमोगुणी चूँकी मूढबुद्धि है इसलिये वह दान और दया का फ़र्क नहीं समझता। इस प्रकार तीनों प्रकार के दान भी बता दिये। आहार, यज्ञ, तप और दान सभी के सात्त्विकादि त्रिविध भेद बताये।।२२।।

यज्ञादि को सात्त्विक प्रकार से करना अतिकठिन है। यहाँ जिनका प्रसंग है वे स्वयं शास्त्रज्ञ नहीं हैं, देख-सुनकर करने वाले हैं अतः सात्त्विक करना चाहकर भी सारे अंग आदि न जानने से कहीं-न-कहीं चूक जाते हैं। सात्त्विक यज्ञ को 'विधिदृष्ट' कहा था अतः विधि के अज्ञान से विगुणता सहज है, यज्ञ में कमी स्वाभाविक है। ऐसे ही तप और दान में भी कोई-न-कोई कमी रह ही सकती है। अतः कृपाकर भगवान् ऐसी कमी को पूरा करने का अत्यन्त सरल उपाय बता रहे हैं। और यह उपाय सभी के लिये है : शास्त्रविधि जानने वालों से भी अनेक सूक्ष्म चूकें होना असंभव नहीं है। शास्त्र अतिविस्तृत है, पूरा उपस्थित रहना मुश्किल है और करते समय यत्किंचित् ग़लती होना भी संभव ही है। स्पष्ट गलती तो पता लग सकती है, उसका प्रायश्चित्त भी कर सकता है, लेकिन बहुत-सी गलतियों का पता भी नहीं लगता। अतः ऐसी विगुणता को, कमी को, पूरा करने का उपाय भगवान् बता रहे हैं। अतः शास्त्रज्ञ हों या देखकर करने वाले, सभी श्रद्धालुओं के कर्मों की कमी दूर करने का उपाय यह है–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

ॐ तत् सत् - यह ब्रह्म का तीन तरह का नाम वेदान्तों में विचारित है। इसी त्रिविध नाम से सृष्टिकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बनाये गये।

ॐ, तत् और सत् ये तीन शब्द 'निर्देश' हैं। निर्देश का मतलब होता है जिससे किसी चीज़ की तरफ इशारा किया जाये। जैसे हम अंगुली दिखा कर इशारा कर देते हैं कि यह कृष्ण है। नाम भी अंगुली दिखाने की तरह निर्देश होता है। चाहे अंगुली दिखाकर कहें, चाहे नाम ले कर कहें, निर्दिष्ट व्यक्ति समझ जाता है इसलिये नाम को निर्देश कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् जिसने यह सारी सृष्टि उत्पन्न की, जो इस सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है और अंत में यह सृष्टि जिसमें लीन हो जायेगी, उसका 'ॐ' यह निर्देश है। वेदान्त के अन्दर ब्रह्मवेत्ताओं ने ब्रह्म के तीन नामों का निर्देश किया है। 'तेन' अर्थात् इन तीन प्रकार के निर्देशों के द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में ब्राह्मणों

को बनाया अर्थात् तीन निर्देश वाले ब्रह्म से ही ब्राह्मण बने। कोई भी यज्ञ, दान, तप करो, तो उसमें दान ब्राह्मण को दोगे। यज्ञ के लिये पुरोहित भी ब्राह्मण को बुलाओगे। ब्राह्मण ही कर्म का अंग है, ब्राह्मण होगा तो कर्म हो पायेगा। इन तीन निर्देशों वाले ब्रह्म ने ही वेद भी बनाये, यज्ञों का विधान भी उसी ब्रह्म का किया हुआ है और दान की विधि भी ब्रह्म के द्वारा विहित है। जिस प्रकार राजा जिस फ़र्मान पर दस्तखत करेगा वह काननू बन जायेगा, जिस पर दस्तखत नहीं करेगा वह काननू नहीं बनेगा, इसी प्रकार परमात्मा जिसका विधान कर देता है वही धर्म कारगर होता है। हम अपनी बुद्धि से निर्णय करें इतने मात्र से कानून नहीं होता। कानून तभी बनेगा जब राजा उस पर दस्तखत करेगा। यज्ञ, दान, तप आदि का परमेश्वर ने विधान किया है। जिन मंत्रों के द्वारा यज्ञादि करना है वह वेद भी उसी ने प्रकट किया और जिनके द्वारा करना है उन ब्राह्मणों को भी सृष्टि में पहले उसी ने बनाया। जिस प्रकार तुम अपने लड़के की शादी रचते हो तो पहले से सारी व्यवस्था करते हो कि किस कमरे में रहेंगे, किस बिछौने पर लेटेंगे आदि, इसी प्रकार सृष्टि-प्रपंच के अन्दर जीवरूप आयेगा तो वह कैसे उन्नति प्राप्त करेगा- यह सोचकर परमेश्वर ने पहले यज्ञ, ब्राह्मण, वेद बनाये कि इन तीनों के द्वारा जीव अपनी उन्नति करें। लेकिन इसमें राजस, तामस, फूहड़ जीव आ गये जो उनसे फायदा उठाने के बजाय अपना नुक्सान करते हैं! जैसे वर्तमान काल में लोग कहते हैं कि 'देवता सोमपान करते थे, इसलिये हम शराब पी सकते हैं', देवताओं का सोमपान इसलिये नहीं बताया गया था कि तुम शराब पीना शुरू करो! इसी प्रकार रजोगुणी और तमोगुणी लोग वेद आदि से लाभ उठाने की अपेक्षा अपनी हानि कर बैठते हैं। किन्तु लोगों की उन्नति के लिये ही भगवान् ने वेद, यज्ञ और ब्राह्मण का निर्माण किया। उस मूल कारण के ॐ, तत् और सत् – तीन निर्देश हैं। इन निर्देशों से परमात्मा का स्मरण करने से यज्ञादि में किसी चीज़ की कमी रह जाये तो पूरी हो जाती है। श्रद्धा वालों की भी कमी रह जाती है क्योंकि उन्हें ज्ञान नहीं है और शास्त्रज्ञों से भी कमी रह जाती है क्योंकि सारे शास्त्रों का स्मरण करना सम्भव नहीं होता है। परमेश्वर के इन नामों के स्मरण से वे सारी कमियाँ पूरी हो जाती हैं। इन नामों की महत्ता बतायी कि इस निर्देश से भगवान् ने ब्राह्मणादि की रचना की। वेद में ब्रह्म के कई नाम हैं, ब्रह्म का स्मरण करना है तो किसी भी नाम से स्मरण कर सकते हैं, लेकिन उक्त महत्ता वाले होने से दूसरे नाम नहीं, ये तीन नाम ही यज्ञादि को पूरा करने में समर्थ हैं।।२३।।

महत्त्व बताकर नाम का उपयोग समझाते हैं-

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

इसलिये वेदानुयायियों की शास्त्रविहित यज्ञ, दान व तप रूप क्रियाएँ हमेशा ॐ – ऐसा कहकर प्रवृत्त होती हैं।

शान्ति पाठ में भी ॐ का सबसे पहले स्मरण कर लेते हैं। स्मृतियों में भी बताया है कि ॐ सबसे पहले ब्रह्मा से उनके कण्ठ को फोड़कर प्रकट हुआ।

'ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ।।'

छोटा बच्चा पैदा होता है तो उसके कण्ठ से पहले आवाज़ नहीं निकलती, उस समय कण्ठ बन्द होता है। गर्भ के अन्दर तो कण्ठ का काम नहीं है, न वहाँ खाया जाता है, और न बोला जाता है इसलिये कण्ठ बन्द होता है। बच्चा पैदा होने पर उसकी नाल काटकर उसे उल्टा करके उसकी पीठ पर ज़ोर से मारते हैं, तब वायु धक्का देती है और कण्ठ में फँसा हुआ कफ का हिस्सा बाहर निकल जाता है। यदि बच्चे को सीधा रखोगे तो कफ निकलना मुश्किल होगा क्योंकि बच्चे को तो हम लोगों की तरह साँस लेने का अभ्यास है नहीं, इसलिये उल्टा टाँगना पड़ता है। कफ निकलता है तब वह बड़े ज़ोर से रोता है और सब लोग खूब खुश होकर ताली बजाते हैं। दो-चार बार मारने पर भी यदि नहीं रोया तो मरा हुआ समझते हैं। रोना ही इस बात का प्रमाण है कि बच्चा ज़िन्दा है। इसी प्रकार शास्त्र कहता है कि ब्रह्मा जी के कण्ठ से निकलने के कारण ॐकार का स्मरण मांगलिक है, मंगलों को देने वाला है। इसलिये ॐ का पहले उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप को करने का विधान है। मनु ने कहा कि किसी भी कर्म को प्रारम्भ करो तो सबसे पहले ॐ बोलो, उसके बाद मंत्रोच्चारण करो। जैसे फूंकनी (जिससे फूंककर चूल्हा जलाते हो) या बाँसुरी के दोनों तरफ छेद होते हैं, एक तरफ से फूंक मारो तो दूसरी तरफ से निकलती है, इसी प्रकार से कर्म दो तरफ से बहकर निकल सकते हैं - शुरू में और आखिर में। इसलिये मनु कहते हैं कि इन दोनों दरवाज़ों को बन्द करने के लिये कर्म के प्रारम्भ और समाप्ति में ॐकार का उच्चारण करो, इसके उच्चारण से कर्म में कोई कमी नहीं रह जायेगी, कर्म बहकर निकल नहीं जायेगा, पूरा हो जायेगा। ब्रह्मवादियों की यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें ॐ से प्रारम्भ की जाती हैं। यहाँ ब्रह्मवादी का मतलब वेदवादी है अर्थात् वेदों को जानने वाले या शास्त्रज्ञ लोग। वेदवादियों के यज्ञादि ॐ बोलकर शुरू होते हैं अतः श्रद्धा रखकर उन्हें देखकर यज्ञादि करने वाले भी ॐ बोलकर ही यज्ञादि करते हैं। ब्रह्मवादी कहकर यह भी बताया कि जो वेदवादी नहीं होते उन्हें इस रहस्य का पता नहीं है। वे पहले ही शुरू कर देते हैं या कोई और नाम लेकर शुरू कर देते हैं। शुरू करना चाहिये ॐ के उच्चारण से ही। और 'सततं' - हमेशा ही उसके उच्चारण से शुरू करना चाहिये, ऐसा नहीं कि एक बार उच्चारण करने से पर्याप्त है; हर बार जब यज्ञादि किया जाता है तब ॐ बोलकर ही किया जाता है। वेदज्ञ लोग हमेशा ऐसा करते हैं। कर्म करने में जो भी कमी रहे वह सारी की सारी ॐकार के उच्चारण से साद्गुण्य को प्राप्त कर लेती है।

ॐ ब्रह्म का नाम है यह सब लोग जानते ही हैं, ॐकार की ऐसी विशेषता रही है कि भारतवर्ष के अन्दर जितने भी भिन्न सम्प्रदाय हैं उन सबने ॐ को तो प्रशस्त माना ही है। शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और वर्तमान काल में सिक्ख सम्प्रदाय और अन्य भी अनेक पन्थ

वाले हैं जिन्होंने ॐकार की विशेषता मानी ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में अंतिम रस ॐकार को ही बताया है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि ॐकार ब्रह्म का नेदिष्ठ (निकटतम) नाम है, उससे प्रिय ब्रह्म का और कोई नाम नहीं है। सारे ही वेदों में इसकी विशेषता बतायी है। इसकी इतनी विशेषता क्यों है? इसका रहस्य माण्डूक्य उपनिषद् में बताया है। वह केवल बारह मन्त्रों की उपनिषद् है और उनमें ॐकार की ही महिमा बताई है। महिमा यह है कि चेतन तीन प्रकार के अनुभव करता है। एक अनुभव वह इन्द्रियों के द्वारा करता है। इन्द्रियों के द्वारा चेतन के अनुभव को 'अ' कहते हैं। दूसरा, इन्द्रियों से अनुभव करके मन से अनुभव करता है, जैसे बच्चे के प्रति माँ को प्रेम का अनुभव है उस प्रेम का अनुभव आँख, कान, आदि से नहीं है। इसी प्रकार बहुत से अनुभव मन से होते हैं। जहाँ इन्द्रियों से अनुभव करते हैं वहाँ मन तो रहता ही है, इसलिये वे इन्द्रिय और मन से होने वाले अनुभव हैं।

उनसे अलग केवल मन से होने वाले अनुभव हैं। इन्द्रियों के द्वारा जिनका अनुभव करते हैं वे बाह्य पदार्थ हैं। केवल मन से जिनका अनुभव करते हैं वे बाह्य पदार्थ नहीं हैं। इसीलिये उनका कोई वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। वैज्ञानिक कहते हैं कि चीज़ वही होती है जो नापी जा सके! प्रेम को तो नाप नहीं सकते कि वह कितना लम्बा-चौड़ा है। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं कि जो चीज़ नापी नहीं जाती वह बेकार है। चीज़ इन्द्रियों से दीखे यह ज़रूरी नहीं है, जैसे रेडियो तरंगें किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते, परन्तु नापी जा सके यह ज़रूरी है। जिसे नाप नहीं सकते उसे वैज्ञानिक नहीं मानेंगे। मन से जिन प्रेमादिका अनुभव करते हैं, वे नापी-जोखी जाने वाली चीज़ें नहीं हैं। परन्तु दोनों तरह का अनुभव करने वाले तुम हो, इसमें तो किसी को संदेह नहीं है। बच्चे की नाक मोटी है, काणा है, दाँत नीचे के होठ को दबाकर बाहर निकले रहते हैं। – इन सबको माँ न देखती हो ऐसा नहीं है। परन्तु इस को देखकर भी उसके हृदय के प्रेम में कोई कमी नहीं आती। इन्द्रियों से बदसूरत को देखने वाली और इन्द्रियों के बिना मन द्वारा, प्रेम से देखने वाली भी वही है। जो ऐसी आन्तर जगत् की चीजें हैं उन्हें 'उ' इस अक्षर से कहते हैं।

तीसरा अनुभव है गहरी नींद का। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जिसे गहरी नींद का अनुभव न हो। वहाँ क्या अनुभव करता है? कहता है 'कुछ नहीं जाना'। कुछ नहीं जानने की स्थिति है अर्थात् 'कुछ नहीं को' – जानने की स्थिति है। वहाँ 'कुछ नहीं है' इसे जानते हो। यह भी जानना ही है। जैसे एक मेज के ऊपर घड़ा रखा है यह जानते हो वैसे ही दूसरी मेज पर घड़ा नहीं रखा है यह भी जानते हो। जितना निश्चित रूप से तुमने जाना कि यह हरा कपड़ा है, जितना मन के द्वारा जाना कि यह बच्चा प्रिय है, उतना ही निश्चित रूप से तुम जानते हो कि गहरी नींद में कुछ नहीं जाना। इसको 'म' इस अक्षर से कहते हैं। इन्द्रियों से जानने वाला, केवल मन से जानने वाला और कुछ नहीं जानने वाला – यों जानने वाला एक है, अकार, उकार, मकार के अन्दर जानने वाला आत्मा एक ही है। 'मैंने जाना' यह

सबका एकरूप अनुभव है। अतः इंद्रियों से जानने वाले सब, मन के द्वारा जानने वाले सब और कुछ नहीं जानने वाले सब, इन सब के अंदर जानने वाला एक आत्मा है। ॐ इन तीनों तरह के जानने वालों में विद्यमान जो एक जानने वाला है, उसको बताता है, इसलिये वही ब्रह्म को बताने वाला सीधा नाम है। अतः ॐ की इतनी विशेषता बताई जाती है।।२४।।

दूसरा शब्द तत् है, उसे बताते हैं–

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।२५।।

मोक्ष चाहने वालों द्वारा फलेच्छा छोड़कर विविध यज्ञ तप और दान की क्रियाएँ 'तत्' ऐसा कहकर की जाती हैं।

तत् परमात्मा का नाम है। सारा संसार उस परमात्मा का ही विस्तार है। यहाँ जो कुछ भी तुम्हारे सामने प्रकट है यह परमात्मा का ऐश्वर्य है, परमात्मा का ही विस्तार है। चूँकि यह सब परमात्मा का ही विस्तार है अतः करने वाला, क्रिया, करने की सामग्री, उपकरण आदि सब परमात्मरूप है, फल भी परमात्मा का ही रूप है। तत् का उच्चारण करते ही यह मन में आ जाता है कि यह सब परमात्मा का विस्तार होने से इसमें मेरा कुछ नहीं है, सब परमात्मा का ही है, फल भी उसीका है। अतः 'तत्' इस नाम का उच्चारण करके जगत् के अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ब्रह्म का स्मरण करके यज्ञ, तप, दान मुमुक्षु जन करते हैं। यज्ञ भी क्रियारूप है, तप भी क्रियारूप है और दान भी क्रियारूप है। यज्ञ, दान और तप क्रियायें अनेक तरह की हैं, यज्ञ भी अनेक तरह के – ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ, ऋषियज्ञ, श्रौतयज्ञ, स्मार्त यज्ञ इत्यादि हैं। तप भी अनेक प्रकार के, चान्द्रायण, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि हैं। इसी प्रकार दान भी अनेक प्रकार के हैं – स्वर्ण दान, अन्न दान, विद्या दान, अभय दान आदि। 'तत्' का उच्चारण करके बोध हो जाता है कि इन क्रियाओं के फलों के लिये नहीं वरन् कर्तव्यबुद्धि से यज्ञादि करने हैं।

ऐसा कौंन कर सकेगा? भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जो इस संसार समुद्र से मुक्त होना चाहता है, वही ऐसा कर सकता है, वही सब फलों को परमात्मा के समर्पण कर सकता है। जिनको खुद फल की अभिलाषा है, वे फल को कैसे छोड़ सकते हैं! तत् के उच्चारण में भगवान् ने दो बातें स्पष्ट कर दी – कि सब कुछ परमात्मरूप है और ॐ व तत् का प्रयोग मोक्षाकांक्षी के लिये है, जो स्वंय फल चाहते हैं उनके लिये नहीं है। मोक्ष की इच्छा वाला कोई भी विषय नहीं चाहता, केवल परमात्मा प्रसन्न हो, यही चाहता है। अतः स्वाभाविक है कि वह सारे फल परमात्मा को देगा, तभी परमात्मा प्रसन्न होगा। 'मोक्षकांक्षिभिः' कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि ॐ तत् सत् का प्रयोग सभी क्रियाओं को सम्पन्न कर देने वाला और सारी कमियों को पूरा करने वाला है पर इसका प्रयोग केवल मुमुक्षु के लिये है, बुभुक्षुओं के लिये है ही नहीं। फल का त्याग अर्थात् फलेच्छा का त्याग करने वाला जानता है कि चूँकि

सब मेरा ही आकार है इसलिये फल की इच्छा बिलकुल व्यर्थ है। इस प्रकार ॐ और तत् का विनियोग बता दिया।।२५।।

अब 'सत्' का प्रयोग बताते हैं-

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

पार्थ! विद्यमानता और अच्छाई बताने के लिये सत् – ऐसा यह शब्द प्रयोग किया जाता है। इसी तरह, बिना रुकावट शीघ्र सुख देने वाले कर्म के लिये भी सत्-शब्द का प्रयोग होता है।

जैसे ॐ परमात्मा का नाम है, जिस के द्वारा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के विचार से सभी अवस्थाओं के अन्दर व्यापक परमात्मभाव को बताया और 'तत्' नाम से यह सारा संसार उसी का विस्तार है, इस बात को बताया, वैसे ही 'सत्' से कहा कि जहाँ भी 'है' की प्रतीति है, वह परमात्मा की ही प्रतीति है। छांदोग्य उपनिषद् के अन्दर 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' से सत् को ही परमात्मा का स्वरूप बताकर कहा कि जिससे यह सारा संसार पैदा हुआ वही जीव का वास्तविक स्वरूप है। सत् परमात्मा से संसार उत्पन्न हुआ, अविद्या के कारण उस कार्य में जीव ने 'मैं' ऐसी भावना कर रखी है। श्रुति कहती है – 'जो उत्पन्न हुआ वह तू नहीं है। तू इन सब की उत्पति का कारण है, जिससे सब उत्पन्न हुआ।' ॐ से परमात्मा का स्वरूप बताया, तत् से उसकी व्यापकता कही और सत् के द्वारा बताया कि वही एकमात्र कारण होने से संसार में सर्वत्र 'है'-रूप से प्रतीत हो रहा है। जहाँ भी 'है' की प्रतीति हो रही है वह परमात्मा की ही प्रतीति है। जिस प्रकार तरह-तरह के सोने के गहनों में जो सोने की प्रतीति है वह तो कारण की प्रतीति है, उपादान की प्रतीति है, गहने के रूप के साथ प्रतीति है परन्तु जिस की प्रतीति है वह उन रूपों से अतीत है। इसी प्रकार हम लोगों को 'है' की प्रतीति किसी-न-किसी रूप में होती है परन्तु उन रूपों में जो 'है' की प्रतीति हो रही है वही वस्तुतः वास्तविक है। जैसे सोने में गहने की प्रतीति है वैसे ही सत् ब्रह्म के अन्दर जगत् की प्रतीति है।

'सद्भावे'; कोई चीज़ पहले नहीं है और फिर उसकी प्रतीति होती है तो उसको 'है' कहते हैं। जैसे पहले किसी के बेटा नहीं है और फिर बेटा हो जाता है तो कहते हैं कि अब यह पुत्रवान् है, पहले निपूता था। जैसे ही कोई चीज़ प्रतीत होती है 'है' रूप में प्रतीत होती है। उसे सत् कहते हैं। इतना ही नहीं, 'साधुभावे च' अर्थात् सत् से कहते हैं कि अच्छा कार्य है। जब तक आदमी बुरे काम वाला रहता है तब तक तुम उसे असत् कहते हो अर्थात् यह कुछ नहीं है। और जब वह अच्छा काम करने लगता है तब कहते हो 'यह सत्पुरुष है'। बुरा काम करने वाले को असत् पुरुष कहते हैं, सत्पुरुष नहीं कहते। अतः जिसमें शुभ आचरण होता है उसे सत् कहते हैं। सत् शब्द का एक अर्थ हुआ जो 'नहीं है' की जगह 'है' हो जाये; दूसरा अर्थ साधुभाव है, जैसे, शुभ आचरण वाला हो उसे ही सत्पुरुष कहते

हैं। साधुभाव के लिये सत् शब्द का प्रयोग होता है। सद्-रूप परमात्मा जो जगत् का उपादान है, वह हमेशा 'है' भी और हमेशा अच्छा भी है। बुराई जितनी है वह जीव अपने पापों से लाता है। सातवें अध्याय में 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च' में भी स्पष्ट किया था कि सुगन्ध तो परमात्मा का ऐश्वर्य है, दुर्गन्ध हम पाप आदि कर्मों के द्वारा लाते हैं। इसलिये असाधुभाव हम अपने अज्ञान के कारण करते हैं। स्वरूप से साधुभाव ही है। इसलिये अनाचार आदि को परमात्मा का स्वरूप नहीं कह सकते। सत् शब्द के द्वारा जगत् का आदिकारण जो सब जगह है और साधुभाव में प्रकट हो रहा है उसे कहते हैं। इसी प्रकार 'प्रशस्ते कर्मणि' जैसे अच्छा आचरण करने वाले को सत्पुरुष कहते हैं, वैसे ही जो श्रेष्ठ, प्रशस्त या प्रशंसनीय कर्म हैं, उन्हें सत्कर्म कहते हैं। चाहे जैसे पुरुष को सत्पुरुष नहीं कहते, उसी प्रकार सत् शब्द का कभी भी बुरे कर्म के लिये प्रयोग नहीं किया जाता। जो कुछ भी प्रशस्त या प्रशंसनीय कर्म हो रहा है वह सारा परमात्मा का स्वरूप है। शुभ आचरण वाले लोग और शुभ कर्म – सब उस सत् ब्रह्म का, परमात्मा का ही विस्तार है। सत् कर्म देखने पर उसमें परमात्मा को पहचानना चाहिये।।२६।।

दूसरी तरह से सत्-शब्द का विनियोग बताते हैं–

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

किंच, यज्ञ, दान, तप में निरन्तर प्रवृत्ति 'सत्' – यों कही जाती है। यज्ञादि के लिये अथवा परमात्मा के लिये किया कर्म भी 'सत्' – ऐसा ही कहा जाता है।

यज्ञकर्म में जो स्थित होता है उसे कहते हैं कि यह सत्कर्म में स्थित है। इसी प्रकार जो तपस्या में स्थित है उसे भी लोग कहते हैं कि अच्छे काम में स्थित है। इसी प्रकार दान करता है, तो भी लोग कहते हैं कि सत्कर्म कर रहा है। यज्ञ, दान, तप में स्थित– इन सबको ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा सत् ही कहा जाता है। यज्ञ, तप, दान आदि सत्कर्म को देखकर और सदाचारी को देखकर जो सद्रूपता प्रतीत होती है वह कारण ब्रह्म की ही है क्योंकि ये सब 'तदर्थीय कर्म' हैं। भाष्यकार ने 'तदर्थीयं' का 'यज्ञदानतपोऽर्थीयं' वैकल्पिक व्याख्यान किया है अर्थात् यज्ञादि के लिये जो सामग्री-सम्पादन, विप्रनिमन्त्रण आदि कर्म किये जाते हैं वे तदर्थीय कर्म हैं, उन्हें भी सत् कहते हैं। दूसरा अर्थ 'ईश्वरार्थीयम्' किया है। भगवदर्पणबुद्धि से किये कर्म को सत् कहते हैं। परमात्मा के लिये जो कर्म किया जाता है वह सब सत् कहा जाता है। क्योंकि यज्ञ, तप, दान कर्मों का फल देने वाला परमेश्वर ही है इसलिये ये कर्म परमेश्वर की प्रसन्नता के कारण बनकर ही सफल होते हैं। जो मुमुक्षु है वह चूँकि आत्मतत्त्व को ही सारी सफलताओं का स्वरूप समझता है इसलिये वह 'परमात्मा को' ही चाहता है, 'परमात्मा से' कुछ नहीं चाहता। दूसरे लोग कर्म करते हैं, लेकिन चूँकि वे फलों को चाहते हैं इसलिये परमात्मा अपने स्वरूप का उद्घाटन उनके लिये नहीं करता। फल तो

उन्हें भी परमात्मा ही देता है परन्तु वे कर्म परमात्मा के लिये नहीं, फल के लिये करते हैं अतः फलमात्र पाते हैं। जो परमात्मा के लिये करता है उसके लिये परमात्मा अपना स्वरूप उद्घाटित कर देता है। तदर्थीय अर्थात् परमात्मा के लिये ये यज्ञादि कर्म हैं।

इस प्रकार से 'ॐ तत् सत्' के उच्चारण द्वारा फलेच्छा को छोड़कर परमात्मा के लिये मुमुक्षु के द्वारा जो यज्ञ, दान, तप किये जाते हैं वे यदि किसी कारण से सात्त्विक नहीं हो पाये तो भी अन्तःकरण की शुद्धि का कारण बन जाते हैं। अगर कर्म विगुण हो गया, मन्त्रोच्चारण की कमी हो गई, विधि की कमी रह गई तो वे सारी विगुणतायें परमात्मा दूर कर देते हैं। परमात्मा में पूर्ण श्रद्धा रखकर ही परमात्मा की अर्चना की जाती है। अतः परमेश्वर के अन्दर श्रद्धा की पूर्णता तो चाहिये ही। इस अध्याय के प्रारम्भ में उसी का प्रसंग उठाया था जो शास्त्रज्ञान से रहित है परन्तु श्रद्धावाला है। जिस मुमुक्षु को यहाँ बता रहे हैं उसमें भी श्रद्धा की कमी नहीं है। परमात्मा- सम्बन्धी शास्त्रज्ञान से रहित होने के कारण बाकी जो भी कमी उसमें हो, परमात्मा में श्रद्धा की कमी तो उसमें नहीं है, इसलिये जब परब्रह्म परमात्मा के इन तीनों रूपों को याद करता है तब परमात्मकृपा से वैगुण्य निवृत्त होकर साद्गुण्य हो जाता है। तीन रूप अर्थात् – सब में व्याप्त वही है, जितने शुभ भाव हैं वे सब उसीके हैं, और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के अन्दर अनुभव करने वाला जो 'मैं' है उसका वास्तविक स्वरूप भी वही है। इस प्रकार से परमात्मा के 'ॐ तत् सत्' इन तीन नामों का प्रयोग करने से कर्म में जो भी विगुणता या कमी रह गई हो वह सब पूरी हो जाती है। उस कर्म में होने वाले राजस तामस भाव खत्म होकर वह कर्म सात्त्विक हो जाता है। इसलिये जो भी सत् कर्म है उसमें इन तीन नामों का विनियोग करना चाहिये।।२७।।

इस सबके लिये प्रधानता श्रद्धा की है। श्रद्धा की पूर्णता से फल होगा, अश्रद्धालु के लिये ये उपाय काम के नहीं हैं। इसलिये कहते हैं–

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ! न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

।।ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।

पार्थ! अश्रद्धा से किया जो हवन, दान, तप (आदि कर्म है) वह असत् कहा जाता है। वह न इस लोक में और न मरने के बाद फल देता है।

तुमने यज्ञ की सारी विधि चाहे पूरी तरह से ठीक कर ली, परन्तु तुम्हारे अन्दर श्रद्धा नहीं है तो सब व्यर्थ है। इसका प्रसिद्ध दृष्टांत दक्षयज्ञ है। दक्षकी भगवान् शंकर में श्रद्धा नहीं थी। उसने बहुत बड़ा यज्ञ रचाया, साक्षात् ऋषियों और देवताओं को उसमें बुलाया, सारी विधि पूरी

की परन्तु भगवान् शंकर मे श्रद्धा नहीं होने से वह सब नष्ट होकर उसके बकरा बनने का कारण हो गया! इसलिये बिना श्रद्धा के चाहे जितना बड़ा यज्ञ, हवन, आदि कर लो, वह सब असत् ही कहा जाता है। क्यों असत् कहा जाता है? क्योंकि वह मुझ परमात्मा की प्राप्ति का साधन कभी नहीं होता। जैसे हवन वैसे ही दान। उत्तम से उत्तम ब्राह्मण, पवित्र कुरुक्षेत्र देश, संक्रांति आदि पुण्य काल भी मिल जाये, लेकिन केवल श्रद्धा नहीं है तो वह दान भी असत् हो जाता है। इसी प्रकार से श्रद्धा से रहित हो कर तप का अनुष्ठान किया, या और भी जो कुछ किया, स्तोत्र पाठ, नमस्कार, प्रदक्षिणा आदि सब किये, तो भगवान् कहते हैं कि वह सब असत् ही है अर्थात् अश्रद्धा से किये ये सब मेरी प्राप्ति का कभी भी साधन नहीं हो सकते। 'न च तत्प्रेत्य नो इह' मरने के बाद भी कुछ फल नहीं देंगे। तुम सोचो कि 'हमने इतना प्रयत्न किया तो कुछ तो फल देंगे', इसलिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि कुछ नहीं देंगे। इसलिये श्रद्धा को प्रधान कारण बताया है। सभी शास्त्र बार-बार यही कहते हैं कि श्रद्धापूर्वक कर्म होते हैं। अतः वेदों के अन्दर श्रद्धा की प्रार्थना की है। प्रातःकाल हम श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं। और दोपहर में भी उसी की प्रार्थना करते हैं कि श्रद्धा हमारे में प्रवेश करे। श्रद्धा के प्रवेश होने पर ही बाकी सब कुछ ठीक फल दे सकता है, अन्यथा कुछ फल नहीं देगा। 'नो इह' यहाँ भी कोई साधु पुरुष अश्रद्धालु की प्रशंसा नहीं करेगा। बड़ा यज्ञ, दान करने पर भी साधु पुरुषों के द्वारा उसकी निन्दा ही की जायेगी, असाधु पुरुष भले ही प्रशंसा करें। इसलिये कहा कि दृष्ट-अदृष्ट दोनों ही फल नहीं होते हैं।

इस प्रकार से इस अध्याय के अन्दर विस्तार से भगवान् ने श्रद्धा की विशेषता बताई। यदि श्रद्धा है तो बाकी चीज़ों की कमी उस श्रद्धा से पूरी हो जाती है। यदि श्रद्धा नहीं है तो उसकी कमी किसी से पूरी नहीं होती। इसलिये इस अध्याय का नाम ही श्रद्धात्रय-विभाग योग रखा। अगर श्रद्धा है तो ॐ तत् सत् का ठीक प्रकार से प्रयोग करने से राजस, तामस आदि विगुणता ख़त्म होकर कर्म पूर्ण हो जाते हैं। और यदि श्रद्धा की मौजूदगी नहीं है तो सारा ही शास्त्रज्ञान या अनुष्ठान न आगे फल देता है और न यहाँ फल देता है।।२८।।

।। सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।।

ॐ

अठारहवाँ अध्याय: मोक्षसंन्यासयोग

यह उपसंहार का अध्याय है इसलिये जो कुछ भी गीताशास्त्र में कहा गया है उस सब का यहाँ संकेत मिलता है। जो कुछ बताना है उसका निर्देश उपक्रम में किया जाता है और जो सब कुछ बता दिया गया उसे उपसंहार में बताते हैं। इसलिये उपक्रम उपसंहार की एकवाक्यता ज़रूरी होती है। उपक्रम दूसरे अध्याय में था जो बहुत बड़ा अध्याय था और उपसंहाररूप अठारहवाँ अध्याय भी बहुत बड़ा है। गीता चूँकि वेद के तात्पर्य को बताती है अतः गीता में आया सब कुछ बताने का मतलब है कि सारा ही वेदार्थ कह देना है! इसलिये यह अध्याय भी द्वितीय अध्याय की तरह बड़ा प्रधान है।

अठारहवें अध्याय को अर्जुन के प्रश्न से आरम्भ करते हैं। दूसरा अध्याय भी अर्जुन के प्रश्न से प्रारम्भ हुआ। उसी ने कहा 'जो मेरे श्रेयस् का मार्ग हो वह आप बातईये, मैं आपके पास शिष्य-भाव से आया हूँ।' तब भगवान् ने उसे बताना शुरू किया। वहाँ प्रश्न का मतलब यही था कि 'मैं अपने क्षात्रधर्म का पालन करूँ या न करूँ?' अतः प्रकारान्तर से क्षात्रधर्म को करने या न करने का ही प्रश्न यहाँ फिर पूछता है। फ़र्क इतना है कि यहाँ संन्यास व त्याग के भेद को जानने की इच्छा व्यक्त करता है -

अर्जुन उवाच
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च ऋषीकेश पृथक् केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुन बोला - हे महाबाहो ऋषीकेश केशिनाशक! संन्यास और त्याग का पृथक्-पृथक् याथात्म्य समझना चाहता हूँ।

'हे महाबाहो!' - बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले। भुजायें हमारे यहाँ कर्म का प्रतीक होती हैं। हमारी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनमें पैर केवल चलने का ही काम करते हैं, वाणी केवल बोलने का ही काम करती है, परन्तु हाथ अनेक काम कर लेता है। लिख कर वाणी का भी काम कर लेता है। लंगड़े लोग हाथों से चल भी लेते हैं अतः पैरों का काम कर लेता है, बाकी भी बहुत-से काम तो हाथ करता ही है। अतः महाबाहु का अर्थ होता है अत्यन्त उत्तम कर्म या महान् कर्म करने वाला। भगवान् को 'महाबाहु' सम्बोधन करके अर्जुन कहता है कि आप

अत्यन्त उत्तम कर्म करने वाले हैं इसलिये आप ही बताईये कि संन्यास की वास्तविकता क्या है, कर्म नहीं करना क्या है? संन्यास से क्या कहा जाता है? संन्यास का तत्त्व अर्थात् संन्यास का भाव या तात्पर्य क्या है, उसकी यथार्थता क्या है? अर्जुन दूसरा सम्बोधन 'ऋषीकेश' देता है। ऋषीका नाम इन्द्रियों का है। इन्द्रियों के जो स्वामी वे ऋषीकेश हुए अर्थात् जिन्होंने सारी इन्द्रियों को नियन्त्रण में कर लिया है। इन्द्रियों में मन भी आ जाता है। मन और इन्द्रियों को जिसने पूरी तरह से नियन्त्रित कर लिया, उनका ईश्वर हो गया, उसका कर्म से क्या सम्बन्ध रहा? कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा! एक तरफ महाबाहु कहा और दूसरी तरफ ऋषीकेश भी कह दिया। ऋषीकेश का अर्थ और स्पष्ट करते हुए कह दिया 'हे केशिनिषूदन!' केशि नाम के राक्षस को मारने वाले। जब भगवान् वृन्दावन में थे तब केशि नाम का असुर घोड़े का रूप लेकर आया था, भगवान् ने उसे वहीं मार दिया था इसलिये भगवान् कृष्ण का नाम केशिनिषूदन है। वेदों के अन्दर इन्द्रियों को घोड़ा कहा गया है। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः' इसलिये घोड़ा इन्द्रियों का प्रतीक है। अतः ऋषीकेश से जिस बात को कहा उसी बात को केशिनिषूदन से स्पष्ट कर दिया। ऋषीकेश के द्वारा तो कहा कि वे इन्द्रियों के ईश्वर हैं और केशिनिषूदन के द्वारा बताया कि केवल ईश्वर ही नहीं, वरन् उन इन्द्रियों के द्वारा कोई कार्य न हो- ऐसा उनका नियंत्रण है। यह नियंत्रण समाधि में ही होता है जो सारे कर्मों को छोड़कर किया जाता है। इस तरह अर्जुन का भाव है – आप चूँकि महाबाहु हैं इसलिये कर्म के अन्दर आपका पूरा प्रवेश है और कर्मत्याग में भी आपका पूरा प्रवेश है चूँकि आप ऋषीकेश और केशिनिषूदन हैं। इसलिये आप ही इस बात को मुझे भली प्रकार से समझा सकते हैं।

जो कर्मी होता है वह नैष्कर्म्य को नहीं समझ सकता, जो निष्कर्मा होता है वह कर्मी के भाव को नहीं समझ सकता। परन्तु परमात्मा की यह विशेषता है कि वे दोनों के भावों को समझ लेते हैं। जैसे लोक में देखा जाता है कि जो खूब खटाई खाने वाला है उसकी समझ में नहीं आता कि दूसरे लोग इतना मीठा कैसे खाते हैं। बीकानेर में लड्डू बनते हैं जिसमें चारगुणा चीनी पड़ती है, इतने पर भी खाने वालों को संतोष नहीं होता। पुराने ज़माने में ओले के लड्डू बनते थे जो केवल खाण्ड के ही होते थे। एक बार वहाँ किसी ने भोजन कराया तो ओले के लड्डू खिलाये, सबने बड़े प्रेम से खाये। बाद में उसने हाथ जोड़कर पूछा कि 'सब कुछ ठीक तो बन गया?' तब कुछ लोगों ने कहा 'सब ठीक बना, लेकिन लड्डू में चीनी कम थी!' अब ओले के लड्डू में और चीनी क्या डाली जाये! खट्टा खाने वाले सीधा नींबू को चूसकर कहेंगे यह कम खट्टा है! नींबू को और कैसे खट्टा किया जाये? जैसे मीठा खाने वाले खट्टा खाने वाले को और खट्टा खाने वाले मीठा खाने वाले को पूरी तरह नहीं समझ सकते, परन्तु यदि कोई दोनों को पूरी तरह से खाने की सामर्थ्य वाला है तो वह दोनों के भावों को समझ सकता है, इसी प्रकार सारे कर्मों का परित्याग, नैष्कर्म्य, कर्मी की समझ में नहीं आता। इसलिये कर्मी को लगता है कि ये फल नहीं चाहते

हैं तो करते क्यों हैं? लोग पूछते हैं कि भगवान् ने इतनी बड़ी सृष्टि बनाई, छोड़ना ही उचित था तो बनाई किसलिये?- यह कर्मी की समझ में नहीं आता। निष्कर्मा को यह समझ में नहीं आता कि बिना कर्म किये परम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है तो फिर ये इतनी माथा-फोड़ी में क्यों जाते हैं? कर्मी को निष्कर्मता और निष्कर्मा को कर्म समझ में नहीं आ सकता। परन्तु परमेश्वर के अन्दर दोनों भाव सम्मिलित हो जाते हैं इसिलये परमात्मा दोनों के रूप को समझता है, नैष्कर्म्य और कर्मी का भाव - दोनों को जानता है। इसलिये संन्यास और त्याग को ठीक-ठीक प्रकार से वे ही समझा सकते हैं।

यद्यपि संन्यास और त्याग को एक जैसा समझ सकते हैं, क्योंकि संन्यास मायने भी छोड़ना और त्याग मायने भी छोड़ना, तथापि अर्जुन उनमें जो पृथक्त्व है, दोनों भावों में जो भेद है, वह स्पष्ट करवाना चाहता है। अर्जुन का यह प्रश्न विशेषकर इसलिये है कि पहले कई जगह यह बात आई है : कर्मफलत्याग को भी संन्यास कह दिया जाता है और सर्वकर्म का त्याग भी संन्यास है। इस प्रकार से दोनों की समानता पहले बता आये हैं। परन्तु दोनों का वस्तुतः भेद क्या है यह स्पष्ट नहीं हो सका है। अर्जुन का मूल प्रश्न यही था कि युद्ध अर्थात् क्षात्रधर्म का पालन, अथवा संन्यास अर्थात् क्षात्रधर्म का त्याग करूँ? उसने यही कहा था कि भिक्षामात्र से ही मैं रह लूँगा, भिक्षा करके अर्थात् सर्वकर्म-संन्यास करके रहूँगा। उसी प्रश्न को फिर से यहाँ करता है क्योंकि उपक्रम-उपसंहार को इकट्ठा करके समझ लेना चाहिय।।१।।

सत्रहवें अध्याय में भगवान् ने श्रद्धा वाले के लिये सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के आहार आदि का वर्णन किया। उसी प्रवाह में अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न हुआ कि क्या त्याग और संन्यास भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के हैं? प्रकरण का प्रारम्भ तो वहीं से हो गया जहाँ भगवान् ने बताया कि जो शास्त्र जानकर उस के अनुकूल व्यवहार करते हैं वे दैवी सम्पत् वाले हैं, और जो जानकर भी शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करते हैं वे आसुरी संपत्ति वाले हैं। इसलिये, शास्त्र को जानकर *शास्त्रानुसार* त्याग और संन्यास करने वालों का यहाँ प्रसंग नहीं है। शास्त्र के अनुसार त्याग का अर्थ पहले भगवान् बता आये हैं। संन्यास भी दो प्रकार का है : ज्ञान होने से अपने अकर्तृत्व-आत्मबोध से जो त्याग है उसे भगवान् स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षण में कह आये हैं, अर्थात् 'मैं अकर्त्ता अभोक्ता हूँ' यह जानने से जो संन्यास होता है उसका वर्णन पहले ही कर दिया, वह शास्त्र समझने पर सिद्ध संन्यास ही हुआ। इसी प्रकार से शास्त्र के द्वारा जिसने विविदिषा प्राप्त कर ली है उसके द्वारा होने वाला संन्यास भी भगवान् पहले (२.४५) कह आये हैं। अतः ये दोनों यहाँ प्रश्न का विषय नहीं हैं। प्रश्न का विषय वे त्याग-संन्यास हैं जो करने वाले शास्त्र नहीं जानते परन्तु हैं श्रद्धालु। उनके त्यागादि के सात्त्विक, राजस, तामस भेद ही अर्जुन के प्रश्न का विषय और भगवान् के जवाब का विषय है। अतः शास्त्रानुकूल जो विविदिषु-संन्यास और विद्वत्-संन्यास हैं उनका यहाँ प्रकरण नहीं है।

भगवान् जवाब देते हैं :-

श्रीभगवान् उवाच
काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

कुछ पण्डित कामनाप्रयुक्त कर्म छोड़ने को संन्यास समझते हैं। अन्य पण्डित सभी कर्मों के फलों को छोड़ना त्याग बताते हैं।

'कवयः' अर्थात् जो लोग परमात्मविषयक मार्ग के जानने वाले हैं। कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी होता है। यहाँ विशेषकरके, चूँकि त्याग और संन्यास का प्रकरण है अतः मोक्षविषयक क्रान्तदर्शन ही इष्ट है। कवियों ने संन्यास को ऐसा समझा है : कामना से प्रयुक्त होने वाले जो अश्वमेध आदि कर्म हैं उन्हें नहीं करना, उनके परित्याग को संन्यास शब्द का अर्थ समझना चाहिये। काम्यकर्म किस को कहा जाये? क्योंकि उन्हीं कर्मों को कामना के लिये भी कहा गया है और बिना कामना के नित्यनैमित्तिक रूप से भी कहा गया है। जैसे अग्निहोत्रकर्म प्रतिदिन करने को भी कहा गया है और अग्निहोत्र से स्वर्ग की प्राप्ति भी कही है। यज्ञविशेष में कत्थे का यूप बनाने को कहा और कत्थे के यूप का फलविशेष भी कहा है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इस यजुर्वेद की श्रुति में सभी कर्मों का विविदिषा में विनियोग कर लिया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का भी फल चितशुद्धि है ही, अतः काम्य कर्म और नित्यनैमित्तिक कर्मों में वस्तुतः कोई फ़र्क नहीं कहा जा सकता। अविद्या, काम, कर्म यह क्रम है। कर्म तभी करोगे जब कोई कामना होगी। बिना कामना के तो कर्म करोगे नहीं और जब तक अविद्या है तब तक कामना निवृत्त नहीं होती। अतः अविद्वान् के लिये कर्म का विधान है। कुछ कर्मों का विधान मुख्यरूप से चित्तशुद्धि तथा परमात्मा की प्रसन्नता के लिये है। कुछ कर्मों का विधान मुख्य रूप से विषयों की प्राप्ति के लिये है। मुख्य और गौण होने पर भी सभी कर्म चित्तशुद्धि के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिये यज्ञादि का विविदिषा में विनियोग बताते हुए किसी विशेष यज्ञ, दान आदि को नहीं कहा है, यज्ञ-दानादि मात्र को कहा है। अतः कामना के द्वारा प्रयुक्त होकर जो अनुष्ठेय हैं उनका अनुष्ठान न करना संन्यास है। उपनयन आदि कर्मपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश होने पर ही कुछ कर्म नित्य-नैमित्तिक रूप से प्राप्त हो जाते हैं। आगे जब विवाह होता है तब फिर कुछ नित्य-नैमित्तिक कर्म प्राप्त हो जाते हैं। जिनको काम्यकर्म कहते हैं, वे कामना के कारण प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे भी किसी कर्म को प्रारम्भ कर दिया, बाद में उस चीज़ की इच्छा जिस-किसी कारण से निवृत्त हो भी गई तो भी उस प्रारम्भ किये कर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि जैसे नित्य-नैमित्तिक कर्म प्राप्त हैं वैसे ही प्रारम्भ हो चुकने से वह भी प्राप्त हो गया। यहाँ काम्यकर्मों के न्यास को संन्यास कह रहे हैं तो इस प्रकार के सभी (नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध) कर्मों को छोड़ना प्राप्त होता है।

'सर्वकर्मफलत्याग' में कर्म का स्वरूप से त्याग नहीं करके कर्मफल का ही त्याग करते हैं। कर्म का स्वरूप से यदि त्याग किया तब तो संन्यास है और यदि कर्म के फलमात्र का त्याग किया तो उसे त्याग कहते हैं। ऐसा कौन कहते हैं? विचक्षण, विशेष बुद्धि वाले जो पण्डित लोग हैं, वे ऐसा कहते हैं। अर्थात् जो भी प्राप्त कर्म हैं उनके फल का त्याग, फल परमात्मा के अर्पण करना ही त्याग शब्द से कहा जाता है। इसमें कुछ कर्मकाण्डियों की शंका होती है कि नित्य–नैमित्तिक कर्मों का फल है ही नहीं तो फिर उनके फल का त्याग कैसे हो सकता है? जैसे बाँझ के बेटा है ही नहीं तो वह अपने बेटे का त्याग कैसे करेगी? उसी प्रकार नित्य–नैमित्तिक कर्मों का फल है ही नहीं तो उसका त्याग कैसे होगा? परन्तु उनकी यह मान्यता इसलिये ठीक नहीं है कि नित्य कर्मों का भी फल भगवान् आगे 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' में बतायेंगे। अतः जो भी कर्म किया जाता है उसका फल होता ही है। कर्मों का त्याग और फलमात्र का त्याग–यही संन्यास और त्याग में भेद है। दोनों ही में छोड़ना तो है ही। इस प्रकार, काम्यकर्मों का स्वरूप से त्याग संन्यास और कर्मफल मात्र को छोड़ना त्याग - यों दोनों का भेद बताया।।२।।

इस विषय में अन्य लोगों का मत भी भगवान् बताते हैं :-

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

कुछ विचारक कहते हैं कि दोष वाले कर्म छोड़ने लायक हैं। अन्य लोग कहते हैं कि यज्ञ दान और तप - ये कर्म छोड़ने नहीं चाहिये।

मनीषी - जो कर्म के स्वरूप के विषय में विचार करने में अत्यंत चतुर हैं। कर्म और गुणों के विषय में सांख्य लोग ही सबसे अधिक विचार करते हैं, अतः वे ही यहाँ मनीषी शब्द से कहे जाते हैं। उनका कहना है कि जो दोष वाले कर्म हों वे छोड़ने चाहिये। किस कर्म में दोष हैं? तो वे कहते हैं कि सारे कर्मों में दोष हैं! जैसा यहाँ भी कहेंगे 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८.४८) जैसे आग जलाने पर धुआँ होता है वैसे ही कर्म जो भी होता है, वह दोष वाला ही होता है। कर्म हमेशा बन्धन का ही कारण है, यह उसमें दोष है ही। अथवा दोषवत् अर्थात् दोष वाले कर्म; जैसे राग द्वेष दोष वाले होने से सर्वथा छोड़ने ही चाहिये, उसी प्रकार कर्म भी दोष वाले होने से सर्वथा छोड़ने ही चाहिये। इस प्रकार से सांख्य दृष्टि वाले जो मनीषी लोग हैं, जिन्होंने कर्म और गुणों के विषय में बड़ा विचार किया है, उनका यह कहना है।

कुछ लोग कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों को नहीं ही छोड़ना चाहिये। दोष वाले कर्म तो वे हैं जो राग–द्वेष से प्रवृत्त होकर मनोनुकूल किये जाते हैं। शास्त्र के अन्दर जिनका विधान कर दिया है इसीलिये जो किये जाते हैं वे यज्ञादि नहीं छोड़ने चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी - इनमें जो अपना रूप समझ में

आता है उस रूप के लिये जो भी शास्त्र ने विधान किया है वह अनुष्ठेय ही है। राग-द्वेष से प्रवृत्त होकर मनोनुकूल प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

जो कर्मी हैं अथवा कर्म के अधिकारी हैं उनको लेकर के ही ये दोनों विकल्प बन सकते हैं। ये दोनों ही पक्ष तब प्राप्त होंगे जब मनुष्य अपना स्वरूप ब्राह्मण आदि अथवा ब्रह्मचारी आदि निश्चित कर सकता है। अतः उनको लेकर ये दो पक्ष बनते हैं। जिन्होंने यह निश्चय किया है कि 'शरीर आदि मैं हूँ इसलिये आत्मसम्बन्धी कर्म है ही नहीं', उनका व्युत्थान यहाँ कहे दोनों विकल्पों का विषय नहीं बनता। ये दोनों ही पक्ष उनके ही लिये प्राप्त होते हैं जो शास्त्रोक्त कर्म को स्वयं से सम्बद्ध समझते हैं। जो अपने को कर्म का अधिकारी मानता है अर्थात् अनात्मज्ञ है, उसके लिये कर्मत्याग और यज्ञादि-अनुष्ठान का विकल्प कहा जा रहा है। जो आत्मज्ञ हैं उनके लिये तो भगवान् पहले ही कह आये हैं कि वे सारे कर्मों का मन से संन्यास करके न करते हुए और न करवाते हुए रहते हैं (५.१२)। अनात्मज्ञ अर्थात् शरीर से लेकर अहंपर्यन्त सबमें अभिमान वालों के लिये ही शास्त्र ने विधान किया है। जो विवेक करके इस बात को समझ चुका है कि 'यह सब अनात्मा मेरा स्वरूप नहीं है', और अपने वास्तविक रूप अकर्त्ता-अभोक्ता को तत्त्वमस्यादि महावाक्य से समझ चुका है, उसका विद्वत् संन्यास ही है। जिन्होंने विवेक के द्वारा 'अनात्मा नहीं है' - इस बात को समझ लिया, वे भी विविदिषु संन्यास के अधिकारी हो गये, उनकी बात भी यहाँ नहीं कह रहे हैं।।३।।

इन विकल्प-भेदों में भगवान् अब अपना निर्णय कहते हैं :-

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम!
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

भरतकुल में सर्वाधिक सज्जन अर्जुन! इन विकल्पों में से त्याग के बारे में मेरा निश्चय सुनो : हे वीर! शास्त्रों में भली भाँति कहा है कि त्याग तीन प्रकार का है।

तत्र - पूर्व श्लोक में कहे हुए जो दो पक्ष हैं उनमें; एक, सांख्यों का पक्ष कि कर्म दोष वाले हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये और दूसरा पक्ष, कि यज्ञ, दान, तप - इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये, केवल कर्मफल का त्याग करना चाहिये; इन दोनों पक्षों में त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुनो। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के भेद से त्याग भी तीन प्रकार का है। ये भेद आगे समझायेंगे।।४।।

त्याग और संन्यास शब्द का जो वाच्यार्थ है वह अधिकृत कर्मी अनात्मज्ञ को लेकर बताया जा रहा है, आत्मज्ञ को लेकर नहीं। अधिकृत कर्मी अनात्मज्ञ के बारे में भगवान् त्याग को बताते हैं:-

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ दान और तप – ये कर्म छोड़ने योग्य नहीं हैं, करने ही चाहिये क्योंकि फलेच्छा छोड़कर करने वालों को यज्ञ दान और तप पवित्र बना देते हैं।

यज्ञ दान और तप कर्म हैं, शास्त्र में इन कर्मों को बताया है, धर्मबुद्धि से शिष्ट लोग इन का आचरण करते हैं। शिष्टों के आचरण में धर्मबुद्धि से किये जाने वाले कर्म भी होते हैं और शरीर आदि के दोष से होने वाले कर्म भी होते हैं। जिनका वे धर्म-बुद्धि से अनुष्ठान करते हैं उनका ही श्रद्धा वाले अनुकरण करें यह उचित है। धर्म समझ कर किये जाने वाले कर्म, यज्ञ, दान और तप ही हैं, इनको छोड़ना नहीं चाहिये वरन् करना ही चाहिये। अर्थात्, जो इन्हें दोष वाला बताकर छोड़ने को कह रहे हैं, वह ठीक नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान और तप तो मनीषियों को अर्थात् जो फल को नहीं चाहते, फल परमेश्वर को अर्पण करते हैं, फल की अभिलाषा को छोड़कर जो कर्म करते हैं, उनको शुद्ध बनाते हैं अर्थात् उनके अंतःकरण को शुद्ध करके मोक्ष के मार्ग में ले जाने वाले होते हैं अतः वे दोष वाले नहीं हैं। राग, द्वेष आदि सर्वथा छोड़ने के योग्य हैं क्योंकि वे दोष वाले हैं। राग-द्वेष का विधान भी नहीं है, अतः वे छोड़ने लायक हैं, परन्तु यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का तो शास्त्र में विधान है, इसलिये ये छोड़ने के लायक नहीं हैं। 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' भी इसी दृष्टि से कहा है कि कर्म का फल अनात्म पदार्थ होने से आग से धुआँ पैदा होने की तरह है। कर्म का फल परमात्मा को अर्पण किया जाता है तो किसी अनात्म विषय की प्राप्ति उससे होगी नहीं, अतः फिर वह दोष वाला नहीं है। मनीषी अर्थात् जो फल का अनुसंधान करने वाले नहीं हैं, उनके द्वारा किये जाने वाले ये कर्म उनके अंतःकरण की शुद्धि का कारण होते हैं। जो मनीषी नहीं हैं अर्थात् कर्मफल का त्याग नहीं करते हैं उनके अंतःकरण में तो अनात्म पदार्थों की प्राप्ति से दोष ही बढ़ेगा।।५।।

इसी को स्पष्ट करते हैं :-

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

पार्थ! मेरा निश्चित और निर्दोष मत है कि इन कर्मों को भी आसक्ति और फल छोड़कर ही करना चाहिये।

'मनीषिणाम्' को ही स्पष्ट करते हैं कि उन यज्ञ, दान और तप कर्मों को भी संग और फल दोनों को छोड़कर करना चाहिये। संग अर्थात् आसक्ति; कर्म के प्रति आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये। 'यह कर्म करना शास्त्र में कहा है, इसलिये मैं यह कर्म करता हूँ' यह भाव रखकर कर्म के प्रति आसक्ति नहीं करनी चाहिये अर्थात् 'यह कर्म मुझे करना ही है' ऐसी आसक्ति नहीं करनी चाहिये। साथ ही, कर्म के फल की इच्छा भी नहीं रखनी चाहिये। यहाँ भगवान् ने कर्मफल के त्याग के साथ कर्म में आसक्ति के त्याग को भी कहा। कई बार ऐसा होता है कि किसी कर्म को करते-करते आसक्ति हो जाती है। यदि वह कर्म न करें तो लगता

है कि यह ठीक नहीं हो रहा है। ऐसी कर्म के प्रति आसक्ति भी नहीं रहनी चाहिये। इसको भगवान् ने कहा कि निश्चित मत है अर्थात् निर्णय किया हुआ श्रेष्ठ मत है। आसक्ति और फल की इच्छा से यदि ये कर्म किये जाते हैं तब तो बन्धन के कारण हैं। इसलिये, जो सांख्यवादी कहते हैं कि ये कर्म बन्धन के कारण हैं, वह तब तक ही जब तक उनके प्रति आसक्ति है, उनके फलों की इच्छा है। भगवान् ने जो 'एतानि अपि' में 'अपि' शब्द कहा है उसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान, तप से भिन्न कर्मों को आसक्ति और फलेच्छा से रहित होकर करने से भी वे पवित्र करने वाले नहीं हो जायेंगे। फल और आसक्ति छोड़कर कौन से कर्म हमारे अंतःकरण की शुद्धि करेंगे और मोक्ष के योग्य बनायेंगे? यज्ञ, दान और तप- ये ही कर्म हमारे अंतःकरण की शुद्धि करके मोक्ष के योग्य बनायेंगे। इसलिये भगवान् ने अपि शब्द कह दिया। ये कर्म भी पवित्र करने वाले तभी हैं जब आसक्ति और फल की इच्छा से रहित होकर किये जायें। अतः इनसे भिन्न अपने मन के द्वारा राग-द्वेष से प्रवृत्त होकर किये जाने वाले कर्म पवित्र करेंगे इसका प्रसंग ही नहीं है। यहाँ पुनः सूचित हो गया कि नित्य-नैमित्तिक कर्म भी सफल हैं क्योंकि भगवान् ने फलत्याग का विधान किया, फल हो तभी उसको त्यागने के लिये कहना बनता है।६।।

जो अपने को अनात्मा से एक करके समझने वाले हैं वे शास्त्र-विधि के अधिकारी हैं। शरीर आदि ब्राह्मण हैं, उस शरीरादि को जब मैं अपना स्वरूप समझता हूँ तभी ब्राह्मण आदि के लिये विहित कर्म मुझे प्राप्त होते हैं। ऐसे अनात्मा को आत्मस्वरूप समझने वाले भी जो मोक्ष चाहते हैं, उनके लिये बताते हैं –

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

(क्योंकि मुमुक्षु को चित्त-शुद्धि की ज़रूरत है इसलिये) नित्य कर्म का परित्याग तो संगत नहीं है। अज्ञानवश उसे छोड़ना तामस कहा गया है।

जो अनात्मा को 'मैं' अर्थात् अपना स्वरूप समझता है अतः 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ', आदि अभिमान रखता है, उसके लिये शास्त्र ने जो नियत कर दिया, उस कर्म का संन्यास करना उपपन्न नहीं होता। 'मेरे लिये यह कर्म नियत है' इस प्रकार समझने के बाद फिर उस कर्म का त्याग युक्ति से नहीं बनता। मैं अपने को ब्राह्मण मानूँ भी और फिर ब्राह्मण के कर्म का त्याग भी करूँ, यह उचित नहीं है। 'मोहात्' यह तो मोह से ही हो सकता है। मोह अविवेक है अर्थात् शास्त्र में कही हुई बात को किसी कारण से मैं नहीं समझता, यही मोह का रूप है। मोह होने के कारण ही मनमें यह आता है कि 'शास्त्र में कहा तो है परन्तु किसी देश, काल, परिस्थिति आदि के कारण यह मेरे ऊपर लागू नहीं होता'। अपने लिये प्राप्त कर्म का त्याग तामस है। मोह खुद ही तमोगुणी है इसलिये मोह के कारण अपने लिये शास्त्र के द्वारा नियत कर्म का परित्याग तामस है। इस प्रकार से भगवान् ने तामस त्याग को बता दिया।।७।।

अब राजस त्याग को बताते हैं :-

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वां राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

'कर्म दुःखरूप है' इतना मात्र समझकर शरीर को होने वाली परेशानी के डर से जो कर्म छोड़ेगा वह राजस त्याग होगा जिसे करके वह त्याग का फल नहीं पा सकेगा।

शास्त्र में कहा है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान करो। परन्तु इस सर्दी में जब हाथ-पैर ठिठुर जाते हैं, उठने में अत्यंत क्लेश होता है, तब इस भय से कि स्नान करने में कष्ट होगा, व्यक्ति दलील देता है कि शुद्धि तो मार्जन से ही हो जाती है! कहते ही हैं 'यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः' पुण्डरीकाक्ष के स्मरण से शुद्धि हो जाती है फिर स्नान से कायक्लेश क्यों करना! इस तरह, शरीर के दुःख के भय से कर्त्तव्य कर्म को छोड़ता है। इसे मोह तो नहीं है, परन्तु शरीर का दुःख इसे सहन नहीं होता, उससे इसे भय है। आनन्दगिरि स्वामी ने 'यत् कर्म त्यजेत् तत् त्यक्त्वा त्यागं कृत्वा' ऐसा अध्याहार से अन्वय माना है। मधुसूदन स्वामी ने 'त्यजेद् इति यत् स त्यागः' यों क्रियाविशेषण माना है। नीलकण्ठ का अभिप्राय तत् को 'तस्मात् हेतोः' के अर्थ में मानने का है। ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्या में 'यः इत्यर्थे यद् इति सामान्यं नपुंसकम्' कहकर श्लोकस्थ 'सः' से इस 'यत्' को जोड़ा है। ये सब अन्वय के विकल्प हैं, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। 'यह कर्म दुःख ही है' इसलिये छोड़ा गया होने से यह राजस त्याग है। भगवान् ने यहाँ कायक्लेशभय कहा है; इससे केवल स्थूल शरीर का भय नहीं लेना। जितने सुधारवादी कर्म में सुधार की बात कहते हैं वे सब इह लोक के दुःखों को बताकर बदलने के लिये कहते हैं। 'यह करने से धन की प्राप्ति कम होगी' आदि बातें इस 'कायक्लेशभय' के पेट में विद्यमान हैं। जिसको तुम अपना शरीर समझते हो, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म, दोनों को ही 'काय' से ग्रहण कर लेना चाहिये। ज्ञानपूर्वक जो त्याग होता है वही त्याग फल देता है। 'मैं कर्त्ता भोक्ता नहीं हूँ' इस ज्ञान के कारण जो उत्तम त्याग है, उसका फल मोक्ष में अन्वित हो जायेगा। विविदिषु का त्याग यह मानकर है कि 'मैं ब्राह्मण आदि हूँ यह *सिद्ध* नहीं होता'। उसका भाव है कि 'मैं यदि ब्राह्मण हूँ तो ज़रूर करूँ, परन्तु ब्राह्मण आदि शरीर का धर्म है, शरीर को जानने वाला मैं शरीर से भिन्न हूँ'। इस प्रकार आत्मानात्म-विवेक करके 'मैं अनात्म पदार्थ नहीं हूँ' यह समझने के बाद वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही प्रवृत्ति करता है। अतः उसके लिये यज्ञादि में प्रवृत्ति बनती नहीं। निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही उसका लगना उचित है। जो शरीर के निर्वाह मात्र के कर्म हैं, उनके लिये भगवान् ने पहले ही कह दिया 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं,' उतना मात्र ही विविदिषु से होता है, और किसी कर्म में प्रवृत्ति बनती नहीं। उतने मात्र से अतिरिक्त प्रवृत्ति रहते हुए यदि कोई यज्ञादि को छोड़ता है तो फिर वह राजस त्याग ही हो जाता है। जो कर्म का त्याग श्रवण, मनन में लगाकर तत्त्वमसि आदि वाक्यों से

अपरोक्ष ज्ञान के लिये हो वह सफल है। ऐसे ही, अपरोक्ष ज्ञान होने पर जो त्याग अपना जो अकर्तृ–अभोक्तृ स्वरूप है, उसमें स्थिरता के लिये हो, वह भी सफल है। परन्तु यह जो कायक्लेश के भय से छोड़ना है, अर्थात् देहद्वय को दुःख होगा यह सोचकर छोड़ना है, वह त्याग फल नहीं देता अर्थात् परमात्मा की तरफ नहीं ले जाता। इस प्रकार स्पष्ट किया कि तामस त्याग मोह या अविवेक या अज्ञान से होता है और राजस त्याग दुःख के भय से होता है।।८।।

अब सात्त्विक त्याग को बताते हैं। जिसमें कर्म का त्याग नहीं, कर्म के फल और आसक्ति का त्याग है, उसी को भगवान् यहाँ सात्त्विक त्याग कह रहे हैं। उसी को भगवान् पहले खुद भी 'एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च' के द्वारा कह आये हैं। भगवान् ने जिसे अपने निश्चित मत के रूप में बताया था, वही सात्त्विक त्याग है –

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

अर्जुन! 'कर्तव्य है' यही स्वीकारकर आसक्ति व फल छोड़कर जो नित्य कर्म किया जाता है वह सात्त्विक त्याग माना गया है।

नियत कर्म अर्थात् नित्यनैमित्तिक कर्म, जिन्हें बिना किसी फल के लिये कहे हुए शास्त्र ने करने का विधान किया है। कुछ कर्मों का विधान करते हुए उनके फल को बताया है जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की कामना हो तो ज्योतिष्टोम याग करे। जो फल का त्याग करते हैं उनके लिये उन कर्मों को करने की सम्भावना ही नहीं रहती। कुछ कर्मों के लिये शास्त्र ने इस प्रकार कामना को निमित्त नहीं बनाया है, जैसे कहा 'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्' जन्मभर अग्निहोत्र करे। इसी प्रकार संध्यावन्दन आदि कर्म कामना हो तब करे ऐसा नहीं कहा। इसलिये वे जिसके लिये कहे गये हैं उसके लिये नियत हैं, निश्चित हैं, नित्य प्राप्त हैं। नित्य कर्मों के साथ नैमित्तिक कर्म भी समझ लेने चाहिये क्योंकि उन्हें भी फल के लिये विहित नहीं किया है। नित्य–नैमित्तिक कर्मों का चूँकि शास्त्र ने विधान किया है, भगवान् ने बताया है, इसलिये वे करने हैं। परमेश्वर की आज्ञा पालन करने के लिये उन्हें करना है। 'कार्यमित्येव' अर्थात् 'ये हमें प्राप्त हैं इसलिये करने ही हैं' यह जिनके बारे में निश्चय है वे नियत कर्म ही होंगे, उन्हें ठीक प्रकार से सम्पन्न करना है।

साथ ही 'संगं फलं च त्यक्त्वा' संग और फल दोनों को छोड़ना है। इससे पुनः पता चलता है कि भगवान् का यह तात्पर्य है कि नित्य कर्मों का भी फल है ही। कुछ लोग मानते हैं कि नित्य कर्म का कुछ फल नहीं है। किन्तु वह पक्ष भगवान् को स्वीकृत नहीं है। वे लोग कहते हैं कि नित्य कर्मों को करने का फल नहीं है परन्तु नहीं करने का फल प्रत्यवाय तो है ही! अतः प्रकारान्तर से वे भी मानते हैं कि प्रत्यवाय का न होना उस कर्म का फल है। जैसे तुम भोजन को ढककर रख देते हो तो उस पर मक्खी नहीं बैठती। इसलिये उसे ढाँकने

का यह फल तो है ही कि मक्खी से भोजन बच गया। इसी प्रकार नित्य कर्म करने से प्रत्यवाय का दोष नहीं लगा - यह तो उसे करने का फल उन्हें भी स्वीकृत है ही। वैसे, कर्म नहीं करने से फल उत्पन्न हो, यह सिद्धान्त असत् से सत् की उत्पत्ति का पक्ष हो जाता है जो केवल बौद्धों को स्वीकृत है। वैदिकों में कोई भी असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मानता। अतः कर्म नहीं करने से प्रत्यवाय होता है- यह पक्ष असत्-कारणवाद का पक्ष होने के कारण वैदिकों को स्वीकृत नहीं हो सकता। और भी एक कारण है; वेद किसी कर्म का विधान बिना फल के करे तो वह वेदवचन व्यर्थ हो जायेगा। वेद जिसका विधान करता है उसका हमेशा अच्छा फल ही होता है। जब वेद ने नित्यकर्म का विधान किया है तो उसका अच्छा फल ही होगा। सभी कर्मों का एक फल तो है ही कि क्योंकि सभी कर्म परमात्मा की आज्ञा हैं, इसलिये परमात्मा की आज्ञा मानने से परमात्मा की प्रसन्नता पैदा होगी। किसी कामना से कर्म किया गया है तो परमात्मा प्रसन्न होकर उस कामना को पूरा कर देंगे। परन्तु किसी कामना को सामने रखकर जो कर्म नहीं किया है उससे परमात्मा की प्रसन्नता होगी। उस प्रसन्नता से तुम्हारा अत्यंत कल्याण परमात्मा कर देंगे। जीवके अत्यन्त कल्याण की चीज़ है उसका चित्त शुद्ध होकर ज्ञान की प्राप्ति हो, अथवा ज्ञान प्राप्त है तो ज्ञाननिष्ठा हो। यही जीव के अत्यंत कल्याण की चीज़ है क्योंकि संसार बन्धन से छूटने के लिये ये दोनों चीज़ें ज़रूरी हैं। श्रवण-मनन के लिये पहले तो चित्त-शुद्धि अपेक्षित होती है। अशुद्ध चित्त के द्वारा श्रवण-मनन सम्पन्न नहीं हो सकता। जैसे जिस व्यक्ति की आँख में दोष है वह जौहरी हो नहीं सकता क्योंकि बिना आँख के ठीक हुए वह परीक्षा ही नहीं कर सकता। जिसके कान में दोष है वह कभी संगीत का ज्ञाता बन नहीं सकता क्योंकि कान का दोष उसे स्वर को समझने में असमर्थ कर देता है। इसी प्रकार से जिसके मन में दोष है वह परमात्मविषयक बात का श्रवण-मनन कर ही नहीं सकता। अतः श्रवण-मनन के लिये चित्त-शुद्धि अपेक्षित है। परमात्मा प्रसन्न होकर, किसी कामना को तुमने सामने नहीं रखा है तो तुम्हारे चित्त को शुद्ध करेंगे जिससे श्रवण-मनन सिद्ध होगा। जिसने श्रवण-मनन किया भी है, उसमें तत्त्व पर निष्ठा होना भी परमेश्वर की कृपा पर ही निर्भर करता है। अतः जिस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके द्वारा किये हुए नियत कर्म तो उसकी निष्ठा को सम्पन्न कर देंगे और जिसे ज्ञान नहीं हुआ है उसके लिये श्रवण-मनन सम्भव कर देंगे। इसीलिये श्रुति ने उनके फल का विधान नहीं किया। श्रुति का वही वचन प्रामाणिक होता है जो सफल होता है, फल को उत्पन्न करने वाला होता है। ज्ञान को भी इसीलिये प्रामाणिक माना जाता है कि अज्ञाननिवृत्ति रूप फल पैदा कर देता है। अज्ञान निवृत्त होने पर चूँकि स्वरूपभूत परमात्मा में स्थिति हो जाती है इसलिये ऐसा कह दिया जाता है कि उससे परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह वैसा ही है जैसे पीठी करके स्नान करने से शरीर का मल निवृत्त हो जाता है, परन्तु फिर भी ऐसा कहा जाता है कि उससे शरीर सुन्दर हो जाता है। शरीर तो जैसा है वैसा ही है! केवल मल के कारण उसमें जो कमी आई थी वह हट जाती

है। वस्तुतः तो अज्ञान निवृत्त ही होता है परन्तु कहा यह जाता है कि इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष तो तुम्हारा स्वरूप है, उसकी प्राप्ति हो नहीं सकती। परन्तु मुक्त होने पर भी अज्ञान के कारण अपनी उस मुक्ति का अनुभव नहीं करते इसलिये उसका लाभ नहीं उठा पा रहे हो। अज्ञान निवृत्त होने पर उस परम आनन्द में स्थित हो जाते हो।

इस प्रकार सात्त्विक त्याग में कर्तव्य कर्म करना ही है। क्या नहीं करना है? आसक्ति और फल की कामना नहीं करनी है। संग और फलेच्छा का त्याग करना है, संग और फल को छोड़ कर्तव्य कर्म ही करना है, फल परमात्मा को समर्पित कर देना है। इससे आत्मसंस्कार होता है – यह फल भी अज्ञान के द्वारा कल्पित है। जैसा पहले बताया, कि पाप का आत्मा के साथ तो कभी भी स्पर्श हो ही नहीं सकता! परन्तु अंतःकरण के दोष से अज्ञान के कारण आत्मा उस दोष वाला लगता है, उसकी यों निवृत्ति हो जाती है। जैसे फलत्याग वैसे ही संगत्याग भी ज़रूरी है। कर्म के प्रति आसक्ति भी होती है। किसी कर्म को लम्बे समय तक करने पर उस कर्म में आसक्ति हो जाती है। अतः किसी कारण से उसकी कार्यता प्राप्त न होने पर भी उसे छोड़ने का दिल नहीं करता। जैसे अगर हम कोई पाठ करते रहे हैं, किसी कारण से वह पाठ करना हमारे लिये ज़रूरी नहीं रह गया तो भी नहीं करने से मन में एक खटक होती रहती है कि 'कर ही लेते तो अच्छा था, छोड़ें कैसे'। यह जो कर्म के प्रति आसक्ति है वह भी नहीं होनी चाहिये। 'कार्यमित्येव यत्कर्म' जो हमें परमात्मा की आज्ञा से प्राप्त कर्म है वही करना है। नित्य नैमित्तिक कर्म में संग और फल को छोड़कर उसका अनुष्ठान सात्त्विक त्याग है। कर्म का त्याग तो राजस और तामस त्याग है जबकि कर्म करते हुए फल और आसक्ति का त्याग सात्त्विक त्याग है।

यहाँ भगवान् भाष्यकार ने एक शंका उठाई है कि अर्जुन का प्रश्न कर्म-त्याग-विषयक था तो कर्म-त्याग तीन प्रकार का बताना चाहिये था। राजस और तामस दो में तो भगवान् ने कर्मत्याग की बात कही, पर तीसरा कर्म का त्याग नहीं बताया वरन् कर्म को तो करने को ही कहा, संग और फल का त्याग बता दिया। यह वैसे ही हुआ जैसे कोई कहे कि 'तीन ब्राह्मण आ गये, उनमें दो तो बड़े भारी वैदिक हैं, एक क्षत्रिय है'। शुरू में जब कहा कि तीन ब्राह्मण आये हैं, तब तीनों को ब्राह्मण होना चाहिये। इसी प्रकार भगवान् का कहना हो गया कि कर्मत्याग तीन तरह का है, उनमें दो तो कर्मत्याग हैं और एक फलत्याग है! आचार्य ने समाधान दिया है कि भगवान् का तात्पर्य है कि प्रश्न त्याग-विषयक है; 'किसका त्याग' – यह गौण है, यह मानकर भगवान् ने जवाब दिया। अतः कर्मत्याग को राजस और तामस कहा तथा फलेच्छा-त्याग को सात्त्विक कहा। इसलिये भगवान् ने तीन प्रकार के *त्याग* की बात कही, तीन प्रकार के *कर्मत्याग* की बात नहीं कही।।९।।

जो इस प्रकार से नियत कर्म करता है, फल और आसक्ति से होने वाला कलंक भी उसके अंतःकरण पर नहीं चढ़ता और परमात्मा की आज्ञा के पालन से अंतःकरण का संस्कार हो जाता है। ऐसा संस्कृत अंतःकरण श्रवण-मनन के योग्य हो जाता है। ऐसे नित्य

कर्मों का अनुष्ठान करने वाले का भगवान् वर्णन करते हैं -

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

संग व फल का त्यागी जब विवेकयोग्य अन्तःकरण वाला होकर आत्मज्ञानरूप प्रज्ञा पा जाता है और उसके सभी संशय मिट जाते हैं तब वह न अशोभन कर्म से द्वेष करता है, न शोभन कर्म में आसक्ति करता है।

अर्जुन के लिये यह कठिन समस्या है कि दादाजी, गुरुजी को मारना है, ऐसा अत्यंत अशोभन कर्म करना है। लोक में यह अत्यंत अशोभन कर्म ही माना जायेगा। इसीलिये अर्जुन इस युद्ध को छोड़ना चाहता है। अतः भगवान् समझा रहे हैं कि शास्त्र क्षत्रिय के लिये आज्ञा देता है कि धर्म युद्ध करे ही। अतः अकुशल कर्म अर्थात् जो शोभन कर्म नहीं है, जो अच्छा नहीं लगता, उसके प्रति भी जो द्वेष नहीं करता है वही नित्य कर्म कर पाता है। बहुत से कर्म ऐसे होते हैं जो सामान्य लोक-दृष्टि से अच्छे नहीं माने जाते परन्तु जिनका विधान किया गया है। जैसे लोक में भीख माँगना अत्यन्त अशोभन कर्म माना जाता है। फिर भी ब्रह्मचारी और संन्यासी के लिये भिक्षा का ही विधान है। जो अकुशल कर्म से द्वेष करता है वह कहता है कि 'हम भीख नहीं माँगेंगे लेकिन हम संन्यासी बनना चाहते हैं'! संन्यासी और ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा ही एकमात्र अनुमत साधन है। भीख चूँकि लोक में अकुशल या अशोभन कर्म माना जाता है इसलिये उसके प्रति लोगों को द्वेष रहता है। अनेक कर्म ऐसे हैं जो लोक-दृष्टि से अशोभन हैं, लोकदृष्टि से वे अच्छे नहीं माने जाते, परन्तु परमेश्वर ने उनका विधान किया है, उन्हें करने की आज्ञा दी है, इसलिये 'उन्हें मैं न करूँ' ऐसी भावना सात्त्विक में नहीं होती। और 'कुशले नानुषज्जते'; बहुत से कर्म ऐसे होते हैं जो शोभन हैं इतने मात्र से उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। जैसे अर्जुन ने कहा था 'मैं भिक्षा लेकर रहने में और इस प्रकार के युद्ध को न करने में अपना कल्याण समझता हूँ', इसी प्रकार उसको लगा कि 'मैं युद्ध को छोड़कर एकान्त में बैठकर भजन करूँ।' यह कुशल कर्म है, सारी दुनिया में प्रशंसनीय है। लोग कहेंगे, 'अर्जुन सारा झगड़ा छोड़कर भजन में लगने को कह रहा था, तो अच्छा ही कर रहा था' लेकिन उसके प्रति अर्जुन को आसक्ति थी। कुशल कर्म के प्रति आसक्ति और अकुशल कर्म के प्रति द्वेष - दोनों को अर्जुन में भगवान् ने दिखाया है। कुशल के प्रति भी जिसकी कोई सक्ति नहीं है वही व्यक्ति संग और फल का परित्याग करने के कारण त्यागी है। संग और फल का त्याग करने वाला व्यक्ति, उसके लिये जो कर्म निश्चित किया गया उसी नित्य नैमित्तिक कर्म को करता है। न अकुशल के प्रति द्वेष और न कुशल के प्रति आसक्ति करता है।

ऐसा कब करता है? 'सत्त्वसमाविष्टः' जब उसके अंतःकरण में सत्त्वगुण होता है। जब पूर्व जन्मों के पुण्यपरिपाक से अंतःकरण में सत्त्व गुण का उद्रेक होता है तब इस प्रकार

का त्याग होता है। ऐसा जो त्यागी होगा वह मेधावी होगा अर्थात् ठीक प्रकार से उपनिषदों का श्रवण करेगा। जो सत्त्व-समाविष्ट नहीं होता वह श्रवण नहीं कर पाता। मेधा का अर्थ होता है ग्रन्थार्थ धारण की सामर्थ्य होना। ग्रन्थ को पढ़कर उसे ठीक प्रकार से याद रखने की सामर्थ्य होनी चाहिये। इसलिये वह व्यक्ति श्रवण कर ही नहीं सकता जो आगे-आगे पढ़ता जाये और पीछे-पीछे का भूलता जाये! वेदान्तादि शास्त्रों को समझने के लिये क्रम होता है। अगर पहले की बात याद नहीं रखी तो आगे की बात ठीक से समझ नहीं सकते। जैसे गणित पढ़ाते समय पहले तुम्हें जो जोड़, बाकी, गुणा, भाग पढ़ाते हैं, फिर यह मानकर चलते हैं कि वह सब तुम्हें याद है। जोड़-गुणा आदि भूल गये तो आगे के सूत्रादि नहीं समझ सकते। इसी प्रकार वेदान्त को समझने के लिये शुरू की प्रक्रियायें पहले समझाते हैं। उन्हें याद रखकर आगे समझना है। अगर पहले वाली प्रक्रियायें भूल गये तो आगे आने वाली बात सारी गड़बड़ा जायेगी और छिन्न-संशय नहीं हो पाओगे। जब सत्त्वगुण होता है तब अपने मन में आये हुए संशय को तुम ऊहापोह के द्वारा हटाते हो। अंतःकरण यदि सात्त्विक नहीं होता तो संशय कटते नहीं, बने रहते हैं। आत्मस्वरूप में स्थित रहना ही श्रेयस का साधन है। इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। अंतःकरण की शुद्धि न होने के कारण ही संशय छिन्न होते नहीं, श्रवणादि से अन्य साधनों के प्रति आकर्षण हो जाता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जिस अधिकारी पुरुष का अन्तःकरण आसक्ति और फल को छोड़कर कर्मयोग का अनुष्ठान करके ठीक प्रकार के संस्कारों वाला हो जाता है, वह जन्म आदि विकारों से रहित होकर अपने निष्क्रिय आत्मस्वरूप को भली प्रकार से समझ लेता है। ऐसे के ही बारे में भगवान् पहले कह आये हैं 'नैव कुर्वन्न कारयन्' अपने आत्मस्वरूप में स्थित होने के बाद वह न कुछ करता है और न करवाता है क्योंकि उसे पता लग जाता है कि यह सब कुछ हो ही नहीं सकता। मेधावी और छिन्नसंशय कहकर भगवान् ने कर्मयोग का प्रयोजन बता दिया। उस प्रकार का जो अधिकारी है वह कर्मबन्धन से छूट जाता है।।१०।।

जो इस प्रकार से छूटे बिना अपने को शरीर-मन मानते हुए कर्म छोड़ना चाहता है वह धोखे में रह जाता है। जिसने अपने स्वरूप को जान लिया, उसके लिये आत्मा से कुछ करवाना हो ही नहीं सकता क्योंकि वह स्वरूप में स्थित हो गया। जो अपने शरीर-मन को अपना स्वरूप समझते हुए कर्मत्याग करना चाहता है उसके लिये भगवान् कहते हैं –

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहात्माभिमानी द्वारा कर्म पूर्णतः छोड़े नहीं जा सकते अतः जो कर्मफलों को छोड़ता है वह त्यागी कहलाता है।

देहभृत् अर्थात् देह को जो अपना आत्मस्वरूप समझता है, देह से ताःदात्म्य रखने वाला

है। सचमुच में तो आत्मा कभी भी देह वाला नहीं होता, अज्ञान से ऐसा अभिमान है। इस अभिमान से लगता है कि देह से जो कर्म होते हैं वे मैंने किये और जो देह से कर्म नहीं होते वे मैंने नहीं किये। इस देह से जो कर्म होता है उसे देहभृत् मानता है 'मैं करता हूँ' और जो इस देह से नहीं होता उसे मानता है 'मैं नहीं करता'। जो इस प्रकार से देहभृत् या अज्ञानी है, उसने आत्मा में कर्तृत्त्व का बाध नहीं किया है। बाध होने से जैसे कर्म छूटता है वैसे बिना बाध हुए नहीं छूट सकता। क्योंकि अज्ञानी की निश्चित बुद्धि है कि 'शरीर मन से जो हो रहा है वह मैंने किया' इसलिये वह अशेष कर्म का त्याग कर ही नहीं सकता। जहाँ ज्ञानी का प्रसंग आता है वहाँ भाष्यकार सर्वकर्मसंन्यास कहते हैं, कुछ कर्मों का संन्यास नहीं कहते। ऐसा सर्वकर्मसंन्यास अकर्तृत्त्व बोध के बाद ही हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि देहभृत् के लिये अशेष कर्मों का त्याग नहीं बनता, सारे कर्मों का त्याग उसके लिये सम्भव नहीं। भगवान् पहले कह आये हैं कि जो व्यक्ति बाहर से कर्मों को न करके मन से कर्तृत्त्व बुद्धि रखे हुए है वह मिथ्याचारी है। 'शरीर से कोई काम नहीं होने देना' – इस प्रकार का *कर्म* करते हुए जो कहता है कि 'मैंने कर्म छोड़ दिया', वह मिथ्याचारी है। शरीर तो इसलिये नहीं कर रहा है कि तुम उसे रोक कर बैठे हो! इसलिये कर्मत्याग नहीं हुआ। बाह्य कर्म को छोड़ दिया लेकिन रोकने वाला कर्म तो कर ही रहे हो। यहाँ यह अर्थ नहीं है कि जब तक जीवन है तब तक कर्मत्याग नहीं हो सकता; क्योंकि जैसे जीवन में नहीं हो सकता वैसे ही मरने के बाद भी नहीं हो सकता! कर्मत्याग आत्मा में अकर्तृत्त्व के बोध से ही होता है। मरने आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

देही रहते हुए तुम सर्वकर्म-संन्यास नहीं कर सकते तो फिर तुमसे क्या हो सकता है? 'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।' जो अज्ञानी है और परमात्मा की तरफ जाना चाहता है उसके लिये तो यही उपाय है कि कर्मफल का त्याग करे। इसलिये कर्मफल का अभिसंधान न रखने वाले को सात्त्विक त्यागी कहा जाता है। कर्म का त्याग तो ज्ञान के बाद होगा, उसके पहले जिसे त्यागी कहा जाता है वह कर्मफलत्यागी ही है।।११।।

त्याग और संन्यास विषयक अर्जुन ने प्रश्न किया था, उसके जवाब में भगवान् ने कहा कि जब तक देहाभिमान है तब तक कर्मों का त्याग नहीं हो सकता, परन्तु कर्मफल का त्याग हो सकता है अतः कर्मफल का त्याग करने वाला ही सात्त्विक त्यागी कहा जाता है। यह सुनने पर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि एक तो कर्मफल-त्यागी होते हुए कर्म करने वाला है और दूसरा है कर्मत्याग करने वाला। जो कर्मत्याग करेगा वह कर्मफल का त्याग तो करेगा ही। अतः प्रश्न है कि यदि दोनों एक जैसे हैं तो कर्मत्याग की क्या विशेषता हो सकती है? सर्वकर्मत्याग फिर क्यों आवश्यक है? इसका जवाब भगवान् देते हैं –

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

अत्यागियों को मरकर अनिष्ट, इष्ट और मिश्र– तीन तरह का कर्मों का फल मिलता है। संन्यासियों को तो कभी कोई कर्मफल नहीं मिलता।

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सात्त्विक त्यागी ने कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित कर दिया है तथापि कर्म होगा तो फल तो देगा ही। लोक में भी यही बात है: हमने भोजन का त्याग किया तब तो पेट नहीं भरेगा। लेकिन भोजन बनने के फल का त्याग किया तो पेट खाली नहीं रह जायेगा! पति प्रसन्न हो इस प्रयोजन से यदि पत्नी भोजन करती है तो प्रसन्नतारूप फल पति को ही मिलने पर भी पत्नी का पेट तो भरता ही है। इसी प्रकार हमने कर्म किया और फल ईश्वरार्पण कर दिया इसलिये क़ामना की पूर्ति तो वह कर्म नहीं करेगा, केवल परमेश्वर की प्रसन्नता को लायेगा। परमेश्वर की प्रसन्नता का प्रभाव चित्तशुद्धि है। परमेश्वर यही चाहते हैं कि सब लोगों के अन्तःकरण शुद्ध होकर सभी परमात्ममार्ग में लगें। यदि सात्त्विक त्याग करते हुए यहीं तुम्हारी चित्तशुद्धि हो गई तब तो वैराग्य हो कर, श्रवण–मनन में लग कर तुम अकर्तृ–आत्मबोध को पाकर मुख्य संन्यासी बन जाओगे। परन्तु यदि किसी कारण से अंतःकरण की शुद्धि के पहले ही मर गये तो फिर उन कर्मों का फल होगा ही। इसलिये 'प्रेत्य अत्यागिनां' कहा। जिन लोगों ने कर्मफल का त्याग नहीं किया है अर्थात् जो अज्ञानी हैं, कर्म करते हैं, उनको अनिष्ट, इष्ट और मिश्र इन तीन प्रकार का कर्मों का फल मिलता है। अनिष्ट फल– नरक की प्राप्ति। जो पाप कर्म की अधिकता वाले होंगे उनको नरक की प्राप्ति होगी अथवा पशु, पक्षी आदि शरीरों की प्राप्ति होगी। नरक भी इष्ट नहीं और पशु, पक्षी की योनि भी इष्ट नहीं, इसलिये अनिष्ट फल है। इष्ट फल - स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति। जहाँ सब प्रकार के सुख उपलब्ध होते हैं, वे सब इष्ट हैं। जिन्होंने केवल शास्त्र में बताये हुए कर्म किये हैं, उन्हें तो इष्ट लोकों की प्राप्ति होगी। जिन लोगों ने निषिद्ध कर्मों का आचरण किया है उन्हें अनिष्ट लोकों की प्राप्ति होगी। अधिकतर लोग कुछ शास्त्र–विहित और कुछ शास्त्र–निषिद्ध कर्म करते हैं। सवेरे उठकर गंगा स्नान और विश्वनाथ का दर्शन करते हैं। फिर दिनभर दुकान में बैठकर नकली माल असली कहकर बेचते हैं। उनके लिये मिश्र फल होगा। उन्होंने जो शुभ कर्म किये हैं उनका फल भी भोगेंगे और जो अशुभ कर्म किये हैं उनका फल भी भोगेंगे। इसके द्वारा भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि हर एक कर्म का अलग–अलग फल भोगना पड़ता है। इष्ट और अनिष्ट से संयुक्त मनुष्य योनि है। यहाँ हम लोगों को सुख भी मिलता है और दुःख भी मिलता है। इस प्रकार से कर्म का तीन प्रकार का फल मिलता है।

ये सारे फल कैसे होंगे? फल शब्द का अर्थ है 'फल्गुतया लयम् अदर्शनं गच्छति इति फलम्'। जो व्यर्थ चीज़ होती है उसे फल्गु कहते हैं। इसलिये जिस नदी में पानी नहीं–जैसा होता है, खोदने पर थोड़ा–सा पानी निकलता है, उस नदी को भी फल्गु नदी कहते हैं। बिहार आदि प्रान्तों में ऐसी नदियाँ हैं। संसार के जितने काम्य पदार्थ हैं वे सब फल्गु ही हैं। जैसे वहाँ नदी दीखती तो है पर सूखी है, फल्गु है, इसी प्रकार इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होती है

और फिर वह समाप्त हो जाता है। हमने जितने कर्म किये हैं उस हिसाब से उतने काल तक फल स्थिर रहेंगे और जैसे ही पुण्य का प्रभाव पूरा हुआ वैसे ही वह फल लीन हो जायेगा, उसका अदर्शन हो जायेगा। इसी प्रकार अनिष्ट नरकादि भी कुछ समय तक दुःख देते हैं और फिर ख़त्म हो जाते हैं। मिश्र कर्मों का फल तो देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है। नरक का दुःख और स्वर्ग का सुख फिर कुछ स्थायी है, परन्तु हम लोगों को उपलब्ध फल अति अस्थिर है, यहीं दीखता है कि एक चीज़ पहले सुख देती है और फिर चली जाती है। कर्म चूँकि अविद्या से ही होता है इसलिये माया की तरह या इन्द्रजाल की तरह देखते-देखते समाप्त हो जाता है। ऐन्द्रजालिक झट से खेल समेट लेता है। थोड़ा दीखता और लीन होता रहता है फिर भी मोह होता रहता है! लगता है कि बस अब की बार तो सुख हमारे हाथ में आ गया! पहले बेटा नहीं था, पुत्रप्राप्ति के लिये हमने व्रत आदि किया, पुत्र उत्पन्न हो गया। लेकिन यह भूल जाते हैं कि पुत्र का पहले अभाव था, अब आया है और आगे फिर अभाव हो जायेगा। सोचते हैं कि पुत्र बना ही रहेगा। अकस्मात् कहीं दुर्घटना होती है और वह मर जाता है, तब दुःखी होते हैं। इस प्रकार से अनिष्ट, इष्ट और मिश्र तीनों ही फल्गु होने से फल कहे जाते हैं।

जो त्यागी नहीं है, कर्म कर रहा है और फल का त्याग भी नहीं करता अर्थात् कर्मफल परमात्मा को अर्पण नहीं करता, उसे फल प्राप्त होता ही है। जो सात्त्विक त्यागी हैं उनके अंतःकरण की शुद्धि होती है क्योंकि उन्होंने कर्मफल परमेश्वर को अर्पित किया। उनके लिये निषिद्ध कर्म करने की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि हमेशा फलेच्छा से ही ग़लत काम किया जाता है। जैसे झूठ किसी मतलब से बोलते हो। हमेशा किसी फल की इच्छा से ही मनुष्य निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त होता है। शास्त्र की आज्ञा कभी भी प्रतिषिद्ध कर्म के लिये नहीं होती। शास्त्र तो तुमको हमेशा कल्याण का मार्ग ही बताता है। अतः जो कर्मफल-त्यागी है उसको अनिष्ट फल तो हो ही नहीं सकता क्योंकि अनिष्ट देने वाले प्रतिषिद्ध कर्म को तो उसने किया ही नहीं। इष्ट फल उसने परमात्मा को दे दिया जिसके द्वारा अंतःकरण की शुद्धि के कारण उसे मनुष्य शरीर ही मिलता है। इसलिये छठे अध्याय में भगवान् ने स्पष्ट किया था कि यदि इस प्रकार की साधना करने वाले को सिद्धि नहीं मिलती तो फिर वह योगियों के घर में उत्पन्न होकर पुनः इस मार्ग को बचपन से ही लेकर परमात्म-प्राप्ति कर लेता है। चूँकि शास्त्र में केवल मनुष्य को अधिकार है, न देवताओं को और न नरक में जाने वालों को अधिकार है, न पशु-पक्षी आदि को अधिकार है, अतः ऐसे साधक को मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है। अत्यागी को अनिष्ट, इष्ट और मिश्रफल होता है। त्यागी को अनिष्ट और इष्ट प्राप्त होता नहीं, फिर भी मिश्ररूप जो मनुष्य योनि है, उसकी प्राप्ति होती है।

'संन्यासिनां' अर्थात् जिन्होंने इस बात को समझ लिया है कि आत्मा शरीर आदि से किसी सम्बन्ध वाला नहीं है, इसलिये उन्हें अकर्तृ-आत्मबोध हो गया है, 'मैं अकर्त्ता हूँ' इस तत्त्व की निष्ठा प्राप्त कर ली, ऐसे जो संन्यासी हैं, उनको मरकर फिर न अनिष्ट योनि में,

न इष्ट योनि में और न मिश्र मनुष्य योनि में आना है क्योंकि संसार का बीज अविद्या समाप्त हो चुकी है। परमार्थ दृष्टि से जो अपने को अकर्त्तारूप से जानता है उसका ही सर्वकर्मसंन्यास है। जब तक आत्मा को अकर्त्ता रूप से अनुभव नहीं कर लिया तब तक अपने को शरीर से सम्बंध वाला जानता है अतः तब तक सारे कर्म नहीं छूट सकते। अकर्तृ–आत्मबोध होने पर शरीर से सम्बन्ध नहीं रह जाता, अतः कर्म से सम्बन्ध रह नहीं जाता, क्योंकि अविद्या निवृत्त हो चुकती है। ऐसे जो सर्वकर्म–त्यागी हैं उनको फिर शरीर की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार, केवल परमार्थदर्शी को ही अशेष कर्म का संन्यास प्राप्त होता है। जब तक यह अकर्तृ–आत्मबोध नहीं होता तब तक विविदिषा उत्पन्न होने पर जो संन्यास ग्रहण करता है उसमें श्रवण करने का विधान है, प्रणव–जप का विधान है, आदि अनेक विधियाँ प्राप्त हो जाती हैं। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' आदि विधियाँ उसके लिये ही हैं। इसलिये सर्वकर्म त्याग नहीं है। वह त्याग तो अकर्तृ–आत्मबोध होने पर ही सम्भव है।।१२।।

अब प्रश्न होता है कि आखिर यदि कर्म करने वाला जीव नहीं है, वह अविद्या के अध्यारोप से अपने को कर्त्ता मान रहा है, तो फिर ये सब कर्म हो कहाँ रहे हैं? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं –

प चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे महाबाहो! कर्मों की समाप्ति कराने वाले वेदान्त में सब कर्मों को संपन्न करने वाले ये पाँच कारण कहे गये हैं, इन्हें मुझसे समझो।

भगवान् अर्जुन को महाबाहु नाम से सम्बोधन करते हैं। अत्यन्त सामर्थ्य वाला ही महाबाहु कहा जाता है। भगवान् अर्जुन को कहते हैं – 'तू महाबाहु है, इसलिये जिस चीज़ को हम कहने जा रहे हैं उसको पूरे प्रयत्न से समझने में लग जाना।' पहले भी बताया था कि बाहु के द्वारा कर्म का कथन होता है क्योंकि अधिकतर कर्म आदमी हाथ से ही करता है। अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म करने वाले को महाबाहु कहते हैं। अतः भगवान् का अभिप्राय है 'तूने चूँकि अत्यंत श्रेष्ठ कर्म किया है इसलिये तू इस रहस्य को समझने में समर्थ हो सकता है। जो मैं आगे बताने जा रहा हूँ वे पाँच हैं। कर्म को सम्पन्न करने वाले या क्रिया से अन्वय वाले जो कारक हैं उन्हें मैं तुम्हें समझाता हूँ, तुम ध्यान दो।' 'निबोध मे' से भगवान् कह रहे हैं कि सारे संसार का कार्य चलाने वाला मैं परमात्मा इस बात को ठीक तरह से तुम्हें समझाऊँगा। जितने स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करना सृष्टि चक्र को चलाने वाला जानता है और जितना स्पष्ट बता सकता है, उतना कोई दूसरा नहीं कर सकता। दूसरा जान भी ले तो स्पष्ट नहीं कर सकता। सर्वज्ञ होने से परमेश्वर इसको जानता भी है और ठीक तरह से समझा भी सकता है। यह कहने का मतलब है कि ध्यान देकर समझ लो।

अर्जुन पूछ सकता है कि 'क्या केवल आप ही इस बात को कहने वाले हैं या यह बात प्रमाण-सिद्ध भी है?' वैदिकों की यह मान्यता है कि जो वेदमूलक बात नहीं होती वह चाहे भगवान् भी कहें तो प्रामाणिक नहीं होती! इसलिये बुद्ध को हम अवतार मानते हैं, उनकी पूजा करते हैं परन्तु उन्होंने जो अनात्मवाद का या असत्कारणवाद का प्रतिपादन किया, उसे हम नहीं मानते। फिर भगवान् ने बौद्धवाद का प्रवर्तन क्यों किया? क्योंकि उनको सृष्टि चक्र चलाने के लिये बहुत कुछ करना पड़ता है। असुर अत्यंत शक्तिमान् होकर देवताओं के विरुद्ध अचारण करते हैं इसलिये उनको अमृत नहीं पिलना था जबकि अमृत निकला था देवताओं और असुरों दोनों के एक साथ प्रयत्न करने से। तब भगवान् ने मोहिनी अवतार लेकर देवताओं को अमृत और असुरों को शराब पिला दी। इसी प्रकार से कलियुग के प्रारम्भ में असुर लोग यज्ञ यागादि से शक्ति प्राप्त कर लेते थे और फिर उस शक्ति के द्वारा ऋषि-मुनियों को सताते थे। कर्म का फल तो निश्चित है इसलिये वे कर्म करेंगे तो शक्ति प्राप्त करेंगे ही। कर्म करें और उन्हें शक्ति प्राप्त न हो, यह कैसे सम्भव है! जब यज्ञ-यागादि करना छोड़ें तभी शक्ति नष्ट हो। इसलिये बुद्धावतार के अन्दर भगवान् ने कहा 'अरे! यज्ञ-यागादि में कुछ नहीं रखा है', ताकि उनकी बात मानकर शक्ति प्राप्त न कर सकें। इसलिये प्रश्न उठता है कि आप जो बात कह रहे हैं वह प्रामाणिक वेद के द्वारा प्रतिपादित है या नहीं? इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो बात मैं बताने जा रहा हूँ वह वेद में प्रतिपादित है।

'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि'। एक सांख्यशास्त्र कपिल मुनि द्वारा बनाया हुआ प्रसिद्ध है। परन्तु भगवान् ने और स्वयं उपनिषदों के अन्दर वेदान्त को ही सांख्य कहा है। वेदान्त को सांख्य इसलिये कहते हैं कि वास्तविक तत्त्व का सम्यक् अर्थ भली प्रकार से यहाँ ख्यापन किया जाता है, प्रकट किया जाता है। वेदान्तों के अन्दर परमात्मविषयक बात बिलकुल स्पष्ट रूप से कही है अतः वेदान्त ही सांख्य है। वहीं पर यह भी बताया है। 'कृतान्ते'; कृत का अर्थ है कर्म, जो किया जाता है, और उस कृत की परिसमाप्ति कृतान्त हुई। अर्थात् कर्मों का स्वरूप से बाध बताने वाला जो वेदान्त-शास्त्र उपनिषद् है उन उपनिषदों के अन्दर इन पाँच को कर्म का कारण कहा है। 'सिद्धये सर्वकर्मणाम्' ये पाँच चीज़ें सारे कर्मों को सिद्ध कर देती हैं।।१३।।

भगवान् उक्त पाँच को समझाते हैं -

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र प चमम्।।१४।।

शरीर, कर्ता (उपहित चेतन), अलग-अलग तरह के वागादि साधन, नाना प्रकार के अलग-अलग प्राण और इनमें पाँचवाँ अदृष्ट (- ये कर्मों के प्रति कारण हैं)।

अधिष्ठान - जहाँ रहते हैं। शरीर में ही कर्ता, करणादि सब रहते हैं। यद्यपि राग-द्वेषादि

मन में रहते हैं परन्तु मन भी शरीर में ही तो रहेगा। ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख तभी होंगे जब शरीर होगा। शरीर ही यहाँ अधिष्ठान है। इसके बिना कोई कर्म नहीं हो सकता। इस शरीर को, चार्वाकों को छोड़कर, सभी वादी अनात्मा मानते हैं। शरीर को आत्मा केवल चार्वाक मानते हैं। बाकी सब शरीर को तो आत्मा नहीं मानते। अतः जैसे अधिष्ठान शरीर अनात्मा है वैसे ही इसके साथ बाकी चार चीज़ें भी अनात्मा ही हैं। इसलिये अधिष्ठानं *तथा* कहा। कर्त्ता – अहं का जो विषय है वही आत्मा है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व है तो बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति में, परन्तु उसके साथ आत्मा स्वयं को एक कर समझता है इसलिये 'मैं कर्त्ता' बनता है। आत्मस्वरूप होने पर भी जो अनात्मा के साथ अपने को एक समझ लेता है वही कर्त्ता है। जब तक यह अज्ञान रहेगा कि मैं शरीरादि वाला परिच्छिन्न चेतन हूँ, तब तक कर्त्ता-भोक्ता रहेगा। जब इस बात का पता लगता है कि मैं वैसा नहीं हूँ तब कर्त्ता-भोक्तापना नहीं रहेगा। थोड़ा भी विचार करते हैं तो यह पता लगता है : संसार में जिससे पूछते हैं वे सब अपने को 'मैं' कहते हैं। 'मैं' यह नाम सब मनुष्यों का है। हर एक मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है, इसलिये सबका यह एक नाम है। हर-एक यह भी कहता है कि 'मैं जानने वाला हूँ। आँख होती है तो रूप जानने वाला हूँ, आँख नहीं होती है तो रूप को नहीं जानता हूँ'। इस प्रकार से नाम भी सबका एक 'मैं' और रूप भी सब लोग एक ही बताते हैं – 'जानने वाला'। जब 'मैं जानने वाला' हर एक शरीर में है तो वह एक ही होना चाहिये, फिर यह अलगाव क्यों? शरीर अलग-अलग हैं इसलिये शरीरों के कारण ही अलगाव है, और कोई कारण इस अलगाव का नहीं है। जब यह पता लगता है कि 'मैं' इस अहंकाररूप उपाधि के कारण ही भेद प्रतीत हो रहा है, तब समझ आ जाता है कि 'सारे प्राणियों में रहने वाला एक परमात्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। मेरी वास्तविकता वही है'। इस बात को जानने से अकर्ता होगा, अन्यथा मैं जब तक मैं हूँ, अहंकार से एक हूँ, तब तक तो मैं कर्त्ता हूँ ही। इसीलिये विज्ञानमय अहंकारात्मिका वृत्ति की अवश्यकता है।

'पृथग्विधं करणं' – आँख, कान, नाक आदि सभी करण होंगे तभी तुम्हारा देखना, सुनना, सूँघना आदि सिद्ध होगा। अगर दूसरे की आँख देख रही है तो मैं यह नहीं कह सकता कि 'मैं देखने वाला हूँ'। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, मन सभी चाहिये। ये सभी करण अनेक तरह के हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ कर्म करने के लिये और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भोग करने के लिये हैं। इन दोनों को चलाने के लिये आवश्यक मन और प्राण चाहिये। इस प्रकार ये बारह होंगे तब कर सकते हो। 'विविधाश्च पृथक्चेष्टाः' क्रिया करने के लिये भी विविध चेष्टायें करनी पड़ेंगी। अपनी क्रियाशक्ति प्राण, अपान, उदान आदि की सहायता से भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टायें होती हैं। कभी किसी चीज़ को अन्दर लोगे, कोई चीज़ बाहर निकालने की चेष्टा करोगे, कभी अपने को फुलाने की, जैसे अँगड़ाई लेते समय, कभी संकोच की, जैसे छोटी मोटर हो और पाँच आदमी बैठने हों तो संकोच की चेष्ट करनी पड़ेगी;

इत्यादि अनेक प्रकार की अलग-अलग चेष्टायें प्राणों के द्वारा करनी पड़ती हैं। तब क्रिया होती है। लिखना प्रारम्भ करो तो पहले अँगुली-अँगूठे को चौड़ा करना पड़ता है, जब दोनों के बीच में कलम आ गई तब उन्हें सिकोड़ना पड़ता है। फिर लिखने के लिये ऊपर नीचे करने की चेष्टा करते हो, इत्यादि। अतः भगवान् ने दोनों बातें - पृथक् और अनेक प्रकार की चेष्टायें - कहीं। इस प्रकार ये चार कारण हैं।

'अत्र पंचमं दैवं चैव' इनमें पाँचवाँ कारण दैव है। दैव को समझना ज़रूरी है। परमेश्वर इस सारी सृष्टि का संचालन करने वाला है। उसका संचालन ऐसा नहीं होता कि तुमने पहले कर लिया और वह बाद में सोचता रहे कि कैसे किया? तुम्हारी हर क्रिया, हर विचार उत्पन्न होने के साथ ही तुम्हारे पुण्य और पाप का फल सामने होता है। यह फल देने के लिये उन्होंने समष्टि देवताओं का रूप लिया। जितनी आँखें हैं वे तभी काम करेंगी जब आदित्य की मोहर लग जाये। यदि उस समय तुम्हारा पुण्य कर्म है तब तो जो देखना चाहते हो वह देख पाओगो। अगर उस समय पाप कर्म है तो लाख चेष्टा करने पर भी नहीं देख पाओगे। जो भी पुण्य पाप करते हो उसका फल देने वाला परमात्म देव है। वह भिन्न-भिन्न उपाधियों के द्वारा समष्टि अभिमानी देवताओं के रूप में मौजूद है। इसलिये जब कभी तुम अपने करणों के द्वारा चेष्टाओं को करने जाओगे, उस समय यदि पुण्य है तो कर पाओगे, यदि पाप है तो नहीं कर पाओगे। इसलिये ऐसा नहीं है कि परमेश्वर तुम्हारे ऊपर से क्षणभर भी नियन्त्रण हटाये! वह सारा नियंत्रण तुम्हारे पुण्य-पाप कर्मों के अनुसार ही होता है। तुम किसी चीज़ की इच्छा कैसे करते हो? तुमको स्मृति आती है कि 'कल रसगुल्ला खाया था तो बड़ा मज़ा आया था'। इसलिये निर्णय करते हो कि रसगुल्ला सुख का कारण है। तब तुम आज रसगुल्ला खाने की इच्छा करते हो और यही सोचते हो कि स्वतंत्र होकर खाने की इच्छा कर रहा हूँ। बात ठीक है, परन्तु वह इच्छा तब कर सकते हो जब पहले खाया था यह याद है, शास्त्रीय भाषा में, जब वे संस्कार उद्‌बुद्ध हों। भगवान् पहले ही कह चुके हैं 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'। कई बार किसी बात को याद करने के लिये बड़ा सिर खुजलाते रहते हो, लेकिन याद आती ही नहीं और शाम को बिना मतलब वह बात याद आ जाती है। सोचते हो 'यदि उस समय याद आ जाती तो मैं उस आदमी को ठीक जवाब दे देता, अब शाम को याद आने पर क्या फायदा'। इसी प्रकार तुम्हारा रसगुल्ले का संस्कार उदय हुआ, तुमने खाने की इच्छा की। इस संस्कार को उद्‌बुद्ध करने वाला परमात्मा है। इच्छा होने के बाद चेष्टा इत्यादि करोगे। पुण्य का फल होगा तो उस चीज़ की उपलब्धि हो जायेगी, अन्यथा दुकान पर पहुँचोगे तो वह कहेगा 'माल ख़त्म हो गया'। तुम्हारे हर कार्य के प्रति दैव इस प्रकार कारण रहता ही है। यही परमात्मा का नियंत्रण है। सूर्य आदि जो चक्षु आदि के अनुग्राहक हैं उनके बिना काम नहीं हो सकता। इसी प्रकार मन का अभिमानी चन्द्रमा है। चन्द्रमा का अनुग्रह होगा तो तुम्हें बात याद आयेगी, नहीं तो याद नहीं आयेगी।

इसका अर्थ यह नहीं है कि फिर तुम्हारी स्वतन्त्रता कुछ नहीं है! यह स्पष्ट करने के

लिये भगवान् यहाँ पाँचों को कारण बता रहे हैं। कल रसगुल्ला खाया, आज स्मृति आ गई, फिर खाने की इच्छा हो गई। वह स्मृति भगवान् ने दे दी। यह स्मृति भी साथ आ गई कि बाजार में पता नहीं किस जाति के लोग रसगुल्ला बनाते हैं, शास्त्र में जिन म्लेच्छ, अन्त्यज आदि के हाथ का खाने का निषेध है उनकी स्मृति भी साथ आ गई। अब तुम्हारी अर्थात् कर्त्ता की स्वतंत्रता है कि तुम इसमें से किस स्मृति को लेकर चलो। शास्त्रीय स्मृति को लेकर चलोगे तो 'रसगुल्ला खाने से मज़ा आया था' यह स्मृति आने पर भी बलवत् अनिष्ट का ज्ञान उसे रोक लेता है। इसीलिये शास्त्र-संस्कार एकत्र करने पर ज़ोर दिया जाता है। दूसरी तरफ, शास्त्र विधि याद आई, लेकिन उसे छोड़कर सोचते हो- 'ये शास्त्र न जाने कितने पुराने हैं! इन्सान-इन्सान एब एक जैसे हैं, चाहे जिसके हाथ से खायें, क्या फ़र्क पड़ता है? आदमी स्वच्छ होना चाहिये'। तब शास्त्र-विधि को छोड़ोगे तो कामना से क्रिया करोगे। शास्त्र विधि के अनुसार चलोगे तो कामना को छोड़ोगे। इसके द्वारा भगवान् ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि शास्त्रविधि तुम्हारी कामना को पूरा करने के लिये नहीं है। यह दूसरी बात है कि अतिदीर्घ काल तक जो शास्त्र के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है उसके वही संस्कार बन जाते हैं और उसके मन में आती ही शास्त्रीय बातें हैं। अतः ऐसे व्यक्ति के लिये शास्त्रविधि और कामना के बीच हर समय झगड़ा नहीं रहता। परन्तु कभी-न-कभी तो झगड़ा होता है। चाहे जितना शास्त्र विधि को मानने वाला हो, दस दिन से खाना भी नहीं खाया, ठण्ड भी बड़े ज़ोर की पड़ रही है। प्रातः चार बजे मुँह से रजाई हटाता है तो सोचता है - 'दस मिनट बाद उठ जायेंगे'। शास्त्रविधि को प्रधानता दोगे तो झट से रजाई को छोड़कर उठ जाओगे, सोचोगे 'अभी तो दस मिनट ज़्यादा सो जायेंगे लेकिन मरने के बाद यमराज के डण्डे भोगने पड़ेंगे।' शास्त्रविधि को छोड़ोगे तो अपनी कामना पूरी करोगे और कामना छोड़ोगे तो शास्त्रविधि को पूरा करोगे। शास्त्रविधि के अनुसार करने वाले को इष्ट फल और विपरीत करने वाले को अनिष्ट फल होगा। कभी कामना के अनुसार और कभी विधि के अनुसार करने से मिश्र फल होगा। इस प्रकार दैव कारण तो है पर वह कर्ता की स्वतंत्रता का मौका समाप्त नहीं करता।१४।।

पाँचों से सारे कर्म होते हैं यह स्पष्ट करते हैं -

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा प चैते तस्य हेतवः।।१५।।

धर्मानुकूल हो या उससे विपरीत, शरीर वाणी और मन से जो भी कर्म नर सम्पन्न करता है, ये पाँच उसके हेतु बनते ही हैं।

'नरः प्रारभते कर्म' - कर्म का प्रारम्भ जीव ही करता है। विज्ञानमय जो अहंकार के साथ एक है, वही कर्म को प्रारम्भ करता है। उक्त पाँचों मिलकर कर्म करते हैं, परन्तु इनका प्रवर्तन कौन करता है अर्थात् इनको करने के लिये प्रेरित कौन करता है, किसकी प्रेरणा

से ये करते हैं? नर, जिसे पूर्व श्लोक में कर्त्ता कहा था। अहंकार के साथ जो चेतन एक है अतः दोनों से सम्बन्ध वाला है; चैतन्य भी उसके अन्दर प्रतिबिम्बरूप से मौजूद है और सारा अनात्म जगत् बुद्धि के अन्दर स्थित है; वह कर्ता ही कर्म का कारण बनता है। किस-किस के द्वारा कारण बनता है? शरीर, वाणी और मन के द्वारा ही जीव कर्म करता है। शरीर इंद्रियों और मन से ही कर्म सम्पन्न होगा। इन तीन से वह जिसको प्रारम्भ करेगा वह सम्पन्न होगा। कुछ कर्म शरीर के द्वारा सम्पन्न होते हैं, कुछ इन्द्रियों के द्वारा और कुछ मन के द्वारा सम्पन्न होते हैं। जैसे उपासना मन के द्वारा करते हो, इसलिये उसे मानस कर्म कहेंगे। परन्तु मन को एकाग्र करने के लिये शरीर को भी स्थिर करना पड़ेगा। शरीर को हिलाते रहोगे तो मन एकाग्र नहीं होगा। इसलिये शरीर भी कारण पड़ ही जाता है। इसमें प्रधान मन होने से इसे मानस कर्म कह देते हैं। इसी प्रकार जप वाचिक कर्म है, वाणी से सम्पन्न होने वाला है। फिर भी जप का मन के द्वारा स्मरण करोगे तभी वाणी के द्वारा बोला जायेगा। अतः वाणी प्रधान होने पर भी मन भी कारण पड़ता है और ध्वनि प्रकट होने के जो कण्ठ, तालु आदि आठों स्थान हैं वे यथावत् होंगे तभी वाचिक कर्म सम्पन्न होगा। यदि उन आठों स्थानों में से कहीं भी गड़बड़ी है तो शब्द का उच्चारण शुद्ध नहीं होगा, अशुद्धि हो जायेगी तो कर्म सम्पन्न नहीं हुआ। इसलिये शरीर भी कारण पड़ता है। अतः भगवान् ने शरीर, वाणी और मन, तीनों को एकत्रित करके बताया। हर कार्य को प्रारम्भ करते हैं तो ये तीनों ही कारण पड़ते हैं, प्राधान्य को लेकर भेद कहा जाता है। शरीर के द्वारा परिक्रमा करोगे तो प्राधान्य उसमें शरीर का है, परन्तु चलने के लिये इन्द्रियों की भी ज़रूरत पड़ेगी, देखने के लिये भी ज़रूरत पड़ेगी। कर्म प्रारम्भ करने में सभी कारण पड़ते हैं पर प्रधान रूप से वहाँ शरीर कारण है इसलिये उसे शारीरिक कह देते हैं। कर्म सम्पन्न होने में तीनों में से यदि कोई एक भी सहयोग नहीं करेगा तो वह कार्य नहीं हो सकेगा। इस श्लोक में अधिष्ठान शरीर को कह दिया और कर्त्ता नर को कह दिया, करण भी कह दिये। परन्तु लगता यह है कि दैव को नहीं कहा। दैव को अलग नहीं कहने का कारण यही है कि वह कर्म को सम्पन्न तो करेगा, लेकिन कर्म को *प्रारम्भ* करने वाला तो जीव ही है! तुम जब देखने में प्रवृत्त होगे तब यदि पुण्य का प्रारब्ध है तो आदित्य आदि का अनुग्रह होगा और अगर पाप का प्रारब्ध है तो आदित्य आदि का अनुग्रह नहीं रहेगा और नहीं देख पाओगे। अतः कर्म सम्पन्न होने के लिये दैव की आवश्यकता है, परन्तु प्रारम्भ करने के लिये नहीं। कर्म प्रारम्भ करके भी सम्पन्न हो, न हो, इसमें दैव की सहायता हेतु है। इसलिये यहाँ उक्त तीनों की आवश्यकता कह दी।

जो कार्य प्रारम्भ करते हैं वे दो प्रकार के हैं, एक जो न्याय्य हैं, शास्त्र-सम्मत हैं, जिन्हें करना उचित है, धर्म है, उन्हें भी प्रारम्भ कर सकते हैं। अथवा जो-विपरीत कर्म हैं, अन्याय्य या अनुचित हैं, शास्त्रसम्मत नहीं, शास्त्रविरुद्ध ही हैं, उन्हें भी करते ही हैं। ठीक जैसे तुम सच बोलते हो वैसे ही झूठ भी बोलते हो। सच बोलते हो तो न्याय्य कर्म कर रहे

हो। झूठ बोलते हो तो विपरीत कर्म कर रहे हो। प्रारम्भ तो तुम ही करते हो। अतः धर्म हो, अधर्म हो, शास्त्रसम्मत हो, शास्त्रविरुद्ध हो, जिस कर्म को प्रारम्भ करते हो उसमें कारण तो ये पाँच ही हैं। दैव को इस श्लोक में नाम लेकर नहीं कहा है, परन्तु 'पंच' में वह है ही। कुछ क्रियायें ऐसी होती हैं जैसे पलक का गिरना या पलक का खुलना इत्यादि, जो जब तक हमारा जीवन है तब तक चलती रहती हैं। इनको यद्यपि तुम संकल्प करके प्रारम्भ नहीं कर रहे हो। परन्तु पहले किये हुए धर्माधर्म या दैव है, उसके द्वारा ही ऐसी क्रियायें सम्पन्न होती हैं। अतः जब आदित्य का अनुग्रह नहीं रहता तब आँख की पलकें भी खुलती नहीं या बन्द नहीं होती। एक सज्जन हैं जिनकी पलकें ऊपर उठाकर प्लास्टरसे चिपकाकर रखना पड़ता है क्योंकि उनकी पलकें खुद खुलती नहीं, जब देखना हो तब प्लास्टर चिपका देते हैं, उसे हटा देते हैं ते आँखें बंद हो जाती हैं। इसी प्रकार साँस लेना तब तक चलता है जब तक जीवन के हेतु पुण्य मौजूद हैं। जैसे ही वे हेतु नहीं रहते, तब आदमी एक-दो बार हाय-हाय करता है परन्तु जीवन समाप्त हो जाता है क्योंकि आगे साँस नहीं चलती। ऐसी क्रियाओं को हम संकल्प-पूर्वक तो प्रारम्भ नहीं करते हैं, फिर भी पूर्वकृत धर्माधर्म जो विज्ञानमय में विद्यमान हैं, वे ही प्रवृत्त करते हैं। यहाँ भी साँस ठीक लेना न्याय्य है, साँस उखड़-उखड़ कर आना विपरीत हो जायेगा जो पाप का फल है। इस प्रकार से जो क्रियायें संकल्पपूर्वक नहीं करते हैं, उनका भी प्रारम्भ करने वाला कारण नर के द्वारा किये हुए पूर्वकृत पुण्य-पाप ही हैं। इस प्रकार प्रारम्भ करने वाला मूल रहेगा तो नर (विज्ञानमय जीव) ही। जितने कर्म हैं वे या न्याय्य होंगे या विपरीत होंगे, उचित होंगे या अनुचित होंगे, शास्त्रानुकूल या शास्त्र-विरुद्ध होंगे। जो जीवन- निर्वाह के लिये होते हैं जैसे श्वास-प्रश्वास आदि, वे भी पूर्वकृत धर्माधर्म के कारण ही होते हैं। जैसे कर्म करने में ये पाँचों कारण पड़ते हैं वैसे ही कर्मफल भोगने में भी ये ही पाँच कारण पड़ते हैं, इन पाँच का ही प्राधान्य रहते कर्मफल का भोग भी होता है। यहाँ भोक्ता अलग से नहीं कहा है, परन्तु कर्त्ता कह दिया तो भोक्ता भी उसके अंतःपाती समझ लेना चाहिये।।१५।।

ये पाँच मिलकर कर्म करते हैं परन्तु सारी गड़बड़ी कैसे होती है, यह बताते हैं –

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

क्योंकि सब कर्म पाँचों से प्रारम्भ होते हैं इसलिये शास्त्रसंस्कारों से रहित बुद्धि वाला होने से जो केवल आत्मा को सब करने वाला समझता है वह विपरीत बुद्धि वाला सही नहीं समझता है।

'तत्र एवं सति' – कर्तृत्त्व के विषय में इन पाँचों की कारणता सिद्ध हो जाने पर जो कोई अपने अज्ञान के कारण केवल आत्मा को ही कर्त्ता समझता है और इसलिये कर्मफल-भोग को अपने लिये ही चाहता है, वह दुर्मति है। अपने को कर्त्ता मानता है इसलिये 'कर्म

फल मुझे ही मिले' ऐसा चाहता है। पाँच मिलकर करें और तुम अकेले ही उस पर अपना ठप्पा मार दो तो यह दुर्मति है अर्थात् ठीक प्रकार का निश्चय नहीं है। अज्ञ नर क्यों अपने को ही कारण मानता है? देखते तो सब हैं और यह बात सभी जानते हैं कि ये पाँच न हों तो कुछ नहीं कर सकते, फिर स्वयं को ही क्यों कारण समझते हैं? क्योंकि उनकी बुद्धि संस्कृत नहीं है। अतः वे इन पाँचों को अपने से एक करके समझते हैं। इसलिये शरीर ने किया तो लगता है 'मैंने किया, क्योंकि मैं शरीर ही तो हूँ'; वाणी ने किया तो 'मैंने किया क्योंकि वाणी भी मैं ही तो हूँ'; मन ने किया तो 'मैंने किया क्योंकि वह मन मैं ही तो हूँ'। असंस्कृत बुद्धि होने के कारण आत्मा के स्वरूप का संस्कार नहीं है, इसलिये इन सबसे अपने को एक करके समझता है, इन सबको अपना ही स्वरूप मानता है। 'ये सब मुझ से भिन्न नहीं' – बस यही समझना अज्ञान है। हैं तो सब अलग-अलग परन्तु अज्ञान के कारण इन सबको एक मैं ही समझते हैं। इसलिये, इन सबके द्वारा जो कर्म किया गया वह 'मैंने किया' ऐसी दुर्बुद्धि हो जाती है। मूल कारण यही है कि अंतःकरण में शास्त्रीय संस्कार नहीं होने के कारण इन सबसे अपने को अनन्य समझते हैं। इसलिये कहते हैं कि केवल 'मैं ही करने वाला हूँ'। जानते हैं कि शरीर, इन्द्रियों के बिना नहीं कर सकते, लेकिन शरीर, इन्द्रियों को मैं ही समझकर 'मैं ही करने वाला हूँ' यह दृढ निश्चय रखते हैं।

वेदान्त शास्त्र और गुरु के उपदेश से जो ठीक बात है और न्यायसिद्ध है उसे समझते हैं कि 'मैं तो केवल इनको सत्तामात्र देने वाला हूँ। मेरी सत्ता के बिना इनकी कहीं कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती, परन्तु ये सब अलग-अलग हेतु हैं'। संस्कृत बुद्धि वाला इस प्रकार अनात्मा और आत्मा को अलग समझ करके जानता है कि केवल आत्मा या शुद्ध आत्मा कुछ नहीं करता। जब अध्यास से शरीर-इन्द्रियादि के साथ एक होता है तब करते हुए प्रतीत होता है। करता (कर्त्ता) तो वह तब भी नहीं है। ठीक जिस प्रकार से नाव में हम चल रहे हैं तो हमें किनारे के पेड़ चलते हुए दीखते हैं। किनारे के पेड़ चल तो नहीं रहे हैं परन्तु नाव के चलने से हमें प्रतीति होती है कि वे चल रहे हैं। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार इन सबके द्वारा कर्म होने पर प्रतीति होती है कि आत्मा कर्म कर रहा है। पेड़ जैसे हैं वैसे ही खड़े हैं, वे तो चलते नहीं हैं। नाव के चलने से चलने वाले प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार आत्मा कुछ न करने पर भी शरीर आदि के साथ अपना अध्यास होकर एक प्रतीत होता है तब लगता है कि वह कर्ता है। इसका मूल कारण अकृत बुद्धि या संस्कारहीनता है। संस्कारहीन लोग ही इस प्रकार की कल्पना करते हैं। इसको दुर्मति इसलिये कहा कि यही जीव को ऊपर-नीचे पटकती है। यह बुद्धि अविद्या के कारण अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त चीज़ों को अपने से अभिन्न समझती है। इसके कारण ही कभी न्याय्य कर्म हो गया तो ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक में पहुँच जाता है, कभी पाप कर्म हो गया तो सूअर, कुत्ते की योनि में पहुँच जाता है। इस प्रकार ऊपर नीचे ले जाने वाली होने से ही इसको दुर्मति कहा है। इसी के कारण जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। अतः उसको लगता तो

यह है कि 'मैं देख रहा हूँ, 'पश्यति' समझ रहा हूँ' परन्तु 'न पश्यति' वस्तुतः वह देख नहीं रहा है। अर्थात् जो चीज़ जैसी है उसे वैसा देखो तब देखना कहा जाता है और जो चीज़ जैसी नहीं है वैसी देखो तो 'नहीं देखा' ही कहा जायेगा। जैसे रस्सी को रस्सी देखो तब लोग कहेंगे कि देखा है और रस्सी में साँप देखो तो यही कहेंगे 'तुमको भ्रम हुआ, सचमुच में वहाँ क्या था तुमने नहीं देखा'। इसी प्रकार सचमुच में सच्चिदानन्दरूप आत्मा केवल अधिष्ठान है, सत्ता-मात्र देता है। उसको वैसा नहीं देखा और उसकी जगह उसे कर्त्ता-भोक्तारूप में देखा तो वह नहीं देखने जैसा है, क्योंकि जो है उसे नहीं देखा। जब मनुष्य को मोतियाबिन्द हो जाता है तो उसे दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। सामने से एक आदमी आ रहा हो तो उसे दो आदमी आते दिखाई देते हैं। तब कोई भी नहीं मानता कि इसको दो आदमी दीखे। यही मानते हैं कि यह भ्रम के कारण लगा। अथवा बादल दौड़ रहे होते हैं तो चन्द्रमा दौड़ता हुआ दिखाई देता है। परन्तु चन्द्रमा तो जहाँ है वहीं है, बादलों के दौड़ने से चन्द्रमा दौड़ता हुआ लगता है। ठीक इसी प्रकार से अनात्मा के अन्दर क्रिया देखकर आत्मा करता हुआ प्रतीत होता है, बस यही दुर्मति है। इसलिये भगवान् ने कह दिया 'पश्यति' जो ऐसा उल्टा देखता है वह 'न पश्यति' अर्थात् सचमुच में जो चीज़ है उसे वैसा नहीं देखता।।१६।।

सुमति किस प्रकार से देखता है अर्थात् जिसमें शास्त्र के संस्कार हैं वह कैसे देखता है?

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाल्ँलोकान् न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

'मैं कर्ता हूँ' ऐसा जिसका निश्चय बाधित हो चुका अतः जिसकी बुद्धि में (कर्म आदि किसी का कोई) लेप नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी न हनन-कर्त्ता बनता है, न (कर्मवशात्) बाँधा जाता है।

जिस साधक को शास्त्र और गुरु के उपदेश से ठीक प्रकार से सोचने की पद्धति या न्याय मिल गया है, उसके संस्कार वाला है, वही सुमति है। 'यस्य' अर्थात् जिसने शास्त्र का उपदेश भी लिया, गुरु का उपदेश भी लिया और वह युक्तिसंगत है यह निश्चय भी कर लिया, ऐसा संस्कार वाला जो विद्वान् है उसको 'यह मैंने किया' ऐसी बुद्धि होती ही नहीं। 'भाव' शब्द के द्वारा भगवान् यह कहते हैं कि अहंकार सचमुच में तो है नहीं, यह भावमात्र है अर्थात् सर्वथा मानी हुई चीज़ है। 'मैं' कभी भी करनेवाला बनता नहीं, भावमात्र कर लेता हूँ कि 'मैं करनेवाला हूँ'। व्यवहार में यह अनेक जगह देखा जाता है कि पुत्र यदि दुकान का दीवाला निकालता है तो पिता को बोध होता है 'मेरा दीवाला निकल गया'। वह दस साल से दुकान पर नहीं गया है फिर भी उसका भाव बनता है कि 'मैं दीवालिया हो गया'। कुछ करने से ही 'किया' ऐसा बोध हो, यह ज़रूरी नहीं है, यह एक भावमात्र है जो किसी भी चीज़ के लिये हो जाता है। 'मैंने किया, मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा भाव विद्वान् का बनता ही नहीं।

अधिष्ठान आदि जो पाँच हैं उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध बनता हो, ऐसा नहीं है। केवल अज्ञान से कल्पित होता है, कल्पित भाव है। करने वाले तो ये पाँच हैं। मैं आत्मा तो केवल सत्तामात्र देता हूँ, और कुछ नहीं करता, उन सबका साक्षी हूँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा इन सबके कर्मों का साक्षी है। कर्मों का साक्षी होने से ही वह अक्रिय (अकर्त्ता) है। अगर खुद करने वाला होता तो साक्षी कैसे होता? साक्षी उसे कहते हैं जो दूसरे को करते हुए सिर्फ देखे। अगर वह खुद करने वाला बन जाये तो फिर वह साक्षी नहीं रहता। आत्मा सर्वथा अविकार्य है क्योंकि साक्षी है। जो सुमति है वह तो इस प्रकार से देखता है और चूँकि उसको 'यह मैंने किया' ऐसा भाव नहीं है, इसलिये 'यस्य बुद्धिः न लिप्यते' उसकी जो बुद्धि है अर्थात् उपाधिरूप जो बुद्धि है, उससे लिप्त नहीं होता। इस बुद्धि के अन्दर जो कार्य या अकार्य होने का निश्चय है उससे आत्मा का कुछ लेना-देना नहीं है। उस बुद्धि का निश्चय यदि शास्त्रानुकूल कार्य करने वाले का है तो शास्त्रानुकूल करके वैकुण्ठादि में जाने का कारण बनेगा। यदि विपरीत है, शूकर, कूकर योनि में जाने का है तो अन्याय्य करेगा। बुद्धि के द्वारा इन सब चीज़ों का लेप अज्ञावस्था में आत्मा से होता था। जब यह जान लिया कि 'बुद्धि मुझ से भिन्न है' तब मेरा, आत्मा का बुद्धि से लेप नहीं रहता। इसलिये यदि शूकर-कूकर योनि में जाने का काम भी हुआ है तो उससे 'मैं जाऊँगा', यह भावना नहीं होगी क्योंकि मैं तो करने वाला हूँ नहीं। इसी प्रकार से यदि उससे ऐसा कार्य हो गया जिससे वह वैकुण्ठ लोक जायेगा तो मैं 'वैकुण्ठ जाऊँगा' ऐसी बुद्धि नहीं होगी क्योंकि करने वाले तो ये पाँच हैं, मैं केवल साक्षिमात्र हूँ, इन चीज़ों को देख रहा हूँ, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार, बुद्धि के अन्दर होने वाले न्याय्य और विपरीत निश्चय के प्रति लिप्त न होना सुमति का लक्षण और उसके विपरीत यह समझना कि 'मैंने ही किया', यह दुर्मति का लक्षण है। अर्जुन के सामने चूँकि इस समय युद्ध उपस्थित है इसलिये भगवान् ने कह दिया कि सुमति संसार के सारे प्राणियों को मार डाले तो भी उसे 'मैंने मारा' यह भाव नहीं बनता। तू तो केवल भीष्म, द्रोण के लेकर ही परेशान है कि इन्हें कैसे मारूँ! सारों को भी मार डाले, तो भी यथार्थ में नहीं मारता है। शरीर मन के द्वारा कैसा भी कर्म सम्पन्न होने पर भी साक्षिभाव को छोड़कर 'मैंन किया', ऐसी प्रतीति कभी भी नहीं होगी। मारा– यह बुद्धि ही नहीं है तो उस मारने से जो अधर्मरूपी फल है उससे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ यह विरुद्ध प्रतीति होती है कि 'हत्वापि न हन्ति', मारकर भी नहीं मारता - यह उल्टी बात है। लौकिक पुरुष शरीर को करता देखकर मानता है कि आत्मा ने किया। पारमार्थिक दृष्टि में जो जानने वाला है उसकी दृष्टि में आत्मा ने नहीं मारा। अतः लौकिक और पारमार्थिक दृष्टियों को लेकर विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे हम लोग यही कहते हैं कि सूर्य अस्त हो गया। लौकिक दृष्टि से बे-पढ़े- लिखे लोग ही ऐसा कहते हैं और उन्हें ऐसा ही जँचता है। परन्तु भूगोल खगोल आदि पढ़ा व्यक्ति जानता है कि सूर्य कभी अस्त नहीं होता, पृथ्वी ही दूसरी तरफ जाती है। जिस समय वह कह भी रहा है 'सूर्य अस्त हो

रहा है', उस समय में भी उसका निश्चित ज्ञान है कि सूर्य अस्त नहीं हुआ। फिर भी ऐसा प्रयोग इसलिये करते हैं कि साधारण लोगों की समझ में आ जाये। इसी प्रकार लोगों को शरीर के द्वारा मारे जाते देखकर बोध होता है कि मारा, परन्तु संस्कृत अंतःकरण वाला उसी समय जानता है कि आत्मा नहीं मार रहा है। देह आदि को आत्मा मान कर 'मैंने मारा' ऐसा लगता है, यह लौकिक दृष्टि है और पारमार्थिक दृष्टि साक्षिरूप की है जिसे लेकर कहा जाता है कि न मारता है और न बद्ध होता है।

एक शंका होती है कि भगवान् ने कहा है 'केवलम् आत्मानं कर्तारं यः पश्यति' जो केवल आत्मा को कर्त्ता देखता है। इससे यह भ्रम होना संभव है कि इन पाँचों के सहारे से करता है, अकेला नहीं करता है; अर्थात् इन पाँचों को साथ लेकर करता है, करता तो वही है! परन्तु ऐसा विपरीत अर्थ भगवान् का नहीं समझना क्योंकि आत्मा क्रिया से सम्बन्ध वाला कभी नहीं होता और न शरीर आदि से कभी सम्बन्ध वाला हो सकता है। जो बदलने वाले पदार्थ हैं उन्हीं का आपस में सम्बन्ध हुआ करता है। न बदलने वाली चीज़ का बदलने वाली चीज़ों के साथ सम्बन्ध बनता नहीं। इसलिये 'केवल' शब्द का मतलब यहाँ इतना ही है कि आत्मा का जो स्वाभाविकरूप है, जो आत्मा का अपना रूप है, उसमें कर्त्तापन नहीं रह सकता। अविद्या से कल्पित रूप में तो कर्त्तापना रहेगा, परन्तु स्वाभाविक रूप में नहीं रहेगा। इस बात को बार-बार वेद बताता है और यहाँ भगवान् ने भी बताया है। कर्म करने में जो ज्ञान, इच्छा इत्यादि कारण पड़ते हैं उनके कारण प्रतीति होती है कि आत्मा जानता है, इच्छा करता है इत्यादि। उन सबको भगवान् पहले ही क्षेत्रधर्म गिना चुके हैं इसलिये इच्छा, ज्ञान आदि सब क्षेत्र में गिना कर भगवान् ने बता दिया कि ये जड का धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ का नहीं। क्योंकि लगता है कि आत्मा ने इच्छा की इसीलिये उसे कर्त्ता आदि मानते हैं। और इच्छा को भगवान् ने जडधर्म बताया है, आत्मा क्षेत्रज्ञ को उससे अलग बताया। जिनके कारण प्रतीति होती है कि आत्मा करने वाला है उन सबको क्षेत्रधर्म में गिना दिया है। अतः 'केवलम् आत्मानं' से बताया कि शुद्ध आत्मा क्रिया से वास्तव में असम्बद्ध है। उसका जो अविद्या वाला रूप नहीं है उस रूप में उसका क्रिया से कभी सम्बन्ध नहीं होता। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ से भिन्न है क्योंकि जो जिससे भिन्न होता है वही उसको जानता है। जो ज्ञेय है उससे जानने वाला भिन्न होता है। इसलिये क्षेत्र के द्वारा जो किया गया वह क्षेत्रज्ञ के द्वारा किया हुआ हो ही नहीं सकता। एक के द्वारा किया हुआ काम अर्थात् ज्ञेय चीज़ से किया हुआ काम, ज्ञाता का किया हुआ हो जाये, यह किसी भी युक्ति से सम्भव नहीं हो सकता। अज्ञान के कारण जो प्रतीति होती है वह सच्ची नहीं होने से *ज्ञान* नहीं कही जा सकती। इसलिये, कर्तृत्त्वभोक्तृत्व दोनों ही क्षेत्रधर्म हैं, क्षेत्र में रहेंगे, क्षेत्रज्ञ में नहीं रह सकते। अतः भगवान् का कहना बिलकुल ठीक है कि 'मैंने किया' इस बुद्धि के लेप के अभाव से जो संस्कृत अंतःकरण वाला है वह न करता है और न उससे बद्ध होता है।

इस प्रकार भगवान् ने विद्वान् की कर्माधिकार-निवृत्ति कह दी। कर्म में उसका अधिकार

ही नहीं है अर्थात् उसके लिये कर्म करना सम्भव ही नहीं है। जब कर्म करना उसके लिये सम्भव ही नहीं है तो कर्मत्याग उसका होता ही नहीं है! जो स्वाभाविक हमेशा ही कर्म से अस्पर्श रहा है, वह केवल प्रकट हो जाता है। अतः यह जो पारमार्थिक दृष्टि वाला संन्यासी है यह केवल संस्कृत अंतःकरण होने पर प्रकट होता है। क्योंकि वह कभी भी कर्मी था नहीं इसलिये उसने कर्म छोड़ा – यह बनता नहीं। 'न हन्ति न निबध्यते' के द्वारा भगवान् ने उसका स्वाभाविक रूप प्रकट कर दिया। पाँच श्लोक पहले (११) कह आये हैं 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' जब तक अज्ञान के कारण देहभृत् है, 'मैं देह को धारण करने वाला हूँ' यह भाव है, तब तक अशेष संन्यास उपपन्न होता ही नहीं। वह सारे कर्म नहीं छोड़ सकता, क्योंकि कम-से-कम उसके लिये श्रवण-मनन आदि तो कर्त्तव्य बच ही जाते हैं जिन्हें न करने पर उसको भी दोष लगकर उसका दण्ड भोगना पड़ेगा। 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' स्मृति ने स्पष्ट कहा है कि विविदिषु संन्यास का उद्देश्य श्रवण-मनन करना है, इसलिये उसकी अशेष कर्मों की निवृत्ति नहीं होगी। ब्रह्मचारी के कर्म गृहस्थ में जाने पर छूट जाते हैं परन्तु दूसरे कर्म प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ से वानप्रस्थ में जाने पर गृहस्थ के कर्म छूटकर वानप्रस्थ के कर्म प्राप्त होंगे और वानप्रस्थ से संन्यास में जाने पर वानप्रस्थ के कर्म छूटकर संन्यास के कर्म प्राप्त हो जायेंगे। यहाँ 'नायं हन्ति' से भगवान् ने अशेष कर्मनिवृत्ति की बात उसके लिये बता दी जिसका सारे कर्मों का संन्यास हो गया है। जिसका ऐसा नहीं हुआ, अर्थात् जो देहभृत् है, उसके लिये भगवान् ने कहा था 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलं'; जब तक कर्त्ता है, तब तक सारे कर्मों का त्याग नहीं हो सकता, उससे अनिष्ट, इष्ट और मिश्र कर्म होंगे ही। जब अपने परमार्थ स्वरूप का दर्शन हो गया, वह ज्ञान दृढ हो गया, तब कर्म और फलभोग का प्रसंग समाप्त हो चुका।

यहाँ भाष्यकार कहते हैं 'स एष सर्ववेदार्थसारः' सारे वेदों का सार यही समझना है कि आत्मज्ञान होने से सारे कर्मों की निवृत्ति है और जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ तब तक कर्मफल भोगना ही पड़ेगा, उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। यह जो वेदार्थ सार है इसे, जो निपुणमति है, उसे ठीक विचार करके समझ लेना चाहिये। गीता शास्त्र में अलग-अलग प्रकरणों में अलग-अलग बातें कही हैं; उनसे संदेह में नहीं पड़ जाना चाहिये। अतः गीता आदि किसी भी शास्त्र का विचार करने के लिये कहाँ किस प्रसंग को लेकर क्या कहा गया है, यह प्रकरण-विभाग जाने बिना जो एकाध श्लोक या एकाध प्रकरण को लेकर अर्थ करते हैं वे भ्रम में ही पड़ते हैं। शास्त्र में विरुद्ध सिद्धांत नहीं प्रतिपादित किये जाते। आवश्यकता है साम्प्रदायिक रीति से प्रकरण-विभाग जानकर शास्त्रोक्त विषय को समझने की। यहाँ भगवान् ने लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि का भेद स्पष्ट करके बता दिया कि लौकिक दृष्टि से मारते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से नहीं मारता। यह इस प्रसंग में स्पष्ट किया।।१७।।

कर्म का कारण बताकर अब कहते हैं कि कर्म में क्या प्रवृत्त करता है, कर्म की प्रवृत्ति का हेतु क्या है? –

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

ज्ञान, ज्ञानों के विषय और (उपाधि-वाला चेतनरूप) भोक्ता - ये कर्मों के तीन प्रकार के प्रवर्तक हैं। करण, (क्रिया-विषयरूप) कर्म और (उपाधिवाला चेतनरूप) कर्ता - इन तीन तरह की वस्तुओं में क्रिया रहती है।

ज्ञान - कर्म की प्रवृत्ति के लिये जिसके द्वारा सब चीज़ें जानी जाती हैं, उसकी आवश्यकता है। 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं' जिसके द्वारा जान लिया जाता है वह ज्ञान है। सभी विषयों को वही जानने वाला है। उसी के होने से कुछ भी जाना जाता है। आत्मा के होने से आँख देखती है, कान सुनता है। आत्मा के न होने पर कान सुनेगा नहीं, आँख देखेगी नहीं। आत्मा के होने से सारे ज्ञान होते हैं। यह सभी विषयों का समान भाव से ज्ञान है। विशेष ज्ञान तो है जैसे घड़े का, कपड़े का ज्ञान होता है; उस ज्ञान की बात नहीं कर रहे हैं। उस ज्ञान के लिये तो मन अपेक्षित है। यहाँ उसे ज्ञान कह रहे हैं जिसके होने से सब कुछ जाना जाता है। ठीक जिस प्रकार से अगर कमरे में लट्टू जल रहा है तो सारी चीज़ें उसके प्रकाश में जानी जाती हैं। जानने की क्रिया करने वाला अथवा प्रकाश करने की क्रिया करने वाला लट्टू नहीं है, वह तो प्रकाशरूप है। लट्टू में कोई संदेह भी कर सकता है कि बिजली आने से जलता है इत्यादि, अतः दूसरा दृष्टांत है - सूर्य, चन्द्र प्रकाशरूप हैं ही। तथा ज्ञेय - जानने के जो योग्य है। सामान्य रूप से जो कुछ भी जानने के योग्य है वह सब ज्ञेय शब्द से कह दिया। परिज्ञाता - उपाधि वाला, जो अविद्या कल्पित जीवात्मा है। आत्मा ही उपाधि के द्वारा परिकल्पित होने पर जीव है। जिस प्रकार दर्पण में सूर्य प्रतिबिम्बित हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा अविद्या से परिकल्पित होने पर जीवात्मा है। जब ये तीनों चीज़ें होती हैं तभी सारे कर्मों की प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिये कहा - 'त्रिविधा कर्मचोदना' तीनों में से कोई एक भी यदि नहीं होगा तो प्रवृत्ति नहीं होगी।

प्रवृत्ति होती है तो किसी चीज़ को जानते हैं। बुद्धिवृत्ति के द्वारा जानते हैं और उस बुद्धि वृत्ति में उसको जानने की सामर्थ्य है। जैसे हम लोगों को कुछ ही प्रकाश देखने की सामर्थ्य है। उससे अधिक हो तो, और कम हो तो भी हम नहीं देख सकते। सप्तशती के प्रारम्भ में ही कहा है कि कुछ प्राणी ऐसे हैं जो दिन में देखते हैं और कुछ प्राणी हैं जो रात में देखते हैं। कुछ ऐसे हैं जो रात और दिन दोनों में समान देखते हैं जैसे उल्लू रात में देखता है तो दिन में नहीं देखता। कौआ दिन में देखता है तो रात में नहीं देखता। बिल्ली दिन में भी और रात में भी देखती है। रात्रि में भी आदित्य का अनुग्रह प्राप्त करने वाले जंतु देखते हैं अतः प्रकाशरूप आदित्य तब भी मौजूद है परन्तु कौए की आँख नहीं देख सकती। यदि कौए के नहीं देखने का कारण केवल अंधकार होता तो बिल्ली कैसे देखती है? इसलिये मानना पड़ेगा कि वहाँ भी हल्का प्रकाश है जिसको कौए की आँख नहीं देख सकती, उल्लू

की आँख देख सकती है। दिन के समय उल्लू इसलिये नहीं देख पाता कि प्रकाश इतना तेज़ होता है कि उसकी आँख चौंधिया जाती है। जिसे 'सामान्य प्रकाश' कहते हैं उसमें सूक्ष्म प्रकाश मौजूद होते हैं। पहले तो कौए और उल्लू को देखकर यह बात समझ में आती थी, अब तो ऐसा कैमरा या फोटो लेने का यन्त्र बन गया है जो प्रसिद्ध अंधकार में भी चित्र ले लेता है। फ़र्क केवल इतना है कि उस विशेष कैमरे के अन्दर जो काँच लगा होता है उसके अन्दर प्रकाश को अत्यधिक बढ़ाने की शक्ति होती है। जब ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता तीनों इकट्ठे होते हैं तब 'मैंने देखा'- यह व्यवहार होता है। मैं परिज्ञाता, रसगुल्ला ज्ञेय और रसगुल्ले का ज्ञान होता है। रसगुल्ले का ज्ञान होने पर 'मैंने पहले रसगुल्ला खाया था तो बड़ा मजा आया था', यह स्मरण हुआ। स्मरण होने से रसगुल्ला खरीदने की प्रवृत्ति हुई कि 'खरीदूँ और खाऊँ'। उस कर्म में रुकावट भी हो सकती है। जेब में हाथ डाला तो पाया कि जिसे मैंने एक रुपया समझकर लिया था वह तो एक पैसा निकला! रुपये के सिक्के के माप का पैसा हाथ में आया, ज्ञान हुआ तो ज्ञेय पैसा, मैंने जाना अतः मैं परिज्ञाता। खरीदने में प्रतिबन्धक हो गया, अतः दुकान की तरफ जा रहा था लेकिन लौट आया, मैंने रोकने का काम किया। ये तीनों चीज़ें होंगी तभी यह सब होगा। ये तीनों चीज़ें इकट्ठी हो जाने पर किसी चीज़ को ग्रहण करने के लिये या किसी चीज़ को छोड़ने के लिये क्रिया होती है। सारे कर्म आरम्भ करने वाले ये ही हैं।

'कर्मसंग्रहः' – कौन-सी तीन चीज़ें मिलकर कर्म सम्पन्न होगा? 'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः'। करण– जिसके द्वारा किया जाता है। जैसे बाँसुरी है तो बजाई जायेगी या पैसा है तो रसगुल्ला खरीदा जायेगा। 'क्रियत अनेन इति करणं' जिसके द्वारा किया जाता है उसे करण कहते हैं। हम लोगों के करण आँख, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ हैं और अन्दर में स्थित मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी करण हैं। जैसे आँख से देखते हो वैसे ही बुद्धि से अनुमान करते हो। जैसे आँख से देखकर ज्ञान होता है वैसे बुद्धि के द्वारा अनुमान करके ज्ञान होता। मान का मतलब प्रमाण होता है। लिंग को देखकर वस्तु का ज्ञान होता है जैसे धुएँ को देखकर 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है' यह स्मरण होकर, वहाँ आग है – यह जो ज्ञान होता है वह अनुमान बुद्धि का ज्ञान है क्योंकि आँख के द्वारा तो देखा नहीं। आँख के द्वारा देखे जाने से ही ज्ञान हो, यह ज़रूरी नहीं। जो भी ज्ञान का साधन है वह ठीक होना चाहिये। इसलिये यहाँ बाह्य करण आँख, कान इत्यादि और अन्दर के करण बुद्धि आदि दोनों समझ लेना। कर्म– जो कर्त्ता को सबसे अधिक इष्ट होता है उसी को कर्म कहते हैं। जैसे भोजन करने बैठे तो भात खाना इष्ट है। भात चूँकि बिना दाल के खाया नहीं जा सकता इसलिये दाल मिलाकर भात खाते हैं, परन्तु खाना तो भात ही है। रोटी साग से खाते हैं। साग स्वादिष्ट बने तो बच्चा केवल साग ही खाता है तब माँ डाँटती है कि 'साग अकेला खाने के लिये नहीं है'। जो इष्टतम होता है, जिसे हम क्रिया के द्वारा व्याप्त करना चाहते हैं उसको कर्म कहते हैं। कर्त्ता – जो इन्द्रियों को व्यापृत करता है। इन्द्रियाँ

व्यापार में प्रवृत्त होंगी। कोई आदमी ज़रूरी बात बता रहा होता है तो ध्यान से सुनने के लिये आदमी आँख बन्द कर लेता है। इसी प्रकार हल्लेगुल्ले में देखना पड़े तो कान बन्द करके हीरा देखने की कोशिश करते हैं। जो करणों या साधनों को व्यापार में लगाता है वह कर्त्ता हुआ। जैसा पहले बताया, यह (कर्त्ता) अहंकार रूपी जो अंतःकरण की वृत्ति है, उस उपाधि वाला जीवात्मा है। कर्म में प्रवृत्ति तब होगी जब ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता हों और प्रवृत्ति सम्भव तब होगी जब करण, कर्म और कर्त्ता– तीनों हों। इस प्रकार कर्म प्रवर्त्तक कौन है– यह भगवान् ने स्पष्टरूप से बता दिया।।१८।।

इसे बताने में हेतु क्या है? यह सब किसलिये बता रहे हैं? क्रिया, कारक, फल इन सबको आगे त्रिगुणात्मक बताना है। इनकी त्रिगुणात्मकता से क्रिया की त्रिगुणात्मकता का पता लगेगा। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता सात्त्विक, राजस, तामस भेद वाले हैं, तदनुकूल ही कर्म- प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार करण कर्त्ता और विषय भी सात्त्विक राजस तामस भेद वाले होंगे, उसके अनुसार ही वह कर्म सात्त्विक राजस तामस समझ में आयेगा। इन तीनों के ऊपर ध्यान देना ज़रूरी है। केवल परिज्ञाता सब कुछ करता है – यह भ्रम हम लोगों को होता है। लोग कहते हैं कि 'खुद को बदल लो तो सारा संसार बदल जायेगा'। खुद को कितना भी बदल लो, *सारा* संसार तो बदलेगा नहीं क्योंकि करण, कर्म इत्यादि भी तो उसके अन्दर निहित हैं। इसलिये जो कर्म के प्रवर्तकों और कर्म को सम्पन्न करने वालों को भगवान् ने बताया है वह इसीलिये कि इनकी त्रिविधता को जानना है। वही बताते हैं–

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१६।।

गुणों के बारे में सम्यक् बताने वाले शास्त्र में ज्ञान, क्रिया और कर्त्ता गुणों के भेद के अनुसार तीन तरह के ही बताये जाते हैं। शास्त्रानुसार उन्हें भी सुनो।

यहाँ श्लोकस्थ 'कर्म' का मतलब क्रियामात्र समझना। पूर्वश्लोक में तो कर्म का अर्थ किया था क्रिया से जिसे व्याप्त करना चाहते हो अर्थात् क्रिया का विषय, लेकिन यहाँ कर्म का मतलब क्रिया है। कर्त्ता अर्थात् कर्म को निष्पन्न करने वाला। इस प्रकार ज्ञान, क्रिया और कर्त्ता तीन प्रकार के हैं। 'त्रिधैव' में 'एव' के द्वारा बताते हैं कि गुण चूँकि तीन ही हैं, इसलिये ये भी तीन प्रकार के ही होंगे। इन गुणों से अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है जिसके अन्दर इनको बाँटा जा सके। ज्ञानादि या सात्त्विक होगा या राजस या तामस होगा। यदि इन तीनों गुणों से अतीत कोई है तो वह कर्त्ता नहीं हो सकता। तीन गुणों के द्वारा ही क्रिया निष्पन्न होगी। इनके बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। 'एव' पद के द्वारा बता दिया कि इन तीन के सिवाय चौथा नहीं है।

'गुणभेदतः' सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के भेद से तो कह दिया लेकिन यह कैसे पता लगा, कहाँ पता लगा? वेदों में तो गुणों का वर्णन आया नहीं है। अतः कहा

'गुणसंख्याने' गुणों को भली प्रकार बताने वाले शास्त्र से पता लगा। भली प्रकार से जहाँ प्रकाशित किया जाता है उसी को सांख्य कहेंगे। गुणों का जहाँ भली प्रकार से प्रतिपादन किया गया है वह सांख्य शास्त्र है। गुणों का विचार करने में महर्षि कपिल का बनाया हुआ सांख्य शास्त्र ही प्रमाण है। इतना याद रखना कि ब्रह्म का या धर्म का जैसा वर्णन श्रुतियों में किया गया है उससे विरुद्ध ही इन विषयों में सांख्यशास्त्र का मत है। उन विषयों में तो श्रुतियों का विरोध होने के कारण वह शास्त्र प्रमाण नहीं है। इसलिये केवल 'संख्यान' न कहकर 'गुणसंख्यान' कहा है। गुण और गुणवालों के बारे में तो सांख्य शास्त्र प्रमाण है, परन्तु धर्म, आत्मस्वरूप और जगत्कारण के बारे में वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं है। भगवान् कहते हैं – 'तानि यथावत् शृणु' जैसा वहाँ महर्षि कपिल ने बताया है वैसा ही मैं आगे बताने जा रहा हूँ अर्थात् कापिल शास्त्र के अनुसार ज्ञान, कर्म आदि का भेद और विचार मैं बता रहा हूँ, उसे तुम ध्यान देकर सुनो अर्थात् कही हुई बात पर मन एकाग्र करो। 'अपि' कहकर स्पष्ट कर दिया कि किसी शास्त्र में कोई बात कही गई हो जिसका वेद से विरोध नहीं है तो उसका भी संग्रह कर लेना चाहिये। इसलिये वैदिकों का यह न्याय है कि जितने आस्तिक शास्त्र हैं उनकी जिस मान्यता का जिस शास्त्रविशेष में निषेध न किया जाये, समझ लेना चाहिये कि उसे स्वीकारकर ही वह शास्त्र भी प्रवृत्त हो रहा है। सर्वत्र आपस में यह नियम है कि 'यन्न निषिध्यते तत् स्वीक्रियते' जिसके बारे में निषेध नहीं होता है उसे हम स्वीकार करते हैं। जहाँ भेद है वह बता देते हैं, परन्तु जो बातें दूसरों की तरह मानते हैं उन्हें सिद्ध करने की विशेष अपेक्षा हर शास्त्र में नहीं मानते। जैसे, बौद्ध कहता है कि आत्मा है ही नहीं। गौतम महर्षि बड़े ऊहापोह से सिद्ध करते हैं कि आत्मा है। इस प्रकार जब नैयायिक ने बौद्धों को न्याय-पूर्वक जवाब दे दिया तो 'आत्मा है' इस के लिये दूसरे शास्त्र को प्रयास करने की ज़रूरत नहीं है, 'आत्मा है' यह बात न्यायशास्त्र से समझ लो। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। नैयायिक उसे ज्ञानस्वरूप नहीं मानता। वह कहता है कि आत्ममनःसंयोग से ज्ञान पैदा होता है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है – इसे सांख्य शास्त्र सिद्ध करता है। आत्मा आनन्दरूप भी है यह वेदांत में स्पष्ट किया गया है। आत्मा है तो सच्चिदानन्दरूप, लेकिन एक शास्त्र ने 'सत्' पर दूसरे ने 'चित्' पर ज़ोर दिया और तीसरे वेदान्त ने आनन्द के ऊपर ज़ोर दिया। ये सब मिलकर सच्चिदानन्द आत्मा को सिद्ध कर देते हैं। क्योंकि गुणों के बारे में कापिल मतमें ही विचार है इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं गुणसंख्यान के अनुसार बताऊँगा, उनको भी सुनो अर्थात् जीवनक्रम व्यवस्थित करने में उनका भी संग्रह करना चाहिये।।१६।।

सब से पहले ज्ञान का सात्त्विक, राजस, तामस भेद बताते हैं –

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

बँटे हुए सब प्राणियों में जिसके द्वारा (तत्त्वज्ञ) एक, अविकारी, न बँटे हुए आत्मा को देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक समझो।

सात्त्विक ज्ञान कौन–सा है? 'विभक्तेषु' हम लोगों को जितने पदार्थ प्रतीत होते हैं वे सब एक दूसरे से अलग प्रतीत होते हैं। सात्त्विक ज्ञान उनके अन्दर एकता को ढूँढ लेता है। जैसे मिट्टी का घड़ा, मिट्टी का सिकोरा, मिट्टी की परई - तीन चीज़ें हैं। तीनों अलग–अलग हैं यह तो हल चलाने वाला भी जानता है। परन्तु जानकार समझ लेता है कि ये तीनों एक मिट्टी मात्र से ही पैदा हुए हैं इसलिये स्वरूप से मिट्टी ही हैं। ये आपस में एक दूसरे से चाहे जितने अलग दीखें परन्तु सचमुच में मिट्टी ही है - यह सात्त्विक ज्ञान है। यह बात सबकी समझ में आती है। लोग पूछते हैं कि 'उसने शादी में क्या दिया?' कहते हैं - 'तीस तोले सोना दिया।' सीधे तीस तोले सोना तो उठाकर नहीं दे दिया, इसलिये मतलब है कि तीस तोले सोने के गहने दिये। इस प्रकार विषयों में 'विभक्तों में अविभक्त' देखना तो हरएक व्यक्ति कर लेता है, परन्तु कहाँ यह ज्ञान नहीं कर पाता? एक बहुत बड़ा चोर हत्यारा है और दूसरा किसी के धन की तरफ दृष्टि भी नहीं करने वाला और मक्खी को भी नहीं मारने वाला है, इन दोनों में एकता देखना सात्त्विक ज्ञान है क्योंकि आत्मा तो दोनों के अन्दर एक है। जहाँ उपाधि के प्रति हमारा राग–द्वेष ज़्यादा होता है वहाँ उपाधि–प्रधान ज्ञान होता है इसलिये एकता समझ में नहीं आती। जहाँ उपाधि गौण हो जाती है वहाँ उपाधि वाले का ज्ञान होता है, तब एकता समझ में आती है। जैसे घड़े, सिकोरे, परई के नामरूपों की उपाधि वाली मिट्टी तीनों उपाधियों के अन्दर एक जैसी है किन्तु घड़े का काम परई से नहीं हो सकता, परई का काम घड़े से नहीं हो सकता। जिस नाम–रूप से जो व्यवहार करना है उससे वही व्यवहार हो सकता है। फिर भी ये तीनों भेद देखते हुए ही तुमको ज्ञान है कि यह मिट्टी ही है। अथवा, करधनी को तुम कण्ठा बनाकर गले में नहीं लटका सकते। जहाँ जो गहना पहनना है वहीं पहनोगे। परन्तु इस प्रकार सब अलग पहनते हुए ही 'यह सब सोना है' यह ज्ञान तुम्हारा कभी हटता नहीं। इसी प्रकार से चोर और हत्यारे की उपाधिवाला और सर्वथा अपरिग्रही और मक्खी को भी नहीं मारने वाला अहिंसक, दोनों उपाधियों वाला आत्मा तो एक ही है। जब नाम–रूप की उपाधि से व्यवहार करोगे तब व्यवहार तदनुकूल ही होगा। जैसे करधनी जहाँ पहनी जाती है वहीं पहनी जायेगी।

वैसे ही अपराधी दण्ड ही पायेगा, सत्कर्मी पुरस्कार ही पायेगा। बहुत से लोग उपनिषद् में कथित आत्मा के इस स्वरूप को न समझकर नाम–रूपों की एकता करना चाहते हैं! व्यवहार तो नाम–रूप से होता है। जैसा शास्त्रसम्मत है वैसा ही व्यवहार होगा, विभक्तों में अविभक्त के ज्ञान से विभक्त पदार्थों के व्यवहार में कोई भेद नहीं आता है। आधुनिक लोग 'अविभक्तं विभक्तेषु' को मनुष्य के साथ तो लगाना चाहते हैं कि 'मनुष्य–मनुष्य सब एक हैं'; परन्तु भगवान् 'सर्वभूतेषु' कहकर सावधान करते हैं कि पेट में होने वाले अमीबा से

लेकर, देश के राष्ट्रपति तक, दोनों में एक ही आत्मा को देखना है, केवल आदमी–आदमी की ही एकता नहीं है! अव्यक्त से लेकर घास के तिनके तक ज्ञान के द्वारा उस अव्यय भाव अर्थात् कभी न बदलने वाले भाव को, आत्मपदार्थ को देखना है। वह अव्यय है क्योंकि अपने स्वरूप से उसमें कभी कमी नहीं आती। रोज़ मंत्र बोलते हैं 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' पूर्णब्रह्म से यह सारा विशाल पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है फिर भी परमात्मा में कहीं कमी नहीं आती। इसलिये उसे अव्यय भाव कहा। जो वास्तविक चीज़ होती है वह हमेशा रहती है। संस्कृत में 'भू' का अर्थ सत्ता होता है। सत्ता वह है जो हमेशा रहे। पहले सत्ता न हो, फिर सत्ता आये और फिर सत्ता चली जाये, तो इसका मतलब है कि उस चीज़ में वस्तुतः सत्ता नहीं है, आने जाने वाली है। परन्तु जो स्वयं सत् है, वह हमेशा सत् ही रहेगा, नाम–रूप बदलते रहेंगे। मिट्टी है, घड़ा है, घड़े को फोड़ दिया तो कपाल है, कपाल के टुकड़े कर दिये तो ठीकरा है, यों 'है' का स्वरूप अव्यय है, उसमें कभी कमी–बेशी नहीं आती। नाम–रूप में कमी–बेशी हो जाती है। इसलिये भाष्य में स्पष्ट किया 'न व्येति स्वात्मना धर्मैर्वा'। ऐसा भी नहीं होता कि आत्मवस्तु स्वरूपतः ही न रह जाये और ऐसा भी नहीं होता कि उसके सत्य–ज्ञान–अनन्त ये धर्म न रह जायें। जैसे यदि ब्राह्मण शराब पीने लगे तो कहना पड़ता है कि 'यह ब्राह्मण नहीं है'। इसका मतलब है कि वह ब्राह्मणत्व धर्म से रहित है, बाकी, ब्राह्मण माँ–बाप से पैदा हुआ है तो ब्राह्मण रहेगा ही। इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण नहीं है' का मतलब यह नहीं है कि उसका स्वरूप ब्राह्मण नहीं है वरन् है कि ब्राह्मणधर्म से रहित है। इस प्रकार आत्मा को 'नहीं है' या 'सत्य–ज्ञान–अनन्त नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह दोनों तरह से अव्यय है। जो अव्यय पदार्थ सभी पदार्थों में विद्यमान है, उसे जिस ज्ञान के द्वारा विद्वान् देखता है वह ज्ञान सात्त्विक है।

यह चीज़ आँख से देखने में नहीं आयेगी क्योंकि आँख तो नाम रूपों को देखेगी। 'ईक्षते' अर्थात् बुद्धिवृत्ति के द्वारा देखता है। आँख तो विभक्त को ही देखेगी। परन्तु उन सब में जो एक–जैसा होने वाला सच्चिदानन्द रूप है, उसे बुद्धि देखेगी। कौन–सी बुद्धि देखेगी? जैसे जिसने सुनार का काम सीखा है वह सोने की परीक्षा करना जानता है। दूसरों के लिये तो कोई भी पीली चीज़ चमकती है तो सोना होती है! सुनार से सोने की परीक्षा सीखा हुआ ही ठीक से समझ सकता है कि सोना कहाँ है और कहाँ नहीं है। इसी प्रकार वेदों को भली प्रकार से पढ़कर जो उसके संस्कारों से संपन्न होता है, उसकी ही समझ में आता है कि वह एक अव्यय भाव कैसा है। जब तक शास्त्र के संस्कार बुद्धि में नहीं होते तब तक यह एकता समझ में नहीं आती। जो शास्त्र के संस्कारों वाली बुद्धि है, वही देखती है, शास्त्रीय संस्कारों से रहित बुद्धि नहीं देख पायेगी। भगवान् कहते हैं 'तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं' यह जो अद्वितीय आत्मा सबका अधिष्ठान है, इसके ज्ञान को जो कराता है वह सात्त्विक दर्शन है, वास्तविकता का दर्शन है। सात्त्विक कहकर बताया कि यही ज्ञान करने लायक है, अन्य ज्ञान हेय है।।२०।।

राजस और तामस ज्ञान परित्याग के योग्य हैं। जितने द्वैत दर्शन हैं वे वास्तविक यथार्थ

ज्ञान नहीं हैं। यथार्थ ज्ञान ही जन्म–मरण के चक्ररूपी संसार को काट सकता है, गलत ज्ञान नहीं काट सकता। इसलिये उपादेय अद्वितीय ज्ञान को बताने के बाद हेय राजस, तामस ज्ञानों को बताते हैं–

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

(अज्ञ व्यक्ति सोच–विचारकर) सब प्राणियों में अलग–अलग तरहों के परस्पर विभिन्न अनेक आत्मायें हैं ऐसा जिस ज्ञान से समझता है उसे तो राजस जानो।

'तु' का मतलब होता है पहले आई हुई बात से सर्वथा भिन्न प्रकार की बात। हिन्दी में इसी को 'तो' कहते हैं। अर्थात् सात्त्विक ज्ञान उपादेय है और उससे सर्वथा भिन्न ये राजस और तामस ज्ञान छोड़ने के लायक हैं। यह ज्ञान कैसा है? 'नाना भावान्' अनेक वस्तुएँ हैं ऐसा समझता है। सात्त्विक ज्ञान में एक भाव कहा, यहाँ नाना भाव कहे हैं। इस ज्ञान से समझ आता है कि प्रत्येक शरीर के अन्दर आत्मायें अलग–अलग हैं। इसमें एक आत्मा की दृष्टि न होकर अनेक आत्मा की दृष्टि है। 'पृथग्विधान्' उन सबका लक्षण भी अलग–अलग लगता है। कोई सुखी तो कोई दुःखी है, कोई पुण्यात्मा तो कोई पापात्मा है। इस प्रकार से सब वस्तुतः अलग–अलग लगते हैं। इसलिये इस ज्ञान से अज्ञानी व्यक्ति आत्मा को प्रत्येक शरीर में भेद से देखता है, 'वेत्ति' जानता है। यद्यपि 'ज्ञानं वेत्ति' - ज्ञान जानता है - कहा तथापि 'ज्ञनेन वेत्ति' - ज्ञान से जानता है - यह भाव है। यह लक्षणा करना इसलिये ज़रूरी है कि ज्ञान जान नहीं सकता। जिस ज्ञान से सब प्राणियों के अन्दर अलग–अलग आत्मायें हैं इस प्रकार से अज्ञों द्वारा समझा जाता है उसको राजस ज्ञान समझो अर्थात् रजोगुण से होने वाला ज्ञान समझो। इसे रजोगुण से होने वाला क्यों कहते हैं, इसमें कारण बड़ा सीधा है कि रजोगुण ही राग–द्वेष करता है इसलिये अलग–अलग प्राणियों के अन्दर सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष होने से सबको एक नहीं समझ सकता। भेद–बुद्धि वालों का सोचना है कि पाप कर्म अलग और पुण्य कर्म अलग हैं, इसलिये पापकर्मी पुण्यकर्मी से एक नहीं हो सकता। भेद के प्रति जो राग–द्वेष हैं, इस कारण ही रजोगुणी को आत्मायें भिन्न–भिन्न लगती हैं। इसीलिये इसको राजस ज्ञान कहा। इस ज्ञान द्वारा सूक्ष्म शरीर से एक हुआ आत्मा समझा जाता है। पापी–पुण्यात्मा, सुखी–दुःखी आदि भेद शरीर को लेकर हैं। अतः ये लोग सूक्ष्म शरीरों में रहने वाले आत्मा को अलग–अलग समझते हैं, स्थूल शरीर बदलने से सूक्ष्म शरीर नहीं बदलता - यह इनकी मान्यता है। इसलिये ये रजोगुणी कहे गये।।२१।।

जो तमोगुणी हैं वे इनसे भी एक कदम आगे जाते हैं :-

यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो ज्ञान तो निरुपपत्तिक, वास्तविक विषय से रहित, तुच्छ, तथा एक उपाधि में ऐसे संलग्न रहता है मानो वही परिपूर्ण हो, वह तामस कहा गया है।

रजोगुणी दृष्टि तमोगुणी दृष्टि से तो फिर भी अच्छी है। इसलिये 'यत्तु' पद से कहते हैं कि यह तो रजोगुणियों की अपेक्षा भी हेय है। तामस ज्ञान वालों की मान्यता है : कार्य अर्थात् स्थूल शरीर जो पुण्य-पाप के द्वारा पैदा हुआ है। 'एकस्मिन् कार्ये' – हर-एक स्थूल शरीर के अन्दर अलग-अलग आत्मा है, ऐसा ये मानते हैं। यहाँ प्राणियों के और परमात्मा का, दोनों के देह समझ लेना। तामस ज्ञानी परमात्मा का भी स्थूल शरीर ही मानते हैं। इनमें कुछ लोग तो स्थूल शरीर से प्रतिमा इत्यादि को ले लेते हैं कि अमुक प्रतिमा ही परमात्मा है। कुछ लोग प्रतिमा को न लेकर दिव्य शरीर को ले लेते हैं। कोई कहेगा कि परमेश्वर तो चार भुजाओं वाला ही है, है शरीर वाला ही। प्रतिमा से तो वह शरीर सूक्ष्म है परन्तु फिर भी शरीर स्थूल ही मानते हैं। स्थूल का मतलब याद रखना – इन्द्रियों के द्वारा जो जाना जाता है उसे स्थूल कहते हैं। जो शास्त्र के द्वारा ही जाना जाता है उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। हैं तो ये दोनों ही शरीर कार्य, फिर भी सूक्ष्म शरीर तो सृष्टि के प्रारम्भ में एक बार उत्पन्न हो गया, इसलिये सृष्टि के बीच में तो उसकी उत्पत्ति नहीं है। परन्तु स्थूल शरीर तो सृष्टि के बीच में ही अनन्त बार पैदा हो जाते हैं। 'एकस्मिन् कार्ये' एक शरीर के अन्दर अर्थात् केवल इस स्थूल शरीर में ही 'मैं' है – ऐसा अपने बारे में समझते हैं और चार हाथ वाला या स्त्री शरीर में ही परमेश्वर है अथवा प्रतिमा में ही ईश्वर है ऐसा ईश्वर के बारे में मानते हैं। इस प्रकार से 'कृत्स्नवत्' समग्र भाव से उसको ही देखते हैं कि केवल यही है, यही सम्पूर्ण है। चार भुजा वाला शरीर ही सम्पूर्ण ईश्वर है और यह स्थूल शरीर ही सम्पूर्ण मैं हूँ – ऐसी इनकी समझ है। सारी सृष्टि का परमेश्वर केवल उसी एक शरीर में है और अपना संपूर्ण आत्मा इसी एक शरीर में है – ऐसा मानते हैं। बाल्यावस्था का शरीर, युवावस्था, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था का शरीर – ये सब परिवर्तन देखने पर भी उनका आग्रह है कि केवल यह शरीर ही सब कुछ है! पुद्गलों के समूह को आत्मा मानने वाले दिगम्बरों की मान्यता भी तामस है और चार्वाक आदि जो इस शरीर को आत्मा मानते हैं वे भी तामस हैं। 'केवल इतना ही परमेश्वर है और इतना ही जीव है, इससे भिन्न और कुछ नहीं है' – यह जो उनकी मान्यता है वह युक्तियों से विरुद्ध है। जैसा अभी बताया, प्रत्यक्ष से ही शरीर में कितने परिवर्तन दीखे। इनमें से बाल्यावस्था वाले शरीर को या वृद्धावस्था वाले शरीर को, किसको कहेंगे कि यही आत्मा है, उससे भिन्न नहीं है? इसलिये उनकी मान्यता सर्वथा अयौक्तिक है। इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर का वर्णन करने वाले जो शास्त्र हैं वे उस परमेश्वर के सभी शरीरों का प्रतिपादन एक जैसा ही करते हैं। फिर भी बिना कारण के कह देते हैं कि जिसे वे मानते हैं वह चतुर्भुजी, पंचमुखी आदि कोई एक वर्णन तो परमेश्वर का है और दूसरे वर्णन केवल उसकी प्रशंसा में कर दिये गये हैं! बिना किसी युक्ति के वे ऐसा मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं? क्योंकि जैसे इस शरीर में आसक्ति है तो इसे ही आत्मा मानते हैं; उसी प्रकार किसी पाषाण आदि प्रतिमा में अथवा किसी रूप आदि

में उनकी आसक्ति है तो उसको ही आत्मा मानते हैं। कारण कुछ और नहीं है, अपनी आसक्ति ही कारण है। कृत्स्नवत् मानते हैं अर्थात् सारे विषयों को ग्रहण करने वाला जो कृत्स्नभाव है उसको एक कार्य में मानते हैं। यदि जीव का शरीर हुआ तो बालकपन से लेकर वृद्धावस्था तक किसी एक शरीर को ही पूर्ण कहते हैं। इसलिये बहुत से लोग कहते हैं कि सोलह साल में ही पूर्ण होता है, उससे पहले पूर्ण नहीं है। सोलह का ही पूर्ण क्यों है, बत्तीस साल का क्यों नहीं? इसमें कोई हेतु नहीं है। केवल हमें अच्छा लगता है – इस आसक्ति के सिवाय और कोई कारण नहीं बता सकते।

जो चीज़ जैसी होती है उसे वैसा जानना तो तत्त्वार्थ है। तत् अर्थात् जो चीज़ है उसका अपना भाव तत्त्व है। जैसे मनुष्य का भाव मनुष्यत्व वैसे ही किसी चीज़ की जो वास्तविकता है वही तत्त्व है। वह तत्त्व वस्तुतः जिसका विषय है, वह तत्त्वार्थ है। उनकी मान्यता तत्त्वार्थ वाली नहीं, अतत्त्वार्थवत् है, आत्मा जैसा है, उसे वैसा न जानकर किसी भी चीज़ को वे आत्मा मान लेते हैं। इसीलिये वह ज्ञान अल्प है, तुच्छ है, अल्पविषयक है। साढ़े तीन हाथ का शरीर या साढ़े तीन सौ हाथ का शरीर हो, व्यापक तो नहीं है। चूँकि अल्प है इसलिये वह ज्ञान अल्प ही फल देता है। ध्यान आदि करते हो, चित्त थोड़ी देर के लिये शान्त हो जाता है, कहते हो 'बड़ा अच्छा हुआ, हमारी प्रगति हो गई, बड़ी शान्ति मिली'। किन्तु अल्पविषय है इसलिये अल्प ही उसका फल भी है। भगवान् पहले कह आये हैं कि तमोगुणी लोगों की जहाँ श्रद्धा होती है उनको भी मैं वहाँ फल दे देता हूँ। परमेश्वर सर्वव्यापक होने से उस पत्थर में भी है ही। अतः जो कुछ पूजा की, उसका फल परमेश्वर ही उस उपाधि से दे देगा लेकिन वह होगा अल्प ही। उससे मोक्ष आदि बड़े फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। उससे थोड़ा-बहुत धन मिल जायेगा, अथवा शरीर की थोड़ी-बहुत अवस्था ठीक हो जायेगी, रोग आदि दूर हो जायेगा, बेटा आदि पैदा हो जायेगा, इतना ही फल होता है। क्योंकि वह आसक्ति वाला है, इससे ज़्यादा वह बात को समझता ही नहीं, इसीलिये उसीमें संतुष्ट होकर रहता है। इस प्रकार परमेश्वर को परिच्छिन्न रूप में मानने वाले संसार में अधिकतर लोग हैं क्योंकि तमोगुणी ही सर्वत्र हैं, तमोगुण ही चारों तरफ फैला रहता है। उसकी अपेक्षा कम रजोगुणी और सात्त्विक तो लाखों में कोई एक ही होता है। अधिकतर लोग तो अल्प फल ही चाहते हैं जैसे धन मिल जाये, रोग दूर हो जाये, पुत्र पैदा हो जाये, व्यापार ठीक हो जाये। अल्प विषय और फल वाले ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं। तात्पर्य यही है कि जो तमोगुणी प्राणी हैं, अविवेकी हैं, उनमें ऐसा ज्ञान देखा जाता है। इस प्रकार से भगवान् ने अद्वितीय ज्ञान को सात्त्विक बताया, अनेकता के ज्ञान को राजस और केवल स्थूल महाभूतों के कार्य में ही दृष्टि रखने को तामस ज्ञान बताया।।२२।।

तीन प्रकार के कर्मों को बताते हैं :-

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

कर्म में आसक्ति बिना रखे, राग-द्वेष से बिना प्रेरित हुए जो नित्य कर्म फल न चाहने वाले द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहा जाता है।

नियत - जो कर्म नियत हैं, हमारे लिये निश्चित किये हुए हैं कि हमें करने हैं। जो नियत कार्य होता है उसके लिये शास्त्रों ने बताया है कि द्रव्य और सामर्थ्य की कमी से यदि वह कर्म व्यंग हो जाये, एक-दो अंग पूरे न भी हों, तो भी वह अपना फल देगा ही। चूँकि शास्त्र ने तुम्हारे लिये नियत कर दिया, अतः उसे करने में यदि तुम्हारे शरीर, मन में कोई कमी है जिसके कारण तुम उस कर्म का सारे अंगों से सम्पादन नहीं कर पाते हो, तो भी वह तुम्हें फल दे देगा। जैसे संध्यावन्दन करने का नियम बताया 'अहरहः संध्यामुपासीत'। मान लो कहीं तुम्हें जल नहीं मिला, राजस्थान के किन्हीं धोरों में फँस गये, वहाँ पानी मिलने का प्रश्न ही नहीं, वहाँ बिना जल के भी केवल मंत्रमात्र बोलने से तुमने संध्या कर ली तो फल हो जाता है। इसी प्रकार स्नान की विधि है। कहीं जल ही नहीं मिला, अथवा जल मिलने पर भी तेज़ बुखार है तो भी स्नान नहीं कर सकते। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रों ने मंत्र-स्नान कहा है। है तो वह व्यंग कर्म, परन्तु असामर्थ्य या किसी चीज़ में असम्भवता होने के कारण नियत कर्म जितना कर सको उतना करो ही। इसलिये जहाँ जल उपलब्ध है और शरीर ठीक होने से स्नान कर सकते हैं, वहाँ मंत्र-स्नान करोगे तो फल नहीं होगा। जो कर्म तुम अपनी कामना से करते हो, वह काम्य कर्म है। वह कर्म तुम प्रारम्भ कर रहे हो इसलिये वहाँ तो सामर्थ्य है या नहीं, यह देखना तुम्हारा फर्ज है। व्यंग काम्य कर्म का फल नहीं मिलेगा। सात्त्विक कर्म वह है जो शास्त्र ने तुम्हारे लिये निश्चित कर दिया। उसके अतिरिक्त कामना से प्रयुक्त हो कर जो कर्म करोगे वह सात्त्विक होना ही नहीं है। केवल शास्त्र की आज्ञा से जिस कर्म को तुम करते हो वह कर्म ही सात्त्विक होगा।

नियत कर्म भी कैसे किया जाये? 'संगरहितं' आसक्ति से रहित होकर किया जाये। कर्म करो परन्तु कर्म में आसक्ति मत करो। संगरहित को ही भगवान् स्पष्ट करते हैं 'अरागद्वेषतःकृतम्' राग-द्वेष से जिस कर्म को करते हो वह तो आसक्ति के कारण करते हो। परन्तु जो राग-द्वेष से नहीं करते उसमें आसक्ति नहीं होती। जो चीज़ अच्छी लगती है उसमें राग होता है, जैसे वैशाख-जेठ में गंगा जी में गोता लगाना बड़ा अच्छा लगता है। लेकन जब शास्त्र कहता है कि माघ के महीने में भी प्रातःकाल गोता लगाओ, तब उसमें द्वेष होता है। अथवा बहुत से आसन हमारे शरीर के किसी रोग को दूर करते हैं। उन आसनों को हम नियत होने से नहीं करते हैं, वरन् इस दृष्टि से करते हैं कि इनसे हमारा रोग ठीक होगा। अथवा किसी डाक्टर ने कह दिया कि रुद्राक्ष पहनने से हृदयरोग या रक्तचाप में फ़ायदा होता है, तब रुद्राक्ष पहनते हैं। भस्म-रुद्राक्ष का शास्त्र ने विधान तो किया है परन्तु हम उसे इसलिये पहन रहे हैं कि उससे अमुक फ़ायदा होगा। तब वह कर्म नियत होने पर भी राग-द्वेष के द्वारा किया गया है इसलिये सात्त्विक कर्म नहीं है। अर्थात् 'यह परमात्मा के द्वारा या शास्त्र के द्वारा निश्चित किया गया है इसलिये मेरा कर्त्तव्य है'- यह

समझकर किया ही सात्त्विक होगा। अच्छा लगना या बुरा लगना उसमें कारण नहीं होगा। अतः राग–द्वेष से रहित होकर कर्म होना चाहिये। 'अफलप्रेप्सुना' जिसमें कर्म के फल की प्रेप्सा अर्थात् तृष्णा नहीं हो, 'अमुक फल मुझे होगा इसलिये कर रहा हूँ' ऐसी फल–तृष्णा से जो रहित है उसके द्वारा किया ही सात्त्विक होगा। केवल शास्त्र की आज्ञा है इसलिये करना है, अर्थात् केवल शास्त्र ही यहाँ प्रवर्त्तक है, न फल की इच्छा और न उस कर्म में होने वाला सुख या दुःख प्रेरक है। इस प्रकार से जो कर्म किया जाता है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं।।२३।।

अब इससे भिन्न राजस कर्म बताते हैं :-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जो तो घमण्डी और फलेच्छुक द्वारा अत्यधिक (अनावश्यक) परिश्रम से कर्म किया जाता है वह राजस बताया गया है।

'तुकार' से कहते हैं कि पहले बताया गया सात्त्विक कर्म उपादेय है और राजस व तामस कर्मों का परित्याग करना है। काम अर्थात् जिसकी कामना की जाती है वह विषय। विषय की ईप्सा है कि 'यह फल मुझे चाहिये'; स्वर्ग चाहिये इसलिये ज्योतिष्टोम करता है। यहाँ शास्त्र या परमेश्वर की आज्ञा प्रधान नहीं है। सात्त्विक तो कर्म इसलिये करता है कि शास्त्र की आज्ञा है इसलिये करना है। शास्त्र ने यह भी कहा है कि ज्योतिष्टोम से स्वर्ग होता है इसलिये यह शास्त्र के द्वारा कहा हुआ तो है परन्तु यह स्वर्गकामना वाले के लिये कहा है। यह नहीं कहा है कि ब्राह्मण हो, इसलिये करो या मनुष्य हो तो इसलिये करो। वरन् कहा कि स्वर्ग की कामना हो, तो करो। किसी–न–किसी विषय की इच्छा से करते हो तो कामेप्सु हो। विषय दोनों तरह के ले लेना – कहीं प्राप्ति विषय होती है, कहीं निवृत्ति विषय होती है। रोगनिवृत्ति हो जाये – इस कामना से करोगे तो भी कामेप्सु हो और स्वर्ग चाहते हो, तो भी कामेप्सु हो। इसलिये वह कर्म अहंकार के साथ किया जाता है। 'साहंकार' में 'अहंकार' का अर्थ अनात्मा में आत्मबुद्धि मत समझना, क्योंकिं उस अहंकार के साथ तो सभी कर्मों की प्राप्ति होती है। सात्त्विक कर्म भी तभी हो सकता है जब 'मैं ब्राह्मण' आदि बुद्धि है। अतः यहाँ जिसे लोक में अहंकार, अभिमान, गर्व कहते हैं, उसी वाला होने से राजस कर्ता को साहंकार कहा। सात्त्विक व्यर्थ का अहंकार नहीं करता। सामान्य अहंकार होने पर भी जो गर्वीला न हो वह व्यक्ति निरहंकार ही कहा जाता है। 'मैं बड़ा श्रेष्ठ या मैं बड़ा पण्डित विद्वान् हूँ' इस प्रकार के अहंकार को ही यहाँ साहंकार कह रहे हैं, क्योंकि परमार्थदृष्टि से जिसे निरहंकार कहेंगे उसके लिये तो कामेप्सुता या बहुलायासता या कर्म की प्राप्ति नहीं होती है। जिसको सामान्य भाषा में घमण्ड कहते हैं उससे युक्त है।

बहुलायास कर्म करता है। जितना अपने से न हो सके उससे भी ज़्यादा आयास या परिश्रम

पड़े, ऐसे काम को सिर पर उठाता है। सामान्यतः कर्म राजस व्यक्ति भी उतना ही करता है जितना अपने द्वारा सहज रूप से साध्य होता है। परन्तु यह राग-द्वेष के कारण प्रवृत्त होने से बहुत बड़े-बड़े कामों को अपने सिर पर उठा लेता है जो बहुत आयास या परिश्रम करके निर्वृत्त हों। साहंकारेण का बहुलायास के साथ हेतुहेतुमद्भाव है। वह क्यों ऐसा करता है? क्योंकि अहंकार वाला है, 'मैंने ऐसा कर लिया' इससे उसके अभिमान की पुष्टि होती है। एक तो उसको विषय की कामना है और दूसरे चूँकि वह अहंकारी है इसलिये बहुत बड़े-बड़े परिश्रम के काम सिर पर उठाता है। ऐसे कर्म को राजस कर्म कहा जाता है।

यहाँ 'पुनः' शब्द केवल छन्द के अनुरोध से पादपूर्ति के लिये है। इसका मतलब यह नहीं है कि साहंकार और बहुलायास के बीच में कुछ और कहने का हो। इस प्रकार, विषय की कामना, अहंकार और बहुलायास- ये तीनों चीज़ें राजस कर्म में रहेंगी। वर्तमान में ऐसे कर्म को ही लोग बहुत अच्छा कर्म मानते हैं! अधिकतर लोग राजस-तामस वृत्ति के हैं इसलिये बहुलायास करने वाले की प्रशंसा करते हैं। सामान्य लोग जैसे राजस ज्ञान के प्रशंसक हैं वैसे ही राजस कर्म के भी प्रशंसक होते हैं। भगवान् तो इसको हेय बता रहे हैं।।२४।।

अब तामस कर्म को कहते हैं -

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

प्रभाव, हानि, हिंसा और अपनी सामर्थ्य - इनका विचार किये बिना अविवेक से जो कर्म शुरू किया जाता है वह तामस कहलाता है।

तामस कर्म वह है जो केवल मोह या अविवेक से ही प्रारम्भ किया जाता है। राजस कर्म तो अपनी कामना से किया जाता है, और यह केवल अविवेक से ही प्रारंभ किया जाता है। वर्तमान में तो मोह को बड़ा भारी उन्नति का सोपान माना जाता है! ब्राह्मण क्या करे, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्या करें - यह शास्त्र ने नियत किया है। लेकिन आजकल अविवेक के कारण लोग कहते हैं कि शूद्र व ब्राह्मण में क्यों फ़र्क है! दोनों के चमड़े के ही तो शरीर हैं। जहाँ कानून के कारण भेद है वहाँ यह तर्क लागू नहीं करते। जैसे यदि तुम अनुसूचित जाति से हो तो तुम्हें पढ़ने या नौकरी की जगह में आरक्षित स्थान मिलेगा। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय हो तो वह स्थान नहीं मिलेगा। यदि कोई कहता है 'इसके शरीर और उसके शरीर में क्या फ़र्क है? इसको काम मिलता है तो उसको क्यों नहीं मिलता?' तो आधुनिक लोग कहेंगे - ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि कानून इन्हें आरक्षण देता है। यदि तुम मनुष्यों के द्वारा बनाये हुए कानून को मानते हो तो परमात्मा जब आज्ञा देता है कि मन्दिर के शिखर का दर्शन करके शूद्र को वही फल मिल जाता है जो ब्राह्मण को मन्दिर के अन्दर पूजा करने से मिलता है, तो उसे क्यों नहीं मानते? उसमें कहते हैं कि 'यह नहीं हो सकता, शूद्र को भी मन्दिर में पूजा करने देनी चाहिये।' मनुष्य के बनाये कानून से दोनों का शरीर एक जैसा दीखने पर

भी फ़र्क किया जाता है, लेकिन इतना अधिकार परमात्मा का नहीं है जबकि उसने तो यह भेद तुम्हारे प्राचीन कर्मों को देखकर किया है। आधुनिकों का यही कहना है कि उनकी किताब में लिखा हुआ है, इसलिये उसे मानना ठीक है, और हमारी किताब में लिखा हुआ है तो उसे मानना ग़लत है! परमेश्वर ने हमारा परस्पर भेद करके हमें विभिन्न कार्य करने को कहा है- ऐसा न मानकर हम उससे विरुद्ध कार्य करेंगे, यह मोह या अविवेक ही है। इसलिये कामेप्सु से भी गये बीते हैं तामस। कामेप्सु कर्म तो शास्त्रानुकूल करता है जबकि ये अविवेक से शास्त्रविरुद्ध कर्म करते हैं।

इन्हें किस-किस चीज़ का अविवेक है? सबसे पहले 'अनुबंधम्' – प्रत्येक कार्य के साथ कुछ अनुबन्ध होते हैं कि अमुक-अमुक प्रकार से कार्य किया जायेगा तब यह ठीक फल देगा। बाद में होने वाले फल के लिये जो नियम बनाये जाते हैं वे अनुबन्ध होते हैं। जैसे बी०एस-सी० में भर्ती होने जाओ तो पूछेंगे कि बारहवीं में तुमने विज्ञान पढ़ा या नहीं? यदि नहीं तो उसमें भर्ती नहीं हो सकते क्योंकि यह अनुबंध है कि इसमें भर्ती होने का अधिकारी वह व्यक्ति ही हो, दूसरा नहीं। लेकिन तामस लोग किसी अनुबंध को नहीं मानेंगे। जैसे अनुबंध के अन्दर अधिकारी का विचार है वैसे ही अनुबन्ध में यह विचार भी होता है कि अमुक कर्म का उसके फल के साथ सम्बन्ध है या नहीं। चाहे जिस कर्म से चाहे जो फल नहीं होता। तामस व्यक्ति से कहो कि 'तुम जो कार्य कर रहे हो वह ग़लत है' तो कहेगा 'उसके लिये यह ठीक है तो मेरे लिये ठीक क्यों नहीं?' केवल अधिकारी का विचार ही नहीं, बल्कि उस कर्म के बारे में यह विचार भी ज़रूरी है कि यह कर्म मुझे वह फल क्यों नहीं दे सकता जो दूसरे को दे सकता है। अविवेक से ऐसा मानते हैं कि 'क्योंकि यह भी अच्छा कर्म है, इसलिये मुझे भी वही फल देगा!' जैसे कहते हैं – 'ग्रहणकाल के बीच में ब्राह्मण दान क्यों न ले? यदि बाकी समय दान लेना ठीक है तो ग्रहणकाल में भी लेना ठीक है।' ग्रहणकल में लिया हुआ दान नुकसान करता है, बाकी समय लिया हुआ नुकसान नहीं करता, इसका विवेक वे नहीं करना चाहते। किसी के लिये कोई कर्म अच्छा फल देता है इतने मात्र से दूसरे के लिये भी वह कुछ भी अच्छा फल पैदा कर दे, यह नहीं होता है। राजस चूँकि कामेप्सु है और शास्त्र का विचार करने में सम्यक् बुद्धि वाला है अतः वह देखता है कि 'मेरी अमुक कामना इस कर्म से पूरी होगी या नहीं', यदि पूरी होगी समझता है तभी उस कर्म को करेगा। ऐसा नहीं कि वह किसी भी कामना को पूरा करने के लिये कुछ भी कर्म करे! लेकिन तामस व्यक्ति न कर्म के विषय में और न अधिकार के विषय में विवेक करता है।

'क्षयम् अनवेक्ष्य' तामस व्यक्ति यह भी नहीं देखता कि इस काम को करने में कितनी शक्ति का क्षय होगा, वह शक्ति मेरे में है या नहीं? अथवा इसमें कितना धन खर्च होगा, उतना धन मेरे पास है या नहीं, अथवा कार्य मेरे बूत का है या नहीं, इस बात का विचार नहीं करता। 'हिंसाम् अनवेक्ष्य' इस कर्म को करने से दूसरे प्राणियों को कितनी पीडा होगी,

यह भी नहीं सोचता। दूसरे प्राणियों का मतलब केवल बाहर के प्राणी ही नहीं समझना, कई बार घर के बच्चों के खर्चे की भी बिना सोचे तामस लोग कार्य सिरपर ले लेते हैं। बहुत से व्यापारी इतना बड़ा काम सिर पर ले लेते हैं, नतीजा होता है कि रहने का मकान भी बिक जाता है! उनसे पूछो तो कहते हैं 'मैंने तो अच्छे के लिये किया था।' दूसरों को और अपने को भी पीडा देने को तैयार रहते हैं। 'पौरुषं च अनवेक्ष्य' – मैं इतना बड़ा काम शुरू कर रहा हूँ, इसे समाप्ति तक ले जा सकता हूँ या नहीं? अपनी कितनी सामर्थ्य है – तामस व्यक्ति यह भी नहीं देखता। इन सब चीज़ों के अविवेक से कर्म को प्रारम्भ करता है। राजस के लिये भगवान् ने 'क्रियते' शब्द का प्रयोग किया, सात्त्विक के लिये 'कृत' और तामस के लिये 'आरभ्यते' कहा है। सात्त्विक के लिये 'कृत' कहा अर्थात् जो इस प्रकार से नियत कर्म करने में प्रवृत्त हुआ है, उसके कर्म तो सिद्ध ही हैं, किये हुए ही समझो इसलिये कृत हैं। राजस कर्म करने वाला चूँकि राग-द्वेष से युक्त है, अतः चाहे बहुलायास हो, पर कर लेता है। परन्तु तामस व्यक्ति कर्म को शुरू तो करता है लेकिन उसके अंत तक पहुँचने की आशा नहीं है क्योंकि जिस कर्म को करने में आत्मसामर्थ्य नहीं है उस कर्म को अपने सिर पर ले लेता है। ऐसे अनुबन्ध, क्षय आदि का विचार नहीं करता, अविवेक से उसका प्रारम्भ करता है, इसलिये पहले तो उस कर्म का पूर्ण होना कठिन है और यदि पूर्ण होगा भी तो सुख देगा, यह निश्चित नहीं है।२५।।

भगवान् ने तीन प्रकार के कर्म बताये। अब तीन प्रकार के कर्त्ताओं को बताते हैं। क्योंकि भगवान् ने 'करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः' (१८-१८) कहा था इसलिये कर्म को बताकर कर्त्ता को बताते हैं। सात्त्विक कर्ता बताते हैं क्योंकि कर्ता को ऐसा होना चाहिये।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

आसक्ति छोड़ा हुआ, खुद अपनी बड़ाई न करने वाला, धैर्य व उत्साह से युक्त, फललाभ होने-न-होने से हर्ष-विषाद में न पड़ने वाला कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।

सात्त्विक कर्ता ही सात्त्विक कर्म कर सकता है। सात्त्विक कर्ता कैसा होता है? सबसे पहले कहा – 'मुक्तसंगः' जिसको आसक्ति नहीं है। त्यक्तसंग भी कह सकते थे लेकिन मुक्तसंग यह बताने के लिये कहा कि संग का प्रभाव भी नहीं रह गया है। तभी मुक्त, 'छूट गया' ऐसा कहते हैं। छोड़ा है – ऐसा अभिमान भी नहीं है यह भाव है। जिसने आसक्ति बहुत पहले छोड़ दी, अब उसे आसक्ति प्राप्त ही नहीं होती है जो उसे छोड़े। 'अनहंवादी' – किसी भी कर्म को करके 'यह मैंने किया' इस प्रकार कभी कहता नहीं है। पुराने ज़माने में जब किसी को कहते थे कि 'अमुक काम तुमने बहुत अच्छा किया' तो उसका जवाब हमेशा होता था कि 'भगवान् ने करा लिया। आपके आशीर्वाद से हो गया।' 'मैंने किया' – ऐसा भाव नहीं था। वर्तमान काल में ठीक इसके विपरीत हो गया है! जो काम मैंने नहीं

भी किया, जहाँ थोड़ी बहुत प्रेरणा देने वाला ही मैं हूँ वहाँ भी अहंवदनशील बनते हैं कि मैंने किया। अनहंवादी का यह अर्थ नहीं ले लेना कि अन्दर अहंकार रखकर अनहंवादी है! बहुत से लोग मुँह से नहीं कहते कि 'मैंने किया' परन्तु उनके मन में यह भाव है कि 'मैंने किया' जिसको किसी-न-किसी प्रकार से व्यक्त कर देते हैं कि लोग इस बात को जानें। परन्तु यहाँ भगवान् का यह तात्पर्य नहीं समझ लेना। मन में भी मैंने किया यह भाव न हो और इसलिये ऐसा बोले भी नहीं। अतः भाष्यकार ने कहा 'नाहंवदनशीलः'; मनुष्य का जो स्वभाव हो गया है उसे शील कहते हैं। स्वभाव से ही हम सोचते हैं कि 'यह मैंने किया'। जो इस बात को जानता है कि पूर्वोक्त पाँच चीज़ें करने वाली हैं, कर्त्ता तो उसमें एक है, वह 'मैंने किया' नहीं समझ पाता। सात्त्विक कर्ता है अतः अभी इसके कर्तृत्त्व भाव की निवृत्ति तो हुई नहीं है इसलिये 'मैं कर्ता हूँ' यह भाव गया तो नहीं है परन्तु यह समझ इसे आ गई है कि किसी भी कर्म के अन्दर पाँच कारण होते हैं, उनमें एक मैं भी हूँ। अहंवदनशील का भाव होता है कि मेरे अतिरिक्त बाकी चारों का कोई महत्त्व ही नहीं है। अतः वह समझता है कि 'मैंने ही किया है, बाकी चार कोई खास अपनी सत्ता नहीं रखते'। इसकी सीधी पहचान यह देख लो कि जब कोई कार्य असफल होता है उस समय कोई अहंवदनशील नहीं होता कि 'मैं हारा'! तब बाकी के चार कारणों को कहता है कि 'इस-इस के कारण ऐसा हो गया। इन्द्रियों की ग़लती थी, प्राणों ने सहायता नहीं की, काम करने में पूरा ज़ोर नहीं लगाने दिया, इसलिये ऐसा हो गया, अथवा शरीर कमज़ोर हो गया है, इसलिये ऐसा हो गया।' जानता तब भी है कि 'किया तो मैंने ही' लेकिन उस समय दूसरे सब कारण याद आते हैं और मन में भी असफलता के प्रति अन्य ही कारण जँचते हैं। सात्त्विक कर्ता इसी तरह जीत में, सफलता में भी अहंवदनशील मन में भी नहीं होता।

'धृत्युत्साहसमन्वितः' धृति का मतलब है कि बड़ी से बड़ी विपत्तियाँ सामने आने पर भी उन विपत्तियों का सामना करके डटे रहना, 'धृतिः धारणं' अर्थात् विपत्ति का सामना करके जिस कार्य को हमने प्रारम्भ किया है उस कार्य को करने में लगे रहना। इसलिये नीतिकार भी कहते हैं 'विपदि धैर्यम्' जब विपत्ति आती है उस समय धैर्य होना ज़रूरी है। अन्यथा काम प्रारम्भ करके थोड़ा-सा भी विघ्न आ जाये तो घबड़ाकर छोड़ देते हैं कि 'हमसे नहीं होगा'। करने से पहले दस बार सोचो। आगे तमोगुणी कर्ता में भी कहेंगे और तमोगुणी कर्म में भगवान् कह चुके हैं कि जो तमोगुणी होता है वह बिना विवेक किये हुए काम को शुरू करता है। इन सब चीज़ों का विचार किये बिना जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है, विघ्न आने पर धैर्य न होने से झट वह छोड़ दिया जाता है। कार्य प्रारम्भ करने के पहले तो खूब विवेकपूर्वक, विचारपूर्वक निर्णय करो कि 'यह काम हमें करना है या नहीं, इसके लिये अपेक्षित हमारे पास सामग्री, साधन आदि सब हैं या नहीं।' यह सब निर्णय करके कार्य प्रारम्भ करने के बाद यह धृति चाहिये। जो मुक्तसंग होकर कार्य करेगा वह तो शास्त्राज्ञा से करेगा अतः उसको विरोध का सामना करना ही पड़ेगा। वेद कहता है 'तन्न देवानां प्रियं

यन्मनुष्या विद्युः।' देवताओं को तनिक भी अच्छा नहीं लगता कि मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाये, अतः देवता डटकर विरोध करते हैं। जैसे ही इस मार्ग में चलेगा वैसे ही विघ्न आने लगेंगे। कभी परीक्षा करके देखो, थोड़ी देर बैठकर विचार करो कि 'पड़ौसी दुकानदार को मैं कैसे नुकसान पहुँचा सकता हूँ।' घण्टा भर सोचोगे तो देखोगे नये-नये विचार आयेंगे और खूब अच्छा लगेगा, उसी बात को खूब सोचते रहोगे। सोचने का तुम्हारा मूड भी कायम रहेगा। इसके बाद रामचन्द्र जी के शरीर के बारे में ऊपर से नीचे तक ध्यान करो तो देखोगे कि जितना मन लगा था उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं लगेगा! ऐसा क्यों होता है? क्योंकि देवता चाहते नहीं कि कोई परमात्ममार्ग में जाये। इसलिये कहा गया है 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' श्रेय या कल्याण के कार्य को करने जाओगे तो अनेक विघ्न आयेंगे। सात्त्विक कर्ता चूँकि शास्त्रीय कर्म में प्रवृत्त है इसलिये देवता आदि सब विरोध करेंगे, विपत्तियाँ सामने आयेंगी। उनका सामना धैर्य से करोगे तब तो सफल होगे अन्यथा 'मुझ से नहीं होता' कहकर छोड़ दोगे। केवल धृति ही नहीं, उत्साह भी चाहिये। उद्यम करना पड़ेगा। बहुत से लोगों के मन के भाव तो बहुत अच्छे होते हैं परन्तु कार्य करने जाने पर उन के अन्दर उत्साह नहीं रहता। उत्साह का मतलब है उद्यम करने के अन्दर कभी भी पीछे न हटने का भाव। सात्त्विक कर्ता धृति और उत्साह से समन्वित है, युक्त है। समन्वित कहकर भगवान् यह भी संकेत करना चाहते हैं कि ये दोनों चीज़ें उसके सारे व्यक्तित्व के अन्दर मौजूद हैं। केवल मन में धृति और उत्साह होने से भी कार्य नहीं हो पाता। कई लोगों के मन में तो बड़ा उत्साह और धैर्य रहता है परन्तु शरीर के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं तब ढीले पड़ जाते हैं। इसलिये समन्वित कहा कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण इन सबके अन्दर धैर्य व उत्साह अन्वित है, अनुगत है। शरीर आदि के अन्दर सामर्थ्य तो बहुत होती है परन्तु धृति और उत्साह प्रायः नहीं होता, सात्त्विक कर्ता में अवश्य होता है। कर्ता तो अहंकार में प्रतिबिम्बित चेतन है। कर्ता भाव तो उसी में है। परन्तु उस अहं-सम्बन्धी जितनी चीज़ें हैं उनके अन्दर भी यह पर्याप्त रूप से व्याप्त होकर रहना चाहिये।

धृति में यह भाव है कि 'चाहे जितनी विपत्ति आये मैं इस कार्य को करके रहूँगा' और उत्साह या उद्यम भी यही है कि 'इस कार्य को कर लेना है'। इस प्रकार का निर्णय होता है, तब फिर आदमी सफलता पाने पर सुखी और असफल हो जाये तो दुःखी होता है। जिसमें धृति उत्साह नहीं होता है उसको तो ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ता कि कितना फ़ायदा हुआ, कितना नहीं हुआ। परन्तु जब धृति व उत्साह होता है तब अंतर भी पड़ता है। किन्तु भगवान् कहते हैं कि धृति उत्साह तो हो, लेकिन 'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः' काम चाहे सफल हो चाहे असफल हो, जिस काम को कर रहा है उससे फल हो या न हो, हार हो या जीत हो, उसमें निर्विकार रहे। कार्य में असफलता होने पर चेहरे पर एक उदासी आ जाती है और कोई काम ठीक हो जाता है तो चेहरे पर एक तरावट आ जाती है। चेहरा देखकर पता लग जाता है कि काम हुआ या नहीं। भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार का कोई विकार

शरीर आदि में न आये। मुख आदि पर विकार तभी आयेगा जब पहले मन के अन्दर आयेगा, यह तो स्पष्ट ही है। प्रश्न होता है कि यदि सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार होगा तो धृति उत्साह क्यों होगा? इस कठिनाई को हटाने का उपाय है केवल शास्त्र प्रमाण से करना। शास्त्र ने जो कह दिया वह कर दिया, चाहे उसका फल हो या न हो। चूँकि शास्त्र प्रमाण के अनुसार करना है इसलिये धृति और उत्साह पूरा बना रहता है। 'निर्विकारः' से भगवान् कह रहे हैं कि वह फल के लिये प्रवृत्त हुआ ही नहीं है, शास्त्राज्ञा पूरी करने के लिये प्रवृत्त हुआ है और वह आज्ञा पूरी हो गई। इसके अतिरिक्त और कोई फल उसके सामने नहीं है अतः बाकी फल हो तो ठीक और नहीं हो तो ठीक। मोटी भाषा में समझ लो : सवेरे आठ बजे मुझे दुकान खोल देनी है और शाम को पाँच बजे दुकान बढ़ा देनी है, मालिक के इस हुक्म के अनुसार मैं यह नियम से करता हूँ। बढ़िया मौसम आता है तो ग्राहक पर ग्राहक टूट पड़ते हैं, खूब फ़ायदा होता है। जब मौसम नहीं रहता और भयंकर सर्दी पड़ती है तब ग्राहकी नहीं होती। तब भी मालिक का कहा हुआ है तो आठ बजे ही दुकान खोलूँगा, खेलने का हुक्म है इसलिये खोलूँगा। और पाँच बजे से पहले बढाऊँगा भी नहीं। ठीक इसी प्रकार, परमेश्वर ने हमारे लिये जो कार्य बात दिया उस कार्य को हमें करना ही है। उससे फल हो न हो, इससे कोई मतलब नहीं है। अतः धृति और उत्साह इसमें है कि हम शास्त्राज्ञा का पालन कर रहे हैं, इसमें नहीं कि फल होता है या नहीं। जो इस प्रकार करने वाला है उसे सात्त्विक या सत्त्वगुणी कर्ता कहते हैं, अर्थात् वह फल या राग आदि से प्रवृत्त नहीं है, शास्त्राज्ञा से प्रवृत्त है और शास्त्राज्ञा का पालन करने में धैर्य और उत्साह वाला है।।२६।।

अब राजस कर्ता को कहते हैं –

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

रागवान्, कर्मफल पाना चाहने वाला, लोभी, स्वभावतः दूसरों को पीडा देने वाला, बाहरी–भीतरी स्वच्छतासे हीन, हर्ष व विषाद से युक्त कर्त्ता राजस कहा गया है।

राजस कर्त्ता में कामनाओं के अम्बार भरे रहते हैं। सब प्रकार की चीज़ों में इसकी कामना बनी रहती है अतः रागी है। इसको प्रवृत्त करने वाली इसकी कामनायें हैं, शास्त्राज्ञा से इसे कोई मतलब नहीं है। इसमें दृष्टांत की ज़रूरत नहीं है, अपने ही मन को देख लो तो पता लग जायेगा! कर्मफल – प्रेप्सु कर्मफल की इच्छा वाला है। जिसमें राग है उसकी प्राप्ति जिस कर्म से होगी, उसी कर्म में लगता है। जिसके फल की इच्छा नहीं है उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके अन्दर भी धृति उत्साह कम नहीं होता है, परन्तु होता उसी में है जिस से फल मिले। कर्मफल पैदा हो – इसकी तरफ ही उसका ध्यान है। चूँकि कर्मफल को प्राप्त करने

की इच्छा वाला है इसलिये कर्म को प्रारम्भ करके भी अगर इसे पता लग जाये कि इसके अन्दर असफलता ही होनी है तो बीच में भी छोड़ देगा। प्रवृत्त तो राग से हुआ और राग अभी भी बना हुआ है परन्तु 'इस कर्म के द्वारा इष्टफल की प्राप्ति नहीं होगी' यह समझने पर उसे छोड़कर, जिस कर्म से वह फल प्राप्त हो, उसकी तरफ जायेगा। ऐसा कर्त्ता लुब्ध होता है, चाहता है कि 'दूसरों का द्रव्य मुझे प्राप्त हो जाये'। लोभी व्यक्ति अपने धन से संतुष्ट नहीं रहता। मेरे पास एक हजार रुपये हैं और तुम्हारे पास सौ रुपये हैं तो होना तो यह चाहिये कि तुम्हारे सौ मैं क्यों चाहूँ; पर ऐसा नहीं होता, उल्टा होता है कि तुम्हारे सौ भी मेरी जेब में आ जायें। दूसरे के द्रव्य के प्रति राजस की हमेशा लिप्सा रहती है। जैसे धन के प्रति वैसे ही दूसरी चीज़ों के प्रति भी समझ लेना। दूसरे का अच्छा मकान देखता है तो सोचता है कि 'अपना मकान भी ऐसा होता तो अच्छा था'। दूसरे की स्त्री देखता है तो मन में होता है कि 'मुझे भी ऐसी पत्नी मिली होती तो अच्छा था'। दूसरे का लड़का अच्छा हो तो लगता है 'हमारा लड़का भी ऐसा होना चाहिये था'। केवल धन ही नहीं, सभी चीज़ों का लोभ हो जाता है। साथ ही, लोभी व्यक्ति सत्कर्म के लिये अपनी चीज़ देना नहीं चाहता।

'हिंसात्मकः' दूसरों को पीडा देना ही इन्हें स्वाभाविक लगता है। वर्तमान में प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्द्धा को ही सबसे अच्छा गुण माना जाता है। दूसरे से स्पर्धा करके पीछे छोड़ो तब तुम बड़े हो। यही हिंसा है कि दूसरे मुझ से पीछे रहें। हमेशा इनकी भावना यही रहती है कि दूसरे दब जायें। इसलिये हमेशा 'अशुचिः' अपवित्र ही रहते हैं अर्थात् अपने अन्तःकरण के अन्दर राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि को लाना इन्हें बड़ा अच्छा लगता है। जब मन में राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भरे रहते हैं तो बाहर की पवित्रता से भी क्या होना है और वस्तुतः बाहर की पवित्रता रहती भी नहीं। सात्त्विक कर्ता तो सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार था और यह राजस कर्ता जब कभी काम बना जाता है तब इसका चेहरा खिला होता है, जब कभी असफलता होती है तब चेहरा मुर्झाया रहता है। इसको प्रसन्नता और दुःख दोनों में से कुछ न कुछ होता ही रहता है। राजस को लगता है कि सात्त्विक बनने से संसारे में कोई मज़ा ही नहीं रहेगा क्योंकि वह हर्ष को चाहता है। क्योंकि हर्ष के साथ शोक अनिवार्य है इसलिये उसे भी स्वीकार लेता है पर हर्ष-शोक को छोड़ना नहीं चाहता क्योंकि मानता है कि वैसा करने से संसार नीरस हो जायेगा! इसलिये वह हर्ष और शोक से अन्वित है अर्थात् शरीर पर्यन्त इसका हर्ष शोक आता-जाता है और हमेशा इससे युक्त ही रहता है। अनिष्ट की प्राप्ति होने पर शोक होता है अथवा इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर शोक होता है। इसी प्रकार इष्ट की प्राप्ति पर हर्ष और अनष्टि पदार्थ के चले जाने पर हर्ष होता है। ऐसा रहने वाला राजस कर्ता है, उसी को रजोगुणी कर्ता कहते हैं। रजोगुणी कर्ता के विषय में ज़्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि चारों तरफ ऐसे रजोगुणी कर्ता हैं। सात्त्विक कर्ता तो वर्तमान काल में इतने दुर्लभ होते हैं कि होते हैं यह भी लोगों को जँचना ही बन्द हो

गया है! कहते हैं 'ये तो कहने की बातें हैं, सात्त्विक कर्ता होता ही नहीं है!' किन्तु भगवान् की दृष्टि में राजस कर्ता होना अनिष्ट है, ऐसा न बनकर सात्त्विक कर्ता बनने का प्रयास ही करना चाहिये।।२७।।

भगवान् सात्त्विक और राजस कर्ता को बताने के बाद तामस कर्ता को बताते हैं –

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।।२८।।

एकाग्र न रहने वाला, संस्कारहीन, अविनयी, ठग, क्रूर, आलसी, अवसादग्रस्त और मन्थर प्रवृत्तिवाला कर्ता तामस कहा जाता है।

तामस कर्ता कैसा होता है? 'अयुक्तः' – निरन्तर विषय-चितंन करते रहने के कारण इसका चित्त हमेशा विक्षिप्त रहता है। एक के बाद एक इसका विषय-चिन्तन ही चलता है। विषय-चिन्तन को छोड़कर यह कभी अपने को रखता नहीं और चूँकि विषय अनेक हैं इसलिये इसका चित्त हमेशा विक्षिप्त बना रहता है। इसीलिये किसी भी कार्य को करने में इसका मन लगता नहीं। अयुक्तता तमोगुणी का लक्षण है। कुछ लोग इस तमोगुण को सत्त्व गुण समझ लेते हैं कि 'हमारा दिल किसी चीज़ में नहीं लगता इसलिये हमें वैराग्य है'। किन्तु यह वैराग्य का नहीं, विक्षिप्तचित्त का स्वरूप है। वैराग्य चित्त की एकाग्रता को लाता है। जो वैराग्यवान् होगा उसका चित्त हमेशा आत्मपदार्थ की तरफ ही लगेगा। तामस अयुक्त अर्थात् विक्षेप वाला है। इसका चित्त कभी समाहित या एकाग्र नहीं होता और यह 'प्राकृत' है अर्थात् प्रकृति के जो सामान्य नियम हैं उन्हीं का इसको ज्ञान है। इसके अतिरिक्त इसकी बुद्धि में कोई संस्कार नहीं है। इससे पूछो – 'क्या चाहिये?' तो यही कहेगा 'खाने-पीने को बढ़िया मिले, मकान मिले' इत्यादि। इसके मन में भी नहीं आता कि स्वर्ग मिले, देव-दर्शन हो; मोक्ष की बात तो बहुत आगे की बात है! प्रकृति के, जो सामान्य पशु-पक्षी के विचार हैं वैसे ही विचार इसके हमेशा रहते हैं। जैसे पशु निरन्तर शरीर-सुख की बात ही सोचता है वैसे ही यह भी सोचता है। इसका कारण यह है कि इसकी बुद्धि संस्कृत नहीं है, शास्त्रीय संस्कार से सर्वथा रहित है। पशु और मनुष्य में मूलगत भेद यही है कि मनुष्य के अन्दर शास्त्रीय संस्कार होते हैं। शास्त्रीय संस्कार वाला भी प्रकृति के कार्यों की तरफ कुछ-न-कुछ चलता है, लेकिन शास्त्रीय पदार्थों की तरफ भी इसकी प्रवृत्ति होती है जबकि तामस तो शास्त्रीय संस्कारों से सर्वथा रहित होने के कारण प्राकृत है। भाष्यकार लिखते हैं 'बालसम' छोटे बालककी तरह है। जैसे छोटे से बालक को बढ़िया चाकलेट, बढ़िया कपड़ा मिल जाये तो खुश है, ऐसे ही इसकी बुद्धि होती है। बालसम का अर्थ ठीक तरह से समझना क्योंकि कई जगह बालक की उपमा राग-द्वेष से रहित के लिये भी दी जाती है। यहाँ बालसम का वैसा अर्थ नहीं समझना वरन् निर्बुद्ध और शास्त्रीय संस्कारशून्य समझना। आजकल के कालेजों से एम०ए० भी पास हो जाओ तब भी तुम शास्त्रीय संस्कार से रहित प्राकृत बने रहोगे,

क्योंकि वहाँ तुम्हें कोई शास्त्रीय संस्कार तो देगा ही नहीं। जैसे जानवरों को चाहिये खाना-पीना ही, इसी प्रकार वर्तमान काल में बड़े-बड़े लोग भी बालक की तरह ही हैं, शास्त्र संस्कार से शून्य हैं, कहाँ मुँह मारेंगे कोई ठिकाना नहीं!

इसलिये ये प्राकृत 'स्तब्ध' हैं। जैसे डण्डा किसी के सामने झुकता नहीं, ऐसे ही माँ-बाप के पैर छूने में भी इनकी शान जाती है, गुरुजनों को आदर देने की इनमें कोई प्रवृत्ति नहीं। ऐसा व्यक्ति स्तब्ध होता है अर्थात् किसी के सामने इसमें नम्रता होती ही नहीं। जैसे इसके शरीर आदि में नम्रता नहीं दीखती, ऐसे ही इसके मन में भी नम्रता नहीं रहती। चाहे राम-कृष्ण आदि अवतार हों, चाहे वेद हो, चाहे अपने बड़े हों, इसके मन में हमेशा रहता है कि 'जैसा मैं, ऐसे ही ये सब हैं'। इसलिये मनु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि के बारे में कहता है कि इन्होंने ब्राह्मणों का समर्थन करने वाली चीज़ें लिखी हैं, ये सब स्वार्थी थे! इसलिये उन्हें पढ़ते समय भी इसके मन में कभी नम्रता का भाव नहीं आता कि ये जो कह रहे हैं वह ठीक है। उनके भी कहने में गलती ही ढूँढता है। खुद की मान्यता को ठीक ही मानता है, बाकि चाहे जैसे प्रामाणिक आचार्य कहें, उसमें दोष ढूँढता रहता है। शिक्षा ग्रहण करने के लिये एक नम्रता चाहिये, मन-बुद्धि में विनय न हो तो सीखना संभव नहीं होता। प्राकृतका नारा होता है कि इन्सान-इन्सान एक जैसे हैं। ऋषि-मुनियों को भी यह इन्सान ही समझता है!

'शठः' अर्थात् बड़ी दुष्ट प्रकृति का होता है। दूसरे को ठगने के लिये यह ऊपर से एक भाव दिखता है लेकिन अन्दर से इसका दूसरा भाव होता है। यह जो करने जा रहा है उसे प्रकट नहीं करेगा क्योंकि सामने वाले को ठगना चाहता है। इसके अन्दर यह शाठ्य हमेशा रहता है कि 'दूसरे से मैं अपना स्वार्थ कैसे सिद्ध करूँ'। 'मेरा काम बन जाये' - केवल यही इसकी दृष्टि है। ऐसा शठ या मायावी होकर यह और क्या करता है? 'नैष्कृतिकः परवृत्तिच्छेदनकरः' दूसरे की कमाई का कोई भी साधन हो उसको काटना इसकी प्रकृति है। दूसरे को कोई मदद तो नहीं ही देगा परन्तु उसके काम में रुकावट आये इस में इसे मज़ा आता है। ठगकर दूसरे को दुःखी करने में तामस व्यक्ति को सुख होता है। 'अलसः' जो प्राप्त कर्तव्य है, उन कार्यों को करने में इसको हमेशा आलस्य होता है। विषय को प्राप्त करने के लिये इसे चाहे जितनी मेहनत करनी पड़े, कर लेगा लेकिन अपने कर्त्तव्य में हमेशा आलसी रहता है, उनको टालता रहता है। उससे पूछें कि कहाँ गये थे? कहता है - 'यूरोप अमेरिका गया था।' 'दक्षिण के मन्दिरों का दर्शन किया?' कहता है 'फुर्सत ही नहीं मिलती क्या करें!' ठेठ अमेरिका, यूरोप जाने की फुर्सत है। इसी प्रकार हवाई जहाज़ से कहीं जाना है और जहाज़ सुबह चार बजे उड़ता है तो उसके लिये उठकर ठीक समय पहुँच जायेगा, कभी हवाई जहाज़ नहीं छूटता। लेकिन उससे सवेरे चार बजे उठकर स्नान करने के लिये कहो तो कहता है 'यह तो व्यावहारिक नहीं है।' हवाई जहाज़ वालों से नहीं कहते कि 'इतनी जल्दी हवाई जहाज़ क्यों चलाते हो? मैं तुम्हारे हवाई जहाज़ से नहीं जाऊँगा।' लेकिन

शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति के लिये हमेशा कहेंगे कि यह नहीं कर सकते क्योंकि शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति उनको करनी ही नहीं है। ऐसे लोग 'विषादी' होते हैं। इनमें कभी संतोष नहीं होता। 'इतना मुझे मिल गया, अब और मुझे नहीं चाहिये' - यह भावना इनमें कभी नहीं होती। चूँकि संतोष नहीं होता इसलिये इनका चित्त अनेक चीज़ों में रहता है, यही सोचते हैं कि 'यह मिले, वह मिले'। हमेशा विषाद करते रहते हैं कि 'हाय! मुझे यह नहीं मिला।' पहले लोगों में प्रायः संतोष होता था कि दो समय भोजन मिल गया, और क्या चाहिये! आजकल असंतोष की बाढ़ होने से कहते हैं - खर्चा पूरा नहीं पड़ता। पाँच हज़ार कमाने वाले की, दस हज़ार कामने वाले की और लाख कमाने वाले की भी यही शिकायत है कि पूरा नहीं पड़ता। इसलिये हमेशा विषाद करते रहते हैं। 'दीर्घसूत्री'। जो अपना कर्तव्य है उसे हमेशा दीर्घकाल में फैलाता रहेगा, उसको करने में हमेशा विलम्ब करेगा। दीर्घसूत्री का मतलब होता है कि कल करके काम चल जाये तो आज क्यों करना? अथवा लेटकर काम किया जा सके तो बैठे क्यों और बैठकर जो काम हो सके उसके लिये खड़े क्यों होना? सभी कर्तव्य कर्मों को यह दीर्घसूत्री इस प्रकार से टालता रहता है। सोचता रहेगा 'यह करूँगा, वह करूँगा' पर उसे करना कुछ नहीं है। भाष्यकार तो लिखते हैं - कि महीना भर हो जाये तो भी कर्तव्य नहीं करेगा। 'च' से अयुक्त आदि सबका समुच्चय है। तमोगुण की पूर्णता होने पर ये सारी चीज़ें मौजूद रहेंगी। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा जो करने वाला है उसी को तमोगुणी कर्ता कहते हैं।।२८।।

भगवान् ने छह चीज़ें बताने की प्रतिज्ञा की थी - ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता और करण, कर्म, कर्ता। इनमें से भगवान् ने ज्ञान को बता दिया और कर्ता को बताकर ज्ञाता को भी कह ही दिया। कर्म को भी बता दिया। तदनुसार ज्ञेय भी समझ सकते हैं। जैसे क्रिया के द्वारा कर्म सम्पन्न होता है वैसे ही तुम्हारी ज्ञानेद्रियों के द्वारा पदार्थ ज्ञेय हो जाता है, इसलिये कर्म के अनुसार ज्ञेय को समझना चाहिये। इस प्रकार छह में से पाँच चीज़ें भगवान् ने बता दी। अब करण को बताते हैं। सब से प्रधान करण अन्तःकरण है, बहिःकरण तो अन्तःकरण के आदेश के अनुसार ही 'प्रायः' काम करते हैं। 'प्रायः' इसलिये कह रहे हैं कि भगवान् पहले भी कह आये हैं कि इन्द्रियों में भी कामना रहती है। फिर भी प्रधानरूप से कामना अन्तःकरण में रहती है। अतः भगवान् अन्तःकरण को बताते हैं, इससे सभी करणों के बारे में समझ लेना है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धन जय।।२९।।

धनंजय! गुणानुसार बुद्धि और धृति के समग्र भेद विवेकपूर्वक बताये जा रहे हैं उन्हें सुनो।

सत्त्व, रज, तमोगुण की प्रधानता से तीन प्रकार की बुद्धियों के भेद को सुनो। अन्तःकरण के साथ में भगवान् ने अन्तःकरण की वृत्ति को भी लेना ठीक समझा। क्योंकि

भगवान् ने सात्त्विक कर्ता को बताते हुए कहा था 'धृत्युत्साहसमन्वितः' इसलिये यहाँ कहा कि अन्तःकरण की जो धृतिरूप वृत्ति है उसके भी तीन प्रकार के भेद सुनो। एक वृत्ति को कह रहे हैं, उसी से सारी वृत्तियों की उपलक्षणा कर लेना। वृत्तियाँ भी सात्त्विक राजस और तामस हो जाती हैं। 'अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं' पूरी तरह से अर्थात् जो भेद मैं बता रहा हूँ, इसमें जितना कुछ बताना है वह सब बता दिया। इसके अतिरिक्त और कुछ जानने की ज़रूरत नहीं है, और इनका विवेक करके सत्त्व, रज, तम गुणों को बताऊँगा। 'पृथक्त्वेन' से भगवान् यह कहते हैं कि समझने के लिये तो हर गुण का अलग कार्य बताते हैं, परन्तु चूँकि व्यक्ति केवल सात्त्विक, केवल राजस या केवल तामस नहीं होता इसलिये यहाँ जो तीन भेद बताये हैं इनमें बाहुल्येन समझना। सत्त्वगुण की बहुलता वाली चीज़ें हैं तो सात्त्विक, परन्तु थोड़ी–बहुत राजस–तामस भी हो जाती हैं। इसी तरह तमोगुणी में भी यत्किंचित् अन्य गुण रहेंगे। 'पृथक्त्वेन' का सहारा लेकर वैज्ञानिक ढंग से बता दिया। जैसे वैज्ञानिक सोने को सर्वथा शुद्ध करके उसमें सोने का जो गुण देखे उसी को सोना मानता है। वैसा ही सोना व्यवहार में तो नहीं मिलता। शुद्ध से शुद्ध सोने को भी ६६.६६ प्रतिशत शुद्ध ही लिखते हैं, १०० प्रतिशत नहीं लिखते। जो सोना व्यवहार में आयेगा उसमें सर्वथा वे सारे गुण नहीं मिलेंगे जो वैज्ञानिक कहते हैं। वह तो जब सोने को बिलकुल शुद्ध करके देखोगे तभी मिलेंगे किन्तु बाकियों में बहुलता से मिलेंगे। अन्य पदार्थ कितना मिला हुआ है, उससे फ़र्क पड़ता है। दूध चाहे जैसा लो उसमें कुछ न कुछ पानी तो ज़रूर होता है। जब कहते हैं कि दूध के अन्दर इतनी शक्ति है तो वह शुद्ध दूध के लिये कहते हैं, उसमें जितना पानी मिला है उसकी शक्ति उतनी कम हो जायेगी। इसी प्रकार सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण सबको अलग–अलग करके बताया लेकिन तुमको जो सात्त्विक, राजस, तामस कर्ता आदि मिलेंगे उनके अन्दर तो दूसरे गुण भी थोड़े–बहुत रहेंगे ही। लेकिन 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' जो बहुत होता है उसी को लेकर कहा जाता है।

भगवान् ने अर्जुन को 'धनंजय' सम्बोधन किया। अर्जुन का नाम धनंजय इसलिये पड़ा कि राजसूय यज्ञ में जब वह दिग्विजय करने गया था तो इसने अनेक राज्यों को हरा कर वहाँ से तरह–तरह की मानुष सम्पत्ति - धन, पशु, अनाज इत्यादि जो सब मनुष्य लोक की सम्पत्ति है - प्राप्त की थी। तात्पर्य है - उस समय में तुम्हारा जो कार्य के प्रति उत्साह था, उस उत्साह को याद करो। इसी प्रकार से अर्जुन ने बड़ी तीव्र उपासना करके दिव्य सामर्थ्य को प्राप्त किया था। अर्जुन की उपासना इतनी तीव्र थी कि स्वयं भगवान् शंकर इसके सामने योद्धा के रूप में प्रकट हुए थे। उनको इसने पछाड़ने का प्रयत्न किया था। तब भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। इस प्रकार अनेक उपासनाओं से इसने केवल बाह्य धन को ही नहीं, आन्तर धन भी उपार्जित किये थे। भगवान् धनंजय कह कर उसकी भी याद दिलाते हैं कि ऐसे दैव और मानुष वित्त को प्राप्त करने के लिये, जितना जबर्दस्त तुम्हारा श्रम था वैसा ही श्रम परमात्म–प्राप्ति के मार्ग में भी करना पड़ेगा। जैसे तुमने बाह्य धन को जीता वैसे

ही अज्ञान को जीतकर अपने आत्मा को अनावृत करके उसकी प्राप्ति कर लो।।२६।।

अब भगवान् सात्त्विक बुद्धि को बताते हैं :-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

पृथापुत्र! प्रवृत्तिमार्ग, निवृत्तिमार्ग, विहित–निषिद्ध कर्म, भय–अभयके योग्य विषय, बन्धन व मोक्ष को (यथावत्) जानने वाली बुद्धि सात्त्विक है।

सात्त्विकी बुद्धि या सत्त्वगुण वाली बुद्धि में क्या विशेषता होती है? 'या वेत्ति सा सात्त्विकी बुद्धिः' जो चीज़ों को जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है। बुद्धि तो हमेशा जानेगी ही। चीज़ जैसी हो वैसा जानना सात्त्विकी बुद्धि का कार्य है। जो चीज़ जैसी है वैसा नहीं जानना भी है तो बुद्धि लेकिन उसे 'नहीं जानना' ही कहा जाता है। जैसे है रस्सी और उसे सर्प जान लिया तो सर्प का *ज्ञान* भी वास्तव में अज्ञान कहा जाता है। अतः 'या वेत्ति' का मतलब है कि जो चीज़ जैसी है उसको वैसा ही जानती है यह सात्त्विकी बुद्धि की विशेषता है। जानने लायक क्या है? दुनिया में तो अनन्त पदार्थ हैं, सबकी वास्तविकता कैसे जानोगे? भगवान् कहते हैं कि इन चीज़ों की वास्तविकता जानना आवश्यक है : प्रवृत्ति और निवृत्ति। किन चीज़ों के अन्दर प्रवृत्ति होनी चाहिये इस बात को सात्त्विक बुद्धि जानती है। वेद में दो मार्ग बताये हैं – प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। सात्त्विक पुरुष जानता है कि प्रवृत्ति मार्ग क्या है और निवृत्ति मार्ग क्या है। दोनों को वह ठीक-ठीक जानता है। अधिकतर लोग प्रवृत्ति मार्ग ही नहीं जानते तो निवृत्ति मार्ग क्या जानेंगे! शास्त्र ने जो कर्त्तव्य बताये हैं, वे कर्तव्य करना ही प्रवृत्ति है। शास्त्र विरुद्ध कर्मों को करना प्रवृत्ति नहीं है। ठीक जिस प्रकार से तुम्हारे पिता जी दुकान में दस करोड़ रुपये छोड़ गये थे। तुमने दस साल तक खूब धन्धा किया लेकिन कंगले हो गये। दुकान तो दस साल चलाई, लेकिन कोई नहीं कहेगा कि तुमने व्यापार किया। नफा करोगे तब तो माना जायेगा कि व्यापार किया। घाटा ही घाटा करते रहे तो कोई नहीं कहेगा कि अच्छा व्यापारी है। इसी प्रकार यदि इस संसार में अब से बेहतर, फिर उससे भी बेहतर करते–करते उत्तम लोकों की प्राप्ति करते रहो, तब तो कहा जायेगा कि तुम ठीक कर्म कर रहे हो, और यदि निम्न कर्म करके उससे भी नीचे ही जाओ तो तुम्हारा किया प्रवृत्ति कहलाने लायक नहीं होगा। सात्त्विकी बुद्धि वाला शास्त्रानुकूल कार्य करने पर ऊपर–ऊपर के लोकों को जाता रहता है। हैं वे भी सारे बन्धन ही, परन्तु यदि लोहे के पिंजड़े की अपेक्षा सोने के पिंजड़े में जाओ तो लोक में अच्छा माना जाता है। पिंजड़े से निकलने वाला तो निवृत्ति मार्ग में आयेगा। प्रवृत्ति मार्ग बंधन में रहने का मार्ग है। परन्तु उसपर चलने से तुम्हारी परिस्थिति बेहतर होती जायेगी। सात्त्विक बुद्धि वाला जानता है कि प्रवृत्ति मार्ग क्या है? किन चीज़ों के लिये प्रवृत्ति करनी है?

इसी प्रकार वह निवृत्ति को भी जानता है अर्थात् मोक्ष मार्ग, (संसार से) छूटने का रास्ता

भी जानता है। जो निवृत्ति मार्ग को नहीं जानेगा वह समझेगा कि प्रवृत्ति से ही मोक्ष हो जायेगा! बहुत से लोग सोचते हैं कि अच्छे काम करते-करते मुक्त हो जायेंगे। प्रवृत्ति से तुम्हारी स्थिति बेहतर हो सकती है परन्तु उससे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। मोक्ष का कारण तो जैसा शास्त्र ने बताया है

'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतः न वेत्ति दुःखमण्वपि।।'

जिस-जिस चीज़ से निवृत्ति होती जाती है उस-उस चीज़ से छूटते जाते हो। शरीर से लेकर अहंपर्यन्त सब चीज़ों से निवृत्त हो जाते हो तो अणुमात्र भी दुःख नहीं होता, निरंतर परम आनन्द में ही रहते हो। परन्तु निवृत्ति मार्ग में जाने के लिये शुद्ध बुद्धि होनी चाहिये। किसी चीज़ को छोड़ने मात्र से निवृत्ति सिद्ध नहीं होती है। चीज़ों का विवेक करके जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य पूर्वक जो छोड़ा जाता है वह निवृत्ति है। इसलिये भगवान् ने कहा था कि 'काम करने में दुःख होता है, कायक्लेश होता है तो इतना झंझट करने से क्या फायदा' – इस प्रकार कायक्लेश के भय से त्याग का कोई फल नहीं है। वह छोड़ना निवृत्ति नहीं है। कई बार लोग प्रश्न पूछते हैं कि कैसे पता लगे कि वैराग्य है या कायक्लेश से छोड़ा है? पदार्थ के मिलने पर तुमको यदि अच्छा लगे तो पता लगता है कि अभी उस पदार्थ के प्रति राग के संस्कार हैं और वह पदार्थ मिलने पर भी तुमको व्यर्थ लगे, तब समझो कि उस चीज़ के प्रति तुम्हें राग नहीं है। जैसे रास्ते में चलते हुए तुमको तिनके दिखाई तो दे गये परन्तु तुम उनको बटोरने नहीं जाते हो; वे तिनके किसी के नहीं हैं, खुली ज़मीन में हैं, तुम उन्हें इकट्ठा कर सकते हो, लेकिन नहीं करते क्योंकि तुम्हारे लिये वे व्यर्थ हैं। परन्तु यदि वहाँ एक भी गिन्नी चमकती दीख जाये तो खट उठा लोगे क्योंकि उसके प्रति तुम्हें राग है। यदि कोई ग्वाला उधर से जा रहा है जिसके घर में गाय है, वह घास को देखने पर काट कर इकट्ठी कर लेगा और गाय को खिलायेगा। इसलिये पदार्थ की उपलब्धि होने पर अपने मन में क्या होता है इससे पता लगता है कि राग है या वैराग्य है। भगवान् ने कहा कि सर्वकर्मसंन्यास का जो मार्ग है उसका दरवाज़ा विवेक के द्वारा वैराग्य होने पर खुलता है। जब तक विवेक-पूर्वक वैराग्य नहीं हो गया तब तक के लिये प्रवृत्ति मार्ग है।

यहाँ सामान्यतः भगवान् ने प्रवृत्ति निवृत्ति कहा है, इससे विधि और निषेध क्यों न ले लिये जायें? निवृत्ति अर्थात् वेद जिसको नहीं करने को कहता है और प्रवृत्ति अर्थात् जो वेद हमें करने को कह रहा है। यह भी अर्थ हो सकता है किन्तु भाष्यकार कहते हैं – कि इसी वाक्य में भगवान् ने आगे बन्ध और मोक्ष कहा है। इसलिये बन्ध और मोक्ष के साथ एक वाक्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति कह रहे हैं तो बन्धन कराने वाला प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्त करने वाला मोक्ष मार्ग ही इष्ट हो सकते हैं।

भगवान् ने कहा – जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वेदान्त सिद्धान्त में बुद्धि तो जानती नहीं, बुद्धि के द्वारा आत्मा जानता है। इसलिये 'यया बुद्ध्या वेत्ति' कहना चाहिये अर्थात् जिस बुद्धि से जानता है वह सात्त्विकी बुद्धि हुई। इस पर यह समझ लेना चाहिये कि कई जगह जिसके द्वारा होता है उसको भी प्रधान मानकर कर्त्ता कह देते हैं। चूँकि जानने का काम बुद्धि के द्वारा ही होता है इसलिये 'बुद्धि जानती है' ऐसा कह दिया गया। प्रवृत्ति-निवृत्ति तो शास्त्र के अनुसार होगी। प्रवृत्ति के अन्दर शास्त्र कार्य और अकार्य बताता है। जो करना चाहिये वह कार्य हुआ और जो नहीं करना चाहिये वह अकार्य हुआ। जिसका विधान किया है वह विहित है, वह कार्य है और जिसका प्रतिषेध किया है वह अकार्य है। इन चीज़ों को जो जानता है वह यथावत् जानता है। केवल शास्त्र द्वारा प्रतिपादित कार्य और अकार्य ही नहीं, जो दृष्ट फल वाले कार्य और अकार्य हैं उनको भी सात्त्विक बुद्धि जानती है। इह लोक के प्रयोजन सिद्ध करने वाले और दिक्कतों से बचाने वाले कार्य-अकार्य को सात्त्विक बुद्धि समझने में सक्षम होती है। अदृष्ट प्रयोजन के उपायों का शास्त्र के द्वारा पता लगता है और इस संसार के अन्दर दृष्ट पदार्थों की जो प्राप्ति है उसमें भी कौन-सी चीज़ क्या करने से प्राप्त होगी और क्या नहीं करने से प्राप्त होगी इसे ठीक-ठीक जानना पड़ता है। इस प्रकार के कार्य अकार्य को जानने के लिये योग्य देश, काल आदि की हमेशा अपेक्षा होती है – किस देश में क्या करने से प्रयोजन सिद्ध होगा, किस देश में क्या नहीं करने से अनिष्ट से बचेंगे। अदृष्ट कार्यों के अन्दर शास्त्र-प्रमाण के द्वारा बुद्धि निर्णय करती है और दृष्ट पदार्थों के अन्दर दृष्ट कार्यों का विवेक करके निर्णय करती है। दोनों ही जगह विवेक आवश्यक होता है। विवेक के बिना जो व्यक्ति चलता है वह यहाँ भी दुःख उठाता है और आगे भी दुःख उठाता है। यहाँ दुःख उठाता है क्योंकि उसका दृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और शास्त्र को विवेक करके नहीं जानने से अदृष्ट अर्थ भी उसका पूरा नहीं होता। इसलिये कार्य और अकार्य में विवेक कहा।

इसी प्रकार भय और अभय में विवेक आवश्यक है। जिससे आदमी भय खाता है या डरता है उसे भय कहते हैं 'अस्मात् बिभेति इति भयम्' और जिससे डर नहीं लगता है वह अभय है। यह भय और अभय दृष्ट और अदृष्ट दोनों विषयों के समझ लेना। सामने से शेर दहाड़ता हुआ आये, यह दृष्ट भय है। इसी प्रकार अदृष्ट भय है कि रास्ते में जाते हुए देखते हो कि हीरे की अंगूठी पड़ी हुई है, मन करता है उठा लें, परन्तु तुरन्त याद आता है कि किसी का स्वर्ण ले लेना अत्यंत बड़े पापों में गिना गया है। इसको उठाया तो आगे नरक में जाना पड़ेगा। दृष्टभय और अदृष्टभय दोनों को ही सात्त्विकी बुद्धि जानती है। किससे डरना चाहिये, किससे नहीं डरना चाहिये यह सात्त्विकी बुद्धि समझती है। अन्यथा, डरने की चीज़ों से तो नहीं डरते और जिससे नहीं डरना चाहिये उससे डरते हैं। सबसे ज़्यादा किससे डरना चाहिये? वेद कहता है कि परमेश्वर ऐसा है जिससे हमेशा डरना चाहिये। वह ऐसा है जिससे सूर्य-चन्द्र भी डरते हैं, वायु भी डरता है क्योंकि उसके जो

नियम हैं वे अप्रतिहत हैं, उसके नियम से बचने का कोई उपाय नहीं है अतः परमेश्वर से डरना चाहिये। और संसार के जो लौकिक लोग हैं जिनसे साधारण आदमी भय खाता है कि 'लोग क्या कहेंगे', उनसे भय नहीं करना चाहिये! लोगों के भय से आजकल अनेकों ने त्रिपुण्ड्र, तिलक लगाना, चोटी रखना छोड़ दिया है। ऐसे लोग हैं जो साथियों के भय से मन्दिर में आने से डरते हैं कि लोग क्या कहेंगे! उनसे तो डरते हैं और परमात्मा से नहीं डरते! परमात्मा के नियमों का उल्लंघन करके सोचते हैं कि बच जायेंगे। इसलिये इसे समझना बहुत ज़रूरी है कि किससे भय खाना है और किससे अभय रहना है।

इसी प्रकार 'बन्धं या वेत्ति' सात्त्विक बुद्धि बंधन को जानती है। हमको कहीं दीखता नहीं कि हमें किसी ने बाँधा है। लोगों से कहते हैं कि तुम बंधन में हो तो पूछते हैं 'हम कैसे बंधन में हैं? हम तो १५ अगस्त सन् ४७ को मुक्त हो गये, स्वतंत्र हो गये।' एक बहुत बड़ा राजा था। एक बार एक ऋषि उससे मिलने गये। राजा ने उनसे कहा - 'मैंने सब को जीत लिया है और कोई जीतने लायक चीज़ हो तो मुझे बताइये।' जैसा शिवमहिम्नस्तोत्र में कहा है कि सहस्रबाहु ने सारे संसार को जीत लिया, फिर भी उसके हाथ की लड़ने की खाज नहीं मिटी! वह सोचता था कोई मिले तो लड़ूँ। विद्वान् की जीभ में खाज चलती है कि कोई आये तो उससे शास्त्रार्थ करूँ। ऐसे ही वीर की भुजाओं में खाज चलती है कि कोई आये तो लड़ूँ। ऋषि समझ गये कि इसे व्यर्थ का अभिमान हो गया है। उन्होंने राजा से कहा कि 'तेरे घर में तेरे दुश्मन बैठे हैं, पहले उनको तो जीत, दुनिया को जीतने की बात करता है!' राजा ने पूछा - 'मेरे घर में दुश्मन कहाँ बैठे हैं?' तब ऋषि ने समझाया - तेरी इन्द्रियाँ और मन तेरे हुक्म में चलते हैं या तू इनके हुक्म में चलता है?' जिसको तुम स्वतंत्रता कहते हो वह तुम्हारी मनोनुकूलता है। मन के अनुसार कर सकें तो समझते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। इसलिये बन्धन के रूप को नहीं समझते। तब राजा की समझ में आया कि असली शत्रु तो घर में ही बैठे हैं। फिर वह उन सब चीज़ों को वश में करने के रास्ते में गया।

चूँकि बाहर से बन्धन नहीं दीखता इसलिये आदमी समझता है कि बन्धन है ही नहीं। इसीलिये ऋग्वेद कहता है कि वरुण के तीन पाश हैं जो दोनों पैरों को, कमर को और गर्दन पर पट्टा या बेड़ियाँ बाँध कर रखते हैं जिसके कारण हम हिल भी नहीं सकते। इसी प्रकार अज्ञान है जिसने मल, विक्षेप और आवरण-रूप तीन पाशों के द्वारा हमको बाँधा हुआ है। इन पाशों में बँधे हुए हम हिलने में भी समर्थ नहीं हैं। मल अर्थात् हमारे कर्मों का फल। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' जो हमने किया है वह हमें भोगना ही पड़ेगा। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। दूसरा पाश विक्षेप है। यह सारा संसार हमको प्रतीत हो रहा है जिसमें कोई चीज़ हमको अपनी तरफ खींचती है और किसी तरफ से हम हटना चाहते हैं। रसगुल्ले को देखते ही खाना चाहते हैं और सुअर की टट्टी देखकर बचकर निकलना चाहते हैं। इसमें भी हम स्वतंत्र नहीं हैं। और 'मैं कौन हूँ' ऐसे अपने आपको भी जान नहीं सकते, यह आवरण रूप पाश है। इस आवरण पाश ने हमको ऐसा बाँध दिया है कि जो कण-कण और

क्षण-क्षण में व्यापक हमारा स्वरूप है उसे न जानकर साढ़े तीन हाथ के थैले में पड़े हुए हम समझते हैं कि 'यह मैं हूँ'। जो सर्वव्यापक है वह इतना छोटा-सा परिच्छिन्न हुआ हमको लगता है, और इसको हम स्वतंत्रता कहते हैं! इन तीन पाशों के बंधन को जानें तो समझ में आता है कि असली बाँधने वाला अज्ञान है। बँधन को जानने का मतलब है सहेतुक जानना अर्थात् उसके कारण अज्ञान को जानना। पहले तो बन्धन को समझना पड़ेगा। फिर उसके कारण अज्ञान को जानना पड़ेगा। हमको बाँधने वाला हमारे अपने अज्ञान के सिवाय और कोई नहीं है। कर्मों का फल हमको क्यों भोगना पड़ता है? क्योंकि अज्ञान से हम अपने को कर्मों का कर्त्ता जानते हैं।

ऐसे समझ लो, कोई आदमी थाने में जाकर कहता है कि 'मैंने अमुक आदमी को मार डाला, अब मैं समर्पण कर रहा हूँ मुझे पकड़ लो'। जिस आदमी को मारा गया उससे इसके मारने का कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु यह जाकर कहता है कि 'मैंने मारा'। पहले तो उसे पुलिस थाने में बन्द कर देगी। फिर पुलिस को कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इसने मारा। एक नियम है कि जिस अपराध में कोई वकील नहीं मिलता, वहाँ सरकारी वकील मिलता है। सरकारी वकील भी उसे समझायेगा कि किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता कि तुमने मारा इसलिये यह कहना छोड़ दो कि 'मैंने मारा'। वह कहे 'मैं कैसे छोड़ दूँ?, मैंने मारा है।' जज के पास मुकदमा जायेगा। कोई प्रमाण नहीं कि उसने मारा, फिर भी वह छाती ठोक कर कहे कि 'मैंने मारा।' तो ऐसे आदमी को जन्म-कैद देनी ही पड़ेगी। इसी प्रकार करने वाले शरीर आदि जड और हम चेतन हैं, इसलिये हम कुछ नहीं करते। परन्तु हर बार कहते हैं 'मैंने किया, मैंने किया'। शास्त्र समझाता है कि 'तू अकर्त्ता है।' हम कहते हैं – शास्त्र कहता है, ठीक है लेकिन हूँ तो मैं कर्त्ता, कोई बड़े सिद्ध महात्मा अकर्त्ता होते होंगे, मैं तो कर्त्ता हूँ। अब तुम्हें सिवाय दण्ड देने के और क्या किया जाये! इसलिये कर्मफल भी तुम इसलिये भोगते हो कि अज्ञान के कारण तुम अपना स्वरूप नहीं जानते और इसीलिये तुमको विक्षेप होता है। जो चीज़ शरीर और मन को चाहिये उन सब पर तुम अपना ठप्पा लगाते हो कि 'मुझे चाहिये'। जिस किसी चीज़ से तुम हटना या प्राप्त करना चाहते हो, वह तुम्हारे स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों के लिये ही है। जैसे रसगुल्ला जीभ को मिलेगा। जीभ के स्वाद से मन को सुख मिलेगा, तुमको क्या मिलेगा? परन्तु अज्ञान के कारण तुम उस जीभ और मन के साथ ऐसे एक हो गये कि कहते हो 'मुझे बड़ा मज़ा आया।' मल दोष अज्ञान के कारण ही तुम्हारे बन्धन का कारण बनता है। विक्षेप दोष और आवरण दोष भी अज्ञान के कारण ही बन्धन का कारण बनते हैं। अज्ञान के अतिरिक्ति और कुछ कारण नहीं है।

इतना याद रखना कि अज्ञान दो प्रकार के हैं। एक, अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना, यह मूल अज्ञान है। इसके कारण मल, विक्षेप सब हैं ही। दूसरा, छोटे-छोटे तत्तत् चीज़ों के अज्ञान। व्यवहार में दुःख अज्ञान ही देता है। क्या खाने से पेट ठीक रहेगा, इसका अज्ञान है अतः ऐसी चीज़ें खाकर दुःखी होते हो। अज्ञान तुमको दुःख ही देगा और बन्धन ही करेगा।

जितना जिस चीज़ के बारे में तुम्हें यथार्थ ज्ञान होगा। उतना ही उससे इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार कर सकोगे। विज्ञान व्यावहारिक वास्तविकता का अन्वेषण करता है। पता लग सकता है या नहीं लग सकता है – यह विषय दूसरा है। सामान्य छोटे-छोटे दुःखों को दूर करने के लिये भी छोटे-छोटे ज्ञानों की ज़रूरत है और दुःखों का मूल जो आत्मस्वरूप का अज्ञान है उसकी निवृत्ति से तो फिर सारे दुःख निवृत्त हो ही जाते हैं। इस मूल अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है। जैसे बन्धन का कारण जानना है वैसे ही मोक्ष के कारण को ठीक प्रकार से जानना ही है कि अज्ञान-निवृत्ति ही मोक्ष है, और किसी चीज़ की निवृत्ति से मोक्ष नहीं होता। चाहे वैकुण्ठ में, चाहे मणिद्वीप में चले जाओ, उससे संसार के ये तीन बन्धन निवृत्त नहीं हो सकते। बन्धन का कारण अज्ञान है, अज्ञान सिवाय ज्ञान के और किसी चीज़ से नहीं हटता। चाहे जितना जप-तप कर लो वह तुमको ज्ञान कहाँ से देगा! पदार्थ का ज्ञान तो ज्ञान के साधन से ही होगा। जो बुद्धि बन्धन और मोक्ष को कारण सहित जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि है।।३०।।

अब राजस बुद्धि को बताते हैं –

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

पार्थ! धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य जैसे नहीं हैं वैसा उन्हें जिससे व्यक्ति समझता है वह राजसी बुद्धि है।

पूर्व श्लोक को बताते हुए कहा था कि यद्यपि 'या बुद्धिः' कहा है परन्तु उसका अर्थ 'यया बुद्ध्या' कर लेना चाहिये। इसका स्पष्ट पता इस श्लोक में लगता है। क्योंकि यहाँ भगवान् स्वयं 'यया' कह रहे हैं। धर्म, जिसका प्रतिपादन शास्त्र करता है और अधर्म, शास्त्र जिसका निषेध करता है। उस धर्म-अधर्म को जानती है, इतने अंश में यह सात्त्विकी बुद्धि के समान है। फ़र्क यह है कि सात्त्विक बुद्धि यथावत् जानती है, सही जानती है जबकि यह ग़लत जानती है। किंच राजस बुद्धि निवृत्ति मार्ग को नहीं जानती। मोक्ष का मार्ग नहीं जानती, बंधन मार्ग को ही जानती है। मोक्ष को नहीं जानने के कारण यह राजसी बुद्धि सात्त्विक के अंतर्गत नहीं आती। धर्म और अधर्म को भी ठीक-ठीक प्रकार से जो बुद्धि नहीं जानती है वह राजसी है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अन्दर विचार करके निर्णय करना पड़ता है कि अमुक परिस्थिति में क्या धर्म और क्या अधर्म है? अतः मनु महाराज ने कहा कि 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किं' जिसमें खुद समझने की प्रज्ञा न हो, शास्त्र उसे क्या फ़ायदा पहुँचा सकता है! जैसे जिसकी आँखें ही नहीं हैं तो हजार वाट का लट्टू भी उसके लिये बेकार है। इसी प्रकार स्वयं जिसकी प्रज्ञा नहीं है, उसकी समझ में शास्त्र कुछ नहीं आ सकता। बुद्धि के द्वारा हर परिस्थिति में विचार करके, मीमांसा करके निर्णय करना पड़ता है कि क्या धर्म और क्या अधर्म है।

इसी प्रकार से कार्य और अकार्य का निर्णय करना पड़ता है। क्या करने से दृष्ट प्रयोजन सिद्ध होगा और क्या करने से अनिष्ट बचेंगे - जिसकी यह समझने की बुद्धि नहीं होगी वह लौकिक प्रवृत्ति में भी बार-बार असफल होगा। इन दोनों चीज़ों को सात्त्विक पुरुष तो यथावत् जानता है। लेकिन रजोगुणी बुद्धि चूँकि रागरूप है, उस राग के कारण रजोगुणी पुरुष धर्म को धर्म न समझकर अधर्म समझ लेता है। जैसे अर्जुन का युद्ध करना धर्म है परन्तु अधिकतर आधुनिक लोग समझते हैं कि वह लड़ाई न करता तो अच्छा ही था, लड़ने से क्या फ़ायदा हुआ! वर्तमान काल में भी जब दुष्टों को दण्ड देने का समय आता है तो मानवाधिकार वाले खड़े होकर कहते हैं कि दण्ड नहीं देना चाहिये, समझाना-बुझाना चाहिये। जब राग होता है तब मनुष्य धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझ लेता है। इसी प्रकार राग होता है तो कार्य को अकार्य और अकार्य को कार्य समझ लेता है। जिस चीज़ के अन्दर राग होगा उसको हम ठीक से नहीं समझ पायेंगे। राजस बुद्धि में राग पर्याप्त मात्रा में होता है इसलिये ऐसा पुरुष धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, कार्य को अकार्य और अकार्य को कार्य समझता है। इसलिये अयथावत् जानता है अर्थात् जैसे है वैसा नहीं जानता।

'प्रजानाति' से कहते हैं कि निश्चय नहीं होता। राजसी बुद्धि निश्चय नहीं करती कि ऐसा ही है। सात्त्विकी बुद्धि का तो निश्चय होता है कि ऐसा ही है जबकि इसको हमेशा यह रहता है कि 'ऐसा है या शायद ऐसा नहीं है।' यह 'शायद' इसके मन से नहीं जा सकता इसलिये निश्चय रूप से या प्रधानरूप से नहीं जानता। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'सर्वतो निर्णयेन न प्रजानाति' सब प्रकार से निर्णीत अवस्था उसकी नहीं हो पाती कि ऐसा ही है। जिसका ऐसा निश्चय नहीं होता उसका अज्ञान कभी भी दूर नहीं हो सकता। इसलिये राजस बुद्धि अज्ञान को नहीं हटा सकती। परमात्मा के विषय में जब तक यह निश्चय नहीं होता कि ऐसा ही है तब तक अज्ञान दूर नहीं होता। सात्त्विकी बुद्धि बनने पर तो ऐसा ही है यह निश्चय हो पाता है, राजस बुद्धि में यह नहीं हो पाता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसी बुद्धि राजस या रजोगुणी बुद्धि है। रजोगुणी बुद्धि की दो विशेषतायें हैं। एक कि यथावत् नहीं जानती और दूसरी, चूँकि जो चीज़ जैसी है वैसा नहीं जानती, इसलिये निश्चय नहीं होता। जो चीज़ जैसी है वैसा जान लेने पर तो दृढ निश्चय हो जाता है। परन्तु जब यथावत् नहीं जानते तब निर्णय नहीं हो पाता।।३१।।

अब तामसी बुद्धि को बताते हैं :-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

पार्थ! तम से ढकी जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सभी ज्ञेय पदार्थों को उलटा समझती है वह तामसी है।

जो बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म ससझती है, विहित को प्रतिषिद्ध और

प्रतिषिद्ध को विहित समझती है, वह तामसी बुद्धि है। जैसे वर्तमानकाल में जितने सुधारवादी हैं वे धर्म को अधर्म सझमते हैं, इसलिये उसमें सुधार करना चाहते हैं और अधर्म को धर्म समझते हैं इसलिये उसे लाना चाहते हैं। जैसे शास्त्र बताता है कि ब्राह्मण के लिये क्या विहित और शूद्र के लिये क्या विहित है, ब्राह्मण का क्या कर्तव्य है और शूद्र का क्या कर्तव्य है। लेकिन सुधारक कहते हैं – ब्राह्मण-शूद्र का भेद करना अधर्म है। जो ब्राह्मण के लिये ठीक है वह शूद्र के लिये भी ठीक ही है – यह उनका निश्चय है। ब्राह्मण के लिये यदि वेदपाठ करना ठीक है तो शूद्र के लिये भी वेदपाठ करना ठीक ही है – यह उनका निश्चय है। उन्हें कभी समझाओ तो कहते हैं कि वेदपाठ का फल अच्छा है तो शूद्र के लिये वह कैसे बुरा हो सकता है? विभिन्न रोगों का उपचार दवाओं से होता है, एक रोग में फ़ायदा करने वाली दवा दूसरे रोग में नुकसान कर जाती है। किन्तु तामस बुद्धि यह सब समझने में अक्षम है। इसलिये वे धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते हैं। वे ऐसा क्यों मान लेते हैं अथवा ऐसा उन्हें क्यों स्वीकृत है? क्योंकि वे समझते हैं कि हमारा ज्ञान ठीक है और दूसरों का ज्ञान ठीक नहीं है। उनके सभी व्यवहारों में यही विपरीतता पाओगे। ऐसा वे इसलिये मानते हैं कि उनकी बुद्धि तमोगुण या अज्ञान से आवृत है। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा समझने की शक्ति उनमें नहीं है। जैसे अंधा आदमी गड्ढे या पानी को नहीं देख सकता, इसलिये वह गड्ढे या पानी की तरफ जाकर दुःख उठाता है क्योंकि उसकी आँख अन्धकार से आवृत है, देखने में असमर्थ है। ऐसे ही ये लोग धर्म-अधर्म को समझने में अशक्त होने के कारण इस प्रकार के कार्य करते हैं, और फिर हमेशा कहते रहते हैं कि चारों तरफ दुःख और अशांति क्यों बढ़ रही है? यह उनकी समझ में ही नहीं आता कि हम अधर्म बढ़ा रहे हैं इसलिये यह अशांति बढ़ रही है, चूँकि उनकी बुद्धि तमोगुण से आवृत है, तमोगुणी बुद्धि है। केवल धर्म-अधर्म के विषय में ही उनका निर्णय गलत नहीं होता वरन् जो लौकिक पदार्थ हैं अथवा इहलोक की चीज़ें हैं उन्हें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी वे ठीक प्रकार से नहीं समझ सकते। जैसे वर्तमान में देखने में आता है कि सारी दुनिया जानती है कि मुसलमानों की कुरान में लिखा है कि बुत तोड़ना धर्म है, इसलिये वे मूर्तियाँ तोड़ते हैं फिर भी ऐसी तमोगुणी बुद्धि वाले लोग कहते हैं कि 'मूर्ति तोड़ना उनका उद्देश्य नहीं था, मंदिरों में धन गड़ा हुआ था इसलिये गये। मन्दिर आदि नष्ट करने का उनका उद्देश्य नहीं था, वे तो सर्वत्र केवल धन लूटने गये।' ऐसी उल्टी बात को भी तमोगुणी लोग ठीक समझते हैं। सारे ही ज्ञेय पदार्थों को वे विपरीत ही जानते हैं, पदार्थ जैसा है, वैसा नहीं समझते। दस चीज़ों में दो चार को ठीक भी समझ लेंगे। किसी-किसी धर्म को वे धर्म भी समझ लेंगे परन्तु बुद्धि उनकी विपरीत ही रहेगी। जो बुद्धि ऐसा जानती है वह बुद्धि तामसी बुद्धि है।

सत्त्वगुणी बुद्धि वह हुई जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी ठीक-ठीक जानती है। रजोगुणी बुद्धि हुई जो निवृत्ति को सर्वथा नहीं समझ पाती और प्रवृत्ति के अन्दर भी धर्म और अधर्म के बारे में सर्वथा ठीक व निश्चित नहीं होती। तमोगुणी बुद्धि का तो विपरीत ही

निश्चय बनता है, उल्टी बात ही ठीक लगती है। यह सात्त्विक, राजस, तामस बुद्धियों का भेद भगवान् ने बता दिया।।३२।।

बुद्धि की अनेक वृत्तियों में से धृति का त्रैविध्य भगवान् बताने जा रहे हैं क्योंकि धर्मपालन के लिये धैर्य की विशेष वृत्ति ज़रूरी है। मनु ने सामान्य धर्मों में प्रथम धृति को इसीलिये गिना कि इसके बिना कोई धर्म पूरी तरह अपनाया नहीं जा सकता। पहले ग्राह्य सात्त्विक धृति बताते हैं –

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

पार्थ! नियमतः परमात्मा में ही एकाग्र जिस धृति से मन-प्राण-इन्द्रियों की चेष्टाएँ नियंत्रित रहती हैं वह सात्त्विक धृति है।

यहाँ सात्त्विक धैर्य के लिये योग की बात बताई। सात्त्विक धृति परमात्मा में चित्त को समाहित करने के उद्देश्य वाली है अतः सात्त्विकी धृति उसको हो ही नहीं सकती जो परमात्मा को ही अपने जीवन का उद्देश्य नहीं मानता। जो परमात्मा को छोड़कर और किसी चीज़ को जीवन का उद्देश्य बनाता है, उसमें सात्त्विकी धृति नहीं हो सकती। इसकेलिये वह योग अव्यभिचारी होना चाहिये। जिसका धैर्य हमेशा परमात्मा के ही अनुगत रहता है या समाधि के ही अनुगत रहता है वही सात्त्विक धैर्य वाला है। चार-छह घण्टा भगवान् का चिंतन कर लिया, फिर चार-छह घण्टा संसार का चिंतन कर लिया तो फिर सात्त्विकी धृति नहीं बन पाती। इसलिये कहा कि अव्यभिचारी योग से यह सिद्ध होती है। सात्त्विक धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया नियंत्रित है। जिसने सात्त्विकी धृति की तरफ आना शुरू किया है उसने शरीर का नियन्त्रण तो पहले ही कर लिया है इसलिये यम, नियम और आसन तो उसने सिद्ध कर ही लिये हैं। अब प्राणायाम, विशेष करके कुम्भक का अधिक-अधिक अभ्यास करके प्राणों की क्रिया को धारण करता है। इसके लिये भी धैर्य चाहिये, अन्यथा प्राण-क्रिया का नियंत्रण नहीं हो पाता। प्राण के दो अर्थ होते हैं : एक तो प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान पाँच प्राण हैं जो सारे शरीर की क्रियाओं को करने वाले हैं। दूसरा अर्थ है – जो अपने को अत्यंत प्रिय हो उसे भी प्राण कहते हैं, जैसे पुत्रादि को कहते हैं कि 'यह तो मेरा प्राण है'। उसका अर्थ है कि उससे मुझे अत्यधिक प्रेम है। यहाँ दोनों ही तात्पर्य ले लेना। इस धृति वाले के प्रेम का विषय हमेशा परमात्मा ही है। परमात्मा को देखना चाहता है, परमात्मा को सुनना चाहता है, परमात्मा को सूँघना चाहता है। परमात्मा के साथ ऐसा प्रेम होगा तभी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह वाक्य स्पष्ट हो पायेगा। जो कुछ भी हमको दिखाई दे रहा है, सुनाई दे रहा है वह सब परमात्मा ही है। धृति होगी तब धीरे-धीरे केवल परमात्मा ही प्रिय रह जायेगा और तभी हम प्राण, अपान, व्यान आदि सारी क्रियाओं को कुम्भक में स्थिर कर पायेंगे। होता यह बहुत धीरे-धीरे है। यह कहना बहुत

सरल है कि 'परमात्मा हमको प्रिय है', परन्तु परमात्मा ही प्रिय हो – इसको प्राप्त करने के लिये साधन करना बहुत ज़्यादा अपेक्षित है।

प्राण का यह अर्थ क्यों करते हैं? भगवान् ने मन और इन्द्रियों के बीच में प्राण को रखा है। इन्द्रियों की क्रिया परमात्मा की तरफ जाये, इसी को प्रत्याहार कहते हैं। क्रम तो होना चाहिये था पहले इन्द्रियाँ और फिर प्राण, लेकिन भगवान् ने ऐसा नहीं किया। अतः भगवान् चाहते हैं कि हमारा मन और सारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ सब केवल परमात्माभिमुखी हों। जब परमात्मा में प्रेम होगा तब इन्द्रियों की क्रियायें परमात्माभिमुखी होंगी, जिसे प्रत्याहार कहा जाता है। इसलिये प्राणायाम के बाद प्रत्याहार आता है। उसके बाद मन की क्रियायें, धारणा और ध्यान दोनों आ जाते हैं। मन को किसी एक विग्रह या स्वरूप के अन्दर एकाग्र किया तो धारणा हुई और उसकी सर्वरूपता, ज्ञानरूपता और आनन्दरूपता पर एकाग्र किया तो ध्यान हुआ। योगदर्शन के अनुसार स्थल-विशेष में चित्त को बाँधना धारणा है और जब मन का कार्य किसी देश-विशेष में नहीं रह जाता, केवल प्रत्यय या ज्ञान ही रह जाता है तब ध्यान है। सामान्यरूप से जब तुम मैं कहते हो तब प्रायः तुम्हें किसी एक स्थल का ध्यान नहीं आता। सिर, कान पैर आदि शरीर के किसी भी हिस्से को तुम 'मैं' कह सकते हो। 'मैं चल रहा हूँ' तो पैर को लेकर, 'मैं सुन रहा हूँ' तो कान को लेकर मैं कह रहे हो। सामान्यरूप से तुम सारे शरीर में एक जैसे हो, किसी एक स्थान में बँधे नहीं हो। परन्तु जब तुम अभिमानपूर्वक कहते हो 'मैंने किया' तब चाहे जहाँ हाथ नहीं ठोकते, छाती पर ही हाथ ठोकते हो; यह एकदेश हुआ। वहीं मैं की प्रतीति होती है। कोई नाक आदि को ठोककर नहीं कहता कि 'मैं कह रहा हूँ'। जैसे सामान्य स्थिति 'मैं' की है वैसे ही परमात्मा की सर्वत्र एक जैसी स्थिति है, किसी एक देश में नहीं है। जब मन की यह स्थिति हो तब प्रत्ययैकतानता ध्यान है। 'मनःप्राणेन्द्रियक्रिया' अर्थात् मन की क्रिया, प्राण की क्रिया और इन्द्रियों की क्रिया। इन्द्रियों की क्रिया से प्रत्याहार और मन की क्रिया से धारणा और ध्यान को कह दिया। इस प्रकार अव्यभिचारी रूप से, अर्थात् कभी इधर कभी उधर ऐसा नहीं, लगातार परमात्मा में ही जो समाहित रहे वह सात्त्विक धृति है। उसी से मन आदि सबको साधक धारण करता है, शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोक पाता है। तभी चेष्टामात्र सिवाय परमात्मा के और किसी के लिये नहीं होती है।

सब चेष्टाओं को धारण क्यों करना पड़ता है? धारण न करने पर शास्त्र जैसा करने को कहता है उससे विपरीत, दूसरे मार्ग में प्रवृत्ति होती है। अनादिकाल से मन के अन्दर अनात्मा के ही संस्कार पड़े हुए हैं। इन्द्रियों में भी वही अनात्मा के संस्कार पड़े हुए हैं। इसलिये शास्त्र चाहे जितना कहें कि 'केवल परमात्मा का दर्शन करो। परमात्मा देखने वाला या जानने वाला है', फिर भी परमात्मा को समझते हैं कि वह भी इन्द्रियों का विषय होगा ही! यह इन्द्रियों का संस्कार है। आँख से देखना जैसे हमको स्वाभाविक लगता है वैसे ही आँख के द्वारा देखने वाले की तरफ ध्यान देना हमको बिलकुल स्वाभाविक नहीं लगता। वेद

ने तो कह दिया 'यच्चक्षुषा न पश्यति' अर्थात् परमात्मा को हम कभी आँख से नहीं देख सकते हैं। जिसके द्वारा आँख देखती है वह परमात्मा है। जो आँख से देखता है वह परमेश्वर है। पर हमें संस्कारवश बाह्य उपाधियाँ आवश्यक होती हैं चित्त स्थिर करने के लिये। इसलिये शास्त्र ने विष्णु आदि शुद्ध उपाधियाँ बताई। मूर्ति तक को परमात्मा समझने को कह दिया! क्योंकि अनात्मा के संस्कार पड़े हुए हैं, इसलिये चाहे जितनी चेष्टा करो, फिर झट इन्द्रिय भी बाहर देखने लगती है, मन भी अनात्माका चिंतन करने लगता है, प्राण भी अनात्मा की चेष्टा करने लगते हैं। उधर जाने से रोकना धैर्य से है और लम्बा धैर्य चाहिये। अनादि काल के संस्कारों को हटाने के लिये उतना ही समय चाहिये! यहीं पर ईश्वर का अनुग्रह कारण पड़ता है। ईश्वर जब देखता है कि तुम इस प्रकार धैर्यपूर्वक अपनी सारी चेष्टाओं को परमात्मा की तरफ लगा रहे हो तब वह अनुग्रह करके तुम्हारे उन ठीक संस्कारों को ही आगे कर देता है, दूसरे संस्कार दबे रह जाते हैं, यही उसका अनुग्रह या कृपा है। जब ऐसी धृति के द्वारा प्रवृत्त होता है तब साधक श्रवण, मनन से आत्मरूप से स्थिर हो जाता है, उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, मोक्ष हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं कि परमेश्वर के अनुग्रह के बिना यह श्रवण-मनन सफल नहीं होता। इसकेलिये उच्छास्त्र (शास्त्रविरुद्ध) मार्ग की प्रवृत्ति से अपने को रोकना है। सात्त्विक धैर्य वाला परमात्मा की वास्तविकता की तरफ जा सकता है, दूसरे के लिये तो यह सम्भव ही नहीं होगा।।३३।

राजसी धृति को बताते हैं -

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

पार्थ! अर्जुन! जिससे व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम को ही कर्तव्यरूप से अवधारित करता है एवं धर्मादि के सम्बन्ध से फल भी चाहता है, वह राजसी धृति है।

इस धृति से धर्म, काम और अर्थ तीनों को धारण करता है। यहाँ मोक्ष को छोड़ दिया क्योंकि वह तो सात्त्विकी धृति में ही होता है। जो मोक्ष का अधिकारी है वह परमात्मा की तरफ जायेगा। बाकी लोगों के लिये तो धर्म, अर्थ और काम ये तीन ही पुरुषार्थ हैं। हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने बताया है कि जब तक निवृत्ति का अधिकारी न हो तब तक धर्म, अर्थ, काम का सेवन करे। परन्तु सेवन कैसे करे? काम के ऊपर अर्थ का नियंत्रण रहना चाहिये और अर्थ के ऊपर धर्म का नियंत्रण रहना चाहिये। निवृत्ति मार्ग में जाने से पूर्व तीनों में रहने की छूट दी है। तीनों ही पुरुषार्थ हैं परन्तु उनके सेवन का एक तरीका है। काम अर्थात् विषयों की प्राप्ति। विषयों का जो सेवन करना है, उनकी प्राप्ति का जो साधन अर्थ तुम्हारे पास है उसके विरुद्ध नहीं होना चाहिये। मोटी भाषा में समझ लो कि यदि तुम्हारी आमदनी पाँच सौ रुपये की है तो पाँच सौ एक रुपये के विषयों के सेवन की तरफ प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। पुराने

लोग कहा करते थे कि जितनी लम्बी चादर हो उतने ही पैर लम्बे करो। इसलिये वर्तमान में जो उधार लेकर खर्चने की प्रवृत्ति है यह राजस धैर्य को भी ख़त्म करने वाली है। आधुनिक प्रवृत्ति कहती है कि कामों को पहले प्राप्त कर लो, अर्थ का बाद में चिन्तन करो! हमारे शास्त्र कहते हैं कि अर्थ को पहले प्राप्त करो, तब कामना करो। जिस चीज़ को तुम चाहते हो, अगर उसका साधन तुम्हारे पास है तब तो वह चीज़ तुम्हें प्राप्त होने पर तुम सुखी होगे और जिसे प्राप्त करने का साधन तुम्हारे पास नहीं है उसे प्राप्त करना चाहोगे तो सिवाय दुःख होने के और कुछ नहीं होगा। उधार तो ले लोगे परन्तु उधार जब भरोगे तब सिवाय दुःख के और क्या होना है! काम के ऊपर अर्थ का नियन्त्रण चाहिये। इसके लिये धैर्य चाहिये। विषयों को देखकर कामना तो उत्पन्न हो जाती है कि यह भी मेरा हो, यह भी मेरा हो, जब धैर्य रखोगे तब तो पहले अर्थ अर्जित करोगे और आराम से काम का उपभोग करोगे। जो अर्थ से विरुद्ध न हो उस काम-भोग की शास्त्र ने छूट दी है।

अर्थ के ऊपर धर्म का नियंत्रण चाहिये अर्थात् खूब कमाओ, लेकिन धर्म से विरुद्ध होकर मत कमाओ। जिस प्रकार से काम पर अर्थ का नियंत्रण, ऐसे ही अर्थ पर धर्म का नियंत्रण चाहिये। संस्कृत की पहली पुस्तक में बच्चों को पढ़ाते हैं 'धनात् धर्मस्ततः सुखं' धन से सीधे सुख प्राप्त नहीं होता। धन से धर्म की प्राप्ति करो तो उस धर्म से सुख होता है। तुम्हारे पास अर्थ है इसलिये विषय की प्राप्ति हो गई लेकिन कई बार अनुभव होता है कि वह विषय सुख का कारण न होकर दुःख का कारण हो जाता है। हमें इष्ट चीज़ मिल भी गई लेकिन फिर भी दुःख होता है। इसलिये नीतिकार कहते हैं कि यदि उस समय तुम्हारा धर्म का प्रारब्ध है तभी सुख होगा। यह ठीक है कि तुम विषयभोग या कामना की पूर्ति चाहते हो लेकिन कामना की पूर्ति से भी चाहते तो सुख ही हो, दुःख को तो नहीं चाहते। जब तक धर्म का प्रारब्ध नहीं होता तब तक सुख नहीं होता। तुमने अर्थ प्राप्त किया कामना पूर्ति के लिये परन्तु तुम्हारी अंतिम कामना सुख की है, वह पूरी नहीं होगी यदि तुमने धर्म-विरुद्ध काम किया है। कामना की पूर्ति ऐसी करो जो अर्थ से विरोध न आये और अर्थ की पूर्ति ऐसे करो जो धर्म से विरोध न आये। यह करने के लिये भी धैर्य चाहिये। यद्यपि सांसारिक लोग और वातावरण धैर्य तोड़ने के प्रयास में ही रहते हैं तथापि लौकिक सुख भी चाहो तो यह राजस धैर्य रखना ही पड़ेगा। इस धैर्य में परमात्मा को सामने नहीं रखा अर्थात् निवृत्ति सामने बिलकुल नहीं है, प्रवृत्ति ही सामने है।

'प्रसंगेन फलाकांक्षी' फल की आकांक्षा तो करते हैं लेकिन प्रसंग से। प्रसंग अर्थात् प्राप्ति। प्राप्ति कैसे होती है? 'मैंने यह कर्म किया' – यह जो अहं के प्रति हमारा अत्यंत संग है इसलिये चाहते हैं कि इसका फल मुझे मिले। यह प्रसंग से फलाकांक्षी होना है। बिना प्रसंग के फलाकांक्षा है कि जिस चीज़ को मैंने नहीं किया वह फल मुझे मिल जाये। फल की आकांक्षा है परन्तु जो कर्म मैंने किया उसका फल मिले ऐसा नहीं, बल्कि कर्म तो कोई दूसरा कर ले और भोग मैं लूँ! वह राजस नहीं रहा। राजस वह है जो चाहता है कि जिसे मैंने

खुद किया है, जो मुझे प्राप्त होना चाहिये, वह फल मिले। उससे ज़्यादा फल की आकांक्षा नहीं करता। धर्म के आचरण में विरोध अवश्य आते हैं, उनका धैर्य से ही सामना होगा अन्यथा धर्म छूट जायेगा। हमारा मन बड़ा चोर है। यह झट बहाना बना देता है ताकि जो हमारा कर्तव्य धर्म है, उसे हम न करें। नित्य कर्तव्य प्राप्त है, उसकी तरफ न जाने वाली जो प्रवृत्तियाँ हैं उनसे धैर्यपूर्वक बचना पड़ता है। जैसा धर्म के विषय में वैसा ही अर्थ के विषय में है। हमारे अर्थ को नुक्सान पहुँचाने वाली अनेक प्रवृत्तियाँ आती हैं। सबसे पहली प्रवृत्ति है जिसका नाम आजकल विज्ञापन रख दिया है। जिस चीज़ को तुमने कभी देखा-सुना नहीं, तुम्हारे मन में उसकी इच्छा भी नहीं है, वह इच्छा जगे जिससे तुम उधर जाओ – इस प्रकार से विज्ञापन तुम्हारे राजस धैर्य को तोड़ना चाहते हैं। विज्ञापन का प्रयोजन चीज़ जैसी है वैसा बताना नहीं है वरन् चीज़ की तरफ तुम्हें प्रलुब्ध करना है। इसलिये वह ज्ञापन का नहीं वरन् प्रलोभन का काम करता है। जैसे धर्म का परित्याग करने के लिये अवसर आते हैं वैसे ही अर्थ का परित्याग करने में भी आते हैं। धर्मविरुद्ध कामनाओं में विज्ञापन-वश प्रवृत्त होते हैं। जो नहीं खाने की चीज़ें हैं उनकी तरफ तुम्हें प्रलुब्ध किया जाता है। ऐसे धर्म से हटने के अवसर रोज़ आयेंगे। धैर्य होगा तो धर्म पर दृढ रहोगे, शास्त्रीय धर्मों को छोड़कर अन्य तरफ प्रवृत्ति नहीं करोगे। विधर्मी भी धर्म से विरुद्ध चलने की प्रेरणा देते हैं। ईसाई, मुसलमान, आदि सब समझाते हैं कि वेदमार्ग छोड़ देना चाहिये। अनेक लोग किसी नये धर्म का नाम नहीं लेते पर सनातन धर्म से विमुख करने का प्रयास करते रहते हैं। एक प्रसिद्ध प्रवक्ता कहते थे कि चाहे राम नाम जपो चाहे कोका कोला जपो, एक ही बात है! धैर्यहीन व्यक्ति ऐसे लोगों की बातों में फँस जाता है क्योंकि धीरता से शास्त्र का मंथन नहीं करता।

इस प्रकार सात्त्विक धैर्य मुक्ति-कामियों के लिये है और राजस धृति बाकी तीन पुरुषार्थों की उचित सिद्धि के लिये आवश्यक है।।३४।।

तामसी धृति तो बाकी लोगों में होती ही है! विवेकपूर्वक प्रवृत्ति मार्ग में जाने वालों के लिये राजस, मुक्तिकामियों के लिये सात्त्विक और बाकी सब लोगों के लिये तामसी धैर्य सुलभ है।

तामसी धृति को बताते हुए कहते हैं –

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमु चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

पार्थ! कुत्सितमति व्यक्ति जिससे नींद, त्रास, सन्ताप, अवसाद और विषय-सेवन का नशा नहीं छोड़ता, वह तामसी धृति है।

'यया स्वप्नं न विमु चति' जिस धैर्य से नींद को नहीं छोड़ता है उस धैर्य को तमोगुणी कहते हैं। स्वप्न के दोनों तात्पर्य समझ लेना : सीधा अर्थ तो नींद है। इसके लिये भी धैर्य चाहिये। चाहे जितना जगाते रहो, शोर करते रहो, बिजली जलाते रहो, फिर भी चादर में

मुँह ढाँक लेंगे, रजाई ओढ़ लेंगे लेकिन निद्रा को नहीं छोड़ेंगे! स्कूल जाने के लिये जगाते रहो, फिर भी बच्चे सोते रहेंगे। धैर्य के कारण सोने को नहीं छोड़ सकते। 'न विमु चति' के द्वारा समझ लेना कि नींद छोड़ना प्राप्त होने पर भी नहीं छोड़ते। सात्त्विक हो या राजस हो, सोयेगा तो ज़रूर क्योंकि निद्रा शरीर, मन और इन्द्रियों की आवश्यकता है, परन्तु नींद छोड़ने की परिस्थिति आने पर वे छोड़ देंगे। परन्तु तामस नींद छोड़ने की परिस्थिति आने पर भी नहीं छोड़ता। प्रातःकाल सूर्योदय होने का समय हो गया, फिर भी नहीं उठता। शास्त्र तो कहता है कि सूर्योदय होने के दो घण्टे पूर्व उठ जाये, परन्तु यह सूर्योदय होने के बाद भी नहीं उठता। अलार्म आदि से उठकर पुनः सो जाते हैं।

स्वप्न का दूसरा अर्थ होता है जो चीज़ नहीं है उसे देखना। जब कोई ऐसी असंभव बात को सत्य समझता है तब कहते हैं कि क्या स्वप्न देख रहे हो? एक कल्पना जगत् में बैठे रहते हैं, उसे नहीं छोड़ते। उस कल्पना जगत् में यह जगत् स्वप्न भी है। यह भी एक कल्पना का ही जगत् है जो अविद्या के द्वारा कल्पित है। जगत् को इतना ज़बर्दस्त पकड़ कर रखते हैं कि चाहे जितना विरोध प्रतीत हो, फिर भी कहते हैं कि यह तो सच्चा ही है। जिस-जिस चीज़ को सच्चा समझा वह सब झूठी सिद्ध होती जाती है, फिर भी कहते हैं कि अब की बार जो सिद्ध हुआ है यह तो सच्चा ही है! तामस धैर्य से ही अविद्या-कल्पित को भी नहीं छोड़ते, संसार को धैर्यपूर्वक पकड़कर रखते हैं। बड़े लड़के ने ढंग से काम नहीं किया। फिर सपना देखते हैं कि दूसरा लड़का ठीक निकलेगा। उसने भी हमारी इच्छानुसार ढंग से काम नहीं किया। फिर सोचते हैं कि तीसरा लड़का अच्छा निकलेगा! इस प्रकार स्वप्न देखते रहते हैं। जगते नहीं कि कोई किसी की इच्छा पूरी नहीं करता। इस सत्य को नहीं देखते। लॉट्री खरीदने वालों को देखते हैं कि हर बार नम्बर लगाते हैं, हर बार नहीं आता। फिर भी सोचते हैं कि अबकी बार आ जायेगा। औरों की बात छोड़ो, युधिष्ठिर तो क्या-क्या चीज़ दाँव पर लगा गये, यही सोचकर कि अबकी बार मिल जायेगी! तमोगुण का धैर्य ऐसा होता है। कुछ लोग तो अपने स्वप्न को इतना सच्चा समझते हैं कि जो इस स्वप्न से जग जाता है, इस स्वप्न को छोड़ देता है, उसे भगोड़ा कहते हैं! अपना बड़ा भारी धैर्य समझते हैं कि 'हम तो डटे हुए हैं, तुम तो थोड़े से झ झट से घबड़ाकर भाग गये।'

इसी प्रकार भय है। धैर्यपूर्वक भय को भी नहीं छोड़ते। भय को भी पकड़े रहने का उनका स्वभाव है। भय, जैसे कोई जन्तर-मन्तर करके मेरा बुरा कर देगा, अमुक मेरे ऊपर तंत्र कर रहा है, मेरा बुरा कर रहा है। लाख समझाओ कि 'कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता। दूसरा कोई सुख-दुःख देता है यह तो कुबुद्धि है। शरीर तो तुम्हारे कर्म सूत्र से बना है। जो तुम्हारा कर्म है उसका भोग तुम्हें मिलेगा।' परन्तु वह सोचता रहता है कि कोई न कोई तंत्र-मंत्र करके मेरा बुरा कर रहा है! इस भय को नहीं छोड़ता। विचार से भय का कोई कारण नहीं है, फिर भी भय को छोड़ता नहीं, पकड़े ही रहता है। भय का एक अर्थ त्रास भी होता है। असह्य दुःख को भी भय कहते हैं। दुःख की असह्यता को देखकर भी उस दुःख की चीज़ को नहीं छोड़ते।

जिसके कारण अपनी जान पर आ जाये, फिर भी उसे नहीं छोड़ते।

इसी प्रकार शोक को बनाये रखते हैं। कोई दुःख की घटना घर में हो गई, कोई व्यक्ति मर गया तो सभी को शोक होता है। परन्तु दस दिन, महीना भर या सालभर में आदमी अपने धन्धे में लगता है। कहाँ तक किसी को रोता रहेगा! परन्तु तमोगुणी धैर्यपूर्वक, बरसों हो जायें, तब भी रोता ही रहता है। शोक करता ही रहता है। दीवाली के दिन कोई मर गया तो शोक होना ही है। हर साल दीवाली आती है तो वह घटना याद आती है। स्वाभाविक है कि दीवाली मनाने का उत्साह नहीं होता। किन्तु धीरे-धीरे घर का रिवाज़ बन जाता है कि दिवाली न मनायी जाये। उस समय के अन्य लोग भी मर गये, न जाने कितनी पीढ़ियाँ पहले वह घटना हुई थी, परन्तु आज भी उनके घर में दीवाली नहीं मनती। अब उन्हें घटना पूरी पता भी नहीं कि कौन मरा लेकिन फिर भी मानते रहते हैं कि आज शोक का दिन है।

इसी प्रकार विषाद को भी नहीं छोड़ता। जब मन खिन्न हो जाता है तो उसे विषाद कहते हैं। मन खिन्न होने पर किसी दूसरी चीज़ में मन लगाओ तो वह बात भूल जाती है। लेकिन तामस धैर्य वाला खेदहेतु को ही सोच-सोचकर विषाद को नहीं छोड़ेगा, पकड़े ही रहेगा। इसी प्रकार मद को भी नहीं छोड़ता। 'मेरे पास अमुक विषय-सेवन इतना है कि और किसी के पास नहीं है', ऐसा घमण्ड मद है। ऐसा व्यक्ति पागल की तरह व्यवहार करता है। मद नशे को कहते हैं। यह विषय-सेवन का नशा है। ऐसे लोग विषय-सेवन से ही अपने को धन्य समझते हैं। 'एव च' के द्वारा कहते हैं कि ऐसे लोग मन के अन्दर स्वप्न, भय, शोक, विषाद, मद इन्हीं चीज़ों को प्रधानता देते हैं। इन्हीं का कर्तव्य रूप से चिन्तन करते हैं और इसी को अच्छा मानते हैं। अगर किसी को उस भय से रहित देखते हैं तो सोचते हैं कि यह तो बेकार खतरा मोल ले रहा है। अगर जगत् को स्वप्न जानने वाले को देखते हैं तो कहते हैं कि 'ये बेकार जीवन व्यतीत कर रहे हैं, हम तो देश की उन्नति में लगे हैं और ये देश की उन्नति नहीं करते।' इस प्रकार अपने मन में इन्हीं स्वप्न आदि भावों को अपना कर्तव्य समझते हैं और जो ऐसा नहीं करते उन्हें बुरा बताते हैं। जो चीज़ें त्याग के योग्य हैं उनको अपने में देखकर अपने को धैर्यवान् समझते हैं।

ये सब चीज़ें दुःख का कारण हैं। सात्त्विक-राजस धैर्य तो सुख को प्राप्त करने के हेतु हैं। सात्त्विक धैर्य वाला परम आनन्द के लिये उसे उपजाता है कि 'चाहे जितना दुःख हो, परम आनन्द प्राप्त करूँगा'। रजोगुणी धैर्य वाला दुःख उठा करके स्वर्ग आदि का सुख प्राप्त करता है। और तामस तो दुःख की चीज़ों में धैर्य रखता है कि दुःखी रहूँगा ही! इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति दुर्मेधा है। मेधा अर्थात् किसी चीज़ को याद रखने की शक्ति होना। इनकी दुर्मेधा है क्योंकि ये बुरी चीज़ों को ही याद रखते हैं। किसी ने उपकार किया तो उसे तो भूल जायेंगे और अपकार किया तो उसकी गाँठ बाँधे रखेंगे, उसे हमेशा याद रखेंगे। किसी ने प्रशंसा की तो भूल सकते हैं, निन्दा की तो याद ही रखेंगे। मेधा तो इनमें है, बहुत याद रखते हैं लेकिन बुरी चीज़ों को ही याद रखते हैं, अच्छी चीज़ों को याद

नहीं रखते। ऐसी धृति को तमोगुणी कहते हैं।।३५।।

अब कर्म के फल को बताते हैं जो तीन प्रकार का है। सभी कर्मों से फल तो तुम केवल सुख को ही चाहते हो। तामसी व्यक्ति दुःख को भी इसलिये पकड़कर रखता है कि उसमें उसे एक तरह का सुख अनुभव होता है! वह उसी को कर्तव्य या सुख समझता है। जैसे कुछ लोगों की आदत होती है कि बिना लड़े हुए उन्हें जीवन में रस नहीं आता। कोई न कोई निमित्त कर जो भी पास में होगा उससे लड़ाई करेंगे। लड़ाई करने में उन्हें सुख का अनुभव होता है। लड़ाई कभी सुख देने वाली नहीं होती परन्तु उस लड़ाई से होने वाले दुःख को वे सुख मानकर ही करते हैं। कर्म का उद्देश्य सुख है। जहाँ फल दुःख दीख रहा है वहाँ भी उद्देश्य तो सुख ही है। इसलिये कर्म का फल जो सुख है उसे भी तीन गुणों वाला बताते हैं :–

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

हे भरतोत्तम! जिसमें आवृत्ति से रति होती है और जिससे निश्चय ही दुःख का उपशम होता है उस तीन प्रकार के सुख को अब मुझसे सुनो।

'इदानीं' – कर्म-संग्रह और कर्म चोदना के त्रिविध भेद सुनने के बाद तीन गुणों से होने वाले जो तीन प्रकार के सुख हैं, मेरे द्वारा कहे उनको सावधान होकर सुनो। सुख क्या चीज़ है? शास्त्रकारों ने बताया है, सुखता कोई जाति नहीं है जो पदार्थों में रहती हो! जिसको जो चीज़ अच्छी लगती है, इष्ट लगती है या इच्छा का विषय लगती है, उसके लिये वही सुख है। इसलिये जिसे रसगुल्ला अच्छा लगता है उसके लिये रसगुल्ला सुख है, जिसको मिर्च का पकौड़ा अच्छा लगता है उसके लिये वह सुख है। कोई *चीज़* ऐसी नहीं जो सबके लिये सुख है केवल परम आनंद को छोड़कर, क्योंकि तुम्हारा आत्मा ही परम आनन्दस्वरूप है। आत्मा की प्राप्ति से तो सबको परम आनन्द की प्राप्ति होती है अर्थात् परम इष्ट की प्राप्ति होती है परन्तु उसे छोड़कर और कुछ ऐसा नहीं है जो सबको इष्ट लगे या सबको सुख दे। आत्मा में यह विशेषता क्यों है? शास्त्रकारों ने बड़े ढंग से समझाया है : जैसे तुम सुख के लिये सब काम करते हो वैसे ही तुम सब काम अपने लिये करते हो। कोई भी काम हो उसका अन्तिम फल तुम अपने लिये ही तो चाहते हो। जिसके लिये सब कुछ किया जाये वही आत्मा है, वही सुख है। इसलिये आत्मा हमेशा ही सुखरूप या आनन्दरूप है परन्तु अनात्म पदार्थों के अन्दर जो सुख है वह तो, जब तक तुम उसे इष्ट नहीं समझोगे, तब तक तुम्हारे लिये नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् स्पष्ट कहते हैं 'अभ्यासाद्रमते यत्र' तुमको सुख उसी चीज़ में इष्ट लगेगा जिसका तुमने पहले अनुभव किया है। उस चीज़ को ही तुम जितनी बार भोगोगे उतनी बार सुख होगा। एक सूक्ष्म प्रश्न हो सकता है कि पहली बार सुख कैसे होता है? अनादि काल से तुम हो, अनादि काल से रूप रस आदि विषय हैं इसलिये सब विषयों का तुमने अनुभव किया ही है अतः पहली बार सुख का प्रश्न नहीं उठता। जितना अभ्यास

ज़्यादा करोगे, जिस चीज़ की जितनी ज़्यादा आवृत्ति होगी, उतना ही मन उसमें रत होगा अर्थात् मन में उसकी लत होगी और उतना ही तुम्हें सुख का अनुभव ज़्यादा होगा। अब तक चूँकि संसार के पदार्थों का अभ्यास करते रहे हो इसलिये उसमें न चाहकर भी मन रमता है, मन बार-बार उधर जाता है। चूँकि पहले कभी अभ्यास किया नहीं इसलिये परमार्थ मार्ग में मन रमता नही। परन्तु जब यज्ञ, दान, तप आदि का, श्रवण-मनन आदि का अभ्यास हो जाता है तब मन उसमें रमता है। अगर तुमने इस जन्म में थोड़ा अभ्यास किया तो थोड़ा मन रमा। अगले जन्म में उस अभ्यास का संस्कार रहेगा और तुम्हारा मन परमार्थ मार्ग में ज़्यादा लगेगा। मन लगेगा तो उसका अभ्यास भी ज़्यादा करोगे। इस प्रकार से अभ्यास बढ़ते-बढ़ते एक दिन तुम तत्त्वनिष्ठा तक पहुँच जाओगे। चाहे अनात्मा हो, चाहे आत्म-पदार्थ हो, 'अभ्यासाद्रमते' अभ्यास होने पर ही मन रमता है, रति की प्राप्ति होती है। 'यत्र' अर्थात् जिस चीज़ में सुख का अनुभव हुआ, उसी विषय में मन रमता है। क्यों रमता है? हेतु बताया 'अभ्यासाद्' अर्थात् बार-बार करने से रमता है।

भाष्यकार कहते हैं 'अभ्यासाद् परिचयात्' उसका परिचय होने से। अनात्म पदार्थ का अभ्यास तो तुम कर लोगे, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श विषय होने के कारण तुम उसका बार-बार अनुभव कर सकते हो; परन्तु जो आत्म पदार्थ है उसका तो इस प्रकार विषयरूप से अनुभव होता नहीं, उसका अभ्यास कैसे किया जाये? आत्मपदार्थ का तो श्रवण-मनन के द्वारा परिचय होता है। अर्थात् वह आत्मा क्या है, किंरूप है - इसका पता लगता है। पता लगने पर मन उसमें रमता है। जब यह पता लगता है कि परमात्मा आनंदघन है तब परमात्मा में मन रमने लगता है। इसलिये मधुसूदन सरस्वती आदि कई आचार्यों ने कई प्रकार के श्रवण माने हैं। उसमें प्रथम श्रवण के द्वारा परिचय होता है अर्थात् यह निश्चय होता है कि यह बिलकुल ठीक है कि परमात्मा ही आनन्दघन है। फिर उस श्रवण की बार-बार आवृत्ति होने से उसका संस्कार भी दृढ हो जाता है और परमात्मा से भिन्न अनात्मा में जो सुख के संस्कार हैं, वे क्षीण हो जाते हैं। पहले तो ऐसा लगता है कि आत्मा में सुख है, ठीक है, शास्त्र से बात कुछ समझ में आई; परन्तु साथ ही यह भी लगता है कि दुनिया में कुछ तो मज़ा है ही। जितना-जितना अनुभव होता है उतना उस परम आनन्द-स्वरूप आत्मा की सुखरूपता का पता लगता है, उतना ही फिर दुनिया की चीज़ें दुःखरूप प्रतीत होने लगती हैं। ऐसे समझो कि पहले तुमने केवल दूध पिया तो उसमें भी मीठे का पता लगता है कि दूध मीठा है। उसके बाद तुम्हें जलेबी खिला दी और फिर वही दूध पिलाया तो कहते हो 'दूध फीका है'। क्योंकि जलेबी का मिठास दूध से ज़्यादा है, इसलिये अब वही दूध फीका लगने लगता है। इसी प्रकार वह परम आनन्द इतना बड़ा है कि जब तुम श्रवण आदि साधन करके उस आनन्द का अनुभव करते हो तब पहले थोड़े समय के लिये संसार की चीज़ें तुम्हें आकृष्ट नहीं करती। फिर जब तीन चार घण्टे अनात्माकार वृत्ति बन जाती है तब संसार की चीज़ें पुनः कुछ अच्छी लगने लगती हैं। जितना-जितना परम

आनन्द का अभ्यास बढ़ता जायेगा उतना-उतना फिर संसार में कम सुखरूप लगेगा और अंत में घोर दुःखरूप हो जायेगा! यह अभ्यास से, परिचय से रमण है। इस सुख के अनुभव में अभ्यास से ही रति होती है।

'दुःखान्तं च निगच्छति' इस परम आनन्द की प्राप्ति होने पर आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति हो जाती है। 'निगच्छति निश्चयेन गच्छति प्राप्नोति' परम आनन्द की प्राप्ति और आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति दोनों इकट्ठी ही समझ लो। निश्चय ही उस विषयसुख का स्वाद चला जाता है। यह तो परम आनन्द या परम सुख के बारे में बता दिया।।३६।।

अब सात्त्विक सुख को कहते हैं :-

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

जो पहले जहर-सा लगता है किंतु नतीजा सामने आने पर अमृत की तरह होता है, अपनी बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न वह सुख सात्त्विक कहा गया है।

सात्त्विक सुख के जब उपाय किये जाते हैं अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि किये जाते हैं तब वे जहर की तरह लगते हैं। परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग ऐसा है जिसमें शुरू में तो अत्यन्त परिश्रम करके ही प्रवेश किया जा सकता है। इसके अन्दर अत्यंत दुःख का ही अनुभव होता है इसलिये जहर की तरह लगता है। परमात्मा के विषय में कहना तो मीठा खाण्ड जैसा लगता है परन्तु उसे प्राप्त करने के लिये जुटो तो विष की गोली की तरह लगता है। साधन अत्यंत आयास पूर्वक करना पड़ता है, इसलिये विष की तरह लगता है। इसके लिये पहली ही सीढ़ी कहते हैं कि सवेरे चार बजे उठना है, तो दिल्ली के लोगों को लगता है कि महाराज तो बहुत कड़वी बात कहते हैं! सवेरे चार बजे उठना उन्हें बड़ा भारी परिश्रम लगता है। फिर अगर कह दें कि उठकर रजाई में माला जप लो, तो भी ठीक है; लेकिन नहीं, पहले स्नान करो; वह भी जहर की तरह लगता है। सर्दी का मौसम और उसमें भी चार बजे उठकर स्नान करो। तब से लेकर जितनी साधना कहते हैं, सभी विष की तरह लगती है। इसलिये भगवान् ने कहा 'यत्तदग्रे विषमिव' शुरू में ज्ञान, वैराग्य आदि साधन विष की तरह लगते हैं। परन्तु जब ज्ञान और वैराग्य पक जाते हैं तब अमृत की तरह हो जाता है। वैराग्य का पकना है कि स्वप्न के अन्दर भी अनात्म पदार्थों के प्रति सुख-बुद्धि नहीं होती। ज्ञान के पक जाने का मतलब है कि स्वप्न में भी शरीर-मन में अहं बुद्धि नहीं होती। जब यह परिणाम हो जाता है तो फिर यह सुख अमृत की तरह हो जाता है। जिसको प्राप्त करने के लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु फलकाल में जो अत्यंत सुखद है, उसे सात्त्विक सुख कहते हैं। 'प्रोक्तं' अर्थात् बड़े-बड़े आत्मनिष्ठ महापुरुष ऐसा बताते हैं। यह सुख किससे होता है? 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' आत्मा को विषय करने वाली जो बुद्धि है उसको आत्मबुद्धि कहते हैं। बुद्धि या अनात्मा को या आत्मा को विषय करती है।

बुद्धि से ही जाना जाता है। आत्मबुद्धि अर्थात् आत्मा को विषय करने वाली बुद्धि। प्रसाद अर्थात् निर्मलता। जैसे तालाब के अन्दर मिट्टी है, अगर हवा से लहरें नहीं उठती तो तीन-चार दिन में वह मिट्टी धीरे-धीरे बैठ जाती है और जल निर्मल रह जाता है, तब कहते हैं तालाब प्रसन्न या प्रसाद वाला हो रहा है। इसी प्रकार बुद्धि के अन्दर राग-द्वेष से प्रभावित होकर अंतःकरण मैला हो रहा है। यद्यपि उस बुद्धि में ही परमात्मा विद्यमान है तथापि उस मैल के कारण वह दीखता नहीं। जितना-जितना आत्मा की तरफ निश्चयात्मिका बुद्धि लगती है उतना-उतना बुद्धि का मल बैठ जाता है, अर्थात् बुद्धि निर्मल हो जाती है। ऐसी निर्मल बुद्धि के अन्दर विद्यमान परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। इसलिये कहा 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' मानो उससे, आत्मविषयक बुद्धि की निर्मलता से, पैदा हो गया। वह तो अज है, पहले ही मौजूद है, फिर भी मानो पैदा हो गया। ठीक जिस प्रकार से किसी तलैया में हीरे की अँगूठी गिर जाये, उसमें बहुत ढूँढने पर भी मिले नहीं और फिर मिट्टी बैठ जाने पर दीख जाये तो कहते हो 'अँगूठी मिल गयी!' वह तो तुम जहाँ ढूँढ रहे थे वहाँ उस समय भी पड़ी हुई थी। लेकिन तब पानी मटमैला था इसलिये नहीं दीखी थी। ठीक इसी प्रकार बुद्धि रूपी तलैया के अन्दर शुद्ध द्रष्टा साक्षी विद्यमान है। इसका निश्चय तो इसी से हो जाता है कि यदि वह विद्यमान न होता तो बुद्धि से कैसे जाना जाता! वहाँ है इसलिये जाना जाता है। जैसे चीज़ें साफ दीखें तो निश्चय हो जाता है कि सूर्य उग गया है, बादल आदि से उसका बिम्ब न दीखने पर भी निश्चय हो जाता है क्योंकि उदय न हुआ होता तो सब चीज़ें साफ़ दीख नहीं सकतीं थी। इसी प्रकार ज्ञान हो रहा है तो ज्ञानरूप परमात्मा बुद्धि में अवश्य मौजूद है तभी ज्ञान हो रहा है। परन्तु इतने मात्र से *परमात्मा* का ज्ञान नहीं हो गया! यह निश्चय हो गया कि परमात्मा है; क्योंकि परमात्मा ज्ञानरूप है। ज्ञानरूप परमात्मा बुद्धि के अन्दर हमेशा ही अधिष्ठान रूप से विद्यमान है, यह तो ज्ञान से पता लग गया। जब राग-द्वेष आदि विकारों वाला मन शांत हो जाता है तब वह आत्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। इसलिये कहा जाता है 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' बुद्धि की निर्मलता से परमात्मा पैदा, प्रकट हो गया। इससे होने वाला सुख अर्थात् परमात्मा का सुख ही सात्त्विक सुख है।

सुख की विशेषता क्या है? सुख वह होता है जिसके अन्दर अभ्यास से रति प्राप्त करते हैं। अनादि काल से विषयों के संस्कार पड़ रहे हैं इसलिये अभ्यास होकर ही विषयों में मन रमता है। अभ्यास से विषय में राग होता है, इसलिये उसमें रति होती है। और विषय की इच्छा से होने वाला जो दुःख है वह विषय की प्राप्ति होने पर समाप्त हो जाता है। सात्त्विक सुख क्योंकि अंदर परमात्मा से सम्बद्ध है इसलिये उसका संस्कार नहीं है। इसलिये इसका जो अभ्यास है वह दुःखद लगता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि सब मनुष्य को जहर की तरह लगते हैं। परन्तु जब अंतःकरण को बार-बार अभ्यास कराते हैं तब शम, दम आदि के फलस्वरूप थोड़ा सुख प्राप्त होने लगता है। पहले तो उस सुख की प्रतीति नहीं होती पर साधनाभ्यास से हो भी जाती है। मानुषादि ब्रह्मान्त सुख बताते हुए उपनिषत् ने हर सुख उसे

उपलब्ध बताया है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' जो श्रोत्रिय है और उस सुख की कामना वाला नहीं है। किन्तु उसको वह सुख प्राप्त ही है - यह बात हमारी समझ में नहीं आती। विषय मिलने पर सुख होता है - यह तो समझ में आ जाता है, परन्तु जो अकामहत है, जिसे उसकी कामना नहीं है, उसको वह सुख प्राप्त ही है - यह इसीलिये समझ में नहीं आता कि शम, दम, उपरति आदि से भी सुख होता है यह अनुभव नहीं है। किन्तु शम, दम, उपरति इत्यादि का अतिदीर्घकाल तक अभ्यास करने के बाद उस सुख की प्रतीति होने लगती है। इसलिये 'अभ्यासाद्रमते' कहा था। शम, दम आदि का कभी अभ्यास किया नहीं, या अधिकाधिक कुछ-एक जन्मों से पहली बार कर रहे हो। इसलिये अभ्यास से जब रमण होगा तब सुख स्पष्ट होगा। विषयसुख तो प्राप्त होते ही अच्छा लगता है, उसमें रति होती है। रसगुल्ले का डिब्बा आया, उस पर के०सी० दास का नाम लिखा हुआ है। उसको देखकर ही प्रसन्नता या रति होती है कि 'आज खाने का मज़ा आयेगा', क्योंकि पहले के संस्कार हैं। ऐसा शम दम आदि में नहीं होता। यह तो लगता है कि कोई परमात्मा होगा जिसकी प्राप्ति होगी तब सुख होगा। परन्तु उपनिषद् ने 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' से कहा कि अभ्यास होने के बाद जिस-जिस चीज़ से मन निवृत्त हो जाता है उस के सुख का अनुभव होने लगता है। विषयसुख में तो 'दुःखान्तं च निगच्छति', विषय की इच्छा रूपी दुःख थोड़ी देर को रुक जाता है। परन्तु जब शम, दम आदि का परिपाक या श्रवण, मनन का परिपाक होता है तब अमृत की तरह सुख होता है। विषय-सुख में थोड़ी देर बाद फिर इच्छा आ जाती है तो फिर दुःख आ जाता है। परन्तु यहाँ श्रवण-मनन के परिपाक से दुःख का ऐसा अंत होता है कि फिर दुःख नाम की चीज़ रह ही नहीं जाती। सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं कि जो सारे पदार्थों से निवृत्त हो जाता है उसे दुःख होता ही नहीं, वह दुःख नाम की चीज़ जानता ही नहीं। यह सात्त्विक सुख अमृत की तरह है अर्थात् फिर कभी दुःख होता ही नहीं।।३७।।

राजस सुख बताते हैं -

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

विषय-इन्द्रियों के सम्पर्क से जो पहले अमृत-सा किन्तु नतीजा सामने आने पर विष जैसा सुख होता है वह राजस बताया गया है।

सात्त्विक सुख तो आत्मबुद्धि-प्रसादज या बुद्धि की निर्मलता से होने वाला था। निर्मल बुद्धि जब आत्मा की तरफ जाती है तब सात्त्विक सुख होता है। राजस सुख आत्मा से नहीं होता, अनात्मा से होता है। विषय अनात्मा है। विषय वह है जिसको हम जानते हैं, आत्मा वह है जो जानता है। इसलिये विषय नियमतः अनात्मा ही होगा। राजस सुख विषयों से होता है। जैसे आत्मसुख आत्मा से होता है वैसे ही विषय-सुख विषयों से, अनात्मा से होता है।

आत्मा सुख-स्वरूप है, परन्तु वह सुख बुद्धि की निर्मलता से प्रकट होता है, राजस सुख विषय-इन्द्रियसंयोग से होता है, केवल विषय से नहीं होता। जैसे वहाँ बुद्धि की निर्मलता अपेक्षित है वैसे ही यहाँ विषय और इन्द्रिय का संयोग होना चाहिये। जब रसगुल्ले का जीभ के साथ संयोग होगा, जीभ पर उसे रखोगे तब मज़ा आयेगा। जैसे वह सुख आत्मबुद्धि-प्रसादज है वैसे ही यह सुख विषयेन्द्रिय-संयोग से होता है। इन्द्रिय वह है जिसके द्वारा जानते हो, आत्मा वह है जो जानता है, जैसे जीभ के द्वारा स्वाद को जानते हो। विषय और इन्द्रिय का संयोग होने पर आत्मा जानता है। विषय भी अनात्मा और इन्द्रिय भी अनात्मा हैं। अतः राजस सुख अनात्मा के संयोग से होता है, यह सात्त्विक से फ़र्क यहाँ ध्यान देना। आत्मा की तरफ जाने से बुद्धि में जो निर्मलता आई उससे आत्मा प्रकट हुआ तो सात्त्विक सुख हुआ। आत्मबुद्धि के संयोग से यदि आत्म-सुख होता तब तो कहते कि उसमें भी पचास प्रतिशत अनात्मा हेतु है। किन्तु उसे भगवान् ने संयोगज नहीं कहा। बुद्धि की निर्मलता से खुद प्रकट होता है क्योंकि आनन्दस्वरूप होने से पहले ही मौजूद है। परन्तु राजस तो विषयेन्द्रिय-संयोग से पैदा होता है। चूँकि विषय और इन्द्रियाँ दोनों अनात्मा हैं इसलिये यह अनात्मा का सुख है। चूँकि बुद्धि की निर्मलता से खुद ही प्रकट होता है इसलिये सात्त्विक तो आत्मसुख है। अनादिकाल से प्राप्त संस्कारों के कारण विषयों में रति है इसलिये जब रसगुल्ले को जीभ पर रखते हैं तब अमृत की तरह लगता है। सात्त्विक सुख तो पहले जहर की तरह लगता है क्योंकि उसके संस्कार नहीं होने के कारण राग का अभाव है। जबकि अनादि काल के संस्कार होकर रति मौजूद होने के कारण जिस समय विषय मिलता है तभी अमृत की तरह लगता है। आदमी सोचता है कि 'मैं धन्य हूँ जो इतनी बढ़िया मोटर मिल गई, धन्य हूँ मैं जो राष्ट्रपति का पद मिल गया'। जो भी विषय प्राप्त हो उसके प्रति रति है इसलिये प्राप्त होने पर अमृत की तरह लगता है।

परन्तु राजस सुख का परिणाम है कि वह तुम्हारे बल को नष्ट करता है। जितना-जितना विषय-भोग होता है उतना-उतना बल क्षीण होता है। चूँकि बल नष्ट होता है इसलिये विष की तरह है। विषय सुख के लिये बलिष्ठता, द्रढिष्ठता की ज़रूरत है और भोग से बल घट जाता है। इसी प्रकार से वीर्य क्षीण हो जाता है। किसी भी परिस्थिति का सामना करने की सामर्थ्य भी घट जाती है। अमेरिका के पास जितने हथियार हैं वे दुनिया में इस समय किसी के पास नहीं हैं, परन्तु क्या नहीं है? वीरता नहीं है। इसलिये वियतनाम में गये तो हारे। अफगानिस्तान और ईराक में अब तक कोई समझौता नहीं कर पाये। उनके पास बल की कमी नहीं है, उनकी फौज बहुत बड़ी है, शस्त्र आदि उनके पास बहुत हैं परन्तु वीरता नहीं है, अतः बचकर लड़ते हैं। बचकर लड़ने वाला अगर डट कर लड़ने वाले के सामने पड़ जाये तो उसे मुँह की खानी ही पड़ती है। उनमें यह वीर्य क्यों नहीं है? क्योंकि उनके पास खूब भोग-सामग्री है। विषय और इन्द्रियों के संयोग की खूब प्राप्ति होने से वीर्य नहीं रहा। प्रायः शारीरिक बल का प्रयोग कर लड़ने के काम में व्यापारी वर्ग अक्षम रहता है। इसका

कारण क्या है? विषयेन्द्रिय-संयोग ही कारण है। उन्हें भोग के लिये सब तरह के विषय मिल जाते हैं इसीलिये वीरता या सामर्थ्य नहीं रहती। विषय और इन्द्रियों के संयोग से जितना भोग होता जाता है उसमें मनुष्य का रूप भी क्षीण होता जाता है। भोगी के मुख के ऊपर वह सौंदर्य नहीं रह सकता जो विषयेन्द्रिय-संयोग से दूर रहने वाले के मुख पर रहता है। विषयेन्द्रिय का भोग करने वाले की प्रज्ञा भी नहीं रहती। प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि में वह सामर्थ्य कि किसी भी चीज़ के वास्तविक तात्पर्य को समझ पाये, वह सामर्थ्य उसकी बुद्धि में नहीं रह पाती। प्रज्ञा भी क्षीण हो जाती है। इसका कारण तो स्पष्ट है कि जितना ज़्यादा अनात्मा का संस्कार बुद्धि में आयेगा, अनात्मा चूँकि जड है इसलिये उतनी वह बुद्धि के अन्दर जडता ही लायेगा। जैसे प्रकाश सभी चीज़ों को स्पष्ट दिखा देता है वैसे ही बुद्धि की जो सामर्थ्य प्रज्ञा है वह किसी भी चीज़ की वास्तविकता को स्पष्ट कर देती है। इसलिये मनु महाराज तो कहते हैं कि जो प्रज्ञाहीन है वह शास्त्र का तात्पर्य समझ ही नहीं सकता। इसलिये मनु महाराज ने कहा कि अगर धर्म के विषय में संदेह हो तो सात, नहीं तो कम-से-कम तीन वैदिक विद्वान् मिलकर जो निर्णय करें वह निर्णय सबके लिये मान्य है। परन्तु आगे लिखते हैं कि यदि कोई संन्यासी है तो वह अकेला ही धर्म के विषय में जो निर्णय दे देगा, वही ठीक है! उसका कारण यही है कि जो सात या तीन विद्वान् मिलकर निर्णय करेंगे, वे विषयेन्द्रियसंयोग वाले हैं और संन्यासी विषयेन्द्रिय के संयोग छोड़ने वाला है, शम, दम आदि से संयुक्त है, अतः उसकी प्रज्ञा पूर्ण तेजस्वी है। उस अकेले की प्रज्ञा उन सात की प्रज्ञा से भी अधिक प्रखर है। इसलिये विषय-भोग करने वाले के बल, वीर्य और प्रज्ञा क्षीण हो जाते हैं।

उसकी मेधा का भी क्षय हो जाता है। मेधा का अर्थ है ग्रन्थ धारण की सामर्थ्य होना। कभी यह अनुभव करके देखो कि कोई बात तुमने सुनी है, सुनने के बाद बिना किसी दूसरे काम को किये घर में जाकर अपने को अकेले कमरे में बन्द करके उसी बात के बारे में सोचो तो वह बात ऐसी पक्की याद हो जायेगी कि दो महीने बाद भी कोई पूछेगा तो उस बात को यथावत् कह दोगे। इसके बजाये अगर कथा सुनकर चले और चाय-समोसा आदि विषय-भोग में लग गये, तो कथा में सुना विषय भूलोगे ही। विषयभोग के कारण वह सुनी हुई बात ठीक से बैठ नहीं पाती, मेधा शक्ति क्षीण हो जाती है। लोग पूछते हैं – महाराज! बात याद रहे इसके लिये हम क्या करें यह बताईये। हम क्या बतायें! इसे करने का उपाय तो सीधा-सा है कि विषयेन्द्रिय-संयोग को कम करने का प्रयत्न करो।

इतना ही नहीं, धन भी कम होता जाता है। यह बात तो आप सब लोग समझते ही हैं। और उत्साह भी नहीं रह जाता। सात्त्विक कर्ता को बताते हुए कहा था 'धृत्युत्साहसमन्वितः' वह धृति और उत्साह से समन्वित होता है। क्या कारण है कि लोगों का परमात्मा के प्रति उत्साह नहीं होता? उसका कारण यही है कि जितना विषय-चिंतन का अभ्यास होता है उतना परमात्म मार्ग में उत्साह नहीं रहता। ऐसे उत्साहरहित व्यक्ति को

हमेशा लगता रहता है कि पता नहीं परमात्मा मिलता है, नहीं मिलता है! परमात्मा है भी कि नहीं है? हम लोगों को प्राप्त हो भी सकता या नहीं? 'हम परमात्मा को प्राप्त करेंगे ही' ऐसा उत्साह नहीं रहता। विषयेन्द्रिय-संयोग से इन सब की हानि होने के कारण कहा 'परिणामे विषमिव'। अगर विषयेन्द्रिय-संयोग के लिये अधर्म कर लिया तो फिर उससे आगे नरक आदि की प्राप्ति है, पशुपक्षी आदि योनियों की प्राप्ति भी होगी। इसलिये भी आगे विष की तरह ही है। सात्त्विक सुख हुआ जो प्रारम्भ में विष की तरह और अंतमें अमृत की तरह है। और राजस अथवा विषयसुख हुआ जो प्राप्ति में अमृत की तरह है और परिणाम में या बाद में जब उसका फल सामने आता है तब विष की तरह है। इसलिये राजस सुख सात्त्विक सुख से बिलकुल उलटा है। यही दोनों में फ़र्क है।।३८।।

अब तामस सुख बताते हैं –

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

नीन्द, आलस्य और असावधानी से उत्पन्न एवं प्रारम्भ में तथा नतीजा आने पर भी जो सुख आत्मा को मोहग्रस्त ही करता है वह तामस कहा गया है।

'मोहनं सुखं' तामस सुख है। विषयेन्द्रिय संयोग से होने वाला भी प्रकट सुख है और सात्त्विक सुख श्रवण-मनन आदि द्वारा आत्मज्ञान होने से प्रकट ही रहता है। यह तामस सुख तो केवल मोहमात्र से प्रतीत होता है। अर्थात् सुख न होने पर भी समझते हैं कि सुख हो गया। इसकी प्राप्ति में भी सुख नहीं है, अंत में भी सुख नहीं है और भोगकाल में भी सुख नहीं है! उसे सुख मान लेते हैं केवल इसलिये सुख है। यह सुख कैसा होता है? निद्रा – तामस सुख, निद्रा लेने का सुख है। नींद लेने से भी सुख का प्राकट्य नहीं होता है सोते समय स्पष्ट भान नहीं रहता कि 'सुख भोग रहा हूँ'। सुख वहाँ है परन्तु सुख का प्राकट्य वहाँ नहीं है। क्योंकि प्रकट करने वाली जो बुद्धिवृत्ति वह वहाँ नहीं थी। सुषुप्ति में आत्मा अज्ञान से आवृत रहता है। सात्त्विक सुख में तो आत्मा का आवरण हट जाता है इसलिये सुखरूपता की प्राप्ति है। विषय-सुख में इच्छा की निवृत्ति पर बुद्धि आत्मा की तरफ जाती है इसलिये वह भी प्रकट सुख है। निद्रा में तो आत्मा की तरफ वृत्ति जाती नहीं, केवल कोई वृत्ति रहती नहीं है, इतना ही है।

ऐसा ही आलस्य का सुख है। हम बहुत से लोगों को जानते हैं जिनकी नींद खुल गई, उसके बाद भी तकिये पर सिर इधर से उधर करते रहेंगे, करवटें बदलते रहेंगे। उन्हें उसमें जो मज़ा आ रहा है वह न बढ़िया तकिये का मज़ा है, न बिछौने का मज़ा है। किस चीज़ का सुख है? उठना नहीं चाहते हैं, इसलिये सुख मानते हैं। जैसे निद्रा में दुःख का अनुभव नहीं होता है तो कहते हैं सुख है, इसी प्रकार उठने का दुःख नहीं करना पड़ता है, इसलिये लगता है कि सुख है। इसी प्रकार प्रमाद है। जो काम करना है वह मैंने नहीं किया अर्थात्

मुझे काम करने का दुःख नहीं उठाना पड़ा। काम टल गया तो कहते हैं 'बड़ा अच्छा हुआ'। इसलिये यह सुख केवल मोह का ही सुख है, माना हुआ ही सुख है, कोई सुख है नहीं।

और यह सुख कैसा है? 'अग्रे च अनुबन्धे' अर्थात् पहले भी ऐसा ही है और समाप्ति में भी ऐसा ही है। सात्त्विक सुख तो समाप्ति में अमृत की तरह है। लेकिन ऐसे आलस्य और प्रमाद की समाप्ति में भी कोई सुख नहीं है और पहले भी कोई सुख नहीं है। दोनों कालों में ही यह तो मोहमात्र का सुख है। इस सुख को तामसी सुख, तमोगुण से होने वाला सुख कहते हैं। इसीलिये इसे 'आत्मनः मोहनं सुखं' कहा क्योंकि निद्रा, आलस्य और प्रमाद से जो एक प्रकार का मोहरूपी भाव रहता है, केवल उसी का सुख है।

इस प्रकार, फल का विचार करते हुए तीनों प्रकार के सुखों को बता दिया।।३९।।

'प्रोच्यते गुणसंख्याने' (१८.१९) से भगवान् ने कपिलमत के अनुसार बताना प्रारम्भ किया। किन्तु कर्ता आदि मानसिक वस्तुओं की ही त्रिगुणात्मकता का भगवान् ने वर्णन किया। सांख्यवादी तो मनोवृत्तियाँ ही नहीं, दुनिया की हर चीज़ को त्रिगुणात्मक मानते हैं। अतः प्रतिज्ञापूर्ति के लिये संक्षेप में सर्वत्र त्रिगुणता का निर्देश करते हुए गुणसंख्यान का प्रकरण समाप्त करते हैं –

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

पृथ्वी में, द्युलोक में या देवताओं में भी कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं है जो इन तीन गुणों से छूटा हो।

सारी पृथ्वी में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो तीन गुणों से मुक्त हो अर्थात् कापिलों की दृष्टि में संसार में जितने पदार्थ हैं वे सभी सात्त्विक, राजस या तामस हैं। स्वर्ग लोक में भी ऐसा कुछ नहीं है जो इन तीन गुणों से रहित हो। मनुष्य लोक के प्राणियों का तो कर्म-संग्रह और कर्म-चोदना इत्यादि के द्वारा निरूपण किया। परन्तु स्वर्गलोक में भी ऐसा कुछ नहीं है जो इनसे मुक्त हो। प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है, और साम्यावस्था से वैषम्यावस्था होने पर सत्त्व, रज और तम तीनों गुण प्रसिद्ध होते हैं, उनसे मुक्त हो ऐसी कोई चीज़ नहीं है 'सत्त्वं' के द्वारा बताया कि अभाव को तो वे भी सात्त्विक, राजस, तामस नहीं कहेंगे। जो भाव पदार्थ हैं वे ही तीन गुणों वाले हैं ऐसी उनकी मान्यता है।।४०।।

सारा संसार क्रिया, कारक और फलरूप है। संसार में जो कुछ है वह या क्रिया है या क्रिया करने के साधन हैं या क्रिया का फल है। वे सारे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप हैं, यह सारी त्रिगुणात्मिका प्रकृति अविद्या से ही परिकल्पित है। वेदान्त की दृष्टि से कहते हैं कि यह सब अविद्या-परिकल्पित है। अविद्या और यह सब अनर्थ ही है। सारी क्रिया, सारे कारक और सारे फल अनर्थरूप ही हैं। जिसको चाहा जाये, जिसकी अर्थना की जाये, जिसको प्राप्त किया जाये वह तो अर्थ है और क्रिया, कारक आदि सब प्राप्त करने के अयोग्य

हैं, अनर्थरूप हैं। इस बात को भगवान् पन्द्रहवें अध्याय में 'ऊर्ध्वमूलं' से कह आये हैं कि यह तो वृक्ष है। जैसे वृक्ष काटने के लिये होता है वैसे ही यह भी काटने के ही लायक है। यह जो त्रिगुणात्मक सारा संसार है यह सारा अविद्या के कारण है और इसलिये इससे निवृत्त ही होना योग्य है। इसीलिये भगवान् पहले कह आये कि 'हे अर्जुन! तू त्रिगुण से रहित हो जा।' इस निवृत्ति को बताने में ही सारी गीता और सारे वेदान्तों का तात्पर्य है। भगवान् सभी साधकों को कह रहे हैं कि तीनों गुणों से रहित हो जाओ। इस प्रकार सारे गीता शास्त्र और सारे वेदान्तों का प्रयोजन यही है। अब चूँकि अठारहवें अध्याय के बीच में पहुँच रहे हैं इसलिये यहाँ से सारे गीता शास्त्र का उपसंहार प्रारम्भ हो रहा है। वैसे तो ग्रन्थ में प्रसंग से अनेक बातें कही जाती है, परन्तु ग्रन्थ का जो वास्तविक प्रयोजन होता है, उसको उपसंहार में फिर से कहना चाहिये। जो कुछ गीता में कहा गया है, उसमें जो-जो प्रयोजन वाली बातें हैं, उन्हें भगवान् उपसंहार में बता देंगे। तात्पर्य-निर्णय के लिये उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता ज़रूरी है। इन बातों का जगह-जगह अभ्यास भी किया है। ऐसी एकवाक्यता का प्रकार वेदान्तों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। फल स्वयं ही भगवान् बतायेंगे और पहले बता भी आये हैं। इस प्रकार से यहाँ से जो प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है वह सारे वेदों और स्मृतियों का तात्पर्य है। अतः जो पुरुषार्थ करना चाहता है अर्थात् अपने पौरुष को काम में लाकर इस तात्पर्य को प्राप्त करना चाहता है, वह किस-किस कर्म का अनुष्ठान करे, यह बतायेंगे। अतः उस प्रकरण को प्रारम्भ करने के पहले भगवान् बताते हैं कि यह पुरुषार्थ कौन करता है –

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

शत्रुतापक! ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के और शूद्रों के कर्म प्रकृतिजन्य गुणों के अनुसार बँटे हुए हैं।

वैदिकों का जो चातुर्वर्ण्य है वह सारा इस प्रयोजन या पुरुषार्थ के लिये ही है। चातुर्वर्ण्य का निर्माण भगवान् ने किया है। आधुनिकों की जो कल्पना है कि चार वर्ण समाज ने या मनु ने बनाये हैं इत्यादि, वह सभी भगवान् के उक्त स्पष्ट उद्घोष से निराकृत हो जाती है। पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये भगवान् ने वर्ण बनाये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति हैं क्योंकि ये सारे वेदाध्ययन के अधिकारी हैं। इनका उपनयन होने के कारण ही ये द्विजाति हैं अर्थात् इनका दूसरा जन्म होता है। इसलिये द्विजातियों को इकट्ठा करके समास बना दिया 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' इसीलिये जो वेद के अधिकारी नहीं हैं ऐसे शूद्रों को भगवान् ने समास में नहीं रखा। क्योंकि वे एकजाति हैं अर्थात् उनका एक ही जन्म है, दोबारा उनका जन्म होता नहीं। आचार्ययोनि से उनकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये एक ही जन्म है। अतः वेद में उनका अधिकार नहीं है। 'कर्माणि प्रविभक्तानि' इन चारों वर्णों के कर्मों का स्पष्टतया

विभाग किया गया है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्या-क्या कर्म करें, यह प्रविभाजन किया गया है। 'गुणकर्मविभागशः' यह कर्म-विभाग भी किसी मनुष्य का बनाया हुआ नहीं है, यह कर्म-विभाग भी भगवान् ने कहा कि मेरे ही द्वारा किया गया है। यह प्रविभाग कैसे हुआ है? 'स्वभावप्रभवैः' अर्थात् विषयों की जो प्रकृति या विषयों का जो स्वरूप माया प्रकृति है, उस माया के अन्दर ही यह प्रविभाग किया गया है। इसका मोक्ष और आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो विषयों की प्रकृति माया या त्रिगुणात्मिका प्रकृति है वही इसका प्रभव है, माया को लेकर ही ये सारे भेद हैं। माया से होने वाला जो गुणों का भेद या तारतम्य है उसको लेकर ही यह विभाग है। इस प्रकार जो त्रिगुणों का प्रकरण था उसके साथ पुल भी बन गया। गुणों का स्वरूप बता रहे थे, उसके साथ आगे का विषय सम्बन्धित हो गया कि चारों वर्णों की यह सृष्टि गुणों के अनुरूप ही है। विषयों का स्वभाव अर्थात् माया में चूँकि तीन गुण हैं इसलिये चार प्रकार के वर्णों की सृष्टि है।

अथवा अर्थ है कि वर्णों का स्वभाव गुणों से है अर्थात् ब्राह्मण के स्वभाव का सत्त्वगुण कारण है। क्षत्रिय के स्वभाव का कारण सत्त्व गौण रहते रजोगुण है। वैश्य के स्वभाव का कारण तम गौण रहते रजोगुण है तथा शूद्र के स्वभाव का कारण रज गौण रहते तमोगुण है। इसलिये ब्राह्मण के जो कर्म होंगे वे सत्त्वगुणी कर्म होंगे। ब्राह्मण का स्वभाव हमेशा सत्त्वगुणी होगा, उससे उत्पन्न होने वाले कर्म सात्त्विक कर्म होंगे। उन सात्त्विक कर्मों को देखकर उसको ब्राह्मणों में ही श्रद्धा होगी। ब्राह्मण के स्वभाव के अनुसार जो कर्म बताये गये, उनको वह देखेगा इसलिये उनमें ही उसकी श्रद्धा होगी। अतः वे ब्राह्मण की तरह के कर्म करेंगे। इसी प्रकार क्षत्रिय के स्वभाव में सत्त्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान होता है। ऐसे स्वभाव वाला क्षत्रिय होगा। जो कर्म उसके लिये विहित हैं वे उसी के स्वाभाविक कर्म होंगे। उन कर्मों को देखकर ही क्षत्रिय में श्रद्धा होगी और उसी को देखकर वह आगे कर्म करेगा। वैश्य में तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान होगा। क्षत्रिय और वैश्य दोनों में रजोगुण प्रधान तो है परन्तु क्षत्रिय में सत्त्वगुण गौण रूप से रहेगा और वैश्य में तमोगुण गौण रूप से रहेगा। शूद्र का स्वभाव तमोगुणी है, उसमें रजोगुण गौण पड़ता है। क्षत्रिय, वैश्य के तो गौण गुणों में फ़र्क है। शूद्र तमोगुणी है परन्तु उसमें रजोगुण गौणरूप से रहेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का जो कर्म का प्रविभाग है वह परमेश्वर ने किया है। उनको देखकर जो श्रद्धामात्र से प्रयुक्त है वह उन्हीं में प्रवृत्ति करेगा जिनमें उसकी श्रद्धा होगी और श्रद्धा होगी उस प्रकार के गुणों के कारण ही। आगे भगवान् स्वयं बतायेंगे कि ब्राह्मण के कर्म प्रधान रूप से शांति आदि होंगे। क्षत्रिय के ऐश्वर्य आदि होंगे। पदार्थों की कामना को लेकर वैश्य के कर्म होंगे और शूद्र के स्वाभाविक कर्म मोह या मूढता के होंगे। इसलिये जिनको शांति पसन्द है वे ब्राह्मण को देखकर चलेंगे, जिनको ऐश्वर्य पसन्द है वे क्षत्रिय को देखकर चलेंगे। जिनको पदार्थों की भावना है वे वैश्य को देखकर चलेंगे। और मूढता की भावना वाला, जिसे निद्रा, आलस्य आदि अच्छे लगते हैं, वह शूद्र को देखकर चलेगा।

जो स्वभाव ब्राह्मणादि का है या उनको देखकर चलने वालों का है, वह क्यों है? जन्मान्तर में जो कर्म किया जाता है उस किये हुए कर्म का संस्कार अंतःकरण पर होता है और वही संस्कार वर्तमान जन्म में प्रकट होते हैं। इसलिये लोगों के अन्दर स्वभाव से इन चीज़ों की प्रवृत्ति देखी जाती है। बहुत से लोग चाहते ही शांति हैं और कुछ लोगों को शांति पसंद नहीं होती। रौनक देखें तो उनको प्रसन्नता होती, शांति से बैठना उनको अच्छा नहीं लगता। खूब लोग आयें, हल्ला-गुल्ला हो तो कहेंगे 'आज के आनन्द की जय हो।' चुपचाप बैठे हो तो कभी नहीं कहेंगे 'आज के आनन्द की जय।' इसी प्रकार कुछ लोग कहेंगे कि शांत रहना बेकार है, रौनक भी बेकार है, खूब पदार्थ या चीज़ें होनी चाहिये, माल होना चाहिये - यह उनका स्वभाव है और वही उन्हें अच्छा लगता है। उनकी चाहे जितनी जय-जय कार करो लेकिन दो कुछ नहीं तो कहेंगे कि यह क्या बेकार की जय-जय कार है! अलग-अलग प्रवृत्ति के लोग होते हैं। जन्मान्तर में जो किया गया है उससे जो संस्कार बन गये हैं वे ही प्राणियों में इस जन्म में प्रकट होते हैं और मनुष्य को कार्य के प्रति प्रवृत्त करते हैं। उस स्वभाव से प्रभव (उत्पन्न) जो प्रवृत्ति है उससे गुणों का, वृत्तिका पता लग जाता है कि यह ब्राह्मण वृत्ति वाला, यह क्षत्रिय वृत्ति वाला, यह वैश्य वृत्ति वाला और यह शूद्र वृत्ति वाला है। इसलिये 'स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः' में यह नहीं समझ लेना कि गुणों का प्रादुर्भाव स्वभाव से हो जाता है अर्थात् गुण बिना कारण के प्रकट हो जाते हैं! ऐसा नहीं है, क्योंकि इस मायिक जगत् के अन्दर कोई भी चीज़ निष्कारण नहीं होती, किसी-न-किसी कारण से ही होती है। भगवान् ने यह भी बता दिया कि गुणों का प्रादुर्भाव पूर्व जन्म से है और यह भी बता दिया कि चूँकि मेरी माया भिन्न-भिन्न गुणों वाली है इसलिये इस चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई। एक वर्ण की सृष्टि क्यों नहीं हुई? उसका जवाब दिया कि चूँकि मेरी माया में तीन गुण हैं इसलिये चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई। आजकल प्रायः लोग कहते हैं कि एक ही जाति क्यों नहीं मानी जाती? इसका सटीक जवाब भगवान् ने यहाँ दे दिया।

जो लोग एक जाति मानते हैं उनके अन्दर भी कुछ लोग शान्त स्वभाव वाले होते हैं, कुछ ऐश्वर्यप्रधान स्वभाव वाले, कुछ धन आदि चीज़ों की कामना के स्वभाव वाले और कुछ लोग आलस्य, निद्रा आदि को ही अच्छा मानते हैं। जहाँ एक जाति मानते हो वहाँ भी ये भेद देखने में आते हैं। अभी तक कोई जाति ऐसी नहीं मिली जिसके अन्दर ये भिन्न-भिन्न गुण न देखने में आयें। चूँकि ये भिन्न-भिन्न गुण देखने में आते हैं अतः भगवान् ने कहा कि जो चातुर्वर्ण्य की सृष्टि है वह मेरी प्रकृति के कारण और लोगों के संस्कारों के कारण है। प्राणियों के अपने-अपने कार्य के अनुरूप ही कर्मादिकों का प्रविभाग किया है। सात्त्विक प्रकृति वाले के जितने कर्म बतायेंगे वे तो सारे वही होंगे जो उसकी शांति के अनुरूप होंगे। ऐश्वर्य वाले के वे कर्म बताये जो उसके अनुरूप होंगे। शांति के स्वभाव वाले को ऐश्वर्य-कर्म में लगा दोगे तो वह उसे भली भाँति कर ही नहीं सकेगा क्योंकि उसे उनको करने के संस्कार ही नहीं हैं। एक आदमी नया-नया ईसाई बना था। बस में धक्का-मुक्की हो रही थी। उसने

कुछ कह दिया तो सामने वाला तगड़ा पंजाबी था, जिसने उसे एक चाँटा मार दिया। उसने सोचा कि क्राइस्ट ने कहा है कि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके आगे कर दो। पंजाबी ने दूसरे गाल पर भी थप्पड़ मार दिया! वह ईसाई बना हुआ आदमी भी तगड़ा था। उसने उस पंजाबी को चलती बस से बाहर फैंक दिया! किसी ने उससे पूछा 'तुम्हें यही करना था तो दूसरा थप्पड़ क्यों खाया?' उसने कहा 'चूँकि मैं ईसाई बन गया हूँ! हमारे शास्त्र में यह तो लिखा नहीं है कि कोई दूसरे गाल पर थप्पड़ मारे तो क्या करें। अतः दूसरे थप्पड़ के बाद तो मैं स्वतंत्र हूँ। इसलिये उसे बाहर फैंक दिया।' उसका स्वभाव शांति का या सहन करने का नहीं था। सनातन धर्म की यह विशेष बात लोग आजकल समझना नहीं चाहते। ईसा ने यह नहीं कहा कि शांत व्यक्तियों के लिये वह नियम है, उसने तो सभी अनुयायियों केलिये एक ही नियम बना दिया। सनातन धर्म यों सब तरह के लोगों को एक ढर्रे पर नहीं चलाता, स्वभाव के अनुसार धर्मों का विधान करता है। भगवान् ने जो कर्मों का प्रविभाग किया है उसके अनुसार जिसके जो जन्मान्तरकृत संस्कार हैं उसके अनुरूप ही आदमी चल सकता है, अन्यथा नहीं चल सकता।

शंका होती है कि यदि शास्त्र ने ब्राह्मण आदि के लिये तत्तद् कर्मों का विधान किया है तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि ये सत्त्वादि गुणों के अनुरूप प्रविभक्त है? समाधान है कि गुणों के विचार से पता लगता है कि शास्त्र ने ब्राह्मण आदि के सत्त्वादि गुणविशेष को दृष्टि में रखकर ही यह कर्म-प्रविभाग किया है। यह तो ठीक है कि शास्त्र ने ही ब्राह्मण के लिये विधान किया है, परन्तु शास्त्र ने जो इस प्रविभाग को किया है इसके अन्दर यह दृष्टि निहित है कि जो सत्त्वगुण आदि के व्यक्ति हैं वे ऐसा करें। गुणों की अनपेक्षा करके प्रविभाग नहीं किया है। इसलिये शास्त्र-प्रविभाग को भी भगवान् ने गुण-प्रविभक्त कह दिया है। शास्त्र ने भी गुणों को, स्वभाव को, सामने रखकर ही विभिन्न कर्म करने को कहा है। जो स्वयं शास्त्र को जानने वाले नहीं हैं, किसी को देखकर कर रहे हैं, उनके अन्दर भी कोई ब्राह्मणोचित कर्म वाले, कोई क्षात्र कर्म वाले और कोई वैश्य कर्म वाले देखे जायेंगे। इससे यह पता लग जायेगा कि उनकी श्रद्धा किसके अनुरूप हुई। वे भी तत्तद् गुणों को लेकर ही उन कर्मों को कर रहे हैं। शास्त्र ने तो ब्राह्मण के लिये विधान किया, परन्तु सत्त्वगुणी को उन कर्मों पर श्रद्धा होकर वह उनमें प्रवृत्त होता है। उसे देखकर यह समझ में आ जायेगा कि यह व्यक्ति सत्त्वगुणी प्रकृति वाला है। इस प्रकार से भगवान् ने शास्त्र-प्रविभक्त और गुण-प्रविभक्त दोनों बातों का जो समन्वय दिखा दिया है, वह समझने योग्य है।।४१।।

वे कर्म क्या हैं? इसे भगवान् बताते हैं –

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

ब्राह्मण जाति के स्वभावजन्य कर्म हैं – मनोनियन्त्रण, इन्द्रियनियन्त्रण, शारीरादि तप,

बाहर-भीतर सफाई, क्षमा, सीधापन, शास्त्रीय पदार्थों का ज्ञान, उन पदार्थों का अनुभव करना तथा शास्त्र पर श्रद्धा।

ब्राह्मण का कर्म ब्राह्मण के स्वभाव से होने वाला है। ब्राह्मण के स्वभाव से होने वाले कर्म कहकर भगवान् ने कह दिया कि किसी काल में यदि ब्राह्मण में रजोगुण, तमोगुण प्रधान होंगे तो उसके अनुरूप भी कुछ कर्म देखे जा सकते हैं परन्तु वे उसके स्वभावज कर्म नहीं हैं। किसी निमित्त के आ जाने से कुछ ऐसे कर्म कर लेता है परन्तु चूँकि वे उसके स्वभाव वाले नहीं हैं इसलिये वे उसमें स्थिर नहीं होते। पुराणों के अन्दर अनेक कथायें आती हैं जहाँ कहा है कि ब्राह्मण झट किसी गलती के ऊपर शाप दे देते हैं। उस कर्म को देखकर मन में होता है कि यह कर्म तो ब्राह्मण के कर्मों में नहीं गिना है। लेकिन आगे कहानी पढ़ोगे तो करीब-करीब हर कहानी में आयेगा कि शाप सुनकर सामने वाला हाथ-पैर जोड़ता है, माफी माँगता है तो फिर ऋषि उस शाप के दूर होने का उपाय बता देते हैं। यह जो उपाय उन्होंने तुरन्त बता दिया, यह उनका स्वभावज गुण है। क्रोध नैमित्तिक है, किसी की दुष्टता की प्रतिक्रिया है। सारी सृष्टि है तो त्रिगुणात्मक, इसलिये निमित्त से रजोगुण उद्बुद्ध हो गया, पर जैसे ही थोड़े समय में वह स्वभाव प्रकट हुआ वैसे ही क्षमा कर दिया। इसलिये ब्राह्मण के अन्दर यदि स्वभाव के विपरीत कोई दूसरा कर्म देखने में आये तो समझ लेना चाहिये कि वह उस के ब्राह्मण-स्वभाव के कारण नहीं, वरन् किसी निमित्त के कारण है। इससे यह भी समझ में आ जायेगा कि उन चीज़ों की नकल वह न करे जो उसके अन्दर श्रद्धा करके कर्म में प्रवृत्त हुआ है। इसलिये भगवान् ने सात्त्विक स्वभाव से होने वाले कर्मों को तो यहाँ गिनाया। इसके अतिरिक्त कादाचित्क कर्मों की बात यहाँ नहीं है। इससे यह शंका समाप्त हो जाती है कि उसमें स्वभावज कर्म से विपरीत कर्म कैसे देखे जाते हैं।

यहाँ ब्राह्मण के कर्मों में वृत्ति-कर्मों को छोड़ दिया है। ब्राह्मण के जो षट्कर्म बताये हैं उनमें तीन कर्म वृत्ति के कर्म हैं अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिये हैं। एक है वेद का पढ़ाना। वेद पढ़ा चुके तो शिष्य उसे दक्षिणा देता है। हमारे यहाँ पढ़ाई समाप्त होने पर दक्षिणा दी जाती है। वर्तमान पद्धति है कि पहले फीस दो तब पढ़ाया जायेगा। हमारे यहाँ ठीक इसके विपरीत है, पहले पढ़ाया जायेगा और तब दक्षिणा मिलेगी। उल्टा नहीं कि पहले दक्षिणा लाओ तब पढ़ाया जाये। वेद पढ़ाना ब्राह्मण का वृत्ति कर्म है जिससे उसे धन मिलेगा। इसी प्रकार से दूसरा कर्म है यज्ञ करवाना। कोई यज्ञ करना चाहता है तो ब्राह्मण वहाँ पुरोहित बनते हैं। उस कर्म से दक्षिणा प्राप्त होती है। वह भी वृत्ति कर्म है। तीसरा, कोई दान देता है तो उसे ग्रहण करना। वह भी वृत्ति कर्म है। इन तीनों वृत्ति कर्मों में से एक भी वृत्ति कर्म यहाँ भगवान् ने नहीं गिनाया है। उसका कारण यह है कि वृत्ति का अर्थ है कुछ प्राप्त करने के लिये जो कर्म किया जाता है और वह ब्राह्मण का *स्वभाव* नहीं है। शरीर को आवश्यकता है, उसकी आवश्यकता-पूर्ति के लिये उसको इन उपायों की अनुमति है। उसको आवश्यकता नहीं होगी तो उन कर्मों को करना ज़रूरी नहीं है। अतः वे ब्राह्मणस्वभाव के या सत्त्वस्वभाव

के कर्म नहीं है। परन्तु शरीर है और शरीर धारण के लिये भोजन आदि की अपेक्षा होती है, उसकी पूर्ति के लिये वह उन कर्मों को कर लेगा। वे स्वभावज के अन्तर्गत नहीं हैं। इसके द्वारा यह भी बता दिया कि जो केवल उसको देखकर उससे आकृष्ट होकर कर्म करने को चला है वह भी पौरोहित्य आदि कर्म न करने लग जाये कि 'हमने सात्त्विक स्वभाव को अपनाया है तो हम भी पौरोहित्य कर्म कर लें।' भगवान् नें यहाँ स्वभावज कर्म बताकर स्पष्ट कर दिया कि वृत्ति कर्म ब्रह्मस्वभावज नहीं हैं। आगे भी देखोगे कि क्षत्रिय के कर्मों में भी वृत्ति की प्रधानता नहीं है। वैश्य के जितने कर्म गिनायेंगे वे तो सारे वृत्ति कर्म हैं क्योंकि वैश्य तमोगुण से उपहित रजोगुण वाला है। रजोगुण चूँकि राग वाला है इसलिये वह जो कर्म करेगा वह वृत्ति के लिये ही करेगा। उसे यदि वृत्ति की प्राप्ति की आशा नहीं होगी तो वह प्रवृत्ति नहीं करेगा। इसलिये भगवान् ने वैश्य और शूद्र के अन्दर वृत्ति-प्रधानता प्रकट की और ब्राह्मण व क्षत्रिय में वृत्ति की गौणता रखी। ब्राह्मण में तो वृत्ति का नाम ही नहीं लिया। इसके द्वारा स्पष्ट कर दिया कि रजोगुण और तमोगुण के बिना वृत्ति आती ही नहीं, रजोगुण आने पर ही वृत्ति की प्रधानता है।

ब्राह्मण के द्वारा जो कर्मानुष्ठान होना चाहिये वह ब्रह्मकर्म है। ब्राह्मण जाति के द्वारा इन कर्मों का अनुष्ठान अवश्य ही किया जाना चाहिये। पहला कर्म शम है। शम, मन को अनात्म पदार्थों की तरफ नहीं जाने देना। स्वरूप से च्युत होना विक्षेप है और स्वरूप में स्थिर रहना शान्ति है। आत्मा का अनात्म पदार्थों की तरफ प्रवृत्त होना स्वरूप से भिन्न तरफ जाना है अतः विक्षेप है। और आत्मा की तरफ जाना स्वरूप में स्थिर रहना है इसलिये शान्ति है। शम अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित रहते हुए मन का अनात्मा की तरफ नहीं जाना। आत्मा स्वयं तो कभी अनात्मा की तरफ जाता नहीं है परन्तु आत्मा मन के जाने को देखकर अपने अन्दर अज्ञान से मान लेता है। यह जो मान लेना है इसी का नाम बन्धन है। वास्तविक बन्धन तो आत्मा का कभी नहीं है। ब्राह्मण का सबसे पहला कर्म शम बताया और वह मन आत्मा की तरफ निरन्तर प्रवहित रखने से ही होता है। इसलिये मनु महाराज ने कहा है 'वेदाभ्यासे शमे चैव आत्मज्ञाने च यत्नवान्' अर्थात् ब्राह्मण सारे कर्मों को छोड़कर भी वेदाभ्यास, शम और आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न वाला बने, इन तीन का ही निरन्तर अभ्यास करे। यह ब्राह्मण के कर्मों में प्रधान है।

अगला कर्म दम है। इन्द्रियों को उनके तत्तद् विषय की तरफ प्रवृत्त न होने देना। यद्यपि पहले मन का नियंत्रण कहने से लगता है कि इन्द्रियों का भी उसी में अंतर्भाव होना चाहिये तथापि भगवान् ने पहले भी कहा है कि कामनायें मन में भी रहती हैं और इन्द्रियों में भी रहती है। कामना अनात्म विषयों की है, वह मन में भी है और इन्द्रियों में भी है। इसलिये न केवल मन को ही रोकना ज़रूरी होता है, इन्द्रियों को रोकना भी ज़रूरी होता है। कामना के अधिष्ठान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तीनों ही हैं। अतः दम भी आवश्यक है। तीसरा कर्म तप है। अपने धर्म का आचरण करने में चाहे जितना कष्ट आये उसको सहन कर लेना तप है। भगवान् पहले

शरीर, वाणी और मन तीनों के तप बता आये हैं। शरीर का तप बताया था कि देवता, ब्राह्मण गुरु और ब्रह्मज्ञानी का पूजन करना शारीरिक तप है। सरलता का व्यवहार रखना, धोखाधड़ी का काम नहीं करना आदि सब तप के अन्तर्गत हैं। शौच, मन से राग–द्वेष हटाकर उसकी शुद्धि करना और जल इत्यादि के द्वारा शरीर की शुद्धि करना, इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही शौच यहाँ विहित हैं। क्षांति, सहन कर लेना। चाहे कोई जितना अपमान या ताडन करे, सबको सहन कर लेना। आर्जव, सरलता का व्यवहार करना। ज्ञान, वेदों का ज्ञान। वेदों के कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड उपनिषद् का ज्ञान होना। विज्ञान, कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करने का अनुभव होना और ब्रह्मसाक्षात्कार करना। ज्ञान अर्थात् शास्त्रज्ञान और विज्ञान अर्थात् अनुभवरूप ज्ञान। कई कार्य ऐसे होते हैं कि जब तक करो नहीं तब तक नहीं आते। जैसे शास्त्र कह देगा कि अग्नि को जलाकर फिर आहुति दो। शास्त्र में यह नहीं लिखा है कि अग्नि कैसे जलानी है। अतः कोई नवीन पुरोहित होता है तो उस आग में से धुआँ ही धुआँ निकलेगा, लपट निकलेगी ही नहीं! वह बेचारा कोशिश ही करता रहेगा लेकिन कुछ नहीं होगा क्योंकि उसे अनुभव नहीं है कि किधर से हवा नहीं लगानी आदि। सब चीज़ों का ठीक–ठीक ज्ञान होगा तब अग्नि ठीक से प्रज्वलित होगी। आस्तिक्य, वेद आदि शास्त्र जो कहते हैं, वह ठीक ही है – इस प्रकार सब में अस्ति बुद्धि होना ही आस्तिक्य है। अन्यथा 'शास्त्र तो कहता है लेकिन पता नहीं ठीक है या नहीं?' ऐसी बुद्धि हो जाती है। शास्त्र में जैसा कहा है वैसा ही सत्य है – ऐसा निश्चित होना आस्तिक्य है। इन सबको ब्राह्मण के स्वभावज कर्म कहा है। क्योंकि ये ही उसके लिये आवश्यक हैं इसलिये क्षुद्र जो कामनापूर्ति, उसके लिये ब्राह्मण का शरीर है ही नहीं यह मनु ने स्पष्ट किया है।

शम आदि मुमुक्षुमात्र केलिये कर्तव्य हैं। सोलहवें अध्याय में भगवान् ने दैवी सम्पत्ति में जो गिना वह मुमुक्षुओं के लिये आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। गुणों के विचार के साथ मिलाने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण के लिये तो ये कर्म स्वभावज हैं अर्थात् उसका चूँकि सात्त्विक स्वभाव है इसलिये वह तो उन्हें बिना ज़्यादा परिश्रम के सिद्ध कर लेता है। दूसरों के लिये अर्थात् जिनका सात्त्विक स्वभाव नहीं है वे प्रयत्न करके इन कर्मों को कर पाते हैं। ब्राह्मण के लिये ये कर्म सरल हैं क्योंकि पूर्व जन्म के इस प्रकार के संस्कारों के कारण ही उसे ब्राह्मण शरीर मिला है। दूसरे क्षत्रिय, वैश्य आदि के लिये भी ये कर्तव्य हैं ही। यह कर्तव्य सबके लिये है इसका पता कैसे लगे? शास्त्रों ने इन सब कर्मों को मनुष्यमात्र के सामान्य धर्मों में गिना है। महर्षि गौतम ने आत्मा के अष्ट गुणों में 'दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिः, अनसूया, शौचम्, अनायासो, मङ्गलम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा' – ये गिने हैं। सारे प्राणियों के ऊपर दया करना, सहनशील होना, अनसूया (दूसरों के दोषों से दृष्टि हटा कर उनके गुणों की तरफ दृष्टि करना और जहाँ स्वभाव से गुण हैं वहाँ तो हर हालत में दोषदर्शन नहीं ही करना), शुद्धि से रहना, अनायास (किसी भी प्रकार के व्यर्थ आयास या परिश्रम से बचना)। इसलिये शास्त्रकारों ने अनायास का रूप बताया,

'शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनाऽपि कर्मणा।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यम् अनायासः स उच्यते।।'

शुभ कर्म ही नहीं, अत्यंत शुभ कर्म करने से भी यदि शरीर को अत्यधिक पीडा होती हो तो वह कर्म नहीं करना चाहिये। चूँकि शास्त्रकारों न अनायास को कर्तव्य बताया है इसलिये गौतम महर्षि ने भी आत्मगुणों में अनायास को गिना है, मांगलिक कार्यों को करना, जिन आचरणों को शिष्ट लोग प्रशस्त या प्रशंसा के योग्य समझते हैं। हमेशा अपना आचरण ऐसा करे कि शिष्ट लोग उसकी प्रशंसा करें। प्रशंसा के योग्य आचरण हमेशा करना और जो प्रशंसा के योग्य नहीं है उनसे बचकर रहना। गौतम आदि महर्षि भी इसी को मंगल कहते हैं। अकृपणता होना अर्थात् धन आदि का सत्कर्मों में विनियोग हो रहा हो तो वहाँ किसी प्रकार की रुकावट को पैदा नहीं करना। कृपणता का सामान्य अर्थ लोग कंजूसी कर लेते हैं परन्तु उस आर्थ में यह तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। धन को न खर्चने मात्र से अकार्पण्य नहीं है वरन् सत् कार्य में ही धन खर्च करना, अन्यत्र नहीं करना अकार्पण्य का रूप है। अस्पृहा – विषयों को देखकर मन में यह न आना कि 'अमुक विषय मेरा हो'। गौतम महर्षि ने ये आठों गुण प्रत्येक पुरुष केलिये कर्तव्य बता दिये।

विष्णु स्मृति में भी कहा है

'क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया।
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते।।'

क्षमा – चाहे कोई तुम्हारे प्रति जितना आक्रोश या ताडन करे उसको सहन कर लेना और उसके बदले में उसको दण्ड नहीं देना। सत्यं– प्राण जाने की नौबत आये तब तक असत्य का, आचरण नहीं करना। दमः – मन का निरोध करना। शौचं – शुद्धि से रहना। दानम् दान करना। इन्द्रियसंयमः – इन्द्रियों का संयम रखना। अहिंसा – किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना। गुरुशुश्रूषा– गुरु की सेवा करना। तीर्थ आदि में जाना। दया– प्राणिमात्र के दुःख को दूर करने की चेष्टा करना। आर्जव– हमेशा कपट–रहित व्यवहार करना। लोभशून्यत्व– सत् कार्य में धन खर्च करने की इच्छा रखना। देवता, ब्राह्मणों का पूजन करना। अनभ्यसूया– किसी भी प्रकार से किसी के गुणों में दोषदर्शन नहीं करना। किसी में सौ दोष हैं। और एक गुण हो तो उसके गुण की तरफ दृष्टि करो, सौ दोषों की तरफ दृष्टि मत करो। इन गुणों को भगवान् विष्णु ने सामान्य धर्म बताया है, सभी के लिये कर्तव्य हैं।

इसी प्रकार बृहस्पति ने भी कहा है –

'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायास मंगलम्।
अकार्पण्यम् अस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च।।'

ये सभी धर्म साधारण अर्थात् सबके लिये एक जैसे हैं – दया करना, क्षमा अनसूया, शौच, मंगल, अकार्पण्य (जिसको पहले लोभ-शून्यता कहा), स्पृहा नहीं करना। इन सबको बृहस्पति जी ने साधारण धर्म कहा है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ऋषियों ने सबके लिये जो धर्म कहे हैं, वे सब इन ब्रह्मकर्मों में आ जाते हैं। महाभारत में भी कहा है :-

'सत्यं दमः तपः शौचं, संतोषो ह्रीः क्षमार्जवम्।
ज्ञानं शमो दया ध्यानम् एष धर्मः सनातनः।।'

सत्य, इन्द्रियों का निरोध, तप, शुद्धि रखना, जितना अपने को अपने कर्म से प्राप्त होता है उतने में ही संतुष्टि होना और उससे अधिक प्रवृत्ति नहीं करना, ह्री अर्थात् बुरे काम को करने की प्रवृत्ति का न होना, सीधापन, ज्ञान, हमेशा शांति का अभ्यास करना, दया, परमात्मा का ध्यान आदि सब सनातन धर्म हैं, हमेशा किये जाने वाले धर्म हैं। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न आचार्यों ने जो सामान्य धर्म बताये हैं वे ब्रह्मकर्म के अन्तर्गत आते हैं। जैसा मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यह है तो दैवी सम्पत् ही, फ़र्क इतना है कि ब्राह्मण के अन्दर तो ये स्वभाव से होते हैं, दूसरों के अन्दर निमित्त से या प्रयत्न से होते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये इन्हें मानकर शूद्र के लिये ये स्वाभाविक नहीं हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। क्षत्रिय को सत्त्व उपसर्जन होकर रजोगुणी कहा है इसलिये उसकी सात्त्विक प्रवृत्ति हो सकती है। चूँकि ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों में सत्त्वगुण है इसलिये भगवान् ने पहले भी 'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा' ब्राह्मण और क्षत्रिय को अलग गिना था। बाकियों के अन्दर सत्त्वगुण नहीं होने से उनमें ये धर्म स्वाभाविक नहीं होते। यह बात ठीक है। परन्तु उनमें सत्त्वगुण है ही नहीं – ऐसी बात भी नहीं है। इसलिये शूद्र के लिये भी ये कर्तव्य हैं। उसको भी प्रयत्नपूर्वक सत्य का पालन करना चाहिये। किसी भी परिस्थिति के अन्दर क्रोध न करे। पवित्रता से रहे। हम लोग मंत्र बोलकर आचमन कर लेते हैं, उसके लिये हाथ-पैर को धो देना मात्र आवश्यक है। अपने पितरों का श्राद्धकर्म करना शूद्र का भी कर्म है। जो उसके नौकर-चाकर हैं उनकी ठीक प्रकार से देख-रेख करना, अपनी पत्नी के सिवाय और किसी की तरफ दृष्टि नहीं करना और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सेवा करना आदि शूद्र के लिये भी विधान किया गया है। सत्य, अक्रोध, शौच आदि सब उसके लिये भी कर्तव्य कहे गये हैं। अतः ये जितने कर्म ब्राह्मण के लिये स्वभावज कहे हैं, इन्हें दैवी गुणों में गिनाया गया है जो ब्राह्मण के लिये स्वभाव है, दूसरों के लिये प्रयत्न-साध्य हैं।।४२।।

अब राजा अथवा क्षत्रिय के कर्म बताते हैं –

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

क्षत्रिय जाति के स्वभावजन्य कर्म हैं – शूरता, तेजस्विता, धैर्य, कुशलता, युद्ध से भागना नहीं, मुक्तहस्त दान करना और अपनी शक्ति प्रकट करना।

क्षत्र क्षत्रिय को कहते हैं। उसको क्षत्रिय इसलिये कहते हैं 'क्षतात् त्रायत इति' कहीं भी किसी का नुक्सान हो रहा हो, वह उसे बचाता है। क्षत्रिय रजोमिश्रित सत्त्व वाला होने से उसकी प्रवृति हमेशा दूसरे की रक्षा के लिये ही है। यह उसमें स्वभाव से है। चूँकि दूसरे की रक्षा इसके अन्दर प्रधान है, अतः जिनको वृत्ति धर्म कह सकते हैं वे यहाँ भी भगवान् ने नहीं गिनाये जैसे ब्राह्मण के वृत्ति धर्म नहीं गिनाये। क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं – शौर्य, चाहे जितना विरोधी का ज़ोर हो, उससे बिलकुल बिना घबड़ाये हुए उसके साथ युद्ध करने के लिये तैयार होना शूरता है। केवल लड़नामात्र शौर्य नहीं है, बल्कि सामने विपक्ष चाहे जितना ज़ोरदार दीखता हो, फिर भी बहादुर व्यक्ति कभी पीछे नहीं हटता। जैसे ब्राह्मण के कर्मों में सबसे पहले शम गिनाया था वैसे ही यहाँ सबसे पहले शूरता गिनाई है क्योंकि यदि शूरता नहीं है तो बाकी चीज़ों में सफल नहीं हो पाता। तेज अर्थात् प्रगल्भता, किसी भी परिस्थिति के अन्दर दूसरे से पराभूत नहीं होना। मोटी भाषा में, दूसरे से दबना नहीं। बड़ा प्रसिद्ध दृष्टांत है कि जिस समय अलक्षेन्द्र ने पुरु को पकड़ लिया तो उससे पूछा कि 'तुम्हारे साथ क्या व्यवहार किया जाये?' पुरु ने जवाब दिया। 'एक राजा का दूसरे राजा के साथ जो व्यवहार होता है वह मेरे साथ करो।' इसी प्रकार अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनके अन्दर बड़े-बड़े राजाओं ने इस प्रकार की प्रगल्भता का परिचय दिया है। हारे हुए हैं, बँधे हुए भी हैं पर इनका तेज दबता नहीं।

पृथ्वीराज चौहान में ये शौर्य और तेज दोनों देखने को मिलते हैं। सत्रह बार मोहम्मद गोरी को हराया। उसने हर बार क्षमा माँगी तो पृथ्वी राज ने छोड़ दिया। अंत में पकड़े गये और उनको अन्धा कर दिया गया था। चन्दवरदाई, जो उनका सभा-पण्डित था, वेश बदलकर वहाँ पहुँचा और अपने को ज्योतिषी और मांत्रिक बताकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। मोहम्मद गोरी के पास भी उसकी प्रसिद्धि पहुँची, लोग उसके पास ले गये। उसकी बेगमें भी वहाँ पहुँची, किसी बात के प्रसंग में चन्दवरदाई ने बताया कि 'जिस पृथ्वीराज को तुमने पकड़ रखा है वह बाण चलाने में इतना कुशल है कि सात-सात मन के तवे टँगे हों तो वह उन सब को एकसाथ भेद सकता है।' उन्हें यह बात नहीं जँची। उसने कहा – 'तुम्हें नहीं जँचता, लेकिन रख कर देख लो कि वह ऐसा कर सकता है या नहीं।' बेगमों ने बादशाह से कहा तो उसने सोचा कि यह तो देखने लायक कर्तब होगा। मुहम्मद ने कहा – 'लेकिन उसकी तो आँखें निकाल दी गई हैं!' चन्दवरदाई ने कहा 'वह तो शब्दवेधी बाण मारता है, इसलिये उन तवों का टँकारा बजाते ही वह सब को बाण से बींध देगा।' सब देखने को तैयार हो गये, बादशाह भी वहाँ पहुँचा। पृथ्वीराज को पहले कई धनुष दिये गये, जैसे ही वह उसे पकड़ता था वह धनुष टूट जाता था। अंत में उसे उसका अपना धनुष दिया गया। इसी बीच चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज को एक गुप्त संदेश दे दिया कि बादशाह इतनी दूरी पर बैठा है जिससे उनको एक अंदाज़ मिल गया कि वह कहाँ बैठा है। जब उन तवों का टंकारा किया तो उनका बाण सातों तवों को फोड़ता हुआ निकल गया। अब मोहम्मद गोरी से नहीं रहा

गया और उसके मुँह से निकल गया 'शाबाश'। उन्हें संकेत तो पहले ही कर दिया गया था कि बादशाह कितनी दूरी पर बैठा है और अब 'शाबाश' यह आवाज़ सुनते ही दूसरा बाण उसके मुख पर मारा और वह मर गया क्योंकि बाण शब्दवेधी था। अब पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से कहा। 'तू जल्दी से मेरा सिर काट दे, नहीं तो ये लोग कई तरह की यन्त्रणायें देंगे।' उसने कहा 'मैं राजा का सिर कैसे काट सकता हूँ!' पृथ्वीराज ने कहा – 'अब बात करने का समय नहीं है। मेरा सिर कटने के बाद मैं भी तेरा सिर काट दूँगा।' इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे को मार दिया। इसका नाम तेज है कि किसी भी परिस्थिति में दबे नहीं और शूरता तो है ही।

धृति, धैर्य, सभी अवस्थाओं के अन्दर कभी भी अवसन्न नहीं होना। 'अब मेरे से यह नहीं हो सकता' ऐसी परिस्थिति कभी नहीं आने देना। ऐसे व्यक्ति के अन्दर धृति से हमेशा ही कार्य करने की तरफ प्रवृत्ति बनी रहती है। दाक्ष्यम् – दक्षता। कार्य सामने आने पर ठीक ढंग से प्रवृत्ति कर लेने की क्षमता होना दक्षता है। युद्ध करने में सामने वाला कब कौन-सा अस्त्र मारेगा, कोई ठिकाना नहीं। ठीक उसी समय सोच लेना है कि किस अस्त्र से इस अस्त्र को दबाया जा सकता है। ऐसा सोचकर तुरन्त उस अस्त्र को चलाना दक्षता होने पर ही होगा। यह भी क्षत्रिय के लिये स्वाभाविक कर्म है। युद्धे चाप्यपलायनं – युद्ध से कभी भी भागना नहीं। हमेशा छाती पर बाण खाकर मरना चाहिये, पीठ पर बाण खाकर नहीं। युद्ध से किसी भी परिस्थिति में पलायन नहीं करना, अर्थात् वहाँ से भागना नहीं। दानम्, दान देने में मुक्तहस्तता अर्थात् खुले हाथ से देना। अनेक बार ऐसी परिस्थिति होती है कि देना भारी होता है परन्तु फिर भी जो क्षत्रिय होगा वह देगा ही। रघु के बारे में प्रसिद्ध है कि वे एक बार सर्वस्वदान कर चुके थे। यहाँ तक कि अपने कपड़े और बर्तन भी दान कर चुके थे। इसलिये मिट्टी का कुल्हड़ लेकर संध्यावन्दन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारी पहुँचा। उनकी हालत देखकर वापिस जाने लगा। रघु ने पूछा 'वापिस क्यों जा रहे हो?' उसने कहा – 'मुझे काफी धन चाहिये। आपकी हालत तो वैसे ही ढीली हो रही है।' फिर भी रघु ने कहा – 'बताओ, कितना धन चाहिये?' उसने कहा – 'मुझे चौदह करोड़ रत्न चाहिये, इसलिये आपके पास आया था।' रघु ने कहा –'तुम यहाँ रुको, मुझे दो-चार दिन का समय दो।' सोचने लगा – 'ब्रह्मचारी माँगने आया है, देना ज़रूरी है। पास में अब कुछ नहीं है। प्रजा के ऊपर कर नहीं लगाना चाहिये क्योंकि प्रजा पहले यज्ञ आदि केलिये काफी दे चुकी है।' वे चक्रवर्ती राजा थे इसलिये पृथ्वी में कोई जगह नहीं बची थी जिस पर उनका राज्य न हो, सर्वत्र उनकी ही प्रजा थी। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने निर्णय किया 'मैं देवराज इन्द्र पर चढ़ाई करके वहाँ से धन लेकर आऊँगा।' प्राचीन राजाओं और आजकल के राजाओं में यही फ़र्क है। आजकल के राजा होते तो कहते कि पाँच-दस प्रतिशत कर या अधिभार और लगा दो! आज़ादी के पचास साल बाद अब इन्हें स्वप्न आया कि लोगों की पढ़ाई-लिखाई में जितना खर्च करना चाहिये था नहीं किया, इसलिये अब इस काम के लिये दो प्रतिशत टैक्स और बढ़ा दिया। प्राचीन राजा कहीं से लाकर

जनता को देते थे। दान वैसे तो सबके लिये कहा गया है, लेकिन क्षत्रिय के अन्दर दान करने की मुक्तहस्तता होती है।

ईश्वरभावः – जो अधर्म का आचरण करते हैं उनको दण्ड देते समय अपनी प्रभुशक्ति को प्रकट करना अर्थात् दण्ड देने में कभी पीछे नहीं हटना। जिनके ऊपर शासन करना है उन्हें अपराध करने पर दण्ड देना, यह ईश्वरभाव है। जैसे परमेश्वर पापियों को पाप का दण्ड देता ही है और पुण्यात्मा को पुण्य का पुरस्कार देता ही है इसी प्रकार ईश्वर का भाव होने के कारण जो क्षत्रिय होता है वह अधर्माचरण करने वाले को दण्ड देता ही है। ये क्षत्रिय जाति के स्वभावज कर्म हैं। उसके लिये इन सब कर्मों का विधान भी इसीलिये किया गया है। स्वभाव के अनुसार ही शास्त्र ने कर्मों का प्रविभाग किया है। जैसा पहले भी बताया था, क्षात्र कर्मों के अंदर वृत्ति के कर्मों को नहीं गिना। इसलिये प्रजा से कर आदि लेना इन कर्मों में नहीं गिना। वह आवश्यकता को लेकर है, विहित कर्म के अन्तर्गत ज़रूरी नहीं है।।४३।।

भगवान् ने चातुर्वर्ण्य को बताना शुरू किया। चार प्रकार के पुरुषार्थ शास्त्रों में बताये हैं – मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम। इनमें से पहले दो शास्त्रप्रधान हैं। मोक्ष के विषय में भी शास्त्र ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा मोक्ष का पता नहीं लगता। इसी प्रकार से धर्म के विषय में भी शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि धर्म का पता प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं लगता। इसलिये वेद को समझाने वाले दो ही शास्त्र हैं – कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा। कर्म को बताने वाली कर्ममीमांसा और मोक्ष को बताने वाली ब्रह्ममीमांसा है। श्रद्धा की अधिकता होने पर ही मोक्ष और धर्म का मार्ग सफल होता है। इसलिये धर्ममीमांसा के अन्दर भी जहाँ अधिकारी बताया है वहाँ श्राद्ध पुरुष अर्थात् श्रद्धा वाला पुरुष ही बताया और मोक्ष के लिये अधिकारी का विचार किया तो वहाँ भी श्रद्धा को साधन-चतुष्टय में लिया गया। मोक्ष के अन्दर केवल श्रद्धामात्र न कह कर शास्त्र ने कहा 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' अर्थात् श्रद्धारूपी धन जिसके पास है वही मोक्ष का अधिकारी होता है अन्यथा नहीं। कर्माधिकार के अन्दर तो श्रद्धा के साथ दूसरी चीज़ें भी बराबर के जैसी ही हैं। सामर्थ्य होनी चाहिये, उसके लिये उस कर्म का निषेध नहीं होना चाहिये, विद्वान् होना चाहिये कर्म को जानने वाला होना चाहिये – इत्यादि सब के साथ श्राद्ध अर्थात् श्रद्धा वाला होना चाहिये, यह भी कहा है। परन्तु मोक्ष के मार्ग में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' कहा, अन्य साधनों को 'वित्त' नहीं कहा है। जब तक वेदान्त वाक्यों पर पूर्ण श्रद्धा नहीं होगी तब तक उससे होने वाला ज्ञान प्रमा के रूप में स्वीकृत नहीं होगा। वह प्रमा, यथार्थ ज्ञान है इसका पता अन्य किसी साधन से नहीं लग सकता। यह यथार्थ ज्ञान है – ऐसे बिना श्रद्धा हुए और किसी प्रकार से जानने का साधन नहीं है। इसलिये ब्रह्म को औपनिषद पुरुष भी कहा है, जो उपनिषद् से ही जाना जा सकता है, और कोई उपाय उसको जानने का है ही नहीं। धर्म और मोक्ष दोनों में श्रद्धा की अत्यंत आवश्यकता है। यह आवश्यकता ब्राह्मण में पूर्णरूप से है क्योंकि वह सत्त्वप्रधान है, सात्त्विक है। क्षत्रिय के अन्दर भी वह मौजूद है क्योंकि उसमें सत्त्व गौण रूप से और रजोगुण प्रधान रूप से है। इसलिये ब्राह्मण के जो कर्म बताये वे

सारे-के-सारे मोक्ष मार्ग में उपयोगी हैं। पहले भी संकेत किया था कि जब-जब किसी में सत्त्वगुण आयेगा तब-तब ब्राह्मण के जो कर्म यहाँ कहे हैं ये सारे उसमें आने लगेंगे। अतः मुमुक्षुमात्र के लिये ये कर्तव्य हैं।

क्षत्रिय के कर्म प्रधानतः हैं कि किसी भी व्यक्ति के कष्ट में होने पर उसका संरक्षण करना, सामने उपस्थित कार्य का तुरन्त समाधान करने की योग्यता होना, देने में मुक्तहस्त होना, दण्ड के योग्यों को निश्चितरूप से बिना किसी भेदभाव के दण्ड देना। ये सभी कर्म-मार्ग में उपयोगी हैं। कर्ममार्ग अर्थात् धर्म। धर्म वही कर सकेगा जिसके अन्दर ये गुण हैं। अतः क्षत्रिय कर्मप्रधान और ब्राह्मण मोक्ष-प्रधान हुआ।

वैश्य तमोगुण से युक्त रजोगुणी है। अतः इसके अन्दर सत्त्वगुण की मौजूदगी नहीं होने से श्रद्धा की पूर्णता नहीं होती। यह हमेशा वर्तमान दृष्टि से पदार्थों की तरफ ही जाता है। अतः वैश्य अर्थप्रधान है। शूद्र में रजोगुण भी गौण होने से और तमोगुण की पूर्णता होने से उसमें केवल कामभोग ही है। इसलिये भगवान् दोनों को अर्थ-प्रधान और काम-प्रधान रूप से बताते हैं –

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

खेती करना, पशुपालन, व्यापार – ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। शूद्र का भी स्वभावजन्य कर्म परिचर्यारूप (सेवारूप) है।

स्वभावज कर्म अर्थात् जो स्वभाव से होते हैं। प्रयत्न करके दूसरे हो जायें, परन्तु जो पूर्व जन्म में उसने किये हैं और जिन संस्कारों की प्रबलता के साथ वह पैदा हुआ है, वही कर्म प्रधान रहेंगे। वैश्य के स्वभावज कर्मों में अर्थोपार्जन के तीन प्रधान साधन बता दिये – कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य। ज़मीन का कर्षण करके जो प्राप्त किया वह कृषि है। कर्षण अर्थात् खोदना, यह अर्थोपार्जन का साधन सभी जगह है। खेती करना अर्थात् पृथ्वी से अर्थ की प्राप्ति करना। गौरक्ष्य, गाय की रक्षा करना। गाय से उपलक्षित सभी प्रकार के पशुओं को ले लेना। पृथ्वी और पशु से अर्थोपार्जन के उपाय वैश्य-धर्म हैं। वाणिज्य, व्यापार करना, जो चीज़ें मनुष्य ने पैदा की हैं उनके द्वारा अर्थ का उपार्जन करना व्यापार है। अर्थोपार्जन के ये तीन ही साधन सामान्यतः सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। आदमी या ज़मीन से कमाता है या जानवरों से अथवा दूसरे आदमियों की मेहनत से कमाता है। तीनों का यहाँ भगवान् ने संक्षेप से संकेत कर दिया। यद्यपि धर्मसूत्रों में ब्याज कमाने को भी वैश्य के अर्थोपार्जन के कर्मों में गिना है तथापि भगवान् ने उसे यहाँ नहीं गिना है। उसकी उपलक्षणा कर सकते हैं, अथवा इन तीन में तो कर्म करना पड़ता है और ब्याज लेने में तो चूँकि कर्म कुछ करते नहीं, केवल जमा-खर्च करके ही सारा धन कमाया जाता है, इसलिये उसे भगवान् ने यहाँ ग्रहण नहीं किया है। ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। ये तीनों भगवान् ने बताये हैं जो दृष्ट

फल देते हैं। कृषि भी दृष्ट फल देती है, पशु-पालन भी दृष्ट ही फल देता है, और वाणिज्य भी दृष्ट ही फल देता है। इसलिये इन तीन कर्मों को करने के लिये श्रद्धा या सत्त्वगुण की अपेक्षा नहीं रहती। ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं।

जहाँ सत्त्व प्रधान था वहाँ तो भगवान् ने इहलौकिक फलों की प्राप्ति के साधनों को नहीं गिना परन्तु जहाँ सत्त्वगुण नहीं है अतः श्रद्धा का अतिरेक नहीं है, वहाँ भगवान् ने अर्थ को प्रधान करके इहलोक में जिसका फल मिलता है उसको ही गिना है। सामान्यतया भी देखोगे कि जो अध्यापन करने वाले हैं उनको कभी बहुत धन तो प्राप्त होगा नहीं। इसी प्रकार जो ठीक ढंग से राज्य व्यवस्था चलाने वाले हैं उनको भी खास धन प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये ये दोनों जब अर्थ-प्रधान होते हैं तब अपना काम ठीक ढंग से नहीं करते, जैसा भारतवर्ष में अब हो रहा है। अध्ययन कराने वाले ट्यूटोरियल स्कूल चला कर पैसा कमाते हैं, उसके द्वारा धन प्राप्त करते हैं। अथवा कुछ लोग पैसा लेकर पास कर देते हैं अथवा प्रमाणपत्र दिला देते हैं। वे सब गलत ढंग के कार्य हैं। अपने लिये उचित काम करके अधिक अर्थोपार्जन नहीं कर सकते। इसी प्रकार राज्य-व्यवस्था चलाने वालों को भी अधिक धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः वे जब अर्थप्रधान होंगे तब अपने कर्म को पहले छोड़ेंगे। घूस लेकर कार्य करते हैं क्योंकि शासनकर्म सही तरह करें तो अधिक धन मिल नहीं सकता। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि धन की तरफ जायेंगे तो ज़रूर गलत तरीकों को अपनायेंगे।

वैश्य को गलत तरीका अपनाने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि वह यदि खेती, पशु-पालन और व्यापार नियम से करता है तो उसे खूब अर्थ की प्राप्ति होगी, उसको किसी प्रकार के गलत ढंग को अपनाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। अतः वैश्यों के लिये भगवान् ने जिन कर्मों का विधान किया उनसे उन्हें अर्थ की प्राप्ति होगी, उनको गलत तरीके अपनाने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि आगे भगवान् को बताना है कि अपने-अपने कर्मों को करके मनुष्य मोक्ष तक पहुँच जाता है इसलिये भगवान् ने बता दिया कि वह स्वभावज कर्मों को या अर्थप्रधान कर्मों को करते हुए भी रह सकता है। उसके लिये ज़रूरी नहीं कि वह शास्त्रविरुद्ध मार्ग में जाये।

शूद्र तमोगुणी है, वह सिवाय कामभोग के दूसरी किसी चीज़ को नहीं चाहता। अतः वह किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अन्तर्गत रहकर ही ठीक प्रकार से कार्य करेगा। अन्यथा जहाँ दो पैसा अर्जित किया वहाँ ठर्रा पीकर मस्त हो जाता है! जब खाने को पैसा नहीं रहेगा तब काम पर आ जायेंगे। अतः ऐसे लोगों को स्वतंत्र काम करने के लिये छोड़ने से उनकी प्रगति नहीं होगी। इसीलिये भगवान् ने कहा कि शूद्र का स्वभाव से होने वाला कर्म तो परिचर्या ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उसको धर्म-मार्ग में काम करने को कहेंगे, अधर्म-मार्ग में काम करने को नहीं कहेंगे। इसलिये वह उनकी परिचार्य में रहेगा तो धर्म में रहेगा। जहाँ स्वतंत्र हुआ, वहाँ विपरीत आचरण करने लगेगा। अतः इसके लिये भगवान् आगे स्वयं कहेंगे कि वह कर्म करते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति करता है क्योंकि वह इस प्रकार त्रैवर्णिकों

के द्वारा नियंत्रित रहकर ही मोक्ष तक पहुँच जाता है। इसके अन्दर भी तारतम्य तो होता ही है : जिस शूद्र के अन्दर थोड़े भी सत्त्वगुण के संस्कार हैं वह ब्राह्मण की परिचर्या में लगेगा। यदि उसमें रजोगुण के संस्कार होंगे तो क्षत्रिय की परिचर्या में लगेगा और यदि उसमें प्रधान रजोगुण की प्रवृत्ति है तो वह वैश्य की परिचर्या में लगेगा। वह किस की परिचर्या करता है यह उसके स्वभाव से ही निर्णीत होगा। नारद आदि की तरह यदि ब्राह्मणों की सेवा में लगेगा तो उस जन्म में ही मोक्ष की प्राप्ति तक पहुँच जायेगा। यदि धर्म की प्रवृत्ति में लगेगा तो स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति कर लेगा। यदि वैश्य की सेवा में लगेगा तो इहलौकिक उन्नति करेगा और इह लौकिक उन्नति करने पर दान आदि में उसकी प्रवृत्ति होकर उसके अन्दर सत्त्व गुण भी आ सकता है।

जैसे भगवान् ने 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' का समास किया था, 'शूद्राणां' का नहीं रखा था वैसे ही यहाँ भी बाकियों को ब्रह्मकर्म, क्षत्रकर्म और वैश्यकर्म कहा जबकि शूद्र के लिये 'अपि' पद लगा दिया कि शूद्र का भी हो जाता है अर्थात् उसके लिये यह कठिन है। तीनों वर्णों की परिचर्या में रहना उसके लिये कठिन है क्योंकि परिचर्या कर्म कोई सामान्य कर्म नहीं है। हमारे यहाँ तो नीतिकारों ने यहाँ तक कहा है कि सेवा करना अत्यंत गहन विषय है। 'सेवाधर्मः परमगहनः योगिनामप्यगम्यः'। अतः यहाँ भी 'अपि' पद लगाकर कहा कि सेवा कर्म सरल नहीं समझ लेना चाहिये। सेवा लगती बहुत सरल है परन्तु जहाँ स्वतंत्र होकर करते हो वहाँ कुछ तो समझते हो, लेकिन सेवा में कुछ समझने की बात ही नहीं रह जाती। इसलिये सेवा करना बड़ा कठिन है। इसलिये भाष्यकार जगह-जगह कहते हैं कि चित्तशुद्धि के लिये 'मैं परमात्मा का भृत्य हूँ, परिचर्या या सेवा करने वाला हूँ' इस भाव से कर्म करो। यदि करता है तो जैसा भगवान् आगे बता रहे हैं, वह मोक्ष की प्राप्ति भी कर लेता है जैसे नारद आदि ने प्राप्त किया।।४४।।

अब भगवान् कहते हैं कि यहाँ चातुर्वर्ण्य क्यों बताया। यहाँ प्रसंग तो मोक्षशास्त्र का है। सारी गीता का प्रधान उद्देश्य मोक्ष बताना है। फिर इसमें चातुर्वर्ण्य क्यों बताया? भगवान् स्वयं समझाते हैं –

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अपने-अपने कर्म में तत्पर नर ज्ञाननिष्ठायोग्यता पा जाता है। अपने कर्म में निष्ठा-पूर्वक रत व्यक्ति जिस तरह वह योग्यता पाता है वह सुनो।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये जो कर्म बताये हैं उन अपने-अपने कर्मों को करने में जो अभिरत हैं अर्थात् बिलकुल तत्परता से उन कर्मों को करने में रुचिवाले हैं वे संसिद्धि पाते हैं। यहाँ अभिरत कहने से यह स्पष्ट हो गया कि यदि अपना कर्म करने में अरुचि होगी तो कर्म में अभिरति नहीं होगी। जैसे बहुत से लोग दूसरों को ऊटपटांग खाते देखकर

कह भी देते हैं ‘हम तो ब्राह्मण हैं, यह कैसे खा सकते हैं?’ उनके मन में यह है कि ब्राह्मण नहीं होते तो खा ही लेते! कर्म करते हुए भी अभिरति नहीं है। इसलिये भगवान् ने कहा ‘अभिरतः’। इस प्रकार जिस जाति के लिये जो विहित कर्म है उसका जब भली प्रकार से अनुष्ठान करता है तो नर संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ऐसा नर ही कर सकेगा। ‘न रमते विषयेषु इति नरः’ जो विषयों में रमण करने वाला नहीं है वही अपने कर्म का भली प्रकार अनुष्ठान कर सकेगा। जिसको विषयों में रति है वह नहीं कर सकेगा। जो शूद्र है, उसको करनी ही परिचर्या है। पर है वह कामप्रधान और तीनो वर्णों की सेवा करने में उसकी कामपूर्ति में रुकावट आती है इसलिये उसको इसमें अभिरति नहीं हो पाती, क्योंकि वह नर नहीं है। जो अधिकारसम्पन्न पुरुष है वह विषयों में रमण नहीं करता। उसे ही संसिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यता की प्राप्ति होती है अर्थात् वह ज्ञाननिष्ठ हो सकता है। जब इस प्रकार से अपने कर्म का अनुष्ठान करता है तब उससे परमात्मा प्रसन्न होता है, उसकी अशुद्धि का क्षय होता है और तब उसके इन्द्रिय मन ज्ञाननिष्ठा के योग्य होते हैं।

यहाँ भगवान् ने वर्ण के धर्म गिने हैं। परन्तु जो वर्णधर्म के बारे में है वही आश्रम-धर्म के बारे में भी है। उनके लिये शास्त्र ने जो कर्म बताये हैं उनमें बराबर लगे रहना उनका कर्त्तव्य है। वर्ण-आश्रम कर्मों के फलस्वरूप उत्तमोत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। वहाँ जो कर्मफल अनुभव करने से बच जाते हैं उनके अनुसार विशेष देश, जाति, कुल में जन्म मिलता है। कुरुक्षेत्र आदि में, पुण्य क्षेत्र में जन्म हो जाये यह पुण्यफल है। ब्राह्मण जाति में भी अच्छे कुल में जन्म होता है। इसी प्रकार विशिष्ट धर्म, जहाँ वैदिक आचरण होते हों ऐसी जगह पैदा होंगे। यदि शुभ कर्म नहीं होते हैं तो आर्यावर्त से अतिरिक्त अमेरिका, योरोप इत्यादि कहीं भी पैदा हो जाते हैं। शुभ कर्म खूब होते हैं तो पूर्ण आयु के साथ पैदा होते हैं। अन्यथा पैदा होकर दस-बारह साल में ही मर गये तो आगे कुछ नहीं हो सकता। श्रुत अर्थात् जहाँ उन्हें वेद आदि अध्ययन करने का मौका मिले वहाँ जन्म लेते हैं। वृत्त – उनका बर्ताव भी शुद्ध होता है। उत्तम चरित्र भी होना चाहिये, तभी सुख को प्राप्त करते हैं। स्वकर्मानुष्ठायी लोग ही फलभोग से बचे हुए शुभ कर्मों के द्वारा ऐसी जगह पर पैदा होकर इन सब गुणों को प्राप्त करते हैं। स्मृतियों और पुराणों के अन्दर वर्णों का और आश्रमों के कर्मभेद और फलभेद का विशेष वर्णन किया गया है। ये सब सिद्धियाँ हो गईं। वर्णाश्रम के कर्मों के अनुसार चलता है तब सिद्धि मिलेगी। यदि *अभिरत* है तभी अंतःकरण की शुद्धि होगी और तब शरीर इन्द्रियाँ और मन इत्यादि ज्ञाननिष्ठा के योग्य होंगे, उस संसिद्धि को प्राप्त करेंगे। इन वाक्यों से ऐसा लगता है मानो कर्म करते हुए ज्ञाननिष्ठा या मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। वह संदेह न हो इसलिये भगवान् आगे कहते हैं। ‘स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु’। अभिरति अर्थात् कर्म में ही जिसकी रति है, उसके फल की तरफ दृष्टि नहीं है, वह जिस प्रकार से इस ज्ञान-सिद्धि या ज्ञाननिष्ठा योग्यता को प्राप्त करता है उसको सुनो।।४५।।

वह प्रकार स्पष्ट करते हैं –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

जिस अन्तर्यामी ईश्वर से प्राणियों की उत्पत्ति (या चेष्टायें) होती हैं, जिससे यह जगत् व्याप्त है, अपने कर्म से उसे पूजकर मानव संसिद्धि पा जाता है।

अपने कर्म के द्वारा उसकी अर्चना करके अर्थात् 'यह कर्म करना आराधना है' इस भाव से करने पर संसिद्धि मिलती है। यह समझ कर करना है कि किसकी आराधना हो रही है। केवल 'कृष्णार्पणमस्तु' कहने से काम नहीं चलेगा! जिस मायाविशिष्ट चेतन से सारे प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, सारे प्राणी जिससे उत्पन्न हुए हैं, यह याद रखना चाहिये कि उसकी अर्चना कर रहा हूँ। बहुत से लोग आकर पूछते हैं कि 'अमुक भगवान् है या नहीं है? साईं बाबा, रामदेव जी भगवान् हैं या नहीं?' यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जितनों का नाम लेते हो वे सब खुद बहुत बाद में पैदा हुए हैं, इसलिये उन्होंने संसार की सृष्टि की है यह तो सर्वथा अप्रसिद्ध है। जो मायाविशिष्ट चेतन सारे संसार को उत्पन्न करता है वह ईश्वर है। प्रवृत्ति के दोनों अर्थ हैं – एक तो, जड चेतन सभी को उसने उत्पन्न किया है और दूसरा, प्राणियों को किस-किस प्रकार से चेष्टा (प्रवृत्ति) करनी है यह सब उसी अन्तर्यामी के हाथ में है, आज भी वही सब प्राणियों को प्रवृत्त कर रहा है अर्थात् सारी चेष्टाओं को सम्भव करने वाला वही है। वह न हो तो कोई चेष्टा नहीं हो सकती। ऐसा वह अन्तर्यामी जगत् उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। यदि विचार करके देखो तो जो मेरे हृदय में बैठकर मुझे प्रवृत्त कर रहा है, उसी ने सारी सृष्टि को उत्पन्न किया है।

'येन सर्वम् इदं ततम्' उसी ईश्वर से यह सब व्याप्त है। यह सब उसके अन्दर माया से दीख रहे हैं, प्रतीत हो रहे हैं। वह तो साँप में रस्सी की तरह स्थित है। जैसे साँप के एक-एक कण के अन्दर रस्सी के सिवाय कुछ नहीं है, फिर भी रस्सी में साँप नहीं है, इसी प्रकार उस परमेश्वर से यह सारा जगत् व्याप्त है। इस व्याप्ति को ठीक से समझना। जैसे साँप में रस्सी व्याप्त है अर्थात् रस्सी का एक ज़र्रा भी ऐसा नहीं है जो बिना साँप के दीख रहा हो, परन्तु रस्सी के एक कण में भी कोई फ़र्क नहीं आया, इसी प्रकार इस सारे जगत् के माया जाल को दिखाते हुए उस परमेश्वर के अन्दर कोई फ़र्क नहीं आता। इस प्रकार से वह व्यापक है जैसे अध्यस्त में अधिष्ठान व्यापक है। ऐसा तात्पर्य क्यों समझना चाहिये? क्योंकि भेदघटित व्यापकता यहाँ संभव नहीं, कारण कि परमात्मा से अन्य कुछ वास्तविक है नहीं। परमेश्वर की अद्वितीयता लोगों को बड़ी खटकती है। क्यों कि राग द्वेष से भरे हैं इसलिये किसी कोढ़ी और किसी ऐश्वर्यवान् को देख कर कहते हैं कि दोनों में परमात्मा कैसे हो सकता है? हम कहते हैं कि ये दो क्यों, हम तो सुअर की टट्टी और गंगाजल दोनों में परमात्मा एक जैसा बता रहे हैं, कोढ़ी तो फिर आदमी है। फिर भगवान् में दोष इसलिये

नहीं आते हैं कि चाहे तुमने एक हज़ार साल तक भी बालू में मृगतृष्णा देखी हो लेकिन उस बालू में ज़रा भी गीला पन नहीं आता, इसी प्रकार इस सारे माया जाल के दीखते हुए भी वह अधिष्ठान एक जैसा ही बना रहता है। ये दो चीज़ें भगवान् ने कहीं। यहाँ परमेश्वर के रूप को पूरी तरह से संक्षेप में बता दिया है।

ऐसा वह जो परमेश्वर है उसकी अर्चना तुम अपने कर्मों के द्वारा कर सकते हो। यदि परमेश्वर ऐसा नहीं होगा तो जीवन में कुछ काम अर्चना के होंगे और कुछ दूसरे होंगे। कभी पूजा-पाठ करोगे और कभी कुछ और करोगे। दो घण्टे सवेरे, दो घण्टे शाम को माला फेर लोगे, एक घण्टा सवेरे, एक घण्टा शाम को पूजा कर लोगे, लेकिन बाकी समय दाल-रोटी कमाने आदि के लौकिक व्यवहार करोगे। स्वकर्म से अभ्यर्चना तो तभी हो सकती है जब चाहे तुम भोजन कर रहे हो तब भी तुम परमात्मा की ही पूजा करो। यह तब होगा जब परमेश्वर ने जो आज्ञा दी है उसके अनुसार ही खा रहे हो। यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य होने से अधीतवेद हो तो तुम्हें इसलिये परमेश्वर की आज्ञा का पता है। यदि शूद्र हो, अधीतवेद नहीं हो तो जिस ब्राह्मण आदि की परिचर्या कर रहे हो उसमें स्थित परमेश्वर ही आज्ञा दे रहा है इसलिये करोगे। सर्वथा जो भोजन आदि लगता है कि हम अपने लिये कर रहे हैं, उसके द्वारा भी परमात्मा की ही अभ्यर्चना करनी है। तब मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूपी जो सिद्धि है, उसे प्राप्त कर लेता है।।४६।।

भगवान् ने चातुर्वर्ण्य का विचार करके बताया कि जिन कर्मों को जिस जाति के लिये बताया है उनको करने से पहले बुद्धिशुद्धि की प्राप्ति होती है जिससे ज्ञान होता है और फिर संसिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त हो जाती है। प्रश्न होता है कि ब्राह्मण के कार्य तो मुमुक्षु के अनुरूप हो गये, लेकिन अन्य जो वैश्य, शूद्र आदि के कर्म हैं वे तो कभी मुमुक्षु के प्रकरण या वर्णन में आते नहीं, उन्हें ज्ञान में उपयोगी कैसे समझें? उत्तर है कि हमारे पूर्व कर्म और उनके संस्कार परमेश्वर ही जानता है। अतः परमेश्वर जब हमें उस वर्ण में जन्म देता है तब वह हमारे द्वारा किये उन्ही कर्मों से प्रसन्न होता है क्योंकि परमेश्वर ने हमें उसी को करने के योग्य समझा। उसके विरुद्ध कर्म हम यदि अच्छी तरह से भी करते हैं तो भी परमेश्वर प्रसन्न नहीं होगा क्योंकि उसने जो करने को पैदा किया था वह हमने नहीं किया। इसलिये भगवान् कहते हैं –

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

जो अपने लिये नहीं, किसी और के लिये विहित है उस धर्म को भली प्रकार से करने की अपेक्षा अपने लिये विहित धर्म को अधूरा करना भी बेहतर है। स्वभावानुसार विहित कर्म करते हुए व्यक्ति को पाप नहीं लगता।

'विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्' यहाँ एक आपि-पद जोड़ लेना चाहिये,'विगुणोऽपि' अधूरा भी;

पूरी तरह से नहीं किया हुआ अर्थात् विगुण कार्य भी यदि स्वधर्म है तो कल्याण के रास्ते ले जाता है। वर्तमान में लोग यह प्रश्न बार-बार पूछते हैं कि यदि कोई अपने वर्णकार्य की अपेक्षा दूसरे वर्ण के कर्म को अच्छी तरह कर सकता है तो उसे करने में क्या दोष है? भगवान् यहाँ निर्णय दे देते हैं कि सबसे पहला दोष ही उसमें है कि तुम भगवान् के शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध काम कर रहे हो। जिस प्रकार मान लो तुम को चौकीदारी के लिये रखा गया है लेकिन तुम चौकीदारी कम करते हो और मुनीम जी से कहते हो 'मैं हिसाब लिख सकता हूँ' और वे तुमसे हिसाब लिखा देते हैं, उनकी मेहनत कम हो गई। मालिक यही कहेगा कि तुम्हें जिस काम के लिये रखा है, वही तुम्हें करना है। दूसरा काम अच्छी तरह से कर सकते हो, लेकिन अपने काम में भूल करोगे तो ठीक नहीं है। चौकीदारी का काम पूरा करते हुए यदि अतिरिक्त समय हिसाब लिखने में लगा देते हो तब तो मालिक प्रसन्न होता है क्योंकि और ज़्यादा ही काम किया। परन्तु चौकीदारी ठीक नहीं करोगे तो मालिक प्रसन्न नहीं होगा। इसी प्रकार परमेश्वर ने शास्त्र के द्वारा तुमको जो काम करने को दिया, तुमको वही करना है। तुम कहते हो कि 'उस की अपेक्षा मैं दूसरे काम को अच्छी तरह कर सकता हूँ'; यदि बताये हुए काम को निष्पन्न करते हुए तुम दूसरे काम को करो तब तो कोई हर्जा नहीं है। परन्तु यदि तुम अपने काम को छोड़ते हो, तो परमेश्वर की कृपा तुम्हारे ऊपर कैसे हो सकती है!

'विगुणः अपि स्वधर्मः श्रेयान्' अपना कर्म पूरी तरह नहीं कर सकते तब भी करना है। ब्राह्मण शरीर में जन्म हो गया लेकिन बुद्धि ठीक नहीं है, पढ़ने-लिखने में कमज़ोर है, वेदाध्ययन करना उसके लिये सम्भव नहीं है। वह कहता है कि 'मैं वेदाध्ययन नहीं कर सकता इसलिये दूसरा काम कर लेता हूँ;' तब उससे कहेंगे कि जितना वेदाध्ययन कर सको अच्छा है, मंत्र को याद करने में चाहे साल भर लग जाये, परन्तु विगुण होते हुए भी उस कर्म को करो ही। स्वर-सहित पाठ नहीं कर सकते तो बिना स्वर के ही करो। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने यहाँ 'अपि' पद का लोप बताया है। अन्यथा तो अर्थ हो जायेगा कि विगुण कर्म करना श्रेयस्कर है, अर्थात् अच्छी तरह से करने की अपेक्षा विगुण कर्म करना ठीक है! ऐसा विपरीत अर्थ नहीं लेना वरन् पूरी तरह से न कर सको तो भी अपना कर्म कल्याणकारी है। 'परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' दूसरे के लिये बताये हुए कर्म को अच्छी तरह से भी कर लिया तो वह श्रेयस्कर नहीं होगा। इसलिये सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने लिखा है 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः' जो जिसके लिये विधान किया गया है वही उसका धर्म है। वह जो अच्छी तरह कर सके वह उसका धर्म नहीं हो जाता, जिसके लिये जो विधान किया गया है वही उसका धर्म रहेगा।

स्वधर्म अच्छा क्यों है? भगवान् कहते हैं 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्;' जिसको पहले स्वभावज कर्म कहा था उसी को स्वभावनियत कर्म कह रहे हैं। अर्थात् पूर्व जन्म में जो कर्म तुमने किया है, उससे जो संस्कार बना है तदनुरूप ही भगवान् ने तुम्हें

वहाँ जन्म दिया है। स्वभाव का मतलब यह नहीं है कि जो तुमको अच्छा लगे वह करना है। जो तुम्हारे लिये परमात्मा ने तुम्हारे पूर्व जन्म को देखकर निर्णय किया है वह तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है। उस कर्म को करते हुए किल्बिष, पाप की प्राप्ति नहीं होती। जैसे क्षात्र धर्म में गुरु, दादा जो सामने आये उसे मारना है। अर्जुन ने कहा भी 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव!' इस घोर कर्म में मुझे क्यों लगाते हैं? उसका जवाब पहले भी दे आये हैं और यहाँ भी कह रहे हैं कि स्वभावज कर्म होने से क्षात्रधर्म के अनुसार गुरु, दादा को मारकर भी पाप को प्राप्त नहीं करोगे। दूसरों का धर्म करोगे तो पाप को प्राप्त करोगे। ठीक इसी प्रकार से वैश्य का कर्म वैश्य के लिये विहित है, खेत जोतेगा, कृषि करेगा तो बहुत से केंचुए, मेंढक इत्यादि मर जायेंगे, परन्तु उसे पाप नहीं लगेगा। ब्राह्मण वह कर्म करेगा तो पाप लगेगा क्योंकि प्राणि–हिंसा कर रहा है। ऐसा क्यों है? क्योंकि परमेश्वर ने तुम्हारे लिये उसका विधान किया है इसलिये पाप नहीं है। प्राणिहिंसा बुरी है, यह शास्त्र से ही पता लगेगा, वैश्य कृषि करते हुए प्राणिहिंसा कर सकता है यह प्रत्यक्ष में पता लगता है। जब शास्त्र में बताया गया है तो प्रत्यक्ष में प्राणि–हत्या देखकर भी दोष नहीं लगेगा क्योंकि शास्त्र को प्रत्यक्ष नहीं बाध सकता। जहर के अन्दर कुछ कीड़े होते हैं जो जहर में ही रहते हैं, जहर को ही खाते हैं और हृष्टपुष्ट बने रहते हैं। अगर उनको देखकर कोई कहे कि 'विष ने उन्हें नहीं मारा तो हमें भी नहीं मारेगा' तो धोखा ही खायेगा। तुम विष खाओगे तो मारे जाओगे। चूँकि उन कीड़ों का विष में रहने का स्वभावज धर्म है इसलिये उन्हें नुक्सान नहीं पहुँचाता। तुम्हारे लिये वह स्वभावज या स्वाभाविक नहीं है इसलिये तुम्हें नुक्सान पहुँचायेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये जो दोष वाले कर्म दीख भी रहे हैं वे उन्हें नुक्सान नहीं पहुँचायेंगे। दूसरा उन कर्मों को करेगा तो दोष का भागी बनेगा।।४७।।

इसलिये भगवान् कहते हैं –

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेय! धुएँ से आग की तरह क्योंकि सभी कर्म दोष से घिरे रहते हैं इसलिये दोषयुक्त हो तो भी जन्मानुसार प्राप्त कर्म छोड़ना नहीं चाहिये।

भगवान् पहले कह आये हैं कि कोई भी व्यक्ति जो आत्मज्ञानी नहीं है, वह एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कर्म नहीं करना भी एक कर्म ही है जब कर्म को करने से अपने को रोकना पड़ता हो। अहंकार को अपना स्वरूप समझने वाला व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। आरम्भ, जिसका आरम्भ किया जाता है अर्थात् कर्म; सारे कर्मों में दोष तो है ही, यह कर्म का स्वरूप है। किये बिना तो रह नहीं सकते, जब कर्म हर क्षण करना ही है तो दोनों प्राप्त होते हैं कि स्वधर्म करें या परधर्म करें, अर्थात् जो हमारे लिये विधान है उसको भी कर सकते हैं और जो हमारे लिये विहित नहीं है, दूसरे

के लिये विहित है उसको भी कर सकते हैं। यदि हमने सहज कर्म किया अर्थात् स्वधर्म किया तो कर्म होने से दोष वाला वह भी है क्योंकि जो कर्म होता है उसमें दोष रहता ही है, लेकिन हमारा धर्म है इसलिय सदोष, दोष वाला होने पर भी उसे नहीं छोड़ना ही उचित है। यह सभी वर्णों और सभी आश्रमों के लिये समझ लेना। सारे कर्म दोष वाले कैसे हैं? जैसे अग्नि जलाओगे तो उसमें कुछ न कुछ धुआँ होगा ही। अग्नि से ही धुआँ पैदा होता है। इसी प्रकार कर्म से ही दोष उत्पन्न होता है। कितनी भी सावधानी से करोगे, कुछ दोष तो उस कर्म में रहेगा ही। परन्तु भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि स्वधर्म किया तो तुम्हारे लिये दोषवाला नहीं। परधर्म पर (दूसरा) कर रहा है तो वह उसके लिये दोष वाला नहीं है। सर्वथा दोष रहित कर्म नहीं हो सकता। ऐसा कोई कर्म संभव नहीं जो सर्वथा निर्दुष्ट हो। अतः अपने कर्म में दोष देखकर उसे छोड़ दूसरा कर्म करने में कोई फ़ायदा नहीं। कोई भी कर्म दोष वाला न हो यह हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह कर्म का स्वरूप ही नहीं है कि दोष वाला न हो। इसलिये स्वधर्म या कर्म दोष वाला होने पर भी उसका त्याग संगत नहीं हो सकता।

जब तक तुम अहंकार के साथ हो तब तक कर्ममात्र का त्याग नहीं हो सकता। जब अहंकार तुम्हारा स्वरूप नहीं रह जायेगा तो आत्मा के स्वरूप में न कभी कर्म हुआ, न रहा है, न होगा। इसलिये अज्ञानी द्वारा सर्वथा कर्मों का छोड़ना असंभव है। जो अपने स्वाभाविक कर्म हैं उनके त्याग में ही दोष होगा क्योंकि वे प्राप्त थे और तुमने उन्हें छोड़ा। अर्थात् यदि अशेष त्याग हो सकता तब तो ठीक था। भगवान् ने कहा कि 'सारे कर्मों में दोष है,' वह यह बताने के लिये कि यदि सारे कर्मों को छोड़ सकते तब तो दोष नहीं था परन्तु सारे कर्मों को छोड़ना सम्भव ही नहीं है। जब तक तुम अहं के साथ हो तब तक अहं हमेशा चंचल ही रहेगा, हिलता रहेगा। जैसे सांख्यों के गुण स्थिर नहीं रह सकते, उनकी घटा-बढ़ी होगी ही उसी प्रकार से अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है तो उसके अन्दर चंचलता रहेगी ही। अतः सब क्रियायें छोड़ी नहीं जा सकतीं। अपनी समझ से हेर-फेर करने में गलती होने की संभावना अत्यधिक है क्योंकि जीव अल्पज्ञ ही है। एक नये-नये सिद्ध महात्मा समुद्र के किनारे बैठे हुए थे। वहाँ मछुए मछलियाँ पकड़ रहे थे, तब तक अकस्मात् बड़े ज़ोर का अंधड़ आया। मछुओं की नावें डाँवाडोल होने लगी। सब चिल्ला रहे थे कि अब डूब जायेंगे। महात्मा सिद्ध थे ही, संकल्प किया कि अंधड़ बन्द हो जाये; तो अन्धड़ बन्द हो गया। उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'इन मछुओं को तो तुमने बचा लिया लेकिन थोड़ी दूरी पर एक बड़ा पोत (जहाज) जा रहा था, तुम्हारे संकल्प से अकस्मात् अंधड़ रुकने से उसमें हज़ारों लोग मर गये!' पच्चीस को बचाया लेकिन हज़ारों मर गये। साधारण आदमी तो सामने ही देख सकता है लेकिन परमात्मा तो सब कुछ जानता है। अतः तुम जिस क्रिया को अपनी समझ से अच्छे से अच्छा समझकर कर रहे हो उसके दूरगामी परिणामों का विचार करोगे तो उसमें भी कुछ न कुछ दोष है ही और वह तुम्हारे सिर पर

ही पड़ेगा। यदि तुम स्वधर्म करते हो तो क्योंकि परमेश्वर की जो आज्ञा है उसी का पालन करते हो, इसलिये उसके दोष का भागी भी परमेश्वर होगा! इसलिये भगवान् ने कहा कि स्वधर्म करोगे तो किल्बिष प्राप्त नहीं करोगे क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा से किया गया है।

यहाँ भाष्यकार ने बहुत लम्बा विचार किया है कि क्रिया सम्भव कहाँ और कैसे है? अंत में स्पष्ट कहते हैं कि आत्मा में अविद्या से अध्यारोपित करके ही अज्ञान से कर्म अपना बनता है। कर्म तो अहं कर रहा है। हम ज़बर्दस्ती अहं बनकर दोष के भागी बन रहे हैं। चूँकि अहं बिना कुछ किये हुए रह नहीं सकता इसलिये हम भी बिना कुछ किये हुए नहीं रह पा रहे हैं। ज्ञानी ने तो यह अज्ञान निवृत्त कर दिया है कि 'मैं अहं हूँ'। उसने जान लिया है कि 'मैं अहं नहीं हूँ', इसलिये उसके लिये अशेष कर्मों का परित्याग करना सम्भव है। 'मैं' रहते हुए तो अशेष कर्म का परित्याग नहीं होता है। परन्तु जब अहंकारात्मिका वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, सच्चिदानन्द मेरा स्वरूप है तब अशेष कर्म का परित्याग ही हो सकता है क्यों कि अहं ही कर सकता है, आत्मा नहीं कर सकता। जिस प्रकार, मोतियाबिन्द होता है तो आदमी को दो चन्द्रमा दीखते हैं, जैसे ही उसका शल्य हो गया और मोतिया बिन्द को हटा दिया वैसे ही दो चन्द्रमा नहीं दीखते। इसी प्रकार जब तक अहं में रहते हैं तब तक तो कर्त्ता-भोक्ता है और जैसे ही अहं से अलग होकर साक्षीरूप में स्थित होते हैं वैसे ही न कर्त्ता और न भोक्ता है। इसलिये कहा कि कर्म तो अहंकार के बिना बनता नहीं, जब तक अज्ञान है तब तक अहं से अपने को एक किये हुए हो, तब तक कर्त्ता-भोक्तापने की निवृत्ति हो नहीं सकती अतः कर्त्ता-भोक्तापन का दोष रहेगा ही, करोगे तो फिर भोगोगे। इसलिये तब तक तो परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार ही कर्म करो। जब कर्त्ता-भोक्तापना मिट जायेगा तब सारे कर्मों का त्याग हो ही जायेगा। इसलिये किसी भी अवस्था में स्वधर्म को छोड़कर परधर्म करना नहीं बनता।।४८।।

यह जो कर्म से होने वाली शुद्धि है यह ज्ञाननिष्ठा की योग्यता है। ज्ञान-निष्ठा का फल नैष्कर्म्य-सिद्धि है अर्थात् 'मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' इस निश्चित स्वानुभव की अकम्पता है। इसलिये पहले ज्ञाननिष्ठा की योग्यता, तब ज्ञान और तब ज्ञाननिष्ठा अर्थात् नैष्कर्म्य की प्राप्ति है, यह बताते हैं-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४६।।

जिसकी बुद्धि कहीं भी आसक्त नहीं है, जिसका अन्तःकरण वशमें है और जिसकी कामनाएँ समाप्त हो चुकी हैं, वह सर्वकर्मत्यागपूर्वक सम्यग्ज्ञान द्वारा निष्क्रिय आत्मस्वरूप से रहना-रूप सर्वोत्तम स्थिति अधिगत कर लेता है।

सर्वत्र असक्तबुद्धि अर्थात् जिसका अंतःकरण सर्वत्र असक्त हो। किसी भी देश, काल के अन्दर उसे न राग हो, न द्वेष हो। आसक्ति के निमित्त पुत्र-दारा आदि होते हैं, उनमें

राग–द्वेष न हो। जो आसक्ति के प्रसिद्ध निमित्त नहीं हैं, ऐसी भी बहुत सी चीज़ें हैं जिनमें आसक्ति होती है। पुत्र, स्त्री आदि तो आसक्ति के प्रसिद्ध निमित हैं, वहाँ की आसक्ति से तो बचना ही है परन्तु और भी अनेक आसक्तियाँ हैं; जैसे लोकमान्य तिलक बहुत बड़े विचारक हुए हैं जिन्होंने पुत्र–दारा आदि से आसक्ति को छोड़ना स्वीकार किया है परन्तु वे कहते हैं कि देश से तो आसक्ति रखनी ही चाहिये! देश के कल्याण के लिये तो कर्म करना ही चाहिये, यह नहीं छोड़ सकते। यह देश के प्रति आसक्ति है। कुछ लोगों की मानवता के प्रति आसक्ति होती है कि मानवता के लिये करना तो ठीक है। इस प्रकार की प्राप्तियों को हटाने के लिये भगवान् ने कह दिया 'सर्वत्र असक्तबुद्धिः'। प्रसिद्ध–अप्रसिद्ध सभी विषयों में अनासक्त व्यक्ति ही परम सिद्धि पा सकता है। यह तभी हो सकेगा जब जितात्मा बनोगे, आत्मा अर्थात् अंतःकरण को अपने वश में कर लोगे। जब तक, मन को जो चीज़ अच्छी लगती है वह 'मुझे अच्छी लगती है' ऐसा मानते रहोगे, अर्थात् जब तक मन के गुलाम रहोगे तब तक ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं सकती। बजाय इसके कि अंतःकरण तुमको जीते,तुम अंतःकरण को जीतो।

ये दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं। अन्तःकरण के वश में तुम क्यों होते हो? क्योंकि तुम्हें कहीं न कहीं आसक्ति है, आसक्ति के कारण ही तुम अंतःकरण के वश में रहते हो। मन तुम्हें किसी चीज़ की तरफ कैसे ले जाता है? चीज़ अच्छी लगाकर तुमको उस तरफ ले जाता है। तुम उसमें आसक्त हो तभी उधर जाते हो। यदि तुम उसे अच्छा स्वीकार ही नहीं करो तो अतंःकरण उधर कैसे ले जा सकता है! राग–द्वेष के द्वारा ही तुमको मन प्रवृत्त या निवृत्त कर सकता है। राग–द्वेष नहीं होने पर मन तुम्हें कैसे प्रवृत्त कर सकता है? इसलिये अनासक्ति और मन को जीतना दोनों एक–दूसरे के सहायक हैं। जितना–जितना आसक्ति को छोड़ोगे उतना–उतना अंतःकरण को जीतोगे और जितना–जितना अंतःकरण को जीतोगे उतनी–उतनी तुम्हारी आसक्ति कम होगी।

'विगतस्पृहः' – अप्राप्त की प्राप्ति होने की इच्छा को स्पृहा या तृष्णा कहते हैं।'कुछ भी अप्राप्त मुझे प्राप्त हो'यह जिसने बिलकुल भुला दिया है, वह विगतस्पृह है। स्पृहा का न होना गतस्पृह हो जाना है, किन्तु भगवान् ने गतस्पृह न कह कर विगतस्पृह कहा है अर्थात् स्पृहा कभी होती थी यह भी याद नहीं आता! अभी तो स्पृहा नहीं ही होती, लेकिन वह इतनी विस्मृत हो चुकी है कि कभी हुई थी यह ख्याल भी नहीं रहता। ठीक जैसे कोई बुड्ढा तुमसे कहे 'मैंने तुझे हाथ–पैरों पर चलते देखा था।' उसके कहने पर तुम याद करने की कोशिश भी करो कि बचपन में कैसे चलते थे तो याद नहीं आता। चले ज़रूर थे, बुड्ढा भी कह रहा है, जितने बच्चों को देखा है सब उसी ढंग से चलते हैं, परन्तु तुम याद करने की कोशिश करो कि 'गुडालिये से कैसे चला?' तो याद नहीं कर पाते। ठीक इसी प्रकार स्पृहा या तृष्णा ऐसी दूर हो जाती है कि जिसकी अब स्मृति ही नहीं रह गई। शरीर के प्रति भी तृष्णा न रहे और न शरीर को जिन भोग्य पदार्थों की आवश्यकता है उनकी प्राप्ति की ही तृष्णा रहे।

ऐसा जो आत्मज्ञ होता है वह 'संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम् अधिगच्छति' नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करता है। नैष्कर्म्य अर्थात् जिससे सारे कर्म बाहर निकल गये। सारे कर्म केवल आत्मा में ही नहीं हैं अतः वह केवल आत्मा को ही अपना स्वरूप जानता है कि 'सच्चिदानन्द स्वरूप ही मैं हूँ' निष्क्रिय ब्रह्म को जब हम आत्मा से एक करके जानते हैं तब नैष्कर्म्य की सिद्धि है। जब यह पता लग जाये कि मैं 'मैं' नहीं हूँ, परमात्मा ही हूँ, तब यह सिद्धि होती है। जिसको ऐसा ज्ञान हो गया वही निष्कर्मा है। क्योंकि ब्रह्म ही निष्क्रिय है इसलिये जो ब्रह्मरूप है, वही निष्क्रिय है। अज्ञान से ब्रह्म में सारी क्रिया दीखते हुए भी वह निष्क्रिय ही है। ऐसे ही जब स्पष्ट भान हो जाये कि 'अज्ञान से मुझमें कर्म भले ही दीखा हो, वस्तुतः मैं हमेशा कर्म से अस्पृष्ट हूँ' तब निष्कर्मता सिद्ध होती है। उसे नैष्कर्म्य की प्राप्ति न कह कर सिद्धि कहा। जो चीज़ विचार से सिद्ध होती है उसको सामान्यतः 'प्राप्ति' नहीं कहा जाता। ठीक जिस प्रकार ब्राह्मण ने खूब अच्छी तरह से भाँग छान ली तो वह भूल गया कि मैं ब्राह्मण हूँ। अब उससे कहते हैं कि 'शाम हो गई, सन्ध्या करो' तो वह कहता है 'संध्या तो पंडित जी करेंगे, मैं तो डोम हूँ, क्या संध्या करूँ!' भूल गया कि वह ब्राह्मण है। नशा उतरने पर सारा व्यवहार ब्राह्मण का करता है। क्या उसे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई, या क्या वह ब्राह्मण बन गया? ब्राह्मण होते हुए ही भूल गया था, अब याद आ गया। ठीक इसी प्रकार से अविद्या के नशे के कारण मैं अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानता हूँ। मुझे लगता है कि इस संसार को बनाने वाला परमात्मा तो बहुत ऊँचा है! किसी भक्त ने कहा है कि 'आकाश के ऊपर तो तुम्हारी सेज है, मैं तुमसे कैसे मिलूँ?' यही अवस्था अविद्या में है क्यों कि अविद्या के कारण हम अहं में बँधे हुए हैं। छोटे से शरीर को समझ रहे हैं कि यह मैं हूँ, इसलिये अभी जब कहते हैं 'तुम ब्रह्म हो' तो तुम समझते हो कि 'ग़लत आदमी से कह रहे हैं! मैं थोड़े ही ब्रह्म हूँ, हमारे जैसा आदमी कैसे ब्रह्म हो सकता है? बड़े-बड़े लोग ब्रह्म होते होंगे।' परन्तु जैसे ही तत्त्वमसि आदि महावाक्य के श्रवण से अविद्या का नशा उतरता है वैसे ही लगता है कि 'यह सारा ब्रह्माण्ड मुझ ब्रह्म में ही प्रतीत हो रहा था, मैं तो जैसा हूँ वैसा का वैसा हूँ'। इसलिये कहा कि वह नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है।

इसको परम सिद्धि इसलिये कहते हैं कि जो कुछ भी करके प्राप्त करते हो वह कर्मज सिद्धि है जो समय पाकर फल देती है। जैसे सिर में दर्द है, दवाई खाई और अगले ही मिनट में कहते हो कि फ़र्क नहीं पड़ा। डाक्टर कहता है कि दवाई का असर होने में समय लगेगा। जैसे दवाई खाने का कर्म भी कुछ काल के बाद फल देता है इसी प्रकार ज्योतिष्टोम आदि कर्म भी तुमको मरने के बाद ही स्वर्ग में ले जायेगा परन्तु नैष्कर्म्य-सिद्धि तो तत्काल हो जाती है। तत्त्वमसि का श्रवण करते ही तत्काल नैष्कर्म्य-सिद्धि अर्थात् सद्यः मुक्ति है। 'संन्यासेन' - यह जो ठीक ज्ञान है इसको ही संन्यास कहा है क्यों कि यह ज्ञान कर्ममात्र की अर्थात् सारे कर्मों की निवृत्ति कर देता है। अथवा यदि संन्यास का प्रसिद्ध अर्थ करो

तो, सारे कर्मों का त्याग करके श्रवण-मनन में लगने वाला ही इस सिद्धि को प्राप्त करता है। मुख्य अर्थ तो कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का भान नहीं होना ही संन्यास है। सर्वकर्मसंन्यास करके श्रवण-मनन में लगने से सिद्धि प्राप्त होती है। सर्वकर्मसंन्यास ज्ञान के पहले इसलिये आवश्यक है कि दिन में हम अपने को थोड़ी देर कर्त्ता मानें, फिर थोड़ी देर नहीं मानें तब यह स्थिति दृढ होती नहीं कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ'। जब सर्वकर्मसंन्यास कर दिया तब तुम्हें किसी कर्म की प्राप्ति तो रही नहीं, इसलिये निरन्तर केवल वेदान्त-विचार ही करते हो जिससे 'मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' इसी का बार-बार अंतःकरण में संस्कार पड़ेगा। अन्यथा अपना कर्तृत्व ही प्रतीत होता रहेगा कि अब सवेरा हो गया है, उठना है अर्थात् उठने के कर्म का कर्त्ता मैं हूँ। इसी प्रकार उठने से लेकर एक के बाद एक कर्म तुम्हारे सामने आते रहेंगे जब तुम्हें यह वृत्ति बनानी पड़ेगी कि 'मुझे करना है या मैं कर्त्ता हूँ'। सर्वकर्मसंन्यास के बाद तो तुम्हें कोई कर्म प्राप्त है ही नहीं, इसलिये तुम निरन्तर अपने को अकर्त्ता-अभोक्ता समझ सकते हो, उसके संस्कार बना सकते हो। यदि किसी का अंतःकरण इतना शुद्ध है कि तत्त्वमसि वाक्य सुनते ही अपने स्वरूप में स्थित हो गया, कर्त्तृत्त्व-भोक्तृत्व की बुद्धि बनना बन्द हो गया, तो मुख्य संन्यास ही उसे प्राप्त हो गया। इस प्रकार, जब स्वकर्म का अनुष्ठान परमेश्वर की अर्चनारूप में करता है तब यह नैष्कर्म्य सिद्ध होता है।।४६।।

श्लोक ४५ में जो संसिद्धि कही थी – स्वकर्मानुष्ठान से प्राप्त योग्यता, उसे पाकर ब्रह्मनिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि कैसे मिलती है यह समझाते हैं –

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

कौंतेय! सिद्धि पा चुका व्यक्ति, ज्ञान की जो सर्वोत्तम परिसमाप्ति है उस ब्रह्म को जिस प्रकार प्राप्त करता है वह प्रकार मुझसे संक्षेप में समझो।

पहले कर्मयोग का दीर्घ काल तक अनुष्ठान करने पर अंतःकरण की शुद्धि अर्थात् श्रवण करने की योग्यता प्राप्त होती है। उसी को सिद्धि कहा था। 'कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः'(३-२०) में भी यह बताया था। इसी अध्याय में पहले कहा था 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' कि परमेश्वर की अर्चना करके जब परमेश्वर की प्रसन्नता होती है तभी शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सभी में ज्ञान-निष्ठा की योग्यता आती है उसे यहाँ 'सिद्धिं प्राप्तः' कहा है। वह साधक जिस प्रकार से ज्ञाननिष्ठा के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करता है वह प्रकार अब बतायेंगे। अज्ञान की निवृत्ति ही ब्रह्म की प्राप्ति कही जाती है। ब्रह्म नित्यप्राप्त होने से उसकी प्राप्ति तो बनती नहीं, परन्तु नित्यप्राप्त होने पर भी अज्ञान के द्वारा आवृत होने से अप्राप्ति का भ्रम है। ज्ञान अज्ञान का निवर्त्तक है। परन्तु ज्ञान एका-एक दृढ नहीं होता, संशय और विपर्यय से ग्रस्त होता है। शब्द से ज्ञान उसी चीज़ का होता है जिसको तुमने दूसरे किसी प्रकार से जाना हुआ है। आँख से हमने जाना

है कि यहाँ पर नीले रंग का कुर्त्ता पहने हुए एक बच्चा बैठा है । परन्तु हमें यह दीख नहीं रहा है कि यहाँ सुप्रभ है इसलिये जब कोई कहता है कि नीले रंग का कुर्त्ता पहने हुए बैठा सुप्रभ है, तब हमें ज्ञान हो जाता है। शब्द से प्रत्यक्ष हो जाता है कि सुप्रभ बैठा है। कोई वस्तु पहले ही भली प्रकार से अपने अनुभव में आई हुई है, उसी का शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार से हम ब्रह्मस्वरूप हैं इसलिये जैसे ही कहा जाता है 'तू ब्रह्म है', वैसे ही अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है क्योंकि मैं हमेशा जाना हुआ है। फिर संशय होता है, क्योंकि मैं अपने को शरीर समझता हूँ, प्राण, मन और अहंकार समझता हूँ। ये सब जो हम गलत समझ रहे हैं इनमें ब्रह्मरूपता घटती नहीं। अतः संशय होता है कि 'मैं ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ?' तब, जो हमने सुना था 'तू ब्रह्म है,' वह ज्ञान कार्यकारी नहीं रहता क्योंकि संशय से ग्रस्त है। जब धीरे-धीरे विचार के द्वारा पता लगता है कि 'शरीर, प्राण, और अहंकार मैं नहीं हूँ,' जैसे ही ये सब 'मैं हूँ' यह अज्ञान हटता है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह स्पष्ट हो जाता है। यह जो शब्द के द्वारा साक्षात्कार है यह इसलिये सम्भव है कि मैं का हमको ज्ञान है। अज्ञान के कारण मैं-बोध में सब चीज़ें मिली हैं, यह बात दूसरी है। बाकी सबको मैं जब अपना स्वरूप समझना छोड़ता हूँ, तब ज्ञान होता है, शरीर आदि में 'मैं' की बुद्धि नहीं रह जाती। अहंकार आदि की शरीर आदि में मैं की बुद्धि है, मुझ आत्मा की नहीं। इसलिये ज्ञाननिष्ठा रूपी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

यह जो ज्ञान की निष्ठा है उसकी प्राप्ति का क्रम भगवान् बताने जा रहे हैं। अतः कहा, मैं जैसा कहता हूँ वैसा विचार-पूर्वक, संशय के भाव को दूर रखकर, भली प्रकार से समझ लो, निश्चय से अवधारण कर लो कि ऐसा ही है। भगवान् का यह मतलब नहीं कि 'मैं तुमको कहूँगा और तुम्हें निश्चय ही हो जायेगा', क्योंकि पहले ही कह दिया 'यथा' अर्थात् जिस क्रम से होता है उस क्रम से ही निश्चय होगा। साथ ही कहा कि 'इसको मैं बहुत विस्तार से नहीं कहूँगा, संक्षेप से कहूँगा अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति इस प्रकार से होती है इसको मैं संक्षेप में बताता हूँ, तुम इसका निश्चय करो'। निष्ठा का मतलब होता है किसी चीज़ की समाप्ति हो जाना, नितरां स्थिति हो जाना अर्थात् वहाँ से फिर हिलना नहीं होता। ब्रह्मज्ञान की जो परिसमाप्ति है वह ज्ञाननिष्ठा ही है। जैसा आत्मा है वैसा ही उसका ज्ञान हो जाये, इसी को बताने के लिये सारी उपनिषदें हैं और सारी युक्तियाँ हैं। यह निष्ठा सम्भव कैसे है? पहले तो आत्मा ज्ञान का विषय नहीं होता। सारे शास्त्र बार-बार कहते हैं कि ब्रह्म किसी ज्ञान का विषय नहीं है। और युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श का ही ज्ञान होता है और आत्मा रूप,रस,गन्ध,शब्द, स्पर्श है नहीं। इसीलिये ऊहापोह से द्वैतवादी यही सिद्ध करता है कि यदि ब्रह्म सच्चिदानन्द हो तो उसका ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता क्योंकि उसका ज्ञान किससे होगा! अतः उनका खूब ज़ोर यही है कि ब्रह्म साकार ही है, रूप,रस,गन्ध,शब्द,स्पर्श वाला ही है; इसी पर उनका ज़ोर रहता है। परन्तु यह इसलिये ठीक नहीं है कि यदि ब्रह्म मेरा स्वरूप नहीं होता तब तो ज्ञान के लिये उसे

विषय बनना पड़ता। हमें प्रत्यक्ष की तरह लगता है कि 'आज मेरा मन दुःखी है' जबकि घड़े की तरह मन विषय नहीं है। अतः मैं को जानने के लिये उसे विषय बनाने की ज़रूरत नहीं। जब भ्रम से माना मैं जो मन आदि, उसी को विषय बनाये बिना जान लेते हैं तब मुख्य मैं जो ब्रह्म उसे क्योंकर विषय बनाना पड़ेगा! विषय के रूप में ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता जैसे मुझे अपना विषय के रूप में ज्ञान नहीं होता। चूँकि आत्मा हमेशा प्रत्यक्ष है, मैं हमेशा हमें प्रत्यक्ष है इसलिये शब्द से ब्रह्म का अपरोक्ष हो जाता है। जैसे ही मैं का यथार्थ स्वरूप पता लगता है वैसे ही ज्ञान-निष्ठा हो जाती है। अगर कहीं आत्मा साकार होता तो यह निष्ठा असम्भव होती क्योंकि मैं देखने वाला और वह दीखने वाला होता; जब तक प्रमाण काम करता तभी तक उसका साक्षात्कार होता, उसके आगे-पीछे नहीं रहता, जैसे ही हम कुछ भी अन्य कार्य करते वैसे ही वह हमारी आँखों से ओझल हो जाता। परन्तु क्योंकि वह मेरा स्वरूप है इसलिये एक बार समझ लेने पर फिर निष्ठा हटती नहीं।

यह ज्ञान उत्पन्न होने के लिये जैसा शुद्ध आत्मा बिना राग-द्वेष और बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव के है, वैसी ही बुद्धि की स्थिति होनी पड़ती है, तभी उसमें यथावत् प्रतिबिम्ब पड़ता है; जिसको ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं, वह बनती है। सारी प्रतीतियाँ बुद्धि में ही हैं। बुद्धि आत्माकार तो नहीं होती परन्तु बुद्धि इतनी निर्मल हो जाती है कि आत्मा का आभास, ठीक जैसा आत्मा है वैसा ही पड़ जाता है। वह आभास कैसा है? जैसे साफ काँच हमारा मुँह तो नहीं होता परन्तु साफ काँच में हमको अपना मुँह, जैसा है ठीक वैसा दीख जाता है। दीख अभी भी बुद्धि में आत्मा का आभास रहा है किंतु बुद्धि अशुद्ध होने से जैसा आत्मा है वैसा न दीखकर जैसा वह नहीं है वैसा प्रतीत हो रहा है। बुद्धि के द्वारा इन्द्रियादि और शरीर तक हमें सब आत्मा लग रहे हैं क्योंकि सब आत्मा के बुद्धि में पड़े आभास से सम्बद्ध हैं। चूँकि बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त चेतन का आभास पड़ता है इसलिये उसमें आत्मभ्रान्ति हो जाती है। ठीक जैसे कहीं-कहीं ऐसे मन्दिर हैं जहाँ भगवान् की मूर्ति के दायें-बायें काँच लगे हैं अतः तुमको दोनों ओर राधाकृष्ण की असंख्य मूर्तियाँ दीखती हैं, परन्तु मूर्ति वहाँ एक ही है, उस काँच के कारण दूसरी मूर्तियाँ दीखती हैं। इसी प्रकार आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त चला जाता है और उनमें भ्रम हो जाता है कि ये आत्मा हैं। अतः कहा तो जाता है कि 'आत्मा को जानो', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', परन्तु यदि वास्तविकता का विचार करो तो तात्पर्य आत्मा को जानने का नहीं है वरन् अनात्मा के अज्ञान को हटाने का ही है। नाम रूप आदि के अन्दर, जो स्वरूप से अनात्मा हैं, आत्मा का आरोपण निवृत्त हो जाये, बस यही कर्त्तव्य है। इन सब में आत्मबुद्धि हट जाना ही आत्मचैतन्य का अनुभव है। आत्मा का अनुभव तो पहले से ही है, परन्तु इन प्रतिबिम्बों के कारण ये चैतन्य हैं, ऐसी प्रतीति चार्वाकों से लेकर विज्ञानवादी बौद्धों तक में हो जाती है। इसलिये अविद्या से अध्यारोपित जो देह से लेकर अहंकार की वृत्ति पर्यन्त हैं, उन अध्यारोपों का निराकरण करना है। यही ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न कहा जाता है। ब्रह्म कोई

विषय नहीं है जिसको जानने के लिये प्रयत्न करें, परन्तु जिसको हम आत्मा समझ रहे हैं वह आत्मा नहीं है यही समझने के लिये यत्न करना है। नाम-रूप के द्वारा ग्रस्त हमारी जो बुद्धि है, वह हमें आत्मा की तरफ न ले जाकर विषयों की तरफ ले जाती रहती है। पहले तो बाह्य विषयों से बुद्धि को हटाना है, फिर शरीर आदि विषयों से हटाना है। आत्मा यद्यपि मैं-रूप से प्रसिद्ध है, मैं-रूप से सभी आत्मा को जान रहे हैं और मैं से अधिक नज़दीक कोई है नहीं इसलिये उसे जानने में कठिनाई भी नहीं होनी चाहिये, तथापि इस नाम-रूप के कारण ही लगता है कि 'संसार के कारण को मैं नहीं जानता, ब्रह्म को मैं नहीं जानता'। वह अत्यंत दूर प्रतीत होता है कि भगवान् को देखने के लिये रामेश्वर, केदारनाथ, कैलास-मानसरोवर जायें। वे तो हमारे हृदय देश की अन्दर, अहंकार के स्फुरण के साथ ही बैठे हैं, इसे नहीं समझने के कारण ही वे अत्यन्त दूर भान होते हैं कि वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक आदि में जाकर उनका दर्शन होगा। गुरु तथा आत्मा के प्रसाद से बुद्धि अनात्मा से हटती है। उनकी कृपा से जब बुद्धि वहाँ से निवृत्त हो जाती है तब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से सरल और कोई ज्ञान नहीं लगता! बाकी सब ज्ञानों के लिये तुम्हें कोई साधन चाहिये। 'मैं' के अतिरिक्त किसी भी चीज़ को जानने के लिये तुम को साधन या प्रमाण चाहिये। परन्तु मैं को जानने के लिये किसी भी साधन की ज़रूरत नहीं है। लेकिन इसके लिये जितने अनात्माकार बाह्य पदार्थ हैं उन सब से निवृत्ति होना ज़रूरी है।

आत्मा को न प्राप्त कर सकते हो, न उससे हट सकते हो। आत्मा अर्थात 'मैं' या मेरा स्वरूप। किसी भी प्रमाण या साधन की प्रवृत्ति होने के पहले 'मैं' हूँ। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि चाहे प्रमाण अनुमान, शब्द आदि हो, चाहे जिस चीज़ को जानना है वह प्रमेय हो, चाहे जानने वाला प्रमाता हो और चाहे जानना रूपी क्रिया, प्रमिति हो, ये सब प्रवृत्त तभी होंगे जब पहले 'मै' होऊँ; उसके बाद ही प्रमाण, प्रमाता प्रमिति सब प्रवृत्त होंगे। उस 'मैं' को जानने के लिये तुमको कौन से साधन या प्रमाण की ज़रूरत है! ज्ञान पहले है। शरीर आदि अचेतन होने के कारण उनकी ज्ञानरूपता तो सिद्ध हो ही नहीं सकती। उनको तो केवल अन्धविश्वास से मान लिया है। अन्धविश्वास इसलिये है कि अनादिकाल से चला आया है। शरीर से लेकर अहंकार की वृत्ति पर्यन्त 'मैं' सिद्ध न होने पर भी इनको मानते रहते हैं। जैसे कहीं प्रसिद्ध हो जाता है कि बबूल के पेड़ के ऊपर प्रेत रहता है। किसी ने आज तक देखा नहीं। जिससे पूछते हैं वह कहता है 'सुना है, कोई कहता था।' कोई नहीं मिलता जो कहे कि 'मैंने देखा है।' परन्तु वहाँ जाकर उस पेड़ की पूजा करने वालों को पूछो तो यही जवाब है कि 'हमारे बाप दादा कहते आये हैं, क्या वे सब मूर्ख थे? अनादिकाल से इस पेड़ पर प्रेत चला आ रहा है।' इसी का नाम अन्धविश्वास है जिसका कोई आधार नहीं है। इसी प्रकार हम हमेशा मानते रहे हैं कि हम शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ हैं। कोई पूछे 'कैसे मानते हो जब कि ये सब तुमको प्रत्यक्ष तुम से भिन्न लगते हैं?' हम यही कह सकेंगे कि वह तो ठीक है, लेकिन हैं तो हम ये सब ही, इनके सिवाय हम

और क्या हैं! सारे व्यवहारों की प्रतीति जिस ज्ञानरूप आत्मा के होने से ही होती है उसके लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है, वह तो स्वतः सिद्ध है। प्रमाण की ज़रूरत तो तुम्हारे जो बैठे हुए भ्रम हैं उनकी निवृत्ति करने के लिये होती है। इसलिये यह अत्यंत सुसाध्य होने पर भी अत्यंत कठिन हो रहा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि आत्मा को जानने का प्रयत्न मत करो क्योंकि आत्मा तुम हो। जब तक आत्मा को जानने के लिये प्रयत्न करोगे तब तक उसे कभी जान सकते नहीं! जो अनात्मा है उसकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करने पर स्वतः सिद्ध आत्मा प्रकट हो जाता है। बहुत से द्वैतवादियों का यही कहना है कि 'आत्मा का ध्यान कैसे करें?' क्योंकि सोचते हैं कि ध्यान उसका करना है जो भिन्न है। तुम निरंतर आत्मदर्शन कर ही रहे हो, 'मैं'-रूप से जान ही रहे हो। केवल, 'मैं' शरीर आदि हूँ आदि जो भ्रम हो रहे हैं, उनको हटाना है। उनको हटाने पर वह तो स्वप्रकाश है, अपने आप ही प्रकाशित होता है। यही ज्ञान की परा निष्ठा है।।५०।।

ज्ञान की यह परानिष्ठा कैसे होती है? उसका उपाय बताते हैं –

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

माया से रहित बुद्धि से युक्त होकर, धैर्य से शरीरादि संघात को वश में कर (आवश्यकता से अधिक) शब्दादिविषयों को तथा राग-द्वेष को छोड़कर (साधक पहले विविक्त सेवी बने)।

यह परानिष्ठा विशुद्ध बुद्धि से होती है। बुद्धि निश्चय करती है। अंतःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि यह केवल मन के संकल्प-विकल्प वाले ज्ञान से नहीं होगा। निश्चय से हटने वाले संशय और विपर्यय हैं। ऐसा है या नहीं – यह संशय है और 'ऐसा ही है' यह उल्टा ज्ञान विपर्यय है। 'कोई गाली देता है तो मन को दुःख होने पर मुझे ही दुःख होता है। फिर मैं कैसे मान लूँ कि मुझे दुःख नहीं हो रहा है?' यह विपर्यय ज्ञान या उल्टा ज्ञान है। जब समझाया जाता है कि दुःख हुआ, उसे तुम जान रहे हो। दुःख तो मन को हुआ, तुम उसको जानने वाले उससे अलग हो। तब बात कुछ समझ में आती है। तब संशय होता है कि 'अगर मैं साक्षी हूँ तो फिर मुझे दुःख क्यों हो रहा है? दुःख नहीं होना चाहिये।' यह संशय क्यों हो रहा है? क्योंकि अन्दर के संस्कारों के कारण अभी भी समझते हो कि मैं दुःखी हो रहा हूँ। इस प्रकार संशय और विपर्यय के कारण निश्चय नहीं हो पाता। इसलिये शास्त्र और न्याय या युक्ति दोनों की ज़रूरत पड़ती है। इसमें साधक दो प्रकार के साधन वाले होते हैं : किन्हीं में शास्त्र के संस्कार इतने प्रबल होते हैं अर्थात् शास्त्र में इतनी प्रबल श्रद्धा होती है कि शास्त्र से निश्चय हो जाता है कि मैं मन नहीं हूँ। परन्तु अधिकतर लोग शास्त्र पर ऐसी श्रद्धा वाले होते नहीं। इसलिये उन्हें तरह-तरह की युक्तियों के द्वारा इस तथ्य को बताया जाता है।

परन्तु इतनी श्रद्धा तो शास्त्र में होनी ही चाहिये कि 'मुझे निश्चय नहीं हो रहा है, यह

ठीक है, परन्तु शास्त्र ठीक कह रहा है'; क्योंकि तब तो तुम उन युक्तियों को बार-बार सोचोगे जो शास्त्र की बात को सिद्ध करती हैं। धीरे-धीरे वे संस्कार प्रबल हो जायेंगे। परन्तु यदि तुम्हें शास्त्र पर इतनी भी श्रद्धा नहीं है कि शास्त्र जो कह रहा है, वह ठीक है तो उल्टी बातों की युक्ति लगाने लगोगे। युक्ति से किसी चीज़ की *सिद्धि* नहीं होती। सिद्ध चीज़ को समझने के लिये तो वह मदद कर देती है। क्योंकि युक्ति तो जैसे वकीलों की होती है: अपने मुवक्किल के अनुकूल तर्क ही वे सोचते हैं। इसी प्रकार जिसे निश्चय है कि शास्त्र ठीक है वह तो उन्हीं युक्तियों को सोचेगा जिनसे शास्त्र की बात सिद्ध होती है। शास्त्र को असिद्ध करने वाली युक्तियाँ भी उतनी ही मिल जायेंगी जितनी सिद्ध करने के लिये मिलती हैं! इसलिये जिसे शास्त्र पर मूलभूत श्रद्धा नहीं है कि 'यही ठीक है, मैं अपनी समझ को इसके अनुसार करूँ' वह मनन नहीं कर सकता। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' शास्त्र की बात सिद्ध करने के लिये तरह-तरह के तर्क करो, लेकिन उसे असिद्ध करने के लिये कुतर्क मत करो। इसलिये भगवान् ने पहली बात कही कि बुद्धि के द्वारा यह सिद्धिप्राप्ति होगी।

कैसी बुद्धि यह कर सकेगी? कहा 'विशुद्धया' विशुद्ध बुद्धि के द्वारा इसकी प्राप्ति होगी। बुद्धि की विशुद्धि क्या है? किसी भी प्रकार की भेद की या कपट की बुद्धि न होना ही बुद्धि की शुद्धि है। कपट-बुद्धि कैसी होती है? हृदय से निःसन्दिग्ध हुए बिना किसी बात को ऊपरी मन से स्वीकार मात्र लेना, उसे विचारपूर्वक निश्चित नहीं करना, बुद्धि का कपट है। जिस बुद्धि में शुद्धि नहीं होगी वह कभी भी निर्णय नहीं कर पायेगी। 'विशुद्धया' पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'मायारहितया'; माया का अर्थ यहाँ कपट लेना अर्थात् कपट से रहित बुद्धि शुद्ध बुद्धि है। जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है और जिसने धैर्य के द्वारा 'आत्मानं' अर्थात् आत्मा की उपाधि का - शरीर, इद्रिय, अन्तःकरण की अहंवृत्ति पर्यन्त सारे कार्यकरणसंघात का - नियमन कर लिया है, अर्थात् कार्यकरणसंघात को अपने वशमें कर लिया है। जिसका यह कार्यकरणसंघात वश में नहीं है उसको भी यह ज्ञान नहीं हो सकता। कार्यकरणसंघात वश में नहीं है तो सांसारिक प्रवृत्ति ही होती रहेगी। इसलिये शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यकरणसंघात का वशीकरण भी ज़रूरी है।

फिर 'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा' शब्द और आदि से सभी महाभूतों को छोड़कर। शब्द जहाँ रहता है, उस आकाश से लेकर जितने विषय हैं उन सबको छोड़कर। यहाँ भाष्यकार कहते हैं कि शब्द आदि विषयों को यदि सर्वथा छोड़ देंगे तो फिर शरीर की स्थिति भी नहीं रहेगी। शरीर की स्थिति नहीं रहेगी तो ज्ञान की दृढता नहीं होगी। शरीर की स्थिति रखने पर ही ज्ञान की दृढता तक पहुँच सकते हैं। अतः भगवान् का तात्पर्य है कि शरीर-स्थितिमात्र के लिये जो आवश्यक विषय हैं उनके अतिरिक्त बाकी सारे विषयों को छोड़ना है। आवश्यकता से अधिक विषय तो सुख के लिये चाहे जाते हैं। जैसे, शरीर की स्थिति के लिये खाना ज़रूरी है। अमुक चीज़ खाना ज़रूरी नहीं हुआ करता। अमुक चीज़ तभी ज़रूरी लगती है जब हम

सोचते हैं कि वह खाने से सुख होता है। अपने कार्यकरणसंघात को जीतने के लिये कई प्रयोग करते हैं जैसे खट्टा-मीठा जो भी भोजन मिले उस सबको मिलाकर खा लो अर्थात् स्वाद के लिये नहीं खाओ। कुछ लोग तो भोजन को लेकर गंगाजल मे धो देते हैं जिससे रसगुल्ले का मीठा भी बह जायेगा और मिर्च की पकौड़ी का तीखापन भी चला जायेगा, तब उसे खा लेते हैं। ये सब प्रयोग इसलिये हैं कि शरीर की स्थितिमात्र के लिये जितना उन चीज़ों का उपयोग है उससे अतिरिक्त की इच्छा न रह जाये। इन्हीं प्रयोगों को करने से कोई विशेष फ़ायदा है ऐसी बात नहीं है, परन्तु उन विषयों के प्रति जो सुख-बुद्धि है कि 'यह खा कर मज़ा आयेगा' वह चली जाये, इतना प्रयोजन है। शरीर की स्थिति के लिये जो हमको कौपीन इत्यादि प्राप्त होते हैं, उनमें भी राग और द्वेष नहीं करना चाहिये। शरीर-स्थितिमात्र से अतिरिक्त जितने विषय हैं, उनको तो सर्वथा त्यागे और शरीर-स्थितिमात्र के लिये जो आवश्यक हैं उनके अन्दर भी राग द्वेष का त्याग करे, ये साधक के प्रारंभिक कर्तव्य बताये।

सबसे पहले बताया कि किसी भी प्रकार की माया या छल-कपट से रहित निश्चय करने वाली बुद्धि के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। क्योंकि जैसे मन कपट करता है ऐसे ही बुद्धि भी कपट करती है। बहुत से लोग किसी चीज़ का निश्चय सचमुच में किये बिना ही मान लेते हैं कि 'मेरा निश्चय हो गया'। कैसे पता लगता है? कालान्तर में उस निश्चय से भिन्न उनका निश्चय होने लगता है। बुद्धि अध्यवसायात्मिका है। बुद्धि के निश्चय करने के तीन आधार हैं। एक तो इन्द्रिय से होने वाले जो ज्ञान हैं उनके बारे में मनुष्य को निश्चय रहता है। लेकिन ऐंद्रिय ज्ञान भी विचार के पश्चात् निश्चय होता है। इन्द्रिय से ज्ञान तो हो जाता है लेकिन वह ज्ञान प्रमा है या नहीं, इसका निश्चय करने के लिये विचार चाहिये। उस चीज़ को सामान्यरूप से जाना या विशेषरूप से जाना, युक्ति से वह विषय संगत है या नहीं, प्रमाण में कोई दोष तो नहीं है, इत्यादि समझने के बाद ही निश्चय होगा। अविद्या-वृत्ति से ज्ञान हुआ है तो भ्रम है और अंतःकरण की वृत्ति से हुआ है तो प्रमा है। परन्तु यह पता कैसे लगे कि किस वृत्ति से हुआ है? इसलिये अनेक उपायों से एवं तर्क से संवाद मिलने पर ही ज्ञान निश्चय का रूप लेता है। कभी एक प्रमाण भी निश्चय करा देता है, यह भी ठीक है कि तीन-चार प्रमाण भी दूषित हो सकते हैं, इसलिये निश्चय नहीं होता, परन्तु फिर भी प्रायः निश्चय के लिये अनेक अनुभव और उनकी परस्पर संगति अर्थात् विचार चाहिये ही। हर हालत में, चाहे एक प्रमाण से हो, चाहे अनेक प्रमाणों से हो, जब तक दृढ निश्चय न हो जाये तब तक जिसकी छलरहित बुद्धि है वह तो कहता है कि अभी निश्चय नहीं हुआ, और छल-कपट वाली बुद्धि है तो थोड़ा-सा देखा और निश्चय कर लिया कि ऐसा है, किंतु उसके बाद दूसरी बात सामने आई तो निश्चय बदल दिया! व्यावहारिक सत्ता में तो थोड़ा-बहुत ऐसा करके काम चल जाता है, परन्तु परमार्थ के लिये निश्चय यदि ऐसा रहा तो फिर वह कभी निष्ठा नहीं बन सकता। इसलिये सबसे पहला साधन छल-कपट रहित निश्चयात्मिका बुद्धि होना बताया, अर्थात् पक्का निश्चय चाहिये, निश्चय करने में चाहे

जितना समय लगे। जिस प्रकार सामान्य लोगों को इन्द्रियों के ज्ञान में निश्चय होता है वैसे श्रद्धा वाले को शास्त्र से निश्चय होता है। जैसे इंद्रियों की, ऐसे ही शास्त्र की भी परीक्षा करनी पड़ती है। उसके लिये कुछ निश्चित लिंग बताये हैं। उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति, इन सबसे निश्चय होता है। और भी यदि किसी प्रकार की शंका हो तो उसे भी भली प्रकार से गुरुजनों से पूछ कर निश्चय कर लेना चाहिये कि 'ऐसा ही है।' श्रद्धा वाले को ही शास्त्र में निश्चय होता है। पर वह भी विचारित होना चाहिये अन्यथा कभी कोई शंका आ गयी तो निश्चय डिगने लगेगा। अतः बार-बार उपनिषदों को देखकर निश्चय करना है। जब तक छल से रहित निश्चय न हो जाये कि 'शास्त्र का तात्पर्य इसी में है, और किसी में तात्पर्य हो ही नहीं सकता', तब तक श्रवण करते ही रहना है। शास्त्रीय निश्चय को स्वानुभव से और युक्ति से उपोद्बलित कर निश्चय को दृढ करना ज़रूरी है। ऐसा कपट-रहित निश्चय होना चाहिये।

और फिर कार्य-करण-संघात को उसी के अनुकूल नियंत्रित करके रखना चाहिये। यदि बुद्धि का निश्चय और हो और कार्यकरण-संघात से तुम किसी अन्य प्रकार से चेष्टा करो, तब भी कार्यकरण-संघात के अन्दर बुद्धि होने से उस निश्चय में फिर विचलित भाव आ जायेगा क्योंकि कार्यकरण-संघात से जो कुछ भी करोगे वहाँ बुद्धि के भी संस्कार आयेंगे जो उस दृढ निश्चय को बनाने नहीं देंगे। इसी लिये कहा कि निश्चय होने के बाद विषयों से दूर रहो। क्योंकि जब वृत्ति विषयाकार बनती है तो विषय चूँकि जड और परिच्छिन्न हैं इसलिये अंतःकरण में जडता और परिच्छिन्नता के संस्कार पड़ते रहते हैं। जिस आत्मतत्त्व का निश्चय करना है वह अपरिच्छिन्न और चेतनरूप है। इसलिये विषय-सेवा भी दृढ निश्चय को पूरी तरह से टिकने नहीं देती, उसके अन्दर कुछ-न-कुछ हिलना हो ही जाता है। सारे विषयों को छोड़ने पर भी इस निष्ठा को प्राप्त करने के लिये शरीर की ज़रूरत है। उस शरीर को रखने के लिये थोड़ा-बहुत विषय का चिन्तन होना ही है। थाली में भोजन आया है तो 'यह रोटी है, यह चावल है,' यह विषय-चिन्तन करोगे तभी खाओगे। अतः कहा कि जो आवश्यक हो उसके अन्दर कम-से-कम रागद्वेष-रहित रहो। विषयाकार वृत्ति तो बनेगी परन्तु उनमें राग-द्वेष से बचो। विषयों के प्रति 'यह अच्छा है, यह बुरा है' ऐसी भावना न बनाकर 'जो भगवान् ने दिया उससे निर्वाह करना है' इतना ही भाव रखना चाहिये, इससे ज़्यादा उन्हें महत्त्व नहीं देना चाहिये। शरीर-रक्षा के लिये जो आवश्यक है उतनी ही अनात्मवृत्ति बना लो, उसके अतिरिक्त नहीं।।५१।।

और भी कदम स्पष्ट करते हैं –

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

भीड़-भाड़-रहित स्थान का सेवन करने वाला, हित-मित-मेध्य भोजन करने वाला,

शरीर-वाणी-मन पर संयम रखने वाला, ध्यान और योग में तत्पर, हमेशा वैराग्य का ही पूरी तरह सहारा लेने वाला (साधक ब्रह्मभाव पाने में समर्थ होता है)।

कोशकार ने विविक्त शब्द के दो अर्थ किये हैं – एक तो पुण्य या पवित्र देश और दूसरा, विजन देश अर्थात, जहाँ पर दूसरे लोग या भीड़-भाड़ नहीं। यहाँ भगवान् का तात्पर्य दोनों से ही समझा जा सकता है कि अपवित्र देश का सेवन भी न करे और पवित्र देश होने पर भी जहाँ खूब भीड़-भड़क्का होता हो उस देश का सेवन भी न करे। 'सेवी' कहकर भगवान् यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आकस्मिक किसी कारण से तुम कहीं जा रहे हो और बीच में कुछ भीड़-भाड़ की जगह आ गई, इतने मात्र से 'विविक्त देश को छोड़ दिया' ऐसा नहीं समझ लेना। जंगल, नदी का तट, पहाड़ में गुफा, कोई सूना मन्दिर जहाँ लोग कम जाते हों – इस प्रकार के देश का सेवन करने का जिसने स्वभाव बना लिया है वह साधक ही ब्रह्मनिष्ठ बनेगा। उसका स्वभाव विविक्त देश में रहने का ही होता है। भीड़-भड़क्का, रौनक आदि जहाँ होते हैं, ऐसे देश में उसकी रुचि नहीं होती। पहले भी भगवान् ने कहा था 'विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि' (१३.१०)। एकांत का अर्थ यह भी नहीं है कि उसी साधना को करने वाले लोग वहाँ न हों। जैसे भाष्यकार ने एकांत के विचार में कहा कि एक प्रयोजन वाले अर्थात् सभी मुमुक्षु लोग जहाँ मिलकर रहते हों वह एकान्त है। उनके वहाँ रहने से ज्ञाननिष्ठा बनने में मदद मिलती है क्योंकि उसी विषय पर आपस में वार्तालाप आदि होगा। लेकिन जो प्राकृत जन हैं, जिनको परमार्थ से कोई मतलब नहीं है, संसार के विषय में ही जिनकी रुचि है वे जहाँ रहें उस देश का सेवन करोगे तो अपने अन्दर उसी प्रकार की वृत्ति आयेगी। इसलिये पवित्र और एकांत स्थल में रहे अर्थात् जहाँ एक उद्‌देश्य वाले मुमुक्षुओं का ही वातावरण हो, वहाँ रहे।

लघ्वाशी, भोजन लघु होना चाहिये अर्थात् थोड़ा खाये। लघु से यहाँ हित, मित और पथ्य की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। जो हितकारी भोजन हो, थोड़ी मात्रा में हो और जो शरीर के लिये लाभदायक हो, इस प्रकार का भोजन करने में ही जिसकी प्रवृत्ति है वह लघ्वाशी है। इसमें यह ख्याल रखना चाहिये कि 'रोज़ बादाम का हलवा ही हमारे लिये हितकारी है' यह नहीं मान ले! वह तो राग का ही सूचक होगा। कुछ आचार्यों ने जिससे निद्रा आदि न आये, इस प्रकार के भोजन करने वाले को लघ्वाशी कहा है। निद्रा आदि ज़्यादा आयेगी तो निरन्तर श्रवण मनन बनेगा नहीं।

'यतवाक्कायमानसः' वाणी, शरीर और मन इन सबको संयत रखे, इन्हें अधिक प्रवृत्त न होने दे। वाणी का ज़्यादा प्रयोग करोगे तो वाणी का प्रयोग अनात्म विषयों के बारे में होने लगेगा। आत्म-विषयक शब्दों का प्रयोग तो करो, जो बातें आत्मज्ञान के लिये हितकारी हैं उन बातों को तो करो, परन्तु अनात्मविषयक बातों को मत करो। इससे अपने आप ही तुम्हारी बातें कम हो जायेंगी। प्रायः देखा जाता है कि यदि आत्मविषयक वार्ता को थोड़ी देर करते हो तो हर-एक आदमी का कोई न कोई ज़रूरी काम आ जाता है और वह चला जाता है!

यदि अनात्मविषयक बातों को करते रहते हो तो भीड़ जमा रहती है। जब आत्मविषयक बातों का ही प्रयोग करोगे तो अपने-आप तुम्हारा विवेक काम करेगा। इससे दो बातें होंगी। एक तो, बहुतसी बातें बोलने की नहीं होती और दूसरा, कोई सुनने वाला नहीं मिलता! इसलिये आत्मविषयक ही वाणी का प्रयोग करे, अनात्मविषयक न करे। शरीर को भी संयत रखे। यदि शरीर असंयत रहता है तो अनावश्यक कार्यों को करता है। पहले मन में संकल्प होगा तभी शरीर की क्रियायें होंगी। जहाँ अनात्मविषयों के संकल्प हुए वहाँ वे फिर तुम्हारे प्रतिबन्धक बन जाते हैं। दूसरी बात यह है कि तुम श्रवण-मनन में लगे हुए हो और शरीर संयत नहीं होगा तो शरीर के पीछे तुम को खुद भी श्रवण-मनन छोड़कर कुछ करना पड़ेगा। जैसे बहुत से लोग होते हैं जो पाँच-छह घण्टे एक आसन से भी नहीं बैठ सकते। बीच-बीच में उठकर जाना पड़ता है। इसलिये वाणी, शरीर और मन सब संयत हों अर्थात् आत्मविषयक कार्यों में ही ये सब लगें।

तब 'ध्यानयोगपरो नित्यं', तभी ध्यानयोगपरायण हो सकेंगे। ध्यान का मतलब चित्त की एकाग्रता होता है। पतंजलि ने यही कहा है कि एक ही प्रत्यय का प्रवाह हो तब ध्यान होता है। आत्मस्वरूप का चिन्तन ही ध्यान है। सत्‌रूप, चित्‌रूप आनन्दरूप और अनंत का ही स्वरूप-चिन्तन चले। 'युजिर् समाधौ' धातु है। धीरे-धीरे वृत्ति-प्रवाह ऐसा हो जाये कि उस वृत्ति-प्रवाह की ज़रूरत न रहे, अन्तःकरण केवल उसी भाव में स्थित बना रहे। प्रवाह में तो कुछ परिवर्तन हो जाता है। जब तक अन्तःकरण रहेगा तब तक तो अनात्मा होने से चंचल है परन्तु ध्यान होते-होते थोड़े समय के बाद अन्तःकरण रह नहीं जायेगा। तब स्वरूप स्थिति में रहोगे। उससे फिर उसे चलायमान नहीं करना है। वहाँ वृत्ति का आभव होने से शुरू में लगता है कि शून्यता हो गई, चिन्तन चला गया। अतः भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है 'समप्राप्तं न चालयेत्' जब उस समभाव के अन्दर स्थित है तब वहाँ से चलाने की ज़रूरत नहीं है। अर्थात् वृत्ति बने तो आत्माकार बने अथवा यदि मन विकल्परहित हो जाता है, प्रत्ययरहित हो जाता है, स्वरूप में स्थिति है तब वहाँ से इधर-उधर होने की ज़रूरत नहीं। यह नित्य ध्यानयोगपरायण की स्थिति है। तब आत्माकार वृत्ति का प्रवाह रहता है या आत्माकार भी प्रवाह न रह कर स्वरूप स्थिति ही रह जाती है। नित्य का ग्रहण इसलिये किया गया है कि मंत्रजप तीर्थ-भ्रमण अथवा इस प्रकार की जो दूसरी प्रवृत्तियाँ प्राप्त हैं उन सबको न करे। यति के लिऐ जो द्वादश सहस्र प्रणव जप का विधान है वह भी इस स्थिति के साधक के लिये नहीं है। बाकी सब चीज़ों को छोड़कर आत्मचिन्तन में स्थित रहना है क्यों कि बाकी सब चीज़ों के अन्दर अनात्मा का अंश बढ़ता चला जायेगा। तीर्थयात्रा करोगे तो देवदर्शन के समय कुछ वृत्ति बन सकती है परन्तु रास्ते चलना, वहाँ पहुँचना आदि सब में तो अनात्मवृत्ति ही बनेगी। मंत्रजप आदि में कुछ आत्मवृत्ति का भाव है लेकिन संख्यापूर्ति आदि की भी दृष्टि रखनी पड़ती है। इसलिये 'नित्य' नहीं हो सकता।

ध्यान योग की नित्यता से मनुष्य क्यों दूर होता है? क्योंकि कोई न कोई राग का विषय

आकृष्ट कर लेता है। जो कुछ भी प्राप्त होने वाले दृष्ट और अदृष्ट पदार्थ हैं उन सबके प्रति राग-रहितता होनी चाहिये। 'समुपाश्रितः' भली प्रकार से उस राग-रहितता का आश्रय ले। अर्थात् तुरन्त उस चीज़ का विवेक करे। ऐसे विवेक के प्रकरण शास्त्र में बहुत जगह आते हैं। वहाँ वैराग्य को बताने के लिये ऐसे प्रकरण आये हैं जहाँ ऋषि कहते हैं कि इन्द्र का पद कुत्ते के मूत्र जैसा है। जब लोग इसको पढ़ते हैं तो कई बार कहते हैं कि 'ये लोग वेदविरोधी थे क्योंकि वेद में तो इन्द्र की बड़ी प्रशंसा की गई है।' किंतु वेद में ही तो उपनिषद् है और वहाँ स्पष्ट कहा है कि उस परमात्मा के भय से ये सब देवता काँपते हैं। जब तक उन पदों के प्रति तुम्हारी राग की भावना है तब तक दोषदर्शन से उनमें वैराग्य उपजाने के लिये ऐसे वर्णन ज़रूरी हैं। दृष्ट विषयों के प्रति राग घटने पर भी अदृष्ट विषयों के प्रति राग बना रहता है। अतः वैराग्य का ऐसा आश्रय या सहारा लेना है कि आत्मा के सिवाय कोई किंचित् भी श्रेष्ठ पदार्थ शास्त्र या लोक से प्रतीत हो तो उसके प्रति राग का सर्वथा अभाव हो जाये।।५२।।

अन्तिम कदमों का निर्देश करते हैं –

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहंकार, बल, दर्प, कामना, क्रोध, विषयसंग्रह छोड़कर, ममतारहित होकर शान्त हुआ साधक ब्रह्मभाव पाने योग्य हो जाता है।

अहंकार – शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सब को अपना स्वरूप समझने का नाम ही अहंकार है। वस्तुतः तो अहं केवल प्रत्यगात्मा का नाम है। परन्तु हम प्रत्यगात्मा को नहीं जानते इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को हम 'मैं' समझते हैं। यह समझना ही अहंकार है। बहुत से लोग उल्टा समझते हैं, वे कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका नाम अहंकार है! 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अहंकार नहीं है 'मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि हुँ' – यह अहंकार है क्योंकि ये सब सचमुच में अहं हैं नहीं। जैसे कोई व्यक्ति दसवीं भी अनुत्तीर्ण हो और अपने को लब्धस्वर्णपदक (गोल्ड मैडलिस्ट) कहे तब उसे अहंकार कहा जायेगा क्योंकि वह है नहीं और कहता है। इसी प्रकार तुम सच्चिन्मात्र रहते हुए अपने को शरीर आदि वाला कहते हो, परन्तु हो तो नहीं, इसलिये इसी का नाम अहंकार है।

बल– जैसे अहंकार है वैसे ही शरीर आदि के बल को अपना बल समझते हो। शरीर आदि का बल तो काम, राग आदि से युक्त है। जिस विषय की कामना होगी उसके लिये शरीर में खूब बल होगा और जिस विषय से तुमको द्वेष होगा उसको करने में तुम्हारे शरीर की ताकत कभी नहीं लगेगी! शरीर से यहाँ स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर लेना। जिसे हृदय से महत्त्व देते हैं उसे सम्पन्न करने के लिये देहद्वय में बल उपलब्ध होता है, जिसे महत्त्व नहीं देते उसके लिये अनुपलब्ध रहता है। प्रायः अनात्मा ही महत्त्व का लगने से सभी को

सांसारिक कार्यों व विचारों के लिये बल मिल जाता है पर परमात्मा की ओर चलने की अपने में ताकत नहीं लगती। ऐसे अनात्म पक्षीय, काम राग से युक्त बल को भगवान् यहाँ छोड़ने को कह रहे हैं। जो स्वाभाविक बल है उसको तो छोड़ना सम्भव ही नहीं है।

दर्प– जब हमको किसी चीज़ में बहुत प्रसन्नता होती है, हमारे मन का काम हो जाता है, तो एक स्वाभाविक भाव आता है कि 'हम कुछ भी कर सकते हैं' और वह फिर धर्म का अतिक्रमण कराता है। दर्प न होने का मतलब है कि शरीर आदि संघत से तुम्हारा सम्बन्ध है ही नहीं तो उनके सुखादिसे हर्षातिशय असंभव हो जाता है। 'बुद्ध्या विशुद्धया' से ही धर्मातिक्रमण का हेतुभूत दर्प नियंत्रित बता चुके हैं, फिर भी भगवान् दर्प का त्याग कह रहे हैं यह स्पष्ट करने के लिये कि ऐसा साधक कभी धर्मातिक्रमण कर नहीं सकता। इसलिये सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'धर्मकार्ये कुतस्तत् स्याद् यत्र धर्मोपि नेष्यते;' पहले तुमने अधर्म छोड़ा तब तुम्हारा आचरण धर्म वाला हुआ। अब उसके भी आगे गये तब धर्म भी अर्थात् कर्ममात्र ही छोड़ दिया। यह स्थिति धर्म का कार्य है। पहले तुमने धर्म का आचरण किया तब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान की प्राप्ति में लगे। इसलिये जो धर्म का कार्य है, जिस दशा में धर्म में भी प्रवृत्ति नहीं, वहाँ अधर्म हो कैसे सकता है! क्योंकि तुम तो उससे कहीं आगे चले गये हो।

जैसे दर्प वैसे ही कामना नहीं रह जाती। जैसे-जैसे ध्यानयोग के अन्दर आत्माकार वृत्ति की बहुलता होती है वैसे मनुष्य की अनन्त शक्तियाँ खुलती हैं। यह बात योगसूत्रों में भी विस्तार से वर्णित है और ब्रह्मसूत्रों में भी इसका उल्लेख आया है। यद्यपि उपनिषदों में उपाधिसहित ब्रह्म की उपासना से शक्ति का वर्णन आया है इसलिये उपाधि-रहित के अन्दर शक्ति का वर्णन माना जाये यह ज़रूरी नहीं, यह बात बिलकुल ठीक है, निर्गुण विद्या का *फल* शक्ति की प्राप्ति नहीं है, तथापि ब्रह्म तो एक ही है, इसलिये जितना-जितना आवरण दूर होता जायेगा, उतना-उतना सब शक्तियों का उदय होता है। वे सब जैसे ब्रह्म में कथित हैं वैसे ही प्रत्यगात्मा में भी कल्पितरूप से रह सकती हैं। किंतु ऐसा थोड़ा भी भाव आने पर मनुष्य में अहंकार, बल, दर्प आदि आ सकते हैं इसलिये इस स्थिति में भी इनका निषेध ज़रूरी हो गया। किसी भी प्रकार की कामना नहीं पालनी चाहिये। जब कामना ही नहीं तो क्रोध आये कहाँ से! कामना का विरोध होने पर ही क्रोध आता है। परिग्रह– परिग्रह तो बहुत पहले ही छोड़ दिया, फिर यहाँ परिग्रह क्यों कह रहे हैं? शरीर के धारण करने के प्रसंग से अथवा अपने मनन आदि धर्म के अनुष्ठान के निमित्त से बाह्य परिग्रह प्राप्त होता है। शरीर-धारण, सर्दी से बचाव के लिये ज़रूरी कोई न कोई चीज़ कंथा आदि भी तुम्हें चाहिये, लोकलाज आदि निवारण के लिये कौपीन भी चाहिये, श्रवण-मनन आदि के लिये ग्रन्थ आदि भी ज़रूरी हो जाते हैं; यह परिग्रह प्राप्त होता है। इसलिये कहते हैं कि उनमें भी 'मेरा ही है' ऐसा परिग्रह का भाव छोड़कर, काम चलाने के लिये हैं– इतना ही भाव रखे। 'मेरा है' यह परिग्रह का भाव नहीं होना चाहिये।

निर्ममः, ममता छोड़े। परमहंस परिव्राजक होने से और सब चीज़ों से ममता तो वह छोड़ चुका है परन्तु देहधारण-मात्र के लिये और श्रवण-मनन आदि के लिये चीज़ों की रक्षा के लिये ममभाव का न होना, यह निर्ममः से कह दिया। इसलिये भाष्यकार ने शतश्लोकी में कहा है 'तिष्ठन् गेहे गृहेशोप्यतिथिरिव' भले ही लोकदृष्टि में घर का मालिक हो पर रहे वहाँ अतिथि की तरह। अतिथि का यही भाव होता है कि सर्दी-गर्मी, बरसात से बचने के लिये इस घर में रहता हूँ, परन्तु यह घर मेरा ही नहीं है। ऐसे ही घर में जितने लोग हैं उन सबका घर है, सभी गृहेश की तरह ही रहते हैं। इसी प्रकार इस शरीर-मन के अन्दर प्रत्यगात्मा रहता है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन का परिपाक होकर ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति हो जाये, इस के लिए अहंकार, मन, बुद्धि इत्यादि भी रहते हैं और वे इसके लिये प्रवृत्ति भी करते हैं। 'मेरे बिना इनकी प्रवृत्ति नहीं होगी, परन्तु इनकी प्रवृत्ति से मैं प्रवृत्तिमान् नहीं होता,' ऐसा निर्मम होना पड़ेगा।

शान्त- इस निर्मम भाव से ही शांत हो जाता है अर्थात् उपरति आती है। शरीर में मुझे रहना है क्योंकि मुझे अपना काम, श्रवण-मनन, सिद्ध करना है। शरीररक्षा के लिये मन, बुद्धि आदि काम कर रहे हैं, मुझे उस सब में दखल देने की ज़रूरत नहीं। मेरे बिना वे नहीं कर सकते यह निश्चित बात है, परन्तु उनको करते हुए देख कर भी मैं करने वाला नहीं बनूँ यह शांति है। अतः अशांति के कारण के अभाव से शांत है।'यह घर मेरा ही है' यह मानकर यदि घर का मालिक घर में रहेगा तो बाकी सबसे उसका झगड़ा होता ही रहेगा! ऐसे ही शरीर में मैं रहता हूँ, दूसरे भड़ैती भी इसमें रहते हैं। वे कुछ न कुछ खटपट करते रहेंगे और उनकी खटपट से यदि मैं अशांत रहूँगा तो मैं कैसे शांत हो सकूँगा?

जब ये साधन जीव में आते हैं तब साधक ब्रह्म स्वरूप में स्थित होने के योग्य होता है। ये सभी साधन पहले अनिवार्य हैं अर्थात् ये सब हो जायें तब ज्ञाननिष्ठा होगी।।५३।।

भगवान् ने ज्ञान प्राप्त करने के लिये 'परिग्रहं विमुच्य निर्ममः शान्तः' के द्वारा संन्यास का विधान करके बताया कि शरीर के प्रति भी ममता से रहित हो करके और निरन्तर शम में स्थित रह करके ही ब्रह्म भाव में स्थित रहने में समर्थ होता है। सब उपाधियों के कारण उसका प्रत्यग्भाव में स्थिर रहना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि इन सबमें जब हम अहम् और मम दृष्टि करेंगे तो फिर स्वाभाविक है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह निष्ठा नहीं हो पायेगी। जबतक एक वृत्ति स्थित रूप से न रहे, जैसा 'बुद्ध्या' के द्वारा पहले कहा कि जब तक यह अध्यवसाय अर्थात् निश्चय न हो जाये कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ', इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ, तब तक फल नहीं मिलता। इस क्रम से मुक्त हुए व्यक्ति का वर्णन करते हैं -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्मको प्राप्त प्रसन्नमना मुक्त न शोक करता है, न आकांक्षा रखता है, सब भूतों के प्रति सम रहता है और मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है।

जब ब्रह्म में निश्चयपूर्वक स्थिर रहता है तब उसका स्वभाव कैसा होता है यह बताते हैं। प्रसन्नात्मा; मनुष्य के आनन्द का कारण तो आत्मा है क्योंकि आत्मा आनन्दरूप है। और मनुष्य के दुःख का कारण शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त सब कुछ है क्योंकि ये सब स्वभाव से जड अतः दुःखरूप हैं। जब इस जड और दुःख को हम 'मैं' मानते हैं तब तो कभी दुःखी और कभी सुखी होंगे। परन्तु जब जड पदार्थों से हम हमेशा के लिये अपने को अलग कर लेते हैं तब फिर दुःख का कोई कारण नहीं रहता और, आत्मा का स्वभाव आनन्द है इसलिये आनन्द ही प्रकट होता रहता है। कार्यकरण-संघात में आत्मा इस प्रकार से इन सबसे सम्बंधरहित होकर के विद्यमान रहता है तो उसका जो प्रसन्न स्वरूप है वह प्रतीत होता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा 'प्रसन्नात्मा लब्धाध्यात्मप्रसादः' शरीर आदि में रहनेवाले को ही अध्यात्म कहते हैं। जैसा उसका भाव है वैसा ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर फिर अन्य सारी चीज़ों में प्रतिबिम्बित होता है। जब तक प्रत्यगात्मा देह आदि में अहं-बुद्धि रखता था तब तक उसमें देहादि का भाव प्रकट होता था। जब अहंकारात्मिक वृत्ति में शुद्ध सच्चिदानन्दरूपता का ही प्रतिबिम्ब पड़ रहा है तब उसका नतीजा यह होता है कि बुद्धि में भी वह प्रसन्नता रहेगी। बुद्धि से मन में, मन से इन्द्रियों में और इन्द्रियों से शरीर में आयेगी। इसलिये प्रसन्नात्मा है।

अब उसको पता है कि शरीरद्वय सहित संसार की सभी चीज़ें क्षणिक अर्थात् नश्वर हैं। इनको नष्ट अवश्य होना है। आदमी जब बहुत बीमार रहता है तब उसके प्रिय लोग भी यही कहते हैं कि 'अब तो भगवान् इनको उठा ले तो ठीक है', अर्थात् उसका उठ जाना अब शोक का विषय नहीं रह गया है, जानते हैं कि ऐसा बीमार है कि ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार संसार के यावत् पदार्थ शरीर मन बुद्धि पर्यन्त, सब नष्ट होने वाले हैं अतः उनके नष्ट होने से उसके मन में कभी शोक नहीं आ सकता क्योंकि उसको पता है कि इसके सिवाय इनकी कोई गति नहीं है। शोक का प्रसिद्ध अर्थ होता है किसी इष्ट पदार्थ के नष्ट हो जाने से अपने में विगुणता समझकर दुःखातिशय की प्रतीति होना, जैसे धन के नष्ट हो जाने से 'मैं निर्धन हो गया' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे धन, वैसे ही अपने शरीर के अन्दर होता है। पैर कट जाता है तो 'मैं अपाहिज हो गया' इस विगुणता की प्रतीति से शोक होता है। लेकिन जो इस बात को जानता है कि मेरे में कोई भी गुण है ही नहीं तो विगुणता कहाँ से आयेगी! – वह शोक नहीं कर पाता। सगुण पदार्थ में विगुणता आ सकती है। निर्गुण पदार्थ में कभी विगुणता आ ही नहीं सकती। पदार्थों का अवश्य नष्ट होने वाला स्वभाव होने से उनके नष्ट होने से शोक होने का कोई प्रसंग ही नहीं आता। अतः विगुणता उस में असम्भव है। इसलिये 'न शोचति'। और 'न कांक्षति' वह किसी भी पदार्थ की अकांक्षा भी नहीं रखता क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब स्वरूप से मिथ्या हैं। मिथ्यातिरिक्त उनकी सत्ता सिद्ध होती नहीं। अतः यदि प्रतीत हो रहा है तो, और प्रतीत नहीं हो रहा है तो, वह है तो नहीं ही। प्रतीति से ही किसी चीज़ की सत्ता सिद्ध होती है, अतः जो प्रतीत नहीं हो

रहा है, मिथ्या होने से उसकी आकांक्षा हो ही नहीं सकती।

कहीं–कहीं 'न शोचति' की जगह पाठ 'न हृष्यति' भी है। उसका अर्थ होगा कि उसको हर्ष नहीं होता। क्योंकि प्रसन्नात्मा कहने से किसी को यह प्रतीति हो कि वह हमेशा हर्षित होता होगा और जो हर्षित होता है वह दृप्त होकर धर्मका अतिक्रमण करता है। इसलिये कहा कि वह प्रसन्नात्मा तो है परन्तु यह प्रसन्नता हर्षवाली प्रसन्नता नहीं है। सारे दुःखों की निवृत्तिरूपी जो बुद्धि के अन्दर राग–द्वेषों के नष्ट हो जाने से शांत अवस्था है, उसमें प्रतीत होने वाली प्रसन्नता है। इसलिये न वह किसी विषय की आकांक्षा करता है और न उसके अन्दर यह भाव आता है कि 'बहुत अच्छा हो गया, मुझे इसकी प्राप्ति हो गई'। भाष्यकार कहते हैं – 'ब्रह्मभूतस्य अयं स्वभावः अनूद्यते न शोचति न कांक्षति इति' अर्थात् ब्रह्मभूत का यह स्वभाव बताया; ऐसा नहीं कि वह शोक नहीं *करता* वरन् उसको शोक होता ही नहीं है। इसलिये यह ब्रह्मभूत के स्वभाव का अनुवाद है।

'समः सर्वेषु भूतेषु' सब प्राणियों के प्रति इसकी एक जैसी दृष्टि रहती है। अर्थात् प्राणियों के सुख या दुःख को देखकर इसके अन्दर उनके निग्रह–अनुग्रह करने की कोई वृत्ति नहीं बनती। दुःख देखकर 'इसका दुःख दूर हो' और सुख देखकर 'इसका सुख बढ़े' इस प्रकार का निग्रह–अनुग्रह यह मानकर होता है कि दूसरा सुखी है या दुःखी है। परन्तु सुख–दुःख सबको एक जैसा ही होता है इस ज्ञान के कारण उसको 'समः सर्वेषु भूतेषु' कहा। यहाँ सम का मतलब यह नहीं समझ लेना कि विषमता का बाध करके उसमें अधिष्ठानरूप से रहने वाले को कहा है। एक आत्मा ही सबका अधिष्ठान है यह तो अगले श्लोक में भगवान् को कहना है। इसलिये यहाँ इतना ही कहा है कि सुख–दुःख सबको एक जैसा होता है इसलिये न सुखी के प्रति उसकी कोई अनुग्रह की भावना है और न दुःखी के प्रति निग्रह की भावना है। न पापी के प्रति निग्रह की भावना है और न पुण्यात्मा के प्रति अनुग्रह की भावना है। चूँकि सब प्राणी सुख–दुःख का एक जैसा अनुभव करते हैं इसलिये तत्त्वनिष्ठ निग्रह–अनुग्रह दोनों से रहित होता है।

'परां भक्तिं लभते'। इस प्रकार का जो ज्ञाननिष्ठा वाला है, वह पराभक्ति को प्राप्त करता है। भगवान् पहले कह आये हैं –

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।७–१६।।

कि 'ज्ञानी नित्ययुक्त व एकभक्ति होने से विशेष भक्त है अतः मुझे अत्यन्त प्रिय है, मेरी आत्मा है।' ज्ञानीकी भक्ति को ही यहाँ परा भक्ति कह रहे हैं।।५४।।

उस भक्ति का मतलब क्या है, यह भगवान् स्वयं बताते हैं –

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

वास्तवमें जितना व जो मैं हूँ, भक्ति द्वारा उस मेरी वह अभिज्ञा करता है। उससे मुझे यथावत् जानकर बिना किसी विलम्ब के (मुझमें ही) प्रवेश कर जाता है।

यह जो चतुर्थ भक्ति, परमा भक्ति या परमेश्वर की भक्ति है, उससे मैं जितना कुछ हूँ उस सबको जान लेता है। मैं माया उपाधि से ईश्वर, सूक्ष्म भूतों की उपाधि से हिरण्यगर्भ और स्थूल भूतों की उपाधि से विराट्; सत्त्वगुण की उपाधि से विष्णु, रजोगुण की उपाधि से ब्रह्मा और तमोगुण की उपाधि से रुद्र हूँ। व्यष्टि रूप के अंदर विश्व उपाधिसे जीव हूँ, परिच्छिन्न हूँ। तैजस उपाधि से स्वप्न अवस्था में हूँ और सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ हूँ। आकाश आदि सारे महाभूत मुझसे पैदा होते हैं। अन्तर्यामीरूप से मैं सबको नियंत्रण में रखता हूँ, कर्मफलदाता मैं हूँ। ये सब चीज़ें वह जान लेता है। विभिन्न उपाधियों वाले सभी भूतों में मैं हूँ। उपाधियों में प्रतीत होने वाले सारे रूप तो मिथ्या हैं, मिथ्या उपाधियों के कारण प्रतीत होने वाले हैं। तत्त्वतः सारी उपाधियों को हटाकर आकाश के समान सर्वथा असंस्पृष्ट रहते हुए मैं सर्वव्यापक हूँ। परमेश्वर की व्यापकता किसी संयोगादि सम्बन्ध पर निर्भर नहीं है। जैसे स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं उन सब में हम व्यापक हैं क्योंकि हमारे सिवाय वहाँ कुछ नहीं है, वैसे सर्वत्र परमेश्वर व्यापक है। जैसे स्वप्न में हमारी व्यापकता का मतलब यह नहीं है कि हम लम्बे चौड़े हो जाते हों! ठीक इसी प्रकार परमेश्वर का सर्वव्यापक रूप किसी देश-काल की व्यापकता को लेकर नहीं है। वही उत्तम पुरुष है जिसे पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम ब्रह्म कहा है। वह अद्वितीय है, चैतन्यमात्र-एकरस ही उसका स्वरूप है। जिन चेतनों को हम समझते हैं वे जन्म-मरण वाले, उपाधि वाले हैं। वे सब 'यावान्' से आ गये। जन्म-जरा से रहित, मरण से रहित, भय-मृत्यु से रहित जो उसका स्वरूप है उसे भी वह जानता है। अर्थात् उसे स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानरूप उपाधि के कारण यह सब जो प्रतीत हुआ था, वह कुछ भी मेरे सिवाय न था, न है और न हो सकता है। परन्तु ये सब प्रतीत होते हुए भी सारे कल्पित हैं, मैं ही नित्य सत्य हूँ।

'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा'। उपाधियों के बाध से अधिष्ठान का ज्ञान तत्त्वज्ञान है क्योंकि अधिष्ठान ही तत्त्व है। इस ज्ञान से 'विशते तदनन्तरं' परमात्मा में प्रवेश कर जाता है। ज्ञान के बाद प्रवेश में कोई अन्तर नहीं है इसलिये अनन्तर कहा। प्रायः किसी चीज़ को जानकर फिर उसका उपयोग अलग-अलग होता है, ऐसा यहाँ नहीं है। जीव परमात्मा होने से हमेशा ही मानो प्रविष्ट है, वास्तव में तो अभिन्न होने से प्रवेश होगा नहीं, पर अज्ञान के कारण भेद की प्रतीति रहते अभेदलाभ को प्रवेश के रूप में कहा जाता है। अज्ञान निवृत्त हो जाने पर जैसा है वैसा रह जाता है। 'ज्ञात्वा' अर्थात् 'जानकर'। यह सुनकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई कहे 'स्नान करके आता हूँ' तो स्नान का कर्म ख़त्म होगा तब आने का कर्म शुरू होगा, इसी प्रकार यहाँ कहा होगा कि पहले जाने का काम ख़त्म हो जायेगा फिर प्रवेश होगा। यदि आत्मा मेरा स्वरूप न होता तब ऐसा होता। किन्तु आत्मा मेरा स्वरूप है। अज्ञान से मुझे लगता था कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ। जिस प्रकार से कर्ण को लगता था कि मैं क्षत्रिय नहीं

हूँ। जब सूर्य ने उसे उपदेश दिया कि 'तू कुन्ती का पुत्र क्षत्रिय है' तब यह ज्ञान होते ही वह क्षत्रिय *हो गया*। उसे ऐसी प्रतीति नहीं कि 'मैं *अब* क्षत्रिय हो जाऊँगा।' 'मैं क्षत्रिय हूँ' ऐसी ही प्रतीति हुई और बनी रही। इसी प्रकार जब शिष्य सुनता है 'तू ब्रह्म है' तो उस के बाद संदेह आयेगा कि 'मैं ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म तो सारे जगत् का कारण है और मैं अपने शरीर का ही कारण नहीं हूँ। अपना शरीर ही मैंने नहीं बनाया तो मैं सारे जगत् का कारण कैसे हो सकता हूँ?' इस प्रकार जो संशय-विपर्यय हैं उनको हटाने के लिये मनन-निदिध्यासन की ज़रूरत है। मनन-निदिध्यासन होने पर सारी शंकायें हट जायेंगी। तब गुरु के कहने से जो प्रथम ज्ञान हुआ था 'मैं ब्रह्म हूँ', वह स्थिर हो जाता है। जो संशय-विपर्यय हुआ था वह इस विचारित ज्ञान से हट जाता है। इसलिये ज्ञान और प्रवेश दोनों क्रियाओं के बीच में कोई अन्तर नहीं है। 'अनन्तर' अर्थात् बिना किसी अन्तर या फ़र्क के ज्ञान ही प्रवेश है। पहले भी भगवान् ने यही कहा था 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' क्षेत्रज्ञ परमेश्वर ही है। इसलिये अहंकार, बल, दर्प आदि सारे जो क्षेत्रज्ञ की परमेश्वरता में संशय-विपर्यय थे वे सब हट कर केवल 'ज्ञान' ही प्रवेश है।

यहाँ भाष्यकार ने एक शंका उठाई है कि यह कहा क्या जा रहा है कि ज्ञान की परमनिष्ठा होती है तब उसका ज्ञान होता है? हमने घट को जाना तो घट का ज्ञान हो गया। अब चाहे उस घट को घण्टा-दो घण्टा देखते रहें, ज्ञान तो जो है वही बना रहेगा। फिर इस ज्ञाननिष्ठा को भगवान् अलग कैसे कह रहे हैं कि ज्ञाननिष्ठा से मुझे जानता है, ज्ञान से नहीं जानता? यदि ज्ञान से नहीं जानता तो ज्ञाननिष्ठा से कैसे जानेगा? ज्ञाननिष्ठा का घुमाफिराकर अर्थ करोगे कि ज्ञान की आवृत्ति हो; तो ज्ञान की आवृत्ति से भी क्या होगा? घटके ज्ञान से घट ज्ञात नहीं हुआ तो घटज्ञान की आवृत्ति करने से भी ज्ञात नहीं होगा। इसलिये भगवान् जो कह रहे हैं कि ज्ञान से नहीं जानता और ज्ञानावृत्ति रूपी जो ज्ञाननिष्ठा है उससे जानता है, यह बात विरुद्ध लगती है। यहाँ आचार्य ने गम्भीर समाधान दिया है 'ज्ञानस्य स्वात्मोत्पत्तिपरिपाकहेतुयुक्तस्य, प्रतिपक्षविहीनस्य यद् आत्मानुभवनिश्चयावसानत्वं तस्य निष्ठा-शब्दाभिलापात्'। ज्ञान को पकना पड़ता है तभी वह सफल होता है। इस प्रकार उसे पकाना और उसके विरोधियों को नष्ट करना – यही निष्ठाप्राप्ति की साधना है। आत्मा की वास्तविकता जब अकम्प निश्चयरूप अनुभव हो जाये तभी ज्ञाननिष्ठा कही जाती है और तभी मूलाज्ञान समाप्त होता है। ज्ञान के विरोधी संशयादि हैं। हमें लम्बे समय तक कोई भ्रम रहा हो तो अधिष्ठानज्ञान होने पर भी भ्रमसंस्कारों की प्रबलता से संशय उठता रहता है, फिर-फिर परीक्षा करने की प्रेरणा होती है, फिर धीरे-धीरे निश्चय होने पर संशय सर्वथा रुक जाता है। इसी प्रकार जब गुरु ने कहा 'तू ब्रह्म है' तब ' मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान तो हुआ। परन्तु उसके बाद ही 'मैं शरीर हूँ' यह ज्ञान हो गया। तब शंका होती है कि 'मैं शायद ब्रह्म नहीं हूँ'। गुरु कहते हैं तो श्रद्धा हो सकती है कि मैं ब्रह्म हूँ, परन्तु प्रत्यक्ष जो शरीरद्वय मैं-रूप से अनुभव हो रहा है, वह उस श्रद्धा का विरोधी बनकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस निश्चय को उत्पन्न नहीं होने देता। जब तक यह निश्चय न हो जाये कि 'मैं

शरीर नहीं हूँ' तब तक आत्मा का अनुभव निश्चयरूप नहीं होता। शास्त्र के शब्द से एक ज्ञान हो रहा है, मन से दूसरा ज्ञान हो रहा है। इसलिये संशय हो जाता है। इस द्विकोटिकता को हटाना ज़रूरी होता है। जब तक आत्मानुभव निष्ठा न बन जाये तब तक वह 'अभिज्ञान' नहीं होता।

शास्त्राचार्य के उपदेश से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान होता तो शास्त्र या गुरु के शब्द से ही है परन्तु उसके परिपाक के लिये सहकारी कारण चाहिये। बुद्धि-विशुद्धि आदि सहकारी कारण हैं। ये बिना हुए वह ज्ञान निश्चय में नहीं बदलता। इसी प्रकार अमानित्वादि, अद्वेष्ट्रादि सारे इस ज्ञान को निष्ठा बनाने में अर्थात् निश्चय बनाने में सहकारी कारण हैं। शास्त्र या गुरु के उपदेश से प्राप्त हुआ जो ज्ञान है वह अपने विरोधी को अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होने वाले ज्ञान को तभी उत्पन्न नहीं होने देगा जब विरोधी ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव हो जाये। विरोधी ज्ञान को सम्भव करने के उपाय हैं अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध आदि। ये सब 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इसे दृढ करने वाले हैं। जब तक इन्हें नहीं हटाया जायेगा तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह निश्चय नहीं हो सकेगा इसीलिये सर्वकर्मसंन्यास की ज़रूरत पड़ती है। कोई कर्म किया जाये तो संस्कारों की अपेक्षा रखेगा और वे सब संस्कार कर्त्ता-भोक्ता के ही हैं। बार-बार वे संस्कार जगाये जायेंगे तो फिर वे नष्ट कैसे होंगे? इसलिये सर्वकर्मसंन्यास के साथ ही स्वात्मानुभव निश्चय होता है। इस निश्चय में बने रहना ही ज्ञाननिष्ठा है। इसीको भगवान् ने चतुर्थी भक्ति कहा है कि इस पराभक्ति से ही 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह जो तत्त्व का ज्ञान है, यह निष्पन्न होता है।

सारे जगत् को बनाने वाला और उस रूप से बनने वाला परमेश्वर है। वह सर्वव्यापक है, जगत् में मैजूद भी है। परन्तु एक दोष है कि ईश्वर परोक्ष है! प्रत्यगात्मा हमेशा ही अपरोक्ष है, मुझे मेरा ज्ञान हमेशा साक्षात् है, इसमें किसी प्रमाण की अपेक्षा या ज़रूरत नहीं है। परन्तु प्रत्यगात्मा शरीर के अन्दर बन्धा हुआ है, परिच्छिन्नता दोष वाला है। देश की परिच्छिन्नता है कि साढ़े तीन हाथ के शरीर में है, क़ाल की परिच्छिन्नता है कि साठ साल पहले पैदा हुआ था, वस्तु की परिच्छिन्नता है- देवदत्त न यज्ञदत्त है, न ईंट-पत्थर है, सबसे अलग केवल देवदत्त ही है। इस प्रकार देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नता वाला किंतु अपरोक्ष है। वेद कहता है 'यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' ब्रह्म वह है जो साक्षात् अपरोक्ष है। साक्षात् अपरोक्ष केवल 'मैं' एक ही हूँ! इसलिये जब तक मैं और ब्रह्म एक न हों तब तक ब्रह्म की परोक्षता नहीं मिटेगी और मेरी परिच्छिन्नता नहीं मिटेगी। अतः मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान होने पर ही पराभक्ति सिद्ध होती है। यही तत्त्व से, अपरोक्ष रूप से जानना है। परमेश्वर यदि मैं नहीं हूँ तो कभी भी बिना किसी प्रमाण के वह जाना नहीं जा सकता। मैं से भिन्न जो भी चीज़ होगी उसको जानने के लिये कोई-न-कोई करण या प्रमाण चाहिये। अपने आपको जानने के लिये कोई प्रमाण नहीं चाहिये। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात् अपरोक्ष ही परा भक्ति हो सकती है। इसके बाद ईश्वर और क्षेत्रज्ञ में भेद-बुद्धि हट जाती है। इसलिये इसे

ज्ञाननिष्ठालक्षणा भक्ति कहते हैं। जितना कुछ निवृत्तिशास्त्र में बताया है वह सारा इसी भक्ति से सार्थक है। इस प्रकार से ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होने पर फिर कुछ भी निवृत्त होने वाला नहीं रह जाता क्योंकि जो कुछ भी निवृत्त होना था वह हो चुका।

भाष्यकार कहते हैं कि निवृत्ति का विधान करने वाले शास्त्र वेदांत, इतिहास, पुराण और स्मृति सारे के सारे इसी अर्थ वाले हैं। इसलिये सर्वज्ञात्मा महामुनि कहते हैं कि जिस–जिस चीज़ से तुम निवृत्त होगे उस–उस चीज़ का बन्धन नहीं रह जायेगा और जब इस प्रकार से अहंकार पर्यन्त सारी चीज़ों से निवृत्त हो जाओगे तो फिर दुःख का नाम नहीं रह जायेगा, उसी को मोक्ष स्थिति कहते हैं। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं 'विदित्वा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृहदा०उ०–३–५–१) जब इस बात को समझते हैं तब अन्य सारे कर्मों को छोड़कर केवल शरीर की स्थितिमात्र के लिये भिक्षाचर्या करते हैं। इसलिये सारे तपों में श्रेष्ठ संन्यास ही कहा है। निवृत्ति शास्त्र का परम तात्पर्य इसी संन्यास में है, वही सबसे अधिक महत्त्व का है। स्मृतियों ने भी कहा 'वेदानिमं च लोकम् अमुं च परित्यज्य' (आप०ध०१–२३–१३) कि सारे वेदों को, इस संसार में जो कुछ है उसे और जो कुछ भी आगे हो सकता है उस सबको छोड़कर आत्मनिष्ठा पानी चाहिये। महाभारत में भी कहा 'त्यज धर्मम् अधर्मं च' (म० भा० शांति पर्व ३२९–४०) धर्म–अधर्म दोनों का त्याग कर देना पड़ेगा। कर्म या धर्म होगा या अधर्म होगा, इसलिये संन्यास से ही धर्म अधर्म का त्याग संभव है। ये सब वाक्य ज्ञाननिष्ठा की जैसी स्थिति है वैसा ही बताने वाले हैं। इनको अभूत–अर्थवाद नहीं माना जा सकता। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'यह प्रशंसा में कहा है, ऐसी स्थिति नहीं हो सकती।' ज्ञाननिष्ठा की बात आने पर लोगों को लगता है कि 'ऐसा होता थोड़े ही होगा।' किन्तु ये सारे स्वप्रकरणस्थ वाक्य हैं इसलिये इन्हें अभूत–अर्थवाद नहीं कहा जा सकता, अन्यथा सारे मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। प्रत्यगात्मा, जो विकार–रहित ब्रह्मस्वरूप है, उसकी निष्ठा रहने का नाम ही मोक्ष है।

कुछ आचार्यों ने यह अर्थ करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते अर्थात् ज्ञान होने के बाद जब शरीर नहीं रहेगा तब इसमें प्रवेश करता है अर्थात् विदेह मोक्ष होने से ही मोक्ष को स्वीकार किया जाये। परन्तु भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का फ़र्क दूसरे अज्ञानियों की दृष्टि में है। जब तक उन्हें उसका शरीर आदि दीखता है तब तक उसे जीवन्मुक्त कहते हैं, जब उनको शरीर दीखना बन्द हो जाता है तब उसे विदेह मुक्त कहते हैं। शरीर, मन आदि विषयों के संकल्प प्रारब्ध के कारण चलते हैं इसलिये उसको शास्त्रकारों ने अविद्या नहीं माना है। कुछ लोग उसे अविद्या का संस्कार, लेशाविद्या, अविद्यागंध, अविद्याछाया कहते हैं; हर हालत में वह अविद्या नहीं है। इसलिये मुक्तदृष्टि में जीवन् और विदेह में कोई फ़र्क नहीं है। वह अपनी निष्ठा में स्थित है। बुद्धि आदि में जो प्रतिबिम्बित आत्मा है उसको जीवन–प्रतीति होती है, और फिर उसकी प्रतीति होना बन्द हो जाता है। इससे, जो आत्मनिष्ठ है, उसको क्या फ़र्क पड़ना है! इसके सिवाय,

निष्ठा से अतिरिक्त यदि कुछ भी कर्त्तव्य माना जायेगा तो फिर निवृत्तिशास्त्र संगत नहीं होगा। जिस प्रकार से यदि तुमको कुरुक्षेत्र से पूर्व समुद्र की तरफ, बंगाल की खाड़ी की तरफ जाना है तो तुम पश्चिम समुद्र अरब सागर की तरफ जाओगे तो काम नहीं बनेगा क्योंकि दोनों रास्ते बिलकुल अलग हैं। जितना-जितना तुम बंगाल की खाड़ी के नज़दीक पहुँचोगे उतना-उतना अरब सागर से दूर होते जाओगे और जितना-जितना अरब सागर की तरफ जाओगे उतना-उतना बंगाल की खाड़ी से दूर होते जाओगे क्योंकि दोनों विरुद्ध दिशाओं में हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति संसार के बन्धन को बढ़ाने वाली है और निवृत्ति संसार के बंधन को छुड़ाने वाली है। इसलिये संसार के बन्धन को बढ़ाकर कोई चाहे कि संसार के बन्धन से छूट जायेंगे, तो यह कभी नहीं होगा। यह साधक को हमेशा याद रखना चाहिये क्योंकि वर्तमान में प्रायः जो प्रवृत्ति धर्म वाले हैं वे प्रधान होकर कहते हैं कि निवृत्ति धर्म वालों को भी संसार में कुछ करना चाहिये। किंतु यदि संसार के लिये कुछ करना चाहिये तो फिर संसार की वृद्धि ही हो सकती है, संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती। इस बात को भगवान् भाष्यकार ने बार-बार अत्यंत स्पष्ट कहा है। अतः ब्रह्मनिष्ठ का प्रत्यगात्मा के विषय में प्रत्ययसंतान-करण में ही अभिनिवेश होना ही ज्ञाननिष्ठा है। प्रारब्ध के कारण अहंकारात्मिका बुद्धिवृत्ति में किसी परिवर्तन को देखने पर भी उस परिवर्तन से असंबद्ध ही रहना ज्ञाननिष्ठा है। यह दूसरी बात है कि शरीर की निवृत्ति के बाद बुद्धि चूँकि शरीर के बिना वृत्ति बनायेगी नहीं इसलिये वृत्ति को देखने का प्रसंग ही नहीं रहेगा। इतना ही फ़र्क जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति में है, और कोई फ़र्क नहीं है। अभिनिवेशपूर्वक इस प्रत्यय का निरंतर पालन करना है। इसलिये और कुछ करने के साथ इसका संबंध बनता ही नहीं है। दोनों में बड़ा फ़र्क यह है कि ब्रह्मानन्द मेरु पर्वत की तरह महान् है और प्रकृति से जो मिलेगा वह सरसों के दाने से भी छोटा है! सारी प्रवृत्ति का अंत भी परिच्छिन्न और नाशवान् चीज़ के लिये ही सम्भव है। इसलिये यह संगत नहीं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति में विकल्प हो। वेद प्रवृत्ति का फल बंधन और निवृत्ति का फल मोक्ष बताता है। विभिन्न फलों के उपायों में विकल्प संभव नहीं कि चाहे एक करें या दूसरा। बंधन फल चाहिये तो प्रवृत्ति ही करनी पड़ेगी, मोक्ष फल चाहिये तो निवृत्ति ही करनी पड़ेगी। दोनों में पर्वत और सर्षप (सरसों के दाने) की तरह भेद है। अतः जो समर्थ हैं उनके लिये सर्वकर्मसंन्यास के द्वारा ज्ञान-निष्ठा ही कर्तव्य है यही भगवान् यहाँ स्पष्ट रूप से बता रहे हैं। यहाँ जो विशुद्धया बुद्धया कहा था वह प्रसंग ज्ञाननिष्ठा के साथ खत्म हुआ। अब शास्त्र का समापन करना है इसलिये सारी चीज़ें फिर से संक्षेप से कहेंगे।।५५।।

गीता शास्त्र का उपसंहार कर रहे हैं। ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूपी जो फल है, उसका साधन भगवान् की अर्चना है। परमेश्वर की अभ्यर्चनारूप जो साधन है उसकी सिद्धि मिलने पर ही इस ज्ञाननिष्ठा की योग्यता भी आती है और ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति भी होती है। अब उस ईश्वर की भक्ति का निरूपण करते हैं जिसके द्वारा यह ज्ञाननिष्ठा-योग्यता प्राप्त होगी –

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

एकमात्र मुझ ईश्वर का ही सहारा रखने वाला साधक हमेशा सभी कर्म करते हुए भी मेरी कृपा से अनन्त सनातन ब्रह्मरूप पा जाता है।

शास्त्र के उपसंहार का अर्थ है शास्त्र में कही हुई सब बातों का संग्रह करके कहना। शास्त्र में बताये गये चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य के नियमों के अनुसार परमेश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने पर परमेश्वर की अर्चना होती है। एक अर्चना होती है केवल किसी प्रतिमा, मूर्ति इत्यादि के अन्दर पंचोपचार दशोपचार आदि द्वारा, और दूसरी होती है अभि-अर्चना अर्थात् जिसमें सारा जीवन ही अर्चना बन जाता है। शास्त्र के द्वारा वर्णाश्रम के जो धर्म बताये उन सबको जब परमेश्वर की अर्चना के लिये, मेरी आज्ञापालन के लिये करता है, न फल की इच्छा और न कर्म में आसक्ति रखता है, तब परमेश्वर की प्रसन्नता को प्राप्त किया जाता है। यह राजमार्ग हुआ। सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् ने बताया था कि जो श्रद्धावाले तो हैं परन्तु उनको शास्त्र का ज्ञान नहीं है, वे किसी भी आदमी को देखकर उसमें श्रद्धा होने के कारण वह जैसा आचरण करता है या जैसा आचरण बताता है वैसा कर लेते हैं। उनमें कुछ लोग सात्त्विक हैं और कुछ राजस व तामस भी होते हैं। भगवान् ने उन सबका विवेचन किया कि सात्त्विक की किस-किस में निष्ठा होगी और राजस व तामस की किसमें निष्ठा होती है। सात्त्विक श्रद्धा से तो करीब-करीब वही होगा जो वर्णाश्रम धर्म वाले करते हैं क्योंकि सात्त्विकों की धर्मानुसार आचरण वालों में ही श्रद्धा होगी और तदनुरूप ही वे करेंगे। जो राजस और तामस श्रद्धा वाले हैं वे राजस और तामस प्रकार के आचरणों को करेंगे। वे सात्त्विक की दृष्टि में ठीक भी हो सकते हैं गलत भी हो सकते हैं। इसलिये भगवान् ने यहाँ 'सर्वकर्माणि' कहा कि कर्म सात्त्विक, राजस, तामस जो भी हों अथवा शास्त्रीय कर्म हों।

भगवान् ने अपि कहकर स्पष्ट कर दिया, कि सभी कर्मों को करते हुए भी, अर्थात् शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म करने पर भी भगवद्व्यपाश्रय परम पद दिला देता है। राजस और तामस कर्म शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध होते हैं उनको करते हुए भी यदि भगवान् पर पूर्णतः आश्रित रहता है तो उनकी कृपा पा ही जाता है। इसलिये भाष्यकार ने कहा 'सर्वकर्माणि प्रतिषिद्धानि अपि' प्रतिषिद्ध भी; जब किसी को देखकर ही करना है तब उसकी ग़लतियों का भी अनुकरण सम्भव ही है। यदि ऐसी कोई ग़लती हो भी जाये, पर भगवद्व्यपाश्रय बना रहे; तो भगवान् कृपा कर ही देते हैं यह अर्थ है। यहाँ यह अर्थ नहीं ले लेना कि मनमाना आचरण करना है! भगवान् पहले ही कह आये हैं कि जितने भी प्राणी हैं वे या सात्त्विक या राजस या तामस हैं। श्रद्धा वाला और जिस पर श्रद्धा करता है, दोनों सात्त्विक आदि में से ही कोई होंगे। जिसमें श्रद्धा है वह राजस तामस हुआ तो उसका कोई कर्म निषिद्ध

भी होगा और उसपर श्रद्धा रखने वाला वह कर्म भी कर लेगा। किंतु भगवान् करुणालय हैं, आप लोग रोज़ प्रार्थना करते हैं 'करुणावतारं' परमेश्वर करुणा के अवतार हैं। अतः जिसमें थोड़ी भी ठीक प्रवृत्ति है उसकी सारी ग़लत प्रवृत्तियों को नज़र अंदाज़ कर देते हैं और जो उसका ठीक कर्म है उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसका ठीक कर्म है कर्म में संग का त्याग और फल के प्रति वैराग्य। कर्म तो उसका प्रतिषिद्ध भी हो सकता है परन्तु चूँकि उस कर्म में संग का और फल का त्याग है, बस इसको लेकर वे करुणा करके उसका उद्धार कर देते हैं। इसलिये कहा 'सर्वकर्माणि अपि'।

परंतु कैसे करें? 'मद्व्यपाश्रयः कुर्वाणः' मेरा व्यपाश्रय करके, मेरा आश्रयण करके अर्थात् मैं ईश्वर ही उसका एकमात्र आश्रय रहूँ। जो अपने सब कर्म मुझ ईश्वर को ही अर्पण करता है उसी पर परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। जो कुछ भी अनुष्ठान करता है, कर्म करता है, वह संग और फल की दृष्टि से रहित होकर ही। ऐसा जो वह त्याग करता है उससे प्रसन्न हुआ मैं उसके कर्म को नहीं देखता। जो कर्मफल चाहता है उसको तो परमेश्वर कर्मफल देता है, स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक आदि चाहता है तो उसे वह दे देता है, वहाँ तो परमेश्वर का प्रसाद केवल यह है कि जो कर्म किया उसका फल दिया। लेकिन साधक ने अपने लिये फल न चाहकर फल ईश्वर को अर्पण किया है इसलिये मुझ ईश्वर की प्रसन्नता हो जाती है। परमेश्वर की प्रसन्नता हुई तो उसका अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। कोई भी कर्म अंतःकरण को शुद्ध नहीं करता! कर्म तो उसमें राग-द्वेष के संस्कार ही बढ़ायेगा। जिस फल को तुम चाहते हो वह मिलने पर उसमें राग और बढ़ेगा तथा उससे विरुद्ध चीज़ में द्वेष भी और बढ़ेगा। इसीलिये ये कर्म करने वाले इस संसार से पार नहीं जा पाते, चाहे जितने उत्तम से उत्तम लोकों को भले ही चले जायें। परन्तु जब परमेश्वर की प्रसन्नता होती है तब अंतःकरण के दोष निवृत्त हो जाते हैं और अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। यही ईश्वर की प्रसन्नता है। अंतःकरण का शुद्ध हो जाना ही परमेश्वर की प्रसन्नता है। अतः भगवान् ने कहा – जिसने सब कुछ छोड़कर मेरा सहारा लिया, मैं भी उसके कर्म को न देखकर उसके अंतःकरण को शांत कर देता हूँ और शान्त अंतःकरण में ही श्रवण-मनन अपना फल देते हैं। इसलिये वह 'अव्ययं शाश्वतं पदम् अवाप्नोति' जिसमें कोई घटा-बढी न हो ऐसा जो अव्यय सारे संसार का अधिष्ठान, उसे पा लेता है। घटा-बढ़ी उपाधियों की ही संभव है और उपाधियाँ सब मिथ्या अध्यारोपित हैं, उनका आत्मतत्त्व में स्पर्श ही नहीं है। जिन्हें लोग संसार में सबसे बड़ी उन्नति और अवनति समझते हैं, दोनों में आत्मतत्त्व एक जैसा है क्योंकि वह अव्यय है। और वह शाश्वत है, नित्य है, हमेशा ही एकरस है, उस पद की प्राप्ति होने पर वह कभी दूर नहीं होता। संशय और विपर्यय से रहित दृढ ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नित्य है क्योंकि अज्ञान अनादि है अर्थात् अज्ञान का कारण कुछ नहीं है। अगर अज्ञान का कारण होता तब तो कारण के रहते हुए अज्ञान फिर पैदा हो जाता जैसा प्रत्यभिज्ञावादियों का मानना है कि

अज्ञान दूर होने के बाद फिर पैदा हो जाता है। यदि ऐसा होता तो मोक्ष अनित्य हो जाता। परन्तु ऐसा है नहीं। अज्ञान की निवृत्ति शाश्वत है। अज्ञान अनादि होने से पैदा नहीं हो सकता और अज्ञान आये बिना संसार का चक्र रह नहीं सकता। जो मेरे ऊपर सब कुछ छोड़ देता है वह ऐसे शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है। अतः भगवान् का तात्पर्य है कि मेरी प्रसन्नता केवल अंतःकरण की शुद्धि नहीं देती, अंतःकरण की शुद्धि के साथ गुरु की उपलब्धि, श्रवण,मनन आदि सब करा देती है और अव्यय पद को प्राप्त करा देती है।।५६।।

चूँकि मेरी कृपा ऐसी है इसलिये

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

(अर्जुन!) मेरे ही परायण होकर, विवेक द्वारा सारे कर्म मुझमें छोड़कर, मुझमें ही बुद्धि समाहित कर सर्वदा मुझमें चित्त लगा!

'चेतसा' अर्थात् विवेक बुद्धि से सब कुछ परमेश्वर पर छोड़ना है। अन्य सारे सहारे हेय हैं। 'मैं यह करके मोक्ष प्राप्त करूँगा' यह अभिमान छोड़ना ही साधन है। इस चेतना या विवेक से दृष्ट–अदृष्ट, विहित–प्रतिषिद्ध सारे कर्मों को परमेश्वर पर छोड़ना है। कर्म चाहे अच्छा हुआ है चाहे बुरा, चाहे संसार के किसी उद्देश्य से कर्म किया गया है, चाहे परलोक के उद्देश्य से कर्म किया गया है, उन सबका फल अपने लिये न चाहे, तभी सारे कर्म मुझ ईश्वर के अर्पण होंगे। भगवान् पहले भी (९.२७) कह आये हैं कि जो कुछ भी तुम करते हो, जो कुछ भी तुम खाते हो, अर्थात् जो कुछ भी तुम्हारा भोग होता है, सब में निश्चय और भाव रखो कि 'मैं अपने लिये नहीं कर या भोग रहा हूँ, परमेश्वर के लिये ही कर व भोग रहा हूँ।' सुन्दर रूप किसने देखा? आँख ने देखा। आँख ने देख कर क्या किया? मन को समर्पित किया। मन को समर्पित करने से क्या हुआ? अहंकारात्मिका वृत्ति में सुख उत्पन्न हुआ। अब यदि तुम अहंकारात्मिका वृत्ति के साथ हो तब तो उस सुख को पकड़कर रखोगे कि 'मुझे सुख हुआ', और यदि तुम जानते हो कि 'अहंकार वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, शुद्ध ईश्वर ही मेरा स्वरूप है', तब तुम अहं के लिये उसे पकड़ कर नहीं रखते वरन् उसे ही परमेश्वर के अर्पण कर देते हो कि साक्षी ने जान लिया; सुखाकार वृत्ति बनी इसमें पर्यवसित होना है। 'मैंने सुन्दर रूप देखा, मैंने मज़ा लिया' यहाँ तक तो अविद्या का खेल है। लेकिन यह सारा देखना उस साक्षी के लिये ही है, यह ईश्वरार्पण कर देना है।

एक बार भगवान् ने किसी भक्त से पूछ लिया कि 'तुमको संसार की चीज़ों में क्या मज़ा आता है? हमें संसारी सुख का कोई अनुभव नहीं है। अतः तुम ही बताओ।' वैसे तो परमेश्वर सर्वज्ञ हैं लेकिन भक्त के परीक्षण के लिये ऐसा पूछा। भक्त ने जवाब दिया – 'आप मुझ से मज़ाक कर रहे हैं! मैं तो एक चम्मच हूँ। उस चम्मच के द्वारा आप ही हर चीज़

का भोग लगा रहे हैं। चम्मच को तो कभी पता नहीं लगता कि खीर मालपुआ कैसा बना! खाने वाले को ही पता लगता है। इसी प्रकार से मेरे द्वारा विषयों के प्रकाशक होने से आप ही तो जानते हैं। मैं कहाँ जानने वाला हूँ!' इस स्थिति तक साधक पहुँचे तब भगवत्प्रसाद मिलता है।

सारी इन्द्रियों को ज्ञानरूप करने वाला परमेश्वर है। सारी इन्द्रियाँ मिलकर उसे जान नहीं सकती। अतः भगवान् ने कहा कि मुझ ईश्वर के अन्दर सब चीज़ों का सन्न्यास कर दो। 'चेतसा' कहकर करने वाले को भी बता रहे हैं कि यह विवेक बुद्धि से करना है। यह केवल विवेक बुद्धि है, बाहर में किया जाये ऐसा कुछ नहीं है। बाहर से तो साधक सारे कर्म करता हुआ दीखेगा। यह तो उसकी विवेक बुद्धि ही जानती है कि 'मैं इसको अपने लिये नहीं कर रहा हूँ, परमेश्वर के लिये कर रहा हूँ।' जो परमेश्वर के लिये ही कर रहा है उसी के लिये भगवान् ने कहा कि 'जिसने इस सृष्टि को प्रारम्भ किया, सृष्टि को जो धारण करके रहता है, वही एकमात्र मेरा सहारा है' इस प्रकार वह मेरे ही परायण रहता है। इसके सिवाय और किसी दूसरी चीज़ का कभी कोई सहारा नहीं लेता। यह जो बुद्धि के द्वारा सारे कर्मों का परमेश्वर में संन्यासरूप परमेश्वर की ही परायणता है, यही बुद्धियोग है। इसमें चित्त समाहित हो जाता है, सारे विक्षेपों की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ आश्रय न कहकर 'उपाश्रय' कहा। उपाश्रय का अर्थ सहारा तो है ही लेकिन कोशों में उपाश्रय का दूसरा अर्थ 'घर' भी है। इसलिये जैनी साधु जहाँ रहते हैं उसे उपासरा कहते हैं। 'उपाश्रय' का अपभ्रंश ही उपासरा है। उपासना का स्थान होने से ही उपाश्रय कहते है। अपने शरीर को वह केवल ऐसा स्थान समझता है जिसके अन्दर यह उपासना करनी है अर्थात् उसकी अनन्यशरण हो जाना है जिसने इस संसार को चलाया है, जो इसको धारण करने वाला है। अनन्यशरण होकर 'मच्चित्तः' केवल मुझ परमेश्वर के बारे में ही निश्चय करना है। परमात्मा का रूप सच्चिदानन्द है, यह भगवान् पहले ही कह आये हैं। अतः प्रत्येक ज्ञान में यह निश्चय करना है कि परमात्मा का हिस्सा कौन-सा है।

बड़ी प्रसिद्ध कथा है कि सीता जी ने एक बार हनुमान जी को एक नौलखा हार दे दिया। हनुमान जी ने हार के एक-एक नग को तोड़कर देखा और उसे फैंकते गये। सीता जी ने देखा तो सोचा कि 'इसको इतना कीमती हार देकर गलती की, बन्दर है, क्या जाने!' उन्होंने भगवान् से कहा कि 'आप तो कहते थे यह समझदार है, लेकिन यह तो महामूर्ख है।' भगवान् ने कहा 'उससे पूछेंगे। वह खुद ही बतायेगा कि उसने ऐसा क्यों किया।' पूछा तो हनुमान् ने कहा 'मैंने तोड़-तोड़ कर देखा कि इसके अन्दर राम हैं या नहीं। देखा कि उसमें राम नहीं हैं तो सब व्यर्थ है, मेरे किस काम का?' सीताजी तब समझ गई।

इसी प्रकार जो-जो प्रतीति तुम्हारे सामने आती है, जो-जो अनुभव होता है उसके अन्दर झांक कर देखो कि इसमें सच्चिदानन्द है या नहीं। सभी चीज़ों का अधिष्ठान तो सच्चिदानन्द ही है। अभी तो हम लोग यह निश्चय करते हैं कि यह असली घी है या नकली

घी है। जो बता दे कि यह असली घी है, हम समझते हैं कि वह बड़ा बुद्धिमान् है। भगवान् कहते हैं कि यह निश्चय करके क्या होगा! विचार तो यह करो कि घी है या नहीं है? घी है, इसलिये घी 'सत्' से पैदा हुआ है। घी का ज्ञान भी होता है। घी आनन्दस्वरूप है या नहीं? आनन्दस्वरूप है। सच्चिदानन्द इसमें है, इसका निश्चय करना है अर्थात् पौनः पुन्येन अधिष्ठान को सामने लाना है। ऐसा करते हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि फिर व्यवहार कैसे चलेगा? थोड़ी देर, घण्टा-दो घण्टा तो विचार कर लेंगे, लेकिन सांसारिक व्यवहार में तो नाम-रूप को महत्त्व देना पड़ेगा या नहीं? भगवान् हमारे ऊपर रहम नहीं करते! कहते हैं कि 'मच्चित्तः सततं भव' हमेशा केवल इसी चीज़ का निश्चय करो। तुम मत्परायण हो तो तुम्हें दूसरे व्यवहारों से क्या मतलब? चाहे जितना नुक्सान या फ़ायदा हो जाये, सतत मच्चित्त ही रहो। यदि परमार्थ मार्ग की अंतिम सीढ़ी चढ़ना चाहते हो तो हमेशा सभी चीज़ों के अन्दर अधिष्ठानरूप से उस परमात्मा का दर्शन करना पड़ेगा।।५७।।

उक्त साधनों का प्रभाव बताते हैं –

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।।५८।।

मुझमें ही चित्त लगा चुकने पर मेरी कृपा से सारे संकट पार कर लेगा। इससे विपरीत यदि अहंकार के कारण मेरी बात नहीं मानेगा तो तू विनष्ट हो जायेगा।

इस प्रकार से जब तुम मच्चित्त होकर केवल मुझ अधिष्ठान का ही निर्णय करोगे, उसी में लगे रहोगे अर्थात् तुम्हारा सतत अनुसंधान है कि 'सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है', तब इस संसाररूपी दुर्ग में लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक जितनी भी कठिनाईयाँ हैं उन सबका तुम अतिक्रमण कर जाओगे। दुर्ग किले को कहते हैं। यदि विचार करके देखो तो यह संसार भी बड़ा भारी किला है। जैसे किले के अन्दर राजा रहता है, सारा किला राजा के लिये है। इसी प्रकार से यह जो सारा संसार है इसका एकमात्र प्रयोजन यही है कि इसके राजा परमेश्वर में तुम स्थिर हो जाओ। सांसारिक भोगों के लिये यह संसार नहीं बनाया गया है, यह तो परमेश्वर के ज्ञान के लिये बनाया गया है। उपनिषद् कहती है 'आरामम् अस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन' उसके इस सुन्दर बगीचे को सब लोग देखते हैं पर उसे कोई नहीं देखता। स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, से लेकर रसातल तक सब चीज़ों को देखते हैं। परन्तु यह बगीचा जिसका है उसकी तरफ कोई देखता ही नहीं! यह दुर्ग तो इस लिये था कि परमेश्वर की अनन्तता तुम्हारे सामने प्रकट हो जाये। परमेश्वर अनन्त है। कितना अनन्त है? इसका तो पता इसी से लग जाता है कि कम से कम डेढ सौ साल से रजिस्ट्री इत्यादि कामों के लिये लोगों के अँगूठों के निशान लिये जाते हैं और आज तक कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिले जिनके अँगूठों की छाप एक जैसी हो! विचार करो कि अरबों लोगों में सैकड़ों वर्षों के अन्दर एक व्यक्ति की अंगूठे की जो छाप बन गई वह दुबारा नहीं बनी, बाकी अंगों की तो बात क्या है! एक बार हम अहमदाबाद

किसी टैक्सटाईल (कपड़ों की) मिल में गये थे। वहाँ एक आदमी से परिचय हुआ जो केवल कपड़ों के डिज़ाईन ही बनाता था। यह बात आज से चालीस साल पहले की होगी, तब उसे अपने काम के लिये चालिस हज़ार रुपये मासिक वेतन मिलता था! मिल में सबसे ज़्यादा तनख्वाह उसी की थी। वह हर बार जब नया डिज़ाईन बनाता, तब उस डिज़ाइन के हज़ारों कपड़े निकलते थे। जैसे वहाँ डिज़ाइन की अपेक्षा डिज़ाइन के बनाने वाले को ज़्यादा महत्त्व देते हैं इसी प्रकार मकानों के डिज़ाईन (या नक्शे) बनाने वाले आर्किटैक्ट को भी सबसे ज़्यादा वेतन इसलिये मिलता है कि वह मकानों की बढ़िया डिज़ाईन बनाता है। फिर भी दस-बीस डिज़ाईन तो एक प्रकार के बना ही देता है। परन्तु यहाँ परमेश्वर एक डिज़ाइन के दो अँगूठे भी नहीं बनाता! तभी पता लगता है कि परमात्मा कैसा अनंत है। यह जो परमेश्वर की अनन्तता है, इसे हम समझ सकें इसके लिये यह संसार बनाया। परन्तु हम इसी संसार मे फँस गये, परमेश्वर की अनन्तता अथवा ब्रह्मरूपता को जानने में नहीं लग सके। इस संसाररूपी दुर्ग में दुर्गाधिपति राजा बैठा हुआ है, उसको नहीं जानने से इस दुर्ग की एक-एक चीज़ ही फँसा देती है। किसी को स्वाद ही फँसा देता है, बाकी चीज़ें तो छोड़ देता है, स्वाद नहीं छोड़ पाता। भगवान् कहते हैं कि मेरे अनुग्रह से ही तू इन सब दुर्गों को पार कर जायेगा, इन सबका अतिक्रमण कर जायेगा। इसमें इहलोक में आने वाले सुख-दुःख भी हैं और परलोक में आने वाले सुख-दुःख भी हैं।

जो शंका हुई थी कि 'फिर व्यवहार कैसे चलेगा?' उस पर भगवान् कहते हैं कि मेरे अनुग्रह से तू सभी को तर जायेगा। तू चाहे जितना प्रयास कर, इन अनन्त दुर्गों को तू पार नहीं कर सकता। इसका मालिक मैं मायाधिपति हूँ। साक्षी रूपी अधिष्ठान में यह माया है, इसलिये साक्षीरूप बनकर तू इस माया को हटा सकता है। जब तक तुम जीव रहोगे तब तक यह माया नहीं हटेगी। जब अपने इस अधिष्ठान-रूप में रहोगे तभी यह माया हटेगी। इसलिये मेरे (मुझ अधिष्ठानरूप के) प्रसाद से ही तू इसका अतिक्रमण कर जायेगा। इहलोक की कठिनाईयों से भी पार हो जायेगा और अन्य भी जितने विहित-प्रतिषिद्ध कर्म हैं, जो तुम्हारे इस मार्ग में रुकावट डाल सकते हैं, उन सबसे भी तर जायेगा। यह सुलभ मार्ग बता दिया कि मेरी कृपा से ही शाश्वत अव्यय पद की प्राप्ति होगी। मैं ही इसमें आने वाले सारे विघ्नों को दूर करूँगा, क्योंकि विघ्न तो अनंत हैं तुम कहाँ तक पार करोगे?

परन्तु यदि, मैंने जो यह बात कही है, इसे अहंकारवश न सुनकर सोचो कि 'मैं साक्षीरूप नहीं होना चाहता, मुझे अहंकार में ही सब कुछ मिलना चाहिये। मैंने भी शास्त्रों का खूब अध्ययन किया है, मुझे ठीक-ठीक पता है कि किसको मारना पाप है और किसकी हत्या नहीं करनी चाहिये। सब कुछ छोड़कर भजन करना ही ठीक है।' तो तुम्हारा विनाश ही होगा! कई लोग अपनी समझ को शास्त्र से ऊँचा मानते हैं। जैसे गाँधी जी कहा करते थे कि 'शास्त्र की बात को भी मैं अहिंसा की कसौटी पर कस कर देखता हूँ। यदि अहिंसा की कसौटी पर वह बात ठीक है तो मैं मानता हूँ नहीं तो नहीं मानता।' यही अहंकार है।

ऐसे अहंकार के बल पर अर्जुन यदि साक्षात् भगवान् के निर्देशों कि उपेक्षाकर मनमाना आचरण करेगा, तो नष्ट होगा ही। 'न श्रोष्यसि' नहीं सुनेगा अर्थात् नहीं मानेगा तो विनाश को प्राप्त होगा, किसी भी प्रकार की उन्नति को प्राप्त नहीं करेगा। यह विषय दुर्गम है, अपनी बुद्धि लगाकर पार करना चाहेगा तो नहीं कर सकता, परमेश्वर ही कृपा करके पार कर सकते हैं। किसी ने तो कहा है कि परमेश्वर शाप दे रहे हैं कि 'यदि तू नहीं मानेगा तो नष्ट ही होगा'। वास्तव में भगवान् अर्जुन को कल्याण के मार्ग पर चलने को प्रेरित करने के लिये डर दिखा रहे हैं।।५८।।

यह सुनकर अर्जुन के मन में शंका हो सकती है, जो आजकल सब लोगों की शंका है, कि हर-एक व्यक्ति स्वतंत्र है। अपने भले-बुरे का निर्णय हम खुद करेंगे। शास्त्र अच्छे-बुरे का निर्णय करने वाला कौन होता है? शास्त्र को पढ़ कर हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं। इसलिये हम जो ठीक मानेंगे वही करेंगे। आजकल तो यही नारा है कि व्यक्ति स्वतंत्र है, उसको कोई परतंत्र न बनाये। तब भगवान् कहते हैं –

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

यदि अहंकार के सहारे 'नहीं लड़ूँगा' ऐसा सोच रहा है तो तेरा यह निश्चय वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं है (क्यों कि तुम्हारी क्षत्रियोचित) प्रकृति तुम्हें युद्ध में प्रेरित कर देगी।

भगवान् समझाते हैं – तुम अंतःकरण से लेकर शरीर तक अपने अहंकार को रखकर ही तो कह रहे हो कि 'मैं पंडित हूँ'। सुषुप्ति में जब अहंकार नहीं रहता तब 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' क्या यहा संकल्प रहता है? नहीं रहता। जिसको तुम अपनी स्वतंत्रता समझ रहे हो वह 'स्व' कौन है? सुषुप्ति में बिना अहंकार के जो चेतन है वह स्वतंत्र है। जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर तो तुम अहंकार का सहारा लेकर अपने को स्वतंत्र कहते हो पर यह तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं है। यह तो अहं की गुलामी है। और अहं बुद्धिवृत्ति से लेकर शरीर पर्यन्त सबको विषय कर लेता है। उसी का सहारा लेकर हम सब बातें करते हैं। ये दो विकल्प हैं, कि तुम या तो अहंकार का आश्रय लो या साक्षी का आश्रय लो। सुषुप्ति में जो रहता है वह मेरा स्वरूप है। जाग्रत् स्वप्न में जो आता है वह तो प्रकृति से पैदा हुआ है। वह तब पैदा होता है जब प्रकृति के तीनों गुण काम करने लग गये। सुषुप्ति में तो ब्राह्मण-क्षत्रियादि की संस्काररूप प्रकृति है नहीं और प्रकृति के गुण भी कार्यकारी नहीं हैं। एकमात्र वहाँ अज्ञान है। 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्' अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना है इसलिये जाग्रत् स्वप्न में आते हो। जब अहंकार आ गया तब तुम कर्मभोग वाले हिस्से में आ गये। कर्म भोग वाला हिस्सा तो माया के प्रवाह के अंतःपाती है। चाहे स्वप्न हो, चाहे जाग्रत् हो, अहंकार तो रहेगा क्योंकि तब तुम प्रकृति के प्रवाह में आ गये। प्रकृति के प्रवाह में आकर कह रहें हो कि 'मैं नहीं लड़ूँगा'। अहंकार का आश्रय लेकर ही ऐसा कहोगे क्योंकि जाग्रत्

स्वप्न में ही तो कहोगे। यह जो तुम्हारा निश्चय है, यह सारा अहंकार को आश्रित करके है। यदि साक्षीस्वरूप को अपना आश्रय बना लो तब तो जो मैं परमेश्वर कहता हूँ वह करो। प्रकृति में पैदा हुए अहंकार का आश्रय लेकर कहोगे कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो प्रकृति ऐसी है जो तुम्हारे शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त सारे विकार उत्पन्न करती है, वही फिर तुम्हारे ऊपर शासन करेगी, इसलिये फिर भी तुम युद्ध करोगे। लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, तुम्हें गालियाँ देंगे। मेघनाद निश्चय करके बैठा कि 'मैं इस यज्ञ को पूरा करके शक्ति प्राप्त करूँगा और राम को मारूँगा'। बन्दरों को पता लगा। उन्हें और कुछ नहीं सूझा तो उस पर पेशाब करने लगे! ब्राह्मण का लड़का था। इस प्रकार से अपमान होने लगा तो उससे सहन नहीं हुआ और उस यज्ञ को छोड़कर उनसे लड़ने लगा। बस, उनका काम बन गया। इसी प्रकार तू निश्चय कर रहा है कि 'मैं भीख माँग कर खाऊँगा'। लेकिन प्रकृति तो छोड़ेगी नहीं! पहले भी कह आये हैं कि 'अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः।' लोग तरह-तरह से तुम्हारी निंदा करेंगे, तरह-तरह से तुम्हारे ऊपर आक्षेप करेंगे। फिर तुम से नहीं रहा जायेगा। ज़्यादा दुःख बर्दाश्त नहीं होगा तो लड़ोगे ही। मेरे कहने से लड़ोगे तो, और प्रकृति पर छोड़ोगे तो, लड़ोगे ही, बिना लड़े उपाय नहीं है। पहले भी समझाया था, 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्,' तुम निमित्त ही बन सकते हो। सारे संसार का नियमन सीधे परमेश्वर के अधीन है या प्रकृति के द्वारा अधीन है, तीसरा विकल्प नहीं है। जिसको तुम स्वतंत्रता समझते हो वह मिथ्या निश्चय है।

यह प्रकृति तुम्हें कैसे नियुक्त करेगी? जो भी कर्म तुम करोगे उसके संस्कार बनेंगे। पुण्य-पापरूप कर्मफल और संस्कार, दोनों अतीन्द्रिय हैं। न संस्कारों को और न फल को इन्द्रियों से जान सकते हैं। चूँकि ये दोनों अतीन्द्रिय हैं इसलिये जीव उन्हें चलानेवाला हो नहीं सकता और संस्कार व फल दोनों जड होने से खुद चल नहीं सकते। फिर वे किसके अधिष्ठातृत्व में काम करेंगे? जो व्यापक चेतन है उसीके अधिष्ठातृत्व में काम करेंगे। प्रकृति कैसे नियुक्त करेगी? उन संस्कारों को जगा कर। परमेश्वर जानता है कि कौन-से संस्कारों को आगे जगाना है। जगेगा तो वही संस्कार जो प्रकृति में है। परन्तु परमेश्वर इसको जगाने वाला है। यह समझकर यदि परमेश्वर की शरण लेते हो तब तो वह तुम्हें इससे पार कर देता है, और यदि अहंकार का आश्रय लेकर अपने को प्रकृति के अधीन करते हो तब भी संस्कार तो वे ही जगेंगे, इसलिये करोगे भी वही, लेकिन अपने को स्वतंत्र समझकर करोगे, इसलिये पुनः जन्म-मरण के चक्र में चलते रहोगे। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' कह कर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जिसे आजकल बड़ी भारी स्वतंत्रता कहते हैं, वह तो अहंकार की परतंत्रता है! और अहंकार प्रकृति के प्रवाह में है इसलिये प्रकृति की अधीनता को ही स्वतंत्रता कहते हैं। इसलिये यदि प्रकृति की अधीनता को छोड़कर परमेश्वर की अधीनता स्वीकार करोगे तो संसार चक्र से छूट जाओगे।।५६।।

प्रकृति की अधीनता क्यों है? इसको बताते हुए कहते हैं –

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुंम् नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

कौन्तेय! स्वभावसे उत्पन्न अपने कर्म द्वारा नितरां बँधे हुए तुम मोह से जो नहीं करना चाह रहे, परवश होकर भी वही करोगे।

पूर्वजन्म में और आजतक जो कुछ भी हमने किया है, उसमें से इस जन्म में जिसको कार्यकारी होना है वही स्वभाव कहा जाता है। इसी को कहीं प्रकृति भी कहा है। इसलिये भगवान् ने पहले कहा था कि सभी लोग अपनी–अपनी प्रकृति के अनुरूप चलते हैं। उनके ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण न मेरे द्वारा हो सकता है, न और किसी के द्वारा हो सकता है। प्रकृति का प्रवाह, माया का प्रवाह मेरे नियम के अंतर्गत ही चलता है और वे नियम ऋत होने से कभी बदलते नहीं। प्रकृति के अधीन रह कर इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं है। जिन कर्मों को इस जन्म में फलीभूत होना है वे कर्म फलीभूत होंगे ही, उनको बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिये अन्यत्र शास्त्रों में बताया है कि परमात्मा धर्मरूप है। 'तस्मै धर्मात्मने नमः' महाभारत के अन्दर ही भगवान् ने यह बात भीष्म से कहलवाई है कि धर्म परमेश्वर का रूप है। किसी चीज़ का अपना रूप बदल नहीं सकता। अग्नि ठण्डी क्यों नहीं होती? जैसे यह प्रश्न व्यर्थ है, वैसे ही परमेश्वर, अपने बनाये हुए नियमों को बदलता क्यों नहीं? – यह व्यर्थ है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं – तू चूँकि वर्णाश्रम–मर्यादा में है, इसलिये तेरा स्वभाव 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धेचाप्यपलायनं' है। युद्ध से भागना तेरे लिये तेरे स्वभाव के कारण सम्भव ही नहीं है। ठीक जिस प्रकार परमेश्वर अपनी माया के नियमों से इधर–उधर नहीं हो सकता, उसी प्रकार से अहंकार जो अंतःकरण का विकार है, वह अंतःकरण से कभी अलग नहीं हो सकता। अहंकार तो हमेशा अंतःकरण के साथ रहेगा। और इसलिये अंतःकरण जिस तरफ से चलता है उस तरफ से ही उसे चलायेगा। अगर प्रकृति के प्रवाह में ही सब कुछ होना है तो जीव की स्वतंत्रता कहाँ है? यह प्रश्न इसलिये नहीं बनता क्योंकि जीव का मतलब ही है देहद्वय के साथ वाला आत्मतत्त्व। वह आत्मतत्त्व स्वतंत्र है अर्थात् स्वयं उसके अन्तःकरण के अतिरिक्त कोई दूसरा नियामक नहीं है। अन्य के अधीन नहीं होना ही स्वतंत्रता का अर्थ होता है। अविद्यादशा में अंतःकरण और उसकी प्रकृति को हम मैं ही माने रहते हैं अतः प्रकृतिवशता भी स्वतंत्रता ही समझते है। अंतःकरण–विशिष्ट चेतन अविद्यावश तुम्हारा स्वरूप है और वह किसी दूसरे के अधीन है नहीं इसलिये 'स्वेन कर्मणा' ही निबद्ध कहा है। अंतःकरण–विशिष्ट चेतन अनादि है इसलिये अन्तःकरण का प्रवाह भी अनादि है। जैसे सुषुप्ति के अन्दर अन्तःकरण लीन हो जाता है ऐसे ही महाप्रलय में भी लीन हो जाता है। जैसे यह कर्मान्तर–भोग के लिये जाग्रत्–स्वप्न में आता है वैसे ही जन्मान्तर भोग के

लिये प्रलय से सृष्टि में आता है। जब प्रलय से सृष्टि में अंतःकरण सहित आया तब अंतःकरण का स्वभाव भी आ गया। इसलिये अनादि प्रवाह होने से हम हमेशा से अंतःकरण वाले ही हैं। पहले कभी ऐसा नहीं था जब अंतःकरण अव्यक्त रूप से मौज़ूद नहीं रहा हो। वह अव्यक्त से व्यक्त होता रहता है। इसलिये जीव अपने सारे कर्मों के लिये अपने अंतःकरण के अधीन है और अज्ञानी की यही स्वतंत्रता है। इसलिये कहा 'कर्मणा निबद्धः' तुम्हारी ही प्रकृति है और उसके कारण तुम कर्त्ता बनते हो फिर प्रकृति के कारण ही उस कर्मफल का भोक्ता बनते हो। यही नितरां बन्ध है। अन्तःकरण का तादात्म्य रखकर उससे स्वतंत्र नहीं हुआ जा सकता।

'यत्' अर्थात् जो प्रकृति से प्राप्त तुम्हारे सामने यह धर्मयुद्ध खड़ा है, इसको तुम छोड़ नहीं सकते। 'मैं युद्ध छोड़ूँगा' यह तुम्हारा निश्चय मोह के कारण है, अविवेक के कारण है। 'कौन्तेय!' इस बात के अविवेक से कि 'मैं कुन्ती का पुत्र हूँ, क्षत्रिय हूँ', धर्मयुद्ध सामने प्राप्त होने पर भी मोहवश कह रहे हो कि 'मैं इन से नहीं लड़ूँ'। यह तुम्हारा अविवेक ही है क्योंकि श्रेयस् का निर्णय करने वालाा तो शास्त्र है और शास्त्र कहता है 'युद्धे चाप्यपलायनम्'। फिर भी युद्ध नहीं करना चाहते, तो यह मोह के कारण ही है। फिर भी तुम सोच रहे हो कि धर्मबुद्धि के कारण नहीं लड़ रहे हो ! युद्ध से पलायनरूप अधर्म में तुम्हें धर्मबुद्धि हो रही है।

इस प्रकार की अधर्म में धर्मबुद्धि हम लोगों को बराबर होती रहती है। जैसे, शास्त्र कहता है कि हर व्यक्ति अपने जन्मादि के अनुसार अलग है। हमने धर्मबुद्धि बना ली है कि सब मनुष्य एक जैसे हैं! यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध नहीं होती है कि सब मनुष्य एक जैसे हैं। प्रत्यक्ष से देखो तो कोई लम्बा है, कोई बौना है, कोई मोटा है, कोई पतला है, कोई गुस्सैल है, कोई धैर्यवाला है, कोई बुद्धिमान् और कोई मूर्ख है। हमें जितने देखने में आते हैं, सब में भेद है इसलिये प्रत्यक्ष से भिन्न ही निश्चित होते हैं। और शास्त्र से सबकी एकता सिद्ध होती नहीं। क्योंकि भगवान् कह आये हैं 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'। फिर भी 'सब मनुष्य एक जैसे हैं' यह कहना बड़ा मोह है। किसी भी प्रमाण से एकता सिद्ध नहीं हो रही है परन्तु हम एकता को देख रहे हैं। इतना ही नहीं, शास्त्रों को भी एकता बताने वाला कह देते हैं! जब शास्त्र कहता है कि सबमें एक आत्मा है तो उसका तात्पर्य है कि यह जो सब तुमको दीख रहा है, यह आपस में एक नहीं है परन्तु इन सबका आधार एक ब्रह्म ही है, जैसे मिट्टीरूप से एकता का मतलब यह नहीं कि बर्तनों में एकता है! इसलिये जिस मोह से अर्जुन अपना धर्म युद्ध नहीं करना चाहता था, आधुनिक काल में उसी मोह से हम भी अविवेक के कारण धर्म से विमुख हो जाते हैं।

इच्छा किसकी है? इच्छा मन की ही वृत्ति है 'एतत् सर्वं मन एव' यह मन की ही वृत्ति है जिससे तुम नहीं लड़ना चाहते। वह मन स्वकर्म से बँधा हुआ है, इसलिये इच्छारूपवृत्ति को दूसरी वृत्ति दबा लेगी। तब उस बुद्धि के परवश होकर तुम युद्ध ही करोगे क्योंकि अपनी

प्रकृति से निबद्ध हो। यह बात हमेशा याद रखने की है। इसीलिये साधना प्रारम्भ ही होती है, मन की इच्छा को छोड़कर अपने को शास्त्र की इच्छा के अनुसार चलाने से। मन की इच्छा को जीतने के लिये मन की इच्छा काम नहीं करेगी, क्योंकि जैसे वह इच्छा संस्कारों से होती है वैसे ही दूसरी इच्छा भी संस्कारों से होती है। जैसे न लड़ने की इच्छा अर्जुन के नहीं चाहने पर भी आई थी, वैसे ही लड़ने की इच्छा भी आ जायेगी। इस प्रकार अवश होकर करेगा अर्थात् अंतःकरण-विशिष्ट चेतन अंतःकरण के अधीन होकर करेगा। यदि इस प्रकार से प्रकृति के अधीन होगा तब जीव प्रकृति के राज्य में ही बना रहेगा।।६०।।

प्रकृति के बन्धन से छूटना है तो परमेश्वर का ही सहारा लेना पड़ेगा क्योंकि वही प्रकृति के नियामक हैं। प्रकृति और अंतःकरण जड हैं, स्वयं चल नहीं सकते, चेतन के नियंत्रण से ही चलते हैं जीव चेतन होने पर भी इन्हें चलाने में अक्षम है क्योंकि वह इन्द्रियों से विषय किये जाने वाले पदार्थों को यथाकथंचित् चला भी ले, पर अतीन्द्रिय वस्तुओं पर उसका वश चल नहीं सकता। और अनुभव भी किसी का नहीं कि 'मेरा प्रकृति या मन आदि पर नियन्त्रण है'। अतः निश्चित है और शास्त्रोक्त है कि प्रकृतिपर परमेश्वर का ही नियन्त्रण है इसलिये उन्हीं के सहारे प्रकृति के बन्धन से छूटा जा सकता है। भगवान् स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उन्हीं के नियन्त्रण में सब है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रमयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

हे अर्जुन! जैसे यंत्र पर रखे खिलौने को यन्त्रचालक घुमाता है, ऐसे ईशन-स्वभाव वाला मैं, माया द्वारा सब प्राणियों का संचालन करते हुए सब प्राणियों के हृदयकमल में रहता हूँ।

सब को चलाने वाला परमेश्वर ही है। वही सारे संस्कारों को और कर्मफलों को जानता है, इसलिए वही इनको प्रवृत्त करता है। वह ईश्वर है अर्थात् ईशों में वह श्रेष्ठ है। शासन करने वाले दो तरह के होते हैं। एक तुम्हारी बुद्धि को चलाता है और तुम्हारी बुद्धि चलने से तुम्हें लगता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। यह एक तरह का शासन है। ऐसा शासन हमारे ऊपर अंग्रेज़ों ने किया। उन्होंने विचार किया कि क्या कारण है कि इतने वर्षों तक राज्य करके और अधिक से अधिक अत्याचार करके भी मुसलमान हिन्दू को खत्म नहीं कर सके? कारण यह है कि हिन्दू अपने संस्कारों से चलता था। इसलिये अँग्रेज़ों ने पाया कि बाहर के दण्ड से हिन्दू ख़त्म नहीं होंगे। इनके संस्कार ख़त्म करने पड़ेंगे। हिन्दू संस्कार कहाँ से प्राप्त करता है? हिन्दू दो जगह से संस्कार प्राप्त करता है : एक तो संस्कृत भाषा से और दूसरा, ब्राह्मणों से। हिंदुओं के सारे नियम संस्कृत में हैं। शास्त्रों में बड़ी से बड़ी युक्ति और प्रमाण देकर अपनी बात सिद्ध की है। इसलिये जब हिंदू शास्त्रों से संस्कृत होता है तो यह ग़लत बात को नहीं मानता क्योंकि इसके संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। अतः यदि यह संस्कृत नहीं पढ़ेगा तो उन सारी युक्तियों और विचारों को नहीं जानेगा। हम अँग्रेज़ी के द्वारा अपने

संस्कार देंगे तो हमारा पक्का गुलाम बन जायेगा। जहाँ से हिन्दू को शक्ति मिलती है, उस संस्कृत भाषा को नष्ट कर के संस्कारों का वह द्वार बन्द कर दिया।

दूसरा उपाय था ब्राह्मण। हर एक व्यक्ति तो संस्कृत पढ़कर किसी भी काल में शास्त्र को जानता नहीं था, परन्तु छोटे से छोटे हर गाँव में ब्राह्मण था, वह शास्त्रीय बातों को जानता था और उन बातों को इसे बताता था। इसलिये अंग्रेज़ों ने सोचा कि केवल संस्कृत भाषा को हटा देंगे तो भी काम नहीं बनेगा, ब्राह्मण बैठा रहा तो फिर संस्कार देता रहेगा। अतः ब्राह्मण के ऊपर से भी हिंदू की श्रद्धा हटानी पड़ेगी। इसकेलिये उन्होंने जँचाना शुरू किया कि ब्राह्मण में सब खराबियाँ ही हैं। इस प्रकार ब्राह्मण के ऊपर अश्रद्धा हो गई तो अब वह जो कहे उसे हिंदू नहीं मानेगा। संस्कृत तो यह पढ़ेगा नहीं और ब्राह्मण से जो ज्ञान मिलता है वह भी नहीं मिलेगा। नतीजा यह होगा कि केवल हमारे ही संस्कार इसकी बुद्धि में आयेंगे।

अँग्रेज़ सफल हुए यह आजकल प्रत्यक्ष ही दीख रहा है। ब्राह्मण के प्रति भी अश्रद्धा है और संस्कृत का ज्ञान ही नहीं है। अँग्रेज़ों ने पहले नियम बनाया था कि दफ्तर में पैन्ट पहन कर आना होगा। जीवन-निर्वाह के लिये नौकरी करनी पड़ी तो लोग पहनते थे, परन्तु जानते थे कि बिना कच्छ के रहना ठीक नहीं। पुराने लोगों को याद होगा कि एक छोटी धोती बना कर पहले पहनते थे, ऊपर से पैन्ट पहनते थे। नौकरी के लिये पैन्ट पहन ली, अन्दर धोती रखी। यह तो प्रारंभ था। आज करोड़ों लोग ऐसे हैं जिनके पास धोती है ही नहीं! किसी से कहते हैं कि मन्दिर में तो कम-से-कम धोती पहन कर आया करो, तो पूछते हैं कि पैन्ट पहनने में क्या हर्ज है! इस प्रकार से अंग्रेज़ों का शासन तुम्हें प्रिय लगा, तुम्हारे संस्कार भी बदल गये कि यही उचित है और उचित मानकर करते हो। अनुचित में उचित बुद्धि उन्होंने करा दी। यह अंदर से शासन करना है। शासन उनका ही है क्योंकि पढ़ाया उन्होंने ही है। परन्तु तुम्हें लगता है कि 'हम स्वतंत्र होकर यह कर रहे हैं'। परमेश्वर का शासन भी ऐसा ही है। अंतःकरण को तुम अपना रूप मानते हो और अन्तःकरण में संस्कारों का प्रवाह परमेश्वर के द्वारा हुआ है। इसलिये वह केवल शासन करने वाला नहीं, वरन् शासन करने वालों में श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ शासक वही होता है जो तुम्हारे मन को ऐसा प्रभावित कर दे कि वह जैसा चाहता है वैसा ही तुम करो। जब तुम्हारा मन करता है कि बाज़ार की जलेबी खायें, तब ऐसा नहीं लगता कि कोई ज़बर्दस्ती खिला रहा है! इसी प्रकार अंतःकरण में जो इच्छा होती है उसका नियंत्रण तो ईश्वर के पास है परन्तु तुम्हें लगता है कि यह मेरी इच्छा है। इसलिये वह श्रेष्ठ शासन करने वाला है।

वह किसका ईश्वर है? 'सर्वभूतानां ईश्वरः' सारे प्राणियों का इसी प्रकार शासन करता है। भूत से यहाँ प्राणी भी ले लेना और जड प्रकृति भी ले लेना। पृथ्वी, जल, तेज, वायु भी उसीके शासन में चलते हैं। शंका हो सकती है कि जड प्रकृति को तो वह ज़बर्दस्ती चलाता होगा। परन्तु हमारे यहाँ कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसका कोई-न-कोई अधिष्ठाता देवता न

हो। जैसे ही घर बनता है, वैसे ही गृह देवता अर्थात् कोई-न-कोई चेतन शक्ति वहाँ है। ऐसे ही ग्राम देवता हैं। इसलिये कहा कि पृथ्वी के अन्दर वह रहता है, पृथ्वी उसे नहीं जानती, वह पृथ्वी को जानता है, वही अन्तर्यामी है। वहाँ केवल प्राणियों की बात नहीं कही, सभी पदार्थों के अन्दर रहते हुए वह सबको अन्तर्यमन से चलाता है। इसलिये वह सब प्राणियों का ईश्वर है।

कहाँ रहता है? 'हृत्-देशे' हृदयदेश में रहता है। अभी तो तुम लोग जानते हो कि जो शरीर में खून का संचार करता है उसे हृदय कहते हैं। प्रश्न होता है कि ऐसे अनेक प्राणी हैं जिनके वह हृदय होता ही नहीं तो खून का संचार कहाँ से होगा! जब उनका हृदय देश ही नहीं तो फिर वहाँ परमेश्वर कैसे रहेगा? इसलिये उपनिषदों ने कहा कि 'हृदि अयं हृदयं' जहाँ परमेश्वर है बस उसी का नाम हृदय है। मनुष्यों को अधिकतर अपने हृदयदेश में ही मैं का अनुभव होता है। जब तुम कभी कोई बात कहना चाहते हो तो नाभि से दस अंगुली ऊपर हृदयदेश पर हाथ लगाकर कहते हो 'मैंने कहा', कान आदि किसी दूसरे अंग पर हाथ लगा कर 'मैं' ऐसा नहीं कहते। इसलिये उपनिषद् का तो तात्पर्य है कि जहाँ-कहीं चेतनता विशेषरूप से विद्यमान है वह हृदय देश है। अतः जिन प्राणियों में रक्त-संचार आदि नहीं है उन्हें भी जहाँ अपनी जीवरूपता का भान होता है वही उनका हृदय देश है, वहीं ईश्वर रहता है।

हृदयदेश में रहता हूँ - इसके द्वारा भगवान् क्या कहना चाहते हैं यह 'अर्जुन' सम्बोधन से ही स्पष्ट है। ऋग्वेद के अन्दर भरद्वाज महर्षि की ऋचा है 'अहश्च कृष्णम् अहरर्जुनं च' सोमयाग के प्रकरण में कहा है कि दिन ही अच्छा (श्वेत) होता है, दिन ही काला होता है। आगे ब्राह्मण ने स्पष्ट किया है कि जिस दिन सोमयाग प्रारम्भ करते हो, वह दिन तो श्वेत है, बहुत अच्छा दिन है। और जब सोमयाग नहीं करते हो वही तुम्हारा काला दिन है। इसी बात को बताने वाला श्लोक पूजा में बोलते हैं -

> 'तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
> विद्याबलं देवबलं तदेव लक्ष्मीपते तेंऽघ्रियुगं स्मरामि।।'

शास्त्रकार कहते हैं कि वही लग्न अच्छा है, वही वार अच्छा है, नक्षत्र का बल भी तभी है और चन्द्रमा का बल भी तभी है जब परमेश्वर का स्मरण करते हो, वही सुदिन है। इसी तरह कहा कि जिस दिन सोमयाग करते हो वही सुदिन है और जिस दिन नहीं करते हो वही काला दिन है। अतः 'अर्जुन' से ध्वनि कर रहे हैं कि 'तू यह धर्मयुद्धरूप शुभ कर्म करने आया है। इसे पलट कर काला दिन न कर दे।' परमेश्वर हृदयदेश में रहकर क्या करता है? 'सर्वभूतानि भ्रामयन्' सारे प्राणी और जड जगत् को भ्रमण कराता है। 'भ्रामयन्' से यह भी अर्थ है कि भ्रम में डालता है। परमेश्वर की वैष्णवी शक्ति सबको भ्रम में डाले हुए है। अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त जो अपना स्वरूप नहीं है उसे स्वरूप मानते हैं और

जो चिन्मात्र स्वरूप है उसे नहीं मानते! अज्ञान की अनादिता होने से हम हमेशा अज्ञानी ही रहे हैं अतः भ्रम में पड़े हुए हैं। इस तरह प्रकृति को चलाने वाला परमेश्वर सब को भ्रम में डाले हुए है। हम शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त चीज़ों को अपना स्वरूप समझ कर इस जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं। वह हमें कर्त्ता-भोक्ता बनाये हुए है।

कैसे चलाता है, कैसे भ्रमण कराता है? 'यंत्रारूढानि' जैसे यंत्र के ऊपर आरूढ या बैठे हुए लोग चलते हैं। भीमकाय पहिये के आकार का झूला मेले आदि में देखा होगा; उसमें अनेक स्तरों पर बैठने के कटघरे लटके रहते हैं और पहिये के बीच में एक आदमी उसकी ताड़ियों पर चलते हुए पहिया घुमाता है। कटघरा ज़मीन के पास आने पर लोग चढ़ते या उतरते हैं । एक बार उस पर बैठ गये, फिर बैठने वाले के नियंत्रण में कुछ नहीं है, झूले वाला जब तक जितनी तेज़ चलायेगा, तब तक वैसे घुमते रहना पड़ेगा। यन्त्र से ऐसा झूला समझ लो; अथवा रेल का दृष्टांत ले लो। रेल में बैठ गये तो रेल जहाँ ले जायेगी वहीं जा सकोगे। जहाँ रेल जायेगी वहाँ नहीं जाना है तो उस रेल से उतर तो सकते हो, परन्तु रेल को तुम दुसरे रास्ते नहीं ले जा सकते ! दिल्ली जाने वाली रेल में बैठकर तुम नहीं कह सकते की 'हमारा इष्ट दिल्ली नहीं अतः बम्बई जायेंगे।' अगर तुम्हारा विचार है कि बम्बई जाना है तो उस रेल से उतर कर बम्बई की रेल द्वारा वहाँ जा सकते हो। इसी प्रकार अंतःकरण के अंदर बैठकर चाहो कि अंतःकरण के नियमों से बच जाओ, तो नहीं होगा। उसके लिये अपने साक्षिरूप में स्थित होकर अंतःकरण से उतर जाओ। अंतःकरण जन्म-मरण के प्रवाह में भ्रमित करता है। उससे स्वयं को पृथक् समझ गये तो उसकी जो मर्ज़ी हो से हो, तुम अप्रभावित रह जाते हो। जैसे हम यंत्र पर आरूढ होते हैं, वैसे ही अंतःकरण में बैठकर उसपर आरूढ है।

भगवान् यह भ्रमण किसके द्वारा कराते हैं? 'मायया' माया से। इसलिये अन्यत्र शास्त्रों में कहा है, भगवान् की यह माया दुर्ज्ञेय है। इसे सिवाय परमेश्वर के और कोई नहीं जान सकता, एकमात्र वही इसे चलाने वाला और जानने वाला है। तुम इससे उतर कर बच सकते हो पर तुम चाहो कि इस माया के अधीश्वर होकर इसका नियंत्रण कर लो, तो यह नहीं हो सकता। जैसे कठपुतली नचाने वाला लकड़ियों के योद्धा बनाकर उन कठपुतलियों का खेल दिखाता है। कठपुतली सभी खेल करते दीखती है। परन्तु कठपुतली को धागे से बाँधकर नचाने वाला धागे के संचालन द्वारा उससे जो करवाना चाहता है, करवाता है। इसी प्रकार, जैसा पूर्वश्लोक में कहा, 'निबद्धःस्वेन कर्मणा' अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त कर्म के धागे से सब बँधे हुए हैं और उसी के अनुसार सब खेल हो रहे हैं। अतः भगवान् कह रहे हैं कि जैसे धागे से कठपुतली नाचती है वैसे ही प्रकृति के द्वारा जितने निबद्ध लोग हैं वे मुझ परमेश्वर की इच्छा से नाचते हैं। चाहे तू प्रकृति के अधीन रह तो भी वही काम करेगा, चाहे तू मेरे अधीन हो, तो भी वही करेगा। फर्क इतना है कि मेरे अधीन होने से मैं तूझे प्रकृति से मुक्त कर दूँगा। प्रकृति अपने से कभी मुक्त नहीं करेगी।

महात्मा लोग कहते हैं कि यह संसार माया से बना, अतः हम माया के पुत्र हैं। माँ कभी अपने बच्चे को नहीं छोड़ती। वह कहती है 'तू दूध पी ले, चॉकलेट खा ले लेकिन मेरे साथ ही रह।' बाप सोचता है – लड़का बड़ा हो रहा है, ठीक से पढ़-लिख नहीं रहा है, घर में रहकर नहीं पढ़ सकता, इसलिये गुरुकुल चला जाये। लेकिन माँ ऐसा कभी नहीं कह सकती। इसलिये माया और माया कार्य जितनी उपाधियाँ हैं, वे सब तुम्हें जकड़ कर ही रखेंगी। परन्तु मायाधीश की तरफ गये तो गुरुकुल भेज दिये जाओगे अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास करके श्रवण-मनन निदिध्यासन में लग जाओगे। अतः भगवान् कहते हैं कि प्रकृति की शरणता को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ।।६१।।

प्रकृति का एकमात्र संचालक परमेश्वर है अतः प्रकृतिपक्षपाती जीव पर परमेश्वर का ही नियन्त्रण है, यह समझ लेने से जीव को अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भावना छोड़ना सम्भव हो जाता है। किन्तु इससे यह प्रश्न उठ जाता है कि जीव का पारतंत्र्य होने पर विधि-निषेध-मोक्ष शास्त्र सभी व्यर्थ कैसे न होंगे? जीवस्वातन्त्र्य मानकर ही उसके लिये नियम तथा दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था संगत है, अन्यथा नहीं। इस प्रश्न का भगवान् उत्तर देते हैं –

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

हे भरतवंशी! हर तरफ से उसी ईश्वर का आश्रय ग्रहण करो, उसकी कृपा से परम उपरति और नित्य स्थायिता पाओगे।

वह जो प्रकृति का चलाने वाला है उसकी ही शरण में चले जाओ। प्रकृति को चलाने वाला कौन है? वस्तुतः वह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही माया की उपाधि से सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला प्रतीत होता है। ठीक जिस प्रकार सफेद कपड़ा सफेद रहते हुए ही नीले रंग का चश्मा पहन लेने पर नीला नज़र आता है पर वह कपड़ा वैसा का वैसा सफेद बना रहता है, चश्मा खोल दो तो कपड़ा सफेद ही दीखता है; ठीक इसी प्रकार से अहंकार तो अविद्या से उत्पन्न है इसलिये यह नहीं कह सकते कि अविद्या अहंकार को ढाँकती है। अविद्या अहंकाररूप विकार से चेतन को ही ढाँकती है। इसलिये शास्त्रकारों ने शुद्ध चेतन को ही अविद्या का पोषक और अधिष्ठान, आश्रय और विषय स्वीकृत किया है। चेतन ही शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त को चलाता हुआ प्रतीत होता है। चला तो प्रकृति रही है। शरीर के नियमों से चलने पर प्रतीति यह होती है कि मैं चल रहा हूँ। एक है अहंकार जो प्रकृति के साथ, है और दूसरा है उस प्रकृति को चलाने वाला अधिष्ठान। इसलिये अंतःकरण से लेकर अहंकार तक की उपाधि ही हमारे सामने अविद्या की उपाधि है। अविद्या का कार्य इसी में प्रतीत होता है। जब हमने समझ लिया कि ये तो आत्मा के द्वारा चलाये जा रहे हैं अर्थात् मेरे सच्चे स्वरूप प्रत्यगात्मा के द्वारा चलाये जा रहे हैं, तब दोनों ही उपाधियाँ हट जाती हैं। प्रकृति को चलाने वाला परमेश्वर है, वह परमेश्वर भी प्रकृति को लेकर के ही है। और उसी

प्रकृति का कार्य अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त है इसलिये इसको चलाने वाला भी वही चेतन है। जो वस्तुतः सारी उपाधियों से रहित है एवं अपनी माया के द्वारा सब भूतों को भ्रमण करा रहा है, उसकी शरण लेनी है। माया की नहीं, बल्कि माया को छोड़कर 'तमेव शरणं गच्छ' केवल चलाने वाले की अर्थात् अपने अन्दर जो प्रत्यगात्मस्वरूप से है, केवल उसकी ही शरण में जाना है। यों शरण लेने पर वह दोनों उपाधियों से निवृत्त करने वाला है।

'शरण' शब्द के दोनों ही अर्थ ले लेने चाहिये 'शरणं गृहरक्षित्रोः'। वही परम पद या परम स्थान है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य परमस्थान है, उससे आगे और कुछ नहीं है। जैसा कि उपनिषद् के अन्दर भी कहा कि उस उत्तम पुरुष से आगे और कोई गति नहीं है। वहीं सब गतियों का पर्यवसान हो जाता है। अतः वही हमारा घर है। जब किसी से कहते हैं कि 'घर का पता देना' तो लोग समझते हैं कि घर वह है जिसमें दीवारें हैं। किंतु जिसमें तुम नियम से रहते हो, वह घर है। होटल में जाकर रहने से वह घर नहीं हो गया, उसका पता दोगे तो तुम्हें पारपत्र (पासपोर्ट) नहीं मिलेगा। जहाँ तुम नियम से रहते हो, जो सचमुच तुम्हारे रहने की जगह है, कहीं भी आओ जाओ, कुछ भी करो, लेकिन जो हमेशा रहने की जगह है उसी को घर कहा जाता है। इसी प्रकार हम अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त उपाधियों के साथ रहते हैं। उनपर चढे हुए तो हम बहुत घूमते हैं, परन्तु वह सचमुच में हमारा रहने का ठिकाना नहीं है। एक शरीर से दूसरे शरीर में वह हमेशा बदलता रहता है और शरीर में रहते हुए भी जाग्रत् से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से फिर जाग्रत् में बदलता है। जाग्रत् में भी कभी बाल्यावस्था, कभी युवावस्था, कभी प्रौढावस्था और कभी वृद्धावस्था में बदल जाता है। ये जितनी अवस्थायें हैं ये सब निरन्तर बदलने वाले स्थान हैं इसलिये हमारे सच्चे घर नहीं हैं। अतः यहाँ से आना-जाना लगा रहता है। जब उस अधिष्ठान प्रत्यगात्मस्वरूप से अभिन्न ब्रह्म को हमने अपना घर समझ लिया तब फिर वहाँ से कहीं जाना-आना नहीं होता। 'गच्छ' अर्थात् 'अवगच्छ' ऐसा तुम समझ लो।

'शरण' शब्द का दूसरा अर्थ 'रक्षा करने वाला' है। जब हम उसको सांसारिक भोग के लिये चाहते हैं तब तो वह मायाधीश हमको घुमाता रहता है। जब हम उसको अपना रक्षक मान लेते हैं कि 'तुम ही हमारी रक्षा करने वाले हो' तब वह इस चक्र से छुड़ा देता है। अब तक धन, पुत्र आदि भी हम इसलिये चाहते हैं कि हम उनको अपना रक्षक मानते हैं। धन होगा तो काम आयेगा। कहीं जाना हो तो रुपया लेकर जाते हो क्योंकि उसी से रहने-खाने की, यात्रा की सारी व्यवस्था होती है। इसी प्रकार जब तक तो परमेश्वर हमारा रक्षक नहीं था, तब तक हमको बाकी सारे मायिक पदार्थों की ज़रूरत अपनी रक्षा के लिये थी। धन, पुत्र, पत्नी आदि से हमारी रक्षा होती है। अब हमने समझ लिया कि इन सब चीज़ों की प्राप्ति परमेश्वर के संकल्प से होती है। परमेश्वर के संकल्प के प्रति कारण हमारा पूर्व कर्म है। यह समझकर जब हमने परमेश्वर की शरण ले ली, तब सचमुच में हमारी

रक्षा के लिये जो आवयश्यक समझता है, वह ईश्वर खुद ही करेगा। हम सांसारिक चीज़ों को अपना रक्षक समझते हैं परन्तु भगवान् तो जानते हैं कि असली रक्षा करने वाला आत्मज्ञान है, अतः उस आत्मज्ञान के लिये अपेक्षित जो आवश्यक सामग्री है वह परमेश्वर का संकल्प ही प्राप्त कराता रहेगा। अतः सारे संसार के दुःखों का हरण करने के लिये परमेश्वर की शरण ही एकमात्र उपाय है। उसी का सहारा लो।

'सर्वभावेन' सब भावों से उसका सहारा लो। रोज़ बोलते हैं 'त्वमेव सर्वं मम देव देव'; बोल तो हम लोग सब देते हैं, परन्तु जितना विश्वास हमें सौ रुपये की गड्डी पर है उतना विश्वास परमेश्वर में है नहीं! बड़ा अभ्यास करने से यह सिद्ध होता है कि वही मेरा सब कुछ है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'सर्वभावेन सर्वात्मना' सब प्रकार से उसकी ही शरण, उसका ही सहारा लो। 'भारत' भरतकुल में उत्पन्न होने से अर्जुन इस लायक है कि ऐसा करे। जब इस प्रकार उसको जानोगे या उसका आश्रय ग्रहण करोगे तब प्रत्यगात्मा से अभिन्नरूपता का प्रसाद या प्रसन्नता प्राप्त करोगे। उसकी प्रसन्नता यह है कि फिर क्षण- मात्र को भी तुम उस यंत्र पर, झूले पर नहीं बैठते, अर्थात् शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त किसी भी चीज़ में तुम्हे आत्मभाव नहीं होता। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त को अपना स्वरूप समझना ही मल विक्षेप और आवरण हैं। प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा को अपना स्वरूप समझने पर ये सारे मल, विक्षेप आदि दूर हो जाते हैं। यही उसका प्रसाद है। यदि हमने उसे मायाधीश के रूप में स्वीकार किया है तब उसका प्रसाद या उसकी कृपा या अनुग्रह हमें अद्वैत में स्थापित कर देगा। ब्रह्मस्थिति की प्राप्ति अर्थात् अद्वैत-वासना ईश्वरानुग्रहसे ही होती है। अद्वैत का ज्ञान तो श्रवण-मनन से हो जाता है परन्तु उस ज्ञान की वासना नहीं बनती। जिस चीज़ की वासना होती है वह निरंतर मन के अन्दर प्रवहित होती रहती है। आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने दृष्टांत दिया है कि जैसे तुम्हारा मन किसी व्यक्ति में लगा हुआ है तो तुम काम करते हुए भी उस व्यक्ति की तरफ ही मन लगाये रखते हो, मन में उसकी ही वृत्ति बनती रहती है। इसी प्रकार से अद्वैतवासना हो जाने पर शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त प्रतीत होने वाली जो आत्मभावना व्यावहारिक स्तर पर है, उसके रहते हुए भी तुम केवल आत्मा की ही दृष्टि रखते हो। जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसकी तरफ तुम्हारी दृष्टि रहती है, प्रतिबिम्ब की तरफ दृष्टि नहीं रहती। यह जो अद्वैतवासना है यह परमेश्वर के अनुग्रह से ही होती है। यह संसार के सारे भयों से त्राण कर देती है। किसी युग में शायद दो-तीन को होती है! यदि मायाधीश के ऊपर अपना भार छोड़ देते हो, उन्हीं को अपना अधिष्ठान समझते हो, तब उनके इस अनुग्रह से परमशांति की प्राप्ति हो जाती है।

भाष्यकार लिखते हैं कि शांति का मतलब उपरति है। इसकी प्राप्ति होने पर फिर किसी और चीज़ में मन नहीं रह जाता, चीज़ों से रति हट जाती है। केवल उस परमेश्वर में ही प्रेम रह जाता है। उसके सिवाय और कहीं रति जाती नहीं। इसका कारण यह है कि जब

हम ईश्वर से अतिरिक्त कुछ चाहते हैं तब बाहर के पदार्थों की वृत्ति बनती है और यही अशांति है, इसी को विक्षेप कहते हैं। जब हमारी केवल परमेश्वर में प्रीति है तब वृत्ति अंतर्मुखी होती है और अंतर्मुख वृत्ति का नाम ही शांति है। यह परमशांति प्राप्त हो जाती है। 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतं' 'स्थान' जिसे पहले घर कहा था अर्थात् जहाँ रहते हो वह जो तुम्हारा अधिष्ठानरूप स्थान है, वह शाश्वत है, नहीं बदलने वाला है। बदलने वाले घर में तो बहुत रह चुके, अनंत शरीरों में रह चुके। विचार करो, हमने कितने शरीर बदल दिये, कोई ठिकाना नहीं। भगवान् ने तो दस ही शरीर लिये! जब उस मायाधीश परमेश्वर की शरण ले ली तब शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेंगे। एवकार से कह दिया कि प्रत्यगात्मरूप से अपरोक्ष की ही शरण लेनी है, तभी उस शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लोगे। यहाँ तक भगवान् ने सारा गीताशास्त्र बता दिया।।६२।।

समझाने के बाद भगवान् कहते हैं –

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

गोपनीय से भी अधिक गोपनीय यह ज्ञान मैंने तुझे बता दिया। इसका पूरी तरह विमर्श करने के बाद जैसी इच्छा हो वैसा कर।

भगवान् का कहना है – मेरा शिष्य बनकर मेरी शरण आया है, इसलिये मैंने तुझे गीता का उपदेश दिया।'ज्ञानं' अर्थात् जानने का करण; अर्थात् जिससे ज्ञान होता है वह शास्त्र यहाँ ज्ञान कहा गया है। गीता शास्त्र से परमेश्वर का ज्ञान होता है। इसलिये इस शास्त्र को भी ज्ञान कहते हैं। 'मया आख्यातं' इस ज्ञान को मैंने तुमसे कहा। पंजाबी में 'कहा' अर्थ में 'आख्या' कहते हैं। हिंदी में 'आख्यान' शब्द प्रसिद्ध है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि यदि तू मेरे पास शिष्यभाव से नहीं आया होता तो यह गीताशास्त्र तुझे कोई नहीं बताता। मैं सर्वज्ञ ईश्वर हूँ, व्यास जी कहते हैं 'शास्त्रयोनित्वात्' सारे शास्त्रों का योनि मैं ही हूँ। मुझ से ही सारे शास्त्र प्रकट हुए हैं। यह नियम है कि तुम चाहे जितनी शास्त्र में अपनी जानी हुई बात लिख दो, लेकिन तुम्हारा पूरा ज्ञान तो उसमें नहीं आयेगा। तुम उसके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें जानते रहोगे। उस शास्त्र के बारे में तुम ही अंतिम प्रमाण हो। इसी प्रकार परमेश्वर शास्त्र की योनि है अर्थात् शास्त्र उन्हीं से निकलते हैं। शास्त्र से अतिरिक्त भी वे तो सर्वज्ञ हैं, बहुत-सी चीज़ों को जानते हैं। शास्त्र के विषय में उनका कथन कभी किसी दूसरे के द्वारा काटा नहीं जा सकता। ऐसे शास्त्रयोनि मुझ ईश्वर के द्वारा यह गीता शास्त्र कहा गया है। यह शास्त्र कैसा है? 'गुह्याद् गुह्यतरं' छिपाने वाली चीज़ों को गुह्य कहते हैं। उन छिपाने वाली चीज़ों में मंत्र, तंत्र औषधि आदि भी हैं। जैसे होम्योपैथिक डॉक्टर के पास जाओगे तो वह तुम्हें दवाई दे देगा, नुस्खा नहीं देगा, क्योंकि औषधि को गुप्त रखना चाहिये। बंगाल में कविराजों (वैद्यों) का भी नियम था कि वे औषधि किसी को

बताते नहीं थे। व्यवहार में भी देखा जाता है कि कई बार औषधि तो बहुत सामान्य होती है लेकिन उसके गुण बहुत ज़्यादा होते हैं। यदि उसका नाग बतायें तो आदमी की भावना विपरीत हो जाती है कि 'इससे क्या होगा!' नाम नहीं बताओगे तो दवाई चूँकि बढ़िया है ही, इसलिये वह लेने पर फायदा हो जायेगा इसलिये औषधि का नाम नहीं बताते। इसी प्रकार मंत्र भी गुह्य है, किसी को बताना नहीं चाहिये। यदि खुले-आम मंत्र बता दोगे तो उसकी कोई कीमत नहीं रह जायेगी। किसी भक्त ने महात्मा से मंत्र पूछा। महात्मा ने कहा 'राम-राम ही महामंत्र है। इसकी तीन माला जप लेना।' भक्त दो-एक साल बाद आया तो उन्होंने पूछा कि 'जप तो नियम से करते हो?' कहने लगा-'भूल जाता हूँ, जप नहीं हो पाता।' महात्मा ने पुनः प्रेरित किया पर वह फिर भी उपेक्षाशील रहा। महात्मा उस पर कृपालु थे। उन्होंने अपने किसी गुरुभाई से चर्चा की तो उसने उपाय करने का जिम्मा लिया। वे उस गाँव आये। भक्त महात्माओं का प्रेमी था ही, उनके पास भी आया। उन्होंने पूछा 'जप करते हो?' उसने कहा 'मन नहीं लगता अतः कभी करता हूँ कभी छोड़ देता हूँ।' उन्होंने कहा 'मुझसे मंत्र लो, मन लग जायेगा।' वह मान गया तो महात्मा बोले 'दस हज़ार रुपये दक्षिणा चढानी पड़ेगी।' उसे जँचा कि इतना महँगा मंत्र ज़रूर कारगर होगा! उसने दक्षिणा देकर मंत्र ग्रहण किया। दीक्षा के बाद महात्मा ने सावधान किया कि 'यदि एक दिन भी जप नहीं करोगे तो तेरा सारा घर नष्ट हो जायेगा। और दोबारा पूछेगा तो फिर लाख रुपये दक्षिणा लूँगा।' वह मान गया। उन्होंने भी वही 'राम-राम' मंत्र का जप बता दिया। मंत्र तो वही होना हुआ! किंतु इतना महँगा था और एक दिन भी उसका जप नहीं करे तो घर बर्बाद हो जाने का डर था, अतः वह रोज़ जप करता रहा और उसमें उसका मन भी लग गया। इसलिये कहते हैं कि मंत्र गुह्य रखना चाहिये। इसी प्रकार औषधि भी बताएँ तो रोग दूर नहीं होता। इसी प्रकार अनेक चीज़ों को गुप्त रखने को कहा गया है। यह गीता शास्त्र तो सबकी अपेक्षा गुह्य से भी गुह्य, अत्यंत गुह्यतर है अर्थात् अन्य छिपाने लायक चीज़ों में भी यह गीता शास्त्र सबसे ज़्यादा छिपाने लायक चीज़ है।

अथवा, 'इति ते ज्ञानमाख्यातं' मैंने तुझे श्रवण-मनन-निदिध्यासन से होने वाले ब्रह्मतत्त्व को स्पष्ट करके बता दिया, साधन-साध्य स्वरूप भी सब बता दिया। परन्तु यह कहाँ मिलेगा? उपनिषद् कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां' वह सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप ब्रह्म हृदय गुहा में मिलेगा। हृदय गुहा के अन्दर है इसलिये गुह्य है। गुहा में अर्थात् अहंकार वृत्ति को छोड़कर जो उसका शुद्धरूप है वह गुह्य है। उस शुद्धरूप का मैंने तुझे वर्णन किया।

अंत मे भगवान् कहते हैं - यह गीता शास्त्र मैंने तुम्हें जितना बताना था, बता दिया। अब तुम इन सारी बातों का आनुपूर्वी (आगे-पीछे) ठीक से विमर्श या मनन करो, भली प्रकार से विचार करो। जो अधिष्ठानरूप है उसका अशेष विमर्श यह है कि जो कुछ भी अब्रह्म प्राप्त हो उस सबका निषेध करो। जो-जो चीज़ प्राप्त होती जाये उन सबका निषेध

करके निषेधावधि रूप से उसे समझो। जब तक तुम जानना चाहो कि वह क्या है, तब तक कभी अशेष नहीं समझ पाओगे। इसलिये अतद्व्यावृत्ति-मात्र से ही उसका ज्ञान सम्भव है। जो-जो चीज़ निवृत्त हो सकती है उसको निवृत्त करने के बाद वह अपने आप ही बच जाता है। अहंकार पर्यन्त, माया पर्यन्त प्राप्त होता है। जब अहंकार, माया भी चली जाती है तब परमात्मा ही बच जाता है। 'क्या बच जाता है?' जब तक यह पूछोगे तब तक तो परोक्ष रहेगा परन्तु सबको बाधित करने वाला मैं हमेशा बना रहेगा। जब अहंकारात्मिका वृत्ति भी चली जाती है तब वह अपने आप बच जाता है। आत्मतत्त्व का स्फुरण होता रहेगा, उसे विषय करने का प्रयास किया तो त्रिपुटि का परिच्छेद खड़ा होकर अखण्ड अद्वितीयता नहीं रहेगी। वह ज्ञानमात्र है, वहाँ न ज्ञाता-भाव है और न ज्ञेय-भाव है। भगवान् ने कहा 'इस तत्त्व का अथवा गीता शास्त्र का आगे-पीछे भली प्रकार विचार करके फिर तुम्हारी जो इच्छा हो वह करो।' यह वैदिक धर्म का नियम है। वैदिक धर्म किसी के ऊपर लादने की चीज़ नहीं है। सारी मनुस्मृति में मनुमहाराज सारे धर्म का वर्णन करके कहते हैं 'येनेष्टं तेन गम्यताम्' जो तुम्हें अच्छा लगे उसी रास्ते से चलो। इसी प्रकार भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो, विचार पूर्वक वैसा करो। इच्छा किसका धर्म है? इच्छा मन का ही धर्म है। मन के धर्म को मन मिटने से ही मेटा जा सकता है। इसलिये जब निषेध की अवधि की बात होती है तब आर्चाय लोग मनोनाश की बात करते हैं। क्योंकि जब बाकी सारी चीज़ों का निषेध किया है तब केवल मन ही शेष रह जाता है इसलिये मनोनाश करना पड़ता है। यदि अशेष निवर्तन की इच्छा है तब मनोनाश करो। अथवा, गीताशास्त्र में कर्म को साधन और ज्ञान को साध्य बताया है। उसका विचार करके 'मेरी क्या योग्यता है' इस बात का ख्याल करके जो तुम्हारी योग्यताका कार्य है, वह तुम करो।।६३।।

'यथेच्छसि तथा कुरु' कह कर भगवान् ने देखा कि अर्जुन का मुख विवर्ण हो गया। वह घबड़ा गया कि 'मैंने तो पूछा था कि क्या करूँ और इन्होंने मुझ पर ही छोड़ दिया! सीधा कहते 'ऐसा कर', तो मैं कर लेता। लेकिन इन्होंने मेरे ऊपर छोड़ दिया कि जैसी मर्ज़ी हो वैसा करूँ'। इसलिये विशेष कृपाकर भगवान् कहते हैं –

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

तुमपर मेरा कभी न हटने वाला स्नेह है अतः तुम्हारा हित बताता हूँ। सर्वाधिक गुह्य मेरा खास वाक्य फिर से सुनो।

पहले भी भगवान् अर्जुन को कई जगह कह आये हैं 'तू मेरा प्रिय है'। इष्ट का असली तात्पर्य होता है जो इच्छा का विषय हो। परमेश्वर की इच्छा का विषय कौन है? जिस जीव ने भगवान् के ऊपर भरोसा करके बाकी भरोसे छोड़ दिये वही परमेश्वर को प्रिय है। इसलिये जो ज्ञान का साधक है वही परमेश्वर को इष्ट है। अर्जुन तो प्रिय है ही। जो कोई

भी प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर को समझने वाला है वह भगवान् को इष्ट है क्योंकि भगवान् ने 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' के द्वारा ज्ञानी को अपना आत्मा कहा है। सबसे प्रिय आत्मा ही होता है। यद्यपि वह आत्मा 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है, सभी प्राणियों के अन्दर बैठा हुआ वही आत्मा है, तथापि जिस अंतःकरण में श्रवण–मनन निदिध्यासन का परिपाक है वहाँ वह जाज्वल्यमान होकर प्रकाशित होता है इसलिये वह अत्यधिक प्रिय है। 'तू केवल प्रिय ही नहीं है, दृढरूप से प्रिय है अर्थात् तुझसे प्रेम कभी व्यभिचरित नहीं होता।' जो ज्ञान का साधक है वह परमेश्वर की आँखों से कभी ओझल नहीं हो सकता क्योंकि उसका आत्मस्वरूप है। इसलिये पहले भी (६.३०) भगवान् ने कहा था कि 'मैं उसे कभी नहीं देखता ऐसा नहीं और वह मुझे कभी नहीं देखता, ऐसा भी नहीं। इसलिये अर्जुन को अव्यभिचारी प्रिय कहा है।

अतः कहते हैं – तूने जो मेरी शरण ली थी और कहा था 'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं' वह बात तो ख़त्म हो गई। लेकिन तू मेरा अव्यभिचारी प्रिय है। जिससे प्रेम होता है उसे गुह्य बात कहते हैं। गुरु–शिष्य भाव से तो कह दिया कि जैसी इच्छा हो वैसा करो, परन्तु प्रेम के कारण जो तुम्हारे लिये हितकारी बात है वह कहता हूँ, इसमें फिर आगे विचार नहीं करना। विचार करने की बातें कह चुका, अब तो मैं सीधी–सादी हित की बात कहूँगा। अब जो बताने जा रहे हैं वह अर्जुन के हित की बात है क्योंकि उसने ईश्वर की शरण ली है। जिसने भी ईश्वर की शरण ली है उसके हित की यह बात है। अथवा अधिष्ठान का अपरोक्ष करके भी जो वासना बनाना चाहता है उसके हित की है। यह जो हित की बात है यह 'सर्वगुह्यतम' है। शास्त्र की दृष्टि से तो 'गुह्य से गुह्यतर' कहा, लेकिन जो सीधा आदेश दिया जाता है वह 'गुह्यतम' इसलिये है कि जिस एक को कहा जायेगा उसी के काम का है, दूसरे के काम का है ही नहीं। शास्त्र तो सबके काम का है, परन्तु जो सीधा निर्देश दिया जाता है कि 'तुम यह करो' वह निश्चित तुम्हारे हित का होगा, दूसरे के हित का हो या न हो। इसलिये सर्वगुह्यतम है। अथवा गुह्य अर्थात् हृदय में प्रतिबिम्बित चेतन जीव गुह्य है और उससे भी गुह्य साक्षी निर्विकार चेतन है और गुह्यतम वह है जिसके अन्दर किसी भी प्रकार का चलन नहीं है। गुह्यतम का मतलब यह नहीं है कि शास्त्र में नहीं कहा है! शास्त्र में तो कहा है लेकिन शास्त्र में कही अनेक बातों में से चुनकर निकाला यह उपदेश है। मेरे प्रिय हो इसलिये मैं ही तुम्हारे काम के लिये चुनकर तुम्हें सुना रहा हूँ। 'भूयःशृणु' शास्त्र में तो बता दिया लेकिन मैं तुम्हें फिर कहता हूँ, प्रेम से तुम्हारे बारे में विचार करके यही मुझे निश्चय हुआ है। यह मेरा परम वचन है। भाष्यकार कहते हैं 'हितं परं ज्ञानप्राप्तिसाधनं, तद् हि सर्वहितानां हिततमम्'। यहाँ हित से परम हित विवक्षित है और परमार्थ ज्ञान पाने का उपाय ही परम हित है, सभी हितों से अधिक हित है। ज्ञानप्राप्ति अर्थात् ज्ञान की वासना कैसे प्राप्त हो – यह अब भगवान् सूत्ररूप में बतायेंगे।।६४।।

वह हितकारी बात क्या है? भगवान् कहते हैं –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

ऐसे बनो कि मुझमें ही तुम्हांरा मन लगा रहे, मेरा ही भजन करो, मुझे ही पूजो और मुझे ही नमस्कार करो। ऐसे बन गये तो मुझे ही पा लोगे। यह मैं तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम मुझे प्रिय हो।

जो कुछ मेरा तात्पर्य है वह इन दो श्लोकों में समाप्त हो जायेगा : 'मन्मना भव' अपना मन मुझ में ही लगाओ। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म को समझा है तो उस ब्रह्म के बारे में ही संकल्प-विकल्प करो आर्थात् अखण्ड तत्त्व के विरोधी जो तर्कादि आयें उन को हटाओ और अपना मन बार-बार मेरे में ही स्थिर करो। 'मद्याजी भव' मेरी ही पूजा करने वाले बनो। प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्म-स्वरूप है उसके लिये कर्म करने का मतलब देखना, सुनना आदि सब कुछ उसके अर्पण करो। यही मद्यज्ञ अथवा मद्याजी होना है। आँख आदि से अहंकार ग्रहण कर उसे भीतर स्थित साक्षितत्त्व को समर्पित कर दे। आँख इत्यादि चम्मच (स्रुवा) है, उसके द्वारा आहुति परमात्मा को ही दी जाती है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप है, तुम जो कुछ भी करते हो उस सबको उसके समर्पण करो। यह निश्चय रहे कि 'इन्द्रिय मन और बुद्धि से जो कुछ भी हो रहा है वह सब परमात्मा के लिये ही हो रहा है, अपने लिये मैं कुछ नहीं करता। प्राणधारण के लिये जो भोजन आदि भी किया जाता है वह भी अन्दर में स्थित जो वैश्वानर अग्नि है उसके लिये ही आहुति दी जा रही है।' यज्ञ मंत्र पूर्वक होता है। इस प्रकार के साधक को प्रणवपूर्वक यह सब करना है। जो मनन से त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म अधिष्ठान है। ॐ अधिष्ठान है जिसमें अकार उकार मकार कल्पित हैं। इसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति (में वैसे ही कल्पित हैं जैसे ॐ तुरीय ओंकार) में अ उ म कल्पित हैं। यज्ञमें त्यागका उद्देश्य देवता होता है। परमात्मा के उद्देश्य से इस प्रकार ओंकार का चिन्तन करना है। अधिष्ठान से अतिरिक्त जो कुछ है वह सब कल्पित है। माया से ही देश काल की भी कल्पना है और उस देश काल से ही यह सारा जगत् प्रकट होता है। यज्ञ में द्रव्यत्याग भी होता है। यहाँ देखना, सुनना, चलना, फिरना आदि सब द्रव्य हैं, इन सबका त्याग है। सब कल्पित हैं और कल्पित का त्याग अधिष्ठान का चिंतन ही है। इस तरह 'मद्याजी' बनना है।

'मां नमस्कुरु', इस प्रकार यज्ञ करते हुए मेरे को ही नमस्कार करो। नमस्कार का अर्थ करते हुए पद्मपादाचार्य कहते हैं 'त्यागो हि नमसो वाच्यः' नमः शब्द का अर्थ त्याग है। किसका त्याग है? अभी तो हम सब चीज़ें अहं के लिये करते हैं, उस अहं की उपाधि का ही त्याग करना है अर्थात् यह निश्चय करना है कि मैं नहीं हूँ, केवल अधिष्ठान ही है। यह सब करने से 'मद्भक्तो भव' मेरा भक्त बनो। यही मेरी भक्ति है। किसी आचार्य ने भक्ति का अर्थ किया है कि अहंकार से चेतन को विभक्त कर देना भक्ति है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा

से अभिन्न जो परमात्मा है उस अधिष्ठान से इन सारी कल्पित चीज़ों का परित्याग कर देना है। उत्तम अधिकारी मन्मना आदि कैसे बने यह बताया।

अर्जुन को भगवान् दिलासा देते हैं कि प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर को तुमने नहीं जाना हो तो भी मैं तुम्हारे सामने खड़ा हुआ हूँ इसलिये मेरे में मन को स्थापित करो अपने मन को मुझमें लगाओ। मेरे लिये ही कर्म करो। मद्याजी बनो, अर्थात् मैं जो-जो कर्म तुमसे कहता हूँ, वह-वह तुम करते जाओ। उसमें फिर तुम इस विचार को छोड़ दो कि तुम्हें क्या अच्छा लगता है। मेरे निर्देशके सामने अपनी इच्छा का त्याग करना ही नमस्कार है। यही मेरी भक्ति है। मेरे में मन को लगाओ, मैं जैसा कहूँ वैसा करो, अपने को अच्छी लगने वाली चीज़ों का त्याग कर दो।

इस प्रकार जो करता है वह मुझको ही प्राप्त करता है। जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न जगत् के कारण को समझता है वह प्रारब्ध की प्रतीति के हटने पर परमार्थ स्थिति में स्थित हो जाता है। जो उस तत्त्व में प्रतिष्ठित नहीं, वह गुरुभक्ति से यथाक्रम उसी भाव को पा जायेगा। भगवान् भी अर्जुन के गुरु के रूप में उपस्थित थे। गुरु स्वयं को प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मरूप समझता है, इसलिये उसकी भक्ति करके साधक उसी भाव को प्राप्त कर लेगा। अतः भगवान् कहते हैं – 'मामेवैष्यसि' मुझे ही प्राप्त हो जायेगा। यह जो बात मैं कह रहा हूँ इसमें संदेह नहीं करना 'सत्यं ते प्रतिजाने' मैं यह बिलकुल ठीक बात कहता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है। अर्थात् जो कोई भी मुझमें मन लगायेगा, मेरी आज्ञा के अनुसार चलेगा, अपने अहंकार का त्याग करेगा, वह अवश्य जो मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप है, प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मतत्त्व है, उसको प्राप्त कर जायेगा। यदि सोपाधिक तत्त्व की ही ऐसी शरण लेगा तो उसे प्राप्त करेगा। 'सत्यं ते प्रतिजाने' मैं तुमको यह सत्य कह रहा हूँ, प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ, इसमें संदेह का कोई अवसर ही नहीं है। ऐसी प्रतिज्ञा मैं क्यों कर रहा हूँ? क्योंकि 'प्रियोसि मे' तुम मुझे प्रिय हो। इस प्रकार भगवान् ने सत्य प्रतिज्ञा कर ली।

आचार्य शंकर कहते हैं कि 'भगवद्भक्तेरवश्यम्भावि मोक्षफलम्' सभी भगवद्-भक्तों के लिये यही भक्ति मोक्ष फल का साधन है। इसी में सारी साधना आ गई, इसी का विस्तार बाकी सारी साधनायें हैं। जब यह साधना करते हैं तभी शरणागति का भाव आता है। इस प्रकार से भगवान् ने कर्मयोग-निष्ठा का परम रहस्य ईश्वर-शरणता बता दी।।६५।।

गीता भाष्य के प्रारम्भ में ही आचार्य शंकर ने कहा है कि वैदिक धर्म की दो शाखायें हैं- प्रवृत्ति और निवृत्ति। मनु ने भी कहा है 'प्रवृत्तं च निवृत्त च द्विविधं कर्म वैदिकम्'। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समापन तत्त्वबोध में है। ईश्वर-शरणागति रूप जो कर्मनिष्ठा है, उससे क्या फल होता है? उसका फल सम्यक् दर्शन है। वही सारे वेदांतों में प्रतिपादित किया गया है। उसी को अब भगवान् बताते हैं-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

धर्मादि सब कर्मों का परित्याग कर मुझ एक की ही शरण लो। मैं तुम्हें बन्धनरूप सब पापों से छुड़ा दूँगा। शोक मत करो।

हे अर्जुन! तूने कहा था कि तू धर्मसम्मूढचेता अर्थात् धर्मके बारे में तेरा चित्त मोहग्रस्त है, ठीक प्रकार से विवेक नहीं कर पा रहा है। एक तरफ तो लगता है कि क्षत्रिय होने से आततायियों को मारना धर्म है, दूसरी तरफ लगता है कि पूज्य होने के कारण इनके सामने से हट जाना ही श्रेयस्कर है। यह भी शास्त्र ने कहा है कि गुरु के सामने हुंकार-तुंकार भी न दे, फिर उनको बाणों से बींधना बड़ा भयंकर लगता है। इसलिये मैंने जब कहा 'यथेच्छसि तथा कुरु' तब तेरे मन में आया कि 'मैं क्या करूँ?' तू धर्मसम्मूढ है तो सारे धर्मों को छोड! यहाँ धर्म कहा है, परन्तु धर्म से अधर्म का भी ग्रहण किया है। अर्थात् न धर्म कर, न अधर्म कर। भगवद् शरणागति का जो फल सम्यक् दर्शन होता है उसके अन्दर सर्वकर्मसंन्यास हो जाता है। दो ही तरह के कर्म होते हैं, धर्म और अधर्म। जब धर्म और अधर्म दोनों छोड़ दिये तब सर्वकर्मसंन्यास हो गया। यद्यपि यहाँ कहा है कि 'छोड़ दे' लेकिन इसका तात्पर्य है कि जब कर्मयोगनिष्ठा या भक्ति पूर्ण सम्पन्न हो जाती है, तब दोनों छूट जाते हैं। जब तक ये छूट नहीं जाते, तब तक बार-बार कर्मयोग का अभ्यास करना ही एकमात्र रास्ता है। इस प्रकार से छूटने पर नैष्कर्म्यभाव प्राप्त हो जाता है। कर्म उसी को कहा जाता है जिसको तुम रागद्वेष-पूर्वक करते हो। साँस लेना, नहीं लेना इसमें तुम्हे कोई राग-द्वेष नहीं है। सीढ़ियाँ चढ़ते हैं तो साँस तेज़ हो जाती है, साँस तेज़ तुम करते नहीं हो, स्वभाव से हो जाती है। इसी प्रकार से सारे कर्मों का परित्याग करने पर शरीर के अन्दर जो कुछ दीखता है उसको करने वाला वह जीव नहीं है। इसलिये भगवान् ने कहा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'।

विचार करो कि किन धर्मों को तुम अपना मानते हो? देह-धर्मों को ही तुम अपना मानते हो। शरीर है तो स्नान भी करना है, शौच भी करना है, भिक्षा भी करनी है। इसी प्रकार मन का धर्म है ध्यान करना, विक्षिप्त होना। देहधर्म, मन के धर्म, प्राणधर्म और बुद्धि के धर्म - इन सबको छोड़ दो। ये स्वतः होते हैं, तुम कर्त्ता नहीं बनो। जब भगवद्भक्ति पूर्ण हो जाती है तब फिर शरीर आदि के धर्मों को राग आदि से प्रवृत्त नहीं करते इसलिये देह से लेकर विज्ञानमय, आनन्दमय पर्यन्त जितने धर्म हैं उन सबसे छूट जाते हो। इनसे जो छूटना है वही सारे कर्मों का संन्यास है।

'मामेकं शरणं व्रज', एक-प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्मतत्त्व है उसी की शरण में जाओ। बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ देवताओं का विचार किया वहाँ अनेक देवताओं को पहले बताया। लाखों करोड़ों की संख्या बतायी। फिर पूछते चले गये कि इनमें प्रधान कौन? क्रम से बताया, तैंतीस प्रधान हैं, तीन प्रधान हैं, दो प्रधान हैं; फिर कहा कि डेढ प्रधान हैं! जब पूछा 'इनमें भी कौन असली देवता है?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'वह तो एक ही है।' माया को आधा माना। आधा इसलिये कि जब तक सृष्टिचक्र है तब तक रहती भी है और असलियत जानने के बाद नहीं भी रहती। एक कहने के बाद आगे कोई प्रश्न नहीं पूछा। एक परब्रह्म

परमात्मा अधिष्ठान ही है, वही वास्तविक तत्त्व है। उसी एक को भगवान् ने 'मामेकं' कहा। उपनिषदों में अनेक जगह इसलिये 'एक' शब्द का अर्थ ब्रह्म किया। 'सदेव सोम्यदेमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं', 'ब्रह्मैवेदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मैवेदं' 'सर्वम्' 'एकमेवाद्वितीयम्'। उपनिषदों में कहा हुआ 'एक' ब्रह्म माया से रहित है। क्योंकि 'मां' से दोनों का ग्रहण हो सकता था इसलिये 'एकं' कहकर स्पष्ट कर दिया कि यहाँ ईश्वर की बात नहीं है, माया से रहित की बात है। 'शरणं व्रज' उसकी शरण का मतलब है 'न मत्तः अन्यत् अस्ति इति अवधारय' उस (मुझ) एक के सिवाय और कहीं कुछ नहीं है यह निश्चय करना। जो कुछ भी माया से प्रतीत होता है, हुआ है, और होगा, वह कुछ नहीं है। ठीक जिस प्रकार से समुद्र में झाग दिखाई देती है, वह सचमुच में कुछ भी नहीं है, प्रतीतिमात्र है। सचमुच में तो वहाँ एकमात्र पानी ही है। इसी प्रकार से संसार में जो कुछ दीख रहा है, वह सचमुच में कुछ नहीं है। माया के कारण एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दीख रहा है। जब तक अज्ञान है, तब तक दीखता है। अज्ञान की निवृत्ति के बाद फिर दीखता भी नहीं। यही शरण जाना है।

भगवान् फल बताते हैं – जब तू इस प्रकार से शरण ग्रहण करेगा तब 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'। अहंकार वाला अपने स्वरूप को समझ कर अनादिकाल से न जाने कितने पाप तुमने किये हैं। यहाँ पाप से पुण्य को भी ले लेना। क्योंकि शास्त्रकारों ने कहा कि पाप-पुण्य का मूल कारण अविद्या है इसलिये जब तक हम अविद्या से ग्रस्त हैं तब तक जिसे हम पुण्य समझते हैं वह भी पाप है। पुण्य के द्वारा हम यहाँ से वैकुण्ठलोक, गोलोक, मणिद्वीप, ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहाँ कुछ समय के लिये सुख भोगते हैं, परन्तु फिर वापिस यहीं आना पड़ता है। विचार करो, कि पुण्य यहाँ से ऊपर तो ले गया, परन्तु पुण्य के समाप्त होने पर वापस आना भी तो उसी का फल है! ऊपर गये इसीलिये तो वापिस आये। अतः पुण्य ने जो फल दिया वह दुःखान्त ही हुआ। जब लौटोगे तब दुःख ही होगा। इसलिये वह भी पाप ही है। इसलिये 'सर्वपापेभ्यः सर्वधर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यः' भाष्यकार कहते हैं कि धर्म-अधर्म दोनों बन्धन हैं। धर्म के कारण हमें एक लाख रुपये की हीरे की अंगूठी पहनने को मिली; यह धर्म का फल है। उसे पहने हुए हम रेल से यात्रा कर रहे हैं और रेल के जिस डिब्बे में हम बैठे हैं उसमें हमारे अलावा केवल दो ही आदमी और बैठे हैं। वे दोनों फटे कपड़े पहने बैठे हैं। अकस्मात् उस डिब्बे में एक डाकू आता है। देखता तो वह सबको है लेकिन हमको पकड़कर ठोकता है क्योंकि हमारे हाथ में एक लाख का हीरा है! वह एक लाख का हीरा मिलना ही डण्डे खाने का कारण है। इसलिये धर्म-अधर्म दोनों बन्धनरूप हैं। अतः भगवान् ने कहा – अनादिकाल से किये हूए हमारे पुण्य-पाप के जितने फल एकत्रित होते हैं उनसे होने वाला जन्म-मरण का प्रवाहरूप जो बन्धन है उससे 'मोक्षयिष्यामि' मैं तुझे छुड़ा दूँगा अर्थात् मेरी जो अपनी वास्तविकता प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूपता है, उसको प्रकट कर दूँगा। वह प्रकट होना ही इस बन्धन की निवृत्ति है। यदि प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूपता को हमने जाना है तब तो वही (ज्ञान) छुड़ा देगा और अगर

हमने नहीं जाना है तो भगवान् पहले ही कह आये हैं – 'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' (१०–११) अतः भगवान् स्वयं ही श्रवण–मनन के द्वारा ज्ञान प्रदान कर देंगे, उन्होंने पहले ही प्रतिज्ञा कर रखी है। 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इसलिये 'मा शुचः' तुम्हारे चेहरे पर जो मुर्झायापन आ गया है उसे मत करो। यदि प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूपता को जानता है तो शोक को स्थान नहीं और यदि नहीं भी जानता है तो मेरी शरण ले ले, मैं मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।

इस प्रकार से इन दो श्लोकों में एक से तो भगवान् ने वेद में प्रतिपादित सारे प्रवृत्ति मार्ग का आधार बता दिया और दूसरे के द्वारा निवृत्ति मार्ग का अवसान बता दिया। जब धर्माधर्म का परित्याग कर देते हैं तब निरन्तर ब्रह्मविषयक श्रवण–मनन में लगना ही 'एक शरण' लेना है अर्थात् माया को बाधित करते जाना है। इस प्रकार भगवान् ने गीता शास्त्र का उपसंहार किया।।६६।।

इस गीताशास्त्र में अर्जुन ने कल्याण का जो मार्ग पूछा था कि वह ज्ञान है या कर्म है? इसका विस्तार से भाष्य में विचार किया गया है। यद्यपि भगवान् ने बार–बार कहा है 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति', फिर भी इसके बारे में बहुत भ्रम होता है क्योंकि गीता का विचार करते हैं तो कहीं भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है 'यज्ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते' मेरे ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति है; 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं' मुझे जानकर मुझ में घुस जाता है; इस प्रकार से ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति के स्पष्ट वाक्य गीता में मिलते हैं। किंतु भगवान् अर्जुन को बार–बार कहते हैं कि तेरा अधिकार कर्म में ही है। 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं' तू कर्म ही कर। कर्म करने के लिये ही बार–बार अर्जुन को कहा है। इससे लगता है कि कर्म करते रहने का ही संदेश भगवान् का है। प्राचीन काल में भी इसलिये दोनों प्रकार के विचारक हुए। कइयों ने तो कहा कि कर्म करने से ही मोक्ष मिलेगा। जैसे बाकी सब चीज़ें कुछ करके मिलती हैं वैसे ही मोक्ष भी कुछ करके ही मिलेगा। कुछ ने कहा 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' ज्ञान से ही मोक्ष होता है। कुछ ने माना कि इसलिये दोनों को मिलाकर करना चाहिये। चूँकि वेद म़ें भी प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्म का विस्तार से विवेचन है और गीता शास्त्र में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों मार्गों को कहा है, अतः वेद की और गीता की सार्थकता तभी है जब प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की जायें। भाष्यकार के पहले एक जबर्दस्त वेदान्त के विचारक भर्तृप्रपंच ने ज्ञानकर्म के समुच्चय पर ही ज़ोर दिया कि ज्ञान और कर्म दोनों करो। शास्त्रों में कई जगह इसलिये कहा है कि जैसे पक्षी तब उड़ता है जब उसके दोनों पंख हों, एक पंख से नहीं उड़ सकता, इसी प्रकार से कर्म व ज्ञान दो पंख हैं। इन दोनों को मिलाकर चलने से उड़ सकते हैं, संसार समुद्र के पार जा सकते हैं। वर्तमान काल में इस विचार के प्रचारक तिलक रहे। इसलिये उन्होंने गीता–टीका का नाम ही कर्मयोगशास्त्र रखा है। उसमें स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान तो जैसा आचार्य शंकर ने कहा है वैसा ही है। अद्वैत ही चरम तात्पर्य है, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु उसकी प्राप्ति कर्म करते हुए ही हो सकती है

कर्मत्याग के द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यही समुच्चयवादी का कहना है। अतः इस विषय में विचार अवश्य कर्त्तव्य है ताकि यह निर्णय हो जाये कि कर्म करें या ज्ञान करें या कर्म और ज्ञान दोनों करें। अतः भाष्यमें विस्तार से इसकी मीमांसा की है।

पहले तो यह समझ लो कि क्या निर्णय होगा। निःश्रेयस या मोक्ष का कारण केवल ज्ञान ही है। ज्ञान जिसका होता है वह अद्वितीय है, दो वहाँ हैं नहीं। भेद-प्रत्यय हटने से ही ब्रह्म की प्राप्ति है और भेद-प्रत्यय होने पर ही कर्म कर सकते हैं। अभेद-भावना से कोई कर्म नहीं हो सकता। मोटी भाषा में समझ लो कि पैर या पीठ में कहीं भी खुजली आई तो जब तक तुम यह अलग नहीं कर लोगे कि एक हाथ है और एक पैर है अर्थात् यह भेद नहीं रहेगा, तब तक हाथ से खुजली कैसे करोगे? यदि यह भेदप्रत्यय नहीं है तो खुजली अपने-आप मिटने वाली नहीं है। यद्यपि तुम एक हो, सारा शरीर तुम हो इसलिये तुम ही खुजली कर रहे हो और तुम अपने को ही खुजली कर रहे हो, तथापि एक हाथ की उपाधि से है और एक पीठ की उपाधि से है। दोनों को अलग करके ही खुजली करोगे। इसलिये भेद-प्रत्यय के बिना कर्म हो नहीं सकता। और ज्ञान अभेद-प्रत्यय है। कैवल्य फल के अन्दर जिसका समापन होता है वह ज्ञान अभेद-बुद्धि वाला है। केवल उस ज्ञान से ही निःश्रेयस हो सकता है, कर्म से नहीं हो सकता। क्रियाकारक-फल की भेदबुद्धि कर्म में चाहिये। करने वाला और जिसे कर रहा है वह क्रिया, इन दोनों की जो भेदबुद्धि या भेदनिश्चय है, वह केवल अविद्या के कारण ही है, अविद्या में ही प्रवृत्त होता है। 'मैंने यह किया, मेरी यह क्रिया है और इसका यह फल है' – इस अविद्याकी भेदभूमि में ही कर्मप्रवृत्ति है। शास्त्रीय की तरह लौकिक कर्म भी इस भेद की अपेक्षा से ही होते हैं। इस प्रकार हम क्रिया-कारक-फल की भेद-बुद्धि से अविद्या में ही नित्य प्रवृत्त हैं। अनादि काल से हम कर्म कर रहे हैं क्योंकि यह भेदबुद्धि है। भेदबुद्धि अविद्या से है अतः अविद्या के कारण ही सारे कर्म होते हैं।

जगह-जगह भाष्यकार इसीलिये कहते हैं कि ज्ञानी कोई कर्म नहीं करता क्योंकि कर्म जितने दीखते हैं वे सब प्रकृति के कार्यों मे दीखते हैं, चेतन में तो कहीं कोई कर्म दीखता नहीं। इसका पता तब लगता है जब तुम से कोई बुरा कर्म होता है! हम एक घण्टे तक ठीक बोलते रहे, तब तो हम बोले ही हैं। परन्तु बीच में कोई एक ग़लत बात आ गई तो हमेशा वह ग़लत बात किसी कारण से आती है? 'क्या बतायें, स्मृतिशक्ति कमज़ोर हो गई, वैद्य जी! कोई ब्राह्मीबूटी दे दो।' अर्थात् ग़लती हमने की नहीं, हो गई। यहाँ से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक यही है – हरित क्राँति हम लाते हैं। परन्तु इस साल तो अकाल पड़ गया, हम क्या करें! ग़लत चीज़ आती है तो मनुष्य उससे क्यों हटता है? क्योंकि सचमुच में वह अकर्त्ता है। यह बात उसके मन से झाँक रही है कि 'मैं ग़लती नहीं कर सकता'। ग़लती का हमेशा कोई-न-कोई कारण होता है।

आप लोगों ने किस्सा पढ़ा होगा : एक जगह किसी मकान की दीवार गिर गई। राजा ने

उसके मालिक को पकड़कर बुलाया कि 'तुम्हारे मकान की दीवार गिरने से इतने आदमी मर गये इसलिये तुम्हे फाँसी मिलेगी।' उसने कहा कि 'मैं मालिक ज़रूर हूँ लेकिन इसके लिये इंजिनियर जिम्मेवार है, मैं नहीं।' इंजिनियर ने कहा 'मैंने तो सब चीज़ें ठीक परिमाण में कही थी लेकिन मिलाने वाले ने गड़बड़ कर दिया।' मिलाने वाले को बुला कर पूछा कि 'तूने इसमें सब कुछ ठीक अनुपात से क्यों नहीं मिलाया?' उसने कहा कि 'मैं तो ठीक से मिला रहा था लेकिन जैसे ही पानी डाल रहा था, उधर से एक बारात निकली, बीन (दूल्हे) को देखने लगा तो मेरा ध्यान बंट गया। इसलिये उस बारात के बीन का दोष है।' राजा ने वर को बुलवा कर पुछा कि 'तू उसी समय वहाँ से क्यों निकला? तू निकला तो दीवार कमज़ोर बनने से गिर गई और तीन आदमी मर गये, इसलिये तू ही दोषी है।' वर बेचारा क्या करे! ठीक इसी प्रकार से जब भी कोई ग़लत काम होता है तब करने वाला कोई और होता है। और कोई सामने नहीं मिला तो या मुकद्दर, तकदीर खोटी होती है या आज का नया देवता आ जाता है कि यदृच्छा से, चांस से हो गया। यह जो 'मैंने नहीं किया' का भाव है, यह है तो वास्तविक, परन्तु करते समय में भूल जाते हैं। उस समय लगता है कि 'मैं कर रहा हूँ।'

यह अविद्या अनादि काल से प्रवृत्त है, हमेशा से है। इस अनादि अविद्या का निवर्त्तक तो यही बोध है कि मैं केवल प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म हूँ। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निर जनम्' जिसमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं, किसी प्रकार का बिगाड़ (विकार) नहीं वह मेरा स्वरूप है। इस बात को जब समझ लेते हैं तो जैसे बिगड़े काम का खुद को कर्ता नहीं मानते वैसे किसी भी कर्म का स्वयं को कर्ता नहीं मानते। जानते हैं कि कर्म का कारण अविद्या है। तब कर्त्ता दीखने पर भी हम अकर्त्ता ही रहते हैं। यही आत्मविषयक प्रत्यय है जिसके उत्पन्न होते ही कर्म प्रवृत्ति का जो हेतु भेदबुद्धि है, वह निवृत्त हो जाती है। उसके बाद कर्म किसी प्रकार से सम्भव नहीं। यही भगवान् ने यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' से कहा।

वेदों का और गीता का तात्पर्य किसमें है? प्रवृत्ति के द्वारा अंतःकरण की शुद्धि करके परमात्मज्ञान की प्राप्ति में वेद का तात्पर्य है। पहले प्रवृत्ति शास्त्र में निषेध वाक्य आते हैं जो हमारी स्वच्छन्द राग-द्वेषमूलक प्रवृत्तियों को रोकते हैं। वहाँ भी शास्त्र का तात्पर्य किसी-न-किसी चीज़ से निवृत्त करने में है। पापों से तो निवृत्त होना ही है, पुण्य भी इसलिये करने हैं कि पापों से निवृत्त हों, क्योंकि कुछ-न-कुछ किये बिना रह नहीं सकते। अतः शास्त्र का चरमतात्पर्य निवृत्ति ही है। सब चीज़ों को पहले ही नहीं छोड़ सकते। इसलिये पहले कुछ चीज़ों को छोड़ना बताया, फिर और कुछ चीज़ों को छोड़ना बताया। प्रवृत्ति कर्मों का फल देने वाला परमेश्वर है और निवृत्ति का फल देने वाला भी परमेश्वर ही है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों परमेश्वर के लिए ही हैं। प्रथम तो भगवान् ने बता दिया कि परमेश्वर को ही अपने सारे कर्मों का समर्पण करो जिससे तुमको शुद्ध बुद्धि प्राप्त होगी। उस शुद्ध बुद्धि से तुम्हारा राग निवृत्त हो जायेगा क्योंकि प्रवृत्ति में ले जाने वाली चीज़ राग ही होता है। जब राग की निवृत्ति हो जाती है तो फिर कर्म का कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता। अतः सर्वकर्म-

संन्यास करके 'एकमात्र परमात्मा ही मुझ से अभिन्न है और मैं परमात्मा से अभिन्न हूँ', ऐसी जो एकान्तिक शरणागति है, उसे प्राप्त करो। वह जो आत्मा का शुद्धरूप है उसका ज्ञान होते ही तुम्हारा संसार बंधन निवृत्त हो जायेगा। कर्मफलों को परमेश्वर के अर्पण करने से चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि के बाद श्रवण-मनन करके परमात्मा जैसा है वैसा जानने से संसारबंधन की निवृत्ति, सारे शोकों की निवृत्ति हो जाती है।

गीता के प्रारंभ में भगवान् ने उपदेश दिया था 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' और कहा था 'गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'। पण्डित अर्थात् जो समझदार लोग हैं वे प्राणों के रहने और प्राणों के जाने दोनों, का शोक नहीं करते। शोक के दो ही कारण हैं। दुश्मन तगड़ा हो तो शोक होता है कि यह अभी तक हटा क्यों नहीं और मित्र मर जाये तो शोक होता है। अर्थात् जिसमें द्वेष होता है उसके रहने से दुःख और जिसमें राग होता है उसके मरने से दुःख होता है। अब शास्त्र के समापन में भगवान् फिर कहते हैं 'माशुचः' अब तू इस ज्ञान को समझकर पण्डित हो गया इसलिये अब शोक मत कर। इस प्रकार से शास्त्र का उपसंहार किया।

गीता में चूँकि कर्म करने का और कर्मत्याग का दोनों का उपदेश है, इसलिये प्रश्न होता है कि कर्म करना उत्तम है या नहीं करना उत्तम है। अथवा कर्म करना और नहीं करना दोनों साथ करना उत्तम है? भाष्यकार कहते हैं कि आत्मज्ञान तो अकेला ही मोक्ष का कारण है क्योंकि श्रुतियाँ बार-बार यही कहती हैं। मोक्ष का कारण केवल ज्ञान है क्योंकि भेदप्रतीति का निवर्त्तक ज्ञान ही हो सकता है। भेदनिवृत्ति का प्रवर्त्तक कर्म हो नहीं सकता क्योंकि कर्म तो भेदप्रतीति से ही किया जाना पड़ता है। भेदप्रतीति से भेदप्रतीति की निवृत्ति कैसे हो सकती है? केवल आत्मज्ञान ही निःश्रेयस का कारण है। न कर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और न कर्म व ज्ञान साथ करके मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। क्यों कर्म न समुच्चितरूप से और न अकेले ही मोक्ष के प्रति कारण है? क्योंकि मोक्ष उत्पन्न होने वाली चीज़ नहीं है। कर्म के द्वारा, जो चीज़ या जो स्थिति पहले नहीं है, उसको पैदा करते हैं। जैसे मिट्टी पड़ी हुई है तो तुम उसे पानी से गूँथ कर, चाक पर चढा कर घड़ा बनाते हो। घड़ा तुम्हारे कर्म से पैदा हुआ। पहले घड़ा नहीं था और अब घड़ा पैदा हुआ। यदि तुम कहो कि घड़ा पैदा तो हुआ पर आगे नष्ट नहीं होगा। तो यह कभी नहीं होगा क्योंकि भगवान् पहले ही नियम बता आये हैं 'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः' जो पैदा हुआ है उसका नाश होना निश्चित है। अगर मोक्ष कुछ करके प्राप्त होता तो फिर जितना तुमने प्रयत्न किया है उसका प्रभाव जब बीत जाता तब फिर मोक्ष ख़त्म हो जाता! इसलिये कर्म के द्वारा जो लोग मोक्ष मानते हैं वे यही मानते हैं कि यहाँ से तुम किसी लोकान्तर में जाओगे, वहाँ रहोगे और फिर बाद में लौटकर आओगे। किंतु तब मोक्ष नित्य नहीं होगा। वर्त्तमान में आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द ने लोकान्तररूप मोक्ष नहीं माना परन्तु उन्होंने माना कि शास्त्र में बताये हुए कर्म करने से तुम्हारे में विशेष शक्ति आ जायेगी और इसलिये इस प्रलय तक जो तुम्हारी

जन्म-मरण की परम्परा नहीं रहेगी। जब अगली सृष्टि होगी तब फिर तुम संस्कार वाले होकर ऋषिकुल में उत्पन्न होगे और आगे फिर जैसा करोगे वैसा ही फल पाओगे। चाहे लोकान्तर में जाकर अतिदीर्घ काल के बाद हो, चाहे महाप्रलय के खत्म होने पर हो, हर हालत में कर्म करने वाले यही मानते हैं कि आना तो पड़ेगा ही।

सामान्य आदमी की शंका होती है कि ज्ञान भी जो फल उत्पन्न करेगा वह नष्ट क्यों नहीं हो जायेगा? परन्तु यह ज्ञान के स्वरूप को नहीं समझने के कारण है। ज्ञान कुछ पैदा नहीं करता। ज्ञान तो जो चीज़ जैसी है उसे प्रकट करता है। जैसे इस कमरे में अंधेरा है तो हमको व्यास, अप्पू, रमण आदि कोई नहीं दीख रहा है। उसके बाद बिजली का खटका दबा, प्रकाश हो गया तो प्रकाश ने व्यास, अप्पू, रमण आदि को *पैदा* नहीं किया। वे तो पहले ही यहाँ थे, केवल उन्हें प्रकट कर दिया। जैसे प्रकाश किसी चीज़ को उत्पन्न नहीं करता, जो चीज़ है उसे प्रकट कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान जो चीज़ है उसे प्रकट कर देता है, ज्ञान किसी चीज़ में कोई परिवर्तन नहीं करता। अगर कार्य होता तो अनित्य होता। मोक्ष तो नित्य है, ज्ञान उसे प्रकट करता है, मोक्षरूप ब्रह्म को प्रकट कर देता है। ज्ञान से मुक्तरूप ब्रह्म प्रकट हो जाता है, पैदा नहीं होता। क्रिया से जो पैदा होता है वह पैदा होने से पहले नहीं होता। पहले एक लकड़ी थी। हमने कुल्हाड़ी से उसे दो कर दिया। पहले एक थी, कुल्हाड़ी की क्रिया होने पर दो हो गई। इसी प्रकार पहले आग नहीं थी। हमने दियासलाई को घिसा तो आग पैदा हो गई अर्थात् पहले नहीं थी और फिर पैदा हो गई। इसलिये कर्म के द्वारा कुछ नवीनता आती है। लेकिन ज्ञान के द्वारा जो चीज़ जैसी होती है, वैसी प्रकट हो जाती है, कोई नवीनता नहीं आती। इसलिये ज्ञान की कारणता कर्म की कारणता से बिलकुल दूसरे ढंग की है। कर्म की कारणता कार्य को उत्पन्न करती है। ज्ञान के द्वारा कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, जो है वह प्रकट हो जाता है।

यदि कहो कि ज्ञान और कर्म दोनों साथ कर लें तो क्या हर्ज है? ज्ञान निष्ठा और क्रिया दोनों में आपस में विरोध है। ज्ञाननिष्ठा है कि ब्रह्म अकर्त्ता-अभोक्ता है और क्रिया करने के लिए उस ब्रह्म को अहं से एक ही रहना पड़ता है। शुद्ध आत्मा कहीं कुछ करता नहीं। इसलिए भगवान् ने पहले (१८-१४) बताया था कि कर्म करने के लिये पाँच चीज़ें चाहिये, अकेला आत्मा कुछ नहीं करता है। पाँचों चीज़ों की कारकता बताकर भगवान् ने आत्मा का अकर्तृत्व पहले ही स्पष्ट कर दिया। अहंकार में आत्मा का अध्यास मानकर ही कर्त्तापना है। इसलिये कर्म करने से, कर्म सहित या कर्मयुक्त होकर ज्ञाननिष्ठा हो सके, यह सम्भव ही नहीं है। जितनी ज्ञाननिष्ठा होती जायेगी उतनी कर्म की निवृत्ति ही होती जायेगी क्योंकि कर्म करने के लिये तुमको बार-बार द्वैत वृत्ति बनानी पड़ेगी।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि आदमी कुछ काम दृष्ट फल के लिये और कुछ अदृष्ट फल के लिये कर लेता है। अदृष्ट फल के लिये संध्या, अग्निहोत्रादि कर लेता है और दृष्ट भूख लगने पर भोजन कर लेता है जिसमें किसी शास्त्र की आज्ञा की ज़रूरत नहीं है। इसी

प्रकार से कर्म तो संस्कार के वश से कर लेगा और शास्त्र के बल पर अपनी व्यापकता को जान लेगा। इस पक्ष में दोष यह है कि भोजन करने में प्रवृत्ति करने के लिये भोजन के प्रति तृष्णा चाहिये। अगर तुम्हें सवेरे से शाम तक सौ टट्टियाँ लग गई हों और फिर तुमसे कोई कहे कि 'बढ़िया दूध या बादाम की लस्सी पी लो' तो क्या पियोगे? जो लौकिक क्रियायें होती हैं वे तृष्णावशात् या रागवशात् होती हैं लेकिन जहाँ एकमात्र ब्रह्म ही रह गया है तदन्य सब बाधित हो गया है, वहाँ राग किसमें रहेगा? राग का मूल कारण किसी चीज़ में सुख-बुद्धि होना है। इसलिये भगवान् पहले कह आये हैं कि जब खूब बरसात होकर तुम्हारे चारों तरफ पानी भरा हो तो क्या तुम कुएँ से पानी निकालने जाओगे? यहाँ शहरों का बरसाती पानी नहीं लेना, सुदूर किसी आश्रम में चारों तरफ बरसात का शुद्ध पानी हो तब कुएँ में जाने की प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि पानी निकट ही उपलब्ध है। इसी प्रकार राग का कारण सुख-बुद्धि है और कैवल्यज्ञान से तुम परमानन्द में हो तो फिर तुम्हारे में राग कहाँ से आयेगा? संस्कार भी तो सुख दिखाकर ही प्रवृत्त करते हैं कि 'उस चीज़ से पहले सुख हुआ था'। जब तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति है तब प्रवृत्ति कैसे होगी? जैसा कि शंकरानन्द स्वामी कहते हैं, कि कोई व्यक्ति मरवाड़ का रहने वाला है। उधर से कोई घुड़सवार निकला, उसे प्यास लगी है और उसे मृगतृष्णा का जल दीख रहा है। आगंतुक कहता है 'वहाँ से एक घड़ा पानी लाओ।' मारवाड़ का अनुभवी उसे समझाता है कि 'वहाँ पानी नहीं है, केवल पानी दीखता है।' घुड़सवार उसे डाँटता है कि 'मुझे साफ पानी दीख रहा है, मैं अन्धा नहीं हूँ, नहीं जाओगे तो कोड़े मारूँगा।' उसे निश्चय है कि वहाँ पानी नहीं है परन्तु कोड़े खाने के भय से सोचता है कि 'थोड़ी दूर तक मरुभूमि में ही चला जाऊँ'! इसी प्रकार जब निश्चय हो जाता है कि प्राप्त परमानन्द की अपेक्षा विषयों में सुख है ही नहीं, फिर भी प्रारब्ध ज़बर्दस्ती प्रवृत्त करता है। जैसे उस मरुभूमि में रहने वाले को मृगतृष्णा की तरफ जाते हुए भी केवल यही अनुभव होता है कि 'बड़ा कष्ट है, जाना पड़ रहा है।' मैं जा रहा हूँ – ऐसा प्रतीत नहीं होता, ज़बर्दस्ती भेजा जा रहा हूँ – यह लगता है। इसी प्रकार से ज्ञाननिष्ठा के अन्दर पता है कि संसार के विषयों में सुख की कोई सम्भावना नहीं है, परन्तु प्रारब्ध भुगवाने के लिये ज़बर्दस्ती ले जा रहा है। उसके मन में यह नहीं होता कि 'मैं विषयों की तरफ जा रहा हूँ'। वरन् भान रहता है कि 'संस्कार प्रारब्धभोग करने वाले शरीर मन से लेकर अहंकार पर्यन्त को ले जा रहा है। मुझे उस अहंकार के अन्दर चेतनता की जो प्रतीति है, बस यही प्रारब्ध का फल है।' इसलिये वह कर्त्ता बनता नहीं। ज़बर्दस्ती ले जाया जाना कर्त्ता बनना नहीं है। इसलिये यह कहना कि जैसे दृष्ट फल के लिये खा लेता है, वैसे अदृष्ट फल के लिये अग्निहोत्रादि कर ले, यह बनता नहीं।

ऐसा कुछ नहीं है कि ज्ञान को मोक्ष रूपी फल देने के लिये कर्म की मदद की ज़रूरत हो। इसलिये श्रुतियों ने कहा है कि ज्ञान को कर्म इत्यादि किसी सहायक की अपेक्षा नहीं है। पुरुषसूक्त का मंत्र स्पष्ट कहता है कि उस परमात्मा का ज्ञान होने से ही अमृतत्व, मोक्ष

की प्राप्ति है, ज्ञान का और कोई सहायक भी नहीं है। इसका निषेध भी कर दिया 'नान्यः पन्था विद्यते' मोक्ष का दूसरा रास्ता है ही नहीं। इसलिये अविद्या-निवृत्ति के लिये किसी कर्म की ज़रूरत नहीं है जिसके लिये ज्ञान-कर्म का समुच्चय माना जाये।

यह सिद्ध होने पर भी जो कर्मजड मीमांसक हैं उनका कहना है कि नित्य कर्म को न करने से प्रत्यवाय या दोष लगता है। इसलिये अगर तुम सारे कर्मों का परित्याग करोगे तो वह दोष लगता ही रहेगा। जैसे तुम टैक्सी में बैठ गये तो उसका मीटर चलने लगता है। तुम टैक्सी से उतरकर अपना काम करने चले जाओ, अब टैक्सी में नहीं बैठे हो तो भी अगर लौटने के लिये टैक्सी वहाँ खड़ी रखी है तो उसका किरायेका मीटर चलता ही रहेगा। इसी प्रकार ज्ञाननिष्ठा के बाद तुमको कर्म का प्रयोजन नहीं रहा परन्तु तुम ब्राह्मण आदि शरीर में तो हो ही, इसलिये उसमें नित्य कर्म का मीटर चलता रहेगा, और तुम्हारा प्रत्यवाय इकट्ठा होता रहेगा। अतः नित्य कर्म करके वह भुगतान तो करना ही पड़ेगा इसलिये केवल ज्ञान से नहीं, ज्ञान के साथ प्रत्यवायनिवृत्ति के कार्य भी होते रहने चाहिये। किंतु यह बात कहीं श्रुति ने तो कही नहीं है कि नित्य कर्मों के न करने से प्रत्यवाय या दोष लगता है। फिर क्यों मीमांसक ऐसा मानता है? उसका सोचने का प्रकार समझ लेना चाहिये : नित्य कर्म करने को कहा और नित्य कर्म का फल बताया नहीं। वेद जिस बात को भी कहेगा वह फल वाली होती है। अतः नित्यकर्म के भी फल की कल्पना करनी ही पड़ेगी अन्यथा वेदवाक्य अप्रमाण हो जायेगा। इसलिये, नित्यकर्म करने से प्रत्यवाय नहीं लगेगा - बस इतना मात्र उसका फल है। इसलिये मीमांसक मानता है कि नित्य कर्मों को करके प्रत्यवाय से बचना चाहिये।

इस प्रकार काम्य कर्मों को नहीं करने से इष्ट शरीर की, स्वर्ग आदि की प्राप्ति नहीं होगी, नित्य को करते रहने से नरक की प्राप्ति नहीं होगी। वर्त्तमान शरीर के कर्मफलों की भोगने से समाप्ति हो जायेगी। तब आगे देहान्तर की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं होगा तो मोक्ष ही हो जायेगा। यह शंका एकभविकवादी लोग करते हैं। अपने यहाँ कुछ विचारक हुए हैं जो कहते हैं कि तुम्हारे सम्पूर्ण कर्मों को लेकर ही तुम्हारा शरीर उत्पन्न हुआ है, पहले के कुछ कर्म बचे हुए नहीं हैं। एक जन्म हो गया तो सब पूर्व कर्मों के फल प्राप्त होंगे। यहाँ तुम नये काम्य कर्म करोगे तो स्वर्ग और प्रतिषिद्ध करोगे तो नरक मिलेगा। पहले किये हुए तो यहाँ भोग लोगे, लेकिन यहाँ किये हुओं से आगे नया शरीर मिलेगा। परन्तु यह मत शास्त्र के विपरीत है। एक दिन में हम इतने कर्म कर सकते हैं कि जिनके फल को हम एक जन्म में नहीं भोग सकते, एक घण्टे में हम ऐसा पुण्य भी कर लेते हैं कि स्वर्गादि जायें और ऐसा पाप भी कर लेते हैं कि कुम्भी पाक में पड़ें। किंतु दोनों के फलस्वरूप एक-साथ नरक और स्वर्ग में पैदा नहीं हो जायेंगे! इसलिये यह मानना कि एक भव में सब समाप्त हो जायेगा, सर्वथा विरुद्ध है। बीते हुए अनेक जन्मों में हमने जो कर्म किये उनका फल एक जन्म में समाप्त नहीं हो सकता। कुछ लोग मानते हैं कि नित्यकर्मों से प्रत्यवाय-निवृत्ति का मतलब

इतना है कि यदि तुम कर्म करते रहोगे तो पुराने पाप कर्म क्षय हो जायेंगे; किन्तु सारे पाप कर्म तो क्षय होंगे नहीं! इसलिये मोक्ष में कर्म का किसी भी प्रकार का विनियोग बनता नहीं। जिन कर्मों ने कर्मफल देना प्रारंभ ही नहीं किया, तुम्हारे नित्य कर्म उन्हें नष्ट कैसे कर सकते हैं? अतः यह कहना कि नित्य कर्म करने और काम्य व प्रतिषिद्ध से बचने से मोक्ष हो जायेगा, बनता नहीं, उससे मोक्ष नहीं होगा। इसलिये ज्ञान को ही श्रुति ने मोक्ष का उपाय बताया है। यदि नित्य कर्मों से, यथाकथंचित् मान भी लें कि सभी पुराने पाप कर्म ख़त्म होते हैं, तो भी पुराने पुण्य कर्म कैसे कटेंगे? किंच, नित्य कर्मों का फल बताया भी गया है। वर्णाश्रम धर्म करना पुण्य लोकों की प्राप्ति कराता है ऐसा शास्त्र ने स्पष्ट कहा है। अतः नित्य का फल नहीं बताया मानकर किया विचार निराधार है। अविद्यापूर्वक ही कर्म होते हैं अतः विद्या ही शुभ और अशुभ दोनों की निवृत्ति का कारण है।

फिर नित्य कर्मों का विधान क्यों किया गया है? वस्तुतस्तु कर्मों का *विधान* श्रुति ने किया ही नहीं! कर्म दो प्रकार के हैं – एक दृष्ट फल वाले, जिनका फल तुम्हें यहीं मिल जाता है। जैसे रोटी खाई तो भूख मिट गई। इसके लिये तुम्हें किसी शास्त्र को नहीं पढ़ना पड़ता कि भूख लगे तो रोटी खावे। इसलिये महाराजा मनु ने स्पष्ट कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसका पता नहीं लग सकता उसे बताने के लिये वेद है। दृष्ट फल के उपाय का पता तो हमें प्रत्यक्षादि से लग जाता है परन्तु अदृष्ट फल के उपाय का पता नहीं लगता। अतः अदृष्ट फल को बताने के लिये ही शास्त्र कर्मों का कथन करता है। जो कर्म विहित नहीं, प्रतिषिद्ध भी नहीं, तत्काल जो फल पैदा करते हैं, उनके लिये तो न शास्त्रविधि और न प्रतिषेध की ज़रूरत है। सामने गड्ढा है, उधर मत जाओ, इधर गड्ढा नहीं है इधर से निकलो– यह शास्त्र पढ़कर पता नहीं लगता! देखकर ही पता लगता है कि इधर पैर रखेंगे तो गिर जायेंगे। इसलिये तत्काल फल वाली चीज़ों के लिये शास्त्र की ज़रूरत नहीं है। शास्त्र केवल अदृष्ट फल के लिये ऐसे कर्मों का विधान या निषेध करता है जिनका सम्बंध तुम प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जान सकते। इसलिये मनु ने कहा कि जो प्रत्यक्ष-अनुमान से पता नहीं लग सकता उसे वेद के द्वारा जानते हैं। ऐसे साधनों का वेदन, ज्ञापन कराने के कारण ही उसे वेद कहते हैं। उन कर्मों को करने में तो स्वर्ग आदि की इच्छा ही कारण है। सारे वर्णाश्रम धर्मों का फल पुण्य लोक की प्राप्ति है। अग्निहोत्र जैसा नित्यकर्म भी काम्य बनाया जा सकता है, कामनापूर्ति का साधन होने के साथ ही वह नित्य का कार्य भी कर लेगा, अलग-अलग अनुष्ठान नहीं करने पड़ेंगे। इसलिये नित्य कर्म *स्वरूप* से अलग है, ऐसी बात भी नहीं है। केवल संकल्पभेद से वह नित्य या काम्य बन जाता है। इस प्रकार से सारे कर्मों का बीज कामना है और कामना का बीज अज्ञान है। 'अविद्याकामबीजं हि सर्वमेव कर्म' सारे कर्मों का बीज अपनी आनन्दरूपता का ज्ञान न होना ही है। इसलिये अविद्यापूर्वक ही कर्म होता है। विद्या जब कामना के मूल को हटा देती है तो फिर न शुभ और न अशुभ कर्म हो सकता है। अशुभ कर्म मनुष्य इसलिये करता है कि प्रत्यक्ष में फल

देखने में आता है, इसलिये शास्त्रनिषिद्ध कर्म भी कर लेता है। वहाँ भी कारण कामना है। जैसे भोजन करते हैं क्योंकि तृष्णा या भूख है। शास्त्रीय कर्म भी करते हैं क्योंकि स्वर्ग आदि जाना अच्छा लगता है, नरक जाना अच्छा नहीं लगता। इसलिये बिना कामना के कर्म हो नहीं सकेगा। विद्या ही शुभ-अशुभ सारे कर्मों का क्षय कर देती है। अतः नित्य कर्म मोक्ष के लिये विनियुक्त हों यह नहीं हो सकता।

कर्म और ज्ञान का इसीलिये अलग-अलग प्रतिपादन किया। और भगवान् खुद ही कह आये हैं 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५-८) तत्त्ववेत्ता तो इस ज्ञान वाला ही होता है कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ'। जब तक योगारूढ नहीं हुआ, तब तक तो कर्म ही कल्याण-कारक है और योगारूढ हो जाने पर शम अर्थात् संन्यास ही कल्याण का कारण होता है। अज्ञानी के लिये ही कर्म का विधान हो सकता है, ज्ञानी को तो भगवान् 'आत्मैव मे मतम्' से अपना स्वरूप कह चुके हैं और स्वयं भगवान् के लिये कर्म का विधान असम्भव है! जो चित्तशुद्धि के लिये, भगवान् के लिये कर्म करता है, वह युक्ततम है लेकिन है वह भी अज्ञ ही। उत्तरोत्तर धीरे-धीरे ही फल का त्याग होता है। पहले तो इहलौकिक फल का त्याग होता है। बाजार में गया, हलवाई की दुकान पर गरम-गरम पकौड़ा उतर रहा है। मन करता है 'खा लें, बड़ा मज़ा आयेगा'। लेकिन सन्मार्गी बनने के लिये उस मज़े को छोड़ना पड़ेगा। पहले पकौड़ा खाना तो नहीं छोड़ना है, परन्तु चाहे जिसके हाथ से बना पकौड़ा खाना तो छोड़ना पड़ेगा! इस प्रकार से उत्तरोत्तर फल का त्याग करते हुए अंत में जो सर्वत्याग है उसमें मनुष्य पहुँच जाता है। वहाँ पहुँचता है तो फिर जो कर्म भगवान् ने बताये हैं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' (१२-१३) आदि, उन्हीं को करने की स्थिति में पहुँचता है। तब किसी भी काम्य आदि कर्मों में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्षेत्राध्याय में भी गुणातीत को वैसा ही बताया। इस प्रकार भगवान् ने कई अध्यायों में 'निवृत्तिमार्ग वाले का कर्म करना नहीं बनता' इसे स्पष्ट किया।

मोक्ष के प्रति कर्म की कारणता न स्वतंत्र होकर है और न कर्म ज्ञान का कुछ उपकार ही करता है। ज्ञान उत्पन्न करने में कर्म मदद करता है परंतु ज्ञान का फल मोक्ष उत्पन्न करने के लिये उसकी कोई सहकारिता नहीं है। मोक्ष को उत्पन्न करने के लिये ज्ञान को किसी सहकारी कारण की ज़रूरत नहीं है। यही ज्ञान और कर्म में विरोध है। कर्म हमेशा अविद्या-पूर्वक ही होगा और ज्ञान तो विद्या ही है। अविद्या और विद्या का अंधकार और प्रकाश की तरह सर्वथा विरोध है। नित्य कर्म भी सर्वथा ऐसा नहीं कि बिना कामना के किया जाये। पुण्यलोक की इच्छा से या प्रत्यवायनिवृत्तिकी इच्छा से ही नित्य में भी प्रवृत्ति है। सारे ही कर्म अविद्यापूर्वक होने वाली कामना से किये जाते हैं। नित्यादि में प्रवृत्ति अविद्यापूर्वक कैसे? इसे भाष्य में निषिद्ध कर्मों के दृष्टान्त से समझाया। ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिये, यह शास्त्र ने कहा है। उससे हमें यह मानना पड़ता है कि ब्रह्महत्या अनर्थ का कारण है, इसलिये न की जाये। इसी प्रकार नित्यकर्म भी हमको शास्त्र से पता लगते हैं।

ब्रह्महत्या में प्रवृत्ति कामना से होती है तो उसको शास्त्र का निषेध-वाक्य रोक लेता है। अविद्या से कामना होती है। ब्राह्मण ने कुछ किया, हमें गुस्सा आ गया, इसलिये कामना से उसको मारने के लिये प्रवृत्ति की। तब शास्त्र ने बताया कि यह अनर्थ का कारण है। जो कहता है कि 'जो हानि होगी सो हो, नरक भोग लूँगा, लेकिन इसको तो मार ही डालूँगा', वह तो निषेध रहने पर भी ब्रह्महत्या करता ही है। जो अनर्थफल से बचना चाहता है वही निषेधवाक्य से रुक पाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण को नहीं मारने से कुछ पैदा नहीं होगा, उससे कोई धर्म नहीं होगा, परन्तु ब्राह्मण को मारने से पाप होगा। शास्त्र ने कहा 'ब्राह्मण को मत मारो।' ब्राह्मण को नहीं मारने से तो पुण्य होगा नहीं, ब्राह्मण को मारने से अनर्थ होगा, पाप होगा। अतः जो ब्राह्मण को मारने के लिये प्रवृत्त हुआ है, उसे यह वाक्य रोक लेगा। ठीक इसी प्रकार जब कहते हैं कि 'ब्राह्मण संध्या करे या विप्र संध्या करे', तब अर्थ है कि जो अपने को ब्राह्मणरूप से निश्चय करता है वह संध्यावंदन करे। और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अभिमान अविद्या से ही होगा, क्योंकि ब्राह्मणी में ब्राह्मण के द्वारा पैदा शरीर होता है इसलिये ब्राह्मण तो शरीर है। जिसको यह ज्ञान है कि 'यह शरीर मैं हूँ' वही यह कह सकेगा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और मुझे संध्या करनी चाहिये'। लेकिन जिसने इस बात को जाना कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' उसका निश्चय होगा कि जब शरीर मैं नहीं हूँ तो ब्राह्मण भी मैं नहीं हूँ। ब्राह्मण मैं नहीं हूँ तो ब्राह्मण के लिये जो नित्य कर्म कहा गया है वह मेरा कर्म नहीं है।' देहादि-संघात से भिन्न जब आत्मा का ज्ञान हो गया तब नित्य आदि कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

शरीर से स्वयं को भिन्न जानकर उसमें गौण आत्मभाव रखकर कर्मप्रवृत्ति नहीं हुआ करती कि तत्त्वज्ञ कर्म कर सके। कर्मप्रवृत्ति के लिये तो मिथ्या आत्मभाव ही कारण है। जहाँ भेद अज्ञात रहते अभेद का ज्ञान और व्यवहार हो वहाँ मिथ्या होता है जैसे रस्सी को साँप समझना। जहाँ भेद ज्ञात रहते अभेद का व्यवहारमात्र होता है वहाँ गौण होता है जैसे बेटे को 'यह मैं ही हूँ' ऐसा कह देते हैं। कर्मप्रवृत्ति शरीर में मिथ्या अहम्बुद्धि से होती है, गौण से नहीं। अज्ञान-दशा में शरीरादि संघात में 'मैं' की प्रतीति गौण नहीं होती। रस्सी में सर्प की प्रतीति गौण नहीं है। यह साँप ही है – ऐसा निश्चय होता है। यदि यह मानोगे कि शरीर आदि में 'मैं' प्रतीति गौण है तो शरीर आदि से होने वाले कामों को भी गौण मानना पड़ेगा। जैसे 'आत्मा वै पुत्रनामासि' बेटा तुम्हारा आत्मा ही है। यह बात श्रुति चाहे जितना कह दे फिर भी यह भ्रम कभी नहीं होता कि 'बेटे ने रोटी खा ली तो मैंने रोटी खा ली!' अतः वहाँ तो गौण है, क्योंकि हमें पता है कि असल में तो मैं बेटे से अलग हूँ। प्रिय होने से कह तो सकता हूँ कि 'बेटा मैं हूँ', जैसे कोई मालिक कह देता है कि 'यह जो मेरा मुनीम भद्रसेन है इसको मैं समझो' अर्थात् इसके द्वारा किया हुआ लेन-देन मेरा हो जायेगा। ऐसा कहते हुए भी उसको पता है कि 'हूँ तो मैं अलग, लेकिन मेरी जगह काम करने के लिये इसे लगा दिया है।' इस प्रकार यह प्रतीति किसी को नहीं होती कि 'हूँ तो मैं अलग परन्तु किसी काम

को करने के लिये मैंने अपने को यह शरीर मान लिया'। ऐसा भान नहीं होता। इसलिये शरीरादि में 'मैं' की प्रतीति गौण नहीं होती, यह तो मिथ्या है। गौण के अन्दर कभी भी अलगाव का भाव जाता नहीं है। जैसे हम चाहे जितना कहें कि 'ब्राह्मण का मुख अग्नि है' क्योंकि ब्रह्मण को अग्निमुख कहते हैं, किन्तु कभी यह शंका भी नहीं होती कि आज माचिस ख़त्म हो गई, पंडितजी के मुँह में लकड़ी घुसाकर आग जला लें! जैसे ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती क्योंकि पता है कि 'ब्राह्मण अग्निमुख है' यह केवल गौण प्रयोग है। ब्राह्मण बोलने में बड़ा तेज़ और तीखा होता है इसलिये कहा जाता है कि ब्राह्मण अग्निमुख है। परन्तु जब तुम अग्निहोत्र करते हो तब ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'अग्निहोत्र मैं नहीं कर रहा हूँ।' जो भी शरीर-मन करता है उसमें निश्चित प्रतीति है कि 'मैं ही कर रहा हूँ।' इसलिये इसे गौण नहीं कह सकते। देह आदि संघात के अन्दर भ्रम से आत्मरूपता दीख रही है।

कुछ लोग कहते हैं कि संघात में जो मिथ्या मैं-बुद्धि है उससे आत्मा कर्ता नहीं बनता वरन् आत्मा में होने वाले जो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न हैं वे ही कर्म के हेतु हैं और उन्हीं से आत्मा वास्तव में कर्ता बनता है। किन्तु यह कहने से भी मिथ्याज्ञान ही कर्तृत्वका कारण सिद्ध होता है क्योंकि ज्ञान-इच्छादि भी वास्तव में आत्मा के धर्म नहीं वरन् मनके ही धर्म हैं, मन से तादात्म्य के कारण आत्मा में उनकी मिथ्या ही प्रतीति होती है। जन्य ज्ञान मनोवृत्तियाँ हैं। मनको मैं समझने पर ही वे ज्ञान 'मुझे हुए' ऐसा लगता है। ऐसे ही इच्छा व प्रयत्न भी मन करता है, मिथ्या ज्ञान होता है कि 'मेरी इच्छा है, मैंने प्रयत्न किया'। अतः इस रीति से भी कर्तृत्व को अविद्यापूर्वक होने वाला ही मानना पड़ता है। पहले जो मिथ्या प्रतीति हुई, उससे सुख हुआ तो इष्ट बुद्धि और दुःख हुआ तो अनिष्ट बुद्धि होती है। हमने एक काम किया और लाख रुपये की प्राप्ति हुई तो लाख रुपया कमाने के लिये फिर उस कार्य में प्रवृत्ति होगी। इष्ट-अनिष्ट संस्कार के कारण ही स्मृति, इच्छा, प्रयत्न आदि होते हैं। अविद्या के न रहने पर 'मुझे सुख या दुःख हुआ' इस प्रकार सुख-दुःख के संस्कार नहीं रहे अतः वे प्रवृत्ति के कारण नहीं हो सकते। कर्तृत्वादि जैसे वर्तमान जन्म में मिथ्या हैं वैसे ही सभी जन्मों में मिथ्या हैं अतः अन्य जन्मों के कर्तृत्वादि के उदाहरण से इस जन्मके कर्तृत्वादि को हम सत्य नहीं कह सकते। अर्थात् वर्तमान कर्तृत्वादि सत्य हैं जैसे अतीत जन्मो में कर्तृत्व सत्य था - यह नहीं कह सकते क्योंकि अतीत जन्मों का कर्तृत्व भी वैसा ही मिथ्या था जैसा वर्तमान कर्तृत्वादि। भूत-भावी सारा ही कर्तृत्वादि मिथ्या ही निश्चित होता है।

अतः सर्वकर्मसंन्यास से ज्ञाननिष्ठा होकर ही संसार का अत्यंत उपरम हो जाता है। देहाभिमान चूँकि अविद्यारूप है, इसलिये उसकी निवृत्ति होने पर देह की प्राप्ति उपपन्न नहीं रह जाती। यहाँ देह कहते हैं तो स्थूल शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त दोनों देह समझने चाहिये। जब पता लग जाता है कि ये सब मैं नहीं, तब जैसे गाय हमारे चाहे जितने पास खड़ी हो जाये, हमसे चिपक जाये तब भी कभी भ्रम नहीं होता कि 'मैं गाय हूँ', इसी प्रकार मन हमे चाहे जितना नज़दीक प्रतीत होता रहे पर 'मन में होने वाले इच्छा, स्मृति, प्रयत्न

मेरे हैं' ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती। जब तक नहीं जानते हैं तब तक तो जैसे अज्ञानवश स्थाणु में पुरुष या भूत दीख जाता है वैसे ही शरीर के पास आत्मा के होने से लग जाता है कि 'यह मेरा कर्म है'। जब अविद्या विद्या से निवृत्त हो गई, तब सर्वथा मिथ्या होने से कोई भी प्रतीति हमें प्रवृत्त नहीं कर सकती। तब यह नहीं हो सकता कि 'शरीर आदि गौण आत्मा हैं इसलिये इनकी प्रवृत्ति कराऊँ' प्रारब्ध-भोगकाल में देहादि पास तो प्रतीत होंगे परन्तु सर्वथा भिन्न रूप से प्रतीत होने के कारण उसको लेकर प्रवृत्ति बनती नहीं।

ऐसा भी नहीं कि श्रुति आत्मा को कर्ता बताती हो! श्रुति तो प्रत्यक्षादि से अज्ञेय फल-कारण सम्बन्ध का ही ज्ञापन करती है। बल्कि प्रत्यक्ष जब प्रमाण हो तो उसे श्रुति काटती नहीं जैसे 'आग गर्म है' इस प्रत्यक्ष को 'आग ठण्डी है' ऐसी यदि श्रुति हो भी तो नहीं काटेगी वरन् अर्थान्तर का ही सूचन करेगी। फिर श्रुति सब कर्म करने को कहती किसे है? श्रुति अज्ञानी को ही सम्बोधित करती है। श्रुति का ब्रह्मविद्या में पर्यवसान है। जब तक हम को ब्रह्मज्ञान नहीं हो गया तब तक अंतःकरण की शुद्धि इत्यादि के लिये श्रुति हमें कर्म करने को कह रही है। जैसे यज्ञ में अंग जो बताये जाते हैं उन अंगों का अपना फल कुछ नहीं होता, वे अंग मिलकर जिस अंगी का निर्माण करते हैं उस समग्र कर्म का ही फल होता है। सरलता से समझने वाला दृष्टांत ले लो – हम जब शब्द 'कमल' कहते हैं तो तुमको ज्ञान तब होता है जब अंतिम 'ल' सुनते हो। यदि कोई कहे कि फिर केवल 'ल' ही बोल दो! तो केवल 'ल' बोलने से 'कमल' का ज्ञान नहीं होगा। क और म के बाद जब ल का उच्चारण करेंगे तब वही ल कमल का ज्ञान करायेगा। इसी प्रकार, पहले तुमने याज-प्रयाज आदि सब अंगकर्म कर लिये हैं तभी पूर्णाहुति फल उत्पन्न करेगी। अंगों को किये बिना पूर्णाहुति करोगे तो फल उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार से श्रुति को बताना तो यह है कि 'तू ब्रह्म है'। परन्तु 'तू ब्रह्म है' का ज्ञान तब हो जब अंतःकरण शुद्ध हो जाये। कर्मश्रुतियों का कर्मविधान में तात्पर्य नहीं है, ब्रह्मविद्या के साधन बताने में तात्पर्य है, इस तरह वे प्रमाण हो जाती हैं। विद्या के अंगरूप में पहले सारे कर्म और उपासना काण्ड आ जाते हैं। कर्म वास्तव में सफल तभी होंगे जब तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा। अतः आचार्यों ने स्वर्ग का अर्थ स्पष्ट किया है कि जिस सुख का कभी अंत न हो और जिस सुख से बड़ा कोई सुख न हो, वही स्वर्ग है। यह लक्षण तो केवल आत्मज्ञान में ही जायेगा क्योंकि वहीं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी। जो फल कर्मों के कहे गये हैं वे सब ब्रह्मविद्या के अन्दर ही सफल होंगे।

जिस प्रकार श्रुति ने ब्रह्मज्ञान को बताकर आत्मा में जो तुमको देहादि संघात को लेकर अहं-प्रतीति होती है, उसका बाध किया, इस प्रकार श्रुति ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि आत्मा में जो आत्मस्वरूप की प्रतीति है वह मिथ्या है! घट, घट नहीं है – यह कभी प्रमाण से कहा नहीं जा सकता। आत्मा में जो देह आदि का तादात्म्य प्रतीत हो रहा है उसका तो अकर्तृत्वादिबोधक श्रुतिने बाध किया किंतु अकर्ता-अभोक्ता आत्मा का बाध नहीं किया। अतः कर्म-विधि क़ी श्रुतियों से आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों का कभी भी अप्रामाण्य सिद्ध

नहीं होता है। शास्त्र का तात्पर्य तो पूर्व-पूर्व प्रवृत्ति का निषेध करके उत्तर प्रवृत्ति को कराना है और अंत में प्रत्यगात्मा की तरफ प्रवृत्ति को ले जाना है। वेद का तात्पर्य तुम्हें इन तुच्छ फलों की प्राप्ति कराने का है ही नहीं। वह तो तुम्हें पूर्व-पूर्व प्रवृत्तियों से हटा कर उत्तर-उत्तर प्रवृत्ति कराता है जिससे अंततः तुम्हारी प्रवृत्ति प्रत्यगात्मा की तरफ हो और जब यह काम हो गया तब वेदों का सार्थक्य हो गया। इस प्रकार से ये उपाय तो मिथ्या हैं लेकिन चूँकि उपेय सत्य है इसलिये उपाय को भी सत्य कह दिया जाता है। इसलिये कहीं-कहीं शास्त्रकारों ने कहा है 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा सत्यम् अर्थम् प्रबोधयेत्,' रास्ते सभी असत्य हैं परन्तु जिसे प्राप्त कराते हैं वह सत्य है। इसलिये उसे सत्य का रास्ता कहते हैं। शास्त्रीय ढंग से चलने पर सच्चे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है इसलिये जो ढंग हैं वे भी सच्चे कह दिये जाते हैं। हैं तो वे झूठे ही। ऐसा साधारणतः सभी लोग करते हैं। छोटे बच्चे को दूध पिलाना है तो उसे कहते हैं कि 'दूध पियेगा तो तेरे बाल बढ जायेंगे।' दूध पीने से बाल बढ़ने का कोई सम्बंध नहीं है, लेकिन बच्चा छोटा है, उसके बाल छोटे हैं तो वह दूध पी लेता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक कर्म के लिये अर्थवाद है। अर्थवादों से कर्मों की प्रशंसा की जाती है। इसी प्रकार से कर्मों के जितने फल बताये गये हैं वे सभी ब्रह्मज्ञान की प्रशंसारूप हैं क्योंकि वे सारे कर्म अंत में तुम्हें ब्रह्मज्ञान में समर्थ कर देते हैं। इस प्रकार से परम्परा से ये प्रमाण हो जाते हैं। आत्मज्ञान के उदय होने से पहले ये सब प्रमाण हैं। जैसे जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ तब तक शरीर को यदि कोई चन्दन लगाता है तो यही प्रतीति होती है कि 'मुझे चंदन लगा रहा है', वैसे ही कर्मादिविधायक शास्त्र, आत्मज्ञान से पूर्व, हमें फलसाधन की प्रमा करा देता है। जैसे ज्ञान होने पर पता लगेगा कि 'सचमुच में इसने मुझे चन्दन तो लगाया नहीं है' वैसे ज्ञान होने पर 'सचमुचमें मैंने सत्कर्म भी किये नहीं' यह पता लग जायेगा।

सांख्य वादियों की एक मान्यता है कि आत्मा करता तो कुछ नहीं है परन्तु उसके मन आदि के पास में होने से मन आदि कर्म करते हैं अतः चूँकि वह पास में है इसलिये उसके अन्दर कर्त्तापना वास्तविक है ही। जैसे राजा फौज को इकट्ठा करता है, दुश्मन पर चढ़ाई करता है। खुद वह भले ही कोई लड़ाई नहीं लड़ता, परन्तु राजा है तभी सारे सैनिक चढाई करते हैं। लड़ाई जीतते तो सेना और सेनापति हैं परन्तु कहा यह जाता है कि राजा जीत गया। उसी प्रकार आत्मा सन्निधि में रहे तब ये मन आदि सब प्रवृत्ति करते हैं इसलिये 'आत्मा करता है' ऐसा कहा जाता है। अत एव वे आत्माको भोक्ता मानते हैं कि उसी को सुख-दुःख होता है। अथवा यजमान पुरोहित से कहता है कि 'मेरे लिये सहस्र रुद्रयाग कर दीजिये'। उस यज्ञ का सारा कर्म तो पुरोहित करता है परन्तु उसका फल यजमान को ही मिलेगा। यजमान ने कुछ किया तो नहीं है, फिर भी फल उसे ही मिलेगा। इसी प्रकार आत्मा कुछ करता नहीं परन्तु उसकी सन्निधि में सब कुछ होता है, इसलिये वह उसके लिये ज़िम्मेदार है, उसे फल मिलेगा। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं! यह ठीक है कि राजा तलवार

से युद्ध तो नहीं करता, लेकिन उन सारे सैनिकों को तनख्वाह तो देता है, इसलिये उसमें सर्वथा अकर्तृत्व नहीं है। तन्ख्वा देने में उसकी सीधी कर्त्तृता है। इसलिये उसे जय-पराजय मिलती है। इसी प्रकार यजमान ने सारी सामग्री खरीदकर इकट्ठी की और पुरोहित को दक्षिणा भी दी। यह सब काम तो उसने खुद किया ही। वैसे श्रौत कर्मों के अन्दर जो प्रधान आहुति, पूर्णाहुति होती है, उसके लिये तो यजमान की ज़रूरत पड़ ही जाती है। स्मार्त कर्मों के अन्दर भी पूजा प्रारम्भ करने का संकल्प तो यजमान को ही करना पड़ता है। इस प्रकार से कुछ तो करता है, तभी अनुष्ठान का फल मिलता है। इसलिये इन दृष्टांतों में राजा या यजमान की केवल सन्निधि नहीं है। अतः उक्त उदाहरणों से अकर्ता भी आत्मा भोक्ता बने - यह सांख्यों की मान्यता सिद्ध नहीं हो पाती, भ्रम के कारण मानते हैं तब तो सब उपपन्न हो जाता है। शरीर ने क्रिया की और भ्रम है कि 'शरीर मैं हूँ' इसलिये आगे जब जीभ रसगुल्ला खाती है तो 'मैं भोग कर रहा हूँ' इत्यादि यह सब भ्रम से तो बन जाता है। जैसे स्वप्न में न रथ है, न घोड़े हैं और न सड़क है। परन्तु स्वप्न में वे सब बन जाते हैं ठीक इसी प्रकार से यह जगत् भी माया के कारण ही प्रतीत होता है अतः उसमें मैं कर्त्ता भी बन जाता हूँ भोक्ता भी बन जाता हूँ। जैसे बिना कुछ बने हुए स्वप्न में बन जाता है वैसे ही यहाँ मायिक संसार में बिना कुछ हुए सब बन जाता है।

आत्मा कर्त्ता भोक्ता नहीं है यह बात हमको हरदिन गहरी नींद में पता लग जाती है। गहरी नींद में न कोई कर्त्तृत्व है और न कोई भोक्तृत्व है। यदि आत्मा का स्वरूप कर्त्ता-भोक्ता होता तो सुषुप्ति के अन्दर भी मिलता। इसी प्रकार समाधि के अन्दर भी कर्त्तृत्व भोक्तृत्व नहीं रहता। वहाँ कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की, अनृत की, प्राप्ति नहीं होती, इससे ही यह पता लग जाता है कि आत्मा में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आत्मा के स्वभाव का नहीं है। समाधि का अनुभव भले ही सब नहीं करते, लेकिन सुषुप्ति का अनुभव तो सभी करते हैं। इस प्रकार श्रुति-युक्ति के विचार से कर्तृत्वादि सचमुच में सिद्ध नहीं होता, जब यह सम्यक् दर्शन होता है, तब अत्यंत उपरामता, सर्वकर्मसंन्यास हो जाता है, कोई भी कर्म सम्भव नहीं रहता। जैसे स्वप्न के बारे में यह विचार नहीं कि 'स्वप्न की सड़क का गड्ढा ठीक कर दूँ' या 'स्वप्न में जो ज़रूरतमंद थे उनकी कुछ मदद कर दूँ' क्योंकि निश्चित पता है कि 'भ्रांति से जब दीख रहा था वहाँ गड्ढा, लोग, तब भी कुछ नहीं थे', इसी प्रकार आत्मज्ञान दृढ हो जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि यह संसार भ्रम था। अतः यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं है जो किया जा सके। इसलिये तब सिवाय सर्वकर्मसंन्यास के कुछ भी नहीं बनता।

इस प्रकार से भगवान् भाष्यकार ने गीता शास्त्र का विस्तार से उपसंहार किया। इस अठारहवें अध्याय में और विशेषकर अंत में जाकर शास्त्रार्थ को दृढ करने के लिये सारे शास्त्र का उपसंहार भगवान् ने भी कर दिया और उसी को युक्तियों के द्वारा आचार्य शंकर ने स्पष्ट कर दिया। निश्चित हो गया कि सारे गीता शास्त्र का तात्पर्य संन्यासपूर्वक ब्रह्मविद्या में स्थित होना ही है।।६६।।

इस ज्ञान की परम्परा के नियम बताने बाकी हैं। किस प्रकार से यह सम्प्रदाय चलता है? सम्प्रदाय शब्द का हिन्दी में तो कुछ और ही अर्थ हो गया है! परन्तु इससे मिलता-जुलता शब्द प्रचलित है 'जलदाय', वहाँ दाय का जैसा अर्थ है वैसा ही अर्थ सम्प्रदाय शब्द में है। जिस ज्ञान को दिया जाता है उसे दाय कहा जाता है। जब उस चीज़ को अच्छी तरह समझकर दो तो प्रदाय और ठीक प्रकार से या सम्यक् प्रकार से समझाकर दो तो सम्प्रदाय है। अतः ज्ञान देने वाला और ज्ञान लेने वाला दोनों सम्यक् प्रकार से हों तब वह सम्प्रदाय है। इसलिये इसका उपदेश देने वाले और इसे ग्रहण करने वाले के नियम सम्प्रदाय-विधि में बताने ज़रूरी हैं। गीता जैसे सारे वेदार्थ का सार है उसी प्रकार से यहाँ सम्प्रदाय-विधि अर्थात् वैदिक सम्प्रदाय-विधि का भी संक्षेप से वर्णन कर देते हैं –

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

तेरे हित के लिये सुनाया यह शास्त्र उसे कभी नहीं बताना चाहिये जो तपस्वी न हो, गुरु व ईश्वर का भक्त न हो, सुनना चाहता न हो और मुझ (वासुदेव) पर दोषारोपण करता हो।

इस शास्त्र को ग्रहण करने वाले में क्या-क्या गुण होने चाहिये? भगवान् कहते हैं कि यह शास्त्र मैंने तुम्हारे हित के लिये बताया है कि जिससे संसार-बंधन कट जाये। संसार-बंधन कटने के लिये, तुम्हारे कल्याण के लिये मैंने गीताशास्त्र तुम्हें बताया। यहाँ भाष्य में 'उक्तम्' के अध्याहार से वाक्य पूरा किया है। कुछ लोग 'ते' का 'त्वया' अर्थ करते हैं कि तुम इसे ऐसों को न बताना। अर्थात् मैंने तुम्हारे हित के लिये जो गीता शास्त्र कहा है, जो तपस्वी नहीं है उसको इसका उपदेश मत देना। तप क्या है? जैसा भाष्यकार अन्यत्र कहते हैं 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा' अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मों का पालन करने वाला ही तपस्वी कहा जाता है। तप का मूल अर्थ कष्ट-सहन होता है। इसीलिये बुखार को ताप कहते हैं क्योंकि कष्ट देता है। जब तुम शास्त्र में बताये हुए वर्णाश्रम धर्म के अनुसार चलते हो तो बहुत कष्ट आते हैं। इसलिये अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के पालन को तप कहा गया है। वर्णाश्रम धर्म का पालन कढ़ी चावल खाने जैसा नहीं होता! उसका पालन करने में तरह-तरह के कष्ट आने पर उन्हें सहन करने से तप होता है। अतः जो वर्णाश्रमी हैं वे अपने उन धर्मों का पालन करने के लिये तप करें। जो कष्ट को देखकर धर्म का परित्याग करता है उनके काम का यह शास्त्र भी नहीं है। सत्रहवें अध्याय के अनुसार जो वर्णाश्रम धर्म का ज्ञान नहीं रखता, जिसने अध्ययन किया नहीं, केवल दूसरों को देखकर आचरण कर लेता है, उसके लिये भगवान् ने देवता, ब्राह्मण, गुरु, पण्डितों का पूजन करना, पवित्रता और सरलता से रहना इत्यादि शारीरिक तप; इसी प्रकार मुख से सत्य का उच्चारण करना इत्यादि वाणी का तप; और मन को हमेशा प्रसन्न रखना, शान्त रखना, हमेशा सबके प्रति नम्रता का व्यवहार करना इत्यादि मन का तप; इन तीनों तपों को बताया था। इन्हें जो

सात्त्विक भाव से करता है वही इस शास्त्र का अधिकारी है। यह पहली योग्यता हुई।

तपस्वी होने पर भी जो गुरु और ईश्वर का भक्त नहीं है उसे इसका उपदेश नहीं देना। वेद ने यह नियम किया है

'यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।'

जिसकी देवाधिदेव महादेव में परम भक्ति और वैसी ही भक्ति उपदेश करने वाले गुरु में है, उसे ही वेदार्थ समझ आता है। गुरु जिस चीज़ का उपदेश करता है वह कोई उसकी थाती नहीं है! वह तो सृष्टि के आदि में भगवान् शंकर ने दक्षिणामूर्तिरूप से जो उपदेश दिया वही है, अतः उपदेश तो उनका है। गुरुपरम्परा से वर्त्तमान गुरु को वही उपदेश मिला। अतः वह जो ज्ञान देता है वह कोई *उसका* ज्ञान नहीं है। वह तो देवाधिदेव महादेव का ही ज्ञान है। फिर भी वह ज्ञान जिस आश्रय में है उसके प्रति भी वैसी ही भक्ति हो जैसी परमेश्वर में है, तब ज्ञान होता है। 'अभक्ताय' के लिए भगवान् विशेष बात बताते हैं 'कदाचन'। अन्य सारे गुण हों, लेकिन देवता और गुरु की भक्ति से रहित हो, तो उसे किसी भी हालत में अर्थात्‌ किसी भी अवस्था में इसका उपदेश न दे। यह रहस्य विद्या है। इसे भगवान् ने 'गुह्याद् गुह्यतरं' कहा है। अतः जो इस प्रकार की भक्ति से रहित है उसे यह नहीं दी जा सकती। जैसे लोक में भी जो पुत्र हमेशा पिता की आज्ञा मानता है, पिता से प्रेम करते हुए उसकी सेवा करता है, पिता अपना इच्छा–पत्र लिख कर उसके पास रख देता है क्योंकि वह जानता है कि यह मेरा भक्त है, मेरी कही बात पूरी करेगा। जैसे लोक में इच्छापत्र गुह्य होता है इसी प्रकार यह शास्त्र भी गुह्यतम है इसलिये उसी को देना चाहिये जो गुरु व देव में भक्ति वाला हो।

तीसरी बात भगवान् कहते हैं 'अशुश्रूषवे न वाच्यं'। शुश्रूषा के दो अर्थ होते हैं – सुनने की इच्छा और गुरुसेवा। जिसकी सुनने की इच्छा न हो उसे ज़बर्दस्ती सुनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये क्योंकि जिसकी सुनने की इच्छा नहीं होगी वह उसके ठीक अर्थ को धारण नहीं कर पायेगा। सुनने की इच्छा उसी चीज़ की होती है जिसमें श्रद्धा होती है। इसलिये अतिधन्य वेद ने नियम किया है कि जो तपस्वी होता है उसी के अन्दर श्रद्धा आती है और श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। व्रत और तप एकार्थक हैं। सत्य की प्राप्ति के लिये उस चीज़ में श्रद्धा की ज़रूरत है। कारण इसका यह है कि सत्य अतीन्द्रिय चीज़ है। ऐन्द्रिय चीज़ के लिये जैसे इन्द्रिय की ज़रूरत होती है वैसे सत्य जानने के लिये श्रद्धा ज़रूरी होती है। जैसे यह कपड़ा किस रंग का है, यह जानने के लिये आँख की ज़रूरत है। अंधे व्यक्ति को कभी भी कपड़ा दीखता नहीं है। किसी भी चीज़ के रंग का ज्ञान तभी हो सकता है जब हमारी आँखें हों, इसी प्रकार शब्द तुम तभी सुन सकते हो जब कान हों। बिना कानों के जो बहरा व्यक्ति है वह कभी शब्द नहीं सुन सकता। यदि अन्धा व्यक्ति कहे कि 'रंग है ही

नही! होता तो मुझे ज़रूर दीखता, तुम केवल झुठ-मूठ कहते हो कि रंग होता है। रंग हो, तो दिखाओ!' अब अंधे को रंग कैसे दिखायें! ठीक इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान का एकमात्र आधार वेद है। वेदों के द्वारा ही पता लगता है कि परमात्मा का रूप क्या है, परमात्मा कैसा है, उसका क्या कार्य है। अतः भगवान् ने कहा था 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः' (१८-५५) यदि परमेश्वर देखने की चीज़ होती, उसे आँख से ग्रहण कर सकते अथवा इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते, तब तो उसे देखना बनता, परन्तु परमेश्वर का रूप है ही नहीं, उसमें शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध कुछ हैं ही नहीं 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथा ऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्'। अतः इन्द्रियों के द्वारा वह जाना नहीं जा सकता, उसको तो वेद के द्वारा ही जान सकते हैं। जो वेद को सुनना ही नहीं चाहता हो, उसको उसकी इच्छा ही न हो, उसको परमात्मा का ज्ञान कभी कराया नहीं जा सकता। 'सुनने की इच्छा' यह शुश्रूषा का एक अर्थ है। इच्छा तभी होती है जब अपने अन्दर किसी चीज़ की वास्तविकता का निश्चय होता है। जिसकी वास्तविकता के बारे में हमारे में प्रामाण्य-बुद्धि नहीं है, उसे सुनने की इच्छा नहीं होती। जिसको वेद में श्रद्धा होगी, वही वेद की बात को सुनकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा, उसे सुनाना व्यर्थ है। शुश्रूषा का दूसरा अर्थ सेवा होता है। जो गुरु की सेवा करने वाला न हो उसे भी उपदेश देना व्यर्थ होता है।

एवं 'यो माम् अभ्यसूयति' जो मनुष्य भक्त भी है, तपस्वी भी है, सेवा भी करता है, सुनना भी चाहता है परन्तु भगवान् को प्राकृत मनुष्य समझता है, उसे भी यह शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये। जैसे दूसरे लोग हैं, वैसे ही कृष्ण भी हैं- इस प्रकार जब परमेश्वर के अन्दर प्राकृत बुद्धि होगी तब भगवान् की बात को सुनकर असूया करेंगे अर्थात् दोष-दर्शन करेंगे। भगवान् कहते हैं - मैं तो सर्वथा निर्दुष्ट हूँ, दोष का मेरे साथ कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु वह चूँकि अज्ञान वाला है इसलिये उसे मेरे अन्दर दोष का अध्यारोप हो जायेगा। सारी गीता के अन्दर परमात्मा का रूप प्रत्यगात्मा से अभिन्न करके कहा गया है और ऐसे ही वेदों में कहा गया है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो ब्रह्म का स्वरूप है वह किसी भी प्रकार स्थूल या सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्ध वाला नहीं है। इसलिये जब स्थूल या सूक्ष्म शरीर की दृष्टि से परमेश्वर को देखते हैं तब वह दोष वाला प्रतीत होगा ही। एक तरफ शिष्य को उपदेश देंगे, बोलने के लिए शरीर-सम्बन्ध चाहिए, शिष्य से खुद में भेदबुद्धि चाहिये; अतः इन बातों में परस्पर विरोध देखना सहज है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म के बारे में भगवान् कहेंगे 'अहमादिर्हि भूतानां' सारे प्राणियों का कारण मैं हूँ। तब तुरन्त शंका होगी कि कृष्ण तो अभी सौ-पचास या दस-बीस हज़ार साल पहले हुए और यह संसार तो अरबों साल पहले पैदा हुआ, उसका ये आदि कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार से जब प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूप का प्रतिपादन किया जाता है तब बड़ी सरलता से परमात्मा में अभ्यसूया हो जाती है। ऐसा लगता है मानो बोलने वाला आत्मप्रशंसा कर रहा है। वह कहेगा कि 'सारी सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करने वाला मैं हूँ' तब लगेगा कि अपनी ही तारीफ कर रहा

है! भगवान् ने गीता में बार-बार 'मैं' शब्द का प्रयोग करके बताया है अतः यह शंका होती ही है। इसलिये इसके पूर्व भी बताया था कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सभी असत्य हैं परन्तु इनके रास्ते से ही जो तत्त्व है उसका प्रतिपादन किया जा सकता है अन्यथा प्रतिपादन असम्भव है। भगवान् दक्षिणामूर्ति ने सनत्कुमारों को उपदेश करते हुए कहा कुछ नहीं, केवल उन्हें चिन्मुद्रा दिखाई। वे अत्यंत शुद्ध अंतःकरण वाले थे इसलिये समझ गये कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म है और तीन गुण, प्रकृति के कार्य होने से सर्वथा मिथ्या हैं। परन्तु वहाँ भी यदि उन्हें द्वैत-दर्शन होता कि 'हाथ तो प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध वाला नहीं है तो प्रत्यगात्मा अपने हाथ से ज्ञान को कैसे दे सकता है?' तो वे भी कुछ समझते नहीं। अतः भगवान् कहते हैं कि सारे गीताशास्त्र में ऐसे लोगों को आत्मप्रशंसा जैसी असम्भव बातें दीखेंगी क्योंकि वे मुझ प्रत्यगात्मा की ईश्वरता को सहन नहीं कर सकेंगे। सारे द्वैतवादी हमेशा से इसीलिये अद्वैत के ऊपर दोषारोपण करते ही रहते हैं। अतः भगवान् से अभ्यसूया करने वाले को इस गीता शास्त्र का उपदेश देने से उसका कोई हित नहीं हो सकता। उल्टा, परमेश्वर पर दोष लगाने के अपराध रूपी पाप को बेचारा अपने ऊपर लेता है।

अन्यत्र 'मेधाविने तपस्विने वा' से अधिकारी बताया है। वहाँ तपस्या अैर मेधा का विकल्प किया है। इसलिये यदि कोई शुश्रूषा और भक्ति से युक्त है, तपस्वी नहीं है परंतु मेधावी है, तब भी उसे यह उपदेश देना चाहिये। मेधावी का मतलब है, जैसा उपदेश दिया हो वैसा ही स्मरण रख सके। मेधा उस बुद्धि को कहते हैं जो ग्रन्थार्थ को धारण करने में समर्थ होती है। उसको उपदेश देने से क्या लाभ होता है? आगे आयेगा कि जो मेधावी है वह यह उपदेश अन्यों को देकर अपना और दूसरों का कल्याण कर सकता है। इसलिये शास्त्रने 'तपस्विने मेधाविने वा' कहकर विकल्प किया है। जो मेधावी नहीं होगा वह आगे पीछे की बात को ठीक तरह से याद नहीं रख सकेगा अतः दूसरे को उपदेश देने में समर्थ नहीं होगा। इसलिये आगे जो विधान करेंगे वह केवल तपस्वी के लिये नहीं हो सकता, मेधावी के लिये हो सकता है। मेधावी तो अपना और दूसरे का कल्याण करेगा। तपस्वी अपना अंतःकरण शुद्ध कर लेगा और फिर आत्मज्ञान करके अपना कल्याण कर लेगा। इस प्रकार से शुश्रूषा और भक्ति तो अवश्य होनी ही चाहिये। अनसूया का भाव भी होना ही चाहिये। तप और मेधा का तो विकल्प है, अन्य चीज़ों का विकल्प नहीं है। यहाँ कही सब विशेषताएँ होनी चाहिये यह बताने के लिये भगवान् ने सबके साथ 'न' लगाया है कि एक हो तो भी अधिकारी नहीं बनेगा। सबका समुच्चय है, इन सबमें विकल्प नहीं है। जो परमेश्वर में असूया करने वाला हो अर्थात् 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म हो ही नहीं सकता' ऐसी असूया यदि मन में रखे, तो सारे गुणों से युक्त होने पर भी उसे गीताशस्त्र का रहस्य नहीं बताना चाहिये। जो असूया से रहित है, शुश्रूषु है, देवाधिदेव महादेव में भक्ति वाला है, उसे तो अवश्य उपदेश देना चाहिये। यह शास्त्र-सम्प्रदाय की विधि है।

'वाच्यं' से भगवान् विधि कर रहे हैं ऐसे अधिकारी को अवश्य बताये। परमेश्वर की

प्राप्ति के लिये उत्तम निदिध्यासन ध्यान आदि साधन माने गये हैं और अनेक आचार्यों ने इसीलिये कहा है कि हर हालत में सारे व्यवहारों को छोड़े। उपदेश आदि परम्परा को चलाने की भी उसे ज़रूरत नहीं। ज्ञान प्राप्त करके उसी स्थिति में रहे। चूँकि उपदेश आदि देने में द्वैतबुद्धि बनेगी और किसी भी काम को करने में कामना कारण बनती है अतः उपदेश देने में भी तुम्हारी कोई-न-कोई सत्कार, मान, पूजा इत्यादि की भावना होगी; अतः ये सब न करे, ध्यान आदि करके स्थिति प्राप्त करे, किंतु भगवान् ने 'वाच्यं' कहकर विधि कर दी कि अवश्य कथन करे।।६७।।

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार से सम्प्रदाय चलाने वाले को क्या फल होता है। इस फल से पता लगता है और आगे भी भगवान् स्पष्ट करेंगे कि ध्यान करने वाले की अपेक्षा अथवा निदिध्यासन में लगे हुए की अपेक्षा भी जो सम्प्रदाय-प्रवर्तक है वही उत्तम भक्त है। अतः ध्यान आदि की अपेक्षा भी सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन करने का फल अत्यंत श्रेष्ठ है -

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जो इस परम पुरुषार्थ के प्रयोजन वाले गोपनीय संवाद को मेरे भक्तों के मध्य सुनायेगा वह निःसन्देह मेरी परा भक्ति करके मुझे पा जायेगा।

जो कोई भी साधक, 'इमं' यह जो गीता शास्त्र मैंने बताया है, इसको सुनाता है, वह मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही करता है। यह गुह्य है, गोपनीय है, सबको बताने के लिये नहीं है। जिस प्रकार आदमी अपने रत्न की रक्षा करता है वैसी ही इसकी रक्षा करनी चाहिये। गुह्य का दूसरा अर्थ पहले बताया ही था कि यह जो ज्ञान मैंने बताया है यह मनुष्य को अपने हृदय में ही प्रकट होता है, हृदयरूपी गुहा में प्रकट होने से यह गुह्य है। परम गुह्य है अर्थात् यह ज्ञान अंतिम है, साक्षात् मोक्ष देने वाला है। निःश्रेयस के लिये इसका उपदेश दिया गया है। अतः गीताशास्त्र धन, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये नहीं है। वेद में तो इन सबकी प्राप्ति के उपाय बताये हैं परन्तु उनमें से गीता शास्त्र साररूप में केवल निःश्रेयस प्रयोजन को उद्देश्य रखता है इसलिये श्रौत स्मार्त परम्परा में जो निःश्रेयस चाहने वाला है वह गीता का ही सर्वाधिक विचार करता है। ब्रह्मविद्या के प्रकरण में जो तीन प्रधान साधन हैं उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता, उनमें ब्रह्मविद्या के लिये स्मृतिरूप में गीता प्रमाण है। अन्य अनेक स्मृतियाँ है जिनमें सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये, पारलौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये सारे उपाय बताये हैं। विषयेच्छुकों के लिये तो वे सारी स्मृतियाँ काम दे जाती हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या के लिये तो यही स्मृति प्रमाण है। इसलिये इसे परम गुह्य कहा। यह भगवान् कृष्ण और अर्जुन का संवाद है और यह संवाद केवल मोक्ष के लिये किया गया है। अर्जुन ने पूछा था कि 'जो मेरे निःश्रेयस की बात है, वह आप बताइयेगा।' उसके प्रश्न के अनुसार भगवान् ने निःश्रेयस का मार्ग ही बताया है। इसलिये इसमें भगवान् ने वैराग्य की साधना करने वाले

के लिये स्पष्ट कह दिया कि जितना वेद का कर्म और उपासना काण्ड है, जो उसी को सब कुछ समझता है वह अज्ञान में ही रहता है। जो हमको अच्छी चीज़ें लगती हैं, शरीर ठीक रहे, धन की प्राप्ति हो, बच्चों के लिये मकान की प्राप्ति हो, राज्य की प्राप्ति हो इत्यादि, उनके उपाय कर्म-उपासना शास्त्र में बताये हैं। सर्वाधिक लोग वही सब चाहते हैं। यदि यहाँ कह दिया जाये कि सवेरे चार बजे उठोगे तो भगवान् प्रसन्न होंगे और दूसरी जगह कह दिया जाये कि 'सवेरे चार बजे हमारे पास जो आयेगा उसे पाँच गिन्नियाँ देंगे', तो भीड़ कहाँ लगेगी? सब जानते हैं, कहने की ज़रूरत नहीं कि भीड़ गिन्नी मिलने वाली जगह लगेगी। क्योंकि गिन्नी चाहने वाले लोग ज़्यादा हैं। भगवान् ने तो सावधान कर दिया 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' विषयलाभ बताने वाली तो फूलों से सजी हुई वाणी है। वास्तव में तो सब चीज़ें प्राप्त होकर नष्ट ही होंगी, फिर वही रोना शुरू हो जायेगा! इसलिये गीता के अन्दर सारे वेद का जो वास्तविक प्रयोजन परमात्मप्राप्ति है, वही बताया गया है। अतः यह परम है। बाकी सब स्मृतियाँ तो जब तक निःश्रेयस की इच्छा नहीं है तब तक के लिये हैं। गीता परम है और गुह्य है।

इसको जो मुझ में भक्ति वाले हों उनको बताता है वह मुझे पा जाता है। 'अभिधास्यति', 'अभि' अर्थात् चारों तरफ से; मेरे कहे हुए शब्दों के द्वारा और उन शब्दों का जैसा अर्थ है वैसा समझाने के साथ बताता है। अतः भगवान् के शब्दों का उलट फेर करना भी ठीक नहीं और केवल शब्दों को कह दिया और सामने वाला अर्थ नहीं समझा तो भी 'अभिधान' नहीं होगा। जो ग्रन्थ और अर्थ दोनों का स्थापन करेगा वही भली प्रकार से इसका स्थापन कर सकेगा। जो इस तरह यह उपदेश दूसरों को बतायेगा वह 'मयि परां भक्तिं कृत्वा' मेरी परम भक्त कर लेगा, अर्थात् यही मेरी परा भक्ति है। सबसे अंतिम, सबसे श्रेष्ठ जो परमेश्वर की भक्ति है वह इस शास्त्र को ग्रन्थ और अर्थ सहित भक्तों को बताना है। उसका यह निश्चय होना चाहिये कि 'मैं इसके द्वारा परमेश्वर की भक्ति कर रहा हूँ'। ऐसा निश्चय करके यदि वह उपदेश करेगा तो जो फल आगे भगवान् बताने जा रहे हैं उसको प्राप्त करेगा। यदि इस उपदेश को वह किसी और लौकिक सम्मान आदि की प्राप्ति के लिये करता है तब उसे वह फल प्राप्त नहीं होगा। ठीक जिस प्रकार से जब ध्यान आदि सम्पन्न होते हैं तो स्वभावतः हमारे अन्दर विशेष शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। यदि उन विशेष शक्तियों की तरफ दृष्टि न करें तब तो आगे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होती है और अगर उन विशेष शक्तियों में आकृष्ट हो गये तो परमात्म मार्ग से च्युत हो जाते हैं। वैसे ही यह गीता शास्त्र इतना महान् है कि अनेक प्रकार के सम्मान आदि की प्राप्ति कराता है। उस सम्मान आदि या विद्वत्ता आदि की इच्छा करेगा तो वास्तविक फल नहीं मिलेगा। इसका उपदेश केवल परमेश्वर की भक्ति के रूप में करेगा तो चूँकि यह परम भक्ति है इसलये परमात्मा को पा लेगा। 'परमगुरु परमेश्वर की भक्ति कर रहा हूँ', 'प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परब्रह्म परमेश्वर है उसकी सेवा और किस प्रकार से कर सकता हूँ' इस भाव से गीता का कथन

व व्याख्यान करना कल्याण का उपाय है। इसलिए अन्यत्र भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि आचार्य के लिये कोई नियम नहीं, फिर भी जो सच्छिष्य हो उसे उपदेश देने का नियम तो श्रुति करती ही है। इसी प्रकार भगवान् कह रहे हैं कि जब तक शरीर है तब तक उसकी भक्ति अवश्य कर्त्तव्य है और यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

यह भक्ति करता है तो उसका फल क्या है? 'मामेवैष्यत्यसंशयः' वह मुझे ही प्राप्त करेगा अर्थात् प्रत्यगात्मा से अभिन्न भाव में ही स्थित रहेगा। कोई यह न समझ ले कि यह प्रशंसा की होगी, इसलिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि यह कोई अर्थवाद या प्रशंसा नहीं कर रहे हैं, यह तो फलश्रुति है अर्थात् ऐसा होता ही है। पहले भी भगवान् ने कहा था 'नाभक्ताय' और यहाँ भी 'भक्तेषु' से भक्ति का पुनर्ग्रहण किया है, वह यह बताने के लिये कि यदि तपस्या, मेधा, शुश्रूषा आदि सब नहीं भी हैं परन्तु यदि मुझ मे अत्यंत प्रेम है, भक्ति है, तो इतने मात्र से भी वह प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है, उसे उपदेश किया जा सकता है।

इस प्रकार की भक्ति करने वाला कौन हो सकता है? तीन तरह के लोग हो सकते हैं - i) साधक, ii) ज्ञानी और iii) ज्ञाननिष्ठा वाला। साधक करेगा तो विक्षेप हो सकता है अतः साधक को तो भगवान् इसका उपदेश करने में प्रवृत्त भी नहीं कर रहे हैं। जिसने परमात्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु अभी तक निष्ठा नहीं बनी है, वह इसका उपदेश करेगा तो वेदान्त विचार चलता रहेगा और यह उसके लिये उपयोगी होगा, बाधक नहीं होगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि जो शास्त्र का अध्यापन ग्रन्थतः और अर्थतः दोनों प्रकार से करेगा, वह ज्ञाननिष्ठारूपी भक्ति को, जैसा भगवान् ने कहा 'भक्त्या मामभिजानाति' उस भक्ति को करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करेगा। अतः इसके अध्यापन का अधिकारी ज्ञान-निष्ठा का साधक ही है। और जिसकी ज्ञाननिष्ठा पक गई है, जो भूमिकारूढ है, उसके लिये तो संसार की प्रतीति न होने के कारण करना और न करना दोनों ही सम्भव नहीं हैं। 'मैं परमेश्वर की भक्ति कर कर रहा हूँ' इस भावना से जो उपदेश करने को कहा है वही, ज्ञानी की भक्ति सिद्ध हो जाता है। किसी ने माना है 'अभिधास्यति' अर्थात् उपदेश करे और फिर 'परां भक्तिं कृत्वा' परा भक्ति करे; किंतु वह व्याख्या ठीक नहीं। यह प्रसंग ही शास्त्र-प्रवर्त्तन का है, उसके बीच में शास्त्र-प्रवर्तन से अतिरिक्त किसी चीज़ की प्रशंसा करना या विधान करना दोनों ही नहीं बनते हैं। इसलिये आचार्य शंकर ने ऐसा नहीं स्वीकारा। रामानुज आदि ने भी ऐसा नहीं स्वीकारा। कुछ लोगों ने माना है कि यदि पूरी तरह से ज्ञान नहीं भी है परन्तु सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन करता है तो इससे उसकी परा भक्ति हो जाती है। परन्तु जो जिस चीज़ का अनुभव किया हुआ नहीं है वह उसको दूसरे को ठीक-ठीक उपदेश दे ही नहीं सकता। जब यह बात स्थूल वस्तुओं के लिये भी है कि जिसने अनुभव किया है वह जैसा ठीक-ठीक उपदेश दे सकता है वैसा दूसरा नहीं दे सकता, तो अतिसूक्ष्म इस प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव किये बिना इसका उपदेश बनता ही

नहीं। इसलिये जो कुछ लोगों ने कहा कि सम्मान आदि की प्राप्ति के लिये भी जो उपदेश करता है वह भी परा भक्ति हो जाती है, यह संगत नहीं बैठता।।६८।।

मुमुक्षुकी विद्यासम्प्रदान में प्रवृत्ति का औचित्य स्वयं भगवान् स्थापित करते हैं –

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

उस (सम्प्रदायप्रवर्तक) की अपेक्षा मेरा सर्वाधिक प्रिय करने वाला मनुष्यों में न कोई है न होगा अतः संसार में उससे अधिक मुझे कोई प्रियतर नहीं है।

'मनुष्य' इसलिये कहा है कि 'मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य' मनष्य को ही शास्त्र में अधिकार है। देवादियों को ज्ञान में अधिकार तो है परन्तु स्वयंभातवेद होने से उनको वेदातिरिक्त शास्त्र की ज़रूरत नहीं रहती है। मनुष्य चूँकि स्वयंभातवेद नहीं है अतः उसे वेद को समझने के लिये सहायक शास्त्र की अपेक्षा होती है। इसलिये मनुष्यों में जो ग्रन्थ और अर्थ से शास्त्र–सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक है उसकी अपेक्षा मेरा सबसे ज़्यादा प्रिय काम करने वाला दूसरा नहीं है। यद्यपि पौनःपुन्येन श्रवण, मनन, निदिध्यासन में लगना भी पराभक्ति का प्रकार है तथापि इस सम्प्रदाय–प्रवर्त्तन को करना, तपस्वी भक्त को ग्रन्थ और अर्थ सहित रास्ता बताना, यह मुझ ईश्वर के लिये सबसे प्रियकारी है। इसलिये श्रवण मनन निदिध्यासन की अपेक्षा भी यह करने वाला मुझे ज़्यादा प्रिय है। वर्त्तमान में तो इससे ज़्यादा प्रिय मुझे और कोई है ही नहीं, भविष्य में भी कोई ऐसा साधक नहीं होगा जो इस कार्य को करने वाले की अपेक्षा मुझे ज़्यादा प्रिय हो। भगवान् को सबसे ज़्यादा प्रिय वही है जो भगवान् के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन करता है। 'भुवि' अर्थात् भूलोक में। लोकान्तर में वेदार्थबोधन तो होता है पर गीता और इसके अर्थ का बोधन होता हो ऐसा वर्णन नहीं मिलता।।६९।।

जो इस योग्य नहीं है अर्थात् ग्रन्थ और अर्थ दोनों से दूसरे को समझाना, उसकी शंकओं का समाधान करना, उसे निश्चय हो जाये, ऐसा वर्णन जो नहीं कर सकता है, वह क्या कर सकता है, यह भगवान् कहते हैं –

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

जो हमारे इस धर्मसम्मत संवाद का अध्ययन करेंगे (उनके) उस ज्ञान यज्ञ से मैं पूजित हो जाऊँगा यह मेर निश्चय है।

जो कोई साधक होने के कारण तपस्वी, भक्त, शुश्रूषु और अनसूयु होकर गीताध्ययन करेगा वह मेरा पूजन ही करेगा। 'इमं धर्म्यं संवादं' यह जो हम दोनों की बात–चीत है, यह धर्म के अनकूल है, धर्मविरुद्ध नहीं है। 'धर्म्य' कहकर भगवान् इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि धर्मप्रतिपादक शास्त्र, पूर्वकाण्ड का उत्तर काण्ड के साथ कोई विरोध नहीं है। उल्टा,

दोनों में साध्य साधन सम्बन्ध है। अर्थात् धर्म के द्वारा ही अंतःकरण शुद्ध होकर वैराग्य की प्राप्ति होती है जो ज्ञान का प्रथम सोपान है। ठीक जिस प्रकार से दस मील पैदल चलकर फिर मील भर कड़ी चढ़ाई चढ़ते हैं तब केदारनाथ आता है। सीधा चढ़ना और खड़ी चढ़ाई पर चढ़ना विरुद्ध लगता है लेकिन विरुद्ध नहीं है। उसी प्रकार पहले वर्णाश्रम धर्म का पालन करना और उसके बाद वर्णाश्रम धर्म को छोड़ना दोनों में विरोध नहीं है। जो धर्म का ठीक प्रकार से पालन करेगा वही वर्णाश्रम धर्म को छोड़ेगा भी। इसलिये भगवान् ने इसे धर्म्य संवाद कहा।

'अध्येष्यते' जो उसको पढ़ता है। चूँकि यह संवाद धर्म से अनपेत है अतः इसका अध्ययन करते हुए इसमें बताई हुई सीढ़ियों के ऊपर धीरे-धीरे चलना है। ठीक जिस प्रकार से व्याकरण के अध्ययन का मतलब होगा कि व्याकरण को पढ़कर उससे सिद्ध होने वाले शब्दों का धीरे-धीरे प्रयोग भी करो। अगर तुम व्याकरण पढ़कर सिद्ध तो कुछ और शब्द करते हो तथा प्रयोग उन शब्दों का न करके प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का करते हो, तो तुम्हारा व्याकरण का अध्ययन पूरा नहीं माना जा सकता। जब तुम्हें पता लगा कि व्याकरण की दृष्टि से यह प्रयोग शुद्ध है तब प्रयोग उसका ही करना चाहिये, तभी वह शुद्ध प्रयोग दृढ होगा। इसी प्रकार भगवान् ने यहाँ बार-बार ईश्वरार्पण-बुद्धि से धर्म करने पर ज़ोर दिया है अतः ईश्वरार्पण बुद्धि से धर्म करना चाहिये। अर्थात् केवल बाँचने की बात नहीं है, उसके साथ उसमें कही हुई बात का यथासामर्थ्य अनुष्ठान भी करना है। इस प्रकार से जो अध्ययन करता है वह ज्ञान यज्ञ कर रहा है।

अनेक प्रकार के जप बताये हैं : वैखरी से जप करो, ज़ोर-ज़ोर से बोलकर जप करो, धीरे-धीरे करो, हल्का-हल्का बोलो, होठ से शब्द बाहर न आये लेकिन होठ फुसफुसायें, केवल कण्ठ ही थोड़ा आगे-पीछे हो, अथवा केवल उसके अर्थ का भान होता रहे, आदि। इनमें मानस जप को सबसे अधिक श्रेष्ठ माना है क्योंकि परमात्म-मार्ग के अन्दर तुम्हारा प्रधान साधन मन या अंतःकरण है। मन के साधनों से मन की शुद्धि साक्षात् होगी। बाह्र का भी जो कर्म करते हो उससे भी शुद्धि तो मन की होगी परन्तु देरी से या विलम्ब से होगी। जैसे मोटी भाषा में समझ लो कि भांग को पिया तो नशा आयेगा, नींद आयेगी परन्तु भांग के अर्क का सीधा ही इंजेक्शन दे दिया जाये तो तुरन्त बेहोश हो जाओगे। ठीक इसी प्रकार बाकी जितने यज्ञ हैं वे धीरे-धीरे मन की शुद्धि करेंगे। परन्तु यदि मन के अन्दर साधन करोगे तो वह तुरन्त फल को उत्पन्न कर देगा।

कोई पूछ सकता है कि फिर सीधे मन से करने वाले साधन ही क्यों नहीं बताते? उत्तर है कि मन से करने की शक्ति जब तक नहीं आ जाती तब तक मन से कर नहीं सकते। इसलिये जब पहले शरीर से, वाणी से करोगे तब मन में संस्कार बैठेंगे, तब यह सम्भव होगा कि केवल मन से भी कर सको। इसलिये यह श्रेष्ठ होने पर भी बाह्य यज्ञों की अपेक्षा रहती है। ज्ञान को सबसे अच्छा यज्ञ भगवान् पहले कह आये हैं। 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्

यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरंतप' (४-३३) द्रव्यों या पदार्थों से जैसे घी, हव्य इत्यादियों के द्वारा जो तुम कुण्ड बना कर हवन करते हो वह द्रव्ययज्ञ है। उन द्रव्य यज्ञों की अपेक्षा यदि तुम मन से ही यज्ञ कर लेते हो तो वह श्रेष्ठ होता है। इसलिये जहाँ अश्वमेधादि प्रकरण आया है वहाँ यह भी कहा है कि इस अश्वमेध की सामग्री जिसके पास नहीं हो सकती, वह इस उपासना को करे, मन के द्वारा इस यज्ञ को निष्पन्न करे, तो उसको भी वही फल होता है जो सामग्री एकत्र करके करने वाले को होता है। अतः भगवान् ने श्रेयान् कहा है। बाहर की सामग्री को इकट्ठा करना सबके सामर्थ्य की चीज़ नहीं है। उत्तम पुरोहित आदि को भी एकत्रित करना अपने हाथ में नहीं। इसलिये द्रव्य यज्ञ के अन्दर दैव या प्रारब्ध का बहुत बड़ा हाथ होता है। परन्तु मन से करने में तुम्हारी सामर्थ्य या स्वतंत्रता अधिक है। मन में उन संस्कारों को लाने की ज़रूरत है इसलिये बाह्य करना पड़ता है। परन्तु यदि मन से कर सको तो तुम्हारी सामर्थ्य और स्वतंत्रता द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिये उसे श्रेयान् कह दिया।

जो उपदेश कर सकता है उसके लिये तो भगवान् ने मोक्ष फल बता दिया। जो वैसा नहीं कर सकता है परन्तु गीता का अध्ययन करता है और यथासम्भव इसके अनुसार आचरण करने की चेष्टा करता है, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि ज्ञान यज्ञ से मेरा पूजन हो जाता है। इस प्रकार गीता शास्त्र के अध्ययन को भगवान् ने बहुत बड़ा साधन बता दिया। यह केवल स्तुति नहीं है, साथ में फल-विधि भी है। ज्ञान यज्ञ सम्पन्न करने से अर्थात् गीताध्ययन से 'अहम् इष्टःस्याम्' मेरी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् की पूजा करने से अंतःकरण की शुद्धि हो जाती है। और अंतःकरण की शुद्धि से मोक्ष की सम्भावना हो जाती है। पहले वाले साधन का फल तो मोक्ष बताया और इसका फल भगवान् ने बता दिया कि इससे मेरी पूजा सम्पन्न हो जाती है। अर्थात् इससे अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि यह केवल प्रशंसा नहीं 'इति मे मतिः' यह मैं निश्चयपूर्वक कह रहा हूँ।।७०।।

जो पढ़ भी न सके उसके लिये भी कृपावश भगवान् उपाय बताते हैं –

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जो दोषदृष्टिरहित श्रद्धालु नर गीता को सुनता भी है वह भी पुण्यकर्मियों को उपलभ्य शुभ लोक पाता है।

जो पढ़ भी नहीं सकता वह केवल सुन तो सकता है। कोई दूसरा पाठ कर रहा है तो उसे सुन सकता है। परन्तु कैसे सुनता है? अनसूया से सुनता है। सिरोही महाराज के राजपण्डित बता रहे थे; एक बार महाराज की पत्नी ने किसी को कथा करने के लिये बुला लिया। श्रावण का महीना था, सवेरे रुद्री इत्यादि का पाठ होता था। दो दिन बाद उस कथाकार ने महाराजा को खबर भेजी कि 'पण्डित जी से कहिये कि सवेरे धीरे-धीरे पाठ किया करें, विक्षेप

होता है।' महाराज ने राजपण्डित से कहा 'सवेरे थोड़ा धीरे पाठ कर लें क्योंकि उन्हें विक्षेप होता है।' राजपण्डित ने महाराज से कहा 'वेदध्वनि सुनकर जिसे विक्षेप होता है उसकी कथा से क्या लाभ होना है!' सिरोही महाराजा खुद जानकार थे, कहने लगे 'क्या करूँ, औरतें नहीं मानती हैं'। यह असूया है। इसी प्रकार यदि तुम गीता का पाठ करते हो तो ऊपर के कमरे वाले को सुनना पड़ता है, लेकिन असूया-पूर्वक सुनता है कि 'सवेरे-सवेरे शोर मचा रहा है, सोने नहीं देता', तो फल नहीं होगा। और श्रद्धावान् है कि 'इसको कहने वाले श्री कृष्ण साक्षात् परमेश्वर के स्वरूप हैं, उन्हीं का अवतार हैं। हम लोगों का उद्धार करने के लिये उन्होंने पृथ्वी पर आ कर उपदेश दिया।' भगवान् की दो तरह की लीलायें प्रसिद्ध हैं। एक तो वृन्दावन लीला है जहाँ उन्होंने बंसी बजाकर गोपियों के हृदयों को मुग्ध करके उन्हें रसास्वादन कराया। यह भी भगवान् ने किया। और भगवान् ने कुरुक्षेत्र लीला करके अर्जुन को निमित्त बनाकर यह गीता का उपदेश दिया। परन्तु वह जो वंशीध्वनि थी और उससे गोपिकाओं को जो आकर्षण हुआ वह वंशी और भगवान् का बजाना तो भगवान् के साथ चला गया! उस समय गोपियों ने जो रसावादन कर लिया सो कर लिया लेकिन अपने काम का तो वह अब रहा नहीं। भगवान् ने जो यह उपदेश कुरुक्षेत्र में दिया वह वैसा का वैसा भगवान् वेदव्यास की कृपा से हम आज भी सुनते हैं। अगर हम उस समय कुरुक्षेत्र में मौजूद होते तो जो सुनते, वही अब सुन रहे हैं। भाष्यकार कहते हैं कि जैसा भगवान् ने कहा वैसा ही व्यासजी ने हमारे सामने रखा है, उन्होंने अपनी तरफ से कुछ भी जोड़-घटाव नहीं किया है। जो उन्होंने वृन्दावन में किया वह तो उसी समय के लोगों के काम की लीला थी। लेकिन जो कुरुक्षेत्र में किया वह तो आज भी हमें लाभ पहुँचा रहा है। भगवान् की इस लीला में यही सबसे बड़ा उपकार है। बाकी चीज़ें जो उन्होंने की वे उनके साथ गयीं। उस समय के लोगों को उनसे लाभ हुआ यह बिलकुल ठीक है, लेकिन यह आज, पाँच हज़ार साल बाद भी हमें वैसा ही लाभ पहुँचाता है। अतः परमेश्वर की लीलाओं में सर्वप्रधान लीला यही है। इसलिये इसमें पूरी तरह से श्रद्धा होना ज़रूरी है। इसी प्रकार यदि पढ़ने की योग्यता नहीं भी है लेकिन श्रद्धापूर्वक गीता को सुनते हैं कि 'भगवान् खुद बोल रहे हैं' तो फल होता है। बंगाल में एक चैतन्य महाप्रभु हुए हैं, वे तीर्थ-यात्रा करते हुए तैलंग देश से निकल रहे थे जिसे आजकल आन्ध्रप्रदेश कहते हैं। एक जगह कोई गीता पाठ कर रहा था वहीं दूसरी तरफ एक बुड्ढा उसे सुनकर रोये जा रहा था! चैतन्य महाप्रभु बहुत विद्वान् थे। उन्होंने सोचा 'यह बुड्ढा गीता सुनते हुए भगवान् के भावों में इतना सराबौर होकर रो रहा है!' जब पाठ खत्म हुआ तो उससे पूछा कि 'तुम्हें कौन सा अर्थ प्रतीत हो रहा था जिसमें इतना भावविभोर हो रहे थे?' वह कहने लगा 'मैं तो पढ़ा लिख नहीं हूँ! मैं क्या समझूँ भगवान् ने क्या कहा! परन्तु भगवान् बोल रहे हैं और उनके शब्दों को मैं सुन रहा हूँ, साक्षात् भगवान् के शब्द सुनने को मिल रहे हैं, यही मुझे पुलकित करता है।' इस प्रकार जो केवल इसको सुनता ही है लेकिन असूया से रहित और श्रद्धा से युक्त होकर, वह श्रेष्ठ फल पाता है।

'शृणुयाद् अपि' 'अपि' पद के द्वारा स्पष्ट किया कि श्रवण या सुनकर यदि उसके अर्थ का पता लगता है तो क्या कहना! परन्तु जिसे अर्थ का कुछ भी पता नहीं लगता, केवल सुनता है, वह सुनने वाला भी पापों से छूट जाता है, उसका भी मल दोष निवृत्त हो जाता है। उसके भी पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्य करने वालों को जो ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक आदि प्राप्त होते हैं, वह उनको प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सारे कर्मों को करने वाले को जो फल होता है वह फल इसको गीता सुनकर ही हो जाता है! चूँकि 'शुभान् लोकान् प्राप्नुयात्' कहा है अतः यहाँ मुक्ति से कैवल्य मुक्ति नहीं ले सकते क्योंकि कैवल्य मुक्ति में कहीं जाना-आना नहीं हो सकता। अतः इस गीता को सुनने वाला पापों से मुक्त होकर शुभ लोकों को चला जाता है। इस प्रकार से केवल सुनने वाले का फल भी कह दिया और एक 'अपि' पद लगाकर यह भी बता दिया कि जो अर्थ समझकर पढ़ेगा उसका फल तो बहुत बड़ा हो ही जायेगा इसमें तो क्या कहना है। वह बड़ा फल क्या होगा? अर्थज्ञान होने पर, जिसे पहले अध्ययन कहा, वह सम्पन्न हो जाने से उसमें श्रवण मनन की योग्यता आ जायेगी। शुभ लोकों को तो केवल सुनने वाला चला जाता है परन्तु यदि साथ में अर्थज्ञ हो गया तो फिर यहाँ ही श्रवण मनन की योग्यता पाकर यथासंभव ज्ञान-साधना कर पाता है। इस प्रकार से भगवान् ने अर्थज्ञान की भी विशेषता बता दी। अध्ययन में तात्पर्य पर्यन्त समझना पड़ता है। उसमें जो असमर्थ है, वह शब्दार्थ समझे तो भी शब्दमात्र पढ़ने-सुनने वाले से अधिक फल पाता है।।७१।।

जैसे गंगाजी का नाम लेना, दर्शन करना और गंगास्नान करना - तीनों पुण्यप्रद हैं वैसे ही भगवत्तत्त्वका जिज्ञासु, उसे समझाने वाला और केवल सुनने वाला - तीनों ही कल्याण के भागी होते हैं। इसे भगवान् ने ६८ - ७१ चार श्लोकों द्वारा समझाया। इसके बाद, आचार्य को कैसा आचरण करना चाहिये इसे बताने के लिये भगवान् आगे कहते हैं-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धन जय।।७२।।

हे धनंजय पार्थ! तुमने एकाग्र चित्त से क्या यह सुना? क्या तुम्हारा अज्ञाननिमित्तक सम्मोह नष्ट हुआ?

आचार्य के लिये यह नियम है, भगवान् के इस शास्त्र का उपदेश करने वाले के लिये यह नियम है कि वह इस बात को देखे कि शिष्य ने शास्त्र के तात्पर्य को ठीक से ग्रहण किया या नहीं। इसका पता इस बात से लगता है कि उसके अन्दर का अज्ञान नष्ट होकर बंधन निवृत्त हुआ या नहीं। अन्य शास्त्रों में तो ज्ञान करके कुछ करना है, अन्य जितने शास्त्र हैं वे तो तुमको कुछ जानकर करने को बताते हैं जिसको करने से फल उत्पन्न होगा। परन्तु प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का जो ज्ञान है, उस ज्ञान के सिवाय उसका और कोई दूसरा फल नहीं है। अर्थात् ज्ञानमात्र से ही सच्चिदानन्दरूपता की प्राप्ति होकर बन्धन निवृत्त हो जाता

है। चूँकि यहाँ ज्ञान से ही फलप्राप्ति है अतः यदि शिष्य ने ग्रहण नहीं किया है तो गुरु को ही किसी यत्नान्तर से, किसी युक्ति से, किसी दृष्टांत के ढंग से समझाने का काम करना पड़ेगा। गुरु के पास आने तक तो शिष्य का कर्त्तव्य है परन्तु गुरु के पास पहुँच गया तो फिर उसके बन्धन की निवृत्ति गुरु को ही करनी है। क्योंकि परमात्मा अतीन्द्रिय पदार्थ होने से प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से तो उसका ज्ञान हो नहीं सकता इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'वक्तुर्हि दूषणं तत्र यत्र श्रोता न बुध्यते' जहाँ सुनने वाले को बुद्धि उत्पन्न न हो वहाँ बताने वाले का ही दोष मानना पड़ता है। क्योंकि जहाँ कुछ करने के लिये समझना है वहाँ तो करना खुद पड़ेगा, बताने वाला केवल बता सकता है। परन्तु ब्रह्मज्ञान खुद कुछ भी करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह ज्ञान तो केवल बताने से ही होगा। इसलिये गुरु के पास पहुँचने के पहले तो तुमको सभी साधन करने हैं लेकिन जब उसने तुमको 'तत्त्वमसि' का उपदेश दे दिया तो फिर वह तत्त्वमसि का उपदेश तुम्हारे अन्दर आये, यह तो किसी युक्त्यन्तर या दृष्टांतान्तर से ही करना पड़ता है। अतः शिष्य ने शास्त्र के तात्पर्य को ग्रहण किया या नहीं, इसको शिष्य से पूछकर ही जाना जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे हम भोजन परोस रहे हैं, तुम्हारा पेट भरा या नहीं इसमें तुम ही प्रमाण हो। तुमको लगता है पेट भर गया तो भर गया, लगता है पेट नहीं भरा तो नहीं भरा। उसी प्रकार शिष्य के बंधन की निवृत्ति होकर उसे परम आनन्द की प्राप्ति हुई या नहीं, इसमें शिष्य का केवल अपना अनुभव ही प्रमाण है। यदि उसे बंधननिवृत्ति होकर परम आनन्द का अनुभव हो गया, तब तो उसे शास्त्र के तात्पर्य का ग्रहण हो गया। अगर उसे परम आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो कोई कितना भी कहे कि 'तुमको बोध हो गया', उससे काम नहीं होगा। आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि अगर शिष्य को उस परम आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर प्रकारान्तर से उसे समझाना चाहिये।

इस उद्‌देश्य से भगवान् पूछते हैं 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ!' कोमल भाव से जब किसी से पूछा जाता है तब 'कच्चित्' शब्द का प्रयोग होता है। एक तो दूसरे से प्रश्न करने के लिये पूछा जाता है कि तुम ठीक से जवाब दे सकते हो या नहीं, और दूसरा केवल कोमल भाव से पूछा जाता है। जैसे जब कहा जाता है कि 'पेट भर गया?' तब कुछ और भाव है और जब पूछते हैं कि 'क्यों भाई! ठीक से खाया?' तो और भाव है। यह भी प्रश्न तो है ही। इसी प्रकार यहाँ 'कच्चित्' कह कर भगवान् प्रेम से अर्जुन से पूछते हैं कि क्या तुम्हारी तत्त्वनिष्ठा हो गई या नहीं? यह जो मैंने तुम्हें उपदेश दिया, उसको तुमने चित्त को एकाग्र करके सुना या बीच-बीच में कुछ नहीं भी सुना? श्रवण ठीक होने से ज्ञान ठीक होता है। प्रमाद के कारण ही हमारा श्रवण ठीक नहीं होता, बीच में कुछ चीज़ ठीक से नहीं सुनी जाती तो पूरी बात समझ में नहीं आती। इसलिये पूछा कि 'क्या तुमने एकाग्र चित्त से सुना?'

'पार्थ' शब्द के प्रयोग से भगवान् बताते हैं कि तू पृथापुत्र है इसलिये तुम्हारे में स्त्री-धर्म होना स्वाभाविक है। 'मैं युद्ध न करूँ' यह तुम्हारा भाव भी स्त्रीभाव का ही प्रदर्शन

करता है क्योंकि डरना अथवा जहाँ दया नहीं करनी चाहिये वहाँ दया करना आदि सभी स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। स्त्रीस्वभाव से आक्रान्त होने के कारण सुनने में प्रमाद संभावित है। स्त्री प्रमादी होती है, बात को पूरा नहीं सुनेगी, बीच-बीच में कुछ और सोचने लग जायेगी। प्रायः जब स्त्रियाँ आपस में बातें करती हैं तो विषय कहीं का कहीं चला जाता है! उन्हें स्वयं पता नहीं लगता कि कहाँ से वार्त्ता शुरू की थी। इस प्रकार का प्रमादी स्वभाव स्त्री का होता है। ऐसे ही तुम्हारे में स्त्री- स्वभाव होने से तुम्हारे में प्रमाद हो सकता है, इसलिये क्या तुमने एकाग्र चित्त से मेरी बात सुनी या बीच में इधर-उधर की बात सोचते रहे? अगर तुम्हारा श्रवण ठीक से हुआ है तब तो तुम्हारा अज्ञान और अज्ञान से होने वाला सम्मोह नष्ट हो गया होगा। समझकर तुम्हें सम्मोह हो ही नहीं सकता। आत्मा और अनात्मा का आपस में मिला जुला जो हम लोगों का अनुभव है, इसी का नाम अज्ञान है। क्या आत्मा है, क्या अनात्मा है - यह हम लोगों को स्पष्ट नहीं होता। आत्मा जानता है और अनात्मा को जानता है; बात तो सीधी है। परन्तु हम जिसको जानते हैं उसको जानने वाला भी मान लेते है! जैसे अहं को जानते हैं और अहं को जानने वाला भी मान लेते हैं। मन को जानते हैं और मन को जानने वाला भी मान लेते हैं। इस प्रकार से आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का भ्रम है। 'मैं जानने वाला ब्राह्मण हूँ।' यह हमें लगता है किंतु ब्राह्मण तो जाना जाता है इसलिये वह जानने वाला तो नहीं हो सकता, लेकिन रोज़ संकल्प करते हैं कि 'अमुक गोत्र में उत्पन्न अमुक देश काल से परिच्छिन्न, अमुक कर्म को करता हूँ।' सर्वत्र समझते हैं कि आत्मा करने वाला है। आत्मा देश काल से परिच्छिन्न होने वाला है, आत्मा जन्म लेने वाला है। इस प्रकार का अन्योन्याध्यास है। इसलिये आत्मा और अनात्मा का वास्तविक स्वरूप हम अलग नहीं कर पाते। यह जो अविद्या या अज्ञान है यह श्रवण से ही नष्ट होता है। इस अज्ञान के कारण ही 'मैं इसको मारूँ या न मारूँ' इस प्रकार का धर्मविषयक अविवेक पैदा होता है। मारना व न मारना मुझ में हो कैसे सकते हैं जबकि मैं अकर्ता हूँ! इस बात को यदि जान लेता है तो फिर 'मैं करूँ या न करूँ' ऐसा सम्मोह हो ही नहीं सकता। अतः भगवान् ने समझाया था कि तुम कर्त्ता हो नहीं, करने वाली चीज़ों को प्रकृति स्वतः प्रवृत्त करती है। अथवा प्रकृति के अन्दर बैठा हुआ मैं ईश्वर करता हूँ। दो ही स्थितियाँ हैं। अज्ञानसे, जीव कर्त्ता है और वास्तव में अकर्त्ता है। वस्तुतः तो जब तुम कह रहे हो 'मैं कर्त्ता हूँ' तब भी तुम कर्त्ता नहीं हो और जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है वह है नहीं अतः कोई भी कर नहीं रहा है। जिस प्रकार रस्सी में साँप किसने पैदा किया? साँप पैदा हुआ ही नहीं, इसलिये 'किसने पैदा किया' यह प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी समझने के लिये रस्सी में ही साँप पैदा हुआ। इसी प्रकार वस्तुतः तो कहीं कुछ भी नहीं होने के कारण नामरूप के सर्वथा अभाव से कोई भी कर्त्ता नहीं है। परन्तु यदि कर्त्ता की प्रतीति होती है तो ईश्वर ही कर्त्ता है। जीव का कर्त्तृत्व किसी तरह सिद्ध नहीं होता। यह भगवान् ने बहुत विस्तार से बताया।

इसलिये अब पूछा कि अज्ञान और उससे होने वाला नैसर्गिक सम्मोह क्या नष्ट हुआ? जिस अंतःकरण में संदेह था उस अंतःकरण की अहं वृत्ति को मानकर ही तो कह रहे हैं। 'प्रनष्ट' कहकर भगवान् सावधान करते हैं कि एक ज्ञानाभास भी होता है। वास्तविक बोध न होने पर भी मानो हो गया यह ज्ञानाभास है। परन्तु वह ज्ञानाभास अज्ञान के कार्य को नष्ट नहीं कर पाता इसलिये लगता है कि फिर अज्ञान आ गया। इस अनुभव को बताने के लिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है

'यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्।।'

जैसे काई से भरे हुए तालाब में स्नान करने जाते हैं तो डुबकी लगाने से पहले हाथ से उस काई को हटा देते हैं और डुबकी लगाकर जैसे ही बाहर आते हैं तो देखते हैं कि काई ने पुनः सारी जगह को घेर लिया है। ठीक इसी प्रकार से हमको ज्ञानाभास होते ही लगता है कि 'मैं अकर्त्ता-अभोक्ता हो गया' परन्तु थोड़ी ही देर में माया फिर घेर लेती है और लगता है कि 'ऐसा नहीं है, अमुक कार्य तो मुझे करना ही पड़ेगा', अर्थात् फिर कर्त्ता - भोक्ता बन जाते हैं। भगवान् भाष्यकार ने बड़ी सीधी पहचान बता दी ऐसे ज्ञानाभास वाले की– 'प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्' शास्त्र को पढ़कर भी संसार जो अनात्मा है, अपने से भिन्न, पराक् है, उस तरफ मुख करते ही अज्ञान आता है। जो सच में प्राज्ञ होगा वह तो कभी भी पराङ्मुख नहीं होगा। सचमुच में यदि तुम्हारे में ज्ञान का थोड़ा स्पर्शमात्र भी आया है तो फिर संसार तुमको अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सकता। परन्तु जो पराङ्मुख है, संसार की तरफ मुख वाला है और उसे लगता है 'मैं प्राज्ञ हो गया', उसी को ज्ञानाभास है। अर्थात् ज्ञान का आभास ही है, ज्ञान नहीं है। बड़ी सीधी पहचान यह है कि अज्ञान निवृत्त होकर पुनः उसका प्ररोह नहीं होता। एक बार अज्ञान नष्ट हो गया तो फिर पैदा हो ही नहीं सकता। इसलिये भगवान् ने 'प्रनष्ट' कहा। पराङ्मुखता का मूल कारण है कि एक ब्रह्म के अतिरिक्त न कुछ है और न कुछ हो सकता है - यह निश्चय नहीं होता है।

सांख्य की तरह यह निश्चय करना तो फिर भी सरल है कि मैं असंग हूँ, परन्तु संग का कारण प्रकृति रह ही जाती है क्योंकि प्रकृति तो नष्ट होगी नहीं। इसी प्रकार से बहुत से लोग वेदान्त विचार में भी यही सोचते हैं कि जगत् को उत्पन्न करने वाली अविद्या भी तो कुछ सत्ता रखती ही होगी! कई बार रोग को हटाने के लिये जब कोई उपाय बताया जाता है तो यद्यपि वह रोग को हटाने के लिये है, परन्तु उस उपाय को आदमी ऐसा पकड़ लेता है कि रोग के हटने के बाद भी उस उपाय का पकड़ना ही रोग हो जाता है! इसी प्रकार हमारा अनुभव है कि 'मुझे उस ब्रह्म का ज्ञान नहीं है,' इसको समझाने के लिये अविद्या की कल्पना की गई। लोग सोचते हैं कि वह अविद्या भी कोई चीज़ है! बस यही ज्ञानाभास का कारण है। इसलिये अनेक लोग वेदान्त की दृष्टि को नहीं समझने के कारण कह देते हैं कि व्यवहार में तो यह

है! अर्थात् व्यवहार में सच्चा है। व्यवहार अथवा व्यावहारिक का मतलब अविद्या से है, अज्ञान से होने वाली चीज़ है। जब तक यह याद रहे तब तक तो ठीक है। जैसे गणित शास्त्र में कई समस्याओं का हल करने के लिये एक कल्पित संख्या मानी जाती है। जैसे ऋण एक का वर्गमूल (√–१) अर्थात् जिन दो संख्याओं का गुणा करने से –१ आये! किन्हीं भी दो ऋणात्मक संख्याओं का गुणा करेंगे तो नतीजा धन (+) ही आयेगा, ऋण (-) कभी नहीं आयेगा। इस नियम के विरुद्ध एक संख्या की असम्भव कल्पना क्यों की? क्योंकि उससे कई समीकरण हल हो जाते हैं। समीकरण का हल देखकर उसे सच्ची संख्या मान लो तो मूलभूत गणित शास्त्र के सिद्धान्त का विरोध हो जाता है। इसी प्रकार से एकमात्र ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है, एकमात्र सत्रूप, चित्रूप आनन्दरूप है इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक कल्पना करते हैं कि अज्ञान से कुछ प्रतीति हो रही है। प्रतीति हो रही है – यह समस्या है। इस प्रतीति को समझाने के लिये गणित में कल्पित राशि (संख्या) की तरह हमने कल्पित अविद्या को रखा जिससे इसका समाधान हो जाये। बजाय यह कहने के कि 'तुमको संसरण का अनुभव नहीं हो रहा है,' कह देते हैं कि माया से हो रहा है। जबकि सच्ची बात यही है कि तुमने आजतक कुछ नहीं देखा! सुख-दुःख का अनुभव कभी हुआ ही नहीं! लेकिन इसके विरुद्ध कल्पना कर ली कि अज्ञान से हुआ। वह इसलिये ताकि जो तुमको 'हुआ' की प्रतीति है वह 'नहीं हुआ' यह तुम्हारी समझ में आये। परन्तु इस कल्पना को ही वास्तविक मानकर लोग बैठ जाते हैं और कहते हैं कि 'व्यवहार काल में तो है ही' मानो व्यवहार का कोई काल भी होता है, व्यवहार भी होता है! प्रणाश के लिये ही भगवान् ने शास्त्र के उपदेश का परिश्रम किया और अर्जुन ने सुनने का परिश्रम किया। यह परिश्रम भी सफल हो जब यह अज्ञान-सम्मोह प्रनष्ट हो जाये।

इसका अनुभव किससे है? अंतःकरण से ही इसका अनुभव है। जिस अंतःकरण से संसरण की प्रतीति है उसी से इसके प्रणाश की प्रतीति है। वास्तव में तो दोनों ही प्रतीतियाँ नहीं हैं। फिर क्या नष्ट हुआ? एक लड़का गलियारे में बैठा था। उसने देखा कि रुई से लदी एक ऊँटगाड़ी निकली, फिर दूसरी, तीसरी, चौथी गाड़ियाँ निकल गयीं। उसके दिमाग में ऐसा बैठ गया कि इतनी रुई आई है तो इसका क्या होगा, कब इसे धुना जायेगा, कब काता जायेगा, कब इसका कपड़ा बनेगा और कब यह यहाँ से जायेगी? जब दिमाग में ऐसी कोई ग़लत बात बैठ जाये तो फिर वही चूड़ी चलती रहती है। अब वह दिन-भर यही कहे कि 'कौन धुनेगा, कौन कातेगा कौन बुनेगा?' लोगों ने समझा इसे कोई रोग हो गया होगा। वैद्य ने भी दवाई आदि दी लेकिन कुछ नहीं हुआ। फिर लोगों ने सोचा इसपर कोई भूत-प्रेत आया होगा, तो झाड़े आदि दिलाये, कुछ नहीं हुआ। लोगों ने आशा छोड़ दी। कुछ समय बाद एक परमहंस महात्मा वहाँ आये। उस लड़के के माँ-बाप भी उन के दर्शन करने आये और बेटे को भी साथ लाये। उन्हें नमस्कार किया और कहा – 'स्वामीजी! इस लड़के का दिमाग खराब हो गया है।' स्वामी जी ने देखा कि बालक तो ठीक ही लगता है। पूछा- 'क्या खराबी है?' बालक फिर वही बोलने लगा – 'कौन धुनेगा, कौन बुनेगा' परमहंस को दया

आई, समझ गये और कहा – 'घबराओ नहीं, लड़का ठीक हो जायेगा।' स्वामीजी ने पहले उससे प्रेमसे पूछकर सारी बात समझी। फिर वे उसे कहानी सुनाने लगे 'रुई लदी ऊँटगाड़ियों का काफिला जो तेरे घर के सामने से निकला था वह जब ठिकाने पर पहुँचा तब रुई की बड़ी गठरियाँ खुलने लगीं। हिमालय की तरह चारों तरफ केवल रुई ही रुई रह गई।' यह सुनते-सुनते उस लड़के का रोग और तेज़ हो गया। महात्मा तुरन्त बोले 'एक गाड़ी वाले ने अपनी चिलम जलाई और उस चिलम की एक चिन्गारी जाकर उस सारे गट्ठर में पड़ी। वहाँ बड़ी भीषण आग लग गई और सारी रुई का पहाड़ जलकर राख हो गया!'। यह सुनते ही उसे शांति हो गई पूछा– 'सच में राख हो गई' बोले ' हाँ। न धुनना पड़ेगा और न कातना पड़ेगा, कुछ नहीं करना पड़ेगा।' वह लड़का ठीक हो गया, उसकी चिन्ता मिट गई।

इसी प्रकार से 'ते' अर्थात् अंतःकरण में बैठे जीव के कितने कर्म हैं, इस जन्म में कितने कर्म हमको करने बाकी हैं, इसी चिन्ता से हम परेशान हैं। इस जन्म के हमारे जितने प्रारब्ध कर्म हैं उन सबको भोगना भी है। जन्म देने वालों से अतिरिक्त भी संचित कर्म किये हैं, वे भी भोगने हैं। अनन्त जन्मों के कर्म भोगने हैं। यहाँ भी न जाने कितनी जिम्मेदारियाँ पूरी करनी हैं। दिमाग में यह चूड़ी- बाजा ग़लत भर गया है कि 'यह करना है, यह भोगना है'। इसलिये अंतःकरण कर्त्ता–भोक्ता है। ऐसे जीव को पहले शास्त्र कहता है – अनन्त सृष्टि है, इतने कर्म हैं जो कभी ख़त्म हो ही नहीं सकते। यह सब कर्तृत्व–भोक्तृत्व कैसे पैदा हुआ? बड़े ढंग से समझाया जाता हैः शरीर के बिना कर्म नहीं कर सकते, इन्द्रियों की भी ज़रूरत है, अनेक चीज़ों की ज़रूरत है। सबका मूल क्या है? यह अविद्या ही मूल है क्योंकि अविद्या के कारण ही सारी प्रतीतियाँ हैं। जब यह निश्चय हो गया कि सब अविद्या के द्वारा प्रसूत है तो फिर एक चिन्गारी लगी कि वह अविद्या है ही नहीं! बस, अविद्या नष्ट हो गई तो जिन सब चीज़ों के कर्त्तव्य का बोझा बाँधे हुए हो वे हैं ही नहीं, जिन कर्मों के भोग से परेशान हो रहे हो वे भोग हैं ही नहीं, वे तो सब जले हुए हैं। यह निश्चय होने पर फिर कभी भी पराङ्मुखता आ ही नहीं सकती। अतः भगवान् ने केवल 'पार्थ' नहीं कहा, साथ ही 'धनंजय' भी कहा। धन जीतने वाला धनंजय है। जीत पौरुष की होती है। अतः भगवान् का संकेत है कि यदि तू पार्थ से धनंजय बन गया, स्त्रीस्वभाव से पुरुष के स्वभाव में आ गया, तो प्रमादी स्वभाव को छोड़कर जीतने के स्वभाव वाला हो जायेगा। तब तो मेरा सुनाने का प्रयास और तुम्हारा सुनने का प्रयास दोनों सफल होंगे। किंतु यदि स्त्रीस्वभाव का ही रहकर 'लडूँ कि न लडूँ' ऐसा सोच रहा है तो फिर दूसरे ढंग से समझाऊँगा। आचार्य के लिये यह नियम करने के लिये भाष्यकर कहते हैं – 'यत्नान्तरम् आस्थाय शिष्यः कृतार्थः कर्त्तव्यः' शिष्य को जिस प्रकार से भी हो उस प्रकार से कृतार्थ करना चाहिये। आचार्य का नियम है कि किसी भी दृष्टान्त आदि उपाय का आश्रय लेकर शिष्य को कृतार्थ करे।।७२।।

ज्ञान की प्राप्ति हो गई इस बात को शिष्यरूप अर्जुन कहता है –

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह मिट गया, स्मृति आ गयी, संदेहरहित हुआ आपके अनुशासन में उपस्थित हूँ, आपकी आज्ञा का ही पालन करूँगा।

हे अच्युत! जो अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता वह ब्रह्म है। जीव वह है जो अहंकार के साथ एक होकर के अज्ञान से अपने को कर्त्ता-भोक्ता देखता है जबकि ब्रह्म वह है जो अपने स्वरूप से कभी च्युत होता नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि ये दो हैं! जैसे ही अपनी ब्रह्मरूपता का पता लगता है वैसे ही समझ आता है कि मैं कभी भी च्युत हुआ ही नहीं। 'अच्युत' से अर्जुन का कहना है कि जैसे आप स्वरूप में सर्वदा स्थित हैं वैसे ही मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ। स्वभाव से कभी कोई चीज़ अन्यत्र हो नहीं सकती। प्रतीति तो हो सकती है, परन्तु सचमुच मे स्वभाव नहीं बदल सकता। 'अच्युत' सम्बोधन के द्वारा बताया कि अपने अच्युत भाव को मैं समझ गया अर्थात् ब्रह्म सदा ही अच्युत है इस बात को मैंने जान लिया। 'मया' अर्थात् अहंकार से युक्त जो चिदाभास है उसने जाना। इसके द्वारा यह बताते हैं कि बंधन का अनुभव जिस प्रकार से अहंकार के साथ होकर होता है, मुक्ति का अनुभव भी वैसे ही अहंकार के साथ रहकर होता है। स्वरूप से न बन्धन है, न मोक्ष है। ब्रह्मभाव से कभी भी बद्ध नदी है और जीवभाव से कभी भी मोक्ष नहीं! जीवभाव की निवृत्ति ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। ठीक जिस प्रकार से छोटा बच्चा काँच के अन्दर किसी बच्चे को देखकर उससे कहता है 'आओ, आओ', वह नहीं आता है तो रोता है। माँ से शिकायत करता है कि 'यह आता नहीं है।' जब उसकी उम्र बड़ी होती है तब भी उसे दीखता तो वहाँ है लेकिन अब उसे पता है कि 'जो वहाँ दीख रहा है वह कोई दूसरा नहीं है, मैं ही आभासरूप से वहाँ प्रतीत हो रहा हूँ।' ठीक इसी प्रकार से अहंकारात्मिका वृत्ति के आभास को देखकर अपने को जीव समझता है और जब बड़ा हो गया, इस बात को समझ लिया, तब अहंकार में प्रतीत होने वाले अपने स्वरूप को आभास पहचानता है। इसलिये अर्जुन ने कहा 'मया' अर्थात् अहंकार की वृत्ति के द्वारा 'स्मृतिर्लब्धा' स्मृति की प्राप्ति हो गई।

मोह नष्ट हो गया। मोह ऐसी चीज़ है जो समुद्र की तरह पार करने में अशक्य लगती है। सचमुच तो इस संसार सागर को कोई पार नहीं कर सकता। जिस प्रकार मरुमरीचिका के अन्दर दीखने वाले जलाशय को कोई पार नहीं कर सकता, क्योंकि कोई तलैया होती तो पार भी करते! यह जलाशय है ही नहीं, प्रतीत होते हुए भी नहीं है। सारे अनर्थ का कारण – जो चीज़ जहाँ नहीं है उसका वहाँ दिखना है। यही मोह है। 'नष्टो मोहः' सारे संसार के अनर्थ का कारण, समुद्र की तरह दुस्तर यह मोह नष्ट हो गया। 'नश अदर्शने' धातु है

अर्थात् अब यह अदर्शन को प्राप्त हो गया, दीखते हुए भी नहीं दीख रहा है। इसलिये अन्यत्र भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह महान् आश्चर्य है कि जो अभी-अभी दीख रहा था वह नहीं दीख रहा है।

'स्मृतिर्लब्धा' आत्मतत्त्व- विषयक स्मृति की प्राप्ति हो गई। स्मृति का प्रसिद्ध मतलब होता है याद या स्मरण। स्मरण उस चीज़ का होता है जिसका पहले अनुभव किया हो। पहले ब्रह्मज्ञान था और फिर चला गया, ऐसा तो है नहीं, क्योंकि अज्ञान अनादि होने से यह सम्भव ही नहीं है। फिर यहाँ स्मृति शब्द का प्रयोग क्यों किया? स्मृति में किसी नई चीज़ की प्राप्ति नहीं होती। हमको पता है कि मघवा मायने इन्द्र। जब हम इसे याद करते हैं तब यह ज्ञान प्रकट हो जाता है। परन्तु जिस समय याद नहीं कर रहे थे उस समय में भी संस्कार मौजूद ही था। अतः जो प्राप्त है उसकी ही प्राप्ति स्मृति में माननी पड़ेगी। इसी प्रकार से ब्रह्म सदा प्राप्त है, उसी का ज्ञान होता है इसलिये इसमें स्मृति से साम्य हो जाता है अतः उसे स्मृति कह देते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में कहा 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (७.२६.२) वहाँ भी स्मृति का मतलब है ज्ञात का ज्ञान हो जाना। आत्मा तो हमेशा ज्ञानस्वरूप ही है। जैसे यहाँ पर बैठे हुए अकस्मात् यदि कोई बाहर से काँच के द्वारा सूर्य का चमचमाता हुआ, जगमगाता हुआ प्रकाश दिखा दे, तो देखने के साथ ही यह प्रश्न होता है कि 'यह कहाँ से आ गया!' क्या कहाँ से आ गया? प्रकाश कहाँ से आ गया। प्रकाश तो पहले ही वहाँ मौजूद है, अभी भी हमको यहाँ बैठे हुए दीख रहा है तो सूर्य के प्रकाश में ही दीख रहा है। सूर्य का प्रकाश तो दीख ही रहा है। परन्तु अकस्मात् *चमचमाता* हुआ प्रकाश आ जाता है तो कहा जाता है – यह प्रकाश आ गया। इसी प्रकार से प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूप हमेशा सब जगह सर्वत्र मौजूद है। उस ज्ञान के प्रकाश में ही तो हमें घट,पट आदि सब चीज़ों का ज्ञान हो रहा है। परन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्ति के द्वारा जो तेज़ प्रकाश आता है, है वह ज्ञान ही, लेकिन उसमें ब्रह्मरूपता स्फुट होती है। अतः 'स्मृतिलम्भे' कह कर बताया कि ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा यह 'प्राप्त होना' कहा जाता है। है तो पहले से ही प्राप्त। इसकी प्राप्ति होते ही 'सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' हृदय में जितने संशय विपर्यय होते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। जिस अर्थ में छांदोग्य में स्मृति शब्द का प्रयोग है उसी अर्थ में यहाँ पर भी स्मृति शब्द का प्रयोग किया।

एक और विशेष कारण भी है : आत्मा और अनात्मा में अन्योन्याध्यास है। वह अन्योन्याध्यास निवृत्त हुआ इसलिये तो स्मृति है ही। परन्तु पहले अज्ञान के कारण होने वाला जो दूसरा अज्ञान धर्म में अधर्मबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि होना कि मैं नहीं लडूँगा, यह आ गया था। अर्जुन युद्ध करने के लिये आया था और निश्चय था कि यह धर्म युद्ध है। जिस समय महाभारत युद्ध के स्थल की तैयारी हो गई थी तो धृतराष्ट्र ने अपना एक दूत भेजा था। उसने आकर युधिष्ठिर को उपदेश दिया था कि धृतराष्ट्र कहता है कि 'मेरे बच्चे तो बिलकुल नालायक हैं, बड़े दुष्ट हैं, किसी काम के नहीं हैं। तू बड़ा ही योग्य और धर्मात्मा है। हमारे कुरुकुल में तू ही धर्म का प्रदीप है। तू जानता है कि कुल को नष्ट करने

से बचाना पहला धर्म है। तू जिस युद्ध में प्रवृत्त हो रहा है उसमें अपने कुल का नाश होगा। अतः तू समझदार है, तू ही मान ले।' जैसे पिता का यदि छोटे बच्चे पर ज़्यादा प्रेम हो और वह दुष्ट व्यवहार भी करता है तो भी पिता बड़े को ही कहता है कि 'वह तो गधा है लेकिन तू समझदारी से काम कर,' ठीक इसी प्रकार धृतराष्ट्र ने दूत भेजकर युधिष्ठिर को ही समझाया। गीता के प्रथम अध्याय के अन्दर अनेक शब्द और अर्थ ऐसे हैं जो उस दूत ने कहे थे। धर्मराज युधिष्ठिर ने सुन लिया, वे तो जानते थे कि क्या धर्म है और क्या अधर्म है। इसलिये उन्होंने दूत से कहा कि 'उनसे कहो कि मैंने तो सारा प्रयत्न कर देख लिया, खुद कृष्ण को दूत बनाकर भेजा। इसलिये अब यह युद्ध नहीं टल सकता।' उस समय अर्जुन भी उपस्थित था, उसने भी कहा 'बिलकुल ठीक है, ये सब फालतू की बातें हैं।' परन्तु उसके संस्कार तो अर्जुन के मन में रह गये। युद्ध भूमि में उस नज़ारे को साक्षात् देखकर अर्थात् भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि सबको सामने खड़ा देखकर, उसके मन में मोह हो गया। कई बार ऐसा होता है कि वास्तविक परिस्थिति सामने आने पर आदमी को संस्कारों के कारण भ्रम हो जाता है। युद्ध के मैदान में आने तक तो अर्जुन को निश्चय था कि 'हम धर्म युद्ध करने जा रहे हैं और युद्ध करना ही है', परन्तु वहाँ जब संस्कार रूप से सारी बातें याद आ गयीं तो सोचने लगा कि 'हम सचमुच में अधर्म करने जा रहे हैं'। गीता सुनकर आत्मा–अनात्मा के विवेक के द्वारा स्मृति की प्राप्ति हुई वह तो है ही, परन्तु साथ में जो धर्म में अधर्म–बुद्धि और अधर्म में धर्म–बुद्धि हो गई थी, वह भी अब निवृत्त हो गई। इसलिये भी कहा 'स्मृतिर्लब्धा'।

'त्वत्प्रसादात्' अर्जुन स्पष्ट करता है कि मैंने तो कोई साधना की नहीं। मैंने केवल आपसे प्रश्न पूछा था। आपने ही कृपा करके मुझे ऐसा जवाब दिया जिससे मुझे जो आत्मा–अनात्मा विषयक भ्रम था वह निवृत्त हो गया। 'त्वत्प्रसादान्मया स्मृतिर्लब्धा' केवल आपके प्रसाद से ही अर्थात् आपने प्रसन्न होकर मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया इसलिए मुझे इसकी प्राप्ति हुई। इसके द्वारा गुरुरूप भगवान् से वह कह रहा है कि केवल गुरु की कृपा से ही ज्ञान हो जाता है। प्रसाद तो भगवान् का अर्जुन पर था ही। अर्जुन के सखारूप में भगवान् हमेशा उस पर प्रसन्न ही रहते थे। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये जिस वैराग्य की आवश्यकता है वह जब तक नहीं हुआ तब तक ज्ञान भी नहीं हो पाया। अतः गुरु के पास रहने पर भी जब तक वैराग्य नहीं हो जाता तब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं ही होती है। इसलिये अर्जुन का भाव है कि – आपका विशेष प्रसाद इसलिये है कि मेरे में वैराग्य दृढ देखकर आपने मुझे तत्त्व का उपदेश दिया क्योंकि इसके बिना आत्मा–अनात्मा विषयक संदेह दूर नहीं हो सकते थे। वैराग्य के कारण ही आपकी यह प्रसन्नता हुई। पहले भी आपने हम लोगों को अनेक दुःखों से उबारा है। आपने पहले कभी आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं दिया। वैराग्य से होने वाली जो परमात्मा की प्रसन्नता है, वह विलक्षण प्रसन्नता है।

इस प्रकार अपना अनुभव कहकर और गुरु के प्रति अपनी पूर्ण शरणता को कहकर

घोषणा करता है 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः' 'युद्ध करना चाहिये या नहीं करना चाहिये' यह जो मेरा संदेह था, इस संदेह का मूल यह अभिमान था कि मैं युद्ध कर सकता हूँ या नहीं कर सकता हूँ। भगवान् के उपदेश को सुनकर यह पता लगा कि न मैं कर सकता हूँ, न मैं नहीं कर सकता हूँ क्योंकि कर्तृत्व तो मुझमें है ही नहीं। अतः 'करूँ या न करूँ' यह जो संदेह था वह सर्वथा निवृत्त हो गया। इस प्रकार मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ - इस निश्चय में गतसंदेह स्थित हो गया अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर गया। जो प्रकृति का कार्य शरीर, इन्द्रियाँ आदि हैं वे अब *मेरे* नहीं हैं। वे तो सारे पांचभौतिक के मालिक होने के कारण आपके हैं, अतः 'करिष्ये वचनं तव', देहादिसंघात अपने आप आपके निर्देशों का पालन करेंगे। जो आपने कहा था 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' वह प्रकृति ही प्रवृत्त करेगी, मैं तो अपने अकर्त्ताभाव में स्थित हूँ। यह सारा युद्ध होने पर भी 'मैं युद्ध कर रहा हूँ' यह भावना नहीं आनी है।

इस प्रकार मोह के नष्ट होने के प्रश्नोत्तर से यह बता दिया कि सारे शास्त्र का तात्पर्य ज्ञान का फल अपने अकर्तृत्व भाव में स्थित हो जाना ही है। जब तक दृश्य की प्रतीति हो, तब तक 'ये सब परमेश्वर के संकल्प के कारण प्रतीतियाँ चल रही हैं' यह निश्चय रखना है। शरीर, मन आदि को क्रिया करते देखकर कर्तृत्व भाव का उदय न होने देकर अच्युत भाव से रहना चाहिये। मुझ से भिन्न कोई ईश्वर है जो इन्हें चला रहा है - ऐसा नहीं समझना चाहिये। माया की उपाधि के द्वारा मुझ ब्रह्म ने ही जो संकल्प किया उस संकल्प के फलस्वरूप जब तक प्रारब्ध है तब तक इसकी प्रतीति भी हो रही है। वस्तुतः यह है नहीं। यही सारे ज्ञान का फल है - ब्रह्मविषयक अज्ञान हट जाये और इसमें कोई संशय-विपर्यय न रह जाये। इसीलिये छांदोग्यश्रुति में भी नारद यही कहते हैं 'सोहं भगवः शोचामि' 'मैंने वेद आदि सब शास्त्र पढ़लिये परन्तु फिर भी मेरा यह शोक गया नहीं। मैं इस बात को जानता हूँ कि आत्मज्ञान शोक का नाशक है। इसलिये मैंने चाहे जितने शास्त्र पढ़ लिये लेकिन मेरा शोक गया नहीं तो निश्चय है कि आत्मज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यदि आत्मज्ञान हुआ होता तो शोक का अनुभव नहीं होता।' वेदान्त शास्त्र दृष्ट-फलक है अर्थात् इसका फल प्रायः यहीं हो जाता है। धर्म आदि की तरह इसका फल बाद में ही नहीं होता। ठीक जिस प्रकार से वेद कहता है कि धान में से चावल निकालो। धान में से चावल निकला या नहीं - यह तो आँख से देखकर पता लग जाता है। तब तक तुष अलग करो जब तक चावल तुम्हारे सामने प्रत्यक्षरूप से मौजूद न हो। अतः यह नहीं कह सकते कि 'चार से दस दिन तक कूटो'। इसी प्रकार भगवान् वेद व्यास कहते हैं 'आवृत्तिः असकृद् उपदेशात्'। कब तक आत्मज्ञान का अनुसंधान करें? जब तक यह अनुभवरूप हो जाये, तब तक करो। जब उस एकता के अन्दर स्थित हो जाते हैं तब हृदय की सारी गाँठें खुल जाती हैं अर्थात् नष्ट हो जाती हैं। इसके बाद जो पहले माया-उपाधि से संकल्प किया गया था उसके द्वारा ही देह आदि स्थित रहेंगे।

'करिष्ये वचनं तव' से अर्जुन स्पष्ट करता है कि मेरा कोई भी इष्ट नहीं है। कोई भी

राग या द्वेष नहीं है। दृश्य में सत्यता की बुद्धि भी नहीं है। इसलिये, पहले से ही प्रारब्धने जो निर्णीत कर दिया है, बस वही यह शरीर आदि करता रहेगा। इसके द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि आत्मज्ञान होते ही जीव कृतकृत्य हो जाता है। जो कुछ करना है वह सब कर लिया। उसके बाद उसके करने का कुछ नहीं रहा। अब तो परमेश्वर के अनुसार सब ही कुछ होना है। यही वह सर्वकर्मसंन्यास है जिसको ज्ञान के फलरूप से भगवान् भाष्यकार बार-बार सर्वकर्मसंन्यास या विद्वत्- संन्यास कहते हैं। इस संन्यास के लिये किसी प्रकार की विधि प्रवृत्त नहीं होती। अकर्तृत्वात्मबोध के लिये कर्ममात्र की समाप्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसके द्वारा वह भी संकेत है जो भगवान् ने कहा था कि 'बाकी सारे कर्त्तव्यों को छोड़कर एकमात्र उस परमात्मभाव की ही शरण में रहो, उसी को अपना आश्रय बनाओ'। इस प्रकार से शिष्य की स्थिति बताकर सर्वकर्मसंन्यास में परिसमापन कर दिया।।७३।।

अब कथा का संबंध बताना ही बाकी रह गया। गीता के प्रारंभ में धृतराष्ट्र का प्रश्न था कि 'युद्ध की इच्छा से मेरे पुत्र और पाण्डव दोनों एकत्रित हुए तो युद्ध किया या नहीं किया?' धृतराष्ट्र का यह प्रश्न संजय से था। संजय ने युद्धारंभ के वर्णन में सारी गीता सुनाई। वस्तुतः महाभारत के अंदर सर्वाधिक महत्त्व का प्रंसग यह गीता ही है। इसलिये कहा जाता है कि महाभारत के अन्दर हृदयरूप से इसकी स्थिति है। जैसे हृदय हमारे सरे अंगों को चलाने वाला है, हृदय की रक्षा के लिये सारे प्रयत्न किये जाते हैं, उसी प्रकार से गीता के लिये ही सारा महाभारत इतना महान् माना जाता है। इस कथा- प्रसंग को ख़त्म करते हैं-

संजय उवाच
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

संजय ने कहा 'वासुदेव और महात्मा पार्थ के इस अद्भुत व रोमांचक संवाद को मैंने सुना।

'वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः' माया शक्ति के अधिष्ठाता भगवान् वासुदेव हैं जिनके अन्दर सारे देवता बैठे हैं। सारे देवता एकमात्र ब्रह्म में ही अध्यस्त हैं। इसलिये ऋग्वेद भाष्य-भूमिका में आचार्य सायण कहते हैं 'इन्द्र वरुण आदि अनेकों नाम देखकर लगता है कि देवता अलग-अलग हैं लेकिन इन शब्दों से एकमात्र परमेश्वर को ही कहा जा रहा है।' जिस प्रकार से एक ही आदमी ऑफिस में 'बड़े बाबू', घर आता है तो पत्नी के द्वारा 'मुन्ने के बाबूजी', माता के द्वारा 'बबुआ' कहा जाता है, लेकिन व्यक्ति तो एक ही है, इसी प्रकार से बल इत्यादियों का अधिष्ठाता परमेश्वर इन्द्र नाम से कह दिया गया, सारी दृष्टियों के अभिमानीरूप से उसे आदित्य कहा गया, इस प्रकार से एकमात्र परमेश्वर ही इन सब शब्दों के द्वारा कहा जा रहा है। उसी को सब आहुति देते हैं। इस प्रकार मायाधीश सर्वव्यापक जो

परमेश्वर है, साक्षात् उन्होंने ही इस गीता को कहा। और 'महात्मनः पार्थस्य च' अर्जुन भी महात्मा है क्योंकि वैराग्य की दृढता के द्वारा इसने अपने अक्षुद्र भाव को प्राप्त कर लिया है। वासुदेव और पार्थ दोनों ही महात्मा हैं। अर्जुन तब तक था जब तक उसने अपने को अहंकार के साथ एक समझ था। जब उसने अपने को उससे अलग केवल अधिष्ठानमात्र समझ लिया तब वह महात्मा है। संजय कहता है कि इन दोनों का अद्भुत और रोमहर्ष पैदा करने वाला संवाद मैंने सुना। वही संवाद आप को (धृतराष्ट्र को) सुना दिया। वह संवाद कैसा है? अद्भुत है। अद्भुत उसे कहते हैं जिसे देखकर विस्मय होता है। जो चीज़ और कहीं देखी नहीं जाती उसे देख लें तब विस्मय होता है। ठीक जिस प्रकार से कोई आदमी एक छोटे से प्याले में से एक बड़ा भारी बन्दर निकाल कर दिखा दे तो विस्मय होता है। क्योंकि ऐसा सब समय देखा नहीं जाता।

एक बार कहीं सर्कस हो रहा था। एक महात्मा भी देखने गया। वहाँ एक जगह बोर्ड पर लिखा था कि 'यहाँ सूअर की बोली बोली जाती है,' टिकट था पाँच रुपये का। भीड़ इकट्ठी हो गई तो एक आदमी आया और सूअर की आवाज़ निकालने लगा। लोगों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की कि 'बहुत अच्छा खेल है।' महात्मा ने सोचा – इसमें तो बहुत पैसे इकट्ठे हो जाते हैं। महात्मा ने भी वहीं थोड़ी दूर पर बोर्ड लगाकर लिख दिया 'यहाँ सूअर की बोली बोली जाती है। टिकट केवल दो पैसे।' वहाँ भी लोग खूब इकट्ठे हो गये। महात्मा ने एक सूअर को लाकर डण्डा मारा और वह ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगा। सब लोग कहने लगे – 'यह धोखा है, यह कोई खेल नहीं है'! महात्मा ने कहा 'यह दुनिया कैसी है! मैंने असली सूअर की बोली सुनाई तो कोई कीमत नहीं और वे नकली सुनाते हैं तो उसके लिये पाँच रुपये देने को तैयार हैं!' सूअर तो रोज़ बोली बोलता है अतः उसमें कोई विस्मय नहीं, आदमी वैसा बोले तो बड़ा आश्चर्य होता है।

यह गीतारूप संवाद अद्भुत है, विस्मय करने वाला है। इसमें दोनों विस्मय वाली बातें हैं – उपदेश करने वाला गुरु भी विस्मयकारी है क्योंकि गुरु वह है जो जानता है कि यह संसार है नहीं! 'संसार है' यह मानकर तो सब उपदेश देते हैं। शिष्य अज्ञानी है, यह मानकर तो सब उपदेश देते हैं। परन्तु 'संसार है ही नहीं और शिष्य ज्ञानस्वरूप है' यह जानकर ही ब्रह्मनिष्ठ उपदेश देता है। यह देखकर विस्मय होता है। और दूसरा कारण है कि बाकी सब के उपदेश के द्वारा कुछ जानकर कुछ किया जाता है जबकि इस उपदेश के बाद करना हट जाता है। यह भी बड़ा भारी विस्मय है। इसलिये जब आत्मज्ञान का विचार किया जाता है तो कई बार पंजाबी लोग पूछते हैं कि 'आत्मज्ञान की बात तो समझ में आ गई लेकिन हम करें क्या?' हमें समझ में आ जाता है कि इन्होंने कुछ नहीं समझा! अतः वेदान्त सुनने वाला भी एक विस्मय कराने वाली चीज़ है कि सारा सुनकर भी कुछ करता नहीं है। इसलिये अद्भुत है। गुरु व शिष्य दोनों ही अत्यंत विस्मय करने वाले हैं। इसलिये दोनों ही विस्मयकारी चीज़ें हैं।

और यह संवाद रोमहर्ष पैदा करने वाला है। यह संवाद ऐसा है जिसे सुनकर रोयें खड़े हो जाते हैं। हृष धातु के कई अर्थ हैं। एक अर्थ तो प्रत्याख्यान है। यदि कोई एक-दो चीज़ों को नष्ट करे या नकार दे तो भी बड़ी बात होती है। अनादि काल से चला आया और अनंतकाल तक रहने वाला ऐसा प्रतीत होते संसार का वह प्रत्यख्यान कर देता है इसलिये इस अद्‌भुत संवाद को सुनते ही रोमांचन हो जाता है। हृष् धतु का अर्थ प्रसन्नता है ही। भय से भी रोमहर्ष होता है और अत्यंत विस्मय से रोमहर्ष होता है। यहाँ पर विस्मय को तो संजय ने 'अद्‌भुत' शब्द से कह दिया है। इसके द्वारा संजय संकेत करता है कि उसने भी इस निष्ठा को प्राप्त कर लिया इसलिये उसे परम आनन्द के साथ रोमांच हो रहा है। यह संवाद कोई *श्रवण* करे और परमात्म-प्राप्ति न हो यह हो, नहीं सकता! अर्जुन को उपदेश दिया, उसे तो हुआ ही, परन्तु संजय कहता है कि 'मैंने सुना इसलिये मुझे भी तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति हो गई।'

भगवान् कृष्ण और अर्जुन दोनों ने प्रश्नोत्तर के रूप में संवाद किया। जब किसी चीज़ की वास्तविकता को जानने के लिये आपसे में बातचीत की जाती तो उसे वाद कहते हैं। जब किसी सत्य को समझाने के लिये बात की जाती है तब तो वह वाद कहा जाता है। यदि दूसरे की बात को काटने के लिये और अपनी बात को सिद्ध करने के लिये किया है तब उसे जल्प कहते हैं। जल्प में दूसरे की बात को काटना है और अपनी बात को सिद्ध करना है। जहाँ केवल दूसरे की बात के खण्डन के लिये बोला जाए वह वितण्डा कहा जाता है। संजय ने इसे संवाद कहा अर्थात् उन्होने भली प्रकार से भगवान् से तत्त्व का निर्णय समझा।।७४।।

संजय बताते हैं कि कृष्ण और अर्जुन की बात को उन्होंने कैसे सुन लिया -

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् एतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयं।।७५।।

स्वंय बोलते हुए साक्षात् योगेश्वर श्री कृष्ण से मैंने यह परम गुह्य योग व्यास जी की कृपा से सुना।

यद्यपि युद्ध के बीच में यह उपदेश दिया गया परन्तु जिस ढंग से उपदेश दिया गया था वह वहाँ किसी दूसरे ने नहीं सुना। इसका कारण चाहे अन्य लोगों का अन्य-अन्य कार्यों में व्यस्त होना था अथवा भगवान् ने इसे इतने ही ज़ोर से कहा कि अर्जुन ही सुन सके। भीड़ में भी यह सम्भव है कि मंदस्वर में बात करें ताकि एक ही सुने, दूसरे न सुनें। यह गुह्य ज्ञान है, गुहा में स्थित आत्मतत्त्व का ज्ञान है। सच्चिदानन्दरूप जो परब्रह्म परमात्मा है वह हृदयरूपी गुहा में स्थित है। अतः बहिर्मुख वृत्ति वाला इसको सुनकर भी ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। शब्दमात्र से इस तत्त्व को समझाया नहीं जा सकता। यह तो तभी समझा जा सकता है जब इसे अपनी हृदय गुहा के अन्दर भली प्रकार से अनुभव के साथ मिलाकर सुना जाये और भली प्रकार से अनुभव के साथ मिलाकर सुनाया जाये। और गुह्यों में भी

यह ऐसा गुह्य है कि इसे परम गुह्य कहा। सारी श्रुति गुह्य तत्त्व का ज्ञान है, इससे गुह्य और कोई चीज़ नहीं है। यह जो परम गुह्य ज्ञान है, इसको मैंने सुना। और भगवान् का विश्वरूप देखा। संजय को कहा था कि 'युद्ध में जो कुछ भी गुप्त से गुप्त घटना होगी वह सब तुमको ज्ञात होगी।' अतः इसने भगवान् को केवल बोलते नहीं सुना, भगवान् ने जब ध्यान करने के लिये अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया तब उस विश्वरूप का दर्शन संजय ने भी किया था। इसलिये श्रुतवान् का यह मतलब है कि उसने सुना भी और देखा भी। 'श्रुतवान्' अर्थात् ऐसा श्रवण किया कि जिससे उसे तत्त्व का निर्णय हो गया।

यह उपदेश क्या है? योग है अर्थात् आत्मज्ञान को अपरोक्ष साक्षात्कार के उपाय सहित यहाँ बताया गया है। इसको सुनना और समझना ही उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का सबसे बड़ा योग या उपाय है। श्रवण ही तत्त्वज्ञान का उपाय है। मैंने सुना, इसलिये मैं अनुभव के साथ कह सकता हूँ कि यह सुनना तत्त्वज्ञान देता है। किससे सुना? 'योगेश्वरात् कृष्णात्' जो योगों के ईश्वर हैं अर्थात् सारी साधनाओं को भली प्रकार से अनुभूत करने वाले जो ईश्वर हैं, उनसे सुना। सब कर्मों का फल परमेश्वर देता है। सभी साधनायें क्रियारूप होने से कर्म हैं। इसलिये साधनाओं का फल देने वाले परमेश्वर ही हैं। 'योगेश्वर' होने से योग का फल देने वाले वे ही हैं। इसलिये भगवान् ने कहा भी है 'ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते' कि यह जो ज्ञान, जो ब्रह्माकार वृत्तिरूप बुद्धि है, यह मैं ही देता हूँ। संजय कहता है कि उनके कहे हुए को ही मैंने सुना अर्थात् और किसी के माध्यम से नहीं सुना। जैसा अर्जुन ने योगेश्वर कृष्ण से सुना, वैसा ही मैंने भी सुना।

कृष्ण नाम लेकर यह संकेत भी कर रहा है कि ज्ञानावतार भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास और भगवान् कष्ण दोनों एक ही हैं। इसलिये व्यास का प्रसाद भी इसीलिये है कि भगवान् कृष्ण का मेरे ऊपर अनुग्रह है। अतः योगेश्वर जो कृष्ण हैं उन्हीं के कारण मुझे व्यास जी ने कृपा करके विश्वरूप देखने की शक्ति दी। अर्जुन को भी स्वचक्षु से विश्वरूप नहीं दिखाई दिया था, भगवान् की दिव्यचक्षु से ही दीखा था! छान्दोग्य में मन को दिव्य चक्षु कहा और अनेक जगह उपनिषदों में बताया है कि मन के द्वारा ही परमात्मा को जाना जाता है। जो कुछ यह संसार प्रतीत हो रहा है, यह प्रतीत होने पर भी है नहीं। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन'। मन ही वह दिव्य चक्षु है जिससे भगवान् के दिव्य विश्वरूप का दर्शन होता है। परन्तु वह मन शास्त्र के संस्कारों से युक्त होना चाहिये और संशय विपर्यय से रहित होना चाहिये क्योंकि यह आत्मतत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है। 'एषोणुरात्मा' यह आत्मा अत्यंत सूक्ष्म है अतः शुद्ध चित्त के द्वारा ही इसका ग्रहण किया जा सकता है, इसको जाना जा सकता है। संजय का कहना है कि भगवान् चूँकि अनुग्रह करके मुझे इस गुह्य ज्ञान को देना चाहते थे अतः उन्होंने व्यासरूप से मेरे ऊपर कृपा की।

कृष्ण कैसे हैं? 'साक्षात्' वे साक्षात् अपरोक्ष, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्होंने स्वयं इसे कहा। जितने परोक्ष विषय हैं उनको जानने के लिये तो किसी माध्यम की ज़रूरत

है। रूप देखने के लिये आँख, रस लेने के लिये जीभ, शब्द-ज्ञान के लिये कान चाहिये, इंद्रियों के माध्यम से हम देखते, चखते, सुनते हैं। इसी प्रकार अनुमान आदि प्रमाणों से जानने के लिये मन चाहिये। मन के बिना अनुमेय वस्तुओं को नहीं जान सकते। परन्तु अपने आपको जानने के लिये किसी उपाय की ज़रूरत नहीं है। जब हमको गहरी नींद आती है तो मन, बुद्धि कुछ नहीं रहते, परन्तु उठकर हम कहते हैं 'मैं बड़े सुख से सोया'। वहाँ सुख से सोने का पता न हमको मन से, न इन्द्रियों से लगा। अतः वह साक्षात् है। बिना किसी माध्यम के जानते हैं। आत्मा अपने आपको जानने के लिये किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये श्रुति उसे 'यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' कहती है। ऐसे जो साक्षात् कृष्ण हैं, उन्होंने स्वयं कहा। कृष्ण शब्द का अर्थ क्या है? जीव और ईश्वर की एकता जहाँ प्रकट है वही कृष्ण है। अतः तात्पर्य है कि साक्षात् ब्रह्मरूप से ही उन्होंने उपदेश दिया। ऐसे श्री कृष्ण ने स्वयं उपदेश दिया। सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने ब्रह्मा को वेद का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने ऋषियों को ज्ञान दिया, ऋषियों ने आगे अधिकारियों को ज्ञान दिया। इस प्रकार से परमात्मा से हम वेद के तात्पर्य को समझते हैं। ब्रह्माजी ने परमेश्वर से ही जाना, हम लोग परम्परा से ही वेदको जानते हैं। वही परब्रह्म परमात्मा कृष्णरूप से स्थित होकर जब इसका उपदेश देते हैं तो यह परम्परा वाला उपदेश नहीं कहा जाता है, ये तो वही हैं जिन्होंने सबसे पहले ब्रह्मा को उपदेश दिया; उन्हीं ने अर्जुन को उपदेश दिया। भगवान् वेदव्यास ने महाभारत की रचना सारे वेदों के तात्पर्य को बताने के लिये की। इसलिये महाभारत के अंत में वेदों का प्रवर्तन करने वाले व्यास जी ही लिखते हैं कि जो यहाँ (महाभारत में) है वह तो कहीं हो सकता है परन्तु जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है! इस प्रकार महाभारत में भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने सारे वेद का रहस्य बता दिया है। जैसे वेदों के अन्दर उपनिषद् उसके तात्पर्य को बताने वाली हैं उसी प्रकार महाभारत का तात्पर्य बताने वाली गीता ही है। उपनिषद् की तरह इसमें साक्षात् ब्रह्म का वर्णन हुआ। गीता की पुष्पिका में भी इसे बार-बार उपनिषद् ही कहा जाता है। इसलिये संजय कहते हैं कि जैसे स्वयं भगवान् साक्षात् नारायण से ब्रह्मा ने सुना वैसे ही मैंने भी सुना। इसके द्वारा अपने अहोभाग्य को बताते हैं।।७५।।

श्रवण करके बहुत से लोग भूल जाते हैं पर संजय कहते हैं कि मैं इस प्रकार से भूला नहीं हूँ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

राजन्! केशव व अर्जुन के इस पवित्र अद्भुत संवाद को बार-बार याद कर-करके मैं बार-बार आनन्दमग्न हो रहा हूँ।

हे राजन्! यह जो अद्भुत संवाद है, इसके अन्दर भगवान् ने जो विश्वरूप दिखाया है

इसके द्वारा उन्होंने इस संसार को सर्वथा मिथ्या सिद्ध कर दिया। संसार के अन्दर सब चीज़ों में देश–परिच्छेद है। जो चीज़ एक देश में है वह दूसरे देश में नहीं है। जैसे हम आबू में बैठे हुए हैं तो दिल्ली में बैठे हुए नहीं हैं। सारी चीज़ें देश–परिच्छेद वाली होती हैं। अर्जुन ने जब विश्वरूप का दर्शन किया तब वह देश–परिच्छेद प्रतिबद्ध था। वह अपना अनुभव कहता है 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्'। कहाँ ब्रह्मलोक, कहाँ वैकुण्ठ लोक और कहाँ कैलास लोक, पुराणों में सभी को दूर–दूर देश में बताया है। वे सब भगवान् कृष्ण के शरीर में ही दीख गये! अतः देशपरिच्छेद से रहित वह परमात्म तत्त्व है यह सिद्ध हो गया। दूसरा, संसार के अन्दर काल परिच्छेद है। कल १३ तारीख थी, आज १४ तारीख है, आज १३ तारीख नहीं है, कल १४ तारीख नहीं थी। एक काल में जो चीज़ होती है वह दूसरे काल में नहीं होती। विश्वरूप में अर्जुन ने देखा 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति' भीष्म द्रोण इत्यादि भगवान् के मुख में घुस रहे हैं। इस प्रकार से जो भीष्म इत्यादि उस समय जीवित थे वे ही वहाँ मरे हुए दीख रहे थे! अर्थात् एक–साथ ही भविष्य और वर्त्तमान को उस विश्वरूप में अर्जुन और संजय दोनों ने देखा। ऐसा पदार्थों का देशकाल–परिच्छेद न रहे, यह केवल मिथ्या में ही सम्भव है। यह बात न आरम्भवाद में और न परिणामवाद में समझ में आ सकती है। अतः कहा गया है कि जो बीत गया और जो अभी आया नहीं वह सब तत्त्वधी से हाथ में रखे हुए बिल्व की तरह दीख जाता है। सारी अवस्थायें एक साथ ही माया से सम्भव हो जाती हैं। विवर्तवाद का साक्षात् अनुभव विश्वरूपदर्शन में भगवान् ने अर्जुन को करा दिया। आरम्भवाद में यह संगत नहीं हो सकता है। घड़ा जब होगा, तभी होगा। यह नहीं कह सकते कि इसी समय में घड़ा है और फिर घड़ा होगा भी! इसी प्रकार से परिणाम में भी यह नहीं कह सकते कि इसी समय में यह मिट्टी कुल्हड़ और घड़ा दोनों रूपों से विद्यमान है। एक रूप आयेगा तो दूसरा रूप जायेगा। इस प्रकार परिणामवाद और आरम्भवाद, दोनों में यह नहीं बन सकता। यदि यह माया न हो तो विश्वरूप का दर्शन संभव नहीं और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का दर्शन भी सम्भव नहीं। इसलिये वसिष्ठ जी कहते हैं कि जिस प्रकार से एक पत्थर के ऊपर सारी रामलीला खोद दो तो जैसे वहाँ एक जगह में सीता–हरण हो रहा है वैसे ही दूसरी जगह रावण का दहन हो रहा है! ऐसा तभी बन सकता है जब यह माया हो। अतीत काल की चीज़ और आगे आने वाली चीज़ दोनों का युगपत् होना तो देश कालादि का अतिक्रमण है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब इकट्ठे रहें, दिल्ली, बम्बई आदि देश इकट्ठे रहें, आरम्भवादी और परिणामवादी इसका कोई दृष्टांत नहीं दे सकते।

वेदांत के दृष्टांत स्वप्न में ही यह सम्भव है। यहीं पर सोते हुए हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा सकते हैं। जो पिताजी मर गये वे अभी दिखाई देते हुए बात कर सकते हैं। जो पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, वह पुत्र दिखाई दे सकता है कि ऐसा बेटा पैदा होगा। इसी प्रकार ऐन्द्रजालिक माया के द्वारा अतीत अनागत सब दिखा देता है। नाखून के ऊपर केला, हज़ारा

सब दिखा देता है। कोई चीज़ खोई है, तो कहाँ है यह भी दिखा देता है। जैसे स्वप्नसृष्टि या माया की सृष्टि कल्पना ही है, वैसे ही संकल्पमात्र से ही यह सृष्टि है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि परमात्मा संकल्प से ही सब कुछ कर देता है। इसलिये यह प्रकृति का खेल नहीं है, यह तो जिस प्रकार से ऐन्द्रजालिक हम लोगों को दिखाता है वैसे ही ईश्वर हमको दिखा रहा है। जैसे जब ऐन्द्रजालिक दिखाता है तब हमारी आँखें 'बाँध' देता है, या निद्रा रहे तभी तक स्वप्न दीखता है, इसी प्रकार सारा जगद्रूप इन्द्रजाल उनके लिये है जिनकी आँखें बँधी हैं । जो परमात्मज्ञान वाले नहीं हैं उनके लिये ही यह सारा विश्व है। सब प्रकार से संशय-विपर्यय से रहित जो शुद्ध अधिष्ठान की दृष्टि वाले हैं, जिन्होंने तत्त्वमस्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति बना ली है, उनके लिये यह द्वैत माया नहीं है, न माया का कार्य है। अधिष्ठान ही एकमात्र इन सब रूपों से प्रतीत हो रहा है, उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसलिये संजय कहता है कि इस प्रकार अद्भुत प्रकार से सारी सृष्टि को मिथ्या बताने वाले इस अद्भुत संवाद को मैं बार-बार स्मरण कर रहा हूँ। वेदव्यास भी कहते हैं कि अनादिकाल के संशय-विपर्ययों को हटाने के लिये जब-जब वे उठें तब-तब आवृत्ति करो, इस विश्वरूप ऐन्द्रजालिकता का स्मरण करके उन्हें काटते रहो। जब संशयादि प्रतीत न हो तब कुछ भी करने की ज़रूरत नहीं है। ठीक जिस प्रकार से सिर में दर्द हो तो एस्प्रो की गोली खा लो। एस्प्रो खाते रहो – यह नियम नहीं है। डाक्टर लिखता है 'यथावश्यक' अर्थात् जब ज़रूरत हो तब ले लो। इसी प्रकार जब-जब जगत्-प्रतीति होने लगे वैसे ही ऐन्द्रजालिकता की गोली खा लो। यदि कहीं तब परागू-दर्शियों का काम किया, 'इसको ऐसे ठीक कर लूँगा' तो बस, फिर गोरख धंधों में पड़ जाओगे! जैसे गोरख धंधा एक बार हिल गया तो उलझता ही जायेगा, सुलझेगा नहीं, इसी प्रकार एक बार क्षणमात्र को भी यदि सोच लिया कि 'इसे ऐसा करूँगा तो ठीक हो जायेगा', तो फिर पता नहीं कितने जन्मों तक ठीक करते ही रहोगे। अतः जैसे ही इसकी प्रतीति हो, तुरंत इसे इन्द्रजाल समझ लो योगवासिष्ठ के अन्दर भृगुमहर्षि की कथा आती है। वे ध्यान में छोटी-सी चीज़ को सोचने लगे तो एक के बाद एक कई जन्म होते चले गये। इसलिये केवल संस्मृत्य न कहकर बार-बार स्मरण कहा अर्थात् अधिष्ठान से अतिरिक्त किसी भी चीज़ की प्रतीति हो तो उसे तुरन्त अधिष्ठान में बदल दो कि 'जो दीखता है वह सद्रूप चिद्रूप ही है।' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इस प्रकार बार-बार आवृत्ति करके इसको दृढ कर लेना चाहिये।

'केशवार्जुनयोः पुण्यं'; केशव शब्द का प्रयोग पहले भी किया था जिसमें 'क' ब्रह्मा का 'ईश' शंकर का और व विष्णु का नाम है। ब्रह्मा अर्थात् परमेश्वर की सृष्टि करने की शक्ति, ईश अर्थात् संहार की शक्ति, 'व' अर्थात् उसे जीवित रखने की शक्ति। सृष्टि, स्थिति, लय शक्ति वाला परमेश्वर केशव है। और अर्जुन अर्थात् श्वेत शुद्ध अंतःकरण वाला। तत् पदार्थ मायाविशिष्ट चेतन सृष्टि स्थिति लय करने वाला, और त्वम्पदार्थ, दोनों को अखण्डबोध से एक कर देना है। यही पुण्य है इससे बड़ा और कोई पुण्य नहीं कि जो अनन्त काल से

आये हुए सारे कर्म बन्धनों को नष्ट कर देता है। शुद्ध अंतःकरण और तत् पदार्थ, इन दोनों का ही यह संवाद है। इसी का तत्त्व-निर्णय है। इसके द्वारा यह भी बता दिया कि साधारण व्यक्ति अगर इस संवाद को बार-बार स्मरण करता है तो वह पुण्य प्राप्त होता है जो पुण्य उसे अंततोगत्वा परमात्मगति को देने में समर्थ कर देता है। इसलिये 'मुहुर्मुहुः' बार-बार मैं हर्षित हो रहा हूँ कि अत्यंत धन्य मैं हूँ 'धन्योऽहं कृतकृत्योऽहम्' ।।७६।।

कैसे हर्षित हो रहा हूँ?

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

राजन्! हरि के उस अतीव अद्‌भुत रूप को याद कर-कर के मुझे महान् विस्मय और बार-बार हर्ष हो रहा है।

'हरेः तद् अद्‌भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य' परमेश्वर हरि का जो अद्‌भुत रूप विश्वरूप था उसका मैं बार-बार स्मरण कर रहा हूँ। इस प्रकार यही कह रहे हैं कि बार-बार संसार की मायिकता का पुनरावर्तन करने से ही अधिष्ठान में स्थिर रह सकते हैं। परमेश्वर से अतिरिक्त इसे कुछ विशिष्ट मान लिया तो बंधन फिर वैसा का वैसा हो जाता है। इसलिये संजय ने कहा कि विश्वरूप को बार-बार स्मरण करता हूँ कि देश-काल-वस्तु का परिच्छेद केवल इन्द्रजाल मात्र है, और कुछ नहीं है। हे राजन्! उसको देख कर मुझे अत्यंत विस्मय हुआ। मैं इसे समझ सका, इसका साक्षात्कार कर सका, इसलिये पुनः पुनः हर्षित होता हूँ।।७७।।

अब संजय अपनी अंतिम बात कहते हैं –

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम
अष्टादशोऽध्यायः

जहाँ योगेश्वर कृष्ण और जहाँ धनुर्धर पार्थ है वहीं श्री, विजय, वैभव और स्थिर नीति (नैतिकता) है यह मेरा निश्चय है।

संजय कहते हैं कि अब तुम इस संवाद को सुनकर समझ लो कि सारे कर्मों का फल देने वाले परब्रह्म परमात्मा कृष्ण जहाँ हैं और जहाँ गाण्डीवधन्वा पार्थ है अर्थात् जहाँ पर सृष्टि स्थिति लय करने वाले अधिष्ठान तत्त्व की स्थिति है और जहाँ प्रणव रूपी धनुष लेकर बाण मारने वाला अर्जुन मौजूद है ,वहीं सारी सफलतायें होती हैं। अधिष्ठान तत्त्व का श्रवण होना चाहिये और प्रणव के द्वारा चित्त को केवल अधिष्ठान साक्षात्कार में बार-बार लगाना

चाहिये। 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' इसमें प्रमाद बिलकुल न करे 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं' इधर-उधर न देखे। जहाँ अधिष्ठान तत्त्व और एकाग्र बुद्धि है, ॐकार का सहारा है, वहीं सारी श्री और विजय है, भूति आर्थात् हाथी आदि वैभव और 'ध्रुवा नीतिः' वही निश्चित रूप से वह नीति है जो बदलती ही नहीं है। नीति शास्त्र की नीति तो वह है जो समय देखकर कभी बदलती रहती है! परन्तु यह *ध्रुवा* नीति है जो कभी बदलती ही नहीं। सबसे बड़ी श्री क्या है? निःश्रेयस ही सबसे बड़ी श्री है। जहाँ ये दोनों चीज़ें होंगी वहीं पर श्री अर्थात् निश्चित श्रेय, मुक्ति होगी। वहीं विजय होगी। जय अर्थात् चीज़ सबसे ऊँची होकर रहे। यह जो तत्त्वज्ञान है यही सबसे उत्कृष्ट है। इससे उत्कृष्ट और कुछ नहीं। इसलिये भगवान् ने कहा 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्'। जहाँ यह है वहीं पर भूति है अर्थात् वहीं सारे वैभव हैं। शम, दम, वैराग्य आदि सारे वैभव इस अधिष्ठान तत्त्व और बुद्धि की एकाग्रता के लिये ही हैं, अतः वे हो जाने पर यह ऐश्वर्य पूरा होता है अर्थात् शम, दम आदि की पूर्णता हो जाती और यही ध्रुव नीति है, कभी न बदलने वाला सिद्धान्त है। संजय बताते हैं कि – ऐसा मेरा निश्चय है।

प्रकारान्तर से यह भी कह दिया कि जहाँ पर सारे उपायों को जानने वाले ईश्वर भगवान् कृष्ण मौजूद हैं और जहाँ उनकी आज्ञा मानने वाला अर्जुन है, उसी पक्ष की विजय होगी। कृष्ण को पता है कि कौन से अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करने से कैसे कोई मरेगा, इसको जैसा वे कहेंगे वैसा अर्जुन करेगा। इससे संजय सावधान करते हैं कि धृतराष्ट्र! जिसके लिये लड़ाई कर रहे हो वह राज्य तुम्हारे हाथ में आने वाला नहीं है। जहाँ ये दोनों हैं वहाँ वह ध्रुव नीति रहती है। इस प्रकार, संजय के वाक्य से ही प्रारम्भ किया था, संजय-वाक्य से ही समापन हुआ।।७८।।

।। अठारहवाँ अध्याय संपूर्ण ।।

श्रीमद्भगवद्गीता पूरी हुई।।

श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकानुक्रमणी

श्रीमद्भगवद्गीता




शान्तम्
शिवम्
अद्वैतम्